श्री उग्रादित्यचार्य कृत

कल्याणकारकम्

(राष्ट्रभाषानुवाद सहित)

सम्पादक/अनुवादक
श्री पं. वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री
(विद्यावाचस्पति न्यायकाव्यतीर्थ)

प्रकाशक
धर्मोदय साहित्य प्रकाशन
सागर (म. प्र.)

- **प्रेरणा** : आर्यिका श्री 105 गुरुमती माताजी
- **ग्रन्थ** : कल्याणकारकम्
- **प्रणेता** : श्री उग्रादित्य आचार्य
- **संस्करण** : द्वितीय, अगस्त, 2014
- **आवृत्ति** : 1100 प्रतियाँ
- **लागत मूल्य** : 300/-
- **प्राप्ति स्थान** : धर्मोदय साहित्य प्रकाशन
  सागर (म. प्र.)
  94249-51771
  E mail- dharmodayat@gmail.com
- **मुद्रक** : विकास आफसेट, भोपाल

प्रकाशकीय

''**शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्**'' धर्म साधना के लिए स्वस्थ शरीर आवश्यक है। स्वस्थ शरीर से ही आत्मा विशुद्धि को प्राप्त होती है। शरीर में व्याधि आना कर्माधीन है परन्तु ग्रन्थ में वर्णित शुद्ध औषधियों के प्रयोग से असाता भी साता रूप हो जाती है और रोग का शमन हो जाता है। वीतराग भगवान् की वाणी में धर्मसाधना हेतु आयुर्वेद का वर्णन गर्भित है, लेकिन वर्तमान में काल दोष के कारण वे अनेक आयुर्वेद ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं हैं। भाग्य से एक अनुपम ग्रन्थ जैनाचार्य उग्रादित्य विरचित कल्याणकारकम् उपलब्ध है। यह ग्रन्थ 70 वर्ष पूर्व सन् 1940 में सखाराम नेमचन्द ग्रंथमाला, सोलापुर से प्रकाशित हुआ था। यह अप्राप्य दुर्लभ ग्रन्थ संत शिरोमणि आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज की परम शिष्या आर्यिका श्री गुरुमती माताजी की प्रेरणा से प्रकाशित हो रहा है।

सन् 2003 में दक्षिण यात्रा के दौरान आर्यिका श्री गुरुमती माताजी ससंघ का सोलापुर में अल्प प्रवास रहा। उस प्रवास के दौरान कल्याणकारकम् ग्रन्थ के पूर्व प्रकाशन स्थल सोलापुर में माताजी का पदार्पण हुआ और जानकारी ली कि कल्याणकारकम् की उपलब्धता है क्या? तब इस ग्रन्थ के सम्पादक श्री पं. वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री के नाती डॉ. महावीर शास्त्री ने बताया कि हम इस ग्रन्थ का पुनर्प्रकाशन नहीं करवा पा रहे हैं। अतः माताजी आप ही इस ग्रन्थ का प्रकाशन करवा दें तो अच्छा रहेगा। उनकी सहज स्वीकृति से माताजी ने जालना (महा.) के श्रावक श्रेष्ठ श्री महावीर लुहाड़े को शुभाशीष प्रदान किया। लुहाड़े जी ने इस अनुपम ग्रन्थ के पुनर्प्रकाशन का उत्तरदायित्व अपने हाथों में ले लिया। तभी सन् 2003 से ही इस ग्रन्थ का कार्य चल रहा है। 7 वर्ष के बाद इसका प्रकाशन किया गया है।

इस ग्रन्थ में 25 परिच्छेद हैं। परिशिष्ट में रिष्टाध्याय, हिताध्याय एवं वनौषधिशब्दादर्श हैं। इस वनौषधिशब्दादर्श में औषधियों के नाम संस्कृत, हिन्दी, मराठी, कन्नड भाषा में लिखे गए हैं।

प्रूफ संशोधन में आर्यिका श्री गुरुमती माताजी की संघस्थ आर्यिका माताजी एवं ब्र. अरुण भैय्या, सागर, ब्र. विनीता दीदी, कटंगी, ब्र. संजय भैय्या, कटंगी, ब्र. गुड्डो दीदी, रहली ने सहयोग देकर माताजी के इस कार्य को सहज बना दिया। खुद बड़ी माताजी ने भी अस्वस्थ अवस्था में भी इस ग्रन्थ के कई प्रूफ पढ़े हैं।

माताजी की भावना के अनुरूप यथावत् मूल स्वरूप में बिना परिवर्तन किए ही प्रकाशन किया गया है।

हमें आशा ही नहीं पूर्ण विश्वास है कि इस ग्रन्थ का प्रयोग त्यागी-व्रती, आयुर्वेद चिकित्सक, आयुर्वेद चिकित्सा क्षेत्र से जुड़े शोधार्थी भी लाभ लेंगे।

प्रकाशक

पूर्व प्रकाशक के दो शब्द

मेरे परमपूज्य स्वर्गीय धर्मवीर पिताजी की बड़ी इच्छा थी कि यह ग्रन्थ शीघ्र प्रकाश में आकर आयुर्वेद जगत् का उपकार हो। परन्तु यमराज की निष्ठुरता से उनकी इच्छा पूर्ण नहीं हो सकी। अतः यह कार्य मेरी तरफ आया। उनकी स्मृति में इसका प्रकाशन किया जा रहा है। आशा है कि स्वर्ग में उनकी आत्मा को संतोष होगा।

श्री विद्यावाचस्पति **पं.वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री** ने इस ग्रन्थ का सम्पादन व अनुवादन किया है। श्री आयुर्वेदाचार्य **पं. अनन्तराजेन्द्र** व **वैद्य बिन्दुमाधव** ने संशोधन करने का कष्ट किया है। विस्तृत प्रस्तावना के सुयोग्य लेखक वैद्य पंचानन **पं. गंगाधर गुणे शास्त्री** हैं। इन सबका मैं आभारी हूँ। इसके अलावा जिन धर्मात्मा सज्जनों ने आर्थिक सहयोग दिया है, उनका भी मैं कृतज्ञ हूँ।

यदि आयुर्वेदप्रेमी विद्वानों ने इस ग्रन्थ का उपयोग कर रोग पीड़ितों को लाभ पहुँचाया तो सबका परिश्रम सफल होगा। इति...

गोविन्दजी रावजी दोशी

सोलापुर

समर्पण

श्री धर्मवीर, दानवीर, जिनवाणीभूषण, विद्याभूषण,

सेठ रावजी सखाराम दोशी.

धर्मवीर !

आपने अपने जीवन को जैनधर्म की प्रभावना, जैनसाहित्य की सेवा व जैनसाधुओं की सुश्रुषा में लगाया था। आप वर्तमानयुग के महान् धार्मिक नेता थे। आपके ही आंतरिक सत्प्रयत्न से इस महान् ग्रन्थ का उद्धार हुआ है। इसका आस्वाद लेने की अभिलाषा अंतिम घड़ी तक आपके मन में लगी थी। परन्तु आप अकस्मात् स्वर्गीय विभूति बन गए। इसलिए आपके द्वारा प्रेरित, आपके ही सहयोग से सम्पादित, आपकी इस चीज को आपको समर्पण कर देता हूँ, जिससे मैं आपके अनन्त उपकारों से उऋण हो सकूँ। इति..

गुणानुरक्त–

वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री

सम्पादक

प्रस्तावना

आयुर्वेद अर्थात् जीवनशास्त्र की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कोई निश्चितकाल नहीं कहा जा सकता है। कारण कि जहाँ से प्राणियों के जीवन का सम्बन्ध है, वहीं से आयुर्वेद की भी आवश्यकता होती है। समाज के या प्राणिमात्र के धारण-पोषण के लिए इस शास्त्र की परम आवश्यकता होने से चार आदमियों ने एकत्रित होकर जहाँ समाज बनाया, वहाँ आयुर्वेद स्थूल सिद्धान्तों के सम्बन्ध में विचार-विनिमय होने लगते हैं। बिल्कुल अशिक्षित दशा में पड़ा हुआ समाज भी अपने समाज के रोगियों की परिचर्या या चिकित्सा की व्यवस्था किसी हद तक करता है। प्रायः इन समाजों में देवपूजा करने वाले या मंत्र-तंत्र करने वाले उपाध्याय ही चिकित्सा भी करते हैं। आज भी ऐसे अनेक अशिक्षित (गांवडे) समाज उपलब्ध हैं, जिनकी चिकित्सा ये पुरोहित ही करते हैं। (इन सभी बातों का सविस्तार उल्लेख स्पेन्सर कृत 'नीतिशास्त्र' व **Nights of Toil** नामक पुस्तक में है) इस अवस्था में चिकित्सा शास्त्र की शास्त्रीय दृष्टि से विशेष उन्नति नहीं हो पाती है। केवल चार आदमियों के अनुभव और, दो चार निश्चित बातों के आधार से जो चिकित्सा होती है, वही चिकित्सा पद्धति एक चिकित्सक से दूसरे चिकित्सक को मालूम होकर समाज में रुढ़ हो जाती है। समाज की जैसी-जैसी उन्नति होती है, उसी प्रकार अन्य शास्त्रों के समान चिकित्सा शास्त्र या आयुर्वेदशास्त्र की भी उन्नति होती है। बुद्धिमान व प्रतिभाशाली वैद्य इस चिकित्सा परम्परा में अपने बुद्धि-कौशल से कुछ विशेषता को उत्पन्न करते हैं। क्रमशः आयुर्वेद बढ़ता रहता है। साथ में आयुर्वेद शास्त्र के गूढ़ तत्त्वों को निकालने व शोधन करने का कार्य सत्त्व बुद्धि युक्त संशोधन विद्वान् करते हैं। इस प्रकार बढ़ते-बढ़ते यह विषय केवल श्रुति में न रहकर इनकी संहिता बनने लगती है। वैदिककाल के पूर्व भी ऐसी सुसंगत संहिताओं की उपलब्धि थी, यह बात संहिता शब्द से ही स्पष्ट हो जाती है।

वेद या आगम के काल में भी आयुर्वेद का सुसंगत परिचय उपलब्ध था। ऋग्वेद इस भूमण्डल का सबसे प्राचीन लिखित ग्रन्थ माना जाता है। उसमें अनेक प्रकार की शस्त्र क्रिया, नाना प्रकार की दिव्य औषधि, मणि, रत्न व त्रिधातु आदि का उल्लेख मिलता है। चन्द्रमा को लगे हुए क्षय की चिकित्सा अश्विनी देवों ने अपने चिकित्सा सामर्थ्य से की, इसका उल्लेख ऋग्वेद में मिलता है। च्यवनऋषी की कथा पुनर्यौवनत्व प्राप्त कर देने वाले योग की समर्थक है। ऋग्वेद की अपेक्षा भी अथर्ववेद में प्रार्थना व सूक्तों के बजाय मणि मंत्र औषधि आदि का ही विचार अधिक है। अथर्ववेद में वशीकरण विधान समंत्रक व निर्मंत्रक रूप से किया गया है। इसी प्रकार किसी-किसी औषधि के सम्बन्ध में कौन से रोग पर किस औषधि के साथ संयुक्त कर देना चाहिए, इसका उल्लेख जगह-जगह पर मिलता है। औषधि गुणधर्म का उद्गम स्थान यहीं मिलता है। भिन्न दो अवयवों के नाम अथर्ववेद में मिलते हैं। अथर्ववेद आयुर्वेद का मुख्य वेद गिना जाता है अर्थात् आयुर्वेद अथर्ववेद का उपवेद[1] है। यजुर्वेद में यज्ञ-याज्ञिकी प्रक्रिया वर्णित है। उसमें याज्ञीय पशुओं को प्राप्त कर उन दो

1. जैनाचार्यों के मत से द्वादशांग शास्त्र में जो दृष्टिवाद नाम का बारहवां अंग है। उसके पांच भेदों में से एक भेद पूर्व (पूर्वगत) है। उसका भी चौदह भेद है। इन भेदों में जो प्राणवाद पूर्व शास्त्र है, उसमें विस्तार के साथ अष्टांगायुर्वेद का कथन किया है। यही आयुर्वेदशास्त्र का मूलशास्त्र अथवा मूलवेद है। उसी वेद के अनुसार ही सभी आचार्यों ने आयुर्वेद का शास्त्र निर्माण किया है।

विशिष्ट अवयक के समंत्रक हवन का वर्णन किया गया है। यजुर्वेद ब्राह्मण व आरण्य को में विशेषतः ऐतरेय ब्राह्मणों में शारीरिक संज्ञा बहुत से स्थान पर आ गयी है। वैदिक वाङ्मय का प्रसार जिस प्रकार होता गया उसी प्रकार भिन्न-भिन्न विषयों का ग्रंथ संग्रह भी बढ़ने लगा। इसी समय आयुर्वेद का स्वतंत्र ग्रंथ या संहिता शास्त्र का अग्नि वेशाधिकों में निर्माण किया। जैनागमों का विशेषतः विस्तार इसी काल में हुआ एवं उन्होंने भी आयुर्वेद संहिता का निर्माण इसी समय किया। कल्याणकारक ग्रंथ, उसकी भाषा, विषय वर्ण शैली, तत्त्व प्रणाली इत्यादि विचारों से वह वाग्भट के बाद नंतर का ग्रंथ होगा यह अनुमान किया जा सकता है। परंतु अग्निवेश, जंतुकर्ण, क्षारप्राणी, भेल पाराशर, इनकी संहितायें अत्यन्त प्राचीन है। इनमें से अग्निवेश संहिता को दृढ़बल व चरक ने संस्कृत कर व बढ़ाकर आज जगत् के सामने रखा है। यह ग्रंथ आज चरक संहिता के नाम से प्रसिद्ध है। चरकसंहिता की भाषा अनेक स्थानों में औपनिषदिक भाषा से मिलती-जुलती है। इस चरक का काल ई.सं. के पूर्व हजार से डेढ़ हजार वर्ष पर्यंत होना चाहिए, इस प्रकार विद्वानों का तर्क है। चरक की संहिता तात्कालीन वैद्यक का सुंदर नमूना है। चरक संहिता में अग्निवेश का भाग कितना है, दृढ़बल का भाग कितना है और स्वतः चरक का अंश कितना है, यह समझना कठिन है।

फिर भी प्रथम अध्याय के न्याय वैशेषिक तत्त्व का समावेश, ग्यारहवें अध्याय के तीन एषणा का कथन कर उसकी सिद्धि के लिए प्रमाण सिद्धि का भाग, आत्रेय भद्रकाप्यीय अध्याय के क्षणभंगी न्याय, इन भागों को चरक ने प्रतिसंस्कार किया तब समावेश किया मालूम होता है। कारण की वैदिक व औपनिषदिक काल में न्यायवैशेषिक का उदय नहीं हुआ था और बौद्धों का उदय तो प्रसिद्ध ही है। चरक संहिता ग्रंथ विशेषतः कायचिकित्सा-विषयक है। उसके सर्व भागों में इसी विषय का प्रतिपादन है। चिकित्सा का तात्त्विक विषय व प्रत्यक्ष-कर्म का ऊहापोह बहुत अच्छी तरह चरक ने किया है। कल्याणकारक ग्रन्थ का चिकित्सा विषयक मधु, मद्य, माँस के भाग को छोड़कर बहुत अंश में चरक से मिलता जुलता है।

शल्य चिकित्सा आयुर्वेद के अंगों में एक मुख्य अंग है। शल्यचिकित्सा का प्रतिपादन व्यवस्थित व शास्त्रीय पद्धति से सुश्रुताचार्य ने किया है। इससे पहले भी उपधेनु, उरभ्र, पुष्कलावत आदि सज्जनों के शाल्यतंत्र (Treatises on Surgery) बहुत से थे। परंतु सबको व्यवस्थित संग्रह करने का श्रेय सुश्रुताचार्य को मिल सकता है। सुश्रुत ने अपने ग्रंथ में शवच्छेदन से लेकर सर्व प्रत्यक्ष-शरीर का परिज्ञान करने के सम्बन्ध में काफी प्रकाश डाला है। शल्यतंत्रकार अर्थात् वैद्य ने ''पाटयित्वा मृतं सम्यक् '' शरीर ज्ञान प्राप्त करें, इस प्रकार का दंडक सूत्र का सुश्रुत ने अपनी संहिता में प्रतिपादन किया है। सुश्रुत के पहले व तत्समय में अनेक तंत्र ग्रंथकार हुए हैं। जिन्होंने शरीर ज्ञान लिए के विशेष प्रयत्न किया था। ऐसे ही ग्रंथकारों के प्रयत्न से शरीर ज्ञान का निर्माण हुआ है। सौश्रुत-शरीर का अनुवाद आगे के अनेक ग्रंथकारों ने किया है। सुश्रुत शरीर काय चिकित्सक व शस्त्र चिकित्सक के लिए उपयोगी है। सुश्रुत ने इस शरीर के आधार पर शल्य तंत्र का निर्माण कर उसका विस्तार किया है। अनेक प्रकार के शस्त्र, यंत्र, अनुयंत्र आदि का वर्णन सुश्रुत ग्रंथ में मिलता है। अष्टविध शस्त्र कर्म किस प्रकार करना चाहिए व पश्चात् कर्म किस प्रकार करना चाहिए आदि बातों का ऊहापोह इस संहिता में किया गया है। शस्त्र क्रिया के पहले के क्रिया व शस्त्र क्रिया के बाद की व्रणरोपणादि क्रियाओं का जिस उत्तम पद्धति से वर्णन किया गया है, उसमें आधुनिक शस्त्र विद्या प्रवीण विद्वानों को भी बहुत कुछ सीखने लायक है और शस्त्रकर्म प्रवीण पाश्चात्य वैद्यों ने सुश्रुत की पद्धति को Indian Methods के नाम से लिया

भी है। सुश्रुत संहिता में छोटी-छोटी शस्त्र क्रियाओं का ही वर्णन नहीं अपितु कोष्ठपाटनादि बड़ी बड़ी शस्त्र क्रियाओं का प्रतिपादन है। बद्धगुदोदर, अश्मरी आंत्रवृद्धी, भगंदर आदि पर शस्त्र क्रियाओं का ठीक आधुनिक पद्धति से ही वर्णन उसमें मिलता है, उसे देखकर मन दंग रह जाता है। मूढगर्भ व शल्यहरण के भिन्न भिन्न विधानों का वर्णन है, इतना ही नहीं, पेट को चीरकर बच्चे को बाहर निकालना व फिर से उस गर्भाशय को सीकर सुरक्षित करने का कठिन विधान भी सुश्रुत में है। नेत्ररोग के प्रति ही अनेक प्रकार के शस्त्रकर्मो का विधान सुश्रुत ने बहुत अच्छी तरह से किया है। कल्याणकारक ग्रंथ में शस्त्र कर्म का बहुत-सा भाग आया है। अष्टविध शस्त्र कर्म व उनके विधान भी कल्याणकारक में सुव्यवस्थित रूप से वर्णित है। शस्त्र चिकित्सा अत्यन्त उपयोगी चिकित्सा होने से महाभारतादि ग्रंथों में भी इसका उल्लेख मिलता है। भीष्म जिस समय शरपंजर में पड़े थे, उस समय शल्योद्धरण-कोविदों को बुलाने का उल्लेख महाभारत में है। सारांश है की आयुर्वेद में शल्य-चिकित्सा बहुत उत्तम पद्धति से दी गई है एवं उसका प्रचार प्रत्यक्ष व्यवहार में इस भारत में कुछ समय पूर्व तक बराबर था। **जैनाचार्यों ने खासकर कल्याणकारक कर्ता ने शल्यतंत्र का वर्णन अपने ग्रंथ में अच्छी तरह किया है। परन्तु काय-चिकित्सा के सम्बन्ध में अधिक रूप से रस शास्त्रों का उपयोग व उसकी प्रथा इन्हीं जैन शास्त्रकारों ने डाली है। चरक, सुश्रुत के समय में वनस्पति प्राण्यंग को औषधि के रूप में बहुत उपयोग किया जाता था। परन्तु यह प्रथा अनेक कारणों से पीछे पड़कर रस, लोह, (Metals) उपधातु, (गंधक, माक्षिकादि) व वनस्पतिक कल्प चिकित्सा में अधिक रूप से उपयोग में आने लगे और शल्यतंत्र धीरे-धीरे पीछे पड़ने लगा।**

यवनों के आक्रमण पर्यंत आयुर्वेद का परिपोष बराबर बना था। आर्य, जैन व बौद्ध मुनियों ने इसके आठों ही अंगों के संरक्षण के लिए काफी प्रयत्न किया। परन्तु यावनी आक्रमण के बाद वह कार्य नहीं हो सका। इतना ही नहीं, बड़े-बड़े विद्यापीठ व अग्रहारों कें ग्रंथालयों को विध्वंस करने में भी यवनों ने कोई कमी नहीं रखी। इतिहास प्रसिद्ध अल्लाऊद्दीन खिलजी जिस समय दक्षिण पर चढ़ाई करते हुए आया था, उस समय अनेक पुस्तकालयों को जलाने का उल्लेख इतिहास में मिलता है। आयुर्वेदशास्त्र को व्यवस्थित रूप से बढ़ने के लिए जिस मानसिक-शांति की आवश्यकता होती है, वह इसके बाद के सहस्रक में विद्वानों को नहीं मिली। कोई फुटकर निबंध ग्रंथ अथवा संग्रह ग्रंथ इस काल में लिखे गए। परंतु उनमें कोई नवीनता नहीं है। यह जो आघात आयुर्वेद पर हुआ उसकी सुधारणा विशेषत: मराठेशाही में भी नहीं हो सकी और उसके बाद के राजाओं को तो अपने स्वत: सिंहासन को सम्हालते-सम्हालते ही हैरान होना पड़ा और आखेर के राजाओं ने तो पलायन ही किया। इस प्रकार इस भारतीय आयुर्वेद के उद्धार के लिए राजाश्रय नहीं मिला। हाँ! नहीं कहने के लिए श्रीमंत नानासाहेब पेशवा के शासन में एक हकीम व एक गुर्जर वैद्य को थोड़ा वर्षासन देने का उल्लेख मिलता है। यह सहायता शास्त्र संवर्धन की दृष्टि से न कुछ के बराबर थी। चंद्रगुप्त[1] व अशोक के काल में उन्होंने अपने राज्य में जगह-जगह पर रुग्णालय व बड़े-बड़े औषधालयों का निर्माण कराया था। इसलिए उस समय अष्टांग आयुर्वेद की अत्यन्त उन्नति हुई।

---

1. यह चंद्रगुप्त जैनधर्म का उपासक था। जैनाचार्य भद्रबाहु का परमभक्त था। जैनधर्म में कथित उत्कृष्ट महाव्रत को धारण कर उसने संन्यास ग्रहण किया था। See. Inscriptions of Shravanbelgola.

काय, बाल, ग्रह, ऊर्ध्वांग, शल्य, द्रंष्ट्रा, जरा व वृष, इस प्रकार आठ अंगों से चिकित्सा का वर्णन आयुर्वेद में किया गया है। कल्याणकारक ग्रंथ में भी इन आठ अंगों से चिकित्सा का प्रतिपादन किया गया है। **कायचिकित्सा**–संपूर्ण धातुक शरीर की चिकित्सा। **बालचिकित्सा**–बालकों के रोग की चिकित्सा। **ग्रहचिकित्सा**–इसका अर्थ अनेक प्रकार से हो सकता है। परन्तु वे सर्व रोग सहस्रार व नाड़ीचक्र में दोषोत्पन्न होने से होते हैं। **ऊर्ध्वांगचिकित्सा**–इसे शालाक्यचिकित्सा भी कहते हैं। नाक, कान, गला, आँख, इनके रोगों की चिकित्सा ऊर्ध्वांगचिकित्सा कहलाती है। **शल्यचिकित्सा**–शस्त्रास्त्रों से की जाने वाली चिकित्सा जिसका वर्णन ऊपर कर चुके हैं। **दंष्ट्राचिकित्सा**–इसके दो भाग हैं। **(1)** सर्पादि विष जंतुओं के द्वारा दंष्ट्र होने पर उस पर कि जाने वाली चिकित्सा। **(2)** स्थावर, जंगम विष के किसी प्रकार शरीर में प्रवेश होने पर की जाने वाली चिकित्सा। **जराचिकित्सा**–पुनर्यौवन प्राप्त करने के लिए की जाने वाली चिकित्सा। इसे ही रसायनचिकित्सा के नाम से कहते हैं। **वृषचिकित्सा**–का अर्थ वाजीकरण चिकित्सा है।

इन चिकित्सांगों का सांगोपांग वर्णन कल्याणकारक में विस्तार के साथ आया है। अतएव उसके सम्बन्ध में यहाँ पर विशेष लिखने की आवश्यकता नहीं। मुख्य प्रश्न यह है की आयुर्वेद की चिकित्सा पद्धति किस तत्त्व के आधार पर अवलंबित है? किसी भी वैद्यक को लिया तो भी उसके मूल में यह उपपत्ति अवश्य रहेगी कि शरीर सुस्थिति में किस प्रकार चलता है और रोग के होने पर उसकी अव्यवस्थिति किस प्रकार होती है? आज ही नाना प्रकार के वैद्यकों की उपलब्धि इस भूमंडल पर हुई हो, यह बात नहीं, अपितु बहुत प्राचीन काल से ही अनेक वैद्यक पंथ विद्यमान थे। शरीर त्रिधातुओं से बना हुआ है और उसमें दोष, धातु व मलमूल है। (दोषधातुमलमूलं हि शरीरम्) त्रिधातु शरीर के धारण पोषण करते हैं। वे समस्थिति में रहे तो शरीर में स्वास्थ्य बना रहता है एवं उनका वैषम्य होने पर शरीर बिगड़ने लगता है। **''य एव देहस्य समा विवृध्यै त एव दोषा विषमा वधाय''।** त्रिधातु अत्यन्त सूक्ष्म होकर व्यापी है। शरीर के अनेक मंडलों में वह व्याप्त होकर रहते हैं। अवयवों में व्याप्त है, घटक में व्याप्त है और परमाणु में भी उनकी व्याप्ती है। उनके भिन्न-भिन्न स्थान हैं। उनके कार्य शरीर में रात्रि-दिन चालू ही रहते हैं। यद्यपि उनका नाम वायु, पित्त व कफ है। तथापि कुछ वैद्यक ग्रंथों में खासकर भेल संहिता में वे ''प्रतिमूलधातु'' के नाम से कहे गए हैं ।

वात, पित्त व कफ के स्थान व कार्यों का सविस्तार वर्णन कल्याणकारक ग्रंथ में है। वात, पित्त व कफ यह त्रिधातु जीवन के मूल आधारभूत है। किसी भी प्राणी के शरीर में इनका अस्तित्त्व अनिवार्य है। बिल्कुल सूक्ष्म शरीरी प्राणी को भी देखे तो मालूम होगा कि उसके श्लेष्म भय शरीर में जल का अंश रहता ही है। वह अपने आहार को ग्रहण कर उसका पचन करते हुए अपने शरीर की वृद्धि करता ही है। यह कार्य उसके शरीर में स्थित पित्त धातु के कारण से होता है। इतना ही क्यों ? अत्यन्तात्यन्त सूक्ष्म शरीर में भी सर्व व्यापार होते रहते हैं और उसमें सप्तधातुओं में से रस धातु विद्यमान रहता है। आगे जैसे-जैसे वह प्राणी अनेकावयवी बनता है, तब उसका शारीरिक व्यापार भी जाता बढ़ता है।

प्राण्यंग जैसे-जैसे बढ़ता जाता है, वैसे ही उसमें प्रतिमूलधातु किंवा स्थूल धातु अधिकाधिक श्रेणी से उपलब्ध होता है, किन्हीं प्राणियों में रस व रक्त यही धातु मिलते हैं। किन्हीं में रस, रक्त व मांस और किन्हीं में रस, रक्त, मांस, अस्थि, मज्जा व शुक्र धातु रहतीं हैं। प्रतिमूलधातु किंवा सप्तधातु-स्थूल धातुओं में कोई भी धातु प्राण्यंग में रहे या न रहे परन्तु त्रिधातु तो अवश्य रहतीं ही हैं। वे तीनों ही रहते हैं। तीनों की सहायता से

शारीरिक व्यापार चलता है। मानवीय शरीर में अत्यन्त प्रकृष्ट धातुक शरीर रहने पर प्रतिमूलधातु रहती है। ओजसदृश (धातुसार-तेज) भी रहते हैं। परंतु इन सबके मूल में त्रिधातु रहती हैं।

मानवीय शरीर में त्रिधातुओं का भिन्न-भिन्न स्थान व कार्य मौजूद है। इन पदार्थों के गुण भिन्न-भिन्न है। वायु शरीर के भिन्न-भिन्न अवयव समूहों में कार्य करने वाला है। इसी प्रकार पित्त व कफ भी है। यह भी सर्व शरीर भर एक ही न होकर भिन्न-भिन्न प्रकार के समुच्चय रूप है। उनकी जाति एक, परंतु आकार भिन्न है। स्थूल, सूक्ष्म व अतिसूक्ष्म इस प्रकार उनके स्वरूप है। त्रिधातुओं का व्यापार शारीरिक व मानसिक ऐसे दो प्रकार से होता है। मन के सत्त्व, रज व तम इन त्रिगुणों पर वायु, पित्त व कफ का परिणाम होता है। मानसिक व्यापारों का नियंत्रण त्रिधातुओं के कारण से होता है। अवयवों से बने पचनश्वसनादि मंडलों में त्रिधातु रहती है। अवयवों में, उनके घटकों में घटकों के परमाणुओं में त्रिधातुओं की व्याप्ति रहती है। इसलिए उनको व्यापी कहा है। व्यापी रहते हुए भी उनके विशिष्ट स्थान व कार्य है।

संचेतन, सेन्द्रिय, अतीन्द्रिय, अतिसूक्ष्म व बहुत परमाणुओं[1] के समूह से इस जीवंत देह का निर्माण होता है। परमाणु अतिसूक्ष्म होकर इस शरीर में अब्जावधीप्रमाण से रहते हैं। एक गणित शास्त्रकार ने इनकी संख्या को तीस अब्जप्रमाण में दिया है। शरीर के सर्व व्यापार इन परमाणुओं के कारण से होते हैं। इन्हीं परमाणुओं से शरीर के अनेक अवयव भी बनते हैं। यकृत, प्लीहा, उन्दुक, ग्रहणी, हृदय, फुप्फुस, सहस्रार, नाड़ीचक्र आदि का अंतिम भाग इन परमाणुओं के स्वरूप में है। अनेक परमाणुओं से अवयवों का घटक बनता है। घटकों से अवयव, अवयवों से मंडल बनते हैं। वातमंडल, श्वसन, पचन, रुधिराभिसरण, उत्सर्ग ये शरीर के मुख्य मंडल हैं। परमाणुओं में रहने वाले त्रिधातु अतिसूक्ष्म और अवयवांतर्गत, वातमंडलान्तर्गत त्रिधातुसूक्ष्म रहते हैं तो भी उसके स्थूल व्यापार ये त्रिधातु स्थूलस्वरूप के रहते हैं। उदाहरण के लिए पचन, व्यापार आमाशय, पक्वाशय, ग्रहणी, यकृतादि अवयवों में होता है। आमाशय, पक्वाशय वगैरह में रहने वाला पाचकपित्त स्थूलरूप का रहता है। वह अपने को प्रत्यक्ष देखने में आ सकता है। वह विस्र, सर, द्रव, आम्ल आदि गुणों से देखने में आता है। इस पित्त का अन्न के साथ संयोग होता है और अन्न के साथ उसकी संयोग-मूर्च्छना होकर पचन होता है। पचन के बाद सार-किट्टपृथक्त्व होता है। सारभाग का पक्वाशय में शोषण होता है। सार-किट्टविभाजन, सार संशोषन यह कार्य पित्त के कारण से होते हैं। इतर रसादि प्रतिमूल धातुओं के समान पित्तकफादिकों का भी पोषण होना आवश्यक है। वह पोषण भी पचन व्यापार में होता है। पित्त का उदीरण होकर पित्तस्राव होता रहता है। स्राव होने से पहले पित्तादि धातु उन-उन घटकों में सूक्ष्म रूप से रहते हैं। सूक्ष्म व्यापार में वे दिख नहीं सकते। बाहर उनका स्राव होने के बाद वे देखने में आते हैं। अतः पित्त पित्त का स्थूल रूप पित्तोत्पादक घटक स्थित पित्त सूक्ष्म रूप और परमाण्वंतर्गत पित्त अतिसूक्ष्म स्वरूप का रहता है, यह सिद्ध हुआ।

भुक्तमात्र अन्न के षड्रसों के पाक से पाचकपित्त का उदीरण होता है। अमाशय में पाचकपित्त व क्लेदककफ का उदीरण होकर वह धीरे-धीरे अन्न में मिल जाते हैं व अन्न का विपाक होता है। अन्नपचन का क्रम करीब-करीब चार से छह घंटे तक चलता है। अमाशय, पक्वाशय व ग्रहिणी में अन्न का पचन होता रहता

1. शरीरावयवास्तु खलं परमाणुभेदेनापरिसंख्येया भवंति, अतिबहुत्वादतिसूक्ष्मत्वादतींद्रियत्वाच्च॥

चरकशरीर 7

है। अन्न की पुरःस्सरण क्रिया से अन्न आगे-आगे सरकता रहता है। इस क्रिया के लिए व अन्न की गौलाई वगैरह को कायम रखने के लिए समान वायु की सहायता आवश्यक है। समान वायु के प्रस्पंदन, उद्वहन, धारण, पुरण, इन कार्यों से पचन में सहायता मिलती है। विवेक लक्षण से अन्न के सार-किट्टविभजन होता है। चार भाग का शोषण (Absorbtion) होता है। और किट्टविभाग गुदकांड तक पहुँचाया जाता है। स्थूल ग्रहणी का कुछ भाग गुदकांड व गुदत्रिवली में अपानवायु का कार्य होकर किट्ट (मल) बाहर फेंका जाता है। यह सर्व कार्य होते समय धातुओं के स्थूल स्वरूप को प्रत्यक्ष दिखाया जा सकता है। पाचकपित्त (अमाशयस्थरस, स्वादुपिडस्थ रस, यकृतपित्त, पक्वाशय स्थापित्त आदि) का उदीरण हमें प्रत्यक्ष प्रयोग से दिखाया जा सकता है। प्रसिद्ध रशियन पावलों ने इसका प्रयोग किया है और भोजन में उदीरित होने वाले पित्त को नली में लेकर बतलाया है। पित्त के साथ ही वहाँ पर क्लेदयुक्त कफ का भी उदीरण होता है। और बाद में समानवायु के भी कार्य पचनव्यापार में होते हैं, यह सिद्ध कर सकते हैं। अन्नातंर्गत स्थूलवायु को वायुमापक यंत्र से माप सकते हैं। यह सब आधुनिक प्रयोग साधन से सिद्ध हो सकते हैं। फिर क्या यही त्रिधातु है? और यही आयुर्वेद के प्रतिपादित त्रिधातु हो तो आयुर्वेद की विशेषतः क्या है? और वह स्वतंत्र शास्त्र के रूप में क्यों चाहिए?

आयुर्वेद प्रतिपादित त्रिधातुओं में स्थूलस्वरूप युक्त त्रिधातुओं का ऊपर कथन किया ही है। इससे आगे बढ़कर यह विचार करना चाहिए कि उदीरित पित्तकफ कहा से उत्पन्न हुए ? शरीरावयव, उनके घटक व परमाणु सर्वतः समान रहते हुए यह विशेष कार्य कौन से द्रव्य के या गुणकर्म के कारण से होता है? गुणकर्म द्रव्याश्रयी है। तब इन भिन्न-भिन्न अवयव विभागों में पित्तकफादि सूक्ष्म द्रव्य अधिकतर रहते हैं, अतएव उससे पित्त-कफ का उदीरण हो सकता है। यह युक्ति से सिद्ध होता है। यदि कोई कहे की उन-उन अवयवों का स्वभाव ही वह है तो आगे यह प्रश्न निकलता है कि ऐसा स्वभाव क्यों? तब पित्तकफ के सूक्ष्मांश का अस्तित्त्व रहने से ही पित्त-कफ का उदीरण उससे हो सकता है। स्थूल समान से स्थूल कार्य होते हैं व स्थूलांशों का अनुग्रह होता है। स्थूलांश को बलदान सूक्ष्मांश से प्राप्त होता है। सूक्ष्म व अतिसूक्ष्म त्रिधातु का कार्य अति सूक्ष्म परमाणु पर्यंत चालू रहता है। यह कार्य त्रिधातुओं में जिस धातु का अधिकतर चालू हो उन-उन धातुओं का उन अवयवों में स्थूल कार्य चालू रहता है। वस्तुतः (सामान्यतः) तीनों ही धातुओं के बिना जीवन रह नहीं सकता। विशेषत्व से उन-उन धातुओं का विशेष कार्य होता रहता है।

पचन कार्य में पाचक पित्त, क्लेदककफ व समानवायु के स्थूल स्वरूप की सहायता मिलती है। इनकी सहायता होकर अन्न में मिश्र हुए बिना अन्न पचता नहीं है एवं शरीर में अन्नरस का शोषण नहीं होता है। रसधातु बनता नहीं एवं रस से रक्त, मांस, अस्थि, मज्जा, शुक्र, ओज व परम ओज यहाँ तक के स्थूल धातु बनते नहीं है। विपाक के बाद अन्नरस तैयार होता है। उसमें त्रिधातु अंश मिले हुए रहते हैं, उसे रसधातु संज्ञा प्राप्त होती है। अन्नरस में त्रिधातु का मिश्रण होकर वहाँ रस का पचन होता है। रस धातु का पचन होकर रक्तांश तैयार होते हैं व उनका रक्त में मिश्रण होकर रक्त बनता है, उसमें भी त्रिधातु रहते हैं। रक्त से आगे-आगे के धातु बनते हैं। इसके लिए त्रिधातुओं की सहायता की आवश्यकता है। पूर्वधातु से परधातु जब बनता है, उस समय पूर्वधातु के अपने अंश को लेकर आत्मसात करने का कार्य परधातु में चलता है। यह कार्य त्रिधातुओं के कारण

से ही होता है। भूतांशों का पचन धात्वग्नि के कारण से होता है, इस प्रकार मुक्त अन्न धातु स्नेह परम्परा चालू रहती है। भोज्य व धातुओं की परिवृत्ति यह चक्र के समान चालू रहती है। (सततं भोज्यधातूंना परिवृत्तिस्तु चक्रवत्) इसे ही धातुपोषण क्रम कहते हैं। धातुओं के पोषण से अवयव घटक परमाणु पुष्ट होते हैं। इन सब परिपोषणों के लिए वायु, पित्त व कफ कारणीभूत है। यही प्रतिमूल (रसरक्त मांसादिक) धातुओं के परिपोषण क्रम में सहायक होते हैं। उसी प्रकार आपने स्वतः का भी परिपोषण कर लेते हैं।

धातु परिपोषण का एक प्रकार ऊपर वर्णन किया गया है। वायु, पित्त व कफ, इन त्रिधातुओं का स्वतः भी परिपोषण होने की आवश्यकता है। उनकी समस्थिति में रहने की बड़ी जरूरत है। रोज के दैनंदिन व्यापार में उनका व्यय होता रहता है। यदि उनका पोषण नहीं हुआ व वे समस्थितियों में न रहे तो उनका ह्रास होकर आरोग्य बिगड़ता है। इनका भी पोषण आहारविहारादि से होता है। षड्रस अन्न के विपाक में जो रस निर्माण होता है, उससे अर्थात् आहार द्रव्यों के वीर्य से इनकी पुष्टि होती है। शरीर में पहले से स्थित त्रिधातु द्रव्यों के समान गुणों के आहार के समान गुणात्मक रसों से, वीर्य से व प्रभाव से वृद्धि होती है। यह कार्य स्थूल सूक्ष्म व अतिसूक्ष्म स्वरूप के धातु पर्यंत चलता है। धातुओं के समान गुणों के आहारादिक से जब वृद्धि होती है, तो असमान गुणों के आहारादिक से उनका क्षय होता है। रोज-रोज होने वाली कमी की पूर्ति समान रस वीर्य से होती है।

मन पर त्रिधातुओं का कार्य होता है तो मनका भी त्रिधातुओं पर कार्य होता है। इस प्रकार वे परस्परानुबंधी है। दोनों के व्यापार में आहारादिकों की सहायता लगती है। सात्त्विक, राजस व तामस, इस प्रकार आहार के तीन भेद हैं। उनका परिणाम शरीर के धातुओं पर होता है एवं मन के सत्त्व, रज, तमोगुण पर होता है। आहार के समान औषधि का भी परिणाम मन के त्रिगुण पर होता है।

धातुओं की समता रहने पर स्वास्थ बना रहता है। उनका वैषम्य होने पर स्वास्थ्य बिगड़ने लगता है। त्रिधातु जब समस्थिति में रहती हैं, तभी उनको धातु संज्ञा दी गई है। वे शरीर को चलाती हैं, बढ़ाती हैं व स्वास्थ बनाये रखती हैं। असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग, प्रज्ञापराध व परिणामादि कारणों से धातु पर परिणाम होता है। धातुओं की समता नष्ट होती है, अर्थात् वैषम्य उत्पन्न होता है। उनमें वैषम्य उत्पन्न होने पर वे शरीरोपकारक नहीं हो सकती। क्योंकि विकृति के उत्पन्न होने से शरीरापायकारक होते हैं। तभी उनको दोष कहते हैं। दोष की उत्पत्ति दुष्टद्रव्यों से होती है अर्थात् विषम स्थिति में रहने वाले धातु दुष्टद्रव्य या दोष कहलाते हैं। दोष द्रव्यों का गुणकर्म धातुओं से बिल्कुल भिन्न स्वरूप का है। यह दोष द्रव्य अर्थात् विषम स्थिति के वात, पित्त, कफ दोष रोग के कारण होते हैं। धातुओं का जिस प्रकार स्थूल, सूक्ष्म व अतिसूक्ष्म भेद होता है, उसी प्रकार दोषों का भी होता है। धातुओं के कारण से जिस प्रकार शरीर व मानसिक व्यापार में सुस्थिति बनी रहती है, उसी प्रकार दोषों से शरीर व मानसिक व्यापार में बिगाड़ उत्पन्न होती है। वायु, रूक्ष, लघु, शीत, खर, सूक्ष्म व चल; पित्त - सस्नेह, तीक्ष्ण, उष्ण, सर व द्रव्य; और कफ-स्थिर, स्निग्ध, श्लक्ष्ण, मृत्स्न, शीत, गुरु व मंद गुणयुक्त है। पित्तकफ द्रवरूप और वायु अमूर्त है। ज्ञेय है। दोषों का अतिसंचय होने पर वे मलरूप होते हैं। इसी प्रकार शरीर के व्यापार के लिए निरूपयोगी व शरीर को मलिन बनाकर कष्ट देने वाले द्रव्यों को भी मल कहते हैं। जो मल कुछ काल पर्यंत शरीर के लिए उपयुक्त अर्थात् संधारण कार्य के लिए उपयुक्त रहते हैं, उनको मल धातु कहते

हैं। मल का भी स्थूलमल (पुरीष, मूत्र, स्वेद वगैरह) व अत्यन्त सूक्ष्म मल (मलानामतिसूक्ष्माणां दुर्लक्ष्य लक्षयेत्क्षयम्) इस प्रकार दो भेद हैं। मथितार्थ यह हुआ की शरीर संधारण करने वाले धातु (धारणाद्धातवः) शरीर को दुषित करने वाले दोष, (दूषणाद्दोषाः) व शरीर को मलिन करने वाले मल (मलिनीकरनान्मलाः) इस प्रकार तीन द्रव्यों से शरीर बना हुआ है। इसीलिए कहा है कि दोषधातुमलमूलं हि शरीरमः। धातु के समान दोष भी शरीर में रहते ही हैं। वे अत्यन्त सन्निध वास करते हैं। शरीर क्षण भर भी व्यापार रहित नहीं रह सकता है। निद्रावस्था में भी शरीर व्यापार चालू ही रहता है। परन्तु कुछ व्यापार बंद रहते हैं। उतनी ही उसे विश्रांति समझनी चाहिए। शरीर के व्यापार होते हुए धातुओं में कुछ वैषम्य उत्पन्न होता ही है। वात, पित्त, कफ के व्यापार में उन-उन धातुओं का व्यय होता ही रहता है। उससे उनमें वैषम्य उत्पन्न होता है व दोषद्रव्य का निर्माण होता है। धातु दोष सन्निध्यवास करते हैं। जब तक धातुद्रव्यों का बल आदिक रूप से रहता है, तब तक स्वास्थ टिकता है। दोष द्रव्यों का बल बढ़ने पर वे धातुओं को दूषित करते हैं व स्थास्थ्य को बिगाड़ते हैं। दोष व मलों से शरीरसंधारक धातु दूषित होते हैं व रोग उत्पन्न होता है। इस प्रकार धातु-दोष मीमांसा है।

असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग, प्रज्ञापराध व परिणाम अथवा काल ये त्रिविध रोग के कारण होते हैं। (असात्म्येन्द्रियार्थसंयोगः प्रज्ञापराध परिणामश्चेति त्रिविधं रोग कारणम्) असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग से स्पर्श कृतभाव विशेष उत्पन्न होते हैं। स्पर्शकृतभाव विशेषों से त्रिधातु व मन पर परिणाम होता है एवं दोष उत्पन्न होते हैं। प्रज्ञापराध का मन पर प्रथम परिणाम होता है। बाद में शरीर पर होता है। तब दोष वैषम्य उत्पन्न होता है। काल का भी इसी प्रकार शरीर व मन पर परिणाम होकर दोषोत्पत्ति होती है एवं दोषों का चय, प्रकोप, प्रसर व स्थान संश्रय होते हैं। उससे संरभ, शोथ, विद्रधि, व्रण, कोथ होते हैं। दोषों की इस प्रकार की विविध अवस्था रोगों के नियमितकारण व दोष दूष्य संयोग अनियमितकारण और विष, गर, सेन्द्रिय-विषारी क्रिमिजंतु इत्यादिक रोग के निमित्त कारण हैं।

आधुनिक वैद्यक शास्त्र में जंतु शास्त्र का उदय होने से रोग के कारण में निश्चितपना आ गया है, इस प्रकार आधुनिक वैद्यों का मत है। जंतु के मिलने मात्र से ही वह उस रोग का कारण, यह कहा नहीं जा सकता। कारण की कितने ही निरोगी मनुष्यों के शरीर में जंतु के होते हुए भी वह रोग नहीं देखा जाता है। जंतु तो केवल बीज सदृश्य है। उसे अनुकूल भूमि मिलने पर वह बढ़ता है। उससे सेन्द्रिय, विषारी, जंतु बनता है व रोग उत्पन्न होता है। परन्तु अनुकूल भूमि न रहने पर अर्थात् जंतु की वृद्धि के लिए अनुकूल शारीरिक परिस्थिति नहीं रहने पर, ऊसर भूमि पर पड़े हुए सरय बीज के समान जंतु बढ़ नहीं सकता है और रोग भी उत्पन्न नहीं कर सकता है। यह अनुकूल परिस्थिति का अर्थ ही दोष दुष्ट शरीर है। कॉलरा व प्लेग सरीखे भयंकर रोगों में भी बहुत थोड़े लोगों को ही वह रोग लगते हैं। सबके सब उन रोगों से पीड़ित नहीं होते। इसका कारण ऊपर कहा गया है, अर्थात् जंतु तो इतर निमित्तकारण के समान एक निमित्त कारण है।

काल[1], अर्थ व कर्म या असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग, प्रज्ञापराध व परिणाम इनके हीन मिथ्यात्वी योगों के

1. कालार्थकर्मणां योगो हीनमिथ्यातिमात्रकः।
सम्यग्योगश्च विज्ञेयो रोगारोग्यैकंकारणमं॥ अ.हृ.सू 1

कारण से शरीर संधारक धातुओं में वैषम्य होता है एवं दोषोत्पत्ति होती है और दोषों के चय प्रकोपादिक के कारण से रोगोत्पत्ति होती है। इस प्रकार आयुर्वेद का रोगोत्पत्ति के सम्बन्ध में अभिनव सिद्धान्त है। रोग की चिकित्सा करते हुए इस अभिनव सिद्धान्त का बहुत उपयोग होता है। जिस[1] विशिष्ट क्रिया के कारण से शरीर के धातु सम अवस्था में आयेंगे, उस प्रकार की क्रिया करना, यही चिकित्सा का रहस्य है। धातु साम्य करने की क्रिया करने से धातुओं में समता आती है। धातु वैषम्योत्पादक कारणों से धातुओं में विषमता उत्पन्न होकर दोष रोगादिक उत्पन्न होते हैं। चिकित्सा शास्त्र का सर्व विस्तार, अनेक प्रकार की प्रक्रियायें व पद्धति, ये सभी इसी एक सूत्र के आधार पर अवलंबित हैं। इसका बहुत विस्तार व सुंदर विवेचन के साथ सांगोपांग कथन कल्याणकारक ग्रंथ में किया गया है।

धातु वैषम्य को नष्ट कर समता को प्रस्तापित करना यही चिकित्सा का ध्येय है और वैद्य का भी यही कर्तव्य है। विषम[2] हेतुओं का त्याग व समोत्वोत्पादक कारणों का अवलंबन करना ही चिकित्सा का मुख्य सूत्र है, यह ऊपर कहा ही है। इस सूत्र का अवलंबन कर ही वैद्य को चिकित्सा करनी पड़ती है।

चिकित्सा करते हुए दूष्य[3], देश, बल, काल, अनल, प्रकृति, वय, सत्त्व, सात्म्य, आहार व पृथक् पृथक् अवस्था, इनका अवश्य विचार करना पड़ता है।

दूष्य का अर्थ रसरक्तादि स्थूल धातु। इनमें दोषों के कारण से दूषण आता है। जिस प्रदेश में अपन रहते हैं, वह देश कहलाता है। यह जांगल, आनूप व साधारण के भेद से तीन प्रकार है। शरीर शक्ति को बल कहते हैं। यह कालज, सहज व युक्ति कृत के भेद से तीन प्रकार है। काल शीत, उष्ण व वर्षा के भेद से तीन प्रकार का है। अग्नि का अर्थ पाचकाग्नि। वह मंद, तीक्ष्ण, विषम व समाग्नि के भेद से चार प्रकार का है। इनमें समाग्नि श्रेष्ठ है।

शरीर को मूल स्थिति में संभाल रखने का अर्थ प्रकृति है। शुक्र (पुंबीज) व आर्तव (स्त्री बीज) के संयोग से बीज धातु बनता है। बीज धातु भी जिस प्रकार स्थिति हो उस प्रकार शरीर बनता है। इसी के कारण से शरीर की प्रकृति व मन का स्वभाव बनता है। वात धातु से वात प्रकृति बनती है। इसी प्रकार अन्य धातुओं के बलाबल की अपेक्षा तत्तद्धातुओं की प्रकृति बनती है।

वय बाल, तारुण्य व वार्ध्यक्य के भेद से तीन प्रकार की है। सत्त्व का अर्थ मन व सहनशक्ति। आहार, आदतें व शरीर के अनुकूल विहार आदि का विचार करना सात्म्य कहलाता है। आहार व रोग की विविध अवस्थाओं को (आम, पक्क व पच्यमान वगैरह) ध्यान में लेकर उनका सूक्ष्म विचार करके ही चिकित्सा

---

1. याभिः क्रियाभिर्जायंते शरीरे धातवः समाः।
   सा चिकित्सा विकाराणां कर्मतद्भिषजां स्मृतम्॥ चरक सूत्र अ.
2. त्यागाद्विषमहेतूनां समानां चोपसेवनात्।
   विषमा नानुबध्नंति जायंते धातवः समः। चरकसूत्र
3. दूष्यं देशं बलं कालमनलं प्रकृति वयः।
   सत्वं सात्म्यं तथाहारमवस्थाश्च पृथग्विधाः।
   सूक्ष्मसूक्ष्माः समीक्ष्यैषां दोषौषधनिरूपणे।
   यो वर्तते चिकित्सायां न स स्खलात जातुचित्॥ अ सं सूत्र 12

करनी पड़ती है।

चिकित्सा शास्त्र का प्रधान आधार निदान है। निदान शब्द का अर्थ 'मूल कारण' ऐसा होता है। परन्तु शब्दार्थ के योग रुढ़ार्थ से वह रोग परिक्षण इस अर्थ में प्रयुक्त होता है।

आयुर्वेदीय निदान में मुख्यतः दोष दूष्टि का विचार करना पड़ता है। भिन्न-भिन्न अनेक प्रकार के कारणों से दोष दृष्टि होती है। दोषों का चय, प्रकोप व प्रसर होते हैं। दोष भिन्न-भिन्न दूष्यों में जाते हैं। दोषदूष्य संयोग होता है। उसके बाद भिन्न-भिन्न स्थान दुष्ट होते हैं। उसका कारण दोषों का स्थान-संश्रय है। किसी भी कारण से दोषों की दृष्टि होती है। इसलिए निदान करते हुए पहले कारणों का ही विचार करना पड़ता है। दोषों का स्थान संश्रय होने के पहले चयादिक होते हैं। तब निश्चित रोग स्वरूप आता है। इस समय रोग के पूर्व लक्षण प्रकट होते हैं। इसलिए निदान करते हुए पूर्व रूप या पूर्व लक्षणों पर विचार करना पड़ता है। इसके अनंतर दोष दूष्य संयोग होकर स्थान संश्रय होता है व सर्वलक्षण स्पष्ट होते हैं। रोग निदान में लक्षणों का विचार बहुत गहरी व बारीक दृष्टि से एवं विवेक पूर्वक करना पड़ता है। भावना अर्थात् मन से जानने के लक्षण व शारीरिक लक्षण इस प्रकार लक्षण दो प्रकार के हैं। दोष द्रव्य व शरीर संधारक धातुओं में संघर्षन होने से लक्षण उत्पन्न होते हैं। मानसिक लक्षण भी उसी से प्रकट होते हैं। नवीन रोगों में लक्षण बहुत जल्दी मालूम होते हैं और रोगी भी उन लक्षणों को झट कह सकता है। परन्तु पुराने रोगों के लक्षण बहुत गूढ़ रहते हैं और रोगी को भी उन्हें स्पष्टतया समझने में दिक्कत होती है। सो उसके लिए उपशय[1] (सात्म्य) व अनुपशय के प्रयोग से लक्षणों को जान लेना चाहिए। (गुढ़लिंग व्याधि उपशयानुपशयाभ्यां परिक्षेत) इन चार साधनों से रोग की संप्राप्ति (Pathology) को जान लेनी चाहिए। निदान, पूर्वरूप या पूर्वलक्षण, रूप, उपशय, व संप्राप्ति, इनको निदान पंचक कहते हैं। दर्शन, स्पर्शन व प्रश्न, इन साधनों से एवं निदान पंचकों के अनिरोध से रोगों की परीक्षा करें। रोग परीक्षा होकर रोग निश्चिति होने पर, उस पर ज्ञान पूर्वक चिकित्सा तत्त्व के आधार पर निश्चित औषधियों की योजना या उपचार जो हो सो करे। ध्रुव आरोग्य को प्राप्त करा देना यह आयुर्वेदीय चिकित्सा का ध्येय है। चिकित्सा करते हुए दैवव्यपाश्रय, युक्तीव्यपाश्रय व सत्वावजय इनका अवलंबन करना पड़ता है। द्रव्यभूत चिकित्सा व अद्रव्यभूत चिकित्सा इस प्रकार चिकित्सा के दो भेद हैं। द्रव्यभूत चिकित्सा में औषध व आहारों का नियम पूर्वक उपयोग करना पड़ता है। अद्रव्यभूत चिकित्सा में साक्षात् औषध व आहार के प्रयोग की आवश्यकता नहीं होती है। रोगों की आवश्यक सूचना देना व मंत्र, बली, होम वगैरह का बाह्यतः उपयोग करना पड़ता है। आयुर्वेद ने औषध का उपयोग बहुत बड़े प्रमाण में, अचूक, निश्चित व बिना श्रम के किया है। औषध में प्राण्यंग, वनस्पति, खनिज वस्तु व दूध वगैरह पदार्थों का उपयोग किया है। कल्याणकारक ग्रंथ में प्राण्यंग का विशेष उपयोग नहीं है। कस्तूरी गोराचन सदृश्य प्राणियों के शरीर से मिलने वाले अपितु प्राणियों के कष्ट न होकर प्राप्त होने वाले पदार्थों का उपयोग किया है। वनस्पति, खनिज व इतर द्रव्यों का उपयोग करते हुए उनका रस, विपाकवीर्य व प्रभाव का आयुर्वेद ने बहुत सुंदर विवेचन किया है। वनस्पति के अनेक कल्प बनाकर उनका उपयोग किया गया है। खनिज द्रव्यों को जैसे के तैसे औषध के रूप में देने से उनका शोषण

1. गूढ़लिग परीक्षा के लिए जो औषधों का प्रयोग, अन्न व विहार होता है, उसे उपशय कहते हैं। वह छह प्रकार का होता है।
1. हेतुविपरीत 2. व्याधिविपरीत 3. हेतू व्याधिविपरीत 4. हेतूविपर्यस्तार्थकारी 5. व्याधिविपर्यस्तार्थकारी
6. हेतूव्याधिविपर्यस्तार्थकारी॥

शरीर में होना शक्य नहीं है। खनिज द्रव्य के रासायनिक कल्प (Chemical Compounds) का भी शरीर में शोषन होना कठिन होता है। इसलिए खनिज या इतर निरिन्द्रिय द्रव्य पर सेन्द्रिय वनस्पति के अनेक पुट भावना से संस्कार किया जाता है। हेतु यह है की सेन्द्रिय द्रव्यों के संयोग से उनका शरीर में अच्छी तरह शोषन हो जाय। आयुर्वेद का रस शास्त्र इस प्रकार की संस्कार क्रिया से ओतप्रोत भरा हुआ है। **रस शास्त्र पर जैनाचार्यों ने बहुत परिश्रम किया है। आज जो अनेकानेक सिद्धौषध, आयुर्वेदीय वैद्य प्रचार में लाते हैं, वह जैनाचार्य व बौद्धों की नितांत प्रतिभा व अविश्रांत परिश्रम का फल है। अनेक प्रतिभावान, त्यागी, विरागी, आचार्यों ने जन्म भर विचार पूर्वक परिश्रम, प्रयोग पूर्वक अनुभव लेकर अनेक औषध रत्नों का भंडार संग्रहित कर रखा है। रसशास्त्र, वनस्पतिशास्त्र, प्राणीशास्त्र, निघंटु व औषधि गुणधर्म शास्त्र वगैरह अनेक शास्त्रों का निर्माण अप्रतिम रूप कर इन आचार्यों ने आयुर्वेद जगत् पर बड़ा उपकार किया है।**

रोग की चिकित्सा करते हुए अनेक भिन्न-भिन्न तत्त्वों का अवलंबन आयुर्वेद में किया है। बृंहण व लंघन चिकित्सा करते हुए अनेक भिन्न-भिन्न प्रक्रियाओं का उपयोग किया है। अद्रव्यभूत चिकित्सा व द्रव्यभूत चिकित्सा ये दोनों दोष प्रत्यनिक चिकित्सा पद्धति पर अवलंबित है। शरीर में दूषित दोषदृष्टि को दूर कर अर्थात् दोष वैषम्य व उससे आगे के दोषों के नाश कर धातु साम्य प्रवृत्ति करना यह चिकित्सा का मुख्य मर्म है। इस ध्रुवतत्त्व को सामने रख कर ही आयुवेर्दिय सूत्र और उससे संचालित पद्धति का विकास हुआ है। वह चिकित्सा निश्चित, कार्यकारी व शास्त्रीय है। दोषों के अनुरोध से चिकित्सा की जाए तो रोगी अच्छी तरह व शीघ्र स्वस्थ होता है एवं धातुसाम्यावस्था शीघ्र आकर उसका बल भी जल्दी बढ़ता है। मांस वृद्धि शीघ्र होकर रुग्णावस्था अधिक समय तक टिकती नहीं। समस्त वैद्य व डॉक्टर बंधुओं से निवेदन है कि वे इस प्रकार की दोष प्रत्यनीक चिकित्सा पद्धति का अभ्यास करें व उस प्रचार में लाने का प्रयत्न करें, तो उनको सर्वत्र यश निश्चित रूप से मिलेगा।

अब आयुर्वेद के स्वास्थ्य संरक्षण शास्त्र के सम्बन्ध में थोड़ा-सा परिचय देकर इस विस्तृत प्रस्तावना का उपसंहार करेंगे।

आयुर्वेद के दो विभाग हैं। एक स्वास्थ्यानुवृत्तिकर व दूसरा रोगोच्छेदकर उनमें रोगोच्छेदकर शास्त्र का ऊहापोह ऊपर संक्षेप में किया गया है। स्थास्थ्यानुवृत्तिकर शास्त्र या जिसे आरोग्य शास्त्र के नाम से भी कहा जा सकता है, उसका भी विचार आयुर्वेद शास्त्र ने किया है। जल, वायु, रहने का स्थान, काल इत्यादि का विचार जानपदीक आरोग्य में करना पड़ता है। अन्न, जल, विहार, विचार-आचार आदि का विचार व्यक्तिगत आरोग्य में करना पड़ता है। स्वास्थ्य का शरीर स्वास्थ्य, मानसिक स्वास्थ्य व ऐन्द्रियिक स्वास्थ्य इस प्रकार तीन भेद हैं। केवल रोगराहित्य का नाम स्वास्थ्य नहीं है। अपितु शरीरस्थ सर्वधातु[1] समता, समाग्नि रहना, धातु क्रिया व मल क्रिया सम रहना, मन व इन्द्रिय सम रहकर वृद्धि प्रकर्षक उत्कृष्ट प्रकार से रहना, इसे स्वास्थ्य कहते हैं। वातादिक त्रिधातुओं के प्रकृतिभूत रहने पर आरोग्य टिकता है। (तेषां प्रकृतिभूतानां तु खलु वातादीनां फलमारोग्यम्)

1. समदोषः समाग्निश्च समधातुमलक्रियः।
प्रसन्नात्मेंद्रियमनः स्वस्थ इत्यभिधीयते॥ वाग्भट

वातादिकों के साम्य पर स्वास्थ्य अवलंबित है। जिससे स्वास्थ्य टिककर रहेगा ऐसा वर्तन प्रति नित्य करें, इस प्रकार आयुर्वेद का उपदेश है। आहार, स्वप्न व ब्रह्मचर्य ये आरोग्य के मुख्य आधार हैं। हितकर आहार व विहार के कारण रोगोत्पत्ति न होकर आरोग्य कायम रहता है। स्वास्थ्य प्राप्त होता है। किसी भी कार्य को करते हुए विचार पूर्वक करना, समबुद्धि रखकर चलना, सत्य पर रहना, क्षमावान रहना, इंद्रियभोगों पर अनासक्त रहना व पूर्वाचार्यों के आदेशानुसार सुमार्ग का अवलंबन करना, इन बातों से इंद्रिय स्थास्थ्य बना रहता है।

ब्रह्मचर्य व मानसिक संयम से विशेषतः सकलेन्द्रियार्थ संयम से मानसिक स्थास्थ्य टिकता है। शुक्र धातु ओज व परम ओज ये शरीर के मुख्य प्रभाव हैं। ब्रह्मचर्य पालन से शरीर में ये जमकर रहते हैं। शरीर का ओज अत्यन्त बुद्धिवर्धक, स्मृतिवर्धक, बलदायक होने से ब्रह्मचर्य पालन से बुद्धि अधिक तेजस्वी होती है। स्मृति तीव्र बनी रहती है। शरीर का बल व तेज उत्तम होता है। वह मनुष्य बड़ा पराक्रमी शूर व वीर होता है। अपने आर्य शास्त्रों में ब्रह्मचर्य के महत्त्व का वर्णन किया है, वह सत्य है।

ब्रह्मचर्य का पालन विवाह के बाद भी करना चाहिए। ब्रह्मचर्य से रहकर धर्म संतति को चलाने के लिए, पुत्र की कामना से ही स्त्री सेवन करना चाहिए। केवल विषय वासना की पूर्ति के लिए आसक्त होना, यह व्यभिचार है। इस प्रकार शास्त्रों का आदेश है। जैनाचार्यों ने स्वदारसंतोषव्रत (ब्रह्मचर्य) का उपदेश करते हुए स्व स्त्री में भी अत्यासक्ती रखने की मनाही की है। यदि ब्रह्मचर्य के इस उद्देश्य को लक्ष्य में रखकर संयम का पालन करें तो मनुष्य का शरीर व मन अत्यन्त स्वस्थ व सुदृढ़ बन सकते हैं। सारांश यह है की युक्त आहार, विहार व ब्रह्मचर्य के पालन से आजन्म स्वास्थ्य व दीर्घ जीवन की प्राप्ति होती है।

आयुर्वेद में और उसी का कल्याणकारक ग्रंथ होने से उस में रोगच्छेदकर शास्त्र का व स्वास्थ्यनुवृत्तिकर शास्त्र का बहुत विस्तृत सुंदर विवेचन किया गया है।

---

1. तच्च नित्यं प्रयुंजीत स्वास्थ्यं येनानुवर्तते।
अजातानां विकाराणामनुत्पतिकरं च यत्॥ चरकसूत्र अ.5/10

प्रकृत ग्रंथ का वैशिष्ट्य

कल्याणकारक ग्रंथ की रचना जैसी सुंदर है, उसी प्रकार उसमें कथित अनेक चिकित्सा प्रयोग भी अश्रुत पूर्व व अन्य वैद्यक ग्रंथों के प्रयोगों से कुछ विशेषताओं को लिए हुए है। सदा ध्यानाध्ययन व योगाभ्यास में रत रहने वाले महर्षियों की निर्मलबुद्धि के द्वारा प्रकृत ग्रंथ का निर्माण होने से इस ग्रंथ में प्रतिपादित प्रयोगों में खास विशेषता रहनी चाहिए, इसमें कोई संदेह नहीं। आयुर्वेद प्रेमी वैद्यों को उचित है की वे ऐसे नवीन योगों को प्रयोग (Practical)में लाकर संशोधनात्मक पद्धति से अनुभव करें, जिसमें आयुर्वेद विज्ञान का उत्तरोत्तर उद्योत हो।

प्रकृत ग्रंथ मे प्रत्येक रोगों का निदान, पूर्वरूप, संप्राप्ति, चिकित्सा, साध्यासाध्य विचार आदि पर सुसंबद्ध रूप से विवेचन किया गया है। इसके अलावा अनेक रस रसायन व कल्पों का प्रतिपादन स्वतंत्र अध्यायों में किया गया है। साथ में महामुनियों के योगाभ्यास से ज्ञात रहस्य पूर्ण रिष्टाधिकार भी दिया गया है। एक बात खास उल्लेखनीय है कि इस ग्रंथ में किसी भी औषधप्रयोग में मद्य, मांस व मधु का उपयोग नहीं किया गया है। मद्य, मांस, मधु हिंसाजन्य हैं। जिनकी प्राप्ति में असंख्यात जीवों का संहार करना पड़ता है। अतएव अहिंसा-धर्म के आदर्श को संरक्षण करने के लिए इनका परित्याग आवश्यक है। इसके अलावा ये पदार्थ चिकित्सा-कार्य में अनिवार्य भी नहीं है। क्योंकि आज पाश्चात्य देशों में अनेक वैज्ञानिक वैद्य इन पदार्थों की मानवीय शरीर के लिए निरुपयोगिता सिद्ध कर रहे है। आर्य संस्कृति के लिए तो हिंसाजन्य निंद्य पदार्थों की आवयश्यकता ही नहीं।

हमारे वैद्य बंधु अनुदिन की चिकित्सा में सर्वथा वनस्पति, कल्प व रसायनों का उपयोग करने की आदत डालेंगे तो भारत में औषधि के बहाने से होने वाली असंख्यात प्राणियों की हिंसा को बचाने का श्रेय उन्हें मिल जायेगा।

इस ग्रंथ के उद्धार में अथ से इति तक स्व. धर्मवीर सेठ रावजी सखाराम दोशी ने प्रयत्न किया था। उनकी मनीषा थी की इस ग्रंथ का प्रकाशन समारंभ मेरी ही अध्यक्षता में कर, उस प्रसंग में अनेक वैद्यों को एकत्रिक कर आयुर्वेद की महत्ता पर खूब ऊहापोह किया जाय। परंतु कालराज की क्रूरता से उनकी इच्छा पूर्ण नहीं हो सकी।

तथापि आयुर्वेद के प्रति उनका जो उत्कट प्रेम था, उसके फलस्वरूप आज हम उनकी इच्छा की पूर्ति इस प्रस्तावना के द्वारा कर रहे हैं।

इस ग्रंथ का सम्पादन श्री विद्यावाचस्पति पं. वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री के द्वारा हुआ है। श्री शास्त्रीजी ने वैद्य न होते हुए भी जिस योग्यता से इस ग्रंथ का सम्पादन व अनुवादन किया है, वह श्लाघनीय है। उसको इस कार्य में उतनी ही सफलता मिली है, जितनी कि एक सुयोग्य वैद्य को मिल सकती है। उनके प्रति आयुर्वेद-

संसार कृतज्ञ रहेगा।

ग्रंथ के अंत में ग्रंथ में आए हुए वनौषधि शब्दों के अर्थ भिन्न-भिन्न भाषाओं में दिए गए हैं, जिसमें हिन्दी, मराठी व कन्नड़ी जानने वाले पाठक भी इससे लाभ ले सकें। इससे सोने में सुगंध आ गया है।

आयुर्वेदीय विद्वान् प्रकृत ग्रंथ के योगों से लाभ उठायेंगे तो सम्पादक व प्रकाशक का श्रम सार्थक होगा। इति

ता. 1-2-1940

आपका

गंगाधर गोपाल गुणे,

(वैद्यपंचानन, वैद्यचूड़ामणि)

भूतपूर्व अध्यक्ष निखिल भारतीय आयुर्वेद महामंडल व विद्यापीठ,

सम्पादक भिषग्विलास, अध्यक्ष आयुर्वेद सेवा संघ, प्रिंसिपल आयुर्वेद महाविद्यालय,

संस्थापक आयुर्वेद फार्मेसी लि. अहमदनगर

सम्पादकीय वक्तव्य
पूर्वनिवेदन

सबसे पहले मैं यह निवेदन करना आवश्यक समझता हूँ कि मैं न कोई वैद्य हूँ और न मैंने इस आयुर्वेद को कोई क्रमबद्ध अध्ययन ही किया है। इसलिए इसके सम्पादन में व अनुवादन में अगणित त्रुटियों का रहना संभव है। परन्तु इसका संशोधन मुंबई व अहमदनगर के दो अनुभवी वैद्य मित्रों ने किया है। इसलिए पाठकों को इसमें जो कुछ भी गुण नजर आवें तो उसका श्रेय उनको मिलना चाहिए और यदि कुछ दोष रह गये हों तो वह मेरे अज्ञान व प्रमाद का फल समझना चाहिए। सहसा प्रश्न उपस्थित होता है कि फिर मैंने इस कार्य को हाथ में क्यों लिया?

जैनाचार्यों ने जिस प्रकार न्याय, काव्य, अलंकार, कोश, छंद व दर्शन शास्त्रों का निर्माण किया था उसी प्रकार ज्योतिष व वैद्यक ग्रंथों का भी निर्माण कर रखा है। जैन महर्षियों में यह एक विशेषता थी कि वे हर एक विषय में निष्णात विद्वान् होते थे। प्रातःस्मरणीय पूज्यपाद, परमपूज्य समन्तभद्र, जिनसेन, गुरुवीरसेन, गुण भंडार श्रीगुणभद्र, महर्षि सोमदेव, सिद्धवर्णी रत्नाकर व महापंडित आशाधर आदि महापुरुषों की कृतियों पर हम एक बार नजर डालते हैं तो आश्चर्य होता है कि इन्होंने अनेक विषयों पर किस प्रकार प्रौढ़ प्रभुत्व को प्राप्त किया था। प्रत्येक ऋषि अपने काल के माने हुए हैं। उनका पांडित्य सर्व दिगंत व्यापी हो रहा था। उन महर्षियों ने अपने जप-तप-ध्यान से बचे हुए अमूल्य समय को शिष्यों के कल्याणार्थ लगाया और परम्परा से सबको उनके ज्ञान का उपयोग हो, इस हेतु से अनेक ग्रंथों का निर्माण कर रखा, जिससे आज हम लोगों के प्रति उनका अनंत उपकार हुआ है।

जैन संसार में खासकर दिगम्बर जैन सम्प्रदाय में साहित्य अभिरुचि व तद् उद्धार की चिंता बहुत कम है, यह मुझे बहुत दुःख के साथ कहना पड़ता है। इस बात की सत्यता एक बार दूसरे संप्रदाय के द्वारा प्रकाशित साहित्यों से तुलना करने से मालूम हो सकती है। सत्ता की दृष्टि से संस्कृत, हिन्दी, कर्नाटक भाषाओं में दिगंबर संप्रदाय का जो साहित्य है, उतना किसी का भी नहीं है। उद्धार की दृष्टि से दिगंबरियों के साहित्य के समान अल्प प्रमाण किसी का भी नहीं है। प्रत्युत लोग समय का फायदा लेने लगे हैं। एक तरफ से हमारे समाज के कर्णधार कई प्रकार से साहित्य के प्रचार को रोक रहे हैं। कोई आम्नाय के पक्षपात से प्रकाशन का विरोध कर रहे है तो कोई पैसे के लोभ से दूसरों को दिखाने की उदारता नहीं बतलाते। कई शास्त्र भंडार तो वर्षों से बंद हैं। उन्हें खुलवाने का न कोई खास प्रयत्न ही किया जाता है और करने पर सफलता भी कम मिलती है। ऐसी अवस्था में जब दिगम्बर संप्रदाय के सज्जनों पर प्रमाद देवता की खूब कृपा है, उसे देखकर अन्य लोग कोई प्रशस्ति बदल कर, कोई मंगलाचरण बदल कर, कोई कर्ता की मरम्मत कर, कोई ग्रंथ के नाम को बदलकर, कोई अपने मतलब की बात को निकाल घुसेड़कर, इस प्रकार तरह-तरह से दिगंबर साहित्यों को सामने ला रहे हैं। कुछ साहित्य प्रेमी सज्जनों की कृपा से हमारे न्याय, दर्शन व साहित्य तो केवल आंशिक रूप में बाहर आये है। परन्तु वैद्यक व ज्योतिष के ग्रंथ तो बाहर आये ही नहीं है। इन विषयों की कृति भी जैनाचार्यों की बहुत

महत्त्वपूर्ण है। परन्तु उनके उद्धार की चिन्ता जैन वैद्य व ज्योतिषियों में बिल्कुल नहीं देखी जाती। धर्मवीर, दानवीर, जिनवाणीभूषण, विद्याभूषण स्व. सेठ रावजी सखाराम दोशी की प्रबल मनीषा थी कि इस विभाग में कुछ कार्य होना चाहिए। इस विचार से उन्होंने इस ग्रंथ के उद्धार में अथ से इति तक प्रयत्न किया। जब उनको मालूम हुआ कि यह एक समग्र जैन वैद्यक-ग्रंथ मौजूद है तो उन्होंने मैसूर गवर्नमेंट लायब्ररी से इस ग्रंथ की प्रतिलिपि कराकर मंगाई। तदनंतर मुझसे इसका संपादन व अनुवादन करने के लिए कहा। मुझे पहले-पहले संकोच हुआ कि एक अनभ्यस्त विषय पर में कैसे हाथ डालूँ। परन्तु बाद में स्थिर किया कि जब जैन वैद्यों की इस ओर उपेक्षा है तो एक बार अपन इस पर प्रयत्न कर देखें। फिर मैंने चरकादि ग्रंथों कि रचना का अध्ययन किया, जिससे मुझे प्रकृत ग्रंथ के संपादन व अनुवादन में विशेष दिक्कत नहीं हुई। कहीं अड़चन हुई तो उसे मेरे विद्वान् मित्र संशोधकों ने दूर किया।

धर्मवीरजी की लगन :

इस ग्रंथ के उद्धार में सबसे बड़ा हाथ श्री धर्मवीर स्व. सेठ रावजी सखाराम दोशी का था, यह हम पहले बता चुके हैं। उन्होंने इस ग्रंथ की पहली लिपि कराकर मंगाई। ग्रंथ के अनुवादन व संपादन में प्रोत्साहित किया। इस ग्रंथ के मुद्रण के लिए खास कल्याणकारक के नाम पर कल्याण मुद्रणालय को संस्थापित करने में पूर्ण सहयोग दिया। समय-समय पर लगने वाले संपादन साधनों को एकत्रित कर दिया। अनेक धर्मात्मा साहित्य-प्रेमियों से पत्र-व्यवहार कर इसके उद्धार में आर्थिक-सहयोग को भी कुछ अंशों में प्राप्त किया। उनकी बड़ी इच्छा थी कि यह ग्रंथ शीघ्र प्रकाश में आ जावे। लोगों में अहिंसात्मक आयुर्वेद का प्रचार होने की बड़ी आवश्यकता है। वे चाहते थे कि इस ग्रंथ का प्रकाशन समारंभ बहुत ठाटबाट से किया जाय। वे गत दीपावली के पहले जब बीमार पड़े तब वैद्य पंचानन पं. गंगाधर गुणे शास्त्री जी इलाज के लिए आये थे। इन से उन्होंने कहा था कि मुझे जल्दी अच्छा कर दो। क्योंकि इस दीपावली कन्शेसन टिकट के समय में यहाँ पर एक वैद्यक सम्मेंलन करना है। उस समय जैन वैद्यक ग्रंथ कल्याणकारक का प्रकाशन समारंभ करेंगे। जैनायुर्वेद की महत्ता के सम्बन्ध में चर्चा करेंगे। किसे मालूम था कि उनकी यह भावना मन के मन में ही रह जायेगी। विशेष क्या? धर्मवीरजी ने इहलोक यात्रा को पूर्ण करने के एक दिन पहले रोग शय्या पर पड़े पड़े मुझसे यह प्रश्न किया था कि '' पंडितजी! कल्याणकारक का औषधि कोष तैयार हुआ या नहीं ? अब ग्रंथ जल्दी तैयार होगा या नहीं'' उत्तर में मैंने कहा कि ''रावसाहेब! आप बिल्कुल चिन्ता न करें। सब काम तैयार है। केवल आपके स्थास्थ्य लाभ की प्रतीक्षा है'' परन्तु भवितव्य बलवान है। बीज बोया , पानी का सिंचन किया, पाल पोसकर अंकुर को वृक्ष बनाया। वृक्ष ने फल भी छोड़ा, माली मन में सोच रहा था कि फल कब पकेगा और मैं कब खाऊँ ? परन्तु फल के पकने के पहले ही वह कुशल व उद्यमी माली चल बसा। यही हालत स्व. धर्मवीरजी की हुई। पाठक उपर्युक्त प्रकरण से अच्छी तरह समझ सकेंगे कि धर्मवीरजी की आत्मा इस ग्रंथ के प्रकाशन को देखने के लिए कितनी अधिक उत्सुक थी ? परन्तु दैव ने उसकी पूर्ति नहीं होने दी। आज ये सब स्मृति के विषय बन गये हैं। किसे मालूम था कि जिनके नेतृत्त्व में जिसका प्रकाशन होना था, उसे उनकी स्मृति में प्रकाशित करने का समय आएगा? परन्तु स्वर्गीय आत्मा स्वर्ग में इस कार्य को देखकर अवश्य प्रसन्न हो जायेगी। उनके प्रति श्रद्धांजलि समर्पण करते हैं।

ग्रंथ के प्रकाशन में कुछ विलंब अवश्य हुआ। उसके लिए हमें जो इस ग्रंथ की प्रतियाँ प्राप्त थीं, वही

कारण है। प्रायः सर्व प्रतियाँ अशुद्ध थीं। इसके अलावा प्रेस कापी का संशोधन पहले मुंबई के प्रसिद्ध वैद्य पं. अनंतराजेन्द्र आयुर्वेदाचार्य करते थे। बाद में अहमदनगर के वैद्य पं. बिन्दूमाधव शास्त्री करते थे। इसमें काफी समय लगता था। औषधि कोष को कई भाषाओं में तैयार करने के लिए बेंगलोर आदि स्थानों से उपयुक्त ग्रंथ प्राप्त किए गए थे। अंतिम प्रकरण जो कि बहुत ही अशुद्ध था, जिसके लिए हमें काफी समय लगाना पड़ा, तथापि हमें संतोष नहीं हो सका। इत्यादि अनेक कारणों से ग्रंथ के प्रकाशन में विलंब हुआ। हमारी कठिनाईयों को लक्ष्य में रख कर इसे पाठक क्षमा करेंगे।

प्रतियों का परिचय

इस ग्रंथ के संपादन में हमने चार प्रतियों का उपयोग किया है, जिनका विवरण निम्नलिखित प्रकार है-

1. मैसूर गवर्नमेंट लायब्रेरी के ताड़पत्र प्रति की प्रतिलिपि। प्रतिलिपि सुंदर है। जैसे ब्राह्मीलिपि सुंदर है, उस प्रकार लेखन बिल्कुल शुद्ध नहीं है। साथ में हिताहिताध्याय का प्रकरण तो लेखक के प्रमाद से बिल्कुल ही रह गया है।

2. यह प्रति ताड़पत्र की कानडी लिपि की है। स्व. पं. दोर्बली शास्त्री श्रवणबेलगोला के ग्रंथ-भंडार से प्राप्त हो गई थी। गांधी नाथारंगजी जैनोन्नति फंड की कृपा से यह प्रति हमें मिली थी। ताड़पत्र की प्रति होने पर भी बहुत शुद्ध नहीं कही जा सकती है।

3. मुंबई ऐ. प. सरस्वती भवन की प्रति है। जो कि उपर्युक्त नं. 2 की ही प्रतिलिपि मालूम होती है। मूल प्रति में ही कहीं-कहीं हस्तप्रमाद हो गया है। उत्तर प्रति में तो पूछिये ही नहीं, लेखक जी पर प्रमाद-देवता की पूर्ण कृपा है।

4. रायचूर जिले के एक उपाध्याय ने लाकर हमें एक प्रति दी थी। जो कि कागज पर लिखी हुई होने पर भी प्राचीन कही जा सकती है। ग्रंथ प्रायः शुद्ध है। अनेक स्थलों पर जो अड़चनें हो गई थीं, उनकी इसी प्रति ने दूर किया। प्रति के अंत में लेखक की प्रशस्ति भी है। उसमें लिखा है कि-

''स्वस्तिश्रीमत्सर्वज्ञसमयभूषण केशवचन्द्रत्रैविद्यदेवशिष्यैर्बालचंदभट्टारकदेवैलिखितं कल्याणकारकं'' जैसे ग्रंथ प्रामाण्य के लिए गुरुपरंपरा की आवश्यकता है, उसी प्रकार लेखन प्रामाण्य को दिखलाने के लिए लेखक ने लेखन परंपरा का उल्लेख किया है। वह इस प्रकार है-'' पूर्वदल्लि लिखितवनोडिकोंडू बरदरु--- अर्थात् बालचंद्र भट्टारक ने पूर्व लिखित ग्रंथ को देखकर इस ग्रंथ की लिपि की। उन्होंने अपने गुरु के गुणगौरव को उल्लेख करते हुए निम्नलिखित श्लोक को लिखा है।

केचित्तर्कवितर्ककर्कशधियः केचिच्च शब्दागम-
क्षुण्णाः केचिदलंकृतिप्रवितथ-प्रज्ञान्विताः केवलं।
केचित्सामयिकागमैकनिपुणाः शास्त्रेषु सर्वेष्वसौ।
प्रौढ़ः केशवचंद्रसूरिरतुलः प्रोष्यच्चिविद्यानिधिः॥

आगे लिखा है कि स्वस्ति श्री शालिवाहन शक वर्ष 1351 नेय सौम्यनाम संवत्सरद ज्येष्ठ शुद्ध 2 गुरुवारदल्लु श्री बालचंद्र भट्टारकरुबरद ग्रंथ। अदनोडि अवर शिष्यरुबरदुकोंडरु ... आ प्रति नोडि स्वस्तिश्री

शक वर्ष 1476 वर्तमान आनंदनाम संवत्सरद कार्तिक शुद्ध 15 शुक्रवारदल्लु श्रीमत्तुमटकूर बस्तिय इंद्रवंशान्वय देचण्णन सुत वैद्य नेमण्ण पंडितनु मुन्नजर प्रति नोडि उद्धरिसिदरु अदु प्रतिनोडि शकवर्ष 1573 ने य खरनाम संवत्सरद वैशाख शुद्ध शुक्रवारदल्लु श्रीमत् चाकूर शुभस्थान श्री पार्श्वजिननाथ सान्निधियल्लु इंद्रवंशान्वय रायचुर वैद्य चंदप्पय्यन पुत्र वैद्य भुजबलि पंडित बरेद प्रति नोडी श्रीमन्निर्वाण महेन्द्रकीर्तिजीयवरुबरदरु ॥श्री॥

अर्थात् शालिवाहन शकवर्ष 1351 सौम्य संवत्सर के ज्येष्ठ शु. 2 गुरुवारको श्रीबालचंद्र भट्टारकजीने इस ग्रंथ की प्रतिलिपि की। उस पर से उनके शिष्यों ने प्रतिलिपि ली। उन प्रतियों को देखकर स्वस्ति श्री शक वर्ष 1476, आनंद धाम संवत्सर, कार्तिक शु. 15 शुक्रवार के रोज तुमटकूरके इंद्रवंशोत्पन्न देचण्णका पुत्र वैद्य नेमण्णा पंडित ने प्रति की। उस प्रति को देखकर शकवर्ष 1573 के खरनाम संवत्सर, वैशाख शुद्ध शुक्रवार के रोज श्री चाकूर शुभस्थान श्री पार्श्वनाथ स्वामी के चरणों में रायचूर के इंद्रवंशान्वय वैद्य चंद्रप्पय्य के पुत्र वैद्य भुजबलि पंडित के द्वारा लिखित प्रति को देखकर श्री निर्ग्रंथ महेन्द्रकार्तिजी ने लिखा''।

इस प्रकार चार प्रतियों की सहायता से हमने इसका संशोधन किया है। कई प्रतियों की मिलान से शुद्ध पाठकों को देने का प्रयत्न किया गया है। कहीं-कहीं पाठ भेद भी दिया गया है। अंतिम प्रकरण हिताहिताध्याय दो प्रतियों में मिला वह लेखक की कृपा से इतना अशुद्ध था कि हम उसे बहुत प्रयत्न करने पर भी किसी भी प्रकार संशोधन भी नहीं कर सके। इसलिए हमने उस प्रकरण को ज्यों का त्यों रख दिया है। क्योंकि अपने मन से आचार्यों की कृति में फरक करना हमें अभीष्ट नहीं था। आगे और कभी साधन मिलने पर उस प्रकरण का संशोधन हो सकेगा।

जैन वैद्यक ग्रंथों की विशेषता

जैनाचार्यों के बनाये हुए ज्योतिष ग्रंथ जैसे है वैसे ही वैद्यक ग्रंथ भी बहुत से होने चाहिये। परन्तु उनमें आज तक एक भी ग्रंथ प्रकाशित नहीं हुआ है। जिन ग्रंथों की रचना का पता चलता है, उन ग्रंथों का अस्तित्व हमारे सामने नहीं है। समंतभद्र का वैद्यक ग्रंथ कहाँ है? ''श्रीपूज्यपादोदितं'' आदि श्लोकों को बोलकर अनेक अजैन विद्वान् वैद्यकी से अपना योगक्षेम चलाते हुए देखे गये हैं। परन्तु पूज्यपाद का समग्र आयुर्वेद ग्रंथ कितने ढूँढनेपर भी नहीं मिल सका और भी बहुत से वैद्यक ग्रंथों का पता तो चलता है (आगे स्पष्ट करेंगे) परन्तु उपलब्धि होती नहीं। जो कुछ भी उपलब्ध होता है, उन ग्रंथों के रक्षण व प्रकाशन की चिंता समाज को नहीं है यह कितने खेद की बात है। आज भारतवर्ष में जैनियों का प्रकाशित एक भी वैद्यक ग्रंथ उपलब्ध नहीं, यह बहुत दुःख के साथ कहना पड़ता है, वैद्यक ग्रंथों का यदि प्रदर्शन भरेगा तो क्या जैनियों का स्थान उसमें शून्य रहेगा ? अत्यन्त दुःख है।

जैनेतर वैद्यक ग्रंथों की अपेक्षा जैन वैद्यक ग्रंथों में विशेषता न हो तो अजैन विद्वान् जैन वैद्यक ग्रंथों के आधार से ही अपना प्रयोग क्यों चलाते। अजैन ग्रंथों में भी जगह-जगह पर पूज्यपादीय आदि आयुर्वेद के प्रमाण लिये गये हैं। एक बात की विशेषता है कि जैनधर्म जिस प्रकार ''**अहिंसापरमोधर्म**'' को सिद्धान्त में प्रतिपादन करता है, उसी प्रकार उसे वैद्यक ग्रंथ में भी अक्षुण्ण बनाये रखता है। जैनाचार्यों के वैद्यक ग्रंथ में मद्य, मांस, मधु का प्रयोग किसी भी औषधि में अनुपान के रूप से या औषध के रूप से नहीं बताया गया है। केवल वनस्पति, खनिज, क्षार, रत्नादिक पदार्थों का ही औषध में उपयोग बताया गया है। अर्थात् एक प्राणी की हिंसा

से दूसरे प्राणी की रक्षा जैनधर्म के लिए सम्मत नहीं है। इसलिए उन्होंने हिंसोत्पादक द्रव्यों का सेवन ही निषिद्ध बतलाया है।

दूसरी बात आगमों की स्वतंत्र कल्पना जैन परम्परा को मान्य नहीं है। वह गुरुपरम्परा से आने पर ही प्रमाण कोटि में ग्राह्य है। उस नियम का पालन वैद्यक ग्रंथ में भी किया जाता है। मनगढन्त कल्पना के लिए उस में भी स्थान नहीं है।

इतर वैद्यक ग्रंथों में औषधियों का प्रयोग, स्वास्थ्य रक्षा आदि बातें ऐहिक प्रयोजन के लिए बतलाई गईं हैं। शरीर को निरोगी रखकर उसे हट्टा-कट्टा बनाना व यथेष्ट इन्द्रिय भोग का भोगना यही एक उनका उद्देश्य सीमित है। परन्तु शरीर स्वास्थ्य, आत्म स्वास्थ्य के लिए है। इन्द्रियों के सेवन में भी जैनाचार्यों ने जगह-जगह पर स्पष्ट किया है। इसलिए ही औषधियों के सेवन में भी जैनाचार्यों ने भक्ष्याभक्ष्य सेव्यासेव्य आदि पदार्थों का ख्याल रखने के लिये आदेश किया है।

इस प्रकार जैन-जैनेतर आयुर्वेद ग्रंथों को सामने रखकर विचार करने पर जैनाचार्यों के वैद्यक ग्रंथों में बहुत विशेषता और भी मालूम हो जायेगी।

जैन वैद्यक की प्रामाणिकता :

जैनागम में प्रामाणिकता सर्वज्ञ-प्रतिपादित होने से है। उसमें स्वरुचि विरचितपने को स्थान नहीं है। सर्वज्ञ परमेंष्ठी के मुख से जो दिव्यध्वनि निकलती है, उसे श्रुतज्ञान के धारक गणधर परमेंष्ठी आचारांग आदि बारह भेदों में विभक्त कर निरुपण करते हैं। उनमें बारहवें अंग के चौदह उत्तर भेद हैं। उन चौदह भेदों में (पूर्व) प्राणावाय नामक एक भेद है। इस प्राणावाय पूर्व में ''कायचिकित्साद्यष्टांग आयुर्वेदः भूतकर्म-जांगुलिप्रकमः प्राणापानविभागोपि यत्र विस्तरेण वर्णितस्तत्प्रणावायम्'' अर्थात् जिस शास्त्र में काय, तद्गतदोष व चिकित्सादि अष्टांग आयुर्वेद का वर्णन विस्तार से किया गया हो, पृथ्वी आदिक भूतों की क्रिया, विषैले जानवर व उनकी-चिकित्सा वगैरह तथा प्राणापान का विभाग जिसमें किया हो, उसे प्राणावाय पूर्व शास्त्र कहते हैं। इस प्राणावाय पूर्व के आधार पर ही उग्रदित्याचार्य ने इस कल्याणकारक की रचना की है। ऐसा महर्षि ने ग्रंथ में कई स्थानों पर उल्लेख किया है और ग्रंथ के अंत में उसे स्पष्ट किया है।

सर्वार्धाधिकमागधीयविलसद्भाषाविशेष्योज्वल-,
प्राणावायमहागमादवितथं संगृह्य संक्षेपतः
उग्रादित्यगुरुर्गुरुर्गुरुगणैरुभ्दासिसौख्यास्पदं ।
शास्त्रं संस्कृतभाषया रचितवानित्येष भेदस्तयोः ॥ अ. 25 श्लो. 54

सुंदर अर्धमागधी भाषा में अत्यन्त शोभा से युक्त महागंभीर ऐसा प्राणावाय नामक जो महान् शास्त्र है, उसको यथावत् संक्षेप में संग्रह कर महात्मा गुरुओं की कृपा से उग्रादित्याचार्य ने सर्व प्राणियों का कल्याण करने में समर्थ इस कल्याणकारक को बनाया। वह अर्धमागधी भाषा में है और यह संस्कृत भाषा में है। इतना ही दोनों में अंतर है। इसलिए यह आगम उस द्वादशांग का ही एक अंग है और इस ग्रंथ की रचना में महर्षि का निजी कोई स्वार्थ नहीं है। तत्त्व-विवेचन ही उनका मुख्य ध्येय है। इसलिए इसमें अप्रामाणिकता की कोई

आशंका नहीं की जा सकती। अतएव सर्वतो प्रामाण्य है।

उत्पत्ति का इतिहास

ग्रंथ के प्रारंभ में महर्षि ने आयुर्वेद-शास्त्र की उत्पत्ति के विषय में एक सुंदर इतिहास लिखा है। जिसको पढ़ने पर उसकी प्रामाणिकता में और भी श्रद्धा सुदृढ़ हो जाती है।

ग्रंथ के आदि में श्री आदिनाथ स्वामी को नमस्कार किया है। तदनंतर-

तं तीर्थनाथमधिगम्य विनम्य मूर्ध्ना। सत्प्रातिहार्यविभवादिपरीतमूर्तिम्।

सप्रश्रयाः त्रिकरणोरुकृतप्रमाणाः पप्रच्छुरित्थमखिलं भरतेश्वराद्याः॥

श्री ऋषभनाथ स्वामी के समवसरण में भरत चक्रवर्ती आदि भव्यों ने पहुँचकर श्री भगवंत की सविनय वंदना की और भगवान् से निम्नलिखित प्रकार पूछने लगे-

भो स्वामिन्! पहले भोगभूमि के समय में मनुष्य कल्पवृक्षों से उत्पन्न अनेक प्रकार के भोगोपभोग सामग्रियों से सुख भोगते थे। यहाँ भी खूब सुख भोगकर तदनंतर स्वर्ग में पहुँचकर वहाँ भी सुख भोगते थे। वहाँ से फिर मनुष्य भव में आकर अनेक पुण्य कर्मों को कर अपने-अपने इष्ट स्थानों को प्राप्त करते थे। भगवन्! अब भारतवर्ष को कर्मभूमि का रूप मिला है। जो चरमशरीरी हैं व उपपाद जन्म में जन्म लेने वाले हैं, उनको तो अब भी अपमरण नहीं है। उनको दीर्घ आयुष्य प्राप्त होता है। परन्तु ऐसे भी बहुत से मनुष्य पैदा होते हैं, जिनकी आयु दीर्घ नहीं रहती और उनको वात, पित्त कफादिक दोषों का उद्रेक होता रहता है। उनके द्वारा कभी शीत और कभी उष्ण व कालक्रम से मिथ्या-आहार सेवन करनें में आता है। इसलिए अनेक प्रकार के रोगों से पीड़ित होते हैं। वे नहीं जानते कि कौन-सा आहार ग्रहण करना चाहिए और कौन-सा नहीं लेना चाहिए। इसलिए, उनके स्वास्थ्य रक्षा के लिए योग्य उपाय आप बतावें। आप शरणागतों के रक्षक हैं। इस प्रकार भरत के प्रार्थना करने पर, आदिनाथ भगवंत ने दिव्यध्वनि के द्वारा पुरुष का लक्षण, शरीर, शरीर का भेद, दोषोत्पत्ति, चिकित्सा, कालभेद आदि सभी बातों का विस्तार से वर्णन किया। तदनंतर उनके शिष्य गणधर व बाद में तीर्थंकरों ने व मुनियों ने आयुर्वेद का प्रकाश उसी प्रकार किया। वह शास्त्र एक समुद्र के समान है, गंभीर है। उससे एक बूँद को लेकर इस कल्याणकारक की रचना हुई है अथवा उस शास्त्र की यह एक बूँद है। सर्वज्ञ भाषित होने के कारण सबका कल्याण करने वाला है। इस प्रकार के ग्रंथ के इतिहास को प्रकट करते हुए प्रत्येक अध्याय के अंत में यह श्लोक लिखते हैं।

इति जिनवक्त्रविनिर्गतसुशास्त्रमहांबुनिधेः। सकलपदार्थविस्तृततरंगकुलाकुलतः।

उभयभवार्थसाधनतटद्वयभासुरतो निसृतमिदं हि शीकरनिभं जगदेकहितम्॥

वैद्यक शब्द की निरुक्ति

वैद्य शब्द की व्याख्या करते हुए आचार्य ने लिखा है कि जीवादिक समस्त पदार्थों के लक्षण को प्रकट करने वाले केवलज्ञान को विद्या कहते हैं। उस विद्या से इस ग्रंथ की उत्पत्ति हुई, इसलिए इसे वैद्य कहते हैं। इस ग्रंथ के अध्ययन व मनन करने वाले विद्वान् को भी वैद्य कहते हैं। यथा -

विद्येति सत्प्रकटकेवललोचनाख्या तस्यां यदेतदुपपन्नमुदारशास्त्रम्।

वैद्यं वदंति पदशास्त्रविशेषणज्ञा एतद्विचिंत्य च पठंति च तेपि वैद्याः ॥ अ.1, श्लो. 18

क्या ही सुंदर अर्थ आचार्य ने वैद्य शब्द का किया है। इसमें किसी को विवाद ही नहीं हो सकता।

आयुर्वेद

इस शास्त्र को आयुर्वेद शास्त्र भी कहते हैं। उसका कारण यह है कि इस शास्त्र में सर्वज्ञ तीर्थंकर के द्वारा उपदिष्ट तत्त्व का विवेचन किया है। इसके ज्ञान से मनुष्य की आयु सम्बन्धी समस्त बातें मालूम हो जाती हैं या उन बातों को मालूम करने के लिए यह वेद के समान है। इसलिए इस शास्त्र का अपरनाम आयुर्वेद भी कहा जाता है।

वैद्यक ग्रंथ के अध्ययनाधिकारी

वैद्यक शास्त्र का अभ्यास कौन कर सकता है, इस सम्बन्ध में लिखते हुए आचार्य ने आज्ञा दी है कि –

राजन्यविप्रवरवैश्यकुलेषु कश्चित्। धीमाननिद्यचरितः कुशलो विनीतः ॥

प्रातः गुरुं समुपसृत्य यदा तु पृच्छेत्। सोयं भवेदमलसंयमशास्त्रभागी ॥ अ.1 श्लोक 21.

जो ब्राह्मण क्षत्रिय व वैश्य इन तीन उच्च वर्णों में से किसी एक वर्ण का हो, निर्दोष आचरण वाला हो, कुशल व स्वभावतः विनयी हो एवं बुद्धिमान हो, वह वैद्यक शास्त्र के अध्ययन की उत्कट इच्छा से प्रातःकाल में गुरु के निकट जाकर प्रार्थना करें, वही इस शास्त्र के अध्ययन का अधिकारी हो सकता है।

गुरु का कर्तव्य

इस सम्बन्ध में आचार्य स्पष्ट करते हैं कि वह शिष्य के जाति, कुल व गुण आदि का परिचय कर लेवें एवं अच्छी तरह उसकी परीक्षा कर लेवें। तदनंतर श्री भगवान् अर्हन्त के समक्ष उस शिष्य को अनेक व्रत देवें। तदनंतर उस शिष्य को अध्ययन प्रारम्भ करावें। इससे प्राचीनकाल में शिष्यों का विद्याध्ययन की परिपाटी कैसी थी? उस संस्कार के प्रभाव से वे किस श्रेणी के विद्वान् बनते थे ? इत्यादि प्रश्नों का उत्तर सहज मिल सकता है!

वैद्यक शास्त्र के उपदेश का प्रयोजन

लोकोपकारकरणार्थमिदं हि शास्त्रं। शास्त्रप्रयोजनमपि द्विविधं यथावत्।

स्वस्थस्य रक्षणमथामयमोक्षणं च। संक्षेपतस्सकल मेव निरूप्यतेऽत्र ॥ अ.1 श्लो. 24

वैद्यक शास्त्र की रचना लोक को उपकार करने के लिए होती है। इस शास्त्र का प्रयोजन भी दो प्रकार का है। स्वस्थ पुरुषों का स्वास्थ्यरक्षण व रोगियों का रोग मोक्षण करना ही इसका उद्देश्य है। उन सब बातों को यहाँ इस ग्रंथ में संक्षेप से वर्णन किया गया है।

स्वास्थ्य के भेद

आचार्य ने स्वास्थ्य के भेद दो प्रकार से बतलाये हैं–एक पारमार्थिक स्वास्थ्य और दूसरा व्यावहारिक स्वास्थ्य। ज्ञानावरणादि अष्टकर्मों के नाश से उत्पन्न अविनश्वर अतीन्द्रिय व अद्वितीय आत्मीय सुख को पारमार्थिक स्वास्थ्य कहते हैं। देह स्थित सप्तधातु, अग्नि व वातपित्तादिक दोषों में समता रहना, इंद्रियों में

प्रसन्नता व मन में आनंद रहना एवं शरीर निरोग रहना, इसे व्यावहारिक-स्वास्थ्य कहते हैं।

स्वास्थ्य बिगड़ने के लिए आचार्य ने असातावेदनीय कर्म को मुख्य बतलाया है और वात, पित्त व कफ में विषमता आदि को बाह्य कारण में ग्रहण किया है। इसी प्रकार रोग के शांत होने में भी मुख्य कारण असाता वेदनीय कर्म की उदीरणा व साता का उदय एवं धर्म सेवन आदि हैं। बाह्यकारण तद्रोगयोग्य चिकित्सा व द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाग्य की अनुकूलता आदि है।

चिकित्सा का हेतु

वैद्य को उचित है कि वह निस्पृह होकर चिकित्सा करे। इस विषय में आचार्य ने बहुत अच्छी तरह खुलासा किया है।

सातवें अध्याय में इस विषय को स्पष्ट करते हुए आचार्य ने लिखा है कि चिकित्सा पापों को नाश करने वाली है। चिकित्सा से धर्म की वृद्धि होती है। चिकित्सा से इहलोक व परलोक में सुख मिलता है। चिकित्सा से कोई अधिक तप नहीं है। इसलिए चिकित्सा को कोई काम, मोह व लोभ वश होकर न करें और न चिकित्सा में कोई प्रकार से मित्रता का अनुराग होना चाहिए और न शत्रुता का रोष रखकर ही चिकित्सा करनी चाहिए। बंधु बुद्धि से, सत्कार के निमित्त से भी चिकित्सा नहीं होनी चाहिए। अर्थात् चिकित्सक को अपने मन में किसी भी प्रकार का विकार नहीं रखना चाहिए। किन्तु वह रोगियों के प्रति करुणा बुद्धि से व अपने कर्मों के क्षय के लिए चिकित्सा करे। इस प्रकार निस्पृह व समीचन विचारों से की गई चिकित्सा कभी व्यर्थ नहीं होती, उस वैद्य को अवश्य ही हर तरह से सफलता प्राप्त होती है। जैसे किसान यदि परिश्रम पूर्वक खेती करता है तो उसका फल व्यर्थ नहीं होता, उसी प्रकार परिश्रम पूर्वक किए हुए उद्योग में भी वैद्य को अवश्य अनेक फल मिलते हैं।

चिकित्सक

चिकित्सा करने वाला वैद्य कैसा होना चाहिए, इस विषय पर ग्रंथकार ने जो प्रतिपादन किया है, वह प्रत्येक वैद्यों को ध्यान में रखने लायक है। उनका कहना है की-

चिकित्सकः सत्यपरः सुधीरः क्षमन्वितः हस्तलघुत्वयुक्तः।

स्वयंकृती दृष्टमहाप्रयोगः समस्तशास्त्रार्थविदप्रमादी॥ अ.7 श्लो. 38

अर्थात् वैद्य सत्यनिष्ठ, धीर, क्षमा सम्पन्न, हस्तलाघवयुक्त, स्वयं औषधि तैयार करने में समर्थ बड़े बड़े रोगों पर किए गए प्रयोगें को देखा हुआ, सम्पूर्ण शास्त्रों को जानने वाला व आलस्य रहित होना चाहिए।

वैद्य को उचित है कि वह रोगियों को अपने पुत्रों के समान मानकर उनकी चिकित्सा करें। तभी वह सफल वैद्य हो सकता है। इस विषय को प्रथमाध्याय में आचार्य ने इस प्रकार विवेचन किया है कि ग्रंथ को जानने वाला, बुद्धिमान अन्य आयुर्वेदकारों के मत का भी अभ्यासी, अच्छी तरह बड़े बड़े प्रयोगों को करने में चतुर, बहुत से गुरुओं से अनुभव प्राप्त, ऐसा वैद्य विद्वानों के लिए भी आदरणीय होता है।

वैद्य दो प्रकार के होते हैं। एक शास्त्र वैद्य व दूसरे क्रियावैद्य। जिसने केवल वैद्यक शास्त्रों का अध्ययन किया हो, उसे क्रियावैद्य कहते हैं। जो केवल चिकित्सा विषय में ही प्रवीण हो, उसे क्रियावैद्य कहते हैं। परन्तु

दोनों बातों में प्रवीणता को पाना, यह विशिष्ट महत्त्वसूचक है। वही उत्तम वैद्य है। जिस प्रकार किसी मनुष्य का एक पैर बांध देने से वह नहीं चल सकता है, उसी प्रकार दोनों में से एक विषय में प्रवीण वैद्य रोगों की चिकित्सा ठीक तौर से नहीं कर सकता है। उसके लिए दोनों विषयों में निष्णात होने की जरुरत है।

लोक में कितने अज्ञानी वैद्य भी चिकित्सा करते हैं। कभी-कभी अंधे के हाथ में बटेर के समान उसमें उन्हें सफलता भी मिलती है। परन्तु वह प्रशंसनीय नहीं हैं। क्योंकि वे स्वयं यह नहीं समझते कि औषधि का उपयोग किस प्रकार करना चाहिए और किस रोग पर किस प्रयोग का उपयोग करना चाहिए। प्रकृत रोग का कारण क्या है। उनकी उपशांति किस प्रयोग से हुई यह जानने में भी वे असमर्थ रहते है। कभी ऐसे अज्ञानी वैद्यों की कृपा से रोगियों को अकाल में ही इहलोक से प्रस्थान करना पड़ता है। इसलिए शास्त्रकारों ने कहा कि अज्ञानी वैद्य यदि लोभ व स्वार्थवश किसी की चिकित्सा करता है तो वह रोगियों को मारता है। ऐसे मूर्ख वैद्यों पर राजाओं को नियंत्रण करना चाहिए। इस सम्बन्ध में ग्रंथकार का कहना है कि-

अज्ञानतो वाप्यातिलोभमोहदशास्त्रविद्यः कुरुते चिकित्सां।

सर्वांनसौ मारयतीह जन्तून् क्षितीश्वरैरत्र निवारणीयः॥ 7 श्लोक 49

अज्ञानी के द्वारा प्रयुक्त अमृत तुल्य-औषधि भी विष व शस्त्र के समान होते है। इस प्रकार आगे के श्लोकों से आचार्य ने प्रकट किया है। इसलिए वैद्य को उचित है कि वह गुरूपदेश से शास्त्र का अध्ययन करें, तदनंतर बड़े-बड़े वैद्यों के निकट रहकर प्रयोगों को देखकर अनुभव करें। तब ही कही जाकर वह स्वयं चिकित्सा करने को समर्थ हो सकता है।

रोगियों का कर्तव्य

रोगियों के कर्तव्य को बतलाते हुए आचार्य ने सातवे अध्याय में लिखा है कि रोगी जिस प्रकार अपने माता, पिता, पुत्र, मित्र, कलत्र पर विश्वास करता है, उसी प्रकार वैद्य के प्रति भी विश्वास करें। वैद्य से किसी विषय को छिपावे नहीं। मायाचार व वंचना नहीं करें। ऐसा होने पर ही उसका रोग मोक्षण हो सकता है।

इस प्रकार और भी बहुत से जानने लायक विषयों को आचार्य ने खूबी के साथ वर्णन किया है जिसका स्वाद समग्र ग्रंथ को प्रकरण बद्ध रूप से बांचने से ही आ सकता है।

एक प्रति में हमें औषधि लेते समय प्रयोग करने वाले मंत्र का भी उल्लेख मिला है। उसे पाठकों के उपयोग के लिए यहाँ उद्धृत कर देते हैं।

रोगोक्रांतेऽपि में देहे औषधं सारमामृतम्।

वैद्यस्सर्वोषधिप्राप्तो महर्षिरिव विश्रुतः॥

रोगान्विते भूरितरां शरीरे सिद्धौषधं में परमामृतं स्तात्।

आद्यैव वैद्यो ममरोगहारी सर्वौषधिप्राप्त इवर्षिरस्तु॥

रोगान्विते भूरितरां शरीरे दिव्यौषधं में परमामृतं स्तात्।

सर्वौषधर्धिमुनये च निरामयाय श्रीमज्जिनाय जितजन्मरुजे नमोस्तु॥

जैन वैद्यक ग्रंथकर्ता

प्रकृत ग्रंथ के देखने से मालूम होता है कि अन्य जैनाचार्यों ने वैद्यक ग्रंथ की जो रचना की है, वे उस विषय में उनका अपूर्व पाण्डित्य था। ग्रंथकार ने प्रकृत ग्रंथ में जगह-जगह पर अन्य आचार्यों के वैद्यक सम्बन्धी मत को उद्धृत कर अपना विचार प्रकट किया है। उन ग्रंथकारों में श्रुतकीर्ति, कुमारसेन, वीरसेन, पूज्यपाद पात्रस्वामी (पात्रकेसरी) सिद्धसेन, दशरथगुरु, मेघनाथ, सिंहनाद, समंतभद्र एवं जटाचार्य आदि आचार्यों के नाम विशेष उल्लेखनीय है। इसमें स्पष्ट है कि इन आचार्यों ने भी वैद्यक ग्रंथों की रचना की है। परन्तु खेद है कि वे ग्रंथ अभी उपलब्ध नहीं होते हैं। जिन ग्रंथों के आधार से उग्रादित्याचार्य ने प्रकृत सुंदर ग्रंथ का निर्माण किया है, उसके मूलाधार न मालूम कितने महत्त्वपूर्ण होंगे ? क्या उन महर्षियों की कृतियाँ सबकी सब नष्ट हो गई ? या उन्होंने ग्रंथ रूप में रचना ही नहीं की थी? उन महर्षियों ने वैद्यक ग्रंथों की रचना की है यह बात प्रकृत ग्रंथ के निम्नलिखित श्लोक से स्पष्ट होता है।

शालाक्यं पूज्यपादप्रकटितमधिकं शल्यतंत्र च पात्र-
स्वामिप्रोक्तं विषोग्रग्रहशमनविधिः सिद्धसेनैः प्रसिद्धेः।
काये या सा चिकित्सा दशरथगुरुभिर्मेघनादैः शिशूंना
वैद्य वृष्यं च दिव्यामृतमपि कथितं सिंहनांदैर्मुनींद्रैः॥ अ. 20, श्लोक 85

अर्थात् पूज्यपाद आचार्य ने शालाक्य-शिलाभेदन नामक ग्रंथ बनाया है। पात्रस्वामी ने शल्यतंत्र नामक ग्रंथ की रचना की है सिद्धसेन आचार्य ने विष व उग्रग्रहों का शमनविधि का निरूपण किया है। दशरथ गुरु व मेघनाद आचार्य ने बाल रोगों की चिकित्सा सम्बन्धी ग्रंथ का प्ररूपण किया है। सिंहनाद आचार्य ने शरीरबल वर्धक प्रयोगों का निरूपण किया है। और भी लीजिए -

अष्टांगमप्यखिलमत्र समंतभद्रैः प्रोक्तं सविस्तरवचो विभवैर्विशेषात्।
संक्षेपतो निगदितं तदिहात्मशक्त्या कल्याणकारकमशेषपदार्थयुक्तम्॥

अर्थात् श्रीसमंतभद्राचार्य ने अष्टांग नामक ग्रंथ में विस्तृत व गंभीर विवेचन किया है। उसके अनुकरण कर मैंने यहाँ पर संक्षेप से यथाशक्ति संपूर्ण विषयों से परिपूर्ण इस कल्याणकारक को लिखा है। अब पाठक विचार करें कि वे सब ग्रंथ कहाँ चले गये? नष्ट हो गये! इसके सिवाय हमारे पास और क्या उत्तर है? हाँ! जैनसमाज! सचमुच में तेरा दुर्भाग्य है! न मालूम उनमें कितने अमूल्य-रत्न भरे होंगे ?

श्री पूज्यपाद

महर्षि पूज्यपाद ने वैद्यक ग्रंथ का निर्माण किया है, यह विषय अब निर्विवाद हुआ है। प्रकृत ग्रंथ में भी आचार्य ने पूज्यपाद के ग्रंथ का उल्लेख किया है। इसके अलावा शिलालेखों में भी उल्लेख मिलता है।

न्यासं जैनेंद्रसंज्ञं सकलबुधनुतं पाणिनीयस्य च भूयो।
न्यासं शब्दावतारं मनुजाततिहितं वैद्यशास्त्रं च कृत्वा॥
यस्तत्वार्थस्य टीकां व्यस्चयदिह तां भात्यसौ पूज्यपादः।
स्वामी भूपालवंद्यः स्वपरहितक्वाः पूर्णदग्बोधवृत्तः॥

इसी प्रकार अन्य वैद्यक ग्रंथकारों ने भी स्थान-स्थान पर पूज्यपादीय वैद्यक प्रयोगों का उल्लेख किया है।

बसवराजीय में ''सिंदूरदर्पणं तद्वत्पूज्यपादीयमेव च'' इत्यादि रूप से उल्लेख किया है। इसी प्रकार बसवराज ने अपने वैद्यक ग्रंथ में पूज्यपाद के अनेक योगों का ग्रहण किया है।

अशीतिवातानां कालाग्निरुद्ररसोऽग्नितुण्डी वा ॥

शुद्धसूतं विषं गंधमजमोदं फलत्रयम्। सर्जक्षारं यवक्षारं वह्निसैन्धवजीरकम्॥

सौवर्चलं विडंगानि टङ्कणं च कटुत्रयम्। विषमुष्टिः सर्वसमो जंबीरैर्मर्दयेद्दिनम्॥

मरीचमात्रवटिका ह्यग्निमान्द्यं प्रणाशयेत्। अशीतिवातजान्रोगान्गुल्मं च ग्रहणीगदान्।

रसःकालाग्निरुद्रोऽय पूज्यपादविनिर्मितः ॥ (षष्ठ प्र. पृ 103 बसराजीये।)

भ्रमणादिवातानां (गन्धकरसायनम्) - बसवराजीये षष्ठे प्रकरणे पृ 110

षट्पलं गन्धचूर्णं च त्रिफला चित्रतण्डुलाः। शुण्ठीमरीचवैदेहीषण्णिष्कं च पृथक्पृथक्॥

चित्रकं च पलैक तु चूर्णितं वस्त्रगालितम्। एकनिष्कं द्विनिष्कं वा पयसाज्यसितैः पिबेत्॥

सर्वरोगविनिर्मुक्तो मृगराजपराक्रमः। दीर्घायुः कुञ्जरबलो दिवा पश्चति तारकाः ॥

दिव्यदेहो बली भूत्वा खेचरत्वं प्रपद्यते। तस्य मूत्रपुरीषाणि शुक्लं भवति काञ्चनम्॥

हन्त्यष्टादशकुष्ठानि ग्रहण्यश्च चतुर्विधाः। मन्दाग्निमतिसारं च गुल्ममष्टविधं तथा॥

अशीतिवातरोंगांश्च ह्यर्शास्यष्टविधानि च। मनुष्याणां हितार्थं हि पूज्यपादेन निर्मितः॥

वातादिरोगाणां त्रिकटुकादिनस्यम् (पूज्यपादीये)

त्र्युषणं चित्रकं चैव लांगली चेन्द्रवारूणी। वचामधुकबीजानि तत्र पाठानदीफलम्॥

तालकं वत्सनाभंच अङ्कोलक्षारयुग्मकम्। एवं पंचदशैतानि समभागानि कारयेत्॥

सूक्ष्मचूर्णीकृतं चैव निर्गुण्डीतिंतिणीरसैः। आर्द्रकस्य रसैर्मर्द्यं त्रिविधैश्च विचक्षणः॥

एवं नस्यं प्रदातव्यकर्ममूलरसेन च। अपस्मारं च हृद्रोग्रं वातसङ्कुलमेव च ॥

धनुर्वातं भ्रमं हन्ति ह्युन्मादं सन्निपातकम्। पूज्यपादकृतो योगो नराणां हितकाम्यया

ष.प्र.ब.रा., पृष्ठ 111

ज्वरगजांकुशः (माधवनिदाने)

रसाम्लसारगन्धं च जैपालबीजटंकणम्। दन्तीक्काथैर्विमुद्याथ मुदमात्रा वटी कृता।

चणमात्राथवा ज्ञेया नागवल्लीदलान्विता । देया सर्वज्वराम्हन्ति संततं तरुणज्वरम्॥

शर्कराक्षीरदधिभिः पथ्यं चैव प्रदापयेत् । पूज्यपादोपदिष्टोऽयं सर्वज्वरगजांकुशः। प्र.1 प.30

ज्वाराणा चण्डभानुरसः(नित्यनाथीये)

सूतात्त्रेगुण्यगन्धं परीमितममृतं तीक्ष्णकं भानुनेत्रं।

ता लं स्यात्तच्चतुष्कं गगनमथयुगं मारिचं सर्वतुल्यम्॥

एवं दद्यान्निहन्ति ज्वरवनदहनस्तामसाहेः खगेन्द्रः।

कासश्वासापहन्ता क्षयतरूदहनः पाण्डुरोगापहन्ता॥

वातव्याधीभसिंहो ह्युदरजलनिधेः शोषको वाडवाग्निः।

नष्टाग्नेर्दीपकः स्याज्जठरमलमहाक्लेशहद्रोगहारी।

मूलव्याध्यन्धकारप्रशमनतपनः कुष्ठरोगापहन्ता।

नाम्नायं चण्डभानुः सकलगदहरो भाषितः पूज्यपादैः॥

शोफमुद्ररसः

रसं गंधं भृमृतं ताम्रं पथ्यावालुकगुग्गुलुं। सममाज्येन संयुक्तं गुलिकाः कारयेत्ततः

एकैकां सेवयेद्वैद्यः शोफपाण्डूवापनुत्तये। शीतलं च जलं देयं तक्रं चाम्लं विवर्जयेत्

शोफमुद्रनाम्नायं पूज्यपादेन निर्मितः।

रसरत्नसमुच्चयकारने कणेरी पूज्यपादश्च इत्यादि रूप से पूज्यपाद का उल्लेख अपने ग्रंथ में किया है।

इससे भी स्पष्ट होता है कि पूज्यपादने वैद्यक ग्रंथ का निर्माण किया था। महर्षि चामुंडरायने पूज्यपाद स्वामी की निम्नलिखित शब्दों से प्रशंसा की है।

सुकविप्रणुतर्व्याकरणकर्तृगळ् गगनमनसामर्थ्यर्ता –

किंक तिळिकरेंदु पोगळ्वुदु सकलजनं पूज्यपादभट्टारकरम्॥

प्राचीन ऋषि श्री शुभचंद्र ने अपने ज्ञानार्णव में पूज्यपाद की प्रशंसा करते हुए लिखा है कि –

अपाकुर्वंति यद्वाचः कायवाक्चित्तसंभवम्।

कलंकमंगिनां सोऽयं देवनंदी नमस्यते॥

इसी प्रकार पार्श्वपंडित ने पूज्यपाद स्वामी के सम्बन्ध में लिखते हुए उसी आशय को स्पष्ट किया है कि –

सकळोर्वीनुतपूज्यपादमुनिपं तां पेळ्दू कल्याणका –

रकदिं देहद दोषमं विततवाचादोषमं शब्दसाधक –

जैनेंद्रदिनी जगज्जनद मिथ्यादोषमं तत्त्वबोधक –

तत्वार्थद वृत्तियिंदे कळेदं कारुण्यदुग्धार्णवं॥

उपर्युक्त शुभचंद्राचार्य के वचनों का यह ठीक समर्थक है अर्थात् सर्वजन पूज्यश्री पूज्यपाद ने अपने कल्याणकारक नामक वैद्यक ग्रंथ के द्वारा प्राणियों के देहज दोषों को शब्दसाधक जैनेन्द्र व्याकरण से वचन के

दोषों को और तत्त्वार्थवृत्ति की रचना से मानसिक दोष (मिथ्यात्व) को दूर किया है। इससे भी यह स्पष्ट होता कि पूज्यपाद ने कल्याणकारक नामक वैद्यक ग्रंथ की रचना की है। इसके अलावा कुछ विद्वानों का जो यह कहना है कि सर्वार्थसिद्धिकार पूज्यपाद व वैद्यक ग्रंथ के कर्ता पूज्यपाद अलग-अलग हैं, वह गलत मालूम होता है। कारण इससे स्पष्ट होता कि पूज्यपाद ने ही भिन्न-भिन्न विषयों के ग्रंथों का निर्माण किया था। कुछ विद्वान् वैद्यक-ग्रंथकर्ता पूज्यपाद को 13 वें शतमान में डालकर उनमें भिन्नता सिद्ध करना चाहते हैं। परन्तु उपर्युक्त प्रमाणों से वे दोनों बातें सिद्ध नहीं होती। प्रत्युत् यह स्पष्ट होता है कि पूज्यपाद ने ही व्याकरण सिद्धान्त व वैद्यक-ग्रंथ का उल्लेख किया है और जबकि उग्रदित्याचार्य जिनसेन के समकालीन थे। (जो आगे सिद्ध किया जायेगा) तो फिर यह बहुत अधिक स्पष्ट हो चुका कि पूज्यपाद का वैद्यक ग्रंथ बहुत पहले से होना चाहिए। वे और कोई नहीं है। अपितु सर्वार्थसिद्धि के कर्ता पूज्यपाद ही हैं। उग्रादित्याचार्य के कल्याणकारक से तो यह भी ज्ञात होता है कि पूज्यपाद ने कल्याणकारक के अलावा शालाक्य तंत्र (शल्यतंत्र) नामक ग्रंथ का भी निर्माण किया था, जिसमें आपरेशन आदि का विधान बतलाया गया है। पूज्यपाद स्वामी का समग्र वैद्यक ग्रंथ तो उपलब्ध नहीं होता। तथापि यह निस्संदेह कह संकते हैं कि उनकी वैद्यकीय रचना भी सिद्धान्त व व्याकरण के समान बहुत ही महत्त्वपूर्ण होगी। उन्होंने अपने ग्रंथ में जैनमत प्रकिया के शब्दों का ही प्रयोग किया है। इसी से उनके ग्रंथ की महत्ता मालूम हो सकती है कि उन्होंने अपने ग्रंथ में कुमारी भृंगामलक तैल के क्रम को अनुष्टप् श्लोक के 46 चरणों से प्रतिपादन किया है। गंधक, रसायन क्रम को 37 चरणों में, महाविष मुष्टि तैल कि विधि को 48 चरणों में और भुवनेश्वरी चूर्ण के विधान को 30 चरणों में प्रतिपादन किया है। मरिजकादि प्रकिया जो उनके कही गयी है वह निम्नलिखित प्रकार है।

मरिचमरिचमरिचं तिक्ततिक्तं च तिक्तम्।
कणकणकणमूलं कृष्णकृष्णं् च कृष्णम्।
मेघं मेघं चं मेघोरजरजरजनी सष्टियष्ट्याह्वयष्टी॥
वज्रं वज्रं च वज्रं जलजलजलजं भृंगिभृंगी च भृगम्।
श्रृंगं श्रृंगं चं श्रृंगं हरहरहरही वालुकं वालुकं वा॥
कंटत्कंटत्ककंटं शिवशिवशिवनीं नंदिनंदी च नंदी।
हेमं हेमं च हेमं वृषवृषवृषभा अग्निअग्नी च अग्ने ॥
वांतिर्वातं च पैत्यं विषहरनिमिषं पूजितं पूज्यपादैः ॥

इससे स्पष्ट है कि पूज्यपाद का वैद्यक ग्रंथ महत्त्वपूर्ण व अनेक सिद्धौषध प्रयोगों से युक्त है। परन्तु खेद है कि आज हम उसका दर्शन भी नहीं कर सकते उपर्युक्त कल्याणकारक व शालाक्यतंत्र के अलावा पूज्यपाद ने वैद्यामृत नामक वैद्यक ग्रंथ की रचना भी की है। यह ग्रंथ कानड़ी में होगा ऐसा अनुमान है। गोम्मटदेव मुनि ने पूज्यपाद के द्वारा निर्मित वैद्यामृत नामक ग्रंथ का निम्नलिखित प्रकार उल्लेख किया है।

सिद्धांतस्य च वेदिनो जिनमते जैनेन्द्रपाणिन्य च।
कल्पव्याकरणाय ते भगवते देव्यालियाराधिपा (1)॥

श्रीजैनेंद्रवचस्सुधारसवरैः वैद्यामृतो धार्यते।
श्रीपादास्य सदा नमोस्तु गुरवे श्रीपूज्यपादौ मुनेः॥

समंतभद्र

पूज्यपाद के पहले महर्षि समंतभद्र हर एक विषय में अद्वितीय विद्वत्ता को धारण करने वाले हुए। आपने न्याय, सिद्धान्त के विषय में जिस प्रकार प्रौढ़ प्रभुत्व को प्राप्त किया था। आपके द्वारा सिद्धान्त रसायन कल्प नामक ग्रंथ की रचना अठारह हजार श्लोक परिमित हुई थी। परन्तु आज वह कीटों का भक्ष्य बन गया है। कहीं-कहीं उसके कुछ श्लोक मिलते हैं, जिनको संग्रह करने पर 2-3 हजार श्लोक सहज हो सकते हैं। अहिंसाधर्म-प्रेमी आचार्य ने अपने ग्रंथ में जैन पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग एवं संकेत भी तदनुकूल दिये हैं। इसलिए अर्थ करते समय जैनमत की प्रक्रियाओं को ध्यान में रखकर अर्थ करना पड़ता है। उदाहरणार्थ 'रत्नत्रयौषध' का अर्थ ग्रंथ में आया है। इसका अर्थ वज्रादि रत्नत्रयों के द्वारा निर्मित औषधि ऐसा सर्व-सामान्य दृष्टि से हो सकेगा। परन्तु वैसा नहीं है। जैन-सिद्धांत में सम्यग्दर्शन, ज्ञान व चारित्र को रत्नत्रय के नाम से कहा है। वे जिस प्रकार मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्र रूपी त्रिदोषों को नाश करते हैं, इसी प्रकार रस, गंधक व पाषाण इन त्रिधातुओं का अमृतीकरण कर तैयार होने वाला रसायन वात, पित्त व कफ रूपी त्रिदोषों को दूर करता है। अतएव इस रसायन का नाम रत्नत्रयौषध रखा गया है।

इसी प्रकार औषध निर्माण के प्रमाण में भी जैनमत प्रक्रिया के अनुसार ही संकेत संख्यायों का विधान किया है। जैसे रससिंदूर को तैयार करने के लिए कहा है कि ''सूतंकेसरिगंधकं मृगनवासारंद्रुमं''। यहाँ विचारणीय विषय यह है कि यह प्रमाण किस प्रकार लिया हुआ है। जैन तीर्थंकरों के भिन्न-भिन्न चिह्न या लांछन हुआ करते हैं। उसके अनुसार जिन तीर्थंकरों के चिह्न से प्रमाण का उल्लेख किया जाय उतनी ही संख्या में प्रमाण का ग्रहण करना चाहिए। उदाहरणार्थ ऊपर के वाक्य में सूतं केसरी पद आया है। केसरी महावीर का चिह्न है, केसरि शब्द से 24 संख्या का ग्रहण होना चाहिए। अर्थात् रस 24 गंधक मृग अर्थात् मृग सोलहवें तीर्थंकर का चिह्न होने से गंधक 16, इत्यादि प्रकार से अर्थ ग्रहण करना चाहिए। समंतभद्र के ग्रंथ में सर्वत्र इसी प्रकार के सांकेतिक व पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग हुआ है।

रस सिंदूर के गुण को उन्होंने सिद्धांत रसायनकल्प में निम्न प्रकार कहा है।

सिंदूर शुद्ध सूतो विषधरशमनं रक्तरेणुश्च वर्ण।
वातं पित्तेन शीतं तपनिलसहितं विशतिर्मेंहहंत्रि।
तृष्णादावावार्तगुल्मं पिशगुदररजो पांडुशोफोदराणां।
कुष्ठं चाष्टादशघ्नं सकलव्रणहरं सन्निशूलाग्रगंधि।
दीपाग्नीं धातुपुष्टि वडबशिखिकरं दीपनं पुष्टितेजं।
बालस्त्रीसौख्यसंगं जरमरणरुजाकांतिमायुःप्रवृद्धि।
वाचाशुद्धिं सुगानां (?) सकलरुजहरं देहशुद्धि रसेन्द्रैः।

इन ग्रंथों के पारिभाषिक शब्दों को स्पष्ट करने के लिए उसी प्रकार से कोषों का भी जैनाचार्यों ने

निर्माण किया है। उसमें इन पारिभाषिक शब्दों का अर्थ लिखा गया है। उपलब्ध कोषों में भी आचार्य अमृतानंदि का कोष महत्त्वपूर्ण होने पर भी अपूर्ण है। इस कोष में बाईस हजार शब्द हैं, फिर भी सकार में जकार अपूर्ण हो गया है। सकार के शब्दों को लिखते-लिखते सप्त-सप्ति पर्यंत आचार्य लिख सके। बाद में ग्रंथपात हो गया है। स, सा से लेकर ह, ळ, क्ष पर्यंत के शब्दों को वे क्यों नहीं लिख सके ? आयु का अवसान हुआ होगा, इसके सिवाय और क्या कहा जा सकता है। प्रारम्भ से जिन विस्तृति के साथ कोष का निर्माण हुआ है, उससे अवशेष शब्दों का पात करीब 3000 की संख्या में ले सकते हैं, यह हमारे दुर्भाग्य का विषय है। ग्रंथ में वनस्पतियों का नाम जैन पारिभाषिक के रूप में आये हैं। जैसे अभव्यः=हंसपादि, अहिंस्र=वृश्चिकालि, अनंत=सुवर्ण, ऋषभ=पावठे की लता, ऋषभा=आमलक, मुनिखर्जूरिका=राजखर्जूर, वर्धमानः= मधुर मातुलुंगः= वर्धमान=श्वेतैरंड, वीतरागः= आम्र इत्यादि। ऐसे कोषों का भी उद्धार होने की परम आवश्यकता है[1]।

समंतभद्र के पूर्व के वैद्य ग्रंथकार

जैन वैद्यक विषय श्रीभगवान् की दिव्यध्वनि से निकला हुआ होने से इसकी परम्परा गणधर, तच्छिष्य परम्परा ये बराबर चला आ रहा है, यह हम पहले लिख चुके हैं। समंतभद्र के पहले भी कुछ वैद्यक ग्रंथकर्ता उपलब्ध होते हैं। वे क्रि. पू. दूसरे-तीसरे शतमान में हुए हैं और वे कारवार जिल्ला, होन्नावर तालुका के गेरसप्पा के पास हाडळ्ळ[2] में रहते थे। हाडळ्ळ में इंद्रगिरि, चंद्रगिरि नामक दो पर्वत हैं। वहाँ पर वे तपश्चर्या करते थे। अभी इन दोनों पर्वतों पर पुरातत्त्व अवशेष हैं। हमने इस स्थान का निरीक्षण किया है।

इन मुनियों ने वैद्यक ग्रंथों का निर्माण किया है। महर्षि समंतभद्र ने अपने सिद्धान्त रसायन कल्प ग्रंथ में स्वयं उल्लेख किया है कि' श्रीमद्धल्लातकाद्रौ वसति जिनमुनिः सूतवादे रसाब्जं'' इ. साथ में जब समंतभद्राचार्य ने अपने वैद्यक ग्रंथ की रचना परिपक्वशैली में की एवं अपने ग्रंथ पूर्वाचार्यों की परम्परागतता को भी '' रसेन्द्र जैनागम सूत्रबद्धं'' इत्यादि शब्दों से उल्लेख किया तो अनुमान किया जा सकता है कि समंतभद्र के पहले भी इस विषय के ग्रंथ होंगे। उन पूर्व मुनियों ने इस आयुर्वेद में एक विशिष्ट कार्य किया है। जो कि अन्य दुर्लभ है।

पुष्पायुर्वेद

जैनधर्म अहिंसा प्रधान होने से, उन महाव्रतधारी मुनियों ने इस बात का भी प्रयत्न किया कि औषध निर्माण के कार्य में किसी भी प्राणी को कष्ट नहीं होना चाहिए। इतना ही नहीं एकेन्द्रिय प्राणियों का भी संहार नहीं होना चाहिए। अतएव उन्होंने पुष्पायुर्वेद का भी निर्माण किया।

आयुर्वेद ग्रंथकारों ने वनस्पतियों को औषध में प्रधान स्थान दिया। चरकादि ग्रंथकारों ने मांसादिक अभक्ष्य पदार्थों का प्रचार औषधि के नाम से किया। परन्तु जैनाचार्यों ने तो उस आदर्श मार्ग का प्रस्थापन किया जिससे किसी भी प्राणी को कष्ट नहीं हो सके। इसीलिए पुष्पायुर्वेद में ग्रंथकार ने अठारह हजार जाति के कुसुम

---

1. यह कोष बेंगलोर के वैद्यराज पं. यल्लप्पा की कृपा से हमें देखने को मिला व अनेक परामर्श भी मिले। इसके लिए हम उक्त वैद्यराज के आभारी हैं। सम्पादक
2. भट्टारकीय प्रशस्ति में इस हाडळ्ळ का उल्लेख संगीतपुर के नाम से मिलता है। क्योंकि कर्नाटक भाषा में हाडु शब्द का अर्थ संगीत है। हळ्ळ शब्द को अर्थ ग्राम है। इसलिए यह निश्चित है कि हाडळ्ळ का ही संस्कृत नाम संगीतपुर है। सम्पादक

(पराग) रहित पुष्पों से ही रसायनौषधियों के प्रयोग को लिखा है। इस पुष्पायुर्वेद ग्रंथ में क्रि.पू. 3 रे शतमान की कर्नाटक लिपि उपलब्ध होती है जो कि बहुत मुष्किल से पढ़ने में आती है। इतिहास संशोधकों के लिए यह एक अपूर्व व उपयोगी विषय है। अठारह हजार जाति के केवल पुष्पों के प्रयोगों का ही जिसमें कथन हो, उस ग्रंथ का महत्त्व कितना होगा, यह भी पाठक विचार करें। विशेष क्या ? हम बहुत अभिमान के साथ कह सकते हैं कि अभी तक पुष्पायुर्वेद का निर्माण जैनाचार्यों के सिवाय और किसी ने भी नहीं किया है आयुर्वेद संसार में यह एक अद्भुत चीज है। इसका श्रेय जैनाचार्य को ही मिल सकता है। महर्षि समंतभद्र का पीठ गेरसप्पा में था। उस जंगल में जहाँ समंतभद्र वास करते थे, अभी तक विशाल शिलामय चतुर्मुख मंदिर, ज्वालामालिनी मंदिर व पार्श्वनाथ जिनचैत्यालय दर्शनीय मौजूद हैं। जंगल में यत्र-तत्र मूर्तियाँ बिखरी पड़ी हैं। दंत कथा परम्परा से ज्ञात है कि इस जंगल में एक सिद्ध रस कूप है। कलियुग में जब धर्म संकट उपस्थित होगा, उस समय इस रसकूप का उपयोग करने के लिए आदेश दिया गया है। इस कूप को सर्वांजन नामक अंजन नेत्रों में लगाकर देख सकते हैं। सर्वांजन को तैयार करने का विधान पुष्पायुर्वेद में कहा गया है। साथ में उस अंजन के लिए उपयोगी पुष्प उसी प्रदेश में मिलते हैं, ऐसा भी कहा गया है। अतएव इस प्रदेश की भूमि का नाम ''रत्नगर्भा वसुंधरा'' के नाम से उल्लेख किया है। ऐसी महत्त्वपूर्ण-कृतियों का उद्धार होना आवश्यक है।

पूज्यपाद के बाद के जैन वैद्यक ग्रंथकार

पूज्यपाद के बाद भी वैद्यक ग्रंथकार हुए हैं। उन्होंने तद्विषयक पांडित्य से अनेक आयुर्वेद ग्रंथों का निर्माण किया है। इसका उल्लेख अनेक ग्रंथों में मिलता है।

गुम्मटदेव मुनि

इन्होंने मेरुतंत्र नामक वैद्यक ग्रंथ की रचना की है। प्रत्येक परिच्छेद के अंत में उन्होंने श्रीपूज्यपाद स्वामी का बहुत आदर पूर्वक स्मरण किया है।

सिद्धनागार्जुन

यह पूज्यपाद के भानजे थे। इन्होंने नागार्जुन कल्प, नागार्जुन कक्षपुट आदि ग्रंथों का निर्माण किया था। इसके अलावा मालूम होता है कि इन्होंने '' वज्रखेचरघुटिका'' नामक सुवर्ण बनाने की रत्नगुटिका तैयार की थी। जब ये इस औषध को तैयार करने के संकल्प से आर्थिक मदद मांगने के लिए किसी राजा के पास गये थे, तब राजा ने पूछा कि यदि आपके कहने के अनुसार गुण न आवे तो आपका प्रण क्या रहेगा? नागार्जुन ने उत्तर दिया कि मेरी दोनों आँखों को निकाल सकते हैं। राजा ने उनको सहायता दी, उन्होंने प्रयत्न कर एक वर्ष के अंदर इस औषध को तैयार करके एवं उसकी तीन मणियों को बनाकर उन पर अपने नाम को खोदा। बाद जब नदी में ले जाकर उन मणियों को वे धो रहे थे, तब हाथ से फिसलकर नदी में गिर पड़ी। राजा ने प्रतिज्ञा अनुसार दोनों आँखें निकलवाई। नागार्जुन दोनों आँखों से अंधे हुए व देशांतर चले गये। एक वेश्या-स्त्री को उन मणियों को निगली हुई मछली के मिलने पर चीरकर देखी तो तीन मणियाँ मिल गई। वेश्या ने उन्हें ले जाकर झूले पर रखी तो झूले पर लटके हुए लोहे की सांकल सोने की बन गई। तदनंतर वह वेश्या रोज लोहे को सोना बनाया करती थी। बड़े-बड़े पहाड़ के समान उसने सोना बनाया एवं विपुल धन व्यय कर एक अन्न सत्र का निर्माण कर उसका ''नागार्जुनसत्र'' ऐसा नाम दिया। नागार्जुन ने फिरते-फिरते आकर सत्र को अपने नाम

मिलने का कारण पूछा। मालूम होने पर उन्होंने उन रत्नों को पुनः पाकर उनके बल से गई हुई आँखों को पुनः पाया एवं राजसभा में जाकर उसके महत्त्व को प्रकट किया। आयुर्वेदीय औषध में कितना सामर्थ्य है, यह पाठक इससे जान सकते हैं।

कर्नाटक जैन वैद्यक ग्रंथकार

उपर्युक्त विद्वानों के अलावा कर्नाटक भाषा में अनेक विद्वानों ने वैद्यक ग्रंथ की रचना की है। उनमें कीर्तीवर्म का गोवैद्य, मंगराज का खगेन्द्रमणिदर्पण, अभिनवचंद्र हृदयशास्त्र, देवेन्द्र मुनि का बालग्रह चिकित्सा, अमृतनंदि का वैद्यक निघंटु, जगदेक महामंत्रवादि श्रीधरदेव का 24 अधिकारों से युक्त वैद्यामृत, साळ्व के द्वारा लिखित रस रत्नाकर व वैद्य सांगत्य आदि ग्रंथ विशेष उल्लेखनीय है। जगद्वळ सोमनाथ ने पूज्यपादाचार्य के द्वारा लिखित कल्याणकारक ग्रंथ का कर्नाटक भाषा में भाषांतर किया है। यह ग्रंथ भी बहुत महत्त्वपूर्ण हुआ है। ग्रंथ पीठिका प्रकरण, परिभाषा प्रकरण, षोडश ज्वर चिकित्सा निरूपण प्रकरण आदि अष्टांग से संयुक्त है। यह ग्रंथ कर्नाटक भाषा के वैद्यक ग्रंथों में सबसे प्राचीन है। एक जगह कर्नाटक कल्याणकारक में सोमनाथ कवि ने उल्लेख किया है।

सुकरं तानेने पूज्यपाद मुनिगळ् मुंपेळ्द कल्याणका-
रकमं वाहटसिद्धसारचरकाद्युम्कृष्टमं सद्गुणा-
धिकमं वर्जितमद्यमांसमधुवं कर्णाटदि लोकर-
क्षकमा चित्रमदागे चित्रकवि सोमं पेळ्दनि तळितयिं॥

इससे यह भी स्पष्ट है कि पूज्यपाद के ग्रंथ में भी मद्य, मांस व मधु का प्रयोग बिल्कुल नहीं किया गया है। चरकादियों के द्वारा रचित ग्रंथ से वह उत्कृष्ट है। अनेक गुणों से परिपूर्ण है।

इस प्रकार अनेक जैन वैद्यक ग्रंथकार हुए हैं। जिन्होंने लोक कल्याण के लिए अपने बहुमूल्य समय व श्रम को गंवाकर निस्पृहता से ग्रंथ निर्माण का कार्य किया। परंतु आज उन ग्रंथों का दर्शन भी हमें नहीं होता है। जो कुछ भी उपलब्ध है, उनके उद्धार की कोई चिंता हमारे उदार धनिकों में नहीं है। वे ग्रंथ धीरे धीरे कीटभक्ष्य बनते जा रहे हैं।

उग्रादित्याचार्य का समय

उग्रादित्याचार्य कृत प्रकृत ग्रंथ कितना सरस व महत्त्वपूर्ण है। इसे बतलाने की कोई आवश्यकता नहीं है। क्योंकि पाठक उसे अध्ययन कर स्वयं अनुभव करेंगे ही। परन्तु सहसा यह जानने की उत्कंठा होती है कि ये किस समय हुए ? इस कल्याणकारककर्ता लोककल्याणकारक महात्मा ने किस शतमान में इस धरातल को अलंकृत किया था ? हमें प्राप्त सामाग्रियों से हम उस विषय पर यहाँ पर ऊहापोह करते हैं।

उग्रादित्य ने प्रकृत ग्रंथ में पूज्यपाद, समंतभद्र, पात्रस्वामी, सिद्धसेन, दशरथगुरु, मेघनाथ, सिंहसेन, इन आचार्यों के वैद्यक ग्रंथों का उल्लेख किया है। इससे ये उग्रादित्याचार्य अर्वाचीन हैं यह स्पष्ट है। ये सब आचार्य छटवीं शताब्दी के पहले के होने चाहिए ऐसा अनुमान किया जाता है।

ग्रंथकार ने ग्रंथ के अंत में एक वाक्य लिखा है। जिससे उनके समय को निर्णय करने में बहुत

अनुकूलता हो गई है। वे लिखते हैं कि–**इत्यशेषविशेषविशिष्टदुष्टपिशिताशिवैद्यशास्त्रेषु मांसनिराकरणार्थ मुग्रादित्याचार्यैर्नृपतुंगवल्लभेन्द्र सभायामुद्घोषितं प्रकरणम्''** इससे स्पष्ट होता है कि औषध में मांस की निरुपयोगिता को सिद्ध करने के लिए स्वयं आचार्य ने श्रीनृपतुंगवल्लभेन्द्र की सभा में इस प्रकरण का प्रतिपादन किया। इसका समर्थन इसके ऊपर ही आये हुए इस श्लोक से होता है।

ख्यातश्रीनृपतुंगवल्लभमहाराजाधिराजस्थितः।
प्रोद्यद्भूरिसभांतरे बहुविधप्रख्यातविद्वज्जने॥
मांसाशिप्रकरेन्द्रताखिलभिषग्वद्याविदामग्रतो।
मांसे निष्फलतां निरूप्य नितरां जैनेन्द्रवैद्यस्थितम्॥

इससे विषय बिल्कुल स्पष्ट हो गया है कि नृपतुंग वल्लभ महाराजाधिराज के दरबार में जहाँ मांसाशन को समर्थन करने वाले अनेक विद्वान् थे, उनके सामने मांस की निष्फलता को सिद्ध कर दिया है। नृपतुंग अमोघवर्ष प्रथम का नाम है और अमोघवर्ष को ही वल्लभ और महाराजाधिराज की उपाधि थी। नृपतुंग भी उसकी उपाधि ही थी[1]।

इतिहासवेत्ताओं ने इस अमोघवर्ष के राज्यारोहण के समय को शक सं. 736 (वि.सं. 871– ई.स. 815) का लिखा है। गुणभद्रसूरिकृत उत्तरपुराण से ज्ञात होता है कि यह अमोघवर्ष (प्रथम) प्रसिद्ध जैनाचार्य जिनसेन का शिष्य था।

यस्य प्रांशुनखांशुजालविसरद्धारांतराविर्भव–
त्पादाम्भोजरजः पिशंगमुकुटप्रत्यग्ररत्नद्युतिः।
संस्मर्ता स्मममोघवर्षनृपतिः पूतोहमद्येत्यलम्।
स श्रीमाञ्जिनसेनपूज्यभगत्पादो जगन्मंगलम्॥

पार्श्वाभ्युदय काव्य की रचना श्री महर्षि जिनसेन ने की थी। उसमें अंत में निम्नलिखित प्रकार उल्लेख मिलता है। **इत्यमोघवर्षपरमेश्वरपरमगुरुश्रीजिनसेनाचार्य विरचिते मेघदूतवेष्टिते पार्श्वाभ्युदये भगवत्कैवल्यवर्णनं नामं चतुर्थः सर्गः** इत्यादि।

इससे स्पष्ट हुआ है कि अमोघवर्ष के गुरु जिनसेन थे। इसी बात का समर्थन Mediaeval Jainism नामक पुस्तक में प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता प्रोफेसर सालेतोर ने किया है।

The next prominent Rastrakuta ruler. who extended his patronage to Jainism was Amoghavarsa I. Nerpatiunga, atisbayadhawala (a.d.815-877). from gunabhadra's uttarpurana (a.d. 898), we know that king Amoghavarsa i, was the disciple of jinasena, the author of the sanskrit work adipurana (a.d.783) the

1. इसकी आगे लिखी उपाधियाँ मिलती हैं–नृपतुंग (महाराज शर्व) महाजशणु, अतिशयधवल, वीरनारायण, पृथिवी वल्लभ, श्री पृथिवी वल्लभ, महाराजाधिराज, भटार, परमभट्टारक।

भारत के प्राचीन राजवंश, भा. 3, पृ. 40

jaina leaning of king Amoghavarsa is further corroborated by mahaviracharya the author of jain mathematical work ganitasarasangraha, who relates that, that monarch was a follower of the syadwad doctrine.mediaeval jainism P.38

इससे यह स्पष्ट होता है कि अमोघवर्ष श्री भगवज्जिनसेनाचार्य के शिष्य थे। अमोघवर्ष के स्याद्वाद मत के अनुयायित्व को गणितसार संग्रह के कर्ता महावीराचार्य ने भी समर्थन किया है। इसी अमोघवर्ष के शासनकाल में ही प्रसिद्ध सिद्धान्त ग्रन्थ की टीका जयधवला को (श.सं. 759 वि.सं 894 ई.स. 837) रचना हुई थी। रत्नमालिका के निम्न श्लोक से यह भी स्पष्ट है कि अंतिम वय में अमोघवर्ष वैराग्य जागृति से राज्य भोग छोड़कर आत्मकल्याण में संलग्न हुआ था।

विवेकात्यक्तराज्येन राज्ञेयं रत्नमालिका।

रचितामोघवर्षेण्ण सुधियां सदलंकृतिः॥

अमोघवर्ष के सम्बन्ध में बहुत कुछ लिखा जा सकता है। क्योंकि वह एक ऐसा वीर राष्ट्रकूट नरेश हुआ है, जिसने जैनधर्म की महत्ता को समझकर उसकी धवल पताका को विश्व भर में फैलाई थी। परन्तु प्रकृत में हमें इतना ही सिद्ध करना था कि अमोघवर्ष की उपाधि नृपतुंग, वल्लभ, महाराजाधिराज आदि थे। हरिवंश पुराण के कर्ता जिनसेन ने भी ग्रंथ के अंत में ''श्रीवल्लभे दक्षिणां'' पद से दक्षिण दिशा के राजा उस समय श्रीवल्लभ का होना माना है। हमारे ख्याल से यह श्रीवल्लभ उग्रादित्याचार्य के द्वारा उल्लिखित श्रीवल्लभ-अमोघवर्ष ही होना चाहिए। इसलिए अब यह विषय बहुत स्पष्ट हो गया है कि उग्रादित्याचार्य नृपतुंग (अमोघवर्ष) के समकालीन थे। 25 वें परिच्छेद में उन्होंने जो अपना परिचय संक्षेप में दिया है, उससे यह ज्ञात होता है कि उनके गुरु श्रीनंदि आचार्य थे, जिनके चरणों को श्रीविष्णुराज परमेश्वर नामक राजा पूजता था। यह विष्णुराज परमेश्वर कौन है ? हमारा अनुमान है कि यह विष्णुराज अमोघवर्ष के पिता गोविन्दराज तृतीय का ही अपरनाम होना चाहिए। कारण महर्षि जिनसेन ने पार्श्वाभ्युदय में अमोघवर्ष को परमेश्वर की उपाधि से उल्लेख किया है। हो सकता है कि यह उपाधि राष्ट्रकूटों की पितृ परम्परागत हो। परन्तु ऐतिहासिक विद्वान् विष्णुराज को चालुक्य राजा विष्णुवर्धन मानते हैं। इससे उग्रादित्याचार्य के समय निर्णय करने में कोई बाधा नहीं आती है। क्योंकि उस समय इस नाम का कोई चालुक्य राजा भी हो सकता है। इसलिए यह निश्चित है कि श्रीउग्रादित्याचार्य महाराजाधिराज श्रीवल्लभ नृपतुंग अमोघवर्ष के समकालीन थे। इस विषय का समर्थन प्रसिद्ध पुरातत्त्ववेत्ता प्राक्तनविमर्शविचक्षण, महामहोपाध्याय, प्राच्यविद्यावैभव, रायबहादुर नरसिंहाचार्य M.A.M.R.A.S.के निम्नलिखित शब्दों से किया है। ''Another manuscript of some interest is the medical work Kalyankaraka of Ugraditya, a Jaina author, who was a contemporary of the Rashtrakuta king Amoghavarsha I and of the Eastern Chslukya king kali Vishnuvardhana V. The work opens with the statement that the science of medicine is divided into two parts, namely prevetion and cure, and gives at the end a long discourse in Sanskrit prose on the uselessness of a

flesh diet, said to have been delivered by the author at the court of Amoghavarsha where many learned men and doctors had assembled."

अर्थात् एक कई मनोरंजक विषयों से परिपूर्ण आयुर्वेद ग्रंथ कल्याणकारक श्री उग्रादित्य के द्वारा रचित मिला है, जो कि जैनाचार्य थे और राष्ट्रकूट राजा अमोघवर्ष प्रथम व चालुक्य राजा कलि विष्णुवर्धन पंचम के समकालीन थे। ग्रंथ का प्रारंभ आयुर्वेद तत्त्व के प्रतिपादन के साथ हुआ है, जिसके दो विभाग किया गए है। एक रोग रोधन व दूसरा चिकित्सा। अंतिम एक गद्यात्मक प्रकरण में उस विस्तृत भाषण को लिखा है, जिसमें मांस की निष्कलता को सिद्ध किया है, जिसे कि अनेक विद्वान् व वैद्यों की उपस्थिति में नृपतुंग की सभा में उग्रादित्याचार्य ने दिया था।

इतना लिखने के बाद पाठकों को यह समझने में कोई कठिनता ही नहीं होगी कि उग्रादित्याचार्य का समय कौन-सा है। सारांश यह है कि वे अमोघवर्ष प्रथम के समकालीन अर्थात् श. संवत् के 8 वीं शताब्दी में एवं विक्रम व क्रिस्त की 9 वीं शताब्दी में इस धरातल को अलंकृत कर रहे थे, यह निश्चित है।

विशेष परिचय

उग्रादित्य ने अपना विशेष परिचय कुछ भी नहीं लिखा है। उनकी विद्वत्ता, वस्तु विवेचन सामर्थ्य आदि बातों के लिए उन के द्वारा निर्मित ग्रंथ ही साक्षी है। उनके गुरु श्रीनंदि, ग्रंथ निर्माण स्थान रामगिरी नामक पर्वत था। रामगिरी पर्वत वेंगि में था। वेंगि त्रिकलिंग देश में प्रधान स्थान है। गंगा से कटक तक के स्थान को उत्कल देश कहते हैं। वहीं उत्तर कलिंग है। कटक से महेन्द्रगिरी तक के पहाड़ी स्थान का नाम मध्य कलिंग है। महेन्द्रगिरी से गोदावरी तक के स्थान को दक्षिण कलिंग कहते हैं। इन तीनों का ही नाम त्रिकलिंग है, ऐसे त्रिकलिंग के वंगी में सुंदर रामगिरी पर्वत के जिनालय में बैठकर उग्रादित्य ने इस ग्रंथ की रचना की है। यह रामगिरी शायद वही हो सकता है, जहाँ पद्मपुराण के अनुसार रामचंद्र ने मंदिर बनवाये हों। इससे अधिक महर्षि का परिचय भले ही नहीं मिलता हो तथापि यह निश्चित है कि उग्रादित्याचार्य 8 वीं शताब्दी के एक माने हुए प्रौढ़ आयुर्वेदीय विद्वान् थे। इसमें किसी को भी विवाद नहीं हो सकता ।

अंतिम प्रकरण में आचार्यश्री ने मद्य, मांसादिक गर्ह्य पदार्थों का सेवन औषधि के नाम से या आहार के नाम से उचित नहीं है, इसे युक्ति व प्रमाण से सिद्ध किया है। एक अहिंसा धर्म प्रेमी इस बात को कभी स्वीकार नहीं कर सकता कि एक व्यक्ति को सुख पहुँचाने के लिए अनेक जीवों का संहार किया जाये। अनेक पाश्चात्य वैज्ञानिक वैद्यक विद्वान् भी आज मांस निरुपयोगिता को सिद्ध कर रहे हैं। अखिल कर्नाटक आयुर्वेदीय महासम्मेलन में आयुर्विज्ञानमहार्णव आयुर्वेदकलाभूषण विद्वान् के शेषशास्त्री ने सिद्ध किया था कि मद्य मांसादिक का उपयोग औषध में करना उचित नहीं है और ये पदार्थ भारतियों के शरीर लिए हितावह नहीं है। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के आयुर्वेद समारंभोत्सव में श्री कविराज गणनाथ सेन महामहोपाध्याय एम.ए. विद्यानिधि ने इन मद्य-मांसादिक का तीव्र निषेध किया था। ऑल इंडिया आयुर्वेद महासम्मेलन के कानपुर अधिवेशन में श्री कविराज योगीन्द्रनाथ सेन एम.ए. ने अपने अध्यक्षीय भाषण में कहा था कि अंग्रेजी औषध

प्रायः मद्यादिक मिश्रित रहते हैं। अतः वह भारतियों के प्रकृति के लिए कभी अनुकूल नहीं हो सकते। इत्यादि अनेक भारतीय व विदेश के विद्वान् इन पदार्थों को त्याज्य मानते हैं। वनस्पतियों में वह सामार्थ्य है, जिससे भयंकर से भयंकर रोग दूर हो सकते हैं। क्या समंतभद्राचार्य का भस्मक रोग आयुर्वेदीय औषधि दूर नहीं हुआ? महर्षि पूज्यपाद और नागार्जुन को गगन-गमन-सामर्थ्य व गतनेत्रों की प्राप्ति वनस्पति औषधों से नहीं हुई? फिर क्यों औषधि के नाम से अहिंसाधर्म का गला घोटा जाय ? आशा है कि हमारे वैद्यबंधु इस विषय पर ध्यान देंगे। उनको औषधि के बहाने से यमलोक में पहुँचने वाले असंख्यात प्राणियों को प्राण दान देने का पुण्य मिलेगा। ग्रंथकार ने कई स्थलों पर सुश्रुताचार्य को स्याद्वादवादी लिखा है। सुश्रुताचार्य की द्रव्य गुण व्यवस्था जैन सिद्धान्त से बिल्कुल मिलती जुलती है। इस विषय पर ऐतिहासिक विद्वानों को गंभीर-नजर डालनी चाहिए।

कृतज्ञता

इस ग्रंथ का संशोधन हमारे दो विद्वान् वैद्य मित्रों ने किया है। ग्रंथ में संशोधन मुंबई के प्रसिद्ध वैद्य, दि. जैन औषधालय भूलेश्वर के प्रधान-चिकित्सक, आयुर्वेदाचार्य पं.अनंतराजेन्द्र शास्त्री के द्वारा हुआ है। आप हमारे परम स्नेही होने के कारण आपने इस कार्य में अथक श्रम किया है। द्वितीय संशोधन अहमदनगर आयुर्वेद महाविद्यालय के प्राध्यापक व ला. मेंबर आयुर्वेद तीर्थ पं. बिंदूमाधव शास्त्री ने किया है। श्री वैद्य पंचानन पं. गंगाधर गोपाल गुणे शास्त्री ने प्रस्तावना लिखने की कृपा की है। धर्मवीरजी के स्वर्गवास होने पर भी अपने पिता के इस कार्य की पूर्ति उनके सुपुत्र सेठ गोविन्दजी रावजी ने करने की उदार-कृपा की है। इन सब सज्जनों के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करने के लिए मेरे पास कोई शब्द नहीं है। आशा है कि उनका मेरे साथ इसी प्रकार सतत सहयोग रहेगा। इसके अलावा जिन-जिन विद्वान् मित्रों ने मुझे इस ग्रंथ के सम्पादन, अनुवादन आदि में परामर्शादि से सहायता दी है उनका भी मैं हृदय से आभारी हूँ।

श्री मंगलमय दयानिधि परमात्मा से प्रार्थना है कि प्रकृत ग्रंथ के द्वारा विश्व के समस्त जीवों को आयुरारोग्यैश्वर्यादि का लाभ हो, जिससे कि वे देश, धर्म व समाज के उत्थान के कार्य में हर समय सहयोग दे सकें। इति.

विनीत

सोलापुर — **वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री**

ता. 1-2-1940 — संपादक

विषयानुक्रमणिका

प्रथम परिच्छेदः	पृष्ठ सं.
मंगलाचरण व आयुर्वेदोत्पत्ति	1
भगवान् आदिनाथ से प्रार्थना	1
भगवान् की दिव्यध्वनि	2
वस्तु चतुष्टय निरूपण	2
आयुर्वेद शास्त्र का परम्परागमन क्रम	3
ग्रंथकार की प्रतिज्ञा	3
ग्रंथ रचना का उद्देश्य	4
दुर्जन निंदा	4
आचार्य का अंतरंग	5
वैद्य शब्द की व्युत्पत्ति	5
आयुर्वेद शब्द का अर्थ	5
शिष्य गुण लक्षण कथन प्रतिज्ञा	6
आयुर्वेदाध्ययन योग्य शिष्य	6
वैद्य विद्यादान क्रम	6
विद्या प्राप्ति के साधन	6
वैद्य शास्त्र का प्रधान ध्येय	7
लोक शब्द का अर्थ	7
चिकित्सा के आधार	7
चिकित्सा के चार पाद	8
वैद्यलक्षण	8
चिकित्सा पद्धति	8
अरिष्ट लक्षण	9
रिष्टसूचक दूत लक्षण	9
अशुभ शकुन	9
शुभ शकुन	10
सामुद्रिक शास्त्रानुसार अल्पायु महायु परीक्षा	10
उपसंहार	11

द्वितीय परिच्छेदः	पृष्ठ सं.
मंगलाचरण और प्रतिज्ञा	13
स्वास्थ्य का भेद	13
परमार्थ स्वास्थ्य लक्षण	13
व्यवहार स्वास्थ्य लक्षण	13
साम्य विचार	14
प्रकारांतर से स्वास्थ्य लक्षण	14
अवस्था विचार	14
अवस्थाओं के कार्य	14
अवस्थांतर में भोजन विचार	15
जठराग्नि का विचार	15
विकृत जठराग्नि के भेद	15
विषमाग्नि आदि की चिकित्सा	15
समाग्नि के रक्षणोपाय	16
बल परीक्षा	16
बल की प्रधानता	16
बलोत्पत्ति के अंतरंग कारण	16
बलवान् मनुष्य के लक्षण	16
जांगलादि त्रिविध देश	17
जांगल देश लक्षण	17
अनूपदेश लक्षण	18
साधारण देश लक्षण	19
सात्म्य विचार	20
प्रत्येक पदार्थ सात्म्य हो सकता है	20
प्रकृति कथन प्रतिज्ञा	20
ऋतुमती स्त्री के नियम	20
गर्भाधान क्रम	21
ऋतुकाल में गृहित गर्भ का दोष	21
गर्भोत्पत्ति क्रम	21

जीव शब्द की व्युत्पत्ति	22
मरण स्वरूप	22
शरीर वृद्धि के लिए षट् पर्याप्ति	22
शरीरोत्पत्ति में पर्याप्ति की आवश्यकता	22
गर्भ में शरीराविर्भाव क्रम	22
गर्भस्थ बालक की पोषण विधि	23
कर्म की महिमा	24
शरीर लक्षण कथन प्रतिज्ञा	24
अन्तिम कथन	25
तृतीय परिच्छेद:	
मंगलाचरण व प्रतिज्ञा	26
अस्थि, सन्धि आदि की गणना	26
धमनी आदि की गणना	26
मांस रज्जु आदि की गणना	27
मर्मादिक की गणना	27
दंत आदिक की गणना	27
वसा आदिक का प्रमाण	27
मूत्रादिक के प्रमाण	28
पाँच प्रकार के वात	28
मलनिर्गमन द्वार	28
शरीर का अशुचित्व प्रदर्शन	28
धर्म प्रेम की प्रेरणा	29
जाति स्मरण विचार	29
जाति स्मरण के कारण	29
जाति स्मरण लक्षण	29
प्रकृति की उत्पत्ति	29
वात प्रकृति के मनुष्य का लक्षण	30
पित्त प्रकृति के मनुष्य का लक्षण	30
कफ प्रकृति के मनुष्य का लक्षण	31
क्षेत्र लक्षण कथन प्रतिज्ञा	31
औषधि ग्रहणार्थ अयोग्य क्षेत्र	32
औषधि ग्रहणार्थ प्रशस्त क्षेत्र	32
सुक्षेत्रोत्पन्न अप्रशस्त औषधि	32
प्रशस्त औषधि का लक्षण	32
परीक्षा पूर्वक ही औषध प्रयोग करना चाहिए	33
अधिक मात्रा से औषधि प्रयोग करने का फल	33
औषधि प्रयोग विधान	33
जीर्णाजीर्ण औषध विचार	33
स्थूल आदि शरीर भेद कथन	33
प्रशस्ताप्रशस्त शरीरविचार	34
स्थूलादि शरीर की चिकित्सा	34
साध्यासाध्य विचार	34
स्थूल शरीर का क्षीणकरणोपाय	34
क्षीणशरीर को समकरणोपाय	34
मध्यम शरीर रक्षणोपाय	35
स्वास्थ्य बाधक कारणों का परिहार	35
वातादि दोषों के कथन	35
वातादि दोषों के लक्षण	35
कफ का स्थान	36
पित्त का स्थान	36
वात का स्थान	37
प्रकुपित दोष सबको कोपन करता है	38
दोष प्रकोपोपशम के प्रधान कारण	38
वात प्रकोप का कारण	38
पित्त प्रकोप के कारण	39
कफ प्रकोप के कारण	39
दोषों के भेद	40
प्रकुपित दोषों का लक्षण	40
वात प्रकोप के लक्षण	40
पित्त प्रकोप के लक्षण	41
कफ प्रकोप के लक्षण	41
प्रकुपित दोषों के वर्णन	41
अन्तिम कथन	42
चतुर्थ परिच्छेद:	
कालस्यक्रमबन्धनानुपर्यंतम्	43
मंगलाचरण और प्रतिज्ञा	43
कालवर्णन	43
व्यवहारकाल के अवान्तर भेद	44

मुहूर्त आदि के परिमाण	44
ऋतु विभाग	45
प्रतिदिन में ऋतु विभाग	45
दोषों का संचय प्रकोप	46
प्रकुपित दोषों से व्याधिजनन क्रम	47
बसंत ऋतु में हित	48
ग्रीष्मर्तु वा वर्षर्तु में हित	49
शिशिर ऋतु में हित	49
आहार काल	50
भोजन क्रम	50
भोजन समय में अनुपान	51
अनुपान काल व उसका फल	51
शालि आदि के गुण कथन	51
कुधान्यों के गुण कथन	52
द्विदल धान्य गुण	52
माष आदि के गुण	52
अरहर आदि के गुण	53
तिल आदि के गुण	53
वर्जनीय धान्य	53
शाक वर्णन प्रतिज्ञा	54
मूल शाक गुण	54
शालूक आदि कंद शाक गुण	54
अरण्यालु आदि कंद शाक गुण	55
वंशाग्र आदि अंकुर शाक गुण	55
जीवंती आदि शाक गुण	55
शार्डेष्टादि शाक गुण	56
गुह्याक्षी आदि पत्र शाक गुण	56
बन्धूक आदि पत्र शाकों के गुण	56
शिग्रु आदि पुष्प शाकों के गुण	57
पंच लवण गण का गुण	57
पंच बृहती गण का गुण	57
पंच वल्ली गुण	58
गृध्रादि वृक्षज फल शाक गुण	58
पीलु आदि मूल शाक गुण	58
आम्र आदि अम्लफल शाक गुण	59
आम्र आदि अम्लफल शाक गुण	59
बिल्वादि फल शाक गुण	60
द्राक्षादि वृक्ष फल शाक गुण	60
तालादि शाक गुण	60
उपसंहार	61
अंतिम मंगल	61
पंचम परिच्छेद:	
द्रवद्रव्याधिकार	62
मंगलाचरण	62
रसों की व्यक्तता कैसे हो ?	62
अथ जलवर्ग:	62
पृथ्वी गुण बाहुल्य भूमिका	
लक्षण व वहाँ का जल स्वरूप	62
जल गुणाधिक्य भूमि एवं वहाँ का जल स्वरूप	63
वाताधिक्य भूमि एवं वहाँ का जल स्वरूप	63
अग्नि गुणाधिक्य भूमि एवं वहाँ का जल स्वरूप	63
आकाश गुण युक्त भूमि एवं वहाँ का जल स्वरूप	63
पेयापेय पानी के लक्षण	64
जल का स्पर्श व रूप दोष	64
जल का गंध रस व वीर्य दोष	64
जल का पाक दोष	64
जल शुद्धि विधान	64
वर्षा काल में भूमि रथ व आकाश जल के गुण	65
क्वथित जल गुण	65
सिद्धान्न पान वर्ग:	65
यवागू के गुण	65
मंडगुण	66
मुग्दयूष गुण	66
मुग्दयूष सेवन करने योग्य मनुष्य	66
दुग्धवर्ग:	67
अष्टविध दुग्ध	67
दुग्ध गुण	67
धारोष्ण दुग्ध गुण, श्रृतोष्ण दुग्धगुण	67

श्रृतशीत दुग्ध गुण	67
दही के गुण	68
तक्र गुण	68
उदश्चित् के गुण	68
खल गुण	68
नवनीत गुण	69
घृत गुण	69
तैल गुण	69
कांजी के गुण	69
मूत्रवर्गः	70
अष्ट मूत्र गुण	70
क्षार गुण	70
द्रव द्रव्यों के उपसंहार	70
अनुपानाधिकारः	70
अनुपान विचार	70
सर्व भोज्य पदार्थों के अनुमान	70
कषायादि रसों के अनुमान	71
आम्ल आदि रसों के अनुपान	71
अनुपान विधान का उपसंहार	71
भोजन के पश्चात् विधेय विधि	71
तत्पश्चात् विधेय विधि	72
अंतिम मंगल	72
षष्ठ परिच्छेदः	
दिनचर्याधिकारः	73
मंगलाचरण व प्रतिज्ञा	73
दंतधावन	73
दांतून करने के अयोग्य मनुष्य	73
तैलाभ्यंग गुण	73
तैलघृताभ्यंग गुण	74
अभ्यंग के लिए अयोग्य व्यक्ति	74
व्यायाम गुण	74
व्यायाम के लिए अयोग्य व्यक्ति	74
बलार्ध लक्षण	74
उद्वर्तन गुण	75
विशिष्ट उद्वर्तन गुण	75
पवित्र स्नान गुण	75
स्नान के लिए अयोग्य व्यक्ति	75
तांबूल भक्षण गुण	76
तांबूल सेवन के लिए अयोग्य व्यक्ति	76
जूता पहनने व पादाभ्यंग के गुण	76
रात्रिचर्याधिकारः	76
मैथुन सेवन काल	76
मैथुन के लिए अयोग्य व्यक्ति	77
सतत् मैथुन के योग्य व्यक्ति	77
ब्रह्मचर्य के गुण	77
मैथुन के लिए अयोग्य स्त्री व काल	77
मैथुन अनंतर विधेय विधि	78
निद्रा की आवश्यकता	78
दिन में निद्रा लेने की अवस्था विशेष	78
सर्वर्तुसाधारण चर्याधिकारः	78
हित मित भाषण	78
शैलाद्यारोहण निषेध	79
पापादि कार्यों के निषेध	79
हिंसादि के त्याग	79
वृष्याधिकारः	79
कामोत्पत्ति के साधन	79
कामोद्दीपन करने वाली स्त्री	79
वृष्यामलक योग	80
वृष्य शल्यादि योग	80
वृष्य सक्तू	80
वृष्यगोधूम चूर्ण	80
वृष्यरक्ताश्वत्थादि योग	81
वृष्यामलकादि चूर्ण	81
छागदुग्ध	81
वृष्यभूकूष्मांडादि चूर्ण	81
नपुंसकत्व के कारण व चिकित्सा	81
रसायनाधिकारः	82
संक्षेप से वृष्य पदार्थों के कथन	82

त्रिफलारसाययन	82
वृष्यविडंग व यष्टिचूर्ण	82
रसायन के अनुपान	83
रसायन सेवन में पथ्याहार	83
विडंगसार रसायन	83
बलारसायन	84
नागबलादि रसायन	84
वाकुची रसायन	84
ब्राह्मादि रसायन	85
वज्रादि रसायन	85
रसायन सेवन करने का नियम	85
चन्द्रामृत रसायन	86
विविध रसायन	88
चन्द्रामृतादि रसायन के अयोग्य मनुष्य	88
दिव्यौषध प्राप्त न होने के कारण	88
अन्तिमकथन	89

सप्तमपरिच्छेदः

मंगलाचरण व प्रतिज्ञा	90
पुरुष निरूपण प्रतिज्ञा	90
आत्म स्वरूप विवेचन	90
आत्मा के कर्तव्य आदि स्वभाव	90
आत्मा स्वदेह परिमाण है	91
आत्मा का नित्यानित्यादि स्वरूप	91
आत्मा का उपर्युक्त स्वरूप चिकित्सा के लिए अत्यावश्यक है	91
कर्मों के उदय के लिए निमित्त कारण	92
रोगोत्पत्ति के हेतु	92
कर्म का पर्याय	92
रोगोत्पत्ति के मुख्य कारण	93
कर्मोपशांति करने वाली क्रिया ही चिकित्सा है	93
सविपाकाविपाक निर्जरा	93
उपाय और कालपाक का लक्षण	93
गृहनिर्माण कथन प्रतिज्ञा	94
गृहनिर्मापण विधान	94
शय्याविधान	94
शयनविधि	95
रोगी की दिनचर्या	95
रोगोपशमनार्थ बाह्याभ्यंतर चिकित्सा	96
बाह्य चिकित्सा	96
चिकित्सा प्रशंसा	97
चिकित्सा के उद्देश्य	97
निरीह चिकित्सा का फल	97
चिकित्सा से लाभ	97
वैद्यों को नित्य संपत्ति की प्राप्ति	98
वैद्य के गुण	98
रोगी के गुण	98
औषधी के गुण	98
परिचारक के गुण	98
पाद चतुष्ट्य की आवश्यकता	99
वैद्य की प्रधानता	99
वैद्य पर रोगी का विश्वास	99
रोगी के प्रति वैद्य का कर्तव्य	99
योग्य वैद्य	100
प्रागुक्त कथन समर्थन	100
उभयज्ञ वैद्य ही चिकित्सा के लिये योग्य	100
अज्ञवैद्य से हानि	100
अज्ञवैद्य की चिकित्सा की निंदा	100
अज्ञवैद्य की चिकित्सा से अनर्थ	101
चिकित्सा करने का नियम	101
स्पर्श परीक्षा	101
प्रश्न परीक्षा	101
दर्शन परीक्षा	102
महान् व अल्प व्याधि परीक्षा	102
रोग के साध्यासाध्य भेद	102
अनुपक्रम याप्य के लक्षण	102
कृच्छ्र साध्य सुसाध्य के लक्षण	103
विद्वानों का आद्य कर्तव्य	103
चिकित्सा के विषय उपेक्षा न करें	103

अंतिम कथन 104

अष्टमपरिच्छेदः

वातरोगाधिकारः 105

मंगलाचरण व प्रतिज्ञा 105

वातदोष 105

प्राणवात 105

उदानवायु 106

समानवायु 106

अपानवायु 106

व्यानवायु 106

कुपितवात व रोगोत्पत्ति 106

कफ पित्त रक्त युक्त वात का लक्षण 107

वात व्याधि के भेद 107

अपतानक रोग का लक्षण 107

अर्दित निदान व लक्षण 107

अर्दित का असाध्य लक्षण व
पक्षाघात की संप्राप्ति व लक्षण 108

पक्षघात का कृच्छ्साध्य व असाध्य लक्षण 108

अपतानक व आक्षेपक के असाध्य लक्षण 108

दण्डापतानक, धनुस्तंभ, बहिरायाम-
अंतरायाम की संप्राप्ति व लक्षण 108

गृध्रसी अवबाहु की संप्राप्ति व लक्षण 109

कलायखंज, पंगु, उरुस्तंभ
वातकंटक व पादहर्ष के लक्षण 109

तूनी, प्रतितूनी, अष्टीला व आध्मान के लक्षण 110

वातव्याधि का उपसंहार 110

वातरक्त का निदान, संप्राप्ति व लक्षण 111

पित्तकफ युक्त व त्रिदोषज वातरक्त का लक्षण 111

क्रोष्टुकशीर्ष लक्षण 111

वातरक्त असाध्य लक्षण 112

वातरोग चिकित्सा वर्णन की प्रतिज्ञा 112

आमाशय गत वातरोग चिकित्सा 112

स्नेहपान विधि 112

स्नेहपान के गुण 113

स्नेहन के लिए अपात्र 113

स्वेदन का फल 113

स्वेदन के लिए अपात्र 113

वमन विधि 114

सुवांत लक्षण व वमनानन्तर विधि 114

वमन गुण 115

वमन के लिए अपात्र 115

वमनापवाद 116

कटुत्रिकादि चूर्ण 116

महौषधादि क्वाथ व अनुपान 116

पक्काशयगत वात के लिए विरेचन 116

वातनाशक विरेचक योग 116

विरेचन फल 117

विरेचन के लिए अपात्र 117

विरेचनापवाद 117

सर्वशरीर गत वात चिकित्सा 117

अनुवासन बस्ति का प्रधानत्व 118

प्रतिज्ञा 118

बस्ति नेत्र लक्षण 118

बस्ति नेत्र निर्माण के योग्य पदार्थ व छिद्र प्रमाण 119

बस्ति के लिए औषधि 119

बस्ति के लिए औषध प्रमाण 119

औषध का उत्कृष्ट प्रमाण 120

बस्तिदान क्रम 120

सुनिरूढ लक्षण 120

निरूह के पश्चाद्विधेय विधि व
अनुवासनबस्ति प्रयोग 121

अनुवास के पश्चाद्विधेय विधि 121

अनुवासन का शीघ्र विनिर्गमन
कारण व उसका उपाय 121

अनुवासनबस्ति की संख्या 121

बस्ति कर्म के लिए अपात्र 122

बस्ति कर्म का फल 122

शिरोगत वायु की चिकित्सा 122

नस्य का भेद	123
अवमर्ष नस्य	123
अवपीडन नस्य	123
नस्य के लिए अपात्र	124
नस्य फल	124
अन्तिम कथन	124
नवमपरिच्छेदः	
पित्तरोगाधिकारः	125
प्रतिज्ञा	125
पित्तप्रकोप में कारण तज्जरोग	125
पित्त का लक्षण व तज्जन्य रोग	125
पित्त प्रकोप का लक्षण	125
पित्तोपशमन विधि	126
पित्तोशमन का बाह्य उपाय	126
पित्तोपशम कारक अन्य उपाय	126
पित्तोपशमक द्राक्षादि योग	126
कासादि क्वाथ	127
पित्तोपशामक वमन	127
व्योषादि चूर्ण	127
एलादि चूर्ण	127
निंबादि क्वाथ	127
रक्तपित्त निदान	128
रक्तपित्त का पूर्वरूप	128
रक्तपित्त का असाध्य लक्षण	128
साध्यासाध्य विचार	128
द्राक्षा कषाय	129
कासादि स्वरस	129
मधुकादि घृत	129
घ्राण प्रवृत्त रुधिर चिकित्सा	129
घ्राण प्रवृत्त रक्त में नस्य प्रयोग	130
ऊर्ध्वाधः प्रवृत्त रक्तपित्त की चिकित्सा	130
रक्तपित्त नाशक बस्तिक्षीर	130
रक्तपित्ति को पथ्य	130
खर्जूरादि लेप	130
लेप व स्नान	131
रक्तपित्त आसाध्य लक्षण	131
प्रदराधिकारः	131
असृग्दर निदान व लक्षण	131
प्रदर चिकित्सा	131
विसर्पाधिकारः	132
विसर्प निदान चिकित्सा	132
विसर्प का भेद	132
विसर्प का असाध्य लक्षण	132
वातरक्ताधिकारः	132
वातरक्त चिकित्सा	132
रास्नादि लेप	133
मुद्रादि लेप	133
पुनर्नवादि लेप	133
जम्ब्वादि लेप	133
मुस्तादि लेप	133
बिंब्यादि घृत	134
अजपयःपान	134
टुंटुकादि दुग्ध	134
गोधूमादि लेप	134
क्षीरद्रुमादि तैल	135
सर्वरोगनाशक उपाय	135
वातरक्त चिकित्सा का उपसंहार	135
ज्वराधिकारः	136
ज्वर निदान	136
ज्वर लक्षण	136
ज्वर का पूर्वरूप	136
वातज्वर का लक्षण	136
पित्तज्वर लक्षण	137
कफज्वर लक्षण	137
द्वंद्वज्वर लक्षण	137
सन्निपात ज्वर का असाध्य लक्षण	138
सन्निपात ज्वर के उपद्रव	138
ज्वर की पूर्व रूप में चिकित्सा	138

लंघन व जलपान विधि	138
वात पित्त ज्वर में पाचन	139
कफ ज्वर में पाचन व पक्क ज्वर लक्षण	139
वात व पित्त कफ ज्वर चिकित्सा	139
पक्कश्लेष्म ज्वर चिकित्सा	140
लंघन आदि के लिए पात्रापात्ररोगी	140
वातज्वर में क्वाथ	140
पित्तज्वर में क्वाथ	140
कफज्वर में क्वाथ	140
सन्निपातिक ज्वर में क्वाथ	141
विषम ज्वर चिकित्सा	141
विषम ज्वर नाशक घृत	141
भूत ज्वर के लिए धूप	142
स्नेह व रूक्षोत्थित ज्वर चिकित्सा	142
स्नेह व रूक्षोत्थित ज्वरों में वमनादि प्रयोग	142
ज्वर मुक्त लक्षण	142
ज्वर का पुनरावर्तन	142
पुनरागत ज्वर का दुष्ट फल	143
अतिसाराधिकारः	143
अतिसार निदान	143
वातातिसार लक्षण	143
पित्तातिसार लक्षण	143
श्लेष्मातिसार	143
सन्निपातातिसार, आमातिसार व पक्वातिसार का लक्षण	144
अतिसार का असाध्य लक्षण	144
अन्यअसाध्य लक्षण	144
आमातिसार में वमन	144
वमन पश्चात् क्रिया	145
वातातिसार में आमावस्था की चिकित्सा	145
पित्तातिसार में आमावस्था की चिकित्सा	145
कफातिसार में आमावस्था की चिकित्सा	145
पक्वातिसार में आम्रास्थ्यादि चूर्ण	145
त्वगादि पुट पाक	146
जम्ब्वादि पाणि तक	146
सिद्धक्षीर	146
उग्रगंधादि क्वाथ	146
क्षीर का विशिष्टगुण	147
अतिसार में पथ्य	147
अन्तिम कथन	147
दशमपरिच्छेदः	
कफरोगाधिकारः	148
श्लेष्म रोगाभिधान प्रतिज्ञा	148
मंगलाचरण	148
प्रकुपित कफ का लक्षण	148
श्लेष्म नाशक गण	149
कफ नाशक उपाय	149
भार्ङ्यादि चूर्ण	149
कफ नाशक व खदिरादि चूर्ण	150
व्योषादि चूर्ण चतुष्क	150
हिंग्वादि चूर्ण चूर्णत्रय	151
बिल्वादि लेप	151
शिग्वादि लेप	151
धात्र्यादि लेप	152
धूमपान कबल धारणादि	152
एलादि चूर्ण	152
तालीसादि मोदक	153
कफ नाशक गण	153
कफ नाशक औषधियों के समुच्चय	153
वातनाशक गण	154
वातघ्न औषधियों के समुच्चय	154
पित्तनाशक गण	154
पित्तघ्न औषधियों के समुच्चय	155
त्वगादि चूर्ण	155
दोषों के उपसंहार	155
लघुता प्रदर्शन	156
चिकित्सा सूत्र	156
औषधि का यथालाभ प्रयोग	156

साध्यासाध्य रोगों के विषय वैद्य का कर्तव्य 156
अन्तिम कथन 157

एकादशपरिच्छेदः

महामयाधिकारः 158
मंगलाचरण व प्रतिज्ञा 158
प्रतिज्ञा 158
वर्णन क्रम 158
महामय संज्ञा 158
महामय वर्णन क्रम 159
प्रमेहाधिकारः 159
प्रमेहनिदान 159
प्रमेह का पूर्व रूप 159
प्रमेह की संप्राप्ति 159
प्रमेह विविध है 159
प्रमेह का लक्षण 160
दशविध प्रमेह पिटका 160
शराविका लक्षण 160
सर्षपिका लक्षण 160
जालिनी लक्षण 160
पुत्रिणी, कच्छपिका, मसूरिका लक्षण 161
विदारि, विद्रधि, विनता का लक्षण 161
पिटिकाओं के अन्वर्थ नाम 162
कफ प्रमेह का उपद्रव 162
पैत्तिक प्रमेह के उपद्रव 162
वातिक प्रमेह के उपद्रव 162
प्रमेह का असाध्य लक्षण 162
प्रमेह चिकित्सा 163
कर्षण बृंहण चिकित्सा 163
प्रमेहियों के पथ्यापथ्य 163
प्रमेही के लिए वमन विरेचन 163
निरूह बस्ति प्रयोग 164
प्रमेही के लिए भोज्य पदार्थ 164
आमलकारिष्ट 164
निशादि क्वाथ 164
चन्दनादि क्वाथ 164
कपित्यादि क्वाथ 165
खर आदि के मलोपयोग 165
त्रिफला क्वाथ 165
प्रमेही के लिए विहार 165
कुलिन को प्रमेह जयार्थ क्रिया विशेष 165
प्रमेह जयार्थ नीचकुलोत्पन्न का क्रिया विशेष 166
पिटिकोत्पत्ति 166
प्रमेह पिटिका चिकित्सा 166
विलयन पाचन योग 166
धारण शोधनरोपणा क्रिया 166
शोधन औषधियाँ 167
रोपन औषधियाँ 167
रोपन वर्तिका 167
सद्योव्रण चिकित्सा 167
बन्धन क्रिया 167
बन्धन पश्चात्क्रिया 168
बन्धन फल 168
व्रण चिकित्सा समुच्चय 168
शुद्ध व रूढ व्रण लक्षण 168
प्रमेह विमुक्त लक्षण 168
प्रमेहपिडिका का उपसंहार 169
कुष्ठरोगाधिकारः 169
कुष्ठ की संप्राप्ति 169
कुष्ठ का पूर्व रूप 170
सप्त महाकुष्ठ 170
क्षुद्र कुष्ठ 170
रकश कुष्ठ लक्षण 170
कुष्ठ में दोषों की प्रधानता 171
एक विचर्चिविपादि का कुष्ठ लक्षण 171
परिसर्प विसर्पण कुष्ठ लक्षण 171
किटिभपामा कच्छु लक्षण 171
असाध्य कुष्ठ 172
वातपित्त प्रधान कुष्ठ लक्षण 172

कफ प्रधान व त्वक्स्थ कुष्ठ लक्षण 172
कुष्ठ में कफ का लक्षण 172
रक्त मांस गत कुष्ठ लक्षण 172
मेद सिरा स्नायुगत कुष्ठ लक्षण 172
मज्जास्थिगत कुष्ठ लक्षण 173
कुष्ठ का साध्यासाध्य विचार 173
असाध्य कुष्ठ 173
असाध्य कुष्ठ व रिष्ट 173
कुष्ठी के लिए अपथ्य पदार्थ 173
अथ कुष्ठ चिकित्सा 174
कुष्ठ में पथ्यशाक 174
कुष्ठ में पथ्यधान्य 174
कुष्ठ में वमन विरेचन व त्वक्स्थ
कुष्ठ की चिकित्सा 174
रक्त व मांसगत कुष्ठ चिकित्सा 174
मेदोऽस्थ्यादिगत कुष्ठ चिकित्सा 174
त्रिदोष कुष्ठ चिकित्सा 175
निंबास्थि सारादि चूर्ण 175
पुन्नाग बीजादि लेप 176
पलाश क्षार लेप 176
लेपद्वय 176
सिद्धार्थादि लेप 176
भल्लातकास्थ्यादि लेप 177
भल्लातकादि लेप 177
ऊर्ध्वाधः शोधन 177
कुष्ठ में वमन विरेचन रक्त मोक्षण का क्रम 177
खदिर चूर्ण 180
तीक्ष्ण लोहभस्म 180
लोह भस्म फल 181
नवायस चूर्ण 181
संक्षेप से संपूर्ण कुष्ठ चिकित्सा का कथन 181
खदिर प्रयोग 182
अथ उदररोगाधिकारः 182
उदर रोग निदान 182
वातोदर लक्षण 182
पित्तोदर लक्षण 182
कफोदर लक्षण 183
सन्निपातोदर निदान 183
सन्निपातोदर लक्षण 183
यकृत् प्लीहोदर लक्षण 183
बद्धोदर लक्षण 184
स्रावि उदर लक्षण 184
जलोदर निदान 184
जलोदर लक्षण 184
उदररोग के साधारण लक्षण 184
असाध्योदर 185
कृच्छ्रसाध्योदर 185
भैषज शस्त्रसाध्योदरों के पृथक्करण 185
असाध्य लक्षण 185
अथोदर चिकित्सा 185
वातोदर चिकित्सा 186
पित्तोदर चिकित्सा 186
पैत्तिकोदर में निरूह बस्ति 186
कफोदर 186
सन्निपातोदर चिकित्सा 187
निदिग्धिकादि घृत 187
एरण्डतैल प्रयोग 187
उदरनाशक प्रयोग 187
अन्यान्य योग 188
नाराच घृत 188
महानाराच घृत 188
मूत्रवर्तिका 189
द्वितीयवर्तिका 189
वर्तिका प्रयोग विधि 189
दृष्योदर चिकित्सा 189
यकृत्प्लीहोदर चिकित्सा 190
यकृत्प्लीहा नाशक योग 190
पिप्पल्यादि चूर्ण 190

षट्पलसर्पि 190
बद्ध व स्राव्युदर चिकित्सा 191
जलोदर चिकित्सा 191
उदर से जल निकालने की विधि 191
जलोदरी को पथ्य 192
दुग्ध का विशेष गुण 192
अन्तिम कथन 192

द्वादशपरिच्छेदः

वातरोग चिकित्सा 193
मंगल व प्रतिज्ञा 193
वातरोग का चिकित्सा सूत्र 193
त्वक् सिरादिगत वात चिकित्सा 193
अस्थि गत वात चिकित्सा 193
श्लेष्मादि युक्त व सुप्त वात चिकित्सा 194
कफपित्त युक्त वात चिकित्सा 194
वातघ्न उपनाह 195
सर्वदेहाश्रित वात चिकित्सा 195
स्तब्धादिवात चिकित्सा 195
सर्वांग गतादि वात चिकित्सा 196
अतिवृद्ध वात चिकित्सा 196
वातरोग में हित 196
तिल्वकादि घृत 197
अणुतैल 197
सहस्र विपाक तैल 197
पत्र लवण 198
क्वाथ सिद्ध लवण 198
कल्याण लवण 199
साध्यासाध्य विचार पूर्वक चिकित्सा करनी चाहिए 199
अपतानक का असाध्य लक्षण 199
पक्षाघात का असाध्य लक्षण 200
आक्षेपक अपतानक चिकित्सा 200
वातहर तैल 200
वातहर तैल का उपयोग 200
आर्दितवात चिकित्सा 201
शुद्ध व मिश्र वात चिकित्सा 201
पक्षाघात आर्दित वात चिकित्सा 201
आर्दितवात के लिए कासादि तैल 201
गृध्रसी प्रभृति वातरोग चिकित्सा 201
कोष्ठगत वात चिकित्सा 202
वातव्याधि का उपसंहार 202
कर्णशूल चिकित्सा 202
मूढगर्भाधिकारः 202
मूढगर्भ कथन प्रतिज्ञा 202
गर्भपात का कारण 202
गर्भस्राव स्वरूप 203
मूढगर्भ लक्षण 203
मूढगर्भ की गति के प्रकार 203
मूढगर्भ का अन्य भेद 203
मूढगर्भ का असाध्य लक्षण 204
शिशु रक्षण 204
मृतगर्भ लक्षण 204
मूढगर्भ उद्धरण विधि 204
सुखप्रसवार्थ उपायान्तर 205
मृत गर्भाहरण विधान 205
स्थूल गर्भाहरण विधान 205
गर्भ को छेदन कर निकालना 206
सर्व मूढगर्भापहरण विधान 206
प्रसूता का उपचार 206
बला तैल 206
शतपाक बला तैल 207
नागबलादि तैल 207
प्रसूता स्त्री के लिए सेव्य औषधि 208
गर्भिणी आदि के सुखकारक उपाय 208
बालरक्षाधिकारः 208
शिशु सेव्य घृत 208
धात्री लक्षण 208
बालग्रह परीक्षा 209

बालग्रह चिकित्सा	209
बालरोग चिकित्सा	209
बालकों को अग्निकर्म आदि का निषेध	209
अथार्शरोगाधिकारः	210
अर्श कथन प्रतिज्ञा	210
अर्श निदान	210
अर्श भेद व वातार्श लक्षण	210
पित्तरक्त कफार्श लक्षण	210
सन्निपात सहजार्श लक्षण	210
अर्श के स्थान	211
अर्श का पूर्व रूप	211
मूलरोग संज्ञा	211
अर्श के असाध्य लक्षण	211
मेढ्रादि स्थानों में अर्श रोग की उत्पत्ति	212
अर्श का असाध्य लक्षण	212
अन्य असाध्य लक्षण	212
अर्शरोग की चिकित्सा	212
मुष्ककादि क्षार	213
अर्शयंत्र विधान	213
अर्शपातन विधि	214
भिन्न-भिन्न अर्शों की भिन्न-भिन्न चिकित्सा	215
अर्शघ्न लेप	216
अदृश्यार्श नाशक चूर्ण	216
अर्शघ्न योग द्वय	216
चित्रकादि चूर्ण	217
अर्शनाशक तक्र	217
सूरणमोदक	217
तक्रकल्प	217
अर्शनाशक पाणितक	218
पाटलादि योग	218
अर्शघ्न कल्क	218
भल्लातक कल्क	218
भल्लातकास्थि रसायन	219
भल्लातक तैल रसायन	219
अर्शहर उत्कारिका	219
वृद्धदारुकादि चूर्ण	219
अर्श में तिल प्रयोग	220
अंतिम कथन	220
त्रयोदशपरिच्छेदः	
अथ शर्कराधिकारः	221
मंगलाचरण व प्रतिज्ञा	221
बस्ति स्वरूप	221
शर्करा संप्राप्ति	221
शर्करा लक्षण	221
शर्करा मूल	222
अथाश्मर्याधिकारः	222
अश्मरी भेद	222
कफाश्मरी लक्षण	222
पैत्तिकाश्मरी लक्षण	222
वातिकाश्मरी लक्षण	223
बालाश्मरी	223
बालकोत्पन्नाश्मरी का सुख साध्य लक्षण	223
शुक्राश्मरी संप्राप्ति	224
शुक्राश्मरी लक्षण	224
अश्मरी का कठिन साध्य लक्षण	224
अश्मरी का असाध्य लक्षण	225
वाताश्मरी नाशक घृत	225
वाताश्मरी के लिए अन्नपान	225
पित्ताश्मरी नाशक योग	226
कफाश्मरी नाशक योग	226
पाटलीकादि क्वाथ	226
कपोत वंकादि क्वाथ	227
अजदुग्धपान	227
नृत्यकाडादि कल्क	227
तिलादिक्षार	227
उत्तर बस्ति विधान	228
पुरुष योग्य नेत्र लक्षण	228
कन्या व स्त्री योग्य नेत्र लक्षण	228

द्रव प्रमाण	228
उत्तर बस्ति के पूर्व पश्चाद्विधेय विधि	228
उत्तर बस्त्यर्थ उपवेशन विधि	229
अगार धूमादि वर्ति	229
उत्तरबस्ति का उपसंहार	229
भगंदररोगाधिकारः	230
भगंदर वर्णन प्रतिज्ञा	230
भगदंर का भेद	230
शतयोनक व उष्ट्रगल लक्षण	230
परिस्रावि व कंबुकावर्त लक्षण	230
उन्मार्गि भगंदर लक्षण	231
भगंदर की व्युत्पत्ति व साध्यासाध्य विचार	231
भगंदर चिकित्सा	231
चिकित्सा उपेक्षा से हानि	231
भगंदर का असाध्य लक्षण	232
भगंदर की अंतर्मुख बहिर्मुख परीक्षा	232
भगंदर यंत्र	232
भगंदर में शस्त्राग्निक्षार प्रयोग	232
भगंदर छेदन क्रम	233
बृहत् व्रण का दोष व उसका निषेध	233
स्वेदन	234
भगंदरघ्न उपनाह	234
शल्यज भगंदर चिकित्सा	234
शोधन रोपण	234
भगंदरघ्न तैल व घृत	235
उपरोक्त तैल घृत का विशेष गुण	235
हरीतक्यादि चूर्ण	235
भगंदर में अपथ्य	235
अश्मरी आदि के उपसंहार	236
वृद्धि उपदंश आदि के वर्णन की प्रतिज्ञा	236
सप्त प्रकार की वृषण वद्धि	236
वृद्धि संप्राप्ति	236
वात, पित्त, रक्तज वृद्धि लक्षण	236
कफ, मेदज वृद्धि लक्षण	237
मूत्रज वृद्धि लक्षण	237
अंत्रज वृद्धि लक्षण	237
सर्व वृद्धि में वर्जनीय कार्य	237
वात वृद्धि चिकित्सा	238
स्वेदन, लेपन, बन्धन व दहन	238
पित्त रक्तज वृद्धि चिकित्सा	238
कफज वृद्धि चिकित्सा	238
मेदज वृद्धि चिकित्सा	238
मूत्रज वृद्धि चिकित्सा	239
अंत्र वृद्धि चिकित्सा	239
अंड वृद्धिघ्न लेप	239
अंड वृद्धिघ्न कल्क	239
सुवर्चिकादि चूर्ण	240
उपदंश शूक रोग वर्णन प्रतिज्ञा	240
अन्तिम कथन	240
चतुर्दशपरिच्छेदः	
उपदंशाधिकारः	241
मंगलाचरण व प्रतिज्ञा	241
उपदंश चिकित्सा	241
दो प्रकार का शोध	241
विद्रधिग्रंथिपिटिका लक्षण व चिकित्सा	242
उपदंश का असाध्य लक्षण	242
दंतोद्भव उपदंश चिकित्सा	242
शूक दोषाधिकारः	242
शूक रोग निदान व चिकित्सा	242
तिल मधुकादि कल्क	243
श्लीपदाधिकारः	243
श्लीपद रोग	243
त्रिकटुकादि उपनाह	243
वल्मीक पादघ्न तैल घृत	244
वल्मीक पाद चिकित्सा	244
अपची लक्षण	244
अपची का विशेष लक्षण	244
अपची चिकित्सा	245

नाड़ीव्रण अपची नाशक योग 245
गल गण्ड लक्षण व चिकित्सा 245
अर्बुद लक्षण 245
अर्बुद चिकित्सा 246
ग्रंथि लक्षण व चिकित्सा 246
सिराज ग्रन्थि के असाध्य कृच्छ्र साध्य लक्षण एवं
द्विविध विद्रधि 246
विद्रधि का असाध्य दु:साध्य लक्षण 247
विद्रधि का असाध्य साध्य लक्षण 247
विद्रधि चिकित्सा 247
आम विदग्ध विपक्व लक्षण 247
अष्टविध शस्त्र कर्म व यंत्र निर्देश 248
बाह्य विद्रधि चिकित्सा 249
अंतर्विद्रधि नाशक योग 249
विद्रधि रोगी को पथ्याहार 249
क्षुद्ररोगाधिकार: 250
क्षुद्ररोग वर्णन प्रतिज्ञा 250
अकथित रोगों की परीक्षा 250
अजगल्ली लक्षण 250
अजगल्ली चिकित्सा 250
अलजी, यव, विवृत लक्षण 251
कच्छपिका वल्मीक लक्षण 251
इंद्रविद्धा गर्दभि का लक्षण 251
पाषाण गर्दभ जाल काली लक्षण 251
पनसिका लक्षण 252
इरिवेल्लि का लक्षण 252
कला लक्षण 252
गंधनामा (गंधमाला) चिप्प लक्षण 252
अनुशयी लक्षण 252
विदारिका लक्षण 253
शर्करार्बुद लक्षण 253
विचर्चिका, वैपादिका, पामा, कच्छु,
कदर, दारी रोग लक्षण 253
इंद्रलुप्त लक्षण 254
जतुमणि लक्षण 254
व्यंग लक्षण 254
माष, तिल न्यच्छ लक्षण 254
नीलिका लक्षण 255
तारुण्य पीडका लक्षण 255
वर्तिका लक्षण 255
सन्निरुद्ध गुद लक्षण 255
अग्नि रोहिणी लक्षण 256
स्तनरोग चिकित्सा 256
क्षुद्ररोगों की चिकित्सा का उपसंहार 256
सर्वरोग चिकित्सा संग्रह 256
नाड़ी व्रण निदान व चिकित्सा 257
मुखकांति कारक घृत 257
मुखकांति कारक लेप 257
अंतिम कथन 257

पंचदशपरिच्छेद:

शिरोरोगाधिकार: 259
मंगलाचरण 259
शिरो रोग कथन प्रतिज्ञा 259
शिरो रोगों के भेद 259
क्रिमिज, क्षयज शिरो रोग 260
सूर्यावर्त, अर्धावभेदक लक्षण 260
शंखक लक्षण 260
रक्तपित्तज, वात कफज शिरो रोग के
विशिष्ट लक्षण 260
शिरो रोग चिकित्सा 261
क्रिमिज शिरो रोगघ्न योग 261
शिरोरोग का उपसंहार 261
कर्णरोगाधिकार: 261
कर्णशूल कर्णनाद लक्षण 261
बधिर्य कर्ण व क्षोद लक्षण 262
कर्णस्राव लक्षण 262
पूति कर्ण कृमि कर्ण लक्षण 262
कर्णकण्डू, कर्णगूथ, कर्ण प्रति-नाद के लक्षण 262

कर्णपाक, विद्रधि, शोध अर्श का लक्षण 262
वातज कर्ण व्याधि चिकित्सा 263
कर्ण स्वेदन 263
घृतपान आदि 263
कर्ण रोगांतक घृत 263
कफाधिक कर्णरोग चिकित्सा 263
कृमिकर्ण, कर्णपाक चिकित्सा 264
क्रिमिनाशक योग 264
कर्णगत आगंतुमल चिकित्सा 264
पूतिकर्ण, कर्णस्राव, कर्णार्श, विद्रधि, चिकित्सा 264
कर्णरोग चिकित्सा का उपसंहार 265
नासारोगाधिकारः 265
नासा गत रोग वर्णन प्रतिज्ञा 265
पीनस लक्षण व चिकित्सा 265
पूतिनासा के लक्षण व चिकित्सा 265
नासापाक लक्षण व चिकित्सा 266
पूयरक्त लक्षण व चिकित्सा 266
दीप्तनासा लक्षण व चिकित्सा 266
क्षवथु लक्षण व चिकित्सा 266
आगंतु क्षवतु लक्षण 266
महाभ्रंशन लक्षण व चिकित्सा 267
नासा प्रतिनाह लक्षण व चिकित्सा 267
नासा परिस्राव लक्षण व चिकित्सा 267
नासा परिशोष लक्षण व चिकित्सा 267
नासा गत रोग में पथ्य 267
सर्वनासा रोग चिकित्सा 268
नासार्श आदिकों की चिकित्सा 268
नासारोग का उपसंहार व मुख रोग वर्णन प्रतिज्ञा 268
मुखरोगाधिकारः 268
मुखरोगों के स्थान 268
अष्टविध ओष्ठ रोग 268
वातपित्त, कफज, ओष्ठ रोगों के लक्षण 269
सन्निपात रक्तमांस भेदोत्पन्न ओष्ठ रोगों के लक्षण 269
सर्वओष्ठ रोग चिकित्सा 269
दंतरोगाधिकारः 270
अष्टविध दंत रोग वर्णन प्रतिज्ञा व दालन लक्षण 270
कृमिदंत लक्षण 270
दंतहर्ष लक्षण 270
भंजनक लक्षण 270
दंत शर्करा, कापालिका लक्षण 270
श्यामदंतक हनुमोक्ष लक्षण 271
दंतहर्ष चिकित्सा 271
दंत शर्करा कापालिका चिकित्सा 271
हनुमोक्ष चिकित्सा 271
जिह्वा गत पंचविध रोग 272
वातपित्त कफज जिह्वा रोग लक्षण व चिकित्सा 272
जिह्वालसक लक्षण 272
जिह्वालसक चिकित्सा 272
उपजिह्वा चिकित्सा 273
सीतोद लक्षण व चिकित्सा 273
दंतपुप्पट लक्षण व चिकित्सा 273
दंतवेष्ट लक्षण व चिकित्सा 273
सुषिर लक्षण चिकित्सा 274
महासुषिर लक्षण व चिकित्सा 274
परिस्रदर लक्षण 274
उपकुश लक्षण 274
वैदर्भ, खलवर्धन (खल्लीवर्धन) लक्षण 274
अधिमांस लक्षण व चिकित्सा 275
दण्डनाड़ी लक्षण व चिकित्सा 275
दंतमूल गत रोग चिकित्सा 275
उपकुश में गंडूष व नस्य 275
वैदर्भ चिकित्सा 276
खल वर्धन चिकित्सा 276
रोहिणी लक्षण 276
रोहिणी के साध्यासाध्य विचार 276
साध्य रोहिणी की चिकित्सा 276
कंठशालूक लक्षण व चिकित्सा 277
विजिह्विका (अधिजिह्विका) लक्षण 277

वलय लक्षण	277
महालस लक्षण	277
एकवृन्द लक्षण	278
वृन्द लक्षण	278
शतघ्नी लक्षण	278
शिलातु (गिलायु) लक्षण	278
गल विद्रधि व गलौघ लक्षण	278
स्वरघ्न लक्षण	279
मांसरोग (मांसतान) लक्षण	279
गलामय चिकित्सा व तालुरोग वर्णन प्रतिज्ञा	279
नवप्रकार के तालुरोग	279
गलशुंडिका (गलशुंडी) लक्षण	279
गलशुंडिका चिकित्सा व तुंडिकेरी लक्षण व चिकित्सा	279
अध्रुषलक्षण व चिकित्सा	280
कच्छप लक्षण व चिकित्सा	280
रक्तार्बुद लक्षण व मांस संघात लक्षण	280
तालुपुष्प (प्प) ट लक्षण	280
तालुशोष लक्षण	281
तालुपाक लक्षण	281
सर्वमुखगत रोग वर्णन प्रतिज्ञा	281
विचारी लक्षण	281
वातज सर्वसर (मुखपाक) लक्षण	281
पित्तज सर्वसर लक्षण	282
कफज सर्वसर लक्षण	282
सर्व सर्वसर रोग चिकित्सा	282
मधूकादि धूपनवर्ती	282
मुखरोग नाशक धूप	283
मुखरोग नाशक योगांतर	283
भृंगराजादि तैल	283
सहादि तैल	283
सुरेन्द्राकाष्टादि योग	284
सर्वमुख रोग चिकित्सा संग्रह	284
मुखरोगी को पथ्यभोजन	284
मुखगत असाध्य रोग	284
दन्तगत असाध्य रोग	284
रसनेन्द्रिय व तालुगत असाध्य रोग कंठगत व सर्वगत असाध्य रोग	285
नेत्ररोगाधिकारः	285
नेत्र का प्रधानत्व	285
नेत्ररोग की संख्या	285
नेत्ररोग के कारण	286
नेत्ररोगों के आश्रय	286
पंचमंडल षट्संधि	286
षट्पटल	287
अभिष्यन्द वर्णन प्रतिज्ञा	287
वाताभिष्यन्द लक्षण	287
वाताभिष्यन्द चिकित्सा	287
वाताभिष्यन्द में विरेचन आदि प्रयोग	287
पथ्य भोजन पान	288
वाताभिष्यन्द नाशक अंजन	288
वाताभिष्यन्द चिकित्सोपसंहार	288
पैत्तिकाभिष्यन्द लक्षण	289
पैत्तिकाभिष्यन्द चिकित्सा	289
पित्ताभिष्यन्द में लेप व रस क्रिया	289
अंजन	289
अक्षिदाह चिकित्सा	290
पित्ताभिष्यन्द में पथ्य भोजन	290
पित्ताभिष्यन्द में पथ्य शाक व जल	290
पित्तज सर्वाक्षिरोग चिकित्सा	290
रक्तजाभिष्यन्द लक्षण	290
रक्तजाभिष्यन्द चिकित्सा	291
कफजाभिष्यन्द लक्षण	291
कफजाभिष्यन्द चिकित्सा	291
कफाभिष्यन्द में आश्वोतन व सेक	291
कफाभिष्यन्द में गण्डूष व कबल धारण	291
कफाभिष्यन्द में पुटपाक	292
मातुलुंगाद्यंजन	292

मुरुग्यांजन	292
कफज सर्व नेत्र रोगों के चिकित्सा संग्रह	292
कफाभिष्यन्द में पथ्य भोजन	292
कफाभिष्यन्द में पेय	293
अभिष्यन्द उपेक्षा से अधिमंथ की उत्पत्ति	293
अधिमंथ का सामान्य लक्षण	293
अधिमंथों की दृष्टिनाश की अवधि	293
अधिमंथ चिकित्सा	294
हताधिमंथ लक्षण	294
शोफ युक्त, शोफ रहित नेत्र पाक लक्षण	294
वातपर्यय लक्षण	294
शुष्काक्षि पाक लक्षण	294
अन्यतोवात लक्षण	295
आम्लाध्युषित लक्षण	295
शिरोत्पात लक्षण	295
शिराप्रहर्ष लक्षण	295
नेत्ररोगों का उपसंहार	296
संध्यादिगत नेत्र रोग वर्णन	296
संधिगत नव विध रोग व पर्वणी लक्षण	296
अलजी लक्षण	296
पूयालस, कफोपनाह लक्षण	296
कफज स्राव लक्षण	296
पित्तज स्राव व रक्तज स्राव लक्षण	297
कृमि ग्रंथि लक्षण	297
वर्त्म गत रोग वर्णन प्रतिज्ञा	297
उत्संगिनी लक्षण	297
कुंभीक लक्षण	298
पोथकी लक्षण	298
वर्त्म शर्करा लक्षण	298
अर्शवर्त्म का लक्षण	298
शुष्कार्श व अंजन नामिका लक्षण	298
बलवर्त्म लक्षण	299
वर्त्मबन्धन लक्षण	299
क्लिष्ट वर्त्म लक्षण	299
कृष्ण कर्दम लक्षण	299
श्यामल वर्त्म लक्षण	300
क्लिन्न वर्त्म लक्षण	300
अपरिक्लिन्नवर्त्म लक्षण	300
वातहत वर्त्म लक्षण	300
अर्बुद लक्षण	300
निमेष लक्षण	301
रक्तार्श लक्षण	301
लगण लक्षण	301
विसवर्त्म लक्षण	301
पक्ष्मकोप लक्षण	301
वर्त्मरोगों के उपसंहार	302
विस्तार्यर्म व शुक्लार्म के लक्षण	302
लोहितार्म व अधिक मांसार्म लक्षण	302
स्नायु अर्म व कृश शुक्ति के लक्षण	302
अर्जुन व पिष्टक लक्षण	302
शिराजाल व शिराज पीड़िका लक्षण	303
बलास ग्रथित का लक्षण	303
कृष्ण मंडल गत रोगाधिकार:	303
अव्रण व सव्रण शुक्ल लक्षण	303
अक्षिपाकात्यय लक्षण	303
अजक लक्षण	304
कृष्णगत रोगों के उपसंहार	304
दृष्टिगत लक्षण	304
दृष्टिगत रोग वर्णन प्रतिज्ञा	304
प्रथम पटल गत दोष लक्षण	305
द्वितीय पटल गत दोष लक्षण	305
तृतीय पटल गत दोष लक्षण	305
नक्तांध्य लक्षण	305
चतुर्थ पटल गत दोष लक्षण	305
लिंग नाश का नामांतर व वातज लिंग नाश लक्षण	306
पित्त कफ रक्तज लिंग नाश लक्षण	306
सन्निपातिका लिंग नाश लक्षण व वातज वर्ण	306
पित्त कफज वर्ण	306

रक्तज सन्निपातज वर्ण 307
विदग्ध दृष्टि नामक षड् विधरोग व
पित्त विदग्ध लक्षण 307
कफ विदग्ध दृष्टि लक्षण 307
धूमदर्शी लक्षण 307
ह्रस्व जाति लक्षण 307
नकुलांध्य लक्षण 308
गंभीर दृष्टि लक्षण 308
निमित्तज लक्षण 308
अनिमित्त जन्य लक्षण 308
नेत्ररोगों का उपसंहार 308
छहत्तर नेत्र रोगों की गणना 309
वातज असाध्य रोग 309
वातज याप्य, साध्य रोग 309
पित्तज, असाध्य याप्य रोग 309
पित्तज साध्य रोग 309
कफज असाध्य, साध्य रोग 310
रक्तज असाध्य, याप्य, साध्य रोग लक्षण 310
सन्निपातज असाध्य व याप्य रोग 310
सन्निपातज साध्य रोग 310
नेत्ररोगों का उपसंहार 311
चिकित्सा विभाग 311
छेद्यरोगों के नाम 311
भेद्यरोगों के नाम 312
लेख्य रोगों के नाम 312
व्यध्य रोगों के नाम 312
शस्त्र कर्म से वर्जित नेत्र रोगों के नाम 312
याप्य रोगों के नाम व असाध्य नेत्ररोगों के नाम 312
अभिन्न नेत्राभिघात चिकित्सा 313
भिन्ननेत्राभिघात चिकित्सा 313
वातज रोग चिकित्साधिकारः 313
वातादि दोषज नेत्र रोगों की चिकित्सा
वर्णन प्रतिज्ञा 313
मारुतपर्यय व अन्यतोवात चिकित्सा 313
शुष्काक्षिपाक में अंजन तर्पण 314
शुष्काक्षिपाक में सेक 314
पित्तज नेत्ररोग चिकित्साधिकारः 314
सर्वपित्तज नेत्र रोग चिकित्सा 314
अम्लाध्युषित चिकित्सा 314
शुक्ति रोग में अंजन 314
कफज नेत्र रोग चिकित्साधिकारः 315
धूमदर्शी व सर्वश्लेष्मज नेत्ररोगों की चिकित्सा 315
बलास ग्रथित में क्षारांजन 315
पिष्टक में अंजन 315
परिक्लिन्नवर्त्म में अंजन 315
कंडूनाशक अंजन 316
रक्तज नेत्ररोग चिकित्साधिकारः 316
सर्व नेत्र रोग चिकित्सा 316
पीड़ा युक्त रक्तज नेत्ररोग चिकित्सा 316
शिरोत्पात शिरोहर्ष की चिकित्सा 316
अर्जुन व अव्रणशुक्ल की चिकित्सा 316
लेख्यांजन 317
नेत्रपाक चिकित्सा 317
महांजन 317
पूयालसप्रक्लिन्नवर्त्म चिकित्सा 317
शस्त्र प्रयोगाधिकारः 318
नेत्ररोगों में शस्त्र प्रयोग 318
लेखन आदि शस्त्र कर्म 318
पक्ष्मकोप चिकित्सा 318
पक्ष्मप्रकोप में लेखन आदि कार्य 318
कफज लिंगनाश में शस्त्रकर्म 319
शलाका निर्माण 319
लिंगनाश में त्रिफला चूर्ण 320
मौर्व्याद्यंजन 320
हिम शीतलांजन 321
सौवर्णादि गुटिका 321
तुथ्याद्यंजन 321
प्रसिद्ध योग 321

अंतिम कथन 322

अथ षोडशपरिच्छेदः

मंगलाचरण 323
प्रतिज्ञा 323
श्वासाधिकारः 323
श्वास लक्षण 323
क्षुद्रतमक लक्षण 324
छिन्न व महाश्वास लक्षण 324
ऊर्ध्वश्वास लक्षण 324
साध्यासाध्य विचार 324
श्वास चिकित्सा 324
पिप्पल्यादि घृत व भार्ङ्यादि चूर्ण 325
भृंगराज तैल व त्रिफला योग 325
त्वगादि चूर्ण 325
तळपोटक योग 325
कासाधिकारः 326
कास लक्षण 326
कास का भेद व लक्षण 326
वातजकास चिकित्सा 326
वातजकास में योगांतर 327
वातज कासघ्न योगांतर 327
पैत्तिक कास चिकित्सा 327
पैत्तिक कासघ्न योग 327
कफज कास चिकित्सा 327
क्षतज, क्षयज कास चिकित्सा 328
सक्तु प्रयोग 328
विरस रोगाधिकारः 328
विरस निदान व चिकित्सा 328
तृष्णारोगाधिकारः 328
तृष्णा निदान 328
दोषज तृष्णा लक्षण 329
क्षतजक्षय तृष्णा लक्षण 329
तृष्णा चिकित्सा 329
तृष्णा निवारणार्थ उपायान्तर 329
वातादिज तृष्णा चिकित्सा 330
आमज तृष्णा चिकित्सा 330
तृष्णा नाशक पान 330
उत्पलादि कषाय 330
सारिबादि क्वाथ 331
छर्दिरोगाधिकारः 331
छर्दि (वमन) निदान व चिकित्सा 331
आगंतुज छर्दि चिकित्सा 331
छर्दि का असाध्य लक्षण 331
छर्दि के ऊर्ध्वाधः शोधन 332
छर्दि रोगी को पथ्यभोजन व
वातज छर्दि चिकित्सा 332
वातज छर्दि में सिद्ध दुग्धपान 332
पित्तज छर्दि चिकित्सा 332
कफज छर्दि चिकित्सा 332
सन्निपातज छर्दि चिकित्सा 333
वमन में सक्तु प्रयोग 333
छर्दि में पथ्य भोजन 333
अथारोचक रोगाधिकारः 333
अरोचक निदान 333
अरोचक चिकित्सा 334
वमन आदि प्रयोग 334
मातुलुंग रस प्रयोग 334
मुख प्रक्षालादि 334
पथ्य भोजन 335
स्वरभेद रोगाधिकारः 335
स्वरभेद निदान व भेद 335
वात पित्त कफज स्वर भेद लक्षण 335
त्रिदोषज, रक्तज स्वर भेद लक्षण 335
मेदज स्वर भेद लक्षण 336
स्वरभेद चिकित्सा 336
वात पित्त कफज स्वरभेद चिकित्सा 336
नस्य गंडूष आदि के प्रयोग 336
मेदज सन्निपातज व रक्तज-स्वरभेद चिकित्सा 337

स्वरभेद नाशक योग 337
उदावर्तरोगाधिकारः 337
उदावर्तसंप्राप्ति 337
अपानवातरोधज उदावर्त 338
मूत्रावरोधज उदावर्त 338
मलावरोधज उदावर्त 338
शुक्रावरोधज उदावर्त 338
वमनावरोधज अश्रुरोधज उदावर्त 338
क्षुत निरोधज उदावर्त 339
शुक्रोदावर्त व अन्योदावर्तीक चिकित्सा 339
अथ हिक्कारोगाधिकारः 339
हिक्का निदान 339
हिक्का में पंच भेद 339
अन्नजयमिका हिक्का लक्षण 339
क्षुद्रिका हिक्का लक्षण 340
महाप्रलय व गंभीरका हिक्का लक्षण 340
हिक्का में असाध्य लक्षण 340
हिक्का चिकित्सा 340
हिक्का नाशक योग 341
हिक्का नाशक योगद्वय 341
हिक्काघ्न अन्यान्य योग 341
अधिक ऊर्ध्व वात युक्त हिक्का चिकित्सा 341
प्रतिश्याय रोगाधिकारः 342
प्रतिश्याय निदान 342
प्रतिश्याय का पूर्वरूप 342
वातज प्रतिश्याय के लक्षण 342
पित्तज प्रतिश्याय के लक्षण 343
कफज प्रतिश्याय के लक्षण 343
रक्तज प्रतिश्याय लक्षण 343
सन्निपातज प्रतिश्याय लक्षण 343
दुष्ट प्रतिश्याय लक्षण 344
प्रतिश्याय की उपेक्षा का दोष 344
प्रतिश्याय चिकित्सा 344
वात,पित्त,कफ व रक्तज, प्रतिश्याय चिकित्सा 345
प्रतिश्याय पाचन के प्रयोग 345
सन्निपातज व दुष्ट प्रतिश्याय चिकित्सा 345
प्रतिश्याय का उपसंहार 346
अंतिम कथन 346
अथसप्तदशः परिच्छेदः
मंगलाचरण व प्रतिज्ञा 347
सर्व रोगों की त्रिदोषों से उत्पत्ति 347
त्रिदोषोत्पन्न पृथक्-पृथक् विकार 347
रोग परीक्षा का सूत्र 347
अथ हृद्रोगाधिकारः 348
वातज हृद्रोग चिकित्सा 348
वातज हृद्रोग नाशक योग 348
पित्तज हृद्रोग चिकित्सा 348
कफज हृद्रोग चिकित्सा 348
हृद्रोग में बस्ति प्रयोग 348
अथक्रिमिरोगाधिकारः 349
क्रिमि रोग लक्षण 349
कफ पुरीष रक्तज कृमियाँ 349
कृमिरोग चिकित्सा 349
कृमिरोग शमनार्थ शुद्धि विधान 349
कृमिघ्न स्वरस 349
विंडग चूर्ण 350
मूषिक कर्णादि योग 350
कृमि नाशक तैल 350
सुरसादि योग 350
कृमिघ्न योग 350
पीपलीमूल कल्क 351
रक्तज कृमिरोग चिकित्सा 351
कृमिरोग में अपथ्य 351
अजीर्ण रोगाधिकारः 351
आम, विदग्ध, विष्टब्धाजीर्ण लक्षण 351
अजीर्ण से अलसक विलंबिका
विशूचिका की उत्पत्ति 352
अलसक लक्षण 352

विलंबिका लक्षण	352
विशूचिका लक्षण	352
अजीर्ण चिकित्सा	352
अजीर्ण में लंघन	353
अजीर्ण नाशक योग	353
अजीर्ण ह्रद्रोगत्रय	353
कुलत्थ क्वाथ	353
विशुचिका चिकित्सा	353
त्रिकटुकाद्यंजन	354
विशूचिका में दहन व अन्य चिकित्सा	354
अजीर्ण का असाध्य लक्षण	354
मूत्र व योनि रोग वर्णन प्रतिज्ञा	354
मूत्रघाताधिकारः	355
वातकुंडलिका लक्षण	355
मुत्राष्ठिलिका लक्षण	355
वातबस्ति लक्षण	355
मूत्रातीत लक्षण	355
मूत्रजठर लक्षण	356
मूत्रोत्संग लक्षण	356
मूत्रक्षय लक्षण	356
मूत्राश्मरि लक्षण	356
मूत्रशुक्र लक्षण	356
उष्णवात लक्षण	357
पित्तज मूत्रोपसाद लक्षण	357
कफज मूत्रोपसाद लक्षण	357
मूत्ररोग निदान का उपसंहार	357
अथ मूत्ररोगचिकित्सा	357
कपिकच्छ्रवादि चूर्ण	358
मूत्रामयघ्नघृत	358
अथ मूत्रकृच्छ्राधिकारः	358
आठ प्रकार का मूत्रकृच्छ्र	359
अष्टविध मूत्र कृच्छ्रों के पृथक् लक्षण	359
मूत्रकृच्छ्र चिकित्सा	360
मूत्रकृच्छ्र नाशक योग	360
मधुकादि कल्क	360
दाडिमादि चूर्ण	360
कपोतकादि योग	360
तुरगादि स्वरस	361
मधुकादि योग	361
क्षारोदक	361
त्रुटयादि योग	362
अथ योनिरोगाधिकारः	362
योनिरोग चिकित्सा	362
वातज योनिरोग	362
पित्तज योनिरोग	362
कफज योनिरोग	363
सन्निपातज योनिरोग	363
सर्वज योनिरोग चिकित्सा	364
वातला योनि चिकित्सा	364
अन्य वातज योनिरोग चिकित्सा	364
पित्तज योनिरोग चिकित्सा	364
कफज योनिरोग नाशक प्रयोग	364
कफज योनिरोग चिकित्सा	365
कर्णिनी चिकित्सा	365
प्रस्रंसिनी योनि रोग चिकित्सा	365
योनि रोग चिकित्सा उपसंहार	365
अथ गुल्मरोगाधिकारः	366
गुल्म निदान	366
गुल्म चिकित्सा	366
गुल्म में भोजन भक्षणादि	366
गुल्मनाशक प्रयोग	367
गुल्मघ्न योगांतर	367
विशिष्ट प्रयोग	367
गुल्म में अपथ्य	367
पांडुरोगाधिकारः	367
पांडुरोग निदान	367
वातज पांडुरोग लक्षण	368
पित्तज पांडुरोग लक्षण	368

कामला निदान 368
पांडुरोग चिकित्सा 368
पांडुरोगघ्न योग 369
कामला की चिकित्सा 369
पांडुरोग का उपसंहार 369
मूर्च्छोन्मादापस्माराधिकारः 370
मूर्च्छा निदान 370
मूर्च्छा चिकित्सा 370
उन्माद निदान 371
वातिक उन्माद के लक्षण 371
पैत्तिकोन्माद के लक्षण 371
श्लैष्मिकोन्माद 371
सन्निपातज, शोकजोन्माद लक्षण 372
उन्माद चिकित्सा 372
नस्य व त्रासन 372
उन्माद नाशक अन्य विधि 372
उन्माद में पथ्य 373
अपस्मार निदान 373
अपस्मार की उत्पत्ति में भ्रम 373
रोगों की विलंबाविलंब उत्पत्ति 374
अपस्मार चिकित्सा 374
नस्यांजन आदि 374
भाङ्र्याद्यरिष्ट 375
अंतिम कथन 375

अथाष्टादशः परिच्छेदः

मंगलाचरण 376
राजयक्ष्माधिकारः 376
राजयक्ष्म वर्णन प्रतिज्ञा 376
शोषराज की सार्थकता 376
क्षय के नामांतरों की सार्थकता 377
शोषरोगों की भेदाभेद विवक्षा 377
राजयक्ष्मा कारण 377
पूर्व रूप अस्तित्व 377
क्षय का पूर्व रूप 378
वात आदि के भेद से राजयक्ष्मा का लक्षण 378
राजयक्ष्मा का असाध्य लक्षण 379
राजयक्ष्मा की चिकित्सा 379
राजयक्ष्मा को भोजन 379
क्षयनाशकयोग 379
तिलादियोग 379
क्षयनाशकयोगांतर 380
क्षयनाशक घृत 380
क्षयरोगांतक घृत 380
महाक्षयरोगांतक 381
भल्लातकादि घृत 381
शबरादि घृत 382
क्षयरोग नाशक दधि 382
क्षयरोगी का अन्नपान 382
मसूरिका रोगाधिकारः 382
मसूरिका निदान 382
मसूरिका की आकृति 383
विस्फोट लक्षण 383
अरुंषिका 383
मसूरिका के पूर्व रूप 383
मसूरिका असाध्य लक्षण 384
जिह्वादि स्थान में मसूरिका की उत्पत्ति 384
मसूरिका में पित्त की प्रबलता और
वातिक लक्षण 384
पित्तज मसूरिका लक्षण 384
कफज रक्तज सन्निपातज मसूरिका लक्षण 385
मसूरिका के असाध्य लक्षण 385
मसूरिका चिकित्सा 385
पथ्य भोजन 385
तृष्णा चिकित्सा व शयन निधान 386
दाहनाशकोपचार 386
शर्करादि लेप 386
शैवलादि लेप व मसूरिका चिकित्सा 386
मसूरिका नाशक क्वाथ 386

पच्यमान मसूरिका में लेप	387
पच्चमान पक्व मसूरिका में लेप	387
व्रणावस्थापन्न मसूरिका चिकित्सा	387
शोषण क्रिया व क्रिमिजन्य मसूरिका चिकित्सा	387
वीजन व धूप	388
दुर्गंधित पिच्छिल मसूरिकोपचार	388
मसूरिकी को भोजन	388
संधिशोथ चिकित्सा	388
सवर्णकरणोपाय	389
उपसर्गज मसूरिका चिकित्सा	389
मसूरिका आदि रोगों का संक्रमण	389
उपसर्गज मसूरिका में मंत्र प्रयोग	390
भूतादि देवतायें मनुष्यों को कष्ट देने का कारण	390
ग्रहबाधा योग्य मनुष्य	390
बालग्रह के कारण	391
किन्नर ग्रह गृहित लक्षण	391
किन्नर ग्रहघ्न चिकित्सा	391
किन्नर ग्रहघ्न अभ्यंग स्नान	391
किन्नर ग्रहघ्न धूप	392
किन्नर ग्रहघ्न बलि व होम	392
किन्नर ग्रहघ्न माल्य धारण	392
किंपुरुष ग्रह गृहीत लक्षण	392
किंपुरुष ग्रहघ्न तैल व घृत	393
किंपुरुष ग्रहघ्न धूप	393
स्नान, बलि, धारण	393
गरुड़ ग्रह गृहीत लक्षण	393
गरुड़ ग्रहघ्न, स्नान, तैल, लेप	393
गरुड़ ग्रहघ्न घृत धूपनादि	394
गंधर्व (रेवती) ग्रह गृहीत लक्षण	394
रेवती ग्रहघ्न स्नान, अभ्यंग, घृत	394
रेवती ग्रहघ्न धूप	395
पूतना (भूत) ग्रह गृहीत लक्षण	395
पूतना ग्रहघ्न स्नान	395
पूतना ग्रहघ्न तैल व धूप	395
पूतना ग्रहघ्न बलि स्नान	395
पूतना ग्रहघ्न धूप	396
पूतनाघ्न धारण व बलि	396
अनुपूतना (यक्ष) ग्रह गृहीत लक्षण	396
अनुपूतनाघ्न स्नान	396
अनुपूतनाघ्न तैल व घृत	396
अनुपूतनाघ्न धूप व धारण	397
बलिदान	397
शीत पूतनाग्रह गृहीत लक्षण	397
शीत पूतनाघ्न स्नान व तैल	397
शीत पूतनाघ्न घृत	397
शीत पूतनाघ्न धूप व धारण	398
शीत पूतनाघ्न बलि स्नान का स्थान	398
पिशाच ग्रह गृहीत लक्षण	398
पिशाच ग्रहघ्न स्नानौषधि व तैल	398
पिशाच ग्रहघ्न धूप व घृत	398
पिशाच ग्रहघ्न धारण बलि व स्नान स्थान	399
राक्षस गृहीत लक्षण	399
राक्षस ग्रहघ्न स्नान, तैल, घृत	399
राक्षस ग्रहघ्न धारण व बलिदान	399
राक्षस ग्रह गृहीत का स्नान स्थान व मंत्र आदि	400
देवताओं द्वारा बालकों की रक्षा	400
ग्रहरोगाधिकारः	400
ग्रहोपसर्गादि नाशक अमोघ उपाय	400
मनुष्यों के साथ देवताओं के निवास	400
ग्रह पीड़ा के योग्य मनुष्य	401
देवता विशिष्ट मनुष्य की चेष्टा	401
देव पीड़ित का लक्षण	401
असुर पीड़ित का लक्षण	401
गंधर्व पीड़ित का लक्षण	401
यक्ष पीड़ित का लक्षण	402
भूत पितृ पीड़ित का लक्षण	402
राक्षस पीड़ित का लक्षण	402
पिशाच पीड़ित का लक्षण	402

नागग्रह पीड़ित का लक्षण 402
ग्रहों के संचार व उपद्रव देने का काल 403
शरीर में ग्रहों का प्रभुत्व 403
ग्रहामय चिकित्सा 403
ग्रहामय में मंत्र बलिदानादि 404
ग्रहामघ्नघृत तैल 404
ग्रहामयघ्न घृत, स्नान धूप, तैल 405
उपसंहार 405
अंतिम मंगल 405

अथैकोनविंशः परिच्छेदः

विषरोगाधिकारः 406
मंगलाचरण व प्रतिज्ञा 406
राजा के रक्षणार्थ वैद्य 406
वैद्य को पास रखने का फल 406
राजा के प्रति वैद्य का कर्तव्य 407
विष प्रयोक्ता की रक्षा 407
प्रतिज्ञा 407
विष युक्त भोजन की परीक्षा 408
परोसे हुए अन्न की परीक्षा व हाथ
मुखगत विषयुक्त अन्न का लक्षण 408
आमाशय पक्वाशय गत विषयुक्त
अन्न का लक्षण 408
द्रव पदार्थ गत विष लक्षण 409
मद्यतोयदधितक्र दुग्ध गत विशिष्ट विष लक्षण 409
द्रवगत व शाकादिगत विष लक्षण 409
दंतकाष्ठ, अवलेख, मुखवास
व लेपगत विष लक्षण 409
वस्त्र माल्यादि गत विष लक्षण 410
मुकुट पादुका गत विष लक्षण 410
वाहन नस्य धूपगत विष लक्षण 410
अंजनाभरणगत विष लक्षण 410
विष चिकित्सा 411
विषघ्न घृत 412
विषभेद लक्षण वर्णन प्रतिज्ञा 412
त्रिविध पदार्थ व पोषक लक्षण 412
विघात व अनुभय लक्षण 412
मद्यपान से अनर्थ 413
विष के तीन भेद 413
दश विध स्थावर विष 413
मूलपत्रफल पुष्प विष वर्णन 414
सार निर्यास त्वक् धातु विष वर्णन 414
मूलादि विष जन्य लक्षण 414
त्वक्सार निर्यसन विष जन्य लक्षण 414
धातुविष जन्य लक्षण 415
त्रयोदश विध कंदज विष व कालकूट लक्षण 415
कर्कट व कर्दमक विष जन्य लक्षण 415
सर्षपवत्सनाभ विषजन्य लक्षण 416
मूलकपुंडक विषजन्य लक्षण 416
महाविष सांभा विषजन्य लक्षण 416
पालक वैराट विषजन्य लक्षण 416
कंदजविष की विशेषता 417
विष के दशगुण 417
दशगुणों के कार्य 417
दूषी विषलक्षण 418
दूषी विष जन्य लक्षण 418
स्थावर विष के सप्तवेग 419
प्रथम वेग लक्षण 419
द्वितीय वेग लक्षण 419
तृतीय वेग लक्षण 419
चतुर्थ वेग लक्षण 419
पंचम व षष्ठ वेग लक्षण 419
सप्तम वेग लक्षण 420
विष चिकित्सा 420
प्रथम द्वितीय वेग चिकित्सा 420
तृतीय चतुर्थ वेग चिकित्सा 420
पंचम षष्ठ वेग चिकित्सा 420
सप्तम वेग चिकित्सा 420
गरहारी घृत 421

उग्र विषारी घृत 421
दूषी विषारी अगद 421
अथ जंगम विष वर्णन 422
जंगम विष के षोडश भेद 422
दृष्टि निश्वास दंष्ट्र विष 422
दंष्ट्र नख विष 422
मलमूत्र दंष्ट्र शुक्र लाल विष 422
स्पर्श मुखसंदंशवात गुदविष 423
अस्थी पित्त विष 423
शूकशव विष 423
जंगम विष में दशगुण 423
पाँच प्रकार के सर्प 423
सर्प विष चिकित्सा 424
सर्पदंश के कारण 424
त्रिविध दंश व स्वर्पित लक्षण 425
रचित (रदित) लक्षण 425
उद्विहित (निर्विष)लक्षण 425
सर्पांगाभिहत लक्षण 425
दर्वीकर सर्प लक्षण 426
मंडली सर्प लक्षण 426
राजीमंत सर्प लक्षण 426
सर्पज विषों से दोषों का प्रकोप 426
वैकरंज के विष से दोष प्रकोप
व दर्वीकर दष्ट लक्षण 426
मंडली राजीमंत दष्ट लक्षण 427
दर्वीकर विषज सप्त वेग का लक्षण 427
मंडली सर्प विषजन्य सप्तवेगों के लक्षण 427
राजीमंत सर्प विष जन्य सप्त वेगों का लक्षण 428
दंश में विष रहने का काल व सप्त वेग कारण 428
सर्पदष्ट चिकित्सा 429
सर्पविष में मंत्र की प्रधानता 429
विषापकर्षणार्थ रक्त मोक्षण 429
रक्तमोक्षण का फल 430
दर्वीकर सर्पों के सप्त वेगों में
पृथक्-पृथक् चिकित्सा 430
मंडली व राजीमंत सर्पों के
सप्तवेगों की पृथक्-पृथक् चिकित्सा 430
दिग्धविद्ध लक्षण 431
विष युक्त व्रण लक्षण 431
विष संयुक्त व्रण चिकित्सा 431
सर्प विषारि अगद 432
सर्व विषारी अगद 432
द्वितीय सर्व विषारी अगद 432
तृतीय सर्व विषारी अगद 433
संजीवन अगद 433
श्वेतादि अगद 433
मंडलि विष नाशक अगद 434
वाद्यादि से निर्विषीकरण 434
सर्प के काटे बिना विष की अप्रवृत्ति 435
विष गुण 435
विष पीत लक्षण 435
सर्पदष्ट के असाध्य लक्षण 436
हिंसकप्राणिजन्य विष का असाध्य लक्षण 437
मूषिका विष लक्षण 438
मूषिका विष चिकित्सा 438
मूषिका विषघ्न घृत 439
कीट विष वर्णन 439
कीट दष्ट लक्षण 439
कीट भक्षण जन्य विष चिकित्सा 440
क्षारागद 440
सर्वविष नाशक अगद 441
विष रहित का लक्षण व उपचार 441
विष में पथ्यापथ्य आहार-विहार 441
दु:साध्य विष चिकित्सा 442
अन्तिम कथन 442

अथ विंश: परिच्छेद:

मंगलाचरण 443
सप्तधातुओं की उत्पत्ति 443

रोगों के कारण लक्षणाधिष्ठान 443
साठ प्रकार के उपक्रम व चतुर्विध कर्म 444
स्नेहनादि कर्मकृतमर्त्यौको पथ्यापथ्य 445
अग्नि वृद्धिकारक उपाय 446
अग्निवर्धनार्थ जलादि सेवा 446
भोजन के बारह भेद 446
शीत व उष्ण लक्षण 446
स्निग्ध, रूक्ष भोजन 447
द्रव, शुष्क, एक काल, द्विकाल भोजन 447
भैषजकर्मादि वर्णन प्रतिज्ञा 448
पंचदश औषध कर्म 448
दश औषध काल 448
निर्भक्त, प्राग्भक्त, उर्ध्वभक्त व मध्य भक्त लक्षण 448
अन्तर भक्त सभक्त लक्षण 449
सामुद्रमुहुर्मुहु लक्षण 449
ग्रास-ग्रासांतर लक्षण 449
स्नेहपाकादि वर्णन प्रतिज्ञा 450
क्वाथपाक विधि 450
स्नेहपाक विधि 450
स्नेहपाक का त्रिविध भेद 451
मृदचिक्कणखरचिक्कण पाक लक्षण 451
स्नेह आदिकों के सेवन का प्रमाण 451
रसों के त्रेसठ भेद 452
अयोगाति योग सुयोग लक्षण 453
रिष्ट वर्णन प्रतिज्ञा 453
रिष्ट के मरण का निर्णय 454
मरण सूचक स्वप्न 454
विशिष्ट रोगों में विशिष्ट व निष्फल स्वप्न 455
दुष्ट स्वप्न के फल 455
शुभ स्वप्न 456
अन्य प्रकार के अरिष्ट लक्षण 456
अन्यरिष्ट 457
रिष्ट लक्षण का उपसंहार और मर्म वर्णन प्रतिज्ञा 458
शाखा गत मर्म वर्णन 458
क्षिप्र व तल हृदय मर्म 458
कूर्चकूर्च शिर गुल्फा मर्म 458
इंद्रबस्तिजानु मर्म 459
आणि व उर्वी मर्म 459
रोहिताक्ष मर्म 459
विटप मर्म 459
गुदबस्ति नाभि मर्म वर्णन 460
हृदय, स्तनमूल, स्नरोहित मर्म लक्षण 460
कपाल,अपस्तम्भ मर्म लक्षण 460
कटिक तरुण 461
कुकुंदर, नितंब, पार्श्व संधि मर्म वर्णन 461
बृहती, असंफलक मर्म लक्षण 462
क्रकन्या अंसमर्म लक्षण 462
उर्ध्वजत्रु गत मर्म वर्णन 462
कृकाटिका विधुर मर्म लक्षण 463
फण अपांग मर्म लक्षण 463
शंख,आवर्त, उत्क्षेपक, स्थपनी सीमंत मर्म लक्षण463
शृंगाटक अधिमर्म लक्षण 464
संपूर्ण मर्मों के पाँच भेद 464
सद्य प्राण हर व कालांतर प्राणहर मर्म 465
विशल्यघ्न वैकल्यकर व रुजाकर मर्म 466
मर्म की संख्या 466
मर्म वर्णन का उपसंहार 467
उग्रादित्याचार्य का गुरु परिचय 467
अष्टांगों के प्रतिपादक
पृथक्-पृथक् आचार्य के शुभ नाम 468
अष्टांग के प्रतिपादक स्वामी समंतभद्र 468
ग्रंथ निर्माण का स्थान 468
ग्रंथकर्ता का उद्देश्य 469
मुनियों को आयुर्वेद शास्त्र की आवश्यकता 469
आरोग्य की आवश्यकता 469
शुभकामना 470
अंतिम कथन 470

अथैकविंशः परिच्छेदः

उत्तरतंत्र 472
मंगलाचरण 472
लघुता प्रदर्शन 472
शास्त्र की परम्परा 472
चतुर्विध कर्म 473
चतुर्विध कर्मजन्य आपत्ति 474
प्रतिज्ञा 474
अथक्षाराधिकारः 475
क्षार का प्रधानत्व व निरुक्ति 475
क्षार का भेद 475
क्षार का सम्यग्दग्ध लक्षण व पश्चात् क्रिया 475
क्षार गुण व क्षार वर्ज्यरोगी 476
क्षार का श्रेष्ठत्व, प्रतिसारणीय व
पाणीय क्षार प्रयोग 476
अथाग्नि कर्म वर्णन 477
क्षारकर्म से अग्निकर्म का श्रेष्ठत्व,
अग्निकर्म से वर्ज्य स्थान व दहनोपकरण 477
अग्नि कर्म वर्ज्य काल व उनका भेद 478
त्वग्दग्ध, मांस दग्ध लक्षण 478
दहन योग्य स्थान, दहन साध्य रोग
व दहन पश्चात् कर्म 479
अग्निकर्म के अयोग्य मनुष्य 479
अन्यथा दग्ध का चतुर्भेद 480
स्पृष्ट, सम्यग्दग्ध, दुर्दग्ध, अतिदग्ध का लक्षण 480
दग्धव्रण चिकित्सा 480
सम्यग्दग्ध चिकित्सा 481
दुर्दग्ध चिकित्सा 481
अतिदग्ध चिकित्सा 481
रोपण क्रिया 482
सवर्ण करण विधान 482
अनुशस्त्र वर्ण 482
रक्तस्राव के उपाय 483
जलौकस शब्द निरुक्ति व उसके भेद 483
सविष जलौकों के लक्षण 484
कृष्णा कर्बुर लक्षण 484
अलगर्दा, इंद्रायुधा, सामुद्रिका लक्षण 484
गोचंदना लक्षण व सविष जूलूकादष्ट लक्षण 484
सविषजलौकादष्ट चिकित्सा 485
निर्विष जलौकों के लक्षण 485
कपिला लक्षण 485
पिंगला मुषिका शंख मुखी लक्षण 485
पुण्डरीक मुखीसावरी का लक्षण 486
जौकों के रहने का स्थान 486
जौंक पालन विधि 486
जलौक प्रयोग 487
रक्त चूसने के बाद करने की क्रिया 487
शुद्ध रक्ता हरण में प्रतिक्रिया 488
शोणित स्तंभन विधि 488
शोणित स्तंभनापर विधि 488
अयोग्य जलायु का लक्षण 489
शस्त्र कर्म वर्णन 489
अष्टविध शस्त्र कर्मों में आने वाले शस्त्र विभाग 489
शल्याहरण विधि 489
सीवन, संधान, उत्पीड़न, रोपण 490
शस्त्र कर्म विधि 490
अर्श विदारण 490
शिराव्य विधि 491
अधिक रक्त स्राव से हानि 491
रक्त की अति प्रवृत्ति होने पर उपाय 491
शुद्ध रक्त का लक्षण व अशुद्ध रक्त
के निकालने का फल 492
वातादि से दुष्ट व शुद्ध शोणित का लक्षण 492
शिराव्यध की अवस्था विशेष 493
शिराव्यध के अयोग्य व्यक्ति 493
अंतिम कथन 493

द्वाविंशः परिच्छेदः

मंगलाचरण व प्रतिज्ञा 495

स्नेहादि कर्म यथावत् होने से रोगों की उत्पत्ति	495
घृतपान का योग अयोगादि के फल	495
घृत के अजीर्ण जन्य रोग व उसकी चिकित्सा	496
जीर्ण घृत का लक्षण	496
घृत जीर्ण होने पर आहार	496
स्नेहपान विधि व मर्यादा	496
वातादि दोषों में घृतपान विधि	496
अच्छपान के योग्य रोगी व गुण	497
घृतपान की मात्रा	497
सभक्त घृत पान	497
सद्य स्नेहन प्रयोग	497
स्नेहन योग्य रोगी	498
रूक्ष मनुष्य का लक्षण	498
सम्यग्स्निग्ध के लक्षण	498
अति स्निग्ध के लक्षण	499
अति स्निग्ध की चिकित्सा	499
घृत (स्नेह) पान में पथ्य	499
स्वेद विधि वर्णन प्रतिज्ञा	499
स्वेद का योग व अतियोग का फल	500
स्वेद का भेद व ताप, उष्मस्वेद लक्षण	500
बन्धन, द्रव, स्वेद लक्षण	500
चतुर्विध स्वेद का उपयोग	500
स्वेद का गुण व सुस्वेद का लक्षण	501
स्वेद गुण	501
स्वेद के अतियोग का लक्षण	501
स्वेद का गुण	501
वमन विरेचन विधि वर्णन प्रतिज्ञा	502
दोषों के बृंहण आदि चिकित्सा	502
संशोधन में वमन व विरेचन की प्रधानता	502
वमन में भोजन विधि	502
संभोजनीय अथवा वाम्यरोगी	503
वमन का काल व औषध	503
वमन विरेचन के औषध का स्वरूप	503
बालकादिक के लिए वमन प्रयोग	503
वमन विधि	504
सम्यग्वमन के लक्षण	504
वमन पश्चात् कर्म	504
वमन का गुण	504
वमन के बाद विरेचन विधान	505
विरेचन के प्रथम दिन भोजनपान	505
विरेचक औषधदान विधि	505
विविध कोष्ठों में औषध योजना	506
सम्यग्विरिक्त के लक्षण व पेयपान	506
यवागूपान की विधि	506
संशोधनभैषज के गुण	507
विरेचन के प्रकीर्ण विषय	507
दुर्बल आदिकों के विरेचन विधान	508
अतिस्निग्ध को स्निग्ध रेचन का निषेध	508
संशोधन सम्बन्धी ज्ञातव्य बातें	508
संशोधन में पंद्रह प्रकार की व्यापत्ति	509
विरेचन का ऊर्ध्वगमन व उसकी चिकित्सा	509
वमन का अधोगमन व उसकी चिकित्सा	510
आमदोष से अर्धपीत औषध पर योजना	510
विषम औषध प्रतिकार	511
सावशेषऔषध व जीर्ण औषध का लक्षण व उसकी चिकित्सा	511
अल्पदोषहरण, वातशूल का लक्षण उसकी चिकित्सा	511
अयोग का लक्षण व उसकी चिकित्सा	512
दुर्विरेच्य मनुष्य	513
अतियोग का लक्षण व उसकी चिकित्सा	514
जीव शोणित लक्षण	615
जीवदान, आध्मान, परिकर्तिका लक्षण व उनकी चिकित्सा	517
परिस्राव लक्षण	518
परिस्राव व्यापत्ति चिकित्सा	518
प्रवाहिका लक्षण	518
प्रवाहिका हृदयोपसरण व	

विबन्ध की चिकित्सा	519
कुछ व्यापत्तियों का नामांतर	520
बस्ति के गुण और दोष	521
बस्तिव्यापच्चिकित्सावर्णन प्रतिज्ञा	521
बस्ति प्रणिधान में चलितादि व्यापच्चिकित्सा	521
ऊर्ध्वोक्षिप्त व्यापच्चिकित्सा	521
अवसन्नव्यापच्चिकित्सा	522
नेत्रदोषज व्यापत्ति व उसकी चिकित्सा	522
बस्तिदोषज व्यापत्ति व उसकी चिकित्सा	523
पीडनदोषजन्यव्यापत्ति व उसकी चिकित्सा	523
औषधदोषज व्यापत्ति और उसकी चिकित्सा	524
शय्यादोषजन्य व्यापत्ति व उसकी चिकित्सा	524
अयोगादि वर्णन प्रतिज्ञा	525
अयोग, आध्मान लक्षण व चिकित्सा	525
परिकर्तिका लक्षण व चिकित्सा	526
पारिस्राव का लक्षण	526
प्रवाहिका लक्षण	526
इन दोनों की चिकित्सा	526
हृदयोपसरण लक्षण	527
हृदयोपसरण चिकित्सा	527
अंगग्रह अतियोग लक्षण व चिकित्सा	527
जीवादान व उसकी चिकित्सा	528
बस्तिव्यापद्वर्णन का उपसंहार	528
अनुबस्ति विधि	528
अनुवासन बस्ति की मात्रा व खाली पेट में बस्ति का निषेध	528
स्निग्धाहारि को अनुवासन बस्ति का निषेध	529
भोजन विधि	529
अशुद्ध शरीर को अनुवासन का निषेध	529
अनुवासन की संख्या	529
रात्रि-दिन बस्ति का प्रयोग	530
अनुवासन बस्ति की विधि	530
बस्ति के गुण	531
तीन सौ चौबीस बस्ती के गुण	531
सम्यगनुवासित के लक्षण व स्नेह बस्ति के उपद्रव	532
वातादिदोषों से अभिभूत स्नेह के उपद्रव	532
अन्नाभिभूत स्नेह के उपद्रव	532
अशुद्ध कोष्ठ के मल मिश्रित स्नेहके उपद्रव	533
ऊर्ध्वगत स्नेह के उपद्रव	533
असंस्कृतशरीरी को प्रयुक्त स्नेह का उपद्रव	533
अल्पाहारी को प्रयुक्त स्नेह का उपद्रव	534
स्नेह का शीघ्र आना और न आना	534
स्नेहबस्ति का उपसंहार	534
निरूह बस्ति प्रयोग विधि	535
सुनिरूढ लक्षण	535
सम्यगनुवासन व निरूह के लक्षण	535
वातघ्न निरूह बस्ति	536
पित्तघ्न निरूह बस्ति	536
कफघ्न निरूह बस्ति	536
शोधन बस्ति	536
लेखन बस्ति	537
बृहंण बस्ति	537
शमन बस्ति	537
बाजीकरण बस्ति	537
पिच्छिल बस्ति	537
संग्रहण बस्ति	538
वंध्यात्व नाशक बस्ति	538
गुडतैलिक बस्ति	538
गुडतैलिक बस्ति में विशेषता	538
युक्तरथ बस्ति	539
शूलघ्न बस्ति	539
सिद्ध बस्ति	539
गुडतैलिक बस्ति के उपसंहार	540
अथ त्रयोविंशः परिच्छेदः	
मंगलाचरण व प्रतिज्ञा	541
नेत्रबस्ति का स्वरूप	541

उत्तरबस्ति के द्रव का प्रमाण	542
उत्तरबस्ति प्रयोग के पश्चात् क्रिया	542
बस्ति का प्रमाण	542
वातादिदोष दूषित रजो वीर्य के (रोग)लक्षण	542
साध्यासाध्य विचार और वातादि	
दोषजन्य वीर्य रोग की चिकित्सा	543
रजोवीर्य के विकार में उत्तर बस्तिका	
प्रधानत्व व कुणपंगधिवीर्य चिकित्सा	543
ग्रंथिभूत व पूयभिवीर्य चिकित्सा	543
विड्गंधि व क्षीण शुक्र की चिकित्सा	544
शुद्ध व आर्तव विकार की चिकित्सा	544
पित्तादि दोषजन्यार्तवरोग चिकित्सा	544
शुद्धशुक्र का लक्षण	544
शुद्धार्तवका लक्षण	545
स्त्री-पुरुष नपुंसक की उत्पत्ति	545
गर्भादान विधि	545
ऋतुकाल व सद्यो गृहित गर्भ लक्षण	545
गर्भिणी चर्या	546
निकटप्रसवा के लक्षण और प्रसव विधि	547
जन्मोत्तर विधि	547
अनंतर विधि	547
अपरापतन के उपाय	548
सूतिकोपचार	548
मार्कल (मक्कल) शूल और उसकी चिकित्सा	548
उत्तर बस्ति का विशेष गुण	548
धूम, कवलग्रह, नस्य विधि वर्णन	
प्रतिज्ञा और धूमभेद	549
स्नेहन धूम लक्षण	549
प्रायोगिक, वैरेचनिक, कासघ्न धूमलक्षण	549
धूमपान की नली की लंबाई	549
धूमनलि के छिद्र प्रमाण व धूम पानविधि	550
धूमनिर्गमन विधि	550
धूमपान के अयोग्य मनुष्य	550
धूमसेवन का काल	551
धूमसेवन का गुण	551
योगायोगाति योग	551
धूम के अतियोग जन्य उपद्रव	552
धूमपान के काल	552
गंडूष व कवलग्रह वर्णन	552
गंडूष धारण विधि	552
गंडूष धारण का काल	552
गंडूष धारण की विशेष विधि	553
गंडूष के द्रव का प्रमाण और कवल विधि	553
नस्य वर्णन प्रतिज्ञा व नस्य के दो भेद	553
स्नेहननस्य का उपयोग	554
विरेचननस्य का उपयोग व काल	554
स्नेहन नस्य की विधि व मात्रा	554
प्रतिमर्शनस्य	555
प्रतिमर्श नस्य के नौ काल व उसके फल	555
प्रतिमर्श का प्रमाण	556
प्रतिमर्शनस्य का गुण	556
शिरो विरेचन (विरेचननस्य) का वर्णन	556
शिरो विरेचन द्रव की मात्रा	557
मात्रा के विषय में विशेष कथन	557
शिरो विरेचन के सम्यग्योग का लक्षण	557
प्रधमन नस्य का यंत्र	558
योगाति योगादि विचार	558
व्रणशोथ वर्णन	558
व्रणशोथ का स्वरूप भेद	558
शोथों के लक्षण	559
शोथों की आमावस्था के लक्षण	559
विदग्ध शोथ लक्षण	560
पक्वशोथ लक्षण	560
कफजन्यशोथ के विशिष्टपक्वलक्षण	560
शोथोपशमन विधि	561
बन्धन विधि	561
अज्ञवैद्य निन्दा	561
पलितनाशकलेप	562

केशकृष्णीकरण परलेप 563
केशकृष्णीकरण तृतीयविधि 563
केशकृष्णीकरण करणतैल 563
केशकृष्णीकरण हरितक्यादि लेप 564
केश कृष्णीकरण श्यामादि तैल 564
महा अक्ष तैल 566
वयस्तंभक नस्य 567
उपसंहार 568
अंतिम कथन 568

अथ चतुर्विंशः परिच्छेदः

मंगलाचरण 569
रस वर्णन प्रतिज्ञा 569
रस के त्रिविध संस्कार 569
त्रिविध संस्कार के भिन्न भिन्न फल 569
मूर्च्छन व मारण 570
मृतरस सेवन विधि 570
बद्धरस का गुण 570
रसबन्धन विधि 571
रसशाला निर्माणविधि 571
रस संस्कार विधि 573
रस प्रयोग विधि 575
रस प्रयोग फल 575
रस बृंहण विधि 575
सारणा फल 576
रस संस्कार फल 577
सिद्ध रस माहात्म्य 577
पारद स्तंभन 578
रस संक्रमण 578
पारद प्रयोजन 578
सिद्ध रस माहात्म्य 578
सिद्धघृतामृत 579
रसग्रहण विधि 579
दीपनयोग 580
रससंक्रमणौषध 580
अंतिम कथन 581

अथ पंचविंशतितमः परिच्छेदः

मंगलाचरण 582
प्रतिज्ञा 582
हरितकी प्रशंसा 582
हरितकी उपयोगभेद 582
हरितक्यामलक भेद 583
त्रिफला गुण 583
त्रिफला प्रशंसा 583
शिलाजतु योग 584
शिलोद्भव कल्प 584
शिलाजतु कल्प 584
क्षय नाशक कल्प 584
बलवर्धक पायस 585
शिलावल्कलांजन कल्प 585
कृशकर व वर्धन कल्प 585
शिलाजतु कल्प 585
शिलजीत की उत्पत्ति 586
शिलाजतु योग 586
कृष्णशिलाजतु कल्प 586
वाभ्येषा कल्प 587
पाषाण भेद कल्प 587
भल्लात पाषाण कल्प 588
भल्लात पाषाण कल्प के विशेष गुण 589
द्वितीय पाषाण भल्लात कल्प 589
खर्परी कल्प 589
खर्परी कल्प के विशेष गुण 590
वज्रकल्प 590
वज्रकल्प के विशेष गुण 591
मृत्तिका कल्प 591
गोशृंग्यादि कल्प 591
एरण्डादि कल्प 592
नाग्यादि कल्प 592
क्षारकल्प 592

क्षारकल्प विधान	593
चित्रक कल्प	594
त्रिफलादि कल्प	594
कल्प का उपसंहार	595
ग्रंथ कर्ता की प्रशस्ति	596
अंतिम कथन	598
अथपरिष्टरिष्टाध्यायः	
मंगलाचरण व प्रतिज्ञा	599
रिष्टवर्णनोद्देश	599
वृद्धों के यदा मरणभय	599
मृत्यु को व्यक्त करने का निषेध	600
मृत्यु को व्यक्त करने का विधान	600
रिष्टलक्षण	600
द्विवार्षिकमरण लक्षण	600
वार्षिकमृत्यु लक्षण	601
एकादशमासिक मरण लक्षण	601
दशमासिक मरण लक्षण	601
नवमासिक मरण लक्षण	601
अष्टमासिक मरण लक्षण	601
सप्तमासिक मरण लक्षण	602
षाण्मासिक मरण लक्षण	602
पंचमासिक मरण लक्षण	602
चतुर्थमासिक मरण लक्षण	602
त्रैमासिकमरणलक्षण	602
द्विमासिकमरण चिह्न	603
मासिकमरण चिह्न	603
पाक्षिकमरण चिह्न	603
द्वादशरात्रिक मरण चिह्न	603
सप्तरात्रिक मरण चिह्न	603
त्रैरात्रिक मरण चिह्न	604
द्विरात्रिक मरण चिह्न	604
एकरात्रिक मरण चिह्न	604
त्रैवार्षिकादिमरण चिह्न	604
नवान्हिकादिमरण चिह्न	605
मरण का विशेष लक्षण	605
रिष्ट प्रकट होने पर मुमुक्षु आत्म का कर्तव्य	605
रिष्ट वर्णन का उपसंहार	606
अंतिम कथन	607
अथहिताहिताध्यायः	608
वनौषधिशब्दादर्श (कोष)	639

श्री उग्रादित्याचार्यकृतं

कल्याणकारकम्

हिन्दीभाषानुवादसहितम्

मंगलाचरण व आयुर्वेदोत्पत्ति

श्रीमन्सुरासुरनरेन्द्रकिरीटकोटि - माणिक्यरश्मिनिकरार्चितपादपीठः।

तीर्थाधिपो जितरिपुर्वृषभो बभूव साक्षादकारणजगत्त्रितयैकबंधुः॥ 1॥

भावार्थ : जिनका पादपीठ ऐश्वर्य सम्पन्न देवेन्द्र, भवनवासी, व्यन्तर व ज्योतिषेन्द्र एवं चक्रवर्ती के किरीट में लगे हुए पद्मराग रत्नों की कांति से पूजित हैं, जिन्होंने इस भरतखण्ड में सबसे पहले मोक्षमार्ग का उपदेश दिया है व ज्ञानावरणादि कर्मरूपी शत्रुओं को जीत लिया है, ऐसे तीन लोक के प्राणियों के साक्षात् अकारण बंधु श्री ऋषभनाथ स्वामी सबसे पहले तीर्थङ्कर हुए।

भगवान् आदिनाथ से प्रार्थना

तं तीर्थनामधिगम्य विनम्य मूर्ध्ना सत्प्रातिहार्यविभवादिपरीतमूर्तिम्।

सप्रश्रयं त्रिकरणोरुकृतप्रणामाः पप्रच्छुरित्थमखिलं भरतेश्वराद्याः॥ 2॥

भावार्थ : अशोकवृक्ष, सुरपुष्पवृष्टि, दिव्यध्वनि, छत्र, चँवर, रत्नमय सिंहासन, भामण्डल व देवदुन्दुभि रूप अष्ट महाप्रातिहार्य व बारह प्रकार की सभाओं से वेष्टित श्री ऋषभनाथ तीर्थङ्कर के समवसरण में भरतचक्रवर्ती आदि ने पहुँच कर विनय के साथ त्रिकरण शुद्धि से त्रिलोकीनाथ को नमस्कार किया एवं निम्न प्रकार से पूछने लगे।

प्राग्भोगभूमिषु जना जनितातिरागाः कल्पद्रुमार्पितसमस्तमहोपभोगा;

दिव्यं सुखं समनुभूय मनुष्यभावे स्वर्गं ययुःपुनरपीष्टसुखं सुपुण्याः॥ 3॥

भावार्थ : प्रभो! भोगभूमि में पहले, दूसरे, तीसरे काल में जब यहाँ भोगभूमि की दशा थी, लोग परस्पर एक दूसरे को अत्यन्त स्नेह की दृष्टि से देखते थे एवं उन्हें कल्पवृक्षों से अनेक प्रकार के इच्छित सुख मिलते थे। मनुष्यभव में जन्म भर उत्कृष्ट से उत्कृष्ट सुख भोगकर वे पुण्यात्मा भोगभूमिज जीव इष्ट सुख प्रदायक स्वर्ग को प्राप्त होते थे।

अत्रोपपादचरमोत्तमदेहिवर्गाः पुण्याधिकास्त्वनपवर्त्यमहायुषस्ते।

अन्येऽपवर्त्यपरमायुष एव लोके तेषां महद्भयमभूदिह दोषकोपात्॥ 4॥

भावार्थ : इस क्षेत्र को भोगभूमि का रूप पलटकर कर्मभूमि का रूप मिला। फिर भी उपपादशय्या में उत्पन्न होने वाले देवगण, चरम व उत्तम शरीर को प्राप्त करने वाले पुण्यात्मा, अपने पुण्य प्रभाव से विष, शस्त्रादिक से अपघात नहीं होने वाले दीर्घायुषी शरीर को ही प्राप्त करते हैं। परन्तु यहाँ वर्तमान में विष, शस्त्रादिक से घात होने योग्य शरीर को धारण करने वाले भी बहुत से मनुष्य उत्पन्न होने लगे हैं। उनको वात, पित्त व कफ के उद्रेक से महाभय उत्पन्न होने लगा है।

देव! त्वमेव शरणं शरणागताना - मस्माकमाकुलधियामिह कर्मभूमौ

शीतातितापहिमवृष्टिनिपीडितानां कालक्रमात्कदशनाशनतत्पराणाम्॥ 5॥

भावार्थ : स्वामिन्! इस कर्मभूमि की हालत में हम लोग ठण्डी, गर्मी व बरसात आदि से पीड़ित होकर दुःखी हुए हैं एवं कालक्रम से हम लोग मिथ्या आहार-विहार का सेवन करने लगे हैं। इसलिए देव! आप ही शरणागतों के रक्षक हैं।

नानाविधामयभयादतिदुःखिताना - माहारभेषजनिरुक्तिमजानतां नः।

तत्स्वास्थ्यरक्षण-विधानमिहातुराणां का वा क्रिया कथयतामथ लोकनाथ!॥ 6॥

भावार्थ : त्रिलोकीनाथ! इस प्रकार आहार, औषधि आदि के क्रम को नहीं जानने वाले व अनेक प्रकार के रोगों के भय से पीड़ित हम लोगों के रोग को दूर करने और स्वास्थ्य रक्षण करने का उपाय क्या है ? कृपया आप बतलावें।

भगवान् की दिव्यध्वनि

विज्ञाप्य देवमिति विश्वजगद्धितार्थं तूष्णीं स्थिता गणधरप्रमुखाः प्रधानाः।

तस्मिन्महासदसि दिव्यनिनादयुक्ता वाणी ससार सरसा वरदेवदेवी॥ 7॥

भावार्थ : इस प्रकार भगवान् आदिनाथ स्वामी से, जगत् के हित के लिए वृषभसेन गणधर, भरतचक्रवर्ती आदि प्रधान पुरुष निवेदन कर अपने स्थान में स्वस्थ रूप से बैठ गए। तब उस समवसरण में भगवंत की साक्षात् पट्टरानी के रूप में रहने वाली सार सहित सरस शारदादेवी दिव्यध्वनि के रूप में बाहर निकली।

वस्तु चतुष्टय निरूपण

तत्रादितः पुरुषलक्षणमामयानामप्यौषधान्यखिलकालविशेषणं च।

संक्षेपतः सकलवस्तुचतुष्टयं सा सर्वज्ञसूचकमिदं कथयांचकार॥ 8॥

भावार्थ : वह सरस्वती देवी (दिव्यध्वनि) सबसे पहले पुरुष, लक्षण, रोग, औषध और काल

इस प्रकार समस्त आयुर्वेद शास्त्र को चार भेद से विभक्त करती हुई, इन वस्तु चतुष्टयों के लक्षण, भेद, प्रभेद आदि सम्पूर्ण विषयों को, संक्षेप से वर्णन करने लगी जो कि भगवान् के सर्वज्ञत्व को सूचित करता है।

आयुर्वेद शास्त्र का परम्परागमन क्रम

दिव्यध्वनिप्रकटितं परमार्थजातं साक्षात्तथा गणधरोऽधिजगे समस्तम्।
पश्चात् गणाधिपनिरुपितवाक्प्रपंच-मष्टार्धनिर्मलधियो मुनयोऽधिजग्मुः ॥ 9 ॥

भावार्थ : इस प्रकार भगवान् की दिव्यध्वनि द्वारा प्रकटित (आयुर्वेद सम्बन्धी) समस्त तत्त्वों को (चार प्रकार के) साक्षात् गणधर परमेष्ठी ने जान लिया। तदनन्तर गणधरों के द्वारा निरूपित वस्तु स्वरूप को निर्मल मति, श्रुत, अवधि व मनःपर्ययज्ञान को धारण करने वाले योगियों ने जान लिया।

एवं जिनांतरनिबंधनसिद्धमार्गा - दायातमायतमनाकुलमर्थगाढम्।
स्वायंभुवं सकलमेव सनातनं तत्-साक्षाच्छ्रुतं श्रुतदलैःश्रुतकेवलिभ्यः ॥ 10 ॥

भावार्थ : इस प्रकार यह सम्पूर्ण आयुर्वेद शास्त्र ऋषभनाथ तीर्थङ्कर के बाद, अजित आदि महावीर तीर्थङ्कर पर्यंत चला आया है, (अर्थात् चौबीसों तीर्थङ्करों ने इसका प्रतिपादन किया है) अत्यन्त विस्तृत है, दोष रहित है एवं गम्भीर वस्तुविवेचन से युक्त है। तीर्थङ्करों के मुखकमल से अपने आप उत्पन्न होने से स्वयम्भू है। बीजांकुर न्याय से (पूर्वोक्त क्रम से) अनादिकाल से चले आने से सनातन है और गोवर्धन, भद्रबाहु आदि श्रुत केवलियों के मुख से, अल्पांगज्ञानी या अंगांगज्ञानी मुनियों द्वारा साक्षात् सुना हुआ है। तात्पर्य-श्रुतकेवलियों ने, अन्य मुनियों को इस शास्त्र का उपदेश दिया है।

ग्रन्थकार की प्रतिज्ञा

प्रोद्याज्जिनप्रवचनामृतसागरान्तः- प्रोद्यत्तरंगनिसृताल्पसुशीकरं वा।
वक्ष्यामहे सकललोकहितैकधाम कल्याणकारकमिति प्रथितार्थयुक्तम्॥ 11 ॥

भावार्थ : उमड़ते हुए जिनप्रवचन रूपी अमृत समुद्र के बीच में उठा हुआ जो तरंग है, उससे निकली बूँदों के समान जो है, ऐसे समस्त प्राणियों के हित उत्पादन करने के लिए अद्वितीय स्थान ऐसे अन्वर्थनाम से युक्त कल्याणकारक नामक ग्रन्थ को हम कहेंगे, इस प्रकार आचार्य प्रतिज्ञा करते हैं।

---

1. तात्पर्य यह कि यह आयुर्वेदशास्त्र त्रिलोक हित तीर्थङ्करों के द्वारा प्रतिपादित है (इसलिए यह जिनागम है) उनसे, गणधर, प्रतिगणधरों ने, इनसे श्रुतकेवली, इनसे भी बाद में होने वाले अन्य मुनियों ने यथाक्रम से इसको जान लिया है। इस प्रकार परम्परागत शास्त्रों के आधार से अथवा उनका सारस्वरूप, इस कल्याणकारक नामक ग्रन्थ को उग्रादित्याचार्य प्रतिपादन करेंगे।

ग्रन्थ रचना का उद्देश्य

नैवातिवाक्यपटुतया न च काव्यदर्पा - न्नैवान्यशास्त्रमदभंजनहेतुना वा।
किंतु स्वकीयतप इत्यवधार्य वर्य-माचार्यमार्गमधिगम्य विधास्यते तत्॥ 12॥

भावार्थ : अपने वाक्चातुर्य को दिखाने के लिए या काव्य के अभिमान से या दूसरे विद्वानों की विद्वत्ता के मद को भंग करने के लिए मैं इसकी रचना नहीं कर रहा हूँ। परन्तु मैं ग्रन्थ रचना को एक अपना तप समझता हूँ। इसलिए पूर्वाचार्यों की सरणि को समझकर इसका निरूपण किया जायेगा।

स्वाध्यायमाहुरपरे तपसां हि मूलं मन्ये च वैद्यवरवत्सलताप्रधानम्।
तस्मात्तपश्चरणमेव मया प्रयत्ना-दारभ्यते स्वपरसौख्यविधायि सम्यक्॥ 13॥

भावार्थ : महर्षिगण स्वाध्याय को तपश्चरण का मूल कहते हैं। वैद्यों के प्रति, वात्सल्य भाव से ग्रन्थ रचना करना, इसको भी मैं प्रधान तपश्चरण मानता हूँ। इसलिए समझना चाहिए कि मेरे द्वारा यह स्वपर कल्याणकारी तपश्चरण ही यत्न पूर्वक प्रारम्भ किया जाता है।

दुर्जन निन्दा

अत्रापि संति बहवः कुटिलस्वभावा दुर्दृष्टयो द्विरसनाः कुमतिप्रयुक्ताः।
छिद्राभिलाषनिरताः परबाधकाश्च घोरोरगैरुपमिताः पुरुषाधमास्ते॥ 14॥

भावार्थ : लोक में सर्प महाभयंकर होते हैं, उनकी गति कुटिल हुआ करती है, उनकी दृष्टि से ही मनुष्य को अपाय होता है, उन्हें दो जिह्वा होती है, सदा कुबुद्धि रहती है, सदा बिल में घुसने की अभिलाषा में रहते हैं एवं दूसरों को बाधा पहुँचाते हैं, इसी प्रकार लोक में जो नीच मनुष्य हैं, वे भी भयंकर हुआ करते हैं, उनका स्वभाव कुटिल रहता है, वे मिथ्यादृष्टि होकर चुगलखोर भी हुआ करते हैं, सदा अज्ञान के वशीभूत रहते हैं, दूसरों के दोष को ढूँढते रहते हैं एवं दूसरों को अपने कृत्यों से बाधा पहुँचाते रहते हैं, इसलिए ऐसे नीच मनुष्य जहरीले सर्प के समान हैं।

केचित्पुनः स्वगृहमान्यगुणाः परेषां दुष्यंत्यशेषविदुषां न हि तत्र दोषः।
पापात्मनां प्रकृतिरेव परेष्वसूया - पैशुन्यवाक्परुषलक्षणलक्षितानाम्॥ 15॥

भावार्थ : कितने ही दुर्जन ऐसे रहते हैं कि जिनके गुण उनके घर के लोगों को ही पसंद रहते हैं। बाहर उनकी कोई कीमत नहीं करता है। परन्तु वे स्वतः समस्त विद्वानों को दोष देते रहते हैं। मात्सर्य करना, चुगलखोर होना, कठोर वचन बोलना आदि लक्षणों से युक्त पापियों का दूसरे सज्जनों के प्रति ईर्ष्याभाव रखकर उनकी निन्दा करना जन्मगत स्वभाव ही है। उससे विद्वानों का क्या बिगड़ता है?

केचिद्विचाररहिताः प्रथितप्रतापाः साक्षात्पिशाचसदृशाः प्रचरंति लोके।

तैः किं यथाप्रकृतमेव मया प्रयोज्यं मात्सर्यमार्यगुणवर्यमिति[1] प्रसिद्धम् ॥ 16 ॥

भावार्थ : कितने ही अविचारी व बलशाली दुर्जन, लोगों को अनेक प्रकार से कष्ट देते हुए पिशाचों के समान लोक में भ्रमण करते हैं। क्या उन लोगों का सामना कर उनसे मात्सर्य करना हमारा धर्म है? क्या मत्सर करना सज्जनों का उत्तम गुण है? कभी नहीं।

आचार्य का अंतरङ्ग

एवं विचार्य शिथिलीकृतमत्सरोऽहं शास्त्रं यथाधिकृतमेवमुदाहरिष्ये।

सर्वज्ञवक्त्रनिसृतं गणदेवलब्धं पश्चान्महामुनिपरंपरयावतीर्णम् ॥ 17 ॥

भावार्थ : इस प्रकार विचार करते हुए उन लोगों से मत्सर भाव को छोड़कर मेरी की हुई प्रतिज्ञा के अनुसार सर्वज्ञों के मुख से निर्गत व गणधरों के द्वारा धारित एवं तदनन्तर महायोगियों की परम्परा से इस भूतल पर अवतरित इस शास्त्र को कहूँगा।

वैद्य शब्द की व्युत्पत्ति

विद्येति सत्प्रकटकेवललोचनाख्या तस्यां यदेतदुपपन्नमुदारशास्त्रम्।

वैद्यं वदंति पदशास्त्रविशेषणज्ञा एतद्विचिन्त्य च पठंति च तेऽपि वैद्याः ॥ 18 ॥

भावार्थ : अच्छी तरह उत्पन्न केवलज्ञान रूपी नेत्र को विद्या कहते हैं। उस विद्या से उत्पन्न उदारशास्त्र को वैद्य शास्त्र ऐसा व्याकरण शास्त्र के विशेष को जानने वाले विद्वान् कहते हैं। उस वैद्यशास्त्र को जो लोग अच्छी तरह मनन कर पढ़ते हैं, उन्हें ही वैद्य कहते हैं।

आयुर्वेद शब्द का अर्थ

वेदोऽयमित्यपि च बोधविचारलाभा-त्तत्वार्थसूचकवचः खलु धातुभेदात्।

आयुश्च तेन सह पूर्वनिबद्धमुद्य-च्छास्त्राभिधानमपरं प्रवदंति तज्ज्ञाः ॥ 19 ॥

भावार्थ : वैद्यशास्त्र को जानने वाले, इस शास्त्र को, आयुर्वेद भी कहते हैं। वेद शब्द विद् धातु से बनता है। मूल धातु का अर्थ, ज्ञान, विचार और लाभ होता है। इस प्रकार धातु के अनेकार्थ होने से यहाँ वेद शब्द का अर्थ, वस्तु के यथार्थ स्वरूप को, बताने वाला है। इस वेद शब्द के पीछे 'आयुः' शब्द जोड़ दिया जाय तो 'आयुर्वेद' बनता है, जिससे यह स्पष्ट होता है कि जो हितायु, अहितायु, सुखायु, दुःखायु इनके स्वरूप, आयुष्य लक्षण, आयुष्यप्रमाण, आयु के लिए हिताहित द्रव्य इत्यादि आयु सम्बन्धी यथार्थ स्वरूप को प्रतिपादन करता है, उसका नाम आयुर्वेद है। इसलिए यह नाम अन्वर्थ है।

1. **मात्सर्यमार्यगणवर्ज्यामिति प्रसिद्धं इति पाठान्तरं।**
   सत्पुरुष मात्सर्य को छोड़े ऐसा लोक में प्रसिद्ध है।

शिष्य गुण लक्षण कथन प्रतिज्ञा

एवंविधस्य भुवनैकहिताधिकोद्य-द्वैद्यस्य भाजनतया प्रविकाल्पिता ये।
तानत्र साधुगुणलक्षणसाम्यरूपान्वक्ष्यामहे जिनपतिप्रतिपन्नमार्गात् ॥ 20 ॥

भावार्थ : समस्त संसार का हित करना ही जिनका उद्देश्य है अथवा हित करने में उद्युक्त हैं, ऐसे वैद्य या आयुर्वेदशास्त्र के अध्ययन के लिए, पूर्वाचार्यों ने जिनको योग्य बतलाया है, उनमें क्या उत्तम गुण होना चाहिए, उनके लक्षण क्या हैं, रूप कैसा रहना चाहिए? इत्यादि बातों को जिनशासन के अनुसार आगे प्रतिपादन करेंगे ऐसा आचार्यश्री कहते हैं।

आयुर्वेदाध्ययन योग्य शिष्य

राजन्यविप्रवरवैश्यकुलेषु कश्चिद्बुद्धीमाननिंद्यचरितः कुशलो विनीतः।
प्रातर्गुरुंसमुपसृत्य यथानुपृच्छेत् सोऽयं भवेदमलसंयमशास्त्रभागी ॥ 21 ॥

भावार्थ : जिसका क्षत्रिय, ब्राह्मण व वैश्य इस प्रकार के उत्तम वर्णों में से किसी एक वर्ण में जन्म हुआ हो, बुद्धिमान हो, आचरण शुद्ध हो, कुशल व नम्र हो, वही इस पवित्र शास्त्र को पठन करने का अधिकारी है, प्रातःकाल वह गुरु की सेवा में उपस्थित होकर इस विषय का उपदेश देने के लिए प्रार्थना करें।

वैद्य विद्यादान क्रम

ज्ञातस्य तस्य गुणतः सुपरीक्षितस्याप्यर्हत्समक्षमुपरोपितसद्वृत्तस्य।
देयं सदा भवति शास्त्रमिदं प्रधानं नानस्य देयमिति वैद्यविदो वदंति ॥ 22 ॥

भावार्थ : गुरु को उचित है कि उस शिष्य का गुण, स्वभाव, कुल आदि की अच्छी तरह परीक्षा सर्वप्रथम कर लेवें, उसको यदि अध्ययनार्थ योग्य समझें तो जिनेन्द्र भगवान् के समक्ष उसे अहिंसा, सत्य अचौर्यादि व्रतों को ग्रहण करावें, पश्चात् उस शिष्य को यह प्रधानभूत वैद्यशास्त्र का अध्ययन कराना चाहिए, दूसरों को नहीं, इस प्रकार इसके रहस्य को जानने वाले कहते हैं।

विद्या प्राप्ति के साधन

आचार्यसाधनसहायनिवासवल्भा आरोग्यबुद्धिविनयोद्यमशास्त्ररागाः।
बाह्यांतरंगनिजसद्गुणसाधनानि शास्त्रार्थिनां सततमेवमुदाहृतानि ॥ 23 ॥

भावार्थ : विद्याध्ययन करने की इच्छा रखने वाले विद्यार्थियों के लिए बाह्य व अंतरङ्ग साधनों की जरूरत है, अध्यापन कराने वाले गुरु, पुस्तक वगैरह, सहाध्यायी, रहने के लिए स्थान व भोजन, ये सब बाह्य साधन हैं, आरोग्य, बुद्धि, विनय, प्रयत्न व विद्यानुराग, ये सब अंतरङ्ग साधन हैं, इन साधनों से सद्गुण प्रकट होते हैं।

वैद्यशास्त्र का प्रधानध्येय

लोकोपकारकरणार्थमिदं हि शास्त्रं शास्त्रप्रयोजनमपि द्विविधं यथावत्।
स्वस्थस्य रक्षणमथामयमोक्षणं च संक्षेपतः सकलमेव निरुप्यतेऽत्र ॥ 24 ॥

भावार्थ : यह वैद्यकशास्त्र लोक के प्रति उपकार के लिए है। इसका प्रयोजन, स्वस्थ का स्वास्थ्य रक्षण और रोगी का रोग मोक्षण के रूप से दो प्रकार हैं। इन सबको संक्षेप से इस ग्रन्थ में कहेंगे।

लोक शब्द का अर्थ

जीवादिकान् सपदि यत्र हि सत्पदार्थान् सस्थावरप्रवरजंगमभेदभिन्नान्।
आलोकयंति निजसद्गुणजातिसत्वान् लोकोयमित्यभिमतो मुनिभिः पुराणैः ॥ 25 ॥

भावार्थ : जिस जगह अपने अनेक जाति व गुणों से युक्त स्थावर, जंगम आदि जीव, अजीवादिक षड्द्रव्य, सप्ततत्त्व व नवपदार्थ आदि पाये जाते हों या देखें जाते हों, उसे प्राचीन ऋषिगण लोक कहते हैं।

चिकित्सा के आधार

सिद्धान्ततः प्रथितजीवसमासभेदे पर्याप्तिसंज्ञिवरपंचविधेंद्रियेषु।
तत्रापि धर्मनिरता मनुजाः प्रधानाः क्षेत्रे च धर्मबहुले परमार्थजाताः ॥ 26 ॥

भावार्थ : जैन सिद्धान्तकारों ने जीव के चौदह भेद बतलाये हैं, 1. एकेन्द्रिय सूक्ष्म पर्याप्त, 2. एकेन्द्रिय सूक्ष्म अपर्याप्त, 3. एकेन्द्रिय बादर पर्याप्त, 4. एकेन्द्रिय बादर अपर्याप्त, 5. द्वीन्द्रिय पर्याप्त, 6. द्वीन्द्रिय अपर्याप्त, 7. त्रीन्द्रिय पर्याप्त, 8. त्रीन्द्रिय अपर्याप्त, 9. चतुरिन्द्रिय पर्याप्त, 10. चतुरिन्द्रिय अपर्याप्त, 11. पञ्चेन्द्रिय असंज्ञी पर्याप्त, 12. पञ्चेन्द्रिय संज्ञी अपर्याप्त, 13. पञ्चेन्द्रिय संज्ञी पर्याप्त, 14. पञ्चेन्द्रिय संज्ञी अपर्याप्त। इस प्रकार चौदह भेद हैं। जिनको आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा व मन ये छह पर्याप्तियों में यथासंभव पूर्ण हुए हों, उन्हें पर्याप्त जीव कहते हैं। जिन्हें पूर्ण न हुए हों, उन्हें अपर्याप्त जीव कहते हैं। अपर्याप्त जीवों की अपेक्षा पर्याप्त जीव श्रेष्ठ हैं। जिनको हित-अहित, योग्य-अयोग्य, गुण-दोष आदि समझ में आता है, उन्हें संज्ञी कहते हैं, इसके विपरीत असंज्ञी हैं। असंज्ञियों से संज्ञी श्रेष्ठ है। पञ्चेन्द्रिय संज्ञियों में भी जिन्होंने सर्व तरह से धर्माचरण के अनुकूल धर्ममय क्षेत्र में जन्म लिया है, ऐसे धार्मिक मनुष्य सबसे श्रेष्ठ हैं।

तेषां क्रिया प्रतिदिनं क्रियते भिषग्भि-रायुर्वयोऽग्निबलसत्वसुदेशसात्म्यम्।
विख्यातसत्प्रकृतिभेषजदेहरोगान् कालक्रमानपि यथाक्रमतो विदित्वा ॥ 27 ॥

भावार्थ : उन धर्मात्मा रोगियों की आयु, वय, अग्निबल, शक्ति, देश, अनुकूलता, वातादिक प्रकृति इसके अनुकूल औषधि, शरीर, रोग व शीतादिक काल, इन सब बातों को क्रम प्रकार जानकर चिकित्सा करें।

चिकित्सा के चार पाद

तत्र क्रियेति कथिता मुनिभिश्चिकित्सा सेयं चतुर्विधपदार्थगुणप्रधाना।

वैद्यातुरौषधसुभृत्यगणाः पदार्था – स्तेष्वप्यशेषधिषणो भिषगेव मुख्यः ॥ 28 ॥

भावार्थ : पूर्वोक्त क्रिया शब्द का अर्थ आचार्यगण चिकित्सा कहते हैं। उस चिकित्सा के लिए अपने गुणों से युक्त चार प्रकार के पदार्थों (अंगों) की आवश्यकता होती है। वैद्य, रोगी, औषध व रोगी की सेवा करने वाले सेवक, इस प्रकार चिकित्सा के चार पदार्थ अर्थात् अंग या पाद हैं, उनमें बुद्धिमान वैद्य ही मुख्य है, क्योंकि उसके बिना बाकी के सब पदार्थ व्यर्थ पड़ जाते हैं।

वैद्य लक्षण

ग्रन्थार्थविन्मतियुतोऽन्यमतप्रवीणः सम्यक्प्रयोगनिपुणः कुशलोऽतिधीरः।

धर्माधिकः सुचरितो बहुतीर्थशुद्धो वैद्यो भवेन्मतिमतां महतां च योग्यः ॥ 29 ॥

भावार्थ : जो वैद्यक ग्रन्थ के अर्थ को अच्छी तरह जानता हो, बुद्धिमान हो, अन्यान्य आचार्यों के मतों को जानने में प्रवीण हो, रोग के अनुसार योग्य चिकित्सा करने में निपुण हो, औषधि योजना में चतुर हो, धीर हो, धार्मिक हो, सदाचारी हो, बहुत से गुरुजनों से जो अध्ययन कर चुका हो, वह वैद्य विद्वान् महापुरुषों का भी मान्य होता है।

चिकित्सापद्धति

प्रश्नैर्निमित्तविधिना शकुनागमेन, ज्योतिर्विशेषतरलग्नशशांकयोगैः।

स्वप्नैश्च दिव्यकथितैरपि चातुराणामायुः प्रमाणमधिगम्य भिषग्यतेत ॥ 30 ॥

भावार्थ : रोगी की परिस्थिति सम्बन्धी प्रश्न, निमित्तसूचना, शकुन, आगम के द्वारा ज्योतिष शास्त्र द्वारा लग्न, चंद्रयोग आदि, स्वप्न व दिव्यज्ञानियों का कथन आदि द्वारा रोगियों की आयु प्रमाण को जानकर वैद्य चिकित्सा में प्रयत्न करें।

रिष्टैर्विना न मरणं भवतीह जंतोः स्थानव्यतिक्रमणतोऽतिसुसूक्ष्मतो वा।

कृच्छ्राण्यपि प्रथितभूतभवद्भविष्यद्रूपाणि यत्नविधिनात्र भिषक्प्रपश्येत् ॥ 31 ॥

भावार्थ : रिष्ट (मरण सूचक चिह्न) के प्रकट हुए बिना प्राणियों का मरण नहीं होता है, अर्थात् मरने के पहले मरणसूचक चिह्न अवश्यमेव प्रकट होता है। इसलिए वैद्य का कर्तव्य है कि जानने में अत्यन्त कठिन ऐसे भूत, वर्तमान और भविष्यत्काल में होने वाले मरण लक्षणों को स्थान[1] के परिवर्तन करके और अत्यन्त सूक्ष्म रीति से प्रयत्न पूर्वक वह देखें।

1. मरण चिह्न किसी नियत अंग प्रत्यंगों में ही नहीं होता है, शरीर के प्रत्येक अवयव में हो सकता है, इसलिए उनको पहचानने के लिए, एक अंग को छोड़कर दूसरा, दूसरा छोड़कर तीसरा अंग, इस प्रकार प्रत्येक स्थान या अंगों को परिवर्तन करके देखें।

अरिष्टलक्षण

रिष्टान्यपि प्रकृतिदेहनिजस्वभावच्छायाकृतिप्रवरलक्षणवैपरीत्यम्।
पंचेद्रियार्थविकृतिश्च शकृत्कफानां तोये निमज्जनमथातुरनाशहेतुः॥ 32॥

भावार्थ : वात-पित्त-कफ प्रकृति, देह का स्वाभाविक स्वभाव, छाया, आकार आदि जब अपने प्रवर लक्षण से विपरीतता को धारण करते हैं, उसे मरण चिह्न (रिष्ट) समझना चाहिए। पञ्चेन्द्रियों में विकार हो जाना व मल और कफ को पानी में डालने पर डूब जाना यह सब उस रोगी के मरण के चिह्न हैं।

रिष्ट सूचक दूत लक्षण

हीनाधिकातिकृशकृष्णविरूक्षितांगः, सव्याधितः स्वयमथायुधदण्डहस्तः।
संध्यासु साश्रुनयनो भयवेपमानो, दूतो भवेदतितरां यमदूतकल्पः॥ 33॥
अश्वैः खरै रथवरैः करभैः रथान्यैः, प्राप्तः सदा भवति दूतगणोऽतिनिन्द्य।
यो वा छिनत्ति तृणमग्रगतो भिनत्ति, काष्ठानि लोष्ठमथवेष्ठकमिष्टकं वा॥ 34॥
एवंविधं सपदि दूतगतं च रिष्टं, दृष्ट्वातुरस्य मरणैकनिमित्तहेतुम्।
तं वर्जयेदिह भिषग्विदितार्थसूत्रःसौम्यः शुभाय शुचिवस्त्रयुतः स्वजातिः॥ 35॥

भावार्थ : वैद्य को बुलाने के लिए अत्यन्त कृश, हीन वा अधिक काला, रुखा शरीर वाला एवं बीमार दूत आ गया हो, जिसके हाथ में तलवार आदि आयुध या दण्ड हो, संध्याकाल में रोते हुए एवं डर से काँपते हुए आ रहा हो, उस दूत को रोगी के लिए यम दूत के समान समझना चाहिए। जो दूत घोड़ा, गधा, हाथी, रथ आदि वाहनों पर चढ़कर वैद्य को बुलाने के लिए आया हो, वह भी निंदनीय है एवं 'च' जो दूत सामने रहने वाले घास वगैरह को तोड़ते हुए एवं लकड़ी, मिट्टी का ढेला, पत्थर, ईंट वगैरह को फोड़ते हुए आ रहा हो, वह भी निंद्य है। इस प्रकार के दूत लक्षण गत मरण चिह्न को जानकर रोगी का मरण होगा, ऐसा निश्चय करें। तदनंतर सर्व शास्त्र विशारद वैद्य उक्त रोगी की चिकित्सा न करें। शांत, निर्मल वस्त्र युक्त रोगी के समान जाति युक्त दूत का आना शुभसूचक है।

अशुभशकुन

उद्वेगसंक्षवथुलग्ननिरोधशब्द - प्रस्पर्द्धिसंस्खलितरोषमहोपतापाः।
ग्रामाभिघातकलहाग्निसमुद्भवाद्याः वैद्यैः प्रयाणसमये खलु वर्जनीयाः॥ 36॥

भावार्थ : वैद्य रोगी के घर जाने के लिए जब निकले तब उद्वेग, छींक, निरोध (बाँधो, रोको, बन्द करो आदि) ऐसे विरुद्ध शब्दों को सुनना स्पर्धा, स्खलन, क्रोध, महासंताप, ग्राम में उत्पात, कलह, आग लगना, आदि सब अपशकुन हैं। वैसे अपशकुनों को टालना चाहिए। तात्पर्य यह है कि ऐसे अपशकुनों को देखकर निश्चय करना चाहिए, रोगी की आयु थोड़ी रह गई है।

मार्जारसर्पशशशल्यककाष्ठधाराण्यग्निर्वराहमहिषा नकुलाः श्रृगालाः।
रक्ताः स्रजस्समलिना रजकस्य भाराः अभ्यागताः समृतकाः परिवर्जनीयाः ॥37॥

भावार्थ : रोगी के घर जाते समय सामने से आने वाले मार्जार, सर्प, खरगोश, आपत्ति, लकड़ी का गठ्ठा, अग्नि, सूअर, भैंस, नेवला, लोमड़ी, लालवर्ण की पुष्पमाला, मलिन वस्त्र व शरीरादि से युक्त मनुष्य अथवा चाण्डाल आदि नीच जाति के मनुष्य धोबी के कपड़े, मुर्दे के साथ के मनुष्य, ये सब अपशकुन हैं।

शुभशकुन

शांतासु दिक्षु शकुनाः पटहोरुभेरी शंखांबुदप्रवरवंशमृदंगनादाः।
छत्रध्वजा नृपसुतः सितवस्त्रकन्याः गीतानुकूलमृदुसौरभगंधवाहाः॥ 38॥
श्वेताक्षताम्बुरुहकुक्कुटनीलकंठा लीलाविलासललिता वनिता गजेन्द्राः।
स्वच्छांबुपूरितघटा वृषवाजिनश्च, प्रस्थानपारसमयेऽभिमुखाः प्रशस्ताः॥ 39॥

भावार्थ : प्रस्थान करते समय वैद्य को सभी दिशायें शांत रहकर पटह, भेरी, शंख, मेघ, बाँसुरी, मृदंग आदि के शुभ शब्द सुनाई दे रहे हों, सामने से छत्र, ध्वजा, राजपुत्र, धवल वस्त्र धारिणी कन्या, शीत अनुकूल व मृदु सुगंधित हवा, सफेद अक्षत, कमल, कुक्कुट, मयूर, खेल व विनोद में मग्न स्त्रियाँ, हाथी व स्वच्छ पानी से भरा हुआ घड़ा, बैल, घोड़ा आदि आवें तो प्रशस्त हैं। शुभ शकुन हैं। इनसे वैद्य को विजय होगी।

एवं महाशकुनवर्गनिरुपितश्रीः प्राप्यातुरं प्रवरलक्षणलक्षितांगम्।
दृष्ट्वा विचार्य परमायुरपीह वैद्यो यातं कियत्कियदनागतमेव पश्येत्॥ 40॥

भावार्थ : इस प्रकार के शकुनों से रोगी के भाग्य को निश्चय करके रोगी के पास जाकर उसके सर्व शरीर के लक्षणों को देखें। वह रोगी दीर्घायुषी होने पर भी वैद्य को उचित है कि रोगी की उम्र में कितने वर्ष तो बीत गए और कितने बाकी रहे, इस बात का विचार करें।

सामुद्रिक शास्त्रानुसार अल्पायु-महायु परीक्षा

यस्याति कोमलतरावतिमांसलौ च स्निग्धावशोकतरुपल्लवपंकजाभौ।
नानासुरूपयुतगाढविशालदीर्घ रेखान्वितावमलिनाविह पाणिपादौ॥ 41॥
यस्यातिपेशलतरावधिकौ च कर्णौ नीलोत्पलाभनयने दशनास्तथैव
मुक्तोपमा सरसदाडिमबीजकल्पा स्निग्धोन्नतायतललाटकचौ च यस्य॥ 42॥
यस्यायताः श्वसितवीक्षण बाहुपुष्टाः स्थूलास्तथांगुलिनखाननानासिकास्स्युः
ह्रस्वा रसेंद्रियगलोदरमेढजंघाः निम्नाश्च संधिवरनाभिनिगूढगुल्फाः॥ 43॥

यस्यातिविस्तृतमुरस्तनयोर्भ्रुवोर्वा दीर्घांतरं निभृतगूढशिराप्रतानाः।
यस्याभिषिक्तमनुलिप्तमिहोर्ध्वमेव, शुष्येच्छरीरमथ मस्तकमेव पश्चात्॥ 44॥
आजन्मनः प्रभृति यस्यःहि रोगमुक्तः, कायः शनैश्च परिवृद्धिमुपैति नित्यम्।
शिक्षाकलापमपि यस्य मतिः सुशक्ता, ज्ञातुं च यस्य निखिलानि दृढेन्द्रियाणि॥ 45॥
सुस्निग्धसूक्ष्ममृदुकेशचयश्च यस्य, प्रायस्तथा प्रविरलाः तनुरोमकूपाः।
यस्येदृशं वपुरनिंद्यसुलक्षणांङ्क, तस्याधिकं धनमतीव च दीर्घमायुः॥ 46॥
इत्येवंसकलसुलक्षणैः पुमांस्या, द्वीर्घायुस्तदपरमर्धमायुरर्धैः।
हीनायुर्विदितविलक्षणस्य साक्षात्तत्स्वास्थ्यं प्रवरवयो विचार्यतेऽतः॥ 47॥

भावार्थ : जिसके हाथ व पाद अत्यन्त कोमल, माँस भरित, स्निग्ध, अशोक के कोंपल या कमल के समान हो एवं अनेक शुभ सूचक रेखाओं से युक्त होकर निर्मल हो, जिसके दोनों कर्ण मनोहर व दीर्घ हैं अत्यधिक माँस से युक्त हैं, दोनों नेत्र नीलकमल के समान हैं, दाँत मोती या रसपूर्ण अनारदाने के समान हैं, ललाट व केश स्निग्ध, उन्नत व दीर्घ हों, जिसका श्वास व दृष्टि लंबे हो, बाहु पुष्ट हो, अंगुलि, नख, मुख, नासिका, ये स्थूल हों, रसनेन्द्रिय, गला, उदर, शिश्न, जंघा ये ह्रस्व हों, संधि व नाभि गढ़े हुए हों, गुल्फ छिपा हुआ हो, जिसकी छाती अत्यन्त विस्तृत हो, स्तन व भ्रू के बीच में दीर्घ अंतर हो, शिरा समूह बिल्कुल छिपा हुआ हो, जिसको स्नान कराने पर या कुछ लेपन करने पर पहले मस्तक को छोड़कर ऊर्ध्व शरीर (शरीर के ऊपर का भाग) सूखता हो, फिर अधो शरीर एवं मस्तक सूखता हो, जन्म से ही जिसका शरीर रोगमुक्त हो और जो धीरे-धीरे बढ़ रहा हो, जिसकी बुद्धि, शिक्षा, कला आदि को जानने के लिए सशक्त हो, इन्द्रिय दृढ़ हो, जिसका केश स्निग्ध, बारीक व मृदु हो एवं जिसके रोम कूप प्रायः दूर-दूर हो, इस प्रकार के लक्षणों से युक्त शरीर को जो धारण करता है, वह विपुल ऐश्वर्य सम्पन्न व दीर्घायुषी होता है। इन सब लक्षणों से युक्त मनुष्य पूर्ण (दीर्घ) आयुष्य को भोक्ता है। यदि इनमें से आधे लक्षण पाये गए तो अर्ध आयुष्य का भोक्ता होता है एवं इनसे विलक्षण शरीर को धारण करने वाला हीनायुषी होता है, मनुष्य के वय, स्वास्थ्य आदि इन्हीं लक्षणों से निर्णीत होते हैं।

उपसंहार

एवंविद्वान्विशालश्रुतजलधि - परंपारमुत्तीर्णबुद्धि-
र्ज्ञात्वा तस्यातुरस्य प्रथमतरमिहायुर्विचार्योर्जितश्रीः
व्याधेस्तत्त्वज्ञतायां पुनरपि विलसन्निग्रहेचापि यत्नम्
कुर्याद्वैद्यो विधिज्ञः प्रतिदिनममलां पालयन्नात्मकीर्तिम्॥ 48॥

भावार्थ : इस प्रकार शास्त्र समुद्र पारगामी विधिज्ञ विद्वान् वैद्य को सबसे पहले उस रोगी की

आयु को जानकर तदनन्तर उसकी व्याधि का परिज्ञान कर लेना चाहिए एवं विधि पूर्वक उस रोग की निवृत्ति के लिए प्रयत्न करें। इस प्रकार चिकित्सा कर, अपनी कीर्ति की प्रतिदिन रक्षा करें।

इति जिनवक्त्रनिर्गतसुशास्त्रमहांबुनिधेः सकलपदार्थविस्तृततरंगकुलाकुलतः।
उभयभवार्थसाधनतटद्वयभासुरतो निसृतमिदं हि शीकरनिभं जगदेकहितम्॥ 49॥

भावार्थ : जिसमें सम्पूर्ण द्रव्य, तत्त्व व पदार्थ रूपी तरंग उठ रहे हैं, इहलोक-परलोक के लिए प्रयोजनीभूत साधन रूपी जिसके दो सुंदर तट हैं, ऐसे श्रीजिनेन्द्र के मुख से उत्पन्न शास्त्र समुद्र से निकली हुई बूँद के समान यह शास्त्र है, परन्तु यह जगत् का एक मात्र हित साधक है (इसलिए ही इसका नाम कल्याणकारक है)।

इत्युग्रादित्याचार्यकृत कल्याणकारके स्वास्थ्यरक्षणाधिकारे शास्त्रावतारः प्रथमः परिच्छेदः

इत्युग्रादित्याचार्य कृत, कल्याणकारक ग्रन्थ के स्वास्थ्यरक्षणाधिकार में
विद्यावाचस्पतीत्युपाधिविभूषित **वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री** द्वारा लिखित **भावार्थदीपिका** टीका में
शास्त्रावतार नामक प्रथम परिच्छेद समाप्त हुआ।

1. महासंहितायां इत्यधिक पाठमुलभ्यते, क. पुस्तके।

अथ द्वितीयः परिच्छेदः

मंगलाचरण और प्रतिज्ञा

अशेषकर्मक्षयकारणं जिनं। प्रणम्य देवासुरवृंदवंदितम्।

ब्रवीम्यतस्स्वास्थ्यविचारलक्षणं। यथोक्तसल्लक्षणलक्षितं बुधैः॥ 1॥

भावार्थ : देव व असुरों के द्वारा पूजित, समस्त कर्मों को नाश करने के लिए कारण स्वरूप श्री जिनेन्द्र भगवान् को नमस्कार कर महर्षियों द्वारा कथित सत्लक्षणों से लक्षित स्वास्थ्य का विचार कहेंगे।

स्वास्थ्य का भेद

अथेह भव्यस्य नरस्य सांप्रतं। द्विधैव तत्स्वास्थ्यमुदाहृतं जिनैः।

प्रधानमाद्यं परमार्थमित्यतो द्वितीयमन्यद्व्यवहारसंभवम्॥ 2॥

भावार्थ : भव्यात्मा मनुष्य को जिनेन्द्र ने पारमार्थिक, व्यवहार के रूप से दो प्रकार का स्वास्थ्य बतलाया है। उसमें पारमार्थिक स्वास्थ्य मुख्य है, व्यवहार स्वास्थ्य गौण है।

परमार्थ स्वास्थ्य लक्षण

अशेषकर्मक्षयजं महाद्भुतं। यदेतदात्यंतिकमद्वितीयम्।

अतींद्रियं प्रार्थितमर्थवेदिभिः। तदेतदुक्तं परमार्थनामकम्॥ 3॥

भावार्थ : आत्मा के सम्पूर्ण कर्मों के क्षय से उत्पन्न, अत्यद्भुत, आत्यन्तिक व अद्वितीय, विद्वानों के द्वारा अपेक्षित, जो अतीन्द्रिय मोक्ष सुख है, उसे पारमार्थिक स्वास्थ्य कहते हैं।

व्यवहार स्वास्थ्य लक्षण

समाग्निधातुत्वमदोष[1] विभ्रमो। मलक्रियात्मेंद्रियसुप्रसन्नता।

मनःप्रसादश्च नरस्य सर्वदा। तदेवमुक्तं व्यहारजं खलु॥ 4॥

भावार्थ : मनुष्य के शरीर में सम अग्नि का रहना, सम धातु का रहना, वात आदि विकार न होना, मल-मूत्र का ठीक तौर से विसर्जन होना, आत्मा, इन्द्रिय व मन की प्रसन्नता रहना, ये सब व्यवहारिक स्वास्थ्य के लक्षण हैं।

---

1 . समदोषः समाग्निश्च समधातुमलक्रियः।

प्रसन्नात्मेन्द्रियमनाः स्वस्थ इत्यभिधीयते। (वाग्भट)

साम्य विचार

सुसौम्यभावः खलु साम्यमुच्यते। रुचिश्च पाको बलमेव लक्षणम्।
हितो मिताहारविधिश्च साधनं। बलं चतुर्वर्गसमाप्तिरिष्यते॥ 5॥

भावार्थ : परिणाम में शांति रहने को साम्य कहते हैं। आहार में रुचि रहना, पाचन होना और शक्ति बना रहना, साम्य का लक्षण है अर्थात् साम्य का द्योतक है। हित, मित आहार सेवन करना, रुचि आदि बनाये रखने के लिए साधन हैं। बल से धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष रूपी चतुर्वर्गों की पूर्ति होती है।

न चेदृशस्तादृश इत्यनेकशो। वचोविचारेण किमर्थवेदिनाम्।
वपुर्बलाकारविशेषशालिनाम्। निरीक्ष्य साम्यं प्रवदंति तद्विदः॥ 6॥

भावार्थ : वह (साम्य) अमुक प्रकार से रहता है, अमुक तरह से नहीं, इत्यादि वचन विचार से तत्त्व ज्ञानियों को क्या प्रयोजन? शरीर का बल, आकार आदि से सुशोभित मनुष्यों को देखकर तज्ज्ञ लोग साम्य का निश्चय करते हैं।

प्रकारांतर से स्वस्थ लक्षण

किमुच्यते स्वस्थ्यविचारलक्षणं। यदा गदैर्मुक्ततनुर्भवेत्पुमान्।
तदैव स स्वस्थ इति प्रकीर्तितस्सुशास्त्रमार्गान्न च किंचिदन्यथा॥ 7॥

भावार्थ : स्वस्थ शरीर का लक्षण क्या है? जब मनुष्य रोगों से रहित शरीर को धारण करें, उसे ही स्वस्थ कहते हैं। यह आयुर्वेद शास्त्रों की आज्ञा से कहा गया है। अन्यथा नहीं।

अवस्था विचार

वयश्चतुर्धा प्रविकल्पितं जिनैः। शिशुर्युवामध्यमवृद्ध इत्यतः।
दशप्रकारैर्दशकैः समन्वितैः। शतायुरेवं पुरुषः कलौ युगे॥ 8॥

भावार्थ : मनुष्य की दशा (आयु) चार प्रकार से विभक्त है। बालक दशा, यौवन दशा, मध्यम दशा व वृद्ध दशा एवं सौ वर्ष की पूर्ण आयु में वह दस-दस वर्ष में एक एक अवस्था को पलटते हुए दस दशाओं को पलटता है। इस प्रकार कलियुग में मनुष्य प्रायः सौ वर्ष की आयु वाले होते हैं। ऐसा जिनेन्द्रदेव के द्वारा कहा गया है।

अवस्थाओं के कार्य

दशेति बाल्यं परिवृद्धिरुद्धतं। युवत्वमन्यच्च सहैवमेव यत्।
[1]त्वगस्थिशुक्रामलविक्रमाधिकः प्रधानबुद्धीन्द्रिय सन्निवर्तनत्॥ 9॥

भावार्थ : पहली दशा बालक है, उसी की दशा वृद्ध होकर जवानी दशा होती है, इसी प्रकार

1. त्वगक्षि इति पाठांतर।

और भी दशायें होती हैं, जिनसे त्वचा, हड्डी, वीर्य, बल प्रधान बुद्धि व इन्द्रिय आदि इन सभी बातों में परिवर्द्धन होता है, जिनका अलग-अलग दशा में भिन्न-भिन्न रूप से अनुभव होता है।

अवस्थांतर में भोजन विचार

अथात्ति कश्चित्पय एव बालकः। पयोन्नमन्यस्त्वपरः सुभोजनम्।

त्रिधैवमाहारविधिः शिशौ जने। परेषु संभोजनमेव शोभनम्॥ 10॥

भावार्थ : माता के गर्भ से बाहर आने के बाद बालक सर्वप्रथम केवल माता का दूध पीकर जीता है। आगे वही कुछ मास वृद्धिंगत होने पर माँ का दूध और अन्न दोनों को खाता है। इस अवस्था को भी उल्लंघन कर आगे केवल भोजन करता है। इस प्रकार बालकों में तीन ही प्रकार के आहार का क्रम है। बाकी की दशाओं में (स्वस्थावस्था में) भोजन करना ही उचित है।

जठराग्नि का विचार

तथा वयस्थेष्वथवोत्तरेष्वपि। क्रियां सुकुर्याद्भिषगुत्तरोत्तरम्।

विचार्य सम्यक्पुरुषोदरानलं। समत्ववैषम्यमपीह शास्त्रतः॥ 11॥

भावार्थ : यौवन, मध्यम व वृद्ध दशा को प्राप्त मनुष्यों के भी जठराग्नि सम है? विषम है? या मंद है? इत्यादि बातों को शास्त्रीय क्रम से अच्छी तरह विचार कर, वैद्य, तद्योग्य चिकित्सा करें।

विकृतजठराग्नि के भेद

अथाग्निरत्रापि निरुच्यते त्रिधा। विकारदोषैर्विषमोऽतितीक्ष्णता।

गुणोपि मंदानिलपित्तसत्कफैः। क्रमेण तेषामिह वक्ष्यते क्रिया॥ 12॥

भावार्थ : वात आदि दोषों के प्रकोप से, विषमाग्नि[1], तीक्ष्णाग्नि[2], मंदाग्नि[3] इस प्रकार विकृत जठराग्नि के तीन भेद शास्त्रों में वर्णित हैं अर्थात् वातप्रकोप से विषमाग्नि, पित्तप्रकोप से तीक्ष्णाग्नि, कफप्रकोप से मंदाग्नि होती है, अब इन विकृताग्नियों की चिकित्सा यथाक्रम से कहेंगे।

विषमाग्नि आदि की चिकित्सा

सुबस्तिकार्यैरथसद्विरेचनैः तथानुरूपैर्वमनैःसनस्यकैः।

क्रमान्मरुत्पित्तकफप्रपीड़िता-निहोदराग्नीनपि साधयेद्भिषक्॥ 13॥

---

1. **विषमाग्नि** - योग्य प्रमाण से योग्य आहार, खाने पर कभी ठीक तरह से पच भी जाता है कभी नहीं उसे विषमाग्नि कहते हैं।
2. **तीक्ष्णाग्नि** - उपयुक्त मात्रा से या अत्यधिक मात्रा से सेवन किए गए आहार को भी जो अग्नि ठीक तरह से पचा देती है, उसे तीक्ष्णाग्नि कहते हैं।
3. **मंदाग्नि** - जो अल्पप्रमाण में खाये गए आहार को भी पचा नहीं सकती, उसे मंदाग्नि कहते हैं।

भावार्थ : वात, पित्त, व कफ के द्वारा क्रम से पीड़ित उदराग्नि को वैद्य बस्तिकार्य, विरेचन, योग्य वमन व नस्यों से यथाक्रम चिकित्सा करें।

समाग्नि के रक्षणोपाय

[1]समाग्निमेवं परिरक्षयेत्सदा। यथर्तुकाहारविधानयोगतः।
त्रिकालयोग्यैरिह बस्तिभिस्सदा विरेचनैःसद्वमनैश्चबुद्धिमान्॥ 14॥

भावार्थ : त्रिकालयोग्य बस्ति, विरेचन व वमनों से एवं ऋतु के अनुसार भोजन प्रयोग से बुद्धिमान वैद्य समाग्नि की सदा रक्षा करें।

बलपरीक्षा

कृशोऽपि कश्चिद्बलवान्भवेत्पुमान्। सुदुर्बलः स्थूलतरोऽपि विद्यते।
बलं विचार्यं बहुधा नृणां भवे-दतीव भारैरपि धावनादिभिः॥ 15॥

भावार्थ : कोई-कोई मनुष्य कृश दिखने पर भी बलवान रहते हैं, कोई मोटे दिखने पर भी दुर्बल रहते हैं, इसलिए मनुष्यों के शरीर को न देखकर उनको दौड़ाकर या कोई वजन उठवाकर उनके बल का विचार (परीक्षा) करना चाहिए।

बल की प्रधानता

बलं प्रधानं खलु सर्वकर्मणामतो विचार्यं भिषजा विजानता।
नरेषु सम्यक् बलवत्तरेष्विह क्रिया सुकार्या सुखसिद्धिमिच्छता॥ 16॥

भावार्थ : सर्व कार्यों के लिए बल ही मुख्य है। इसलिए मतिमान् वैद्य उस बल को पहले विचार करें। बलवान् मनुष्यों में किए हुए प्रयोग में ही वह अपनी सफलता की भी आशा रखें अर्थात् चिकित्सा में सफलता प्राप्त करना हो तो बलवान मनुष्यों की चिकित्सा करें।

बलोत्पत्ति के अंतरङ्ग कारण

स्वकर्मणामौपशमात् क्षयादपि। क्षयोपशम्यादपि नित्यमुत्तमम्।
सुसत्त्वमुद्यत्पुरुषस्य जायते। परीषहान्यो सहते सुसत्त्ववान्॥ 17॥

भावार्थ : वीर्यान्तराय कर्म के उपशम, क्षय या क्षयोपशम से मनुष्य को उत्तम बल की वृद्धि होती है। वह बलवान् मनुष्य अनेक परीषहों को सहन करने में समर्थ होता है।

बलवान मनुष्य के लक्षण

स सत्ववान्योऽभ्युदयक्षयेष्वपि। प्रफुल्लसौम्याननपंकजस्थितिः।
न विध्यते तस्य मनः सुदुस्सहैः क्रियाविशेषैरपि धैर्यमाश्रितम्॥ 18॥

1. योग्य प्रमाण से सेवन किये गये आहार को जो ठीक तरह से पचाती है, उसे समाग्नि कहते हैं।

भावार्थ : उस बलवान् मनुष्य की सम्पत्ति आदि के नष्ट होने पर भी वह अपने धैर्य को नहीं छोड़ता और उसके मुख की कांति, शांति वगैरह सभी बातें तदवस्थ रहकर मुख, कमल के समान ही प्रफुल्लित रहता है। दुस्सह क्रियाओं के द्वारा उसका मन जरा भी विचलित नहीं होता है।

जांगलादि त्रिविध देश

स जांगलोऽनूपनिजाभिधानवान्। प्रधानसाधारण इत्यथापरः।
सदैव देशस्त्रिविधः प्रकीर्तितः। क्रमात्त्रयाणामपि लक्षणं ब्रुवे ॥19॥

भावार्थ : जांगल, अनूप व साधारण के भेद से देश तीन प्रकार से वर्णित है। साधारण देश प्रधान है। अब उन तीनों देशों के लक्षण को यथाक्रम कहेंगे।

जांगल देश लक्षण

क्वचिच्च रूक्षाः तृणसस्यवीरुधः क्वचिच्च सर्जार्जुनभूर्जपादपाः।
क्वचित्पलाशासनशाकशाखिनःक्वचिच्च रक्तासितपांडुभूमयः॥ 20॥
क्वचिच्च शैलाः परुषोपलान्विताः क्वचिच्च वेणूत्कटकोटराटवी।
क्वचिच्च शार्दूलवृकर्क्षदुर्मृगाः क्वचिच्च शुष्काः कुनटीः सशर्कराः॥ 21॥
क्वचित्प्रियंगुर्वरकाश्च कोद्रवाः क्वचिच्च मुद्गाश्चणकाश्च शांतनु।
क्वचित्खराश्वाश्वगवोष्ट्रजातयः।क्वचिन्महाछागगणैः सहावयः॥ 22॥
क्वचिच्च कुग्रामबहिश्च दूरतो। महत्स्वगाधातिभयंकरेषु यत्।
सदैव कूपेषु जलं सुदुर्लभं। हरंति यंत्रैरतियत्नतो जनाः॥ 23॥
निजेन तत्रातिकृशास्सिराततताः स्थिराः खरा निष्ठुरगात्रयष्टयः।
जनास्सदा वातकृतामयाधिकास्ततस्तु तेषामनिलघ्नमाचरेत्॥ 24॥

भावार्थ : जिस देश में कहीं-कहीं रूक्ष तृण, सस्य व पौधे हों, कहीं सर्ज, अर्जुन व भूर्ज वृक्ष हों, कहीं पलाश, अशन वृक्ष (विजयसार) सागवान वृक्ष हों, कहीं लाल, काली व सफेद जमीन हो, कहीं कठोर पत्थरों से युक्त पर्वत हों, कहीं बाँसों के समूह व वृक्ष कोटर से युक्त जंगल पाये जाते हों, कहीं शार्दूल भेड़िया-रीछ आदि क्रूर मृग (पशु) हों, कहीं बालू रेत सहित सूखी कुनटी (मनः शिला) का सस्य हो, कहीं प्रियंगुवरक (जंगली मूंग) कोदव (कोदों) आदि सस्य हों, कहीं मूंग, चना, शांतनु (धान्य विशेष) हों, कहीं-कहीं खच्चर, घोड़ा, गाय, ऊंट आदि हों, कहीं बकरे, मेंढ़े आदि जानवर अधिक हों, कहीं कुग्राम के बाहर बहुत दूर में कुँआ हो और वह भी बहुत उण्डा (गहरा) हो, उसमें जल भी अत्यन्त दुर्लभ हो, उनमें से मनुष्य जल बहुत कठिनता से यंत्रों की सहायता से निकालते हो एवं जहाँ पर स्वभाव से ही मनुष्यों का शरीर कृश व शिरा समूह से व्याप्त हो एवं शरीर स्थिर रुखा

व कठिन रहता हो, उस देश को जांगल देश कहते हैं। वहाँ के रहने वाले मनुष्यों में अधिकतर वात विकार से उत्पन्न रोग होते हैं, इसलिए वैद्य वातहर प्रयोगों की योजना करें।

अनूपदेश लक्षण

य एवमुक्तः स च जांगलस्ततः पुनस्तथानूपविधानमुच्यते।
यथाक्रमाद्यत्र हि शीतलोदका। मही सदा कर्दमदुर्गमा भवेत्॥ 25॥
स्वभावतो यत्र महातिकोमलास्तृणक्षुपागुल्मलताविताना का।
वटा विटंकोत्कटपाटलीद्रुमा। विकीर्णपुष्पोत्करपारिजातकाः॥ 26॥
अशोककक्कोललंवगकंगुका विलासजातीवरजातिजातयः
समल्लिका यत्र च माधवी सदा। विलोलपुष्पाकुलमालती लता॥ 27॥
महीधरा यत्र महामहीरुहैरलंकृता निर्जरधौतसानवः।
घनाघनाकंपितचंपकद्रुमा। मयूरकेकाकुलचूतकेतकाः॥ 28॥
तमालतालीवरनालिकेरकाः क्रमाच्च यत्र क्रमुकावली सदा।
सतालहिंतालवनानुष्टिता- ह्रदा नदा स्वच्छजलातिशोभिताः॥ 29॥
शरन्नभःखण्डनिभाश्च यत्र स - त्तटाकवापी सरितस्तु सर्वदा।
बलाकहंसोदयकुक्कुटोच्चलद्विलोलपद्मोत्पलषण्डमण्डिताः॥ 30॥
प्रलंबतांबूललताप्रतानकः। समंततो यत्र च शालिमाषकाः।
महेक्षुः[1]वाटापरिवेष्टनोज्वला भवंति रम्या कदलीकदंबकाः॥ 31॥
विपक्वगोक्षीरसमाहिषोज्वलद्दधिप्रभूतं पनसाम्रजांबवम्।
प्रकीर्णखर्जूरसनालिकेरकं गुड़ाधिकं यत्रःच मृष्टभोजनम्॥ 32॥
सदा जना यत्र च मार्दवाधिकाः ससौकुमार्योज्वलपादपल्लवाः।
अतीव च स्थूलशरीरवृत्तयः कफाधिका वातकृतामयान्विताः॥ 33॥
ततश्च तेषां कफवातयोः क्रिया सदैव वैद्यैः क्रियेतेऽत्र निश्चितैः।
इतीत्थमानूपविधिः प्रकीर्तितः तथैव साधारणलक्षणे कथा॥ 34॥

भावार्थ : इस प्रकार जांगल देश का लक्षण कह चुके हैं। अब अनूप देश का लक्षण कहेंगे। अनूप देश में ठण्डा पानी अधिक होता है। इसलिए वहाँ की जमीन सदा कीचड़ से युक्त रहती है। जिस देश में तृण, वृक्ष, गुल्म, लता आदि अत्यन्त कोमल होते हों, वटवृक्ष, विटंकवृक्ष, पाटली (पाढल) वृक्ष व

1. महेक्षुवाटी इतिपाठांतरं

पुष्प सहित पारिजातक वृक्ष आदि जहाँ होते हों, अशोक वृक्ष, कंकोल वृक्ष, इलायची वृक्ष, लवंग वृक्ष, कंगु (कांगनी) जाति वृक्ष, मल्लिका (मोतिया भेद) वृक्ष, माधवी लता, पुष्प युक्त मालती (चमेली) लता आदि हों, जहाँ के पर्वत वृक्षों से अलंकृत हों और पर्वत तट झरने वगैरह से युक्त हों, मेघ से कंपित चम्पा वृक्ष हों, मयूर, केकादि पक्षियों के शब्द से युक्त आम व केवड़े के वृक्ष हों, जहाँ तम्बाखू, ताड़, नारियल, सुपारी आदि का वृक्ष हो और ताड़, हिताल आदि वृक्षों से युक्त तट वाले एवं स्वच्छ जल से पूर्ण सरोवर, नदी आदि हों, जहाँ के सरोवर वापी नदी शरत्काल के आकाश के टुकड़े के समान मालूम हो रहे हों, जो सदा बतक, हंस, जलकुक्कुट व पद्म, नीलकमल आदि के समूहों से अलंकृत रहते हों, जहाँ लम्बी-लम्बी ताम्बूल लतायें हों, सर्वत्र धान, उड़द आदि हों, बड़े-बड़े इक्षु वाटिकाओं के समूह से युक्त केले व कदंब के वृक्ष हों, जहाँ गाय का दूध, भैंस का दूध व दही से तैयार किया हुआ एवं पनस, आम, खजूर रस, नारियल, गुड़ आदि पदार्थों को अधिक रूप से उपयोग कर स्वादिष्ट भोजन किया जाता हो, जहाँ के मनुष्य विनीत होते हों, जिनके पाद सुकुमारता से युक्त हों, लाल रहते हों, अतीव स्थूल शरीर व वृत्ति को धारण करने वाले हों, उस देश को अनूप देश कहते हैं। वहाँ अधिक कफ से युक्त वातकृत रोग उत्पन्न होते हैं। इसलिए वहाँ पर कुशल वैद्य सदा कफ-वात की चिकित्सा करें। अब साधारण देश का स्वरूप कहा जायगा।

साधारण देश लक्षण

न चातिरक्ता नच पाण्डुभासिता। न चातिरूक्षा न च सांद्रभूमयः।
न चातिशीतं नच निष्ठुरोष्णता न चातिवाता न च वृष्टिरद्भुता॥ 35॥
न चात्र भूभृद्गणना सुराटवी। न चात्र निश्शैलतरावनिर्भवेत्।
न चातितोयं न च निर्जलान्वितं। न चातिचोरा नच दुष्टदुर्मृगाः॥ 36॥
सुसस्यमेतत् सुजनाधिकं जगत्। समर्तुकाहारविधानयोगतः।
समाग्निभावान्न च दोषकोपता न चात्र रोगस्तत एव सर्वदा॥ 37॥
ततश्च साधारणमेव शोभनं यतश्च देशद्वयलक्षणेक्षितम्।
जनास्सुखं तत्र वसंति सततं क्रमात्सुसात्म्यक्रम उच्यतेऽधुना॥ 38॥

भावार्थ : जिस देश की भूमि न तो अधिक लाल है और न सफेद है, न अधिक रुक्ष है और न घन है, जहाँ न तो अधिक शीत है और न भयंकर गर्मी है, न तो अधिक हवा है और न भयंकर बरसात है, न तो बहुत पहाड़ है और न भयंकर जंगल है एवं पहाड़ रहित जमीन भी नहीं है, न तो अत्यधिक जल है और न निर्जल-प्रदेश है, न तो अधिक चोर हैं और न दुष्ट क्रूर जानवर हैं, जहाँ सस्य की समृद्धि एवं सज्जनों की अधिकता है, जहाँ ऋतु के अनुकूल आहार के ग्रहण करने से एवं समान अग्नि के होने से दोषों का विकार नहीं होता है, अतएव सदा रोग की उत्पत्ति भी नहीं होती, उस देश को साधारण

देश कहते हैं। इस देश में रोग की उत्पत्ति न होने से दोनों प्रकार के देशों की अपेक्षा यह साधारण देश ही प्रशस्त है, उस देश में मनुष्य हमेशा सुख से रहते हैं। अब सात्म्यक्रम (शरीर आनुकूल्य) कहा जाता है।

सात्म्य विचार

नरस्य सात्म्यानि तु भेषजानि । प्रधानदेशोदकरोगविग्रहाः।
यदेतदन्यच्च सुखाय कल्पते। निषेवितं याति विरूद्धमन्यथा॥ 39॥

भावार्थ : जिनके सेवन से मनुष्य को सुख होता हो ऐसे औषधि, साधारण देश जल, रोग, शरीर आदि एवं और भी सुखकारक पदार्थ सात्म्य कहलाते हैं। इसके विरुद्ध अर्थात् जिनके सेवन से दुःख होता हो उसे असात्म्य कहते हैं।

प्रत्येक पदार्थ सात्म्य हो सकता है

यदल्पमल्पं क्रमतो निषेवितं विषं च जीर्णं समुपैति नित्यशः।
ततस्तु सर्वं न निबाधते नरं दिनैर्भवेत्सप्तभिरेव सात्म्यकम् ॥ 40॥

भावार्थ : यदि बार-बार थोड़ा-थोड़ा विष भी क्रम से खाने का अभ्यास करें तो विष का भी पचन हो सकता है। विष का दुष्प्रभाव नहीं होता है इसलिए क्रम से सेवन को करने पर मनुष्य को कोई पदार्थ अपाय नहीं करता। किसी भी चीज को सात दिन तक बराबर सेवन करें, तो (इतने दिन के अंदर ही) वह सात्म्य बन जाता है।

प्रकृति कथन प्रतिज्ञा

इति प्रयत्नाद्वरसात्म्यलक्षणं निगद्य पुंसां प्रकृतिः प्रवक्ष्यते।
विचार्य सम्यक् सह गर्भलक्षणम् प्रतीतजातिस्मरणादिहेतुभिः॥ 41॥

भावार्थ : इस प्रकार बहुत यत्न पूर्वक सात्म्य लक्षण को प्रतिपादन कर अब गर्भ लक्षण, जातिस्मरण के कारणादिक के विचार से युक्त मनुष्यों की प्रकृतियों के सम्बन्ध में कहेंगे।

ऋतुमती स्त्री के नियम

यदर्तुकालं वनिता मुनिव्रता। विसृष्टमाल्याभरणानुलेपना।
शरावपत्रांजलिभोजनी दिने। शयीत रात्रावपि दर्भशायिनी॥ 42॥

भावार्थ : जब स्त्री रजस्वला हो जावें, तब वह मुनियों के समान हिंसा आदि पंच पापों का बिल्कुल त्याग करे और मौन व्रत आदि से रहे एवं तीन दिन तक पुष्पमाला, आभरण, सुगंध लेपन आदि को भी छोड़ना चाहिए। दिन में वह सराव (सकोरा), पत्र या अंजुलि से भोजन करें एवं रात्रि में दर्भशय्या पर सोयें।

गर्भाधानक्रम

विवर्जयेत्तां च दिनत्रयं पतिः। ततश्चतुर्थेऽहनि तोयगाहनैः।
शुभाभिषिक्तां कृतमंगलोज्वलां। सतैलमुष्णां कृशरान्नभोजनीम्॥ 43॥
स्वयं घृतक्षीरगुडप्रमेलितं - प्रभूतवृष्याधिकभक्ष्यभोजनः।
स्वलंकृतः साधुमना मनस्विनीं। मनोहरस्तां वनितां मनोहरीम्॥ 44॥
निशि प्रयायात्कुशलस्तदंगनां। सुतेऽभिलाषो यदि विद्यते तयो
प्रपीड्य पार्श्वं वनिता स्वदक्षिणं। शयीत पुत्र्यामितरं मुहूर्तकम्॥ 45॥

भावार्थ : तीन दिन तक पति उस स्त्री का संस्पर्श नहीं करें। चौथे दिन में वह स्त्री पानी में प्रवेश कर अच्छी तरह स्नान कर लेवें, तदनन्तर वस्त्र, आभूषण व सुगंध द्रव्यों से मंगलालंकार कर अच्छी तरह से भोजन करें, जिसमें तैलयुक्त गरम खिचड़ी वगैरह रहें। पुरुष भी स्वयं उस दिन घी, दूध, शक्कर, गुड़ और अत्यधिक वाजीकरण गरिष्ठ द्रव्यों से संयुक्त, भक्ष्यों को खाकर अच्छी तरह अपना अलंकार कर लेवें, फिर रात्रि में प्रसन्न चित्त से वह सुंदर पुरुष उस प्रसन्न मन वाली पूर्वोक्त प्रकार से संस्कृत सुंदर स्त्री के साथ संभोग करें। यदि उन दोनों को पुत्र की इच्छा है तो संभोग के बाद स्त्री अपने दाहिने बगल से एक मुहूर्त सोवें, यदि पुत्री की इच्छा है तो बायें बगल से एक मुहूर्त सोवें।

ऋतुकाल में गृहितगर्भ का दोष

कदाचिदज्ञानतयैवमंगना। गृहीतगर्भा प्रथमे दिने भवेत्।
अपत्यमेतन्म्रियते स्वगर्भतो द्वितीयरात्रावपि सूतकांतरे॥ 46॥
तृतीयरात्रौ म्रियतेऽथवा पुनः सगद्गदोंधो बधिरोऽतिमिम्मिनः।
स्वभावतः क्रूरतरोऽपि वाऽभवेत् ततश्चतुर्थेऽहनि बीजमावहेत्॥ 47॥

भावार्थ : कदाचित् स्त्री पुरुषों के अज्ञान से उस स्त्री को रजस्वला की अवस्था में ही यदि पहले दिन गर्भ धारण कराया जाये तो उससे उत्पन्न बालक गर्भ में ही मर जाता है। यदि दूसरे दिन गर्भ रहा तो उत्पन्न होने के बाद दस दिन के अंदर मर जाता है। तीसरे दिन गर्भ हो तो वह या तो जल्दी मर जाता है। यदि जीता रहा तो वह हकला, अंधा, बहरा, तोतला एवं स्वभाव से अत्यधिक क्रूर होता है। इसलिए चौथे दिन में ही बीज धारण कराना चाहिए अर्थात् संभोग करना चाहिए।

गर्भोत्पत्ति क्रम

रजस्वलायां पुरुषस्य यत्नतः क्रमेण रेतः समुपैति शोणितम्
तदा विशत्यात्मकृतोरुकर्मणाप्यनाद्यनंतः कृतचेतनात्मकः॥ 48॥

भावार्थ : उपर्युक्त प्रकार से रजस्वला होने के चौथे दिन में स्त्री के साथ यत्नपूर्वक संभोग करें

तो पुरुष का वीर्य स्त्री के रक्त में (रज) जाकर (गर्भाशय में) मिलता है। उसी समय यदि गर्भ ठहरने का योग हो तो वहाँ अनादि, अनंत और चैतन्य स्वरूपी आत्मा अपने पूर्वकर्म वश प्रवेश करता है।

जीव शब्द की व्युत्पत्ति

स जीवतीहेति पुनः पुनश्च वा स एव जीविष्यति जीवितः पुरा।
ततश्च जीवोऽयमिति प्रकीर्तितो विशेषतः प्राणगणानुधारणात्॥ 49॥

भावार्थ : वह शरीरादि प्राणों को पाकर जीता है, पुनः-पुनः भविष्य में भी जीयेगा, भूतकाल में जी रहा था इसलिए जीव के नाम से वह आत्मा कहा जाता है।

मरण स्वरूप

मनोवचः कायबलेन्द्रियैस्सह प्रतीतनिश्वासनिजायुषान्वितः।
दशैव ते प्राणगणाः प्रकीर्तितास्ततो वियोगः खलु देहिनो वधः॥ 50॥

भावार्थ : मनोबल, वचनबल, कायबल इस प्रकार तीन बलप्राण, स्पर्शनेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय व श्रोतेन्द्रिय, इस प्रकार पाँच इन्द्रिय प्राण एवं श्वासोच्छ्वास व आयु प्राण, इस प्रकार प्राणियों के कुल दश[1] प्राण हैं। जिनके वियोग से प्राणियों का मरण होता है।

शरीर वृद्धि के लिए षट् पर्याप्ति

ततस्तदाहारशरीरविश्रुतस्स्व - केन्द्रियोच्छ्वासमनोवचोस्यपि।
प्रधानपर्याप्तिगणास्तु वर्णितो यथाक्रमाज्जीवशरीरवृद्धये॥ 51॥

भावार्थ : तदनन्तर उन यथासंभव प्राणों को प्राप्त जीव को आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, मन व वचन इस प्रकार की छह पर्याप्ति कही गई हैं, जो क्रम से जीव के लिए शरीर वृद्धि के कारण हैं।

शरीरोत्पत्ति में पर्याप्ति की आवश्यकता

सशुक्ररक्तं खलु जीवसंयुतम् क्रमाच्च पर्याप्तिविशेषसद्गुणान्।
मुहूर्तकालादधिगम्य षड्विधानुपैति पश्चादिह देहभावतम्॥ 52॥

भावार्थ : जीव युक्त रजोवीर्य का वह पिण्ड क्रम से छह पर्याप्तियों को अंतर्मुहूर्त से प्राप्त कर तदनन्तर वही शरीर के रूप को धारण कर लेता है।

गर्भ में शरीराविर्भाव क्रम (चंपक मालिका)

अथ दशरात्रतः कललतामुपयाति निजस्वभावतो।
दशदशभिर्दिनैः कलुषतां स्थिरतां व्रजतीह कर्मणा।

1. इन प्राणों के रहने पर जीव जिन्दा कहलाता है।

पुनरपि बुद्बुदत्वघनता भवति प्रतिमासमासतः।
[1]पिशितविशालता च बहिकृत स हि पंचमांसतः॥53॥
अवयवसंविभागमधिगच्छति गर्भगतो हि मासतः।
पुनरपिचर्मणा नखांगरुहोद्गम एव मासतः।
सशुषिरमुक्तमांगमुपलभ्य मुहुः स्फुरणं च मासतो।
नवदशमासतो निजनिजविनिर्गमनं विकृतीस्ततोऽन्यथा॥54॥

भावार्थ : गर्भ ठहरने के बाद दश दिन में वह कलल के रूप में बन जाता है। फिर दस दिन में वह गंदले रूप में बन जाता है, फिर दस दिन में वह स्थिर हो जाता है। पुनः एक महिने में बुदबुदे के समान और एक महिने में कुछ कठोर बन जाता है। इस प्रकार अपने कर्म के अनुसार उसमें क्रम से वृद्धि होकर पाँचवा महीने में बाहर की ओर से माँसपेशियाँ विशाल होने लगती हैं। तदनंतर एक (छटवाँ) महीने में उस बालक के अवयव विभाग की रचना होती है एवं फिर एक (सातवाँ) मास में चमड़ा, नख व रोमों की उत्पत्ति होती है। तदनंतर एक (आठवाँ) महीने में मस्तक का रंध्र ठीक-ठीक व्यक्त होकर स्फुरण होने लगता है। नौ या दसवें महिने में वह बालक या बालिका रूप संतान बाहर निकलती है। दस महिने के अंदर वह गर्भ बाहर न आवे, तो उस का विकार समझना चाहिए।

गर्भस्थ बाल की पोषणविधि

निजरुचितामपक्व समलाशयमध्यमगर्भसंस्थितः।
सरसजरायुणा परिवृतो बहुलोग्रतमेन कुंठितः।
प्रतिदिनमंबिकादशनचर्वितभक्ष्य - भोज्यपानका
न्युपरि निरंतरं निपतितान्यतिपित्तकफाधिकान्यलम्॥55॥
विरसपुरीषगंध - परिवासितवांतरसान्समन्ततः।
पिबति विभिन्न - पार्श्वघटवत्कुणपोंऽबुयुतो घटस्थितः।
अभिहितसप्त - मासतस्तदनंतरमुत्पलनालसंनिभं।
भवति हि नाभिसूत्रममुना तत उत्तरमश्नुते रसान्॥56॥
इतिकथितक्रमादधिनीत - वृद्धिमनेकविघ्नतः।
समुदितमातुरंगपरिपीडन - मुग्रमुदीरयन्पुनः।
प्रभवति वा कथंचिदथवा म्रियते स्वयमंबिकापि वा-
मनुजभवे तु जन्मसदृशं न च दुःखमतोऽस्ति निश्चितम्॥57॥

1. विशित विशालताच बलिकृतकाश्च हि पंचमाउसतः इति पाठांतरं।

भावार्थ : वह गर्भगत बालक स्वभाव से आमाशय, पक्वाशय व मलाशय के बीच में स्थित गर्भाशय में रसयुक्त जरायु के द्वारा ढका हुआ होकर अत्यन्त अंधकार से कुंठित रहता है। प्रतिनित्य माता जो कुछ भी भक्ष्य, भोजन व पान द्रव्य आदि को दाँतों से चबाकर खाती है, उससे बना हुआ पित्त व कफाधिक रस एवं नीरस, मल के दुर्गंध से परिवासित, अंतस्थित रसों को, चारों तरफ से पीता है, जैसे पानी के घड़े में रखा हुआ मुर्दा चारों तरफ से पानी को ग्रहण करता हो। (इस आहार से गर्भगत बालक सात महिने तक वृद्धि को प्राप्त होता है)। सात महिने होने के बाद उस बालक की नाभिस्थान से कमल नाल के समान एक नाल बनता है, वह माता के हृदय से सम्बन्धित होता है। तदनन्तर वह उसी नाल से रस आदि को ग्रहण करता है। इस उपर्युक्त क्रम से अनेक विघ्न व कष्टों के साथ गर्भगत बालक वृद्धि को प्राप्त होता है। जिस बीच में माता को उग्र अंग पीड़ा आदि उत्पन्न करता है। ऐसा होकर भी कभी वह सुख से उत्पन्न हो जाता है, कभी-कभी मर जाता है, इतना ही नहीं कभी-कभी माता का भी प्राण लेकर चला जाता है, इसलिए मनुष्य भव में आकर जन्म लेने के समान दुःख लोक में कोई दूसरा नहीं यह निश्चित है।

कर्म की महिमा

अशुचिपुरीषमूत्ररुधिर - स्त्रावगुह्यमलप्रदिग्धता
निष्ठुरतरविस्रपूतिबहुमिश्रित - रोमचयातिदुर्गमम्।
सुषिरमधोमुखं गुदसमीपविवर्ति निरीक्षणासहं
कथयितुमप्ययोग्यमधिगच्छति कर्मवशात्सगर्भजः ॥ 58 ॥

भावार्थ : वह गर्भगत बालक अपने कर्मवश ऐसे स्थान से बाहर निकलता है, जो कि कहने के लिए भी अयोग्य है। जहाँ अत्यन्त अशुचि मल, मूत्र, रक्त आदि का स्त्राव होता रहता है। गुह्य मल से लिपा हुआ होने के कारण जिसमें अत्यधिक दुर्गंध आता है, बहुत से रोम जिसमें हैं, देखने व जानने के लिए अत्यन्त घृणित है, असहनीय है, गुदास्थान के बिल्कुल पास में है, जिसका मुख नीचे की तरफ रहता है। ऐसे अपवित्र रंध्र स्थान को भी कर्मवशात् बालक प्राप्त करता है।

शरीर लक्षण कथन प्रतिज्ञा

प्रतीतमित्थं वरगर्भसंभवं निगद्य यत्नादुरुशास्त्रयुक्तितः।
यथाक्रमात्तस्य शरीरलक्षणं प्रवक्ष्यते चारुजिनेन्द्रचोदितम् ॥ 59 ॥

भावार्थ : इस प्रकार लोक में प्रसिद्ध गर्भोत्पत्ति के सम्बन्ध में अत्यन्त यत्न के साथ शास्त्र व तदनुकूल युक्ति से प्रतिपादन कर अब जिनेन्द्र भगवंत के कथानुसार क्रम से उसके शरीर लक्षण का प्रतिपादन (अगले अध्याय में) किया जायेगा।

अंतिमकथन

इति जिनवक्त्रनिर्गतसुशास्त्रमहांबुनिधेः, सकलपदार्थविस्तृततरंगकुलाकुलतः।
उभयभवार्थसाधनतटद्वयभासुरतो। निसृतमिदं हि शीकरनिभं जगदेकहितम्॥ 60॥

भावार्थ : जिसमें सम्पूर्ण द्रव्य, तत्त्व व पदार्थ रूपी तरंग उठ रहे हैं, इहलोक-परलोक के लिए प्रयोजनीभूत साधन रूपी जिसके दो सुंदर तट हैं, ऐसे श्री जिनेन्द्र के मुख से उत्पन्न शास्त्र समुद्र से निकली हुई बूँद के समान यह शास्त्र है। साथ में जगत् का एक मात्र हित साधक है। (इसलिए ही इसका नाम कल्याणकारक है)।

इत्युग्रादित्याचार्यकृत कल्याणकारके स्वास्थ्यरक्षाणाधिकारे
गर्भोत्पत्तिलक्षणं नाम द्वितीयः परिच्छेदः॥

इत्युग्रादित्याचार्य कृत कल्याणकारक ग्रन्थ के स्वास्थ्य रक्षणाधिकार में विद्यावाचस्पतीत्युपाधिविभूषित **वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री** द्वारा लिखित भावार्थ दीपिका टीका में गर्भोत्पत्तिलक्षण नामक **द्वितीय परिच्छेद** समाप्त हुआ।

अथ तृतीयः परिच्छेदः

मंगलाचरण व प्रतिज्ञा

सिद्धं महासिद्धिसुखैकहेतुं श्रीवर्धमानं जिनवर्द्धमानम्।
नत्वा प्रवक्ष्यामि यथोपदेशाच्छरीरमाद्यं खलु संविदानम्॥ 1॥

भावार्थ : जो सिद्ध गति को प्राप्त हुए हैं, सिद्धि (मोक्ष) सुख के लिए एक मात्र कारण हैं, जिनकी अंतरङ्ग-बहिरङ्ग श्री (लक्ष्मी) बढ़ी हुई है, ऐसे श्री वर्द्धमान भगवंत को नमस्कार कर, सबसे पहले गुरुपदेशानुसार शरीर के विषय में कहेंगे।

अस्थि, संधि आदिक की गणना

अस्थीन्यथ प्रस्फुटसंधयश्चस्नायुश्शिराविस्तृतमांसपेश्यः।
संख्याक्रममात्रित्रि[1]नवप्रतीतं सप्तापि पंच प्रवदेच्छतानि॥ 2॥

भावार्थ : इस मनुष्य में तीन सौ अस्थि (हड्डी) हैं, तीन सौ संधि (जोड़) और स्नायु (नसें) नौ सौ हैं। सात सौ शिरायें हैं और पाँच सौ माँसपेशी हैं।

धमनी आदि की गणना

नाभेः समंतादिह [2] विंशतिश्च तिर्यक्चतस्र्यश्च धमन्य उक्ताः।
नित्यं तथा षोडश कंदराणि रिक्तां च कूर्चानि षडेवमाहुः॥ 3॥

भावार्थ : नाभि के ऊपर और नीचे जाने वाली धमनी (नाड़ी) बीस हैं अर्थात् ऊपर दस गयी हैं, नीचे दस गयी हैं और इधर-उधर चार (तिर्यक् रूप से) धमनी रहती हैं। इस प्रकार धमनी चौबीस हैं। सोलह कंदरा (मोटी नस) हैं। कूर्च (कुंचले) छह हैं।

---

1. यहाँ तीन सौ हड्डी और तीन सौ संधि बतलायी गयी हैं। लेकिन जितनी हड्डी हैं उतनी ही संधि कैसे हो सकती है? क्योंकि दो हड्डियों के जुड़ने पर एक संधि होती है। इसलिए अस्थि संख्या से, संधियों की संख्या कम होना स्वाभाविक है। सुश्रुत में भी 300 अस्थि, 210 संधि बतलायी गई हैं। यद्यपि हमें प्राप्त तीन प्रतियों में भी ''त्रि त्रि नवप्रतीतं'' यही पाठ मिलता है। तो भी यह पाठ अशुद्ध मालूम होता है। यह लिपिकारों का दोष मालूम होता है।
2. सुश्रुतसंहिता में ''नाभिप्रभवाणां धमनीनामूर्ध्वगा दश दश चाधोगामिन्यश्चतस्रःस्तिर्यग्गाः'' इस प्रकार चव्वीस धमनियों का वर्णन हैं। इसलिए ''समंतात्'' शब्द का अर्थ चारों तरफ, ऐसा होने पर भी यहाँ ऊपर और नीचे इतना ही ग्रहण करना चाहिए। इसी आशय को आचार्य प्रवरने स्वयं, ''तिर्यक्चतस्रश्च धमन्य उक्ताः'' यह लिखकर व्यक्त किया है। अन्यथा समंतात् से तिर्यक् भी ग्रहण हो जाता है।

मांसरज्जु आदि की गणना

द्वे मांसरज्जु त्वच एव सप्त। स्त्रोता तथाष्टौ च यकृत्प्लीहाःस्यु।

आमोरूपक्वाशयभूत नित्यं। स्थूलांत्रपंक्तिः खलु षोडशैव॥ 4॥

भावार्थ : मांसरज्जु (बांधने वाली मांसरज्जु) दो हैं। त्वचा (चर्म) सात हैं। स्रोत आठ हैं एवं यकृत व (जिगर) प्लीहा (तिल्ली) एक-एक हैं तथा आमाशय (खाया हुआ कच्चा अन्न उतरने का स्थान जिसको मेदा भी कहते हैं) और पक्वाशय (अन्न को पकाने वाला स्थान) के रूप में रहने वाली स्थूल (बृहद्) आंतड़ियों की पंक्ति सोलह है।

मर्मादिक की गणना

सप्तोत्तरं मर्मशतं प्रदिष्टं। द्वाराण्यथात्रापि नवैव देहे।

लक्षण्यशीतिश्च हि रोमकूपा। दोषात्रयस्थूणविशेषसंज्ञाः॥ 5॥

भावार्थ : शरीर में 107 मर्म[1] हैं। नौ द्वार[2] (दो आँख में, दो नाक में, दो कान में, एक मुँह में, एक गुदा में और एक लिङ्ग में) हैं, अस्सी लाख रोम कूप (रोमों के छिद्र) हैं एवं स्थूण ऐसा एक विशेष नाम को धारण करने वाले (वात, पित्त, कफ, नामक) तीन दोष हैं।

दंत आदिक की गणना

द्वात्रिंशदेवात्र च दंतपंक्तिः। संख्या नखानामपि विंशतिः स्यात्।

मेदः सशुक्रं च समस्तुलुंग। प्रत्येकमेकांजलिमानयुक्तम्॥ 6॥

भावार्थ : इस शरीर में दांत बत्तीस ही रहते हैं अधिक नहीं, नखों की संख्या भी बीस हैं। मेद शुक्र व मस्तुलुंग इनके प्रत्येक के प्रमाण[3] एक-एक अंजली है।

वसा आदिक का प्रमाण

सम्यक्त्रयोऽप्यंजलयो वसायाः। पित्तं कफश्च प्रसृतिश्च[4] देहे।

प्रत्येकमेकं षडिह प्रदिष्टा। रक्तं तथार्धाढक[5]मात्रयुक्तम्॥ 7॥

भावार्थ : इस शरीर में वसा (चर्बी) तीन अंजलि प्रमाण रहती हैं। पित्त और कफ प्रत्येक छह-

1. जिस स्थान पर, चोट आदि लगने से (प्रायः) मनुष्य मर जाता है उस स्थान विशेष को मर्म कहते है। यथा-'' मारयतीति मर्म''
2. मल आदि के बाहर व अंदर जाने का मार्ग (सूराक, वा छिद्र,)
3. मेद आदि के जो प्रमाण यहाँ कहा है और आगे कहेंगे वह उत्कृष्ट प्रमाण है अर्थात् अधिक से अधिक (स्वस्थ पुरुष के शरीर में) इतना हो सकता है। इसलिए स्वस्थ पुरुष व व्याधिग्रस्त के शरीर में इस प्रमाण में से घट बढ भी हो सकता है।
4. प्रसृति- 8 तोले, 5. आढक - 256 तोले

छह प्रसृति प्रमाण रहता है एवं रक्त अर्ध आढक प्रमाण रहता है।

मूत्रादिक के प्रमाण

मूत्रं तथा प्रस्थ[1]परिप्रमाणं। मध्येऽर्धमप्याढकमेव वर्चः।

देहं समावृत्य यथाक्रमेण। नित्यं स्थिता पंच च वायवस्ते॥ 8॥

भावार्थ : शरीर में मूत्र एक प्रस्थ प्रमाण रहता है और मल अर्ध आढक रहता है एवं देह में व्याप्त होकर पाँच प्रकार के वायु रहते हैं।

पाँच प्रकार के वात

प्राणस्तथापानसमानसंज्ञौ। व्यानोऽप्यथोदान इति प्रदिष्टः।

पंचैव ते वायव एव नित्य-माहारनीहारविनिर्गमार्थाः॥ 9॥

भावार्थ : देह में प्राण वायु, अपानवायु, समानवायु, व्यानवायु व उदान वायु के नाम से पाँच वायु हैं। जो आहार को पचाने का एवं अंदर ले जाने आदि काम करती हैं एवं नीहार (मलमूत्र) के निर्गमन के लिए भी उपयोगी होती है।

मल निर्गमन द्वार

अक्षिण्यथाश्रूत्कटचिक्कणं च। कर्णे तथा कर्णज एव गूथः।

निष्ठीवसिंहाणकवातपित्तजिह्वाद्विजानां मलमाननेस्मिन्॥ 10॥

भावार्थ : आँखों से आँसू व चिकना अक्षिमल, कानों से कर्णमल निकलता है, इसी प्रकार थूक, सिंघाण, वात, पित्त, जिह्वामल व दंतमल, इस प्रकार मुख से अनेक प्रकार के मल निकलते हैं।

सिंहाणकश्चैव हि नासिकायां नासापुटे तद्भव एव गूथः।

मूत्रं सरेतः सपुरीषरक्तं स्रवत्यधस्ताद्विवरद्वये च ॥ 11॥

भावार्थ : सिंघाण नामक मल ही नाक से निकलता है। नाक के रंध्र में उसी सिंघाण से उत्पन्न शुष्क मल निकलता है तथा नीचे के दो रंध्रों से वीर्य, मूत्र, मल एवं रक्त का स्राव होता है।

शरीर का अशुचित्व प्रदर्शन

एवं स्रवद्भिन्नघटोपमानो देहो नवद्वारगलन्मलाढ्यः।

स्वेदं वमत्युत्कटरोमकूपैर्यूकासलिक्षाष्टपदाश्च तज्जाः॥12॥

भावार्थ : इस प्रकार यह शरीर फूटे घड़े के समान है, जिसमें सदा रात्रि-दिन नव द्वार से मल गलता रहता है एवं रोमकूपों से पसीना बहता रहता है, जिसमें अनेक जू लीख अष्टपद वाले आदि छोटे-छोटे जीव पैदा होते हैं।

1. प्रस्थ-64 तोले

धर्म प्रेम की प्रेरणा

इत्थं शरीरं निजरूपकष्टं कष्टं जरात्वं मरणं वियोगः।
जन्मातिकष्टं मनुजस्य नित्यं तस्माच्च धर्मे मतिमत्र कुर्यात् ॥ 13 ॥

भावार्थ : इस प्रकार यह शरीर स्वभाव से ही कष्ट (अशुचि) स्वरूप है। उसमें बुढ़ापा, मरण व इष्ट वस्तुओं का वियोग आदि और भी कष्ट हैं; जन्म लेना महाकष्ट है। इस प्रकार मनुष्य को चारों तरफ से कष्ट ही कष्ट है, इसलिए मनुष्य को उचित है कि वह सदा धर्म कार्य में प्रवृत्ति करें।

जातिस्मरण विचार

एवं हि जातस्य नरस्य कस्यचित्। जातिस्मरत्वं भवतीह किंचित्।
तस्माच्च तल्लक्षणमत्र सूच्यते। जन्मांतरास्तित्त्वनिरूपणाय तत् ॥ 14 ॥

भावार्थ : इस प्रकार (पूर्वोक्त क्रम से) उत्पन्न मनुष्यों में किसी-किसी को कभी-कभी जातिस्मरण होता है, इसलिए उसका लक्षण यहाँ कहा जाता है, जिससे पूर्वजन्म व परजन्म का अस्तित्त्व सिद्ध हो जायेगा।

जातिस्मरण के कारण

प्राणांतिकेनिर्मलबुद्धिसत्त्वता। शास्त्रज्ञताधर्मविचारगौरवम्।
वक्रेतरप्राप्तिविशेषणोद्भवो। जातिस्मरत्वे स्युरनेकहेतवः ॥ 15 ॥

भावार्थ : प्राण जाते समय (मरण समय) बुद्धि और मन में नैर्मल्य रहना, शास्त्र ज्ञान का रहना, धार्मिक विचार की प्रबलता का रहना, ऋजु गति से जन्म स्थान में उत्पन्न होना, सरल परिणाम की प्राप्ति आदि जातिस्मरण के लिए अनेक कारण होते हैं।

जातिस्मरण लक्षण

श्रुत्वा च दृष्ट्वा च पुरा निषेवितान्। स्वप्नाद्भयात्तत्सदृशानुमानतः।
साक्षात्स्वजातिं परमां स्मरंति तां। कर्मक्षयादौपशमाच्च देहिनः ॥ 16 ॥

भावार्थ : पहले के जन्म में अनुभव किए हुए विषयों को सुनकर या देखकर एवं स्वप्न व भय अवस्था में तत्सदृश पदार्थों को देखकर उत्पन्न, तत्सदृश अनुमान से तथा (मतिज्ञानावरण) कर्म के क्षय, उपशम व क्षयोपशम से मनुष्य अपने पूर्वभव सम्बन्धी विषयों को साक्षात् स्मरण करता है, उसे जातिस्मरण कहते हैं।

प्रकृति की उत्पत्ति

निर्दिश्य जातिस्मरलक्षणत्वं वक्ष्यामहे सत्प्रकृतिं यथाक्रमात्।
रक्तान्विते रेतसि जीवसंचरे दोषोत्कटोत्था प्रकृतिर्नृणां भवेत्॥ 17 ॥

भावार्थ : इस प्रकार जातिस्मरण के लक्षण को निरूपण कर अब मनुष्य के शरीर की वात-पित्तादि प्रकृति के विषय में वर्णन करेंगे। यथाक्रम गर्भाशयस्थ, रज और वीर्य मिश्रित पिण्ड में जिस समय जीव का संचार (जीवोत्पत्ति) होता है, उसी समय उस जीव संयुक्त पिण्ड में जिस दोष की अधिकता हो, उसी दोष की प्रकृति बनती है। यदि उस पिण्ड में पित्त का आधिक्य हो तो, उससे उत्पन्न संतान की पित्त प्रकृति होती है। इसी तरह अन्य प्रकृतियों को जानना। यदि तीनों दोष समान हों, तो सम प्रकृति बनती है।

वात प्रकृति के मनुष्य का लक्षण

वातोद्भवा या प्रकृतिस्तया नरःशीतातिविद्विट् परुषः सिरान्वितः।
जागर्ति रात्रौ सततं प्रलापवान् दौर्भाग्यवान् तस्करवृत्तिरप्रियः॥ 18॥
मात्सर्यवानार्यविवर्जितो गणै। रूक्षाल्पकेशो नखदंतभक्षकः।
रोगाधिकस्तूर्णगतिः खलोऽस्थिरो निस्सौहृदो धावति गायकस्सदा॥ 19॥
साक्षात्कृतघ्नः कृशनिष्ठुरांगः संभिन्नपादो धमनीसनाथः।
धैर्येण हीनोऽस्थिरबुद्धिरल्पः स्वप्ने च शैलाग्रनभोविहारी॥ 20॥

भावार्थ : वात प्रकृति का मनुष्य शीतद्वेषी, अधिक व कठिन शिराओं से युक्त होता है, रात्रि में (विशेष) जागता है व सदा बड़बड़ करता रहता है एवं वह भाग्यहीन, चोर व दुनिया को अप्रिय, मत्सरी सज्जनों के गुणों से रहित, रूक्ष व अल्पकेश सहित, नख व दंत को भक्षण करने वाला, अधिक रोग से पीड़ित, फुर्ती से चलने वाला, दुर्जन, अस्थिर व जिसका कोई मित्र नहीं होता, विशेष दौड़ने वाला एवं हमेशा गाने वाला होता है एवं साक्षात् कृतघ्न, कृश व निष्ठुर (खरदरापन आदि लिए हुए) शरीर वाला होता है और जिसके दोनों पाद फटे रहते हैं। अधिक धमनि से व्याप्त रहता है। धैर्य रहित अस्थित व अल्प बुद्धि वाला होता है तथा स्वप्न में पर्वत के अग्रभाग व आकाश में विहार करता है अर्थात् पर्वताग्रभाग व आकाश में गमन करने का स्वप्न देखता है।

पित्त प्रकृति के मनुष्य का लक्षण

पित्तोद्भवायाः प्रकृतेः सकाशात्, क्रोधाधिकस्तीक्ष्णतरः प्रगल्भः।
सस्वेदनः पीतसिरावितानः, यतः प्रियस्ताम्रतरोष्ठतालुः॥ 21॥
मेधान्वितः शूरतरोऽप्रधृष्यो, वाग्मी कविर्वाचकपाठकः स्यात्।
शिल्पप्रवीणः कुशलोऽतिधीमान्, तेजोऽधिकः सत्यपरोऽतिसत्वः॥ 22॥
पीतोऽतिरक्तः शिथिलोष्णकायो, रक्तांबुजौपम्यकरांघ्रियुग्मः।
क्षिप्रं जरार्तः खलताप्रसृष्टः, सौभाग्यवान् संततभोजनार्थी॥ 23॥

स्वप्ने सुवर्णाभरणानि पश्ये, दुंजा[1]स्रजोऽलक्तकमांसवर्गान्।
उल्काशनिप्रस्फुरदग्निराशीन्, पुष्पोत्करान् किंशुककर्णिकारान्॥ 24॥

भावार्थ : पित्त प्रकृति का मनुष्य क्रोधी, तीक्ष्ण बुद्धिवाला, चतुर, पसीनायुक्त पीतवर्ण की शिरायुक्त, प्रिय, लालओष्ठ व तालु से युक्त, बुद्धिमान, शूर अभिमान या धिटाई से युक्त, वक्ता, कवि, वाचक, पाठक, शिल्पकला में प्रवीण, कुशल, अत्यधिक विद्वान्, पराक्रमी, सत्यशील, बलवान्, पीत, रक्त शिथिल व उष्ण काय को धारण करने वाला, लाल कमल के समान हाथ-पैर को धारण करने वाला, जल्दी बुढ़ापे से पीड़ित, खलित्व, (बालों का उखड़ जाना) रोग से पीड़ित, सौभाग्यशाली, सदा भोजनेच्छु हुआ करता है एवं स्वप्न में सुवर्ण निर्मित आभरण, घुंघुची का हार, लाक्षारस, माँस वगैरह, उल्कापात, बिजली तथा प्रज्वलित अग्निराशि, किंशुक,(पलाश) कर्णिकार (ढाक)(कनेर) आदि लाल वर्ण वाले पुष्प समूहों को देखता है।

कफप्रकृति के मनुष्य का लक्षण

श्लेष्मोद्भवायाः प्रकृतेर्नरः स्यान्मेधाधिकः स्थूलतरः प्रसन्नः।
दूर्वांकुरश्यामलगात्रयष्टिर्मर्त्यः कृतज्ञः प्रतिबद्धवैरः॥ 25॥
श्रीमान् मृदंगांबुदसिंहघोषः स्निग्धः स्थिरः सन्मधुरप्रियश्च।
माधुर्यवीर्याधिकधैर्ययुक्तः कांतः सहिष्णुर्व्यसनैर्विहीनः॥ 26॥
शिक्षाकलावानपि शीघ्रमेव ज्ञातुं न शक्तः सुभगः सुनेत्र।
हंसाढ्यपद्मोत्पलषण्डवापीस्रोतस्विनीः पश्यति संप्रसुप्तः॥ 27॥

भावार्थ : कफ प्रकृति के मनुष्य को बुद्धि अधिक होती है। वह मोटा प्रसन्न चित्तयुक्त, दर्भ के अंकुर के समान सांवला वर्ण वाला, कृतज्ञ, दूसरों के साथ बद्ध वैर, श्रीमंत, मृदंग, मेघ व सिंह के समान (कण्ठ स्वर) शब्द युक्त, स्नेही, स्थिर चित्त, मीठे पदार्थों का प्रेमी, माधुर्य गुण से युक्त, वीर, धीर, मनोहर, सहिष्णु सुख, दुःख, शीत, उष्ण आदि को सहन करने वाला, व्यसन रहित, शिक्षा कलाओं से युक्त, (इनमें प्रवीण) शीघ्र जानने में असमर्थ अर्थात् गम्भीर, सुंदर शरीर धारक, सुंदरनेत्री होता है और स्वप्न में हंस पक्षी, पद्म, नीलकमल युक्त, वापी (कुँआ) व नदी को देखता है।

क्षेत्रलक्षण कथन - प्रतिज्ञा

इत्थं लसत्सत्प्रकृतिं विधाय। वक्ष्यामहे भेषजलक्षणार्थम्।
सुक्षेत्रमक्षूणगुणप्रशस्तम्। श्वभ्रात्मवल्मीकविषैर्विहीनम्॥ 28॥

भावार्थ : इस प्रकार प्रकृति लक्षण का निरूपण कर अब औषध ग्रहण करने के लिए योग्य श्रेष्ठ गुण युक्त, छिद्र, नरक कुण्ड सदृश वामी व विष रहित प्रशस्त क्षेत्र का वर्णन करेंगे।

1. भुंजा, इति पाठांतरं

औषधि ग्रहणार्थ अयोग्य क्षेत्र

देवालयं प्रेतगणाधिवासं। शीतातपात्यंतहिमाभिभूतम्।
तोयावगाढं विजलं विरूपं। निस्साररूक्षक्षुपवृक्षकल्पम्॥ 29॥
क्षेत्रं दरीगुह्यगुहाप्रभूतं। दुर्गंधसांद्रं सिकतातिगाढम्।
वर्ज्यं सदा नीलसितातिरक्तं। भस्माभ्रकापोतकनिष्ठवर्णम्॥ 30॥

भावार्थ : देवालय भूतप्रेतादि के निवास भूमि (श्मशान आदि) अत्यन्त शीत प्रदेश, अत्यन्त उष्ण प्रदेश अत्यन्त हिमयुक्त प्रदेश, अत्यधिक जल युक्त प्रदेश, निर्जल, विरूप प्रदेश, निस्सार रूक्ष, क्षुद्र वृक्षों के समूह से युक्त, ऐसे पर्वत, पर्वतों के अत्यधिक गुह्य (अंधकारमय) गुफा, दुर्गंध से युक्त, अधिक बालू रेत सहित, नील, सफेद, अत्यन्त लालवर्ण, भस्म वर्ण, आकाश वर्ण व कबूतर का वर्ण आदि नीच वर्णों से युक्त क्षेत्र औषध ग्रहण करने के लिए अयोग्य है अर्थात् ऐसे प्रदेशों में उत्पन्न औषध ग्राह्य नहीं हो सकता है।

औषध ग्रहणार्थ प्रशस्तक्षेत्र

स्निग्धप्ररोहाकुलफुल्लवल्ली लीलाफलालोलमहीरुहाख्यम्।
माधुर्यसौंदर्यसुगंधबंधि प्रस्पष्टपुष्टोरुरसप्रधानं॥ 31॥
सुस्वादुतोयं सुसमं सुरूपं साधारणं सर्वरसायनाढ्यम्।
क्षेत्रं सुकृष्णं मृदुसप्रसन्नं ज्ञेयं सदा ह्यौषधसंग्रहाय॥ 32॥

भावार्थ : जहाँ पर नये-नये अंकुरों से व्याप्त प्रफुल्लित लतायें उत्पन्न होती हों, फल भरित वृक्ष हों, सर्वत्र मधुरता, सुंदरता व सुगंधी छा रही हो, जहाँ पर मधुर आदि श्रेष्ठ रस अधिक मात्रा से व्याप्त हो, जहाँ का पानी अत्यन्त स्वादिष्ट हो, जो समशीतोष्ण प्रदेश हो, सुरूप हो, सर्व रसायनों से युक्त साधारण देश हो, काले वर्ण युक्त मृदु व प्रसन्न जमीन हो, ऐसा क्षेत्र औषध संग्रह के लिए योग्य है।

सुक्षेत्रोत्पन्न अप्रशस्त औषधि

अत्रापि संजातमहौषधं यद्दावानलाद्यातपतोयमार्गैः।
शस्त्राशनिप्रस्फुटकीटवातैः संबाध्यमानं परिवर्जनीयं॥ 33॥

भावार्थ : ऐसे सुक्षेत्र में भी उत्पन्न उत्तम औषधि, दावानल, धूप, जल आदि से और शस्त्र, बिजली, कीड़े, हवा आदि कारणों से दूषित हुई हो तो उसे भी छोड़ देनी चाहिए।

प्रशस्त औषधि का लक्षण

स्वल्पं सुरूपं सुरसं सुगंधं। मृष्टं सुखं पथ्यतमं पवित्रम्।
साक्षात्सदा दृष्टफलं प्रशस्तं। संप्रस्तुतार्थं परिसंगृहितं॥ 34॥

भावार्थ : वह औषधि स्वल्प क्यों न रहे, परन्तु सुरूप, सुरस, सुगंध, सुखकारक, स्वादिष्ट, पथ्य रूप, शुद्ध व साक्षात् फलप्रद होती है, वही प्रशस्त है। ऐसी औषधि चिकित्सा कर्म के लिए संग्रहणीय है।

परीक्षा पूर्वक ही औषध प्रयोग करना चाहिए

एवंविधं भेषजमातुराग्नि - व्याधिस्वरूपं सुनिरीक्ष्य दत्तं।
रोगान्निहंत्याशु तदातिघोरान्। हीनाधिकं तद्विफलादिदोषं॥ 35॥

भावार्थ : उपर्युक्त प्रकार की निर्दोष औषधि का प्रयोग यदि रोगी की अग्नि, वय, बल, देश, काल, रोग स्वरूप आदि को देखकर किया गया तो वह शीघ्र भयंकर रोगों को भी नाश करती है। यदि औषध दोष सहित हो या अग्नि आदि का विचार न करके प्रयोग किया जाये तो विफल होता है।

अधिक मात्रा से औषधि प्रयोग करने का फल

मूर्च्छामदग्लानिविदाहतोदात्याध्यानविष्टंभविमोहनादीन्।
मात्राधिकं ह्यौषधमत्र दत्तं। कुर्यादजीर्णं विषमाग्नितां च॥ 36॥

भावार्थ : मात्रा से अधिक औषधि का प्रयोग करें तो मूर्च्छा, मद, ग्लानि, दाह पीड़ा, अफराना, मल का अवरोध, भ्रम एवं अजीर्ण व विषमाग्नि आदि अनेक रोगों की उत्पत्ति होती है।

औषध प्रयोग विधान

हीनं त्वकिंचित्करतामुपैति तस्मात्समं साधु नियोजनीयं।
दत्वाल्पमल्पं दिवसत्रयेण मात्रां विदध्यादिह दोषशांत्यै॥ 37॥

भावार्थ : यदि हीन मात्रा से औषधि प्रयोग किया जाय तो वह फलकारी नहीं होता है इसलिए (न हीन मात्रा हो न अधिक) सम मात्रा से ठीक-ठीक प्रयोग करना चाहिए। (प्रयत्न करने पर भी, अग्नि आदि का प्रमाण स्पष्ट मालूम न हो तो) दोष शांति के लिए, अल्प मात्रा से आरम्भ कर थोड़ा-थोड़ा तीन दिन तक बढ़ाकर, योग्य मात्रा का निश्चय कर लेना चाहिए।

जीर्णाजीर्ण औषध विचार

सर्वाणि सार्द्राणि वरौषधानि वीर्याधिकानीति वदंति तज्ज्ञाः।
सर्पिर्विडंगाः सह पिप्पलीभिर्जीर्णा भवंत्युत्तमसद्गुणाढ्याः॥ 38॥

भावार्थ : सम्पूर्ण आर्द्र अर्थात् नये औषधियों में अधिक शक्ति है, ऐसा तज्ज्ञ लोग कहते हैं। लेकिन विडंग, पीपल और घी, ये पुराने होने पर नये की अपेक्षा विशेष गुण युक्त होते हैं।

स्थूल आदि शरीर भेद कथन

सूत्रक्रमाद्भेषजसंविधानमुक्त्वा तु देहप्रविभागमाह।
स्थूलः कृशो मध्यमनामकश्च तत्र प्रधानं खलु मध्यमाख्यम्॥ 39॥

भावार्थ : इस प्रकार औषधि के सम्बन्ध में आगमानुसार कथन कर अब देह के भेद को कहेंगे। वह देह, कृश, स्थूल व मध्यम के भेद से तीन प्रकार का है। उसमें मध्यम नामक देह प्रधान है।

प्रशस्ताप्रशस्त शरीर विचार

स्थूलःकृशश्चाप्यतिनिंदनीयौ भाराश्वयानादिषु वर्जनीयौ।
सर्वास्ववस्थास्वपि सर्वथेष्टः सर्वात्मना मध्यमदेहयुक्तः॥ 40॥

भावार्थ : स्थूल व कृश देह अत्यन्त निंद्य है एवं भारवहन, घोड़े की सवारी आदि कार्य में ये दोनों शरीर अनुपयोगी है। सर्व अवस्थाओं में, सर्व तरह से, सर्वथा मध्यम देह ही उपयोगी है।

स्थूलादि शरीर की चिकित्सा

स्थूलस्य कार्श्यं करणीयमत्र रूक्ष्यौषधैर्भोजनपानकाद्यैः।
स्निग्धैस्तथा पुष्टिकरैःकृशस्य पथ्यैस्सदा मध्यमरक्षणं स्यात्॥ 41॥

भावार्थ : सदा रूक्ष औषधि, भोजन-पान आदिकों से स्थूल शरीर को कृश करना चाहिए, कृश शरीर को स्निग्ध तथा पुष्टिकर औषधि, अन्न-पानों से पुष्ट बनाना चाहिए और पथ्य सेवन से मध्यम देह का रक्षण करना चाहिए अर्थात् स्थूल व कृश होने नहीं देवें।

साध्यासाध्य विचार

दोषैः स्वभावाच्च कृशत्वमुक्तं दोषोद्भवं साध्यतमं वदंति।
स्वाभाविकं कृच्छ्रतमं नितांतं यत्नाच्च तद्बृंहणमेव कार्यं॥ 42॥

भावार्थ : कृश शरीर एक तो दोषों से उत्पन्न दूसरा स्वाभाविक, इस प्रकार दो भेद से युक्त है। दोषों से उत्पन्न साध्य कोटि में है, परन्तु स्वाभाविक कृश, अत्यन्त कठिन साध्य है। उसको प्रयत्न कर पोषण करना ही पर्याप्त है।

स्थूल शरीर का क्षीणकरणोपाय

स्थूलस्य नित्यं प्रवदंति तज्ज्ञा विरेचनैर्योगविशेषजातैः।
रूक्षैः कषायैः कटुतिक्तवर्गैराहारभैषज्यविधानमिष्टं॥ 43॥

भावार्थ : स्थूल शरीर वाले को (कृश करने के लिए) विरेचन के नाना प्रकार का योग, रूक्ष, कषाय, कटु, तिक्तादिक औषधिवर्ग, व तत्सदृश आहार ग्रहण आदि उपयुक्त हैं, ऐसा आयुर्वेदज्ञ लोग कहते हैं-

क्षीण शरीर को समकरणोपाय

क्षीणस्य पानीयमतः प्रशस्तं। भुक्त्वोत्तरं क्षीरमपीह देयम्।
नस्यावलेहैः कवलग्रहैर्वा। नित्यं तदग्निः परिरक्षणीयः॥ 44॥

भावार्थ : कृश शरीर वाले को भोजन के बाद दूध या पानी को पिलाना चाहिए एवं नस्य, अवलेह, कवलग्रहण आदि यथायोग्य उपायों से उसकी अग्नि की सदा रक्षा करें।

मध्यम शरीर रक्षणोपाय

वाम्यो वसंते स च मध्यमाख्यो वर्षासु बस्तिं विदधीत तस्य।
वैरेचनं शारदिकं विधानम्। स्वस्थस्य संरक्षणमिष्टमार्यैः॥ 45॥

भावार्थ : मध्यम शरीर वाले को बसंतऋतु में वमन[1] कराना चाहिए, वर्षाऋतु में बस्तिकर्म का प्रयोग करना चाहिए एवं शरत्काल में विरेचन देना चाहिए। इस प्रकार मध्यम शरीर वाले के स्वास्थ्य की रक्षा करनी चाहिए।

स्वास्थ्य बाधक कारणों का परिहार

अत्यम्लरूक्षाधिकभोजनाति - व्यायामवातातपमैथुनानि।
नित्यं तथैकस्य रसस्य सेवा। वर्ज्यानि दोषावहकारणानि॥ 46॥

भावार्थ : अत्यधिक खट्टे पदार्थ, रूक्ष पदार्थों से युक्त भोजन, अत्यधिक व्यायाम करना, अत्यधिक हवा खाना, अत्यधिक धूप व गर्मी को सहन करना, अत्यधिक मैथुन सेवन करना एवं नित्य एक ही रस का सेवन करना आदि बातें जिनसे शरीर में अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं, सदा वर्ज्य हैं।

वातादि दोषों के कथन

देहक्रमं साधु निरूप्य रोगान् वक्ष्यामहे सूत्रविधानमार्गात्।
वातः कफः पित्तमिति प्रतीता दोषाः शरीरे खलु संभवंति॥47॥

भावार्थ : इस प्रकार देह के भेद व उनके रक्षणोपाय आदि विषय अच्छी तरह निरूपण कर अब आचार्यों के द्वारा उपदिष्ट आगम मार्ग से, शरीरस्थ रोगों का निरूपण करेंगे। इस शरीर में वात, पित्त व कफ के नाम से प्रसिद्ध तीन दोष हैं, जो उद्रिक्त होकर अनेक रोगों को उत्पन्न करते हैं।

वातादि दोष लक्षण

वातः कटु रूक्षतरश्चलात्मा पित्तं द्रवं तिक्ततरोष्णपीतम्।
स्निग्धः कफः स्वादुरसोऽतिमंदः स्वतो गुरुः पिच्छिलशीतलः स्यात्॥48॥

भावार्थ : वात दोष कटु, रूक्षतर व चल स्वभाव वाला होता है। पित्तदोष द्रव रूप है, तीखा व उष्ण है। उसका वर्ण पीला है एवं कफ स्निग्ध होता है, मधुर रसयुक्त व गाढ़ा रहता है तथा उसका

1. वसंतऋतु में कफ, वर्षाऋतु में वायु व शरदऋतु में पित्त का प्रकोप ऋतुस्वभाव से होता है। इन दोषों के जीतने के लिए यथाक्रम वमन, बस्ति व विरेचन दिया जाता है।

स्वभाव वजनदार पीला–पीला व ठण्डा है। इस प्रकार तीनों दोषों का लक्षण है।

कफ का स्थान

आमाशये वक्षसि चोत्तमांगे कंठे। च संधिष्वखिलेषु सम्यक्।

स्थित्वा कफः सर्वशरीरकार्यं कुर्यात्स संचारिमरुद्वशेन॥ 49॥

भावार्थ : उस कफ[1] को (मुख्यतः) रहने के स्थान पाँच हैं। क्लेदक कफ आमाशय में, अवलम्बक कफ वक्षस्थल (छाती)में, तर्पक कफ शिर में, बोधक कफ कण्ठ (गले) में और श्लेष्मक कफ सर्व संधियों में रहता है। इस प्रकार स्वस्थानों में रहते हुए संचार स्वभाव युक्त वात की सहायता से सर्व शरीर के कार्य को करता है।

पित्त का स्थान

पक्वाशयामाशययोस्तु मध्ये हृद्वत्क्वचित्प्रोक्तयकृत्प्लिहासु।

पित्तं[2] स्थितं सर्व शरीरमेव व्याप्नोति वातातिगमेव नीतम्॥ 50॥

---

1. कफ के भेद पाँच हैं। उसके नाम इस प्रकार हैं – 1. क्लेदक, 2. अवलम्बक, 3. तर्पक, 4. बोधक और 5. श्लेष्मक।

1. **अवलम्बक** – यह स्वशक्ति के बल से हृदय को बल देता है एवं अन्य कफ स्थानों में कफ पहुँचाते हुए उनको अवलम्बन करता है इसलिए इसका अवलम्बक नाम सार्थक है।
2. **क्लेदक** – यह आमाशय में आए हुए अन्न को क्लेदित (घीला) करता है, अतएव पाचन क्रिया में सहायक होता है।
3. **तर्पक** – यह शिर में रहते हुए आँख, नाक आदि गले के ऊपर रहने वाले इंद्रियों को तृप्त करता है, तर्पण करता है। इस हेतु से इसका तर्पक नाम सार्थक है।
4. **बोधक** – यह जीभ में रहते हुए मधुर अम्ल आदि रसों के ज्ञान (बोध) में सहायक होता है। इसलिए इसका नाम बोधक है।
5. **श्लेष्मक** – यह सम्पूर्ण हड्डियों के जोड़ में रहकर, चिकनाहट करता है, इसलिए हड्डियों में परस्पर रगड़ खाने नहीं देता है और गाड़ी के पहियों के बीच में लगाया गया तेल जिस प्रकार उसका उपकार करता है, वैसे ही यह संधियों को मजबूत रखता है। इसलिए इसका श्लैष्मिक नाम भी सार्थक है।

2. पित्त के भी पाँच भेद हैं – 1. पाचक, 2. भ्राजक, 3. रंजक, 4. आलोचक एवं 5. साधक।

1. **पाचक** – यह आमाशय और पक्वाशय के बीच में रहता है। अन्न को पचाता है, इसीलिए इसको जठराग्नि भी कहते हैं। अन्न के सारभूत पदार्थ और किट्ट (निःसार मल) को अलग–अलग विभाग करता है एवं स्वस्थान में रहते हुए अन्य पित्त के स्थानों में पित्त को रवाना कर उनको अनुग्रह करता है।
2. **भ्राजक** – इसके रहने का स्थान त्वचा है। यह शरीर में कांति उत्पन्न करता है।
3. **रंजक** – यह जिगर और तिल्ली में रहता है और इनमें आये हुए रस को रंग कर रक्त बना देता है।
4. **आलोचक** – यह आँख में रहता है और रूप देखने में सहायक होता है।
5. **साधक** – यह हृदय में रहता है। बुद्धि, मेधा, अभिमान आदि को उत्पन्न करता है। और अभिप्रेत अर्थ के सिद्ध करने में सहायक होता है।

भावार्थ : आमाशय और पक्वाशय के बीच में, हृदय स्थान में, पहले कहे हुए यकृत (जिगर) व प्लीहा के (तिल्ली) स्थान में पित्त रहता है और वह वात के द्वारा संचार स्वभाव युक्त सर्व शरीर में व्याप्त होता है।

वात का स्थान

शोणीकटीवंक्षणगुप्तदेशे। वायुः स्थितः सर्वशरीरसारी।

दोषांश्च धातून् नयति स्वभावात्। दुष्टः स्वयं दूषयतीह देहम्॥ 51॥

भावार्थ : सर्व शरीर में संचरण करने वाला वायु विशेषकर नितंब[1] प्रदेश, कटी, जांघों का जोड़ (रांङ) व गुप्त प्रदेश में निवास करता है। एवं दोष व रसादि धातुओं को अपने स्वभाव से यथास्थान पहुँचाना रहता है। यदि कदाचित् स्वयं दूषित हो जाये तो देह को भी दूषित करता है।

---

1. यहाँ जो नितम्ब आदि वात का स्थान बतलाया है, वह प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान, नाम वाला पंच प्रकार के वात का नहीं है। लेकिन यह साधारण कथन है। अन्य ग्रंथों में भी ऐसा कथन पाया जाता है। जैसे वात के स्थान छह है। आठ पित्त के स्थान है आदि। इस प्रकार कथन करके भी पाँच प्रकार के वातों के स्थान का वर्णन पृथक् किया है। उसका स्पष्ट इस प्रकार है।

प्राणवायु - यह हृदय में रहता है। किसी आचार्य का कहना है कि वह मस्तक में रहता है, लेकिन छाती, व कण्ठ में चलता फिरता है। खाया हुआ अन्न को अंदर प्रवेश कराता है। बुद्धि हृदय, इंद्रिय व मन को धारण करता है अर्थात् इनके शक्ति को मजबूत रखता है एवं थूक, छींक डकार, निःश्वास आदि कार्यों के लिए कारणभूत है।

उदानवायु - यह छाती में रहता है। नाक, नाभि, गला इन स्थानों पर संचरण करता है एवं बोलना, गाना, आदि से जो शब्द या स्वर की उत्पत्ति होती है, उसमें यह साधनभूत है।

समानवायु - यह आमाशय और पक्वाशय में रहता है। इन्हीं में चलता फिरता है। अग्नि के दीपन में सहायक है। अन्न को ग्रहण करता है और पचाता है, सारभाग और मलभाग को अलग-अलग करता है एवं इनको जाने देता है।

अपानवायु - यह पक्वाशय में रहता है। बस्ति मूत्राशय, शिश्नेन्द्रिय, गुदा, इन स्थानों में चलता फिरता है। एवं वायु, मूत्र, मल मूत्र, शुक्र, रज और गर्भ को योग्य काल में बाहर निकाल देता है।

व्यानवायु - यह सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होकर रहता है, लेकिन इसका ठहरने का मुख्य स्थान हृदय है। चलना, आक्षेपण, उत्क्षेपण, आँख मीचना, उघड़ना, रस रक्त आदि को ले जाना, पसीना, रक्त आदि को बाहर निकालना आदि शरीर के प्रायः सम्पूर्ण कार्य इसी वायु के अधीन है।

ऊपर तीनों दोषों का जो नियत स्थान बतलाया है। वह अविकृत दोषों का है। विकृत दोषों का नहीं है एवं ये दोष इन स्थानों में ही रहते हों, अन्य स्थान में नहीं रहते हों, यह बात नहीं। यों तो सम्पूर्ण दोष सर्व शरीर में रहते हैं।

यहाँ एक ही दोष के पाँच भेद बतलाए हैं। लेकिन इन सबके लक्षण एक ही हैं। स्थान विशेष में रहकर विशिष्ट काम को करने के कारण, अलग-अलग नाम व भेद किए गए हैं।

प्रकुपित दोष सबको कोपन करता है

एको हि दोषः कुपितस्तु दोषान् तान्दूषयत्यात्मनिवाससंस्थान।
तेषां प्रकोपानिह शास्त्रमार्गाद्वयमहे व्याधिसभुद्भवार्थान्॥ 52॥

भावार्थ : कोई भी एक दोष यदि कुपित हो जाये तो उसके आश्रय में (स्थान में रहने वाले) समस्त दोषों को वह कुपित करता है, जिससे अनेक रोग जाल उत्पन्न होते हैं। ऐसे दोष प्रकोपों के विषय में अब आगम मार्ग से कथन करेंगे।

दोष प्रकोपोपशम के प्रधान कारण

बाह्यांतरंगात्मनिमित्तयोगात् कर्मोदयोदीरणभावतो वा।
क्षेत्राद्यशेषोरुचतुष्टयाद्वा दोषाः प्रकोपोपशमौ व्रजंति॥ 53॥

भावार्थ : प्रतिकूल व अनुकूल बाह्य व अंतरङ्ग कारण से व असाता व सातावेदनीय कर्म के उदय व उदीरणा से विपरीत व अविपरीत, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से वात आदि दोषों के प्रकोप व उपशम होता है।

विशेष : प्रत्येक कार्य की निष्पत्ति के लिए दो प्रकार के निमित्त कारणों की आवश्यकता होती है। एक बाह्य निमित्त व दूसरा अंतरङ्ग निमित्त। रोग की निवृत्ति के लिए बाह्य निमित्त औषधि, सेवा, उपचार वगैरह है। अंतरङ्ग निमित्त तत्तत्रोग सम्बन्धी सातावेदनीय कर्म का उदय है। कर्मों की स्थिति को पूर्ण कर फल देने की दशा को उदय कहते हैं एवं कर्मों की स्थिति बिना पूरी किए ही कर्म के फल देकर खिर जाने को सिद्धान्तकार उदीरणा कहते हैं। सातावेदनीय कर्म का उदय व असातावेदनीय की उदीरणा भी रोग की निवृत्ति के लिए कारण है। योग्य औषधि आदिक द्रव्य, औषधि सेवन योग्य क्षेत्र, तद्योग्य काल व भाव भी रोग की निवृत्ति के लिए कारण है, इसलिए इन सब बातों के मिलने से दोषों के प्रकोप का उपशम होता है। इन बातों की विपरीतता में दोषों का प्रकोप व अनुकूलता में तदुपशम होता है।

वात प्रकोप का कारण

व्यायामतो वाप्यतिमैथुनाद्वा दूराध्वयानादधिरोहणाद्वा।
संधारणात्स्वप्नविपर्ययाद्वा तोयावगाहात्पवनाभिघातात्॥ 54॥
श्यामाकनीवारककोद्रवादि दुर्धान्यनिष्पावमसूरमाषैः।
मुद्गाढकीतिक्तकषायशुष्कशाकादिरूक्षादिलघुप्रयोगैः ॥ 55॥
हर्षातिवातातिहिमप्रपातात् जृंभात्क्षताद्वादिविघातनाद्वा।
रूक्षान्नपानैरतिशीतलैर्वा वातःप्रकोपः समुपैति नित्यम्॥ 56॥

भावार्थ : अति व्यायाम करने से, अति मैथुन करने से ,बहुत दूर पैदल मार्ग चलने से, कोई सवारी वगैरह चढ़ने से, अधिक वजन ढोने से, ठीक-ठीक समय नींद नहीं करने से पानी में प्रवेश करने से (अधिक तैरना आदि) वायु के आघात से, समा के चावल, नीवारक तिन्नी के चावल, कोदों, खराब धान्य, शिम्बी धान्य (सेम का जातिविशेष) मसूर, उड़द, मूंग, अरहर, तीखा, कषायला, शुष्क और रूक्ष साग आदि एवं लघु पदार्थों का प्रयोग करने से अति हर्ष, अतिवात, जखम होना, जंभाई, बरफ गिरना, आघात आदि से, रूक्ष अन्नपान व अतिशीत अन्नपान के प्रयोग से हमेशा वात कुपित होता है।

पित्तप्रकोप के कारण

शोकाधिकक्रोधभयातिहर्षात्तीव्रोपवासादति - मैथुनाच्च।
कट्वम्लतीक्ष्णातिपटुप्रयोगात् संतापिभिः सर्षपतैलमिश्रैः॥57॥
पिण्याकतैलातपशाकमत्स्यैः छागाविगोमांसकुलत्थयूषैः।
तत्राम्लसौवीरसुराविकारैः पित्तप्रकोपो भवतीह जंतोः॥ 58॥

भावार्थ : अधिक शोक, क्रोध, भय, और हर्ष से, तीव्र उपवास व अधिक मैथुन करने से, कटु (चरपरा) खट्टा, क्षार आदि तीक्ष्ण एवं नमकीन पदार्थों के अधिक सेवन से सरसों के तैल से तला हुआ पदार्थ, तिलका खल, तिलके तैल के भक्षण से, धूप का सेवन से, उष्ण शाकों के उपयोग से मछली, बकरी, भेड़, गाय, इनके मांस, कुलथी का यूष (जूस) खट्टी कांजी और मदिरा के सेवन से शरीर में पित्तप्रकोप होता है।

कफ प्रकोप के कारण

नित्यं दिवास्वप्नतयाव्यवायाव्यायामयोगादुरुपिच्छिलाम्लैः।
स्निग्धातिगाढातिपटुप्रयोगैः पिष्टेक्षुदुग्धाधिकमाषभक्ष्यैः॥59॥
दध्ना[1]लसंधानकमृष्टभोज्यैः वल्लीफलैरध्यशनैरजीर्णैः।
अत्यम्लपानैरतिशीतलान्नैः श्लेष्मप्रकोपं समुपैति नृणाम्॥60॥

भावार्थ : प्रति नित्य दिन में सोने से, मैथुन व व्यायाम न करने से, अधिक लिवलिवाहट खट्टा स्निग्ध (चिकना घी तैल आदि) अतिगाढ़ा या गुरु और नमकीन पदार्थों के सेवन से, अधिक गेहूँ, चना आदि के पीठ (आटा) ईख का रस, (गुड़, शक्कर आदि इक्षुविकार) दूध, एवं उड़द से मिश्रित या इनसे बने हुए भक्ष्यों के सेवन से, दही, मदिरा आदि, संधित पदार्थ, मिठाई आदि भोज्य पदार्थ, और कुष्माण्ड (सफेद कद्दू) के सेवन से, भोजन के ऊपर भोजन करने से, अजीर्ण से, अत्यन्त खट्टे रसों के पीने से, अतिशीतल अन्न के सेवन से मनुष्यों के कफ प्रकुपित होता है।

1. दध्नालसंदाल्कव इति पाठांतरं।

दोषों के भेद

प्रत्येकसंयोगसमूहभंगैः पुंसो[1] दशैवात्र भवंति दोषाः।
रक्तंच दोषैस्सह संविभाज्यं धातुस्तथा दूषकदूष्यभावात्॥ 61॥

भावार्थ : दोषों के प्रत्येक के हिसाब से तीन भेद हैं। यथा–वात 1 पित्त, 2 कफ, 3 संयोग (द्वंद) के कारण तीन भेद होते हैं। यथा – वातपित्त 1, वातकफ 2, कफपित्त 3, सन्निपात के कारण 4 भेद होते हैं यथा– वातपित्तकफ 1, मन्दकफवातपित्ताधिक 2, मन्दपित्तवातकफाधिक 3, मंदवातपित्तकफाधिक 4. इस प्रकार दोषों के भेद दस हैं। रक्त की भी दोषों के साथ गणना है अर्थात् रक्त को दोष संज्ञा है। वातादिदूषकों[2] द्वारा दूषित होने के कारण वही रक्त धातु भी कहलाता है।

प्रकुपित्त दोषों का लक्षण

तेषां प्रकोपादुदरे सतोदः। संचारकः साम्लकदाहदोषाः।
ह्लल्लासतारोचकताच दोषोस्ससंख्यानतो लक्षणमुच्यतेऽतः॥ 62॥

भावार्थ : उन वातादि दोषों के प्रकोप से, क्रमशः अर्थात् वातप्रकोप से पेट में इधर–उधर चलनेवाली, तुदनवत् (सुई चुभने जैसी) पीड़ा आदि होती है। पित्तप्रकोप से, खट्टापना, दाह आदि लक्षण होते है। कफ प्रकोप से, डकार, अरुचि आदि लक्षण प्रकट होते है। आगे दोष क्रम से, इनके प्रकोप का लक्षण विशेष रीति से कहेंगे।

वात प्रकोप के लक्षण

संभेदोत्ताडनतोदनानि संछेदनोन्मंथनसादनानि।
विक्षेपनिर्देशनभंजनानि विस्फाटनोत्पाटनकंपनानि॥63॥
विश्लेषणस्तंभनजृंभणानि निःस्वासनाकुंचनसारणानि।
नानातिदुःखान्यनिमित्तकानि वातप्रकोपे खलु संभवंति॥64॥

भावार्थ : शरीर टूटा–सा होना, कोई मारता हो–ऐसा अनुभव होना, सुई चुभने जैसी पीड़ा होना, कोई काटते हों, ऐसा होना, कोई मसलते हों, ऐसा अनुभव आना, शरीर का गलना, हाथ पैर आदि को इधर–उधर फेंकना शरीर में कुछ डसा हो ऐसा अनुभव होना, शरीर का टुकड़ा हो गया ऐसा अनुभव होना, शरीर में फफोले उठने जैसी पीड़ा हो, फटा जैसा अनुभव होना, कंप होना, शरीर के अंग–प्रत्यङ्ग भिन्न–भिन्न हो गए हों, ऐसा अनुभव होना, बिल्कुल स्तब्ध होना, जंभाई अधिक आना, अधिक श्वास छूटना शरीर का संकोच होना और प्रसारण होना इत्यादि अनेक अकस्मात् प्रकार के दुःख वात प्रकोप होने पर होते हैं।

1. पंचादशैवात्र, इति पाठांतरं।
2. वात, पित्त, कफ ये तीनों दोष धातुओं को दूषित करते हैं, इसलिए दूषक कहलाते हैं।

पित्तप्रकोप लक्षण

उष्मातिशोषातिविमोहदाह - धूमायनारोचकरोषातापाः।
देहोष्मतास्वेदबहुप्रलापाः पित्तप्रकोपे प्रभवंति रोगाः॥ 65॥

भावार्थ : अत्यन्त उष्णता का अनुभव होना, कंठशोषण आदि का अनुभव होना मूर्च्छा होना, दाह होना मुख से धुआँ निकलता-सा अनुभव होना, भोजन में अरुचि होना बहुत क्रोध आना, संताप होना, देह गरम रहना, अधिक पसीना आना, अधिक बड़बड़ाना ये सब विकार पित्त प्रकोप से उत्पन्न होते हैं।

कफ प्रकोप लक्षण

सुप्तत्त्वकंडूगुरुगात्रतातिश्वेतत्त्व - शीतत्त्वमहत्वनिद्राः।
संस्तंभकारोचकताल्परुक्च श्लेष्मप्रकोपोपगतामयास्ते॥ 66॥

भावार्थ : स्पर्शज्ञान चला जाना, शरीर का अधिक खुजाना, शरीर भारी हो जाना, शरीर सफेद हो जाना, शरीर में शीत मालूम होना, मोह होना, अधिक निद्रा आना, स्तब्ध होना, भोजन में अरुचि होना, मंद पीड़ा होना आदि कफ के प्रकोप से होने वाले विकार हैं अर्थात् उपर्युक्त रोग कफ के विकार से उत्पन्न होते हैं।

प्रकुपित दोषों के वर्ण

एषां भस्मातिरूक्षः प्रकटतरकपोतातिकृष्णो मरुत्स्यात्।
पित्तं नीलातिपीतं हरिततममतीवासितं रक्तमुक्तम्।
श्लेष्मा स्निग्धातिपाण्डुः स भवति सकलैः संनिपातः सवर्णैः।
दोषाणां कोपकाले प्रभवति सहसा वर्णभेदो नराणाम्[1] ॥ 67॥

भावार्थ : इन दोषों के प्रकोप होने पर, मनुष्यों के शरीर में नीचे लिखे वर्ण प्रकट होते हैं। वातप्रकोप होने पर शरीर भस्म जैसा, कपोत, (कबूतर जैसा) व अत्यन्त काला होता है एवं रूक्ष होता है। पित्त के प्रकोप से, अत्यन्त नीला, पीला, हरा, काला, व लालवर्ण हो जाता है। कफ के प्रकोप से चिकना होते हुए सफेद होता है जिस समय तीनों दोषों का प्रकोप एक साथ होता है उस समय, उपरोक्त तीनों दोषों के वर्ण (एक साथ) प्रकट होते हैं।

संसर्गाद्दोषकोपादधिकतरमिहालोक्य दोषं विरोधा-।
त्कर्तव्यं तस्य यत्नादुरुतरगुणवद्भेषजानां विधानम्।

1. नृणाम्

सम्यक्सूत्रार्थमार्गादधिकृतमखिलं कालभेदं विदित्वा।

वैद्येनोद्युक्तकर्मप्रवणपटुगुणेनादारादातुराणाम्॥ 68॥

भावार्थ : रोगियों की चिकित्सा में उद्युक्त, गुणवान वैद्य को उचित है कि आयुर्वेदशास्त्र के कथनानुसार कालभेद, देशभेद आदि सम्पूर्ण विषयों को अच्छी तरह से जान कर, द्वंद्वज, सान्निपातिक आदि व्याधियों में दोषों के बलाबल को अच्छी तरह से निश्चय कर, जिस दोष का, प्रकोप हुआ हो, उससे विरुद्ध अर्थात् उसको शमन व शोधन करने वाले गुणाढ्य औषधियों के प्रयोग वह आदर पूर्वक करें।

अंतिम कथन

इति जिनवक्त्रनिर्गतसुशास्त्रमहांबुनिधेः। सकलपदार्थविस्तृततरंगकुलाकुलतः।

उभयभवार्थसाधनतटद्वयभासुरतो। निसृतमिदं हि शीकरनिभं जगदेकहितम्॥ 69॥

भावार्थ : जिसमें सम्पूर्ण द्रव्य, तत्त्व व पदार्थरूपी तरंग उठ रहे हैं, इहलोक परलोक के लिए प्रयोजनीभूत साधन रूपी जिसके दो सुंदर तट हैं, ऐसे श्री जिनेन्द्र के मुख से उत्पन्न शास्त्र समुद्र से निकली हुई बूंद के समान यह शास्त्र है। साथ में जगत् का एक मात्र हित साधक है (इसलिए ही इसका नाम कल्याणकारक है)।

इत्युग्रादित्याचार्यकृत कल्याणकारके स्वास्थ्यरक्षणाधिकारे

सूत्रव्यावर्णनं नाम तृतीयः परिच्छेदः।

इत्युग्रादित्याचार्यकृत कल्याणकारक ग्रन्थ के स्वास्थ्यरक्षणाधिकार में
विद्यावाचस्पतीत्युपाधिविभूषित **वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री** द्वारा लिखित **भावार्थदीपिका टीका** में
सूत्रव्यावर्णन नामक **तृतीय परिच्छेद** समाप्त हुआ।

अथ चतुर्थः परिच्छेदः

॥ कालस्य क्रमबंधनामुपर्यंतम् ॥

(शार्दूलविक्रिडित)

मंगलाचरण और प्रतिज्ञा

यो वा वेत्यखिलं त्रिकालचरितं त्रैलोक्यगर्भस्थितं।
द्रव्यं पर्ययवत्स्वभावसहितं चान्यैरनास्वादितम्।
नत्वा तं परमेश्वरं जितरिपुं देवाधिदेवं जिनम्।
वक्ष्याम्यादरतः क्रमागतमिदं कालक्रमं सूत्रतः॥ 1॥

भावार्थ : जो परमेश्वर जिनेन्द्र भगवान् तीन लोकसम्बन्धी भूतभविष्यद्वर्तमान कालवर्ती द्रव्यपर्याय के समस्त विषयों को युगपत् प्रत्यक्षरूप से जानते हैं, जो कि अन्य हरिहरादि देवों द्वारा कदापि जानना शक्य नहीं है, जिन्होंने ज्ञानावरणादि कर्म रूपी शत्रुओं को जीता है, ऐसे देवाधिदेव भगवान् जिनेन्द्र को नमस्कार कर इस समय क्रम प्राप्त कालभेद का वर्णन आगमनानुसार यहाँ करेंगे, ऐसी प्रतिज्ञा श्री आचार्य करते हैं।

कालवर्णन

कालोऽयं[1] परमोऽनिवार्यबलवान् भूतानुसंकालनात्।
संख्यानादगुरुर्नचातिलघुरप्याद्यंतहीनो महान्।
अन्योऽनन्यतरोऽव्यतिक्रमगतिः सूक्ष्मोऽविभागी पुनः।
सोऽयं स्यात्समयोऽप्यमूर्तगुणवानावर्तनालक्षणः॥ 2॥

भावार्थ : संसार में काल बड़ा बलवान है एवं अनिवार्य है। संसार में कोई भी प्राणियों को यह छोड़ता नहीं है। यह अनंत समय वाला है। अगुरुलघु गुण से युक्त होने के कारण उसमें न्यून वा अधिक नहीं होता है। और अनाद्यनंत है। महान् है। द्रव्यलक्षण की दृष्टि से अन्य द्रव्यों से वह भिन्न है द्रव्यत्व सामान्य की अपेक्षा से भिन्न नहीं है अथवा लोकाकाश में सर्वत्र उसका अस्तित्व होने से अन्य द्रव्यो से भिन्न नहीं है। सिलसिलेवार[2] क्रम से चक्र के समान जिसकी गति है, जो सूक्ष्म है अविभागी है और अमूर्त गुणवाला है एवं वर्तना (आवर्तना) लक्षण से युक्त है अर्थात् सर्व द्रव्यों में प्रतिसमय होने वाला

---

1. इस श्लोक में परमार्थ काल का वर्णन है। 2. जिसकी गति अविच्छिन है।

सूक्ष्म अंतर्नीत पर्याय परिवर्तन के लिए जो कारण है। इस प्रकार काल संसार में एक आवश्यकीय व अनिवार्य द्रव्य है।

सोऽयं स्याद्विविधोऽनुमानविषयो रूपाद्यपेतोऽक्रियो
लोकाकाशसमस्तदेशनिचितोप्येकैक एवाणुकः
कालोऽतींद्रियगोचरः परम इत्येवं प्रतीतस्सदा।
तत्पूर्वो व्यवहार इत्यभिहितः सूर्योदयादिक्रमात्॥ 3॥

भावार्थ : यह काल प्रत्यक्ष गोचर नहीं है। अनुमानका विषय है। वह काल दो प्रकार का है। एक निश्चय अर्थात् परमार्थ काल दूसरा व्यवहार काल है। निश्चय काल अमूर्त है अर्थात् स्पर्श,रस गंध,वर्ण से रहित है क्रिया रहित है। लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश में एक-एक अणु के रूप में स्थित है। वह इंद्रिय गोचर नहीं अर्थात् अतींद्रिय केवल ज्ञान से जिसका ज्ञान हो सकता है, वह परमार्थ अथवा निश्चय काल है। इसके अलावा सूर्योदयादि के कारण से वर्ष, मास, दिन, घड़ी, घंटा, मिनिट इत्यादि का जो व्यवहार जिस काल से होता है, उसे व्यवहार काल कहते हैं।

व्यवहारकाल के अवांतर भेद

संख्यातीततया प्रतीतसमया[1] स्यादावलीति स्मृता।
संख्यातावलिकास्तथैवमुदितासोच्छ्वाससंज्ञानविताः।
सप्तोच्छ्वासगणो भवत्यतितरां तोकस्सविस्तारतः।
तोकात्सप्तलवो भवेरूपुयुतात्त्रिंशल्लवान्नड़िका॥ 4॥

भावार्थ : असंख्यात समयों को एक आवली कहते हैं। संख्यात आवलियों का एक उच्छवास होता है। सात उच्छ्वासों का एक स्तोक होता है। सात स्तोकों से एक लव होता है, अड़तीस लवों की एक नाड़ी होती है।

मुहूर्त आदि के परिमाण

नाड्यौ द्वे च मुहूर्तमित्यभिहितं त्रिंशन्मुहूर्ताद्दिनं।
पक्षःस्याद्दशपंचचैव दिवसास्तौ शुक्लकृष्णौ समौ।
मासाद्वादश षड्च ते ऋतुगणाः चैत्रादिकेषु क्रमात्।
द्वे चैवाप्ययने तयोर्मिलितयोर्वर्षं हि संज्ञाकृता॥ 5॥

भावार्थ : दो नाड़ियों का एक मुहूर्त होता है। तीस मुहूर्तों का एक दिन होता है। पंद्रह दिनों

1. एक पुद्गल परमाणु एक आकाश प्रदेश से दूसरे प्रदेश को मंदगति से गमन करने के लिए जितना समय लेता है, उतने काल को एक समय कहते हैं।

का एक पक्ष होता है। उस पक्ष का शुक्लपक्ष और कृष्णपक्ष इस प्रकार दो भेद हैं। इन दोनों पक्षों का एक मास होता है। वह मास चैत्र वैशाख आदि बारह होते हैं, उन चैत्र वैशाख आदि बारह मासों में छह ऋतु होते हैं, तीन ऋतुओं का एक अयन होता है। वह दक्षिणायन, उत्तरायन के रूप से दो प्रकार का है। इन दोनों अयनों के मिलने से एक वर्ष बनता है।

ऋतुविभाग

आद्यःस्यान्मधुरुर्जितः शुचिरिहाप्यंभोधराडंबरः।
शश्वत्तापकरी शरद्धिमचयो हैमंतकः शैशिरः॥
याथासंख्यविधानतः प्रतिपदं चैत्रादिमासद्वयं।
नित्यं स्याद्ऋतुरित्ययं ह्यभिहितः सर्वक्रियासाधनः॥ 6॥

भावार्थ : सबसे पहला ऋतु बसंत है, जिसमें मधु की वृद्धि होती है अर्थात् फूल व फल फूलते व फलते हैं, इसे मधुऋतु भी कहते हैं। इसका समय चैत्र व वैशाख मास है। दूसरा ग्रीष्मऋतु है जो ज्येष्ठ व आषाढ़ मास में होता है। श्रावण भाद्रपद वर्षाऋतु का समय है, जिस समय आकाश में मेघ का आडम्बर रहता है। आश्विन व कार्तिक में सदा संतापकर शरत्ऋतु होता है। मार्गशीर्ष व पौष मास में हेमंतऋतु होता है, जिसमें अत्यधिक ठण्डी पड़ती है। माघ व फाल्गुन में शिशिरऋतु होता है, जिसमें हिम गिरता है। इस प्रकार दो-दो मास में एक-एक ऋतु होता है एवं प्रति दिन सर्व कार्यों के साधन स्वरूप छहों ही ऋतु होते हैं।

प्रतिदिन में ऋतुविभाग

पूर्वाण्हे तु वसंतनामसमयो मध्यंदिनं ग्रीष्मकः।
प्रावृष्यं ह्यपराण्हमित्यभिहितं वर्षागमः प्राग्निशा।
मध्यं नक्तमुदाहृतं शरदिति प्रत्यूषकालो हिमो।
नित्यं वत्सरवत्क्रमात्प्रतिदिनं षण्णां ऋतुनां गतिः॥ 7॥

भावार्थ : प्रातःकाल के समय पर बसंतऋतु का काल रहता है, मध्याह्न में ग्रीष्मऋतु का समय रहता है। अपराह्न अर्थात् सांझ के समय में प्रावृट् जैसा समय रहता है, रात्रि का आद्य भाग बरसात का समय है, मध्यरात्रि शरत्काल का समय है, प्रत्यूषकाल में (प्रातः 4 बजे का समय) हिमवंतऋतु हेमंत रहता है इस प्रकार वर्ष में जिस तरह छह ऋतु होते हैं, उसी तरह प्रतिदिन[1] छहों ऋतुओं की गति होती है।

1. प्रत्येक दिन में भी कौन-सा दोष किस समय संचय प्रकोप आदि होते हैं, इसको जानने के लिए, यह प्रत्येक दिन छह ऋतुओं की गति बतायी गई है।

दोषों का संचय प्रकोप

श्लेष्मा कुप्यति सरूपंतसमये हेमंतकालार्जितः।
प्रावृष्येव हि मारुतः प्रतिदिनं ग्रीष्मे सदा संचितः॥
पित्तं तच्छरदि प्रतीतजलदव्यापारतोत्युत्कटं।
तेषां संचयकोपलक्षणविधेर्दोषांस्तदा निर्हरेत्॥8॥

भावार्थ : हेमंत ऋतु में संचित कफ बसंतऋतु में कुपित होता है। ग्रीष्मऋतु में संचित वायु का प्रावृट् ऋतु में प्रकोप होता है और वर्षाऋतु में संचित पित्त का प्रकोप शरत्काल में होता है। यह दोषों का संचय, व प्रकोप की विधि है। इस प्रकार संचित दोषों को इनके प्रकोप समय में वात को बस्तिकर्म से पित्त को विरेचन से, कफ को वमन से शोधन करना चाहिए। अन्यथा तत्तद्दोषों से अनेक व्याधियों की उत्पत्ति होती है।

विशेष –आयुर्वेद शास्त्र में दो प्रकार से ऋतुविभाग का वर्णन है, इनमें से एक तो चैत्रमास आदि को लेकर बसंत आदि छह विभाग किया है, जिसका वर्णन आचार्य श्री स्वयं श्लोक नं. 6 में कर चुके हैं। द्वितीय प्रकार के ऋतुविभाग की सूचना श्लोक 7 में दी है। इसी का स्पष्टीकरण इस प्रकार है।

भाद्रपद आश्वयुज (क्वार) मास वर्षाऋतु, कार्तिक मार्गशीर्ष (अगहन)मास शरदऋतु, पुष्यमाघमास हेमंतऋतु, फाल्गुन चैत्रमास वसंतऋतु, वैशाख ज्येष्ठमास ग्रीष्मऋतु और आषाढ़ श्रावणमास प्रावृट्ऋतु कहलाता है।

प्रावृट् व वर्षाऋतु में परस्पर भेद इतना है कि पहले और अधिक वर्षा जिसमें बरसता हो, वह प्रावृट है और इसके पीछे (प्रथम ऋतु की अपेक्षा) थोड़ी वर्षा जिसमें बरसता हो वह वर्षाऋतु है।

इन दोनों में प्रथम प्रकार का ऋतु विभाग, शरीर का बल और रस की अपेक्षा को लेकर है। जैसे वर्षा, शरद हेमंतऋतु में अम्ल लवण मधुर–रस बलवान होते हैं और प्राणियों का शरीरबल उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है इत्यादि। उत्तर दक्षिण अयन का विभाग भी इसी के अनुसार है।

द्वितीय विभाग दोषों के संचय, प्रकोप व संशोधन की अपेक्षा को लेकर किया है। इस श्लोक में दोषों के संचय आदि का जो कथन है, वह इसी ऋतुविभाग के अनुसार है। इसलिए सारार्थ यह निकलता है कि, भाद्रपद आश्वयुज मास में पित्त का, पुष्यमाघ में कफ का, और वैशाख ज्येष्ठ मास में वात, संचय (इकट्ठा) होता है।

कार्तिक–मार्गशीर्ष में पित्त, फाल्गुन–चैत्र में कफ और आषाढ़–श्रावण में वात प्रकुपित होता है।

दोषों का संशोधन जिस ऋतु में प्रकुपित होता है, उस ऋतु के द्वितीय मास से करना चाहिए। अन्यथा दोषों का निग्रह अच्छी तरह से नहीं होता है। इसलिए वात का श्रावण में, पित्त का मार्गशीर्ष में, कफ का चैत्र में, संशोधन करना चाहिए।

बस्ति आदि के प्रयोग से संशोधन तब ही करना चाहिए, जबकि दोष अत्यधिक कुपित हो। मध्यम या अल्पप्रमाण में कुपित होवें तो, पाचन लंघन आदि से ही जीतना चाहिए।

प्रकुपित दोषों से व्याधिजनन क्रम

क्रुद्धास्ते प्रसरंति रक्त सहिता दोषास्तथैकैकशो।
द्वौद्वौ वाप्यथवा त्रयस्त्रय इमे चत्वार एवात्र वा।
अन्योन्याश्रयमाप्नुवंति विसृता व्यक्तिप्रपन्नाः पुनः॥
ते व्याधिं जनयंति कालवशगाः षण्णां यथोक्तं बलम्॥9॥

भावार्थ : पूर्वकथित कारणों से प्रकुपित दोष कभी एक-एक ही कभी दो-दो मिलकर कभी तीनों एक साथ कभी-कभी रक्त को साथ लेकर, कभी चारों एक साथ, मिलकर शरीर में फैलते हैं। इस क्रम से दोषों का प्रसर पंद्रह-पंद्रह प्रकार के होते हैं। इस तरह फैलते हुए स्रोतों के वैगुण्य से जिस शरीरावयव को प्राप्त करते हैं तत्तदवयवों के अनुसार नाना प्रकार के व्याधियों को उत्पन्न करते है जैसे कि यदि उदर को प्राप्त करें तो, गुल्म, अतिसार अग्निमांद्य, अनाह, विशूचिका आदि रोगों को पैदा करते हैं, बस्ति को आश्रय करें प्रमेह मूत्रकृछ्र, मूत्राघात, अश्मरी आदि को उत्पन्न करते हैं इत्यादि। तदनंतर व्याधियों के लक्षण व्यक्त होते है, जिससे यह साधारण ज्ञान होता है कि वह ज्वर है, अतिसार है, वमन है आदि। इसके बाद एक अवस्था होती है जिससे व्याधि के भेद स्पष्टतया मालूम होते हैं कि यह वातिक ज्वर है या पैत्तिक! पित्ततिसार है या कफातिसार आदि। इस प्रकार तीनों दोष काल के वशीभूत होकर व्याधियों को पैदा करते है। दोषों के संचय, प्रकोप, प्रसर, अन्योन्याश्रय (स्थानसंश्रम) व्यक्ति और भेद इन छह अवस्थाओं के बलाबल को शास्त्रोक्त रीति से जानना चाहिए।

विशेष- जैसे एक जलपूर्ण सरोवर में और भी अधिक पानी आ मिल जाये, तो वह अपने बांध को तोड़कर एकदम फैल जाता है वैसे ही प्रकुपित दोष स्वस्थान को उल्लंघन कर शरीर में फैल जाते हैं। इसी को प्रसर कहते है।

पंद्रह प्रकार का प्रसर :

1. वात, 2. पित्त, 3. कफ, 4. रक्त, (दो) 5. वातपित्त, 6. वातकफ, 7. कफपित्त (तीनों), 8. वात-पित्त-कफ (रक्त के साथ), 9. वातरक्त, 10. कफरक्त, 11. पित्तरक्त, 12. वात-पित्त-रक्त, 13. वात-कफ-रक्त, 14. कफ-पित्त-रक्त, 15, (चारों) वात-पित्त-कफ-रक्त।

इस प्रसर के भेद पंद्रह ही हैं, ऐसा कोई नियम नहीं होता। ऊपर स्थूल रीति से भेद दिखलाया है। सूक्ष्मरीति से देखा जाये तो अनेक भेद हो सकते हैं।

दोषों के शरीरावयवों में आश्रय करने की अवस्था को ही अन्योन्याश्रय या स्थानसंश्रय कहते हैं। स्थानसंश्रय होते ही पूर्व रूप का प्रादुर्भाव होता है। इसी को व्यक्ति कहते हैं। इसी को भेद कहते हैं।

सम्यक्संचयमत्र कोपमखिलं पंचादशोत्सर्पणम्।
चान्योन्याश्रयणं निजप्रकटितं व्यक्तिप्रभेदं तथा।
यो वा वेत्ति समस्तदोषचरितं दुःखप्रदं प्राणिनाम्।
सोऽयंस्याद्भिषगुत्तमः प्रतिदिनंषण्णांप्रकुर्यात्क्रीयाम् ॥10॥

भावार्थ : इस ऊपर कहे गए, सर्व प्राणियों को दुःख देने वाले, दोषों (वात, पित्त कफ) के संचय, प्रकोप (पंद्रह प्रकार के) प्रसर, अन्योन्याश्रय (स्थानसंश्रय) व्यक्ति और भेद इत्यादि संपूर्ण चरित्र को अच्छी तरह से जो जानता है। वही उत्तम भिषक् (वैद्य) कहलाता है। उसको उचित है कि उपरोक्त संचय आदि छह अवस्थाओं में शोधन, लंघन, पाचन, शमन आदि यथायोग्य चिकित्सा करें अर्थात् संचय आदि पूर्व अवस्थाओं में योग्य चिकित्सा करें तो, दोष आगे की अवस्था को प्राप्त नहीं कर सकते हैं और चिकित्सा कार्य में सुगमता होती है। उत्तरोत्तर अवस्थाओं में कठिनता होती जाती है।

दोषों के संचय आदि दो प्रकार से होते है। एक तो ऋतु स्वभाव से, दूसरा अन्य स्वस्व कारणों से। यहाँ छह अवस्थाओं में चिकित्सा करने की जो आज्ञा दी है, वह स्वकारणों से संचय आदि अवस्था प्राप्त दोषों का है। क्योंकि ऋतुस्वभाव से संचित दोषों की चिकित्सा उसी अवस्था में नहीं बतलायी गई है। परन्तु प्रकोपकाल में, शोधन आदि का कथन किया है।

एवं कालविधानमुक्तमधुना ज्ञात्वात्र वैद्यो महान्।
पानाहारविहारभेषजविधिं संयोजयेद्बुद्धिमान्।
तत्रादौ खलुं संचये प्रशमयेद्दोषप्रकोपे सदा।
सम्यक्शोधनमादरादिति मतं स्वस्थस्य संरक्षणम् ॥11॥

भावार्थ : इस प्रकार अभी तक काल भेद को जानकर तत्तत्कालानुकूल प्राणियों के लिए अन्नपानादिक आहार व विहार औषधि आदि की योजना करें। सबसे पहले संचित दोषों को (प्रकोप होने के पूर्व ही) उपशम करने का उपाय करना चाहिए। यदि ऐसा न करने के कारण दोष प्रकोप हो जाये, तो उस हालत में आदर पूर्वक सम्यक् प्रकार से, वमनादिक के द्वारा शोधन करें। अर्थात् शरीर से पृथक् करें। यही स्वास्थ्य के रक्षण का उपाय है। ऐसा आयुर्वेद के विद्वानों का मत है।

वसंत ऋतु में हित

रूक्षक्षारकषायतिक्तकटुकप्रायं वसंते हितं।
भोज्यं पानमपीह तत्समगुणं प्रोक्तं तथा चोषकम्॥
कौपं ग्राम्यमथाग्नितप्तममलं श्रेष्ठं तथा शीतलं।
नस्यं सद्मनं च पूज्यतममित्येवं जिनेन्द्रोदितं॥12॥

भावार्थ : वसंत ऋतु में रूक्ष (रूखा), क्षार (खारा), कषायला, कडुआ और कटुक (चरपरा) रस प्रायः हितकर होते हैं एवं भोजन, पान में भी (ऊपर कहा गया) रूक्ष क्षारादि गुण व रस युक्त पदार्थ हितकर होते हैं। पीने के लिए पानी कुएँ का व गाँव का हो अथवा अग्नि से तपाया हुआ, निर्मल, श्रेष्ठ व ठण्डा किया गया हो। इस ऋतु में नस्य व वमन का प्रयोग भी अत्यन्त हितकर होता है, ऐसा श्रीजिनेन्द्र भगवान् ने कहा है।

ग्रीष्मर्तु व वर्षर्तु में हित

ग्रीष्मे क्षीरघृतप्रभूतमशनं श्रेष्ठं तथा शीतलं।
पानं मान्यगुडेक्षुभक्षणमपि प्राप्तं हि कौपं जलं॥
वर्षासूत्कटतिक्तमल्पकटुकं प्रायं कषायान्वितं।
दुग्धेक्षुप्रकरादिकं हितकरं पेय जलं यच्छ्रितम्॥13॥

भावार्थ : ग्रीष्मकाल में दूध, घी; से युक्त भोजन करना श्रेष्ठ है एवं ठण्डे पदार्थों का पान करना उपयोगी है। गुड़ और ईख (गन्ना) खाना भी हितकर है। कुएँ का जल पीना उपयोगी है। बरसात में अधिक मात्रा में कडुआ कषैलारस; अल्प प्रमाण में कटु (चरपरा) रस, या रसयुक्त पदार्थों के सेवन, एवं दूध ईख; या इनके विकार (इनसे बना हुआ अन्य पदार्थ शक्कर, दही आदि) का उपयोग हितकर है तथा पीने के लिए जल, गरम होना चाहिए।

सक्षीरं घृतशर्कराढ्यमशनं तिक्तं कषायापान।
सर्वं स्यात्सलिलं हितं शरदि तच्छ्रेयोऽर्थिनां प्राणिनां।
हेमंते कटुतिक्तशीतमहीतं क्षारं कषायादिकं।
सर्पिस्तैलसमेतमम्लमधुरं पथ्यं जलं चोच्यते॥14॥

भावार्थ : श्रेय को चाहने वाले प्राणियों को शरत्काल में घी शक्कर से युक्त भोजन व कषायला पदार्थसे युक्त भोजन हितकर है। जल तो नदी, कुँआ, तालाब वगैरह का सर्व उपयोगी होगा हेमंतऋतु में कडुआ, तीखा, खट्टा व शीत पदार्थ अहित है और खारा व कषायला द्रव्य से युक्त भोजन उपयोगी है, घी और तेल, खटाई व मिठाई इस ऋतु में हितकर है। इस ऋतु में प्रायः सर्व प्रकार का जल पथ्य होताहै।

शिशिर ऋतु में हित

अम्लक्षीरकषायतिक्तलवणप्रस्पष्टमुष्णाधिकं।
भोज्यं स्याच्छिशिरे हितं सलिलमप्युक्तं तटाकस्थितं।

ज्ञात्वाहारविधानमुक्तमखिलं षण्णामृतूनां क्रमा-।
द्वेयंस्यान्मनुजस्य सात्म्यहितकृद्वेलाबुभुक्षावशात्॥15॥

भावार्थ : शिशिरऋतु में खट्टा पदार्थ, दूध, कषायला पदार्थ, कडुआ पदार्थ, नमकीन और अधिक उष्ण गुणयुक्त पदार्थ का भोजन करना विशेष हितकर है। जल तालाब का हितकर है। इस प्रकार उपर्युक्त क्रम से छहों ऋतुओं के योग्य भोजन विधान को जानकर, समय और भूख की हालत देखकर, मनुष्य के शरीर के लिए जो हितकारी व प्रकृति के लिए अनुकूल हो, ऐसा पदार्थ भोजन पानादिक में देना चाहिए, वही सर्वदा शरीर संरक्षण के लिए साधन है।

आहारकाल

विण्मूत्रै विनिर्गते विचलिते वायौ शरीरे लघौ।
शुद्धेऽपींद्रियवाङ मनःसुशिथिले कुक्षौ श्रमव्याकुले।
कांक्षामप्यशनं प्रति प्रतिदिनं ज्ञात्वा सदा देहिना-।
माहारं विदधीत शास्त्रविधिना वक्ष्यामि युक्तिक्रमं॥16॥

भावार्थ : जिस समय शरीर से मलमूत्र का ठीक-ठीक निर्गमन हो, अपानवायु भी बाहर छूटता हो, शरीर भी लघु हो, पाँचों इंद्रिय प्रसन्न हों, लेकिन वचन व मन में शिथिलता होती हो पेट भी श्रम (भूख) से व्याकुलित हो तथा भोजन करने की इच्छा भी होती हो तो वही भोजन के योग्य समय जानना चाहिए। उपरोक्त लक्षण की उपस्थिति को ज्ञातकर उसी समय आयुर्वेद-शास्त्रोक्त भोजन विधि के अनुसार भोजन करें। आगे भोजन क्रम को कहेंगे।

भोजनक्रम

स्निग्धं यन्मधुरं च पूर्वमशनं भुंजीत भुक्तिक्रमे।
मध्ये यल्लवणाम्लभक्षणयुतं पश्चात्तु शेषान्नसान्।
ज्ञात्वा सात्म्यबलं सुखासनतले स्वच्छे स्थिरस्तत्परः
क्षिप्रं कोष्णमथ द्रवोत्तरतरं सर्वर्तुसाधारणम्॥17॥

भावार्थ : भोजन करने के लिए, जिस पर सुख पूर्वक बैठ सकें ऐसे साफ आसन पर, स्थिर चित्त होकर अथवा स्थिरतापूर्वक बैठें। पश्चात् अपनी प्रकृति व बल को विचार कर उसके अनुकूल, थोड़ा गरम (अधिक गरम भी न हो न ठण्डा ही हो) सर्व ऋतु के अनुकूल, ऐसे आहार को शीघ्र ही (अधिक विलम्ब भी न हों व अत्यधिक जल्दी भी न हो) उस पर मन लगाकर खावें। भोजन करते समय सबसे पहले चिकना, व मधुर अर्थात् हलुआ, खीर, बर्फी, लड्डू आदि पदार्थों को खाना चाहिए। तथा भोजन के बीच में नमकीन; खट्टा आदि अर्थात् चटपटा मसालेदार चीजों को व भोजनांत में दूध आदि द्रवप्राय आहार खाना चाहिए।

भोजन समय में अनुपान

भुक्त्वा वैदलसुप्रभूतमशनं सौवीरपायीभवे-
न्मर्त्यस्त्वोदनमेवचाभ्य - वहरंस्तत्क्रानुपानान्वितं।
स्नेहानामपि चोष्णतो यदमलं पिष्टस्य शीतं जलं
पीत्वा नित्यसुखी भवत्यनुगतं पानं हितं प्राणिनाम्॥18॥

भावार्थ : दाल से बनी हुई चीजों को ही खाते समय कांजी पीना चाहिए। भात आदि खाते समय, तक्र (छाछ) पीना योग्य है। घी आदि से बनी हुई चीजों से भोजन करते हुए या स्नेह पीते समय, उष्ण जल का अनुपान[1] कर लेना चाहिए। पिट्टी से बने पदार्थों को खाते हुए ठण्डा जल पीना उचित है। प्राणियों के हितकारक इस प्रकार के अनुपान का जो मनुष्य नित्य सेवन करता है वह नित्य सुखी होता है।

अनुपान काल व उसका फल

प्राग्भक्तादिह पीतमावहति तत्काश्र्यं जलं सर्वदा।
मध्ये मध्यमतां तनोति नितरां प्रांते तथा बृंहणम्॥
ज्ञात्वा सद्रवमेव भोजनविधिं कुर्यान्मनुष्योन्यथा।
भुक्तं शुष्कमजीर्णतामुपगतं बाधाकरं देहिनाम्॥19॥

भावार्थ : भोजन के पहले जो जल लिया जाता है; वह शरीर को कृश करता है। भोजन के बीच में पीवें, तो वह न शरीर को मोटा करता है न पतला ही किन्तु मध्यमता को करता है। भोजन के अंत में पीवें तो वह बृंहण (हृष्ट पुष्ट) करता है। इसलिए इन सब बातों को जान कर, भोजन के साथ-साथ योग्य द्रव पदार्थ को ग्रहण करना चाहिए। यदि अनुपान का ग्रहण न करें तो भोजन किया हुआ अन्न आदि शुष्कता को प्राप्त होकर अजीर्ण को उत्पन्न करता है और वह प्राणियों के शरीर में बाधा उत्पन्न करता है[2]।

अब भोजन में उपयुक्त धान्यादिकों के गुणों पर विचार करेंगे।

शालि आदि के गुण कथन

शालीनां मधुरत्वशीतलगुणाः पाके लघुत्वात्तथा।
पित्तघ्नाः कफवर्द्धनाः प्रतिदिनं सृष्टातिमूत्रास्तु ते।
प्रोक्ता ब्रीहिगुणाः कषायमधुराः पित्तानिलघ्नास्ततो।
नित्यं बद्धपुरीषलक्षणयुताः पाके गुरुत्वान्विताः॥20॥

1. जो भोजन के पश्चात् अर्थात् साथ-साथ पान किया जाता है, वह अनुपान कहलाता है। 'अनुगत पानं अनुपानं' इस प्रकार इसकी निष्पत्ति है।
2. भोजन के बाद में क्या करें, इसे जानने के लिए पंचम परिच्छेद श्लोक नं 43-44 को देखें।

भावार्थ : शालिधान मधुर होता है, ठण्डागुणयुक्त होता है, पचन में लघु रहता है,अतएव पित्त को दूर करने वाला है, कफ को बढ़ाने वाला है, मूत्र को अधिक लाने वाला है। इसी प्रकार व्रीहि (चावल का धान) कषायला होकर मधुर रहता है। अतएव पित्त और वायु को नाश करने वाला है एवं नित्य बद्धमल करने वाला है। पचन में भारी है।

कुधान्यों के गुण कथन

उष्णा रूक्षतराः कषायमधुराः पाके लघुत्वाधिकाः।
श्लेष्मघ्नाः पवनातिपित्तजनना विष्टंभिनस्सर्वदा॥
श्यामाकादिकुधान्यलक्षणमिदं प्रोक्तं नृणामश्नतां।
सम्यग्वैदलशाकसद्द्रवगणेष्वत्यादरादुच्यते॥ 21॥

भावार्थ : साँमा आदि अनेक कुधान्य उष्ण होते हैं, अतिरूक्ष होते हैं। कषाय और मधुर होते हैं। पचने में हलके हैं। कफ को दूर करने वाले हैं और वात पित्त को उत्पन्न करने वाले हैं। सदा मलमूत्र का अवरोध करते हैं अर्थात् इस प्रकार साँमा आदि कुधान्यों को खाने से मनुष्यों को अनुभव होता है। अब अच्छे दाल, शाक, द्रव आदि पदार्थ जो खाने योग्य हैं उनके गुण कहेंगे।

द्विदलधान्य गुण

रूक्षाः शीतगुणाः कषायमधुरास्सांग्राहिका वातलाः।
सर्वे वैदलकाः कषायसहिताः पित्तासृजि प्रस्तुताः॥
उक्ताः सौष्णकुलुत्थकाः कफमरुव्याधिप्रणाशास्तु ते।
गुल्माष्ठीलयकृत्प्लिहाविघटनाः पित्तासृगुद्रेकिणः॥22॥

भावार्थ : प्रायः सर्व द्विदल (अरहर, चना, मसूर आदि) धान्य रुक्ष होते हैं। शीत गुण युक्त हैं कषाय व मधुर रस संयुक्त हैं। मलावरोध करते हैं। वात का उद्रेक करते हैं। ये कषायरस युक्त होने के कारण रक्तपित्त में हितकर हैं। कुलथी भी उष्ण है,कफ और वात को नाश करती है, गुल्म अष्ठीला यकृत (जिगर का बढ़ जाना) और प्लीहा (तिल्ली का बढ़ना) रोग को दूर करने वाली है। रक्तपित्त को उत्पन्न करने वाली है।

माष आदि के गुण

माषाः पिच्छिलशीतलातिमधुरा वृष्यास्तथा बृंहणा।
पाके गौरवकारिणः कफकृतः पित्तासृगाक्षेपणाः।
नित्यं भिन्नपुरीषमूत्रपवनाः श्रेष्ठस्सदा शोषिणां।
साक्षात्केवलवातलाः कफमया राजादिमाषास्तु ते॥23॥

भावार्थ : उड़द लिवलिवाहट होते हैं; शीतल व अति मधुर होते हैं, वाजीकरण करने वाले व

शरीर की वृद्धि के लिए कारण है। पचन में भारी है। कफ को उत्पन्न करने वाले है रक्तपित्त को रोकने वाले है नित्यं ही मल मूत्र व वायु को निकालने वाले है और क्षय रोगियों के लिए हितकर है। राजमाष (रमास) केवल वात और कफ के उत्पादक हैं।

अरहर आदि के गुण

आढक्यः कफपित्तयोर्हिततमाः किंचिन्मरुत्कोपनाः।
मुद्गास्तत्सदृशास्तथा ज्वरहरा सर्वातिसारं हिताः।
सूपस्तेषु विशेषतो हितकरः प्रोक्ता मसूरा हिमाः।
सर्वेषां प्रकृतिस्वदेशसमयव्याधिक्रमाद्योजनं ॥24॥

भावार्थ : अरहर (तूवर) धान्य कफऔर पित्त के लिए हितकारक हैं और जरा वातप्रकोप करने वाला है। मूंग भी उसी प्रकार के गुण से युक्त हैं एवं ज्वर को नाश करने वाला है। सर्व अतिसार (अतिसार रोग दस्तों की बीमारी को कहते हैं) रोग में हितकर।

इनके दाल, ज्वर, अतिसार में विशेषतः हितकर है। मसूर का गुण ठण्डा है। इस प्रकार सर्व मनुष्यों की प्रकृति, देश, काल, रोग इत्यादि की अच्छी तरह जांचकर उसी के अनुकूल धान्य का प्रयोग करना चाहिए।

तिल आदि के गुण

उष्णा व्याप्तकषायतिक्तमधुरास्स्यांग्राहिका दीपनाः।
पाके तल्लघवतिला व्रणगतास्संशोधना रोपणाः॥
गोधूमास्तिलवद्यवाश्च शिशिरा बाल्यातिवृष्यास्तु ते।
तेषां दोषगुणान्विचार्यविधिना भोज्यास्सदा देहिनाम्॥25॥

भावार्थ : तिल उष्ण होता है। कषाय और मीठा है, द्रवस्राव को स्तंभन करने वाला है। अग्नि को दीपन करने वाला है। पचन में हल्का है। फोड़ा वगैरह को शोधन करने वाला और उन को भरनेवाला है। गेहूं और जौ भी तिल सदृश ही है, अपितु वे ठण्डे हैं और कच्चे हों तो शक्तिवर्धक और पौष्टिक हैं। इस प्रकार इन धान्यों का गुण दोष को विचारकर प्राणियों को उनका व्यवहार करना चाहिए। अन्यथा अपाय होता है।

वर्जनीय धान्य

यच्चात्यंतविशीर्णजीर्णमुषितं कीटामयाद्याहतं।
यच्चारण्यकुदेशजातमनृतौ यच्चाल्पपक्वं नवं।
यच्चापथ्यमसात्म्यमुत्कुणपभूभागे समुद्भूतमि-
त्येतद्धान्यमनुत्तमं परिहरेन्नित्यं मुनींद्रैस्सदा॥26॥

भावार्थ : जो धान्य अत्यन्त विशीर्ण हो गया हो अर्थात् सड़ा हुआ या जिसमें झुर्रियाँ लगी हुई हों, बहुत पुराना हो, जला हुआ हो, कीट रोग लग जाने से खराब हो गया हो जो जंगल के खराब जमीन से उत्पन्न हो, अकाल में जिसकी उत्पत्ति हो गई हो, जो अच्छी तरह नहीं पका हो जो बिल्कुल ही नया हो, जो शरीर के लिए अहितकारक हो, प्रकृति के लिए अनुकूल न हो अर्थात् विरुद्ध हो, श्मशान भूमि में उत्पन्न हो, ऐसे धान्य खराब हैं। शरीर को अहित करने वाले हैं, अतएव निंद्य हैं। मुनीश्वरों की आज्ञा है कि ऐसे धान्य को सदा छोड़ना चाहिए।

शाक वर्णन प्रतिज्ञा

(मूल शाक गुण)

प्रोक्ता धान्यगुणागुणाविधियुताश्शाकेष्वयं प्रक्रम-।
स्तेषां मूलतएव साधु फलपर्यंतं विधास्यामहे ॥
मूलान्यत्र मृणालमूलकलसत्प्रख्यातनालीदला-।
श्चान्ये चालुकयुक्तपिण्डमधुगंगाह[1]स्तिशूकादयाः ॥ 27 ॥

भावार्थ : इस प्रकार यथाविधि धान्य के गुण को कहा है। अब शाक पदार्थों के गुण का निरूपण करेंगे। शाकों के निरूपण में उनके मूल से (जड़) लेकर फल पर्यन्त वर्णन करेंगे। कमल की मूली, नाड़ी का शाक और भी अन्य आलु व तत्सदृशकंद, मधुगंगा हस्तिकंद (स्वनाम से प्रसिद्ध कोंकण देश में मिलने वाला कंद विशेष। उसका गिरिवासः नागाश्रयः कुष्ठहंता नागकंद आदि पर्याय है) शूकरकंद (बाराहीकंद) आदि मूल कहलाते हैं।

शालूक आदि कंदशाकगुण

शालूकोरुकशेरुकोत्पलगणः प्रस्पष्टनालीविदा-।
र्यादीनि श्वविपाककालगुरुकाण्येतानि शीतान्यपि ॥
श्लेष्मोद्रेककराणि साधुमधुराण्युद्रिक्तपित्तासृजि।
प्रस्तुत्यानि बहिर्विसृष्टमलमूत्राण्युक्तशुक्राणिच ॥ 28 ॥

भावार्थ : कमलकंद, कशेरु, नीलोत्पल आदि, जो कमल के भेद हैं उनके जड़, नाड़ी शाक का कंद, विदारीकंद एवं दूसरे दिन पकने योग्य कंद, आदि कंदशाक पचन में भारी है। शीत स्वभावी है। कफोद्रेक करने वाले है। अच्छे व मीठे होते हैं। रक्तपित्त को जीतने वाले हैं। मल-मूत्र शरीर से बाहर निकालने में सहायक है और शुक्रकर हैं।

---

1. मधुगंगा अनेक कोषों में देखने पर भी इसका उल्लेख नहीं मिलता। अतः इसके स्थान में मधुकंद ऐसा होवे तो ठीक मालूम होता है, ऐसा करने पर, आलु का भेद यह अर्थ होता है।

अरण्यालु आदि कंदशाक गुण

आरण्यालुवराटिकामुरटिका भूशर्करामाणकी।
बिंदुव्याप्तसुकुण्डलीनमलिकाप्यार्शोऽनिलघ्न्यम्लिका॥
श्वेताम्ली मुशली वराहकणिकाभूहस्तिकर्ण्यादयो।
मृष्टाः पुष्टिकरा विषप्रशमना वातामयेभ्यो हिताः॥29॥

भावार्थ : जंगली आलू, कमलकंद (कमोदनी) मुरटिका (कंद विशेष) भूशर्करा (सकर कंद तत्सदृश अन्य कंद) मानकंद, कुण्डली[1], नमलिका, जमीकंद (सूरण) लहसन, अम्लिका[2] श्वेताम्ली[3] मूसलीकंद, वाराहीकंद (गेंठी) कणिक[4], भूकर्णी हस्तिकर्णी आदि कंद स्वादिष्ट पुष्टिकर व विषको शमन करने वाले होते है। एवं वातज रोगों के लिए हितकर है।

वंशाग्र आदि अंकुरशाकगुण।

वंशाग्राणि शतावरीशशशिरावेत्राग्रवल्लीलता।
शेवालीवरकाकनाससहिताः मार्द्वंकुराः सर्वदा॥
शीताः श्लेष्मकरातिवृष्यगुरुकाः पित्तप्रशांतिप्रदाः।
रक्तोष्मापहरा बहिर्गतमलाः किंचिन्मरुत्कोपनाः॥30॥

भावार्थ : वांस, शतावर, गुर्च, बेंत, हडजुड़ी, सूक्ष्म जटामांसी, काननासा (कडुआटोंटी) मारिषशाक (मरसा) आदि के कोंपल शीत है कफोत्पादक है। कामोद्दीपक है। पचन में भारी है पित्त के शमन करने वाले हैं। रक्त की गर्मी को दूर करने वाले हैं, मल को साफ करने वाले हैं। साथ में जरा वात को कोपन करने वाले हैं।

जीवंती आदि शाकुगुण

जीवंती तरुणी बृहच्छगलिका वृक्षादनी पंजिका।
चुंचुः कुन्डलता च बिंबसहिताः सांग्राहिका वातलाः।
बाष्पोत्पादकपालकद्वयवहा जीवंतिकाश्लेष्मला।
चिल्लीवास्तुकतण्डुलीयकयुताः पित्ते हिता निर्मलाः॥31॥

---

1. गुडूच्या, सर्पिणी वृक्षे, कांचनारवृक्षे, कपिकच्छौ, कुमार्या।
2. अम्लनालिकाया।
3. पीठोंडीति प्रसिद्धवृक्ष विशेषे पर्याय अम्लिका पिष्टोडी, पिण्डिका आदि।
4. अग्निमंथवृक्षे।
5. स्वनामख्यात कंदविशेष, इस का पर्यायहस्तिकर्ण, हस्तिपत्र, स्थूलकंद अतिकंद आदि।

भावार्थ : जीवंतीलता धीकुबार विधारा, वांदा, मंजिका, कुंदलता[1] चंचु[2] (चेवुना)कुंदुरुये मल को बांधने वाले और वातोत्पादक है। मरसा, दो प्रकार के पालक, वहा जीवन्ती इतने शाक कफ प्रकोप करने वाले है। चिल्ली[3] बथुआ, चौलाई ये पित्त में हितकर हैं।

शार्डेष्टादि शाकगुण

शांर्डिष्टा सपटोलपानिकचरी काकादिमाचीलता।
मण्डूक्या सह सप्तलाद्रवणिका छिन्नोद्भवा पुत्रिणी।
निंबाद्यः सकिराततिक्तझरसी श्वेतापुनर्भूस्सदा।
पित्तश्लेष्महराः क्रिमिप्रशमनास्त्वग्दोषनिर्मूलनाः ॥32॥

भावार्थ : बड़ीकरंज परवल, जलकाचरी, मकोय मालकांगनी, ब्राह्मी, सातला, (थूहर का भेद) द्रवणिका, गुडूचि, पुत्रिणी (वंदा व वादां) नीम, चिरायता चीनी अथवा केना वृक्ष, सफेद पुनर्नवा, आदि पित्त और कफ दूर करने वाले हैं, क्रिमीरोग को, उपशमन करने वाले है एवं चर्मगत रोगों को दूर करने वाले हैं।

गुह्याक्षी आदि पत्र शाकगुण

गुह्याक्षी सकुसुंभ शाकलवणीराज्याजिगंधादयो।
गौराम्लाम्रदलाखलाकुलहला गंडीरवेगुण्डिकाः।
शिग्रूजीरशतादिपुष्पसुरसा धान्यं फणी सार्जकाः।
कासघ्नी क्षवकादयः कफहरास्सोष्णाः सवाते हिताः ॥33॥

भावार्थ : गुह्याक्षी, कुसुम्भ, शेगुणवृक्ष, सीताफल का वृक्ष, राई, अजमोद, सफेद सरसों इमली आम के पत्ते, श्यामतमाल, कुलाहल[4], गण्डारिनामकशाक[5], कंदूरी, सेंजन, जीरा, सोफ, सोया, धनिया, फणीवृक्ष[6], रालवृक्ष, कटेरी चिरचिरा आदि कफ को नाश करने वाले है उष्ण है एवं वातरोग में हितकारी है।

बंधूक आदि पत्राशाकों के गुण।

बंधूका भृगुशोलिफेनदलिता वेण्याखुकर्ण्यार्ढकी।
वध्वा[7]पीतमधुस्रवादितरलीकावंशिनी षड्गुणा।
मत्स्याक्षीचणकादि पत्रसहिता शाकप्रणीता गुणाः।
पित्तघ्नाः कफवर्द्धना बलकराः रक्तामयेभ्यो हिताः ॥34॥

---

1. खनामख्यात पुष्पवृक्षे। 2. पर्याय चिंचा चंचु चंचुकी दीर्घपत्रा सतिक्तका आदि। 3. गंधरास्नाया। 4. क्षुद्रवृक्षविशेषे, गोरक्षमुण्डी। 5. समष्ठीलाक्ष, किसी भाषा में शुण्डिग्नाशाक कहते हैं। 6. मरुवकक्षवृक्षे (मरुआवृक्ष) क्षुद्रतुलस्यां। 7. वग्वाषाटमधुस्रवाटितरलीकावंसती सण्ण्गुडा। इति पाठांतरं॥

भावार्थ : दुपहरिया का वृक्ष, भृगु वृक्ष, वनहलदी, रीठा, दलिता, पीत देवदाली[1], मूंसाकर्णी, अरहर कचूर, कुसुम के वृक्ष, तरलीवृक्ष (एक प्रकार का कांटेदार वृक्ष) वंशिनी, मछीचना, इत्यादि के पत्तों में इन शाकों में उक्त गुण मौजूद है एवं पित्त को नाश करने वाले हैं, कफ को बढ़ाने वाले हैं,बल देने वाले हैं एवं रक्तज व्याधि पीड़ितों के लिए हितकर है।

शिग्रुआदि पुष्प शाकों के गुण

शिग्व्रारग्वधशेलुशाल्मलिशमीशालूकसत्तिंत्रिणी।
कन्यागस्त्यसणप्रतीतवरणारिष्टादिपुष्पाण्यपि॥
वातश्लेष्मकराणि पित्तरुधिरे शांतिप्रदान्यादरात।
कुक्षौ ये क्रिमयो भवंति नितरां तान् पातयंति स्फुटं॥35॥

भावार्थ : सैजन अमलतास, लिसोडा, सेमल, छौंकरा कमलकंदादि, तिंतिडीक बड़ी इलायची अथवा बाराही कंद, अगस्त्य वृक्ष, सन, वरना, नीम, इत्यादि के पुष्प वात कफ को उत्पन्न करने वाले है। पित्त, रक्त को शांतिदायक है अर्थात् शमन करने वाले हैं एवं पेट में जो कृमि उत्पन्न होते हैं, उनको गिरा देते हैं।

पंचलवण गण का गुण

कुक्कुट्या समसूरपत्रलवणी युग्मर्मणी राष्ट्रिका।
पंचैते लवणीगणा जलनिधेस्तीरं सदा संश्रिताः।
वातघ्नाःकफपित्तरक्तजननाश्शोषावहा दुर्जरा।
अश्मर्यादिविभेदनाः पटुतरा मूत्राभिषंगे हिताः॥36॥

भावार्थ : शाल्मलीवृक्ष, मसूर, कचनार का पेड़, दाडिम का वृक्ष और कटाई का पेड़ ये पाँच लवणीवृक्ष कहलाते हैं। ये वृक्ष समुद्र के किनारे रहते हैं। ये वात को दूर करने वाले होते हैं कफ, पित्त और रक्त को उत्पन्न करते हैं। शरीर में शोषोत्पादक हैं व कठिनता से पचने योग्य हैं। पथरी रोग (मूत्रगतरोग) आदि को दूर करने वाले हैं। मूत्रगत दोषों को दमन करने के लिए विशेषतः हितकर है।

पंचबृहती गण का गुण

व्याघ्री चित्रलता बृहत्यमलिनादर्कोप्यधोमानिनी-।
त्येताः पंचबृहत्य इत्यनुमताः श्लेष्मामयेभ्यो हिताः॥
कुष्ठघ्नाः क्रिमिनाशना विषहराः पथ्या ज्वरे सर्वदा।
वार्ताकः क्रिमिसंभवः कफकरो मृष्टोतिवृष्यस्तथा॥37॥

1. मेष्यां च।

भावार्थ : कटेहरी, मजीठ अधोमानिनी[1] बड़ी कटेली सफेद आक ये पाँच बृहती कहलाते हैं, कफ से उत्पन्न बीमारियों के लिए हितकर है, कोढ़ को दूर करने वाले हैं, पेट की कृमियों का नाश करने वाले हैं। ज्वर में सदा हितकर है। बड़ी कटेली अथवा बेंगन कफ और कृमिरोग को उत्पन्न करने वाले हैं। स्वादिष्ट और कामोद्दीपक है।

पंचवल्ली गुण

तिक्ता बिंबलताच या कटुकिका मार्जारपाती पटो-
लात्यंतोत्तमकारवेल्लिसहिता पंचैव वल्य स्मृताः॥
पित्तघ्नाः कफनाशनाः क्रिमिहराः कुष्ठे हिता वातलाः
कासश्वासविषज्वरप्रशमना रक्ते च पथ्यास्सदा॥38॥

भावार्थ : कडुआ कुंदुरी का बेल, कडुआ तुम्बी का का बेल, मार्जारपादी (लता विशेष) का बेल, (कडुआ) परवल का वेल, करेला का बेल, ये लतायें पंच वल्ली कहलाती है। कडु आलुका वेल ये पित्त को दूर करने वाले हैं। कफ को नाश करने वाले है। क्रिमिको नाश करने वाले हैं। कुष्ठरोग के लिए हितकर है। कास श्वास (दमा) विषज्वर को शमन करने वाले हैं। रक्त में भी हितकर हैं अर्थात् रक्त शुद्धि के कारण हैं।

गृधादिवृक्षज फलशाक गुण

गृध्रापाटलपाटलीद्रुमफला - न्यारेवतीनेत्रयोः।
कर्कोट्यामुशलीफलं वरणकं पिण्डीतकस्यापि च॥
रूक्षस्वादुहिमानि पित्तकफनिर्णाशानि पाके गुरु -।
ण्येतान्याश्वनिलावहान्यतितरां शीघ्रं विषघ्नानि च॥39॥

भावार्थ : काकादनी, आशुधान, पाडल नेत्र (वृक्षविशेष) ककोडा, मुसली, वरना वृक्ष, पिण्डीतक, (मदन वृक्ष-तुलसी भेद) अमलतास इनके फल रूक्ष होते हैं, मधुर होते हैं। ठण्डे होते हैं पित्त और कफ को दूर करने वाले होते हैं। पचन में गुरु है शीघ्र ही वात को बढ़ाने वाले और विष को नाश करते हैं।

पीलू आदि मूलशाक गुण

पीलूष्मार्द्रकशिग्रुमूल - लशुनप्रोद्यत्पलाडूंषणा
द्येलाग्रंधिकपिप्पलीकुलहलान्युष्णानि तीक्ष्णान्यपि।
शाकेषूक्तकरीरमप्यतितरां श्लेष्मानिलघ्नान्यमू-
न्यग्नेर्दीपनकारणानि सततं रक्तप्रकोपानि च॥40॥

1. इस शब्द का अर्थ प्रायः नहीं मिलता है। मानिनी, इतना ही हो तो फूल प्रियंगु ऐसा अर्थ होता है।

भावार्थ : पीलु नामक वृक्ष अदरख, सेजिनिया का जड़, लहसुन, प्याज, कालीमिरच, इलायची, पीपलमूल, कुलहल नामक क्षुद्रवृक्ष विशेष, ये सर्व शाक उष्ण हैं और तीक्ष्ण हैं एवं शाक में कहा हुआ करील भी इसी प्रकार का है। ये सब विशेषतया कफ और वायु को दूर करने वाले हैं। उदर में अग्निदीपन करने वाले हैं एवं सदा रक्त-विकार करने वाले हैं।

आम्रादि अम्लफल शाकगुण

कूष्मांडत्रपुषोरुपुष्पफलिनी कर्कारुकोशातकी।
तुंबीबिंबलताफलप्रभृतयो मृष्टाः सुपुष्टिप्रदा॥
श्लेष्मोद्रेककरास्सुशीतलगुणा पित्तेऽतिरक्ते हिताः।
किंचिद्वातकरा बहिर्गतमलाः पथ्यातिवृष्यास्तथा॥41॥

भावार्थ : काशी फल, (पीला कद्दू) खीरा पेठ, (सफेदकद्दू) तुरई लौकी, कंदूरी (कुंदरू) आदि लता से उत्पन्न (लताफल) फल स्वादिष्ट और शरीर को पुष्ट करने वाले होते हैं। कफ को उद्रेक करते हैं और ठण्डे हैं। पित्त और रक्तज व्याधियों में अत्यन्त हितकर है। थोड़ा वात को उत्पन्न करने वाले हैं और मल साफ करने वाले हैं। शरीर के लिए हितकर व कामोद्दीपक है।

आम्रादि अम्लफल शाकगुण

आम्राम्रातकमातुलंगलकुच- प्राचीनसात्तिंत्रिणी।
कोद्यद्वाडिमकोलचव्यबदरीकर्कं दुपारावताः॥
प्रस्तुत्यामलकप्रियालकर - बंदीवेत्रजीवाम्रको।
वर्वारुप्रोक्तकुशांब्रचिर्भटकपित्थादीन्यथान्यान्यपि॥42॥
नारंगद्वयकर्मरंगविल- सत्प्रख्यातवृक्षोद्भवा।
न्यव्यम्लाग्रिफलानि वातशमनान्युद्रिक्तरक्तान्यापि॥
पित्तश्लेष्मकराणि पाकगुरुकस्निग्धानि लालाकरा-
ण्यंतर्बाह्यमलातिशोधनकराण्यत्यंततीक्ष्णानिच॥43॥

भावार्थ : आम, अम्बाड़ा, बिजौरा नींबू, बड़हर, पुरानी तिंतिडीक,अनार, छोटी बेर, चव्य (चाव), बड़ी बेर, झड़िया बेर, फालसा, आंवला, चिरोंजी, करवंदी(?)बेंत, जीव, आम्रक (आमरस), ककड़ी (खट्टी) कुशाम्र[2] कचरिया[3] कैथ और इस प्रकार के अन्यान्य अम्ल फल एवं नारंगी, नींबू कमरख आदि, जगत्प्रसिद्ध वृक्षों से उत्पन्न, अत्यन्त खट्टे फल, वात को शमन करते हैं। रक्त को प्रकुपित करते हैं। पित्त कफ को पैदा करते हैं। पाक में गुरु है, स्निग्ध है लार को (थूक)उत्पन्न करते हैं। भीतर

1. पुन्नागवृक्षे रोहिष तृणे। 2. यह शब्द प्रायः कोशों में दिखने में नहीं आता है। इसके स्थान में 'कोशाग्र' ऐसा हो तो छोटा आम और 'कुशाच' ऐसा हो तो चकोतरा, यह अर्थ होता हे। 3. गोरक्षकर्कटी।

बाहर के दोनों प्रकार के मल को शोधन करने वाले हैं और तीक्ष्ण हैं।

बिल्वादि फल शाक गुण

बिल्वाश्मंतकशैलबिल्वकरबी - गांगेरुकक्षीरिणाम्।
जंबूतोरणतिंदुकातिवकुला राजादनं चंदनम्॥
क्षुद्रारुष्करसत्परूषकुतुलक्यादिद्रुमाणां फला-
न्यत्यंतं मलसंग्रहाणि शिशिरण्युक्तानि पित्ते कफे॥44॥

भावार्थ : बेल,पाषाणभेद, पहाड़ीबेल, अजवायन , गंगेरन, क्षीरीवृक्ष (बड़, गूलर, पीपल की पाखर, फारस,पीपल) जामुन, तोरण (!) तेंदू, मोलसिरी, खिरनी, चंदन, कटेली, भिलावा, फालसा, तुलसी (!) इत्यादि वृक्षों के फल, मल को बाँधने वाले हैं। शीत हैं और पित्त, कफोत्पन्न व्याधियों में हितकर हैं।

द्रक्षादि वृक्ष फल शाक गुण

द्राक्षामोचमधूककाश्मरिलसत्खर्जूरि शृंगाटक।
प्रस्पष्टोज्वलनालिकेरपनसप्रख्यातहिंताल सत्-
तालादिद्रुमजानिकानि गुरुकाण्युट्टप्तशुक्राकरा-
ण्यत्यंतं कफवर्द्धनानि सहसा तालं फलं पित्तकृत्॥45॥

भावार्थ : अंगूर, केला, महुआ, कुम्भेर, सिंघाड़े, नारियल, पनस (कटहर)हिंताल (तालवृक्ष का एक भेद)आदि इन वृक्षों से उत्पन्न फल पचन में गुरु हैं। शुक्र को करने वाले हैं। एवं अत्यन्त कफ वृद्धि के कारण हैं। तालफल शीघ्र ही पित्त को उत्पन्न करने वाला है।

तालादि शाकगुण

तालादिद्रुमकेतकीप्रभृतिषु श्लाष्मापहं मस्तकं।
स्थूणीकं तिलकल्कमप्यभिहितं पिण्याकशाकानि च।
शुष्काण्यत्र कफापहान्यनुदिनं रूक्षाणि वृक्षोद्भवा-
न्यस्थीनि प्रबलानि तानि सततं सांग्राहिकाणि स्फुटं॥46॥

भावार्थ : ताड़, केतकी (केवड़ा) नारियल आदि वृक्षों के मस्तक (ऊपर का) भाग एवं स्थूणीक(!) तिल का कल्क, मालकांगनी आदि शाक कफको नाश करने वाले हैं। इस वृक्षों से उत्पन्न, शुष्कबीज भी कफनाशक है, रूक्ष है, अत्यन्त वात को उत्पन्न करने वाले हैं एवं हमेशा शरीर के द्रवस्राव को सुखाने वाले हैं।

उपसंहार

शाकान्येतानि साक्षादनुगुणसहितान्यत्रलोकप्रतीता-
न्युक्तान्यस्माद्द्रवाणां प्रवचनमिहसंक्षेपतस्संविधानैः।
अत्रादौ तोयमेव प्रकटयितुमतः प्रक्रमः प्राणिनां हि।
प्राणं बाह्यं द्रवाणामपि परममहाकारणं स्वप्रधानम्॥47॥

भावार्थ : इस प्रकार लोक में प्रसिद्ध, शाकों के वर्णन, उनके गुणों के साथ इस परिच्छेद में साक्षात् कर चुके हैं। अब यहाँ से आगे, अर्थात् अगले परिच्छेद में संक्षेप से, द्रव पदार्थों का वर्णन करेंगे। इन द्रव द्रव्यों में से भी सबसे पहले, जल का वर्णन प्रारम्भ किया जायगा। क्योंकि प्राणियों के लिए जल ही बाह्य प्राण है और दूध आदि अन्य द्रव पदार्थों की उत्पत्ति में भी जल[1] ही प्रधान कारण है। इसलिए सर्व द्रव पदार्थों में जल ही प्रधान है।

अंत्यमंगल

इति जिनवक्त्रनिर्गतसुशास्त्रमहांबुनिधेः ।
सकलपदार्थविस्तृततरंगकुलाकुलतः ॥
उभयभवार्थ साधन तट द्वयभासुरतो ।
निसृतमिदं हि शीकरनिभं जगदेकहितम्॥ 48॥

भावार्थ : जिसमें संपूर्ण द्रव्य, तत्त्व व पदार्थ रूपी तरंग उठ रहे हैं, इह लोक परलोक के लिए प्रयोजनीभूत साधन रूपी जिसके दो सुंदर तट हैं, ऐसे श्रीजिनेन्द्र के मुख से उत्पन्न शास्त्र समुद्र से निकली हुई बूँद के समान यह शास्त्र है। साथ में जगत् का एक मात्र हित साधक है (इसलिए ही इसका नाम कल्याणकारक है)।

इत्युग्रादित्याचार्यकृत कल्याणकारके स्वास्थ्यरक्षणाधिकारे
धान्यादिगुणागुणविचारो नाम चतुर्थः परिच्छेदः।

इत्युग्रादित्याचार्यकृत कल्याणकारक ग्रन्थ के स्वास्थ्यरक्षणाधिकार में विद्यावाचस्पतीत्युपाधिविभूषित **वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री** द्वारा लिखित **भावार्थदीपिका** टीका में धान्यादिगुणागुणविचार नामक **चौथा परिच्छेद** समाप्त हुआ।

1. जीवनं तर्पणं ह्यं इति ग्रन्थांतरे।

अथ पंचमपरिच्छेदः

द्रवद्रव्याधिकार

मंगलाचरण।

अथ जिनमुनिनाथं द्रव्यतत्त्वप्रवीणं। सकलविमलसम्यग्ज्ञाननेत्रं त्रिणेत्रम्॥
अनुदिनमभिवंद्य प्रोच्यते तोयभेदः। क्षितिजलपवनाग्न्याकाशभूमिप्रदेशैः॥1॥

भावार्थ : अब हम जिन और मुनियों के स्वामी द्रव्य स्वरूप के निरूपण करने में कुशल, सकल निर्मल केवलज्ञानरूपी नेत्र से युक्त, सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र रूपी तीन नेत्रों से सुशोभित, भगवान् अर्हत्परमेष्ठी को नमस्कार कर, पृथ्वी, जल वायु अग्नि आकाश गुणयुक्त भूमिप्रदेश के लक्षण के साथ, तत्तद्भूमि में उत्पन्न जल का विवेचन करेंगे, ऐसा श्री आचार्य प्रतिज्ञा करते हैं।

रसों की व्यक्तता कैसे हो ?

अभिहितवरभूतान्योन्यसर्वप्रवेशेऽप्यधिकतरवशेनैवात्रतोयैः रसस्स्यात्॥
प्रभवतु भुवि सर्वं सर्वथान्योन्यरूपं। निजगुणरचनेयं गौणमुख्यप्रभेदात्॥ 2॥

भावार्थ : पृथ्वी, अप, तेज वायु आकाश ये पाँच भूत, प्रत्येक-पदार्थों में मधुरादि रसों की व्यक्तता व उत्पत्ति के लिए कारण हैं। उपर्युक्त पंच महाभूतों के अन्योन्य प्रवेश होने से यदि उसमें जल का अंश अधिक हो तो वह द्रवरूप में परिणत होता है। इसी तरह पानी में भी रसके व्यक्त करने के लिए वे ही भूत कारण हैं। लेकिन शंका यह उपस्थित होती है कि जब जल में ये पाँचों भूत एक साथ अन्योन्य प्रवेशी होकर रहते हैं, तो मधुर आदि खास-खास रसों की व्यक्तता कैसे हो? क्योंकि एक-एक भूत से एक-एक रस की उत्पत्ति होती है। इस का उत्तर आचार्य देते है कि, जिस जल में जिस भूत का अधिकांश विद्यमान हो, उस भूत के अनुकूल रस व्यक्त होता है। इसी प्रकार संसार में जितने भी पदार्थ हैं, उन सबमें पाँचों भूतों के समावेश होते हुए भी, गौण मुख्य भेद से अपनी विशिष्ट विशिष्ट गुणों की रचना होती है।

अथ जलवर्गः

पृथ्वीगुण बाहुल्य भूमिका लक्षण व वहाँ का जलस्वरूप।

स्थिरतरगुरुकृष्णश्यामला खोपलाढ्या। बृहदुरुतृणवृक्षा स्थूलसस्यावनी स्यात्॥
क्षितिगुणबहुलात्तत्राम्लतामेति तोयं। लवणमपि च भूमौ क्षेत्ररूपं च सर्वं॥ 3॥

भावार्थ : जो भूमि अत्यन्त कठिन व भारी हो, जिसका वर्ण, काला व श्याम हो, जहाँ अधिक पत्थर, अधिक बड़े-बड़े तृण वृक्ष और स्थूल सस्यों से युक्त हो, तो उस भूमि को, अत्यधिक पृथ्वी गुण युक्त समझना चाहिए। वहाँ का जल, पृथ्वीगुण के बाहुल्य से, खट्टा व खारा स्वाद वाला होता है। क्योंकि जिस भूमि का गुण जैसा होता है, तदनुकूल ही सभी पदार्थ होते हैं।

जलगुणाधिक्य भूमि एवं वहाँ का जलस्वरूप।

शिशिरगुणसमेता संततो यातिशुक्ला। मृदुतरतृणवृक्षा स्निग्धसस्या रसाढ्या॥
जलगुणबहुतेयं भूस्ततः शुक्लमंभो। मधुररससमेतं मृष्टमिष्टं मनोज्ञम्॥ 4॥

भावार्थ : जो भूमि शीतगुण से युक्त है, सफेद वर्ण वाली है, कोमल तृण व वृक्षों से संयुक्त है तथा स्निग्ध और रसीले सस्य सहित है, वह जलगुण अधिक वाली भूमि है। वहाँ का जल सफेद, स्वच्छ, मधुर रस संयुक्त (इसलिए) स्वादिष्ट, और मनोज्ञ होता है।

वाताधिक्य भूमि एवं वहाँ का जलस्वरूप

परुषविषमरूक्षा - बभ्रुकापोतवर्णा। विरसतृणकुसस्या कोटरप्रायवृक्षा ॥
पवनगुणमयी स्यात्सा मही तत्र तोयं। कटुक खलु कषायं धूम्रवर्णं हि रूपम्॥ 5॥

भावार्थ : जहाँ की भूमि कठिन हो, ऊँची-नीची विषम रूप से स्थित हो, रूक्ष हो भूरे वर्ण की हो, कबूतरी रंग की हो और जहाँ के तृण प्रायः रस रहित हों, कुसस्य से युक्त हो एवं वृक्ष प्रायः कोटरों से युक्त हों, वह भूमि अधिक वायु गुण वाली है। ऐसी भूमि में उत्पन्न होने वाला जल कडुवा होता है कषायला होता है, उसका वर्ण धुआँ जैसा होता है।

अग्निगुणाधिक्यभूमि एवं वहाँ का जलस्वरूप

बहुविधवरवर्णात्यंत- धातूष्णयुक्ता। प्रविमलतृणसस्या स्वल्पपाण्डुप्ररोहा॥
दहनगुणधरेयं धारिणी तोयमस्यां। कटुकमपिच तिक्तं भासुरं धूसराभं॥ 6॥

भावार्थ : जो बहुत प्रकार के श्रेष्ठ वर्ण, व उष्ण धातुओं से संयुक्त, निर्मल तृण व सस्य सहित हो और जहाँ थोड़े सफेद अंकुर हों, ऐसी भूमि, अग्नि गुण से युक्त होती है। ऐसी भूमि में उत्पन्न जल (चिरपरा) व कडुआ रस वाला होता है तथा उसका वर्ण भासुर व धूसर है।

आकाशगुणयुक्त भूमि एवं वहाँ का जलस्वरूप

समतलमृदुभागाश्वभ्रमत्यंबुदाभा। विरलसरलसज्जप्रांशुवृक्षाभिरामा॥
वियदमलगुणाढ्या भूरिहाप्यंबुसर्वं। व्यपगतरसवर्णोपेतमेतत्प्रधानम्॥ 7॥

भावार्थ : जो भूमि, समतल वाली हो, अर्थात ऊँची-नीची न हो, मृदु हो छिद्र व खड्डे से युक्त न हो विरल रूप से स्थित सरल, सान, आदि ऊँचे वृक्षों से सुशोभित हो तो उस भूमि को श्रेष्ठ आकाश के गुणों से युक्त जानना चाहिये इस भूमि में उत्पन्न जल, विशेष (खास) वर्ण व रस से रहित है। यही

प्रधान है। अतएव पीने योग्य है।

पेयापेय पानी के लक्षण

व्यपगतरसगंधस्वच्छ - मत्यंतशीतं। लघुतममतिमेध्यं[1] पेयमेतद्धि तोयम्॥
गिरिगहनकुदेशोत्पन्न - पत्रादिजुष्टं। परिहृतमितिचोक्तं दोषजालैरूपेतम्॥ 8॥

भावार्थ : जिस जल में रस और गंध नहीं है, स्वच्छ है एवं अत्यन्त शीत है, हल्का है बुद्धिप्रबोधक है, वह पीने योग्य है और बड़े पहाड़, जंगल खोटा स्थान, इत्यादि से उत्पन्न व वृक्ष के पत्ते इत्यादियों से युक्त जल दोषयुक्त है। उसे नहीं पीना चाहिए।

जल का स्पर्श व रूप दोष।

खरतरमिह सोष्णं पिच्छिलं दंतचर्व्यं, सुविदित जलसंस्थं स्पर्शदोषप्रसिद्धम्॥
बहलमलकलंकं शैवलात्यंतकृष्णं। भवति हि जलरूपे दोष एवं प्रतीतः॥ 9॥

भावार्थ : जो पानी द्रवीभूत न हो, उष्ण हो, दांत से चाबने में आता हो, चिकना हो, वह जल स्पर्श दोष से दूषित समझना चाहिए एवं अत्यन्त मल से कलंकित रहना, शेवाल से युक्त होने से काला होना यह जल के रूप में दोष है।

जल का गंध, रस व वीर्य दोष

भवति हि जलदोषोऽनिष्टगंधस्सुगंधो। विदितरसविशेषोप्येष दोषो रसाख्यः॥
यदुपहतमतीवाध्मान - शूलप्रसेकान्। तृषमपिजनयेत्तत् वीर्यदोषभिपाकं॥ 10॥

भावार्थ : जल में दुर्गंध रहना अथवा सुगंध रहना यह जलगत गंधदोष है। कोई विशेष रस रहना (मालूम पड़ना) यह जलगत रसदोष है। जिस जल को थोड़ा पीने पर भी, जो आध्मान (अफराना) शूल, जुखाम आदि को पैदा करता है एवं प्यास को भी बढ़ाता है, वह वीर्य दोष से युक्त जानना चाहिए।

जल का पाक दोष

यदपि न खलु पीतं पाकमायाति शीघ्रं। भवति च सहसा विष्टंभिपाकाख्य दोषः॥
पुनरथकथितास्तु व्यापदः षड्विधास्सत्। प्रशमनमिह सम्यक्कथ्यते तोयवासः॥ 11॥

भावार्थ : जो जल पीने पर शीघ्र पचन नहीं होता है और सहसा, मलरोध होता है यह जल का पाक नामक दोष है। ऊपर जल में जो 2 छह प्रकार के दोष बतलाये गए उनको उपशमन करने के जो उपाय हैं, उनको अब यहाँ पर कहेंगे।

जलशुद्धि विधान

कतकफलनिघृष्टं वातसीपिष्टयुक्तं। दहनमुखविपक्वं तप्तलोहाभितप्तं।
दिनकरकरतप्तं चंद्रपादैर्निशीथे। परिकलितमनेकैश्शोधितं गालितं तत्॥ 12॥

1. बुद्धिप्रबोधनम्।

जलजदललवंगोशीरसच्चंदनाद्यैर्हिमकरतुटि - कुष्ठप्रस्फुरन्नागपुष्पैः ॥
सुरभिवकुलजातीमल्लिकापाटलीभिः। सलवितलवलीनीलोत्पलैश्चोचचोरैः ॥ 13 ॥
अभिनवसहकारै - श्चंपकाद्यैरनेकैस्सुरुचिरवरगंधैर्मृत्कपालैस्तथान्यैः ॥
असनखदिरसारैर्वासितं तोयमेत-च्छमयति सहसा संतापतृष्णादिदोषान्॥ 14 ॥

भावार्थ : कतकफल (निर्मली बीज) व अतसी के आटा डालना, अग्नि से तपाना, तपे हुए लोह को बुझाकर गरम करना, सूर्यकिरण में रखना, रात्रि में चाँदनी में रखना आदि नाना प्रकार के उपायों से शोधन किया गया तथा वस्त्र वगैरह से छना हुआ, कमलपत्र, लौंग, खश, चन्दन, कर्पूर, छोटी इलायची, कूट, श्रेष्ठ नागपुष्प, (चंपा) अत्यन्त सुगंधि बकुल जाई, मल्लिकापुष्प, पाढन के फूल, जायफल, हरपा रेवडी, नीलोपल, दालचीनी, शरीभेद? नवीन व अत्यन्त सुगंधि युक्त आम का फूल, चम्पा आदि अनेक सुगंधी युक्त पुष्पों से, तथा मृत्कपाल, (भृष्टखर्पर) विजयसार खैरसार आदिकों से, सुगंध किया गया जल, शीघ्र ही ताप, तृष्णा आदि दोषों को शमन करता है।

वर्षाकाल में भूमिस्थ, व आकाशजल के गुण

न भवति भुवि सर्वं स्नानपानादियोग्यं। विषमिव विषरूपं वार्षिकं भूतलस्थम्॥
विविधविषमरोगानीकहेतुर्विशेषादमृतमिति पठन्त्येतत्तदाकाशतोयम्॥ 15 ॥

भावार्थ : लोक में सभी पानी स्नान और पीने योग्य नहीं हुआ करते है, कोई विष के समान भी विष (जल) होते हैं। वर्षा ऋतु में भूतलस्थ जल, नाना प्रकार के विषम व्याधियों की उत्पत्ति के लिए कारण हैं। आकाश से गिरता हुआ जो कि भूमि के स्पर्श करने के पहले ही ग्रहण किया गया हो, ऐसे पानी अमृत के समान है।

क्वथित जल गुण

क्वथितमथ च पेयं कोष्णमंभो यदैतव्व्यपगतमलफेनं शुद्धिमद्वा विशिष्टं॥
श्वसनकसनमेदश्लेष्म - वातामनाशं। ज्वरहरमपि चोक्तम् शोधनं दीपनं च॥ 16 ॥

भावार्थ : यह वर्षाऋतु का गरम किया हुआ मंदोष्ण जल जिसमें झाग वगैरह न हो, ऐसे निर्मल वा शुद्ध जल को पीना चाहिए। वह जल श्वासकांस, मेद, कफ, वात और आम को नाश करता है एवं ज्वर को भी दूर करने वाला और मलशोधक व अग्निदीपन करने वाला है।

सिद्धान्नपानवर्गः

यवागू के गुण

पचति च खलु सर्वं दीपनी बस्ति शुद्धिं। वितरति तृषि पथ्या वातनाशं करोति॥
हरति च वरपित्तं श्लेष्मला चातिलघ्वी-सततमपि यवागू मानुषैर्नो निषिद्धा॥ 17 ॥

भावार्थ : यवागू सर्व आहार को पचाती है। अग्नि को दीपन करती है, बस्ति (मूत्राशय) शुद्धि को करती है, प्यास में पीने के लिए हितकर है, वातको नाश करती है, पित्तोद्रेक को भी नाश करता है। कफ को बढ़ाती है, अत्यन्त लघु है। इसलिए यवागू मनुष्यों को हमेशा पीने के लिए निषिद्ध नहीं है अर्थात् हमेशा पी सकते हैं।

विशेष : यवागू दाल आदि धान्यों को छह गुना जल डालकर उतना पकावें कि उस में विशेष द्रव न रह जाये, लेकिन ज्यादा घन भी नहीं होना चाहिए। उसको यवागू कहते हैं। अन्यत्र कहा भी है- **यवागू षड्गुणस्तोयैः संसिद्धाविरलद्रवा।**

मण्ड गुण

कफकरमतिवृष्यं पुष्टिकृन्मृष्टमेतत्। पवनरूधिरपित्तोन्मूलनं निर्मलंच॥
बहलगुरुतराख्यं बल्यमत्यंतपथ्यं। क्रिमिजननविषघ्नं मण्डमाहुर्मुनींद्राः॥18॥

भावार्थ : माण्ड कफ को वृद्धि करने वाली है, अत्यन्त पौष्टिक वृष्य (काय को बढ़ाने वाली है) है, स्वादिष्ट है। वायुविकार व रक्तपित्त के विकार को दूर करने वाली है, निर्मल है। जो मण्ड गाढी है, वह गुरु होती है और शरीर को बल देने वाली एवं हितकर है। कृमियों को पैदा करती है विष को नाश करती है, इस प्रकार मुनीन्द्र मण्ड का गुण दोष बतलाते हैं।

मुद्गयूष गुण

ज्वरहरमनिलाढ्यं रक्तपित्तप्रणाशं। वदति मुनिगणस्तन्मुद्गयूषं कफघ्नं॥
पवनमपि मिहंतिस्नेहसंस्कारयुक्तं। शमयति तनुदाहं सर्वदोषप्रशस्तम्॥19॥

भावार्थ : पूर्वाचार्य मुद्गयूष का गुण दोष कहते हैं कि वह ज्वर को दूर करने वाला है। वातवृद्धि करने वाला है, रक्तपित्त और कफ को दूर करने वाला है। यदि वह संस्कृत हो अर्थात् घी, तेल, आदि से युक्त हो तो वायु को भी शमन करता है एवं शरीर दाह को शमन करता है, सर्व दोषों के लिए उपशामक है।

मुद्गयूष[2] सेवन करने योग्य मनुष्य

व्यपहृतमलदोषा ये व्रणक्षीणगात्रा। अधिकतर तृषार्ता ये च घर्मपतप्ताः॥
ज्वलनमुखविदग्धा येऽतिसाराभिभूताः। श्रमयुतमनुजास्ते मुद्गयूषस्य योग्याः॥20॥

भावार्थ : जिन का मल व दोष, वमन आदि कर्मों के द्वारा शरीर से निकाल दिया हो, व्रण के कारण जिन का शरीर क्षीण हो गया हो, जो अत्यन्त प्यासा हो, धूप से जिनका शरीर तप्त हो, अग्नि

1. कहा भी है - मण्डश्चतुर्दशगुणे सिद्धस्तोये त्वसिवथकः।
2. द्विदल (मूंग मटर आदि) धान्यों अठारह गुण जल डालकर सिद्ध किया गया दाल को यूष कहते हैं। कहा भी है - स्निग्ध पदार्थो यूष स्मृतो वैदलानामाष्टादशगुणेऽम्भसि।

के द्वारा दग्ध हो, अतिसार रोग से पीड़ित हो एवं जो थक गए हों ऐसे मनुष्य मुद्गयूष सेवन करने योग्य है, अर्थात् ऐसे मनुष्य यदि मुद्गयूष सेवन करें तो हित हो सकता है।

दुग्धवर्ग

अष्टविधदुग्ध

करभमहिषगोऽविच्छागमृग्यश्वनारी-पय इति बहुनाम्ना क्षीरमष्टप्रभेदम्॥
विविधतरुतृणाख्यातौषधोत्पन्नवीर्यै-र्हितकरमिह सर्वप्राणिनां सर्वमेव॥ 21॥

भावार्थ : ऊँटनी, भैंस, गाय, मेंढ़ी, बकरी, हरिणी, घोड़ी और मनुष्य स्त्री, इनसे उत्पन्न लोकप्रसिद्ध दूध आठ प्रकार का है। वह नाना प्रकार के वृक्ष, तृण, प्रसिद्ध औषधियों द्वारा उत्पन्न है विशिष्ट वीर्य जिसका अर्थात् उपरोक्त दूध देने वाली प्राणियाँ नाना प्रकार के वनस्पतियों को खाती है। जिसमें प्रसिद्ध औषधि भी होती है, उनके परिपाक होने पर, उन औषधियों के वीर्य दूध में आ जाते हैं। इसलिए, सर्व प्राणियों को सभी दूध हितकर होते हैं।

दुग्धगुण

तदपि मधुरशीतं स्निग्धमत्यंतवृष्यं। रुधिरपवनतृष्णा - पित्तमूर्च्छातिसारं॥
श्वसनकसन - शोषोन्मादजीर्णज्वरार्ति। भ्रममदविषमोदावर्तनिर्नाशनं च॥ 22॥
हितकर - मतिबल्यं योनिरोगप्रशस्तं। श्रमह रमतिगर्भस्रावसंस्थापनं च॥
निखिलहृदयरोगप्रोक्त बस्त्यामयानां। प्रशमनमिह गुल्मग्रंथिनिर्लोठनं च॥ 23॥

धारोष्णदुग्ध गुण। श्रृतोष्णदुग्धगुण।

अमृतमिव मनोज्ञं यच्च धारोष्णमेतत्। कफपवननिहंतृप्रोक्तमेतच्छ्रिट तोष्णम्॥
शमयति बहुपित्तं पक्व शीतं ततोन्य-द्विविधविषमदोषोद्भूतरोगैकहेतुः॥ 24॥
क्षीरं हितं श्रेष्ठ रसायनं च। क्षीरं वपुर्वर्णबलावहं च॥
क्षीरं हि चक्षुष्यमिदं नराणाम्। क्षीरं वयस्थापनमुत्तमं च॥ 25॥

श्रृतशीतदुग्धगुण

क्षीरं हि संदीपनमद्वितीयं। क्षीरं हि जन्मप्रभृति प्रधानं।
सोष्णं हि संशोधनमादरेण। संधानकृत्तच्छ्रिटतशीतलं स्यात्॥ 26॥

भावार्थ : ऊपर कहे गए आठ प्रकार के दूधों का सामान्य रूप से गुण-दोष बतलाते हैं। वह मधुर है, शीत है चिकना है, कामवर्द्धक है अत्यन्त रक्तदोष, वातविकार, तृष्णारोग, पित्त, मूर्च्छा, अतिसार, श्वास खांस दोष, उन्माद, जीर्णज्वर भ्रम, मद, विषम उदावर्त रोग को नाश करता है। दूध शरीर को हित करने वाला है, अत्यन्त बल देने वाला है, योनि रोगों के लिए उपयुक्त है। थकावट को दूर करने वाला एवं गर्भस्राव को रोकने वाला है, सम्पूर्ण हृदय के रोगों को शमन करने वाला है। बस्ति

(मूत्राशय) के रोगों को शमन करता है गुल्मग्रंथियों को दूर करने वाला है। यदि वह दूध धारोष्ण हो अर्थात् धार निकालते ही पीने के काम में आवे तो वह अमृत के समान है। यदि उसे फिर गरम करके पिया जाये, तो कफ और वात विकार को दूर करने वाला है। गरम करके ठण्डा किया हुआ दूध पित्तविकार को शमन करता है। बाकी अवस्था में अनेक विषम रोगों के उत्पन्न होने के लिए कारण है। दूध शरीर के लिए हितकर है एवं श्रेष्ठ रसायन है। दूध शरीर के वर्ण की वृद्धि करने वाला एवं शरीर में बल प्रदान करने वाला है। दूध मनुष्यों की आँख के लिए हितकर है। दूध पूर्णायु की स्थिति के लिए हितकर है एवं उत्तम है। क्षीर शरीर में अग्निको दीपन (तेज) करने वाला है, प्रत्येक प्राणी के लिए यह जन्म काल से ही प्रधान आहार है, उसे यदि गरम ही पीवें तो मल की शुद्धि करता है अर्थात् दस्त लाता है। गरम करके ठण्डा किया हुआ दूध मल आदि को बांधने वाला है।

दही के गुण

दध्युष्णमम्लं पवनप्रणाशी। श्लेष्मापहं पित्तकरं विषघ्नं॥
संदीपनं स्निग्धकरं विदाहि। विष्टंभि वृष्यं गुरुपाकमिष्टम्॥ 27॥

भावार्थ : दही उष्ण है, खट्टी है, वातविकार दूर करने वाली है, कफ को नाश करने वाली है, पित्तोत्पादक है, विष को हरने वाली है, अग्नितेज करने वाली है। स्निग्धकारक है, विदाहि है, मलावरोधकारक है, वृष्य (कामोत्पादक) है, देर में पचने वाला है।

तक्रगुण

तक्रं लघूष्णाम्लकषायरूक्ष-मग्निप्रदं श्लेष्माविनाशनं च।
शुक्लं हि पित्तंमरुतः प्रकोपी संशोधनं मूत्रपुरीषयोश्च॥ 28॥

भावार्थ : छाछ (तक्र) हल्का (जल्दी पचने वाला है) व उष्ण है, खट्टा व कषायला होता है। रूक्षगुणवाला है, अग्नि को बढ़ाने वाला एवं कफ को दूर करने वाला है, शुक्ल पित्त व वायु विकार को उद्रेक करने वाला है मल-मूत्र को साफ करने वाला है।

उदश्वित्के गुण

सम्यक्कृतं सर्वसुगंधियुक्तं। शीतीकृतं सूक्ष्मपटसृतं च॥
स्वच्छांबुसंकाशमशेष रोग। संतापनुद्वृष्यमुदीश्विदुक्तम्॥ 29॥

भावार्थ : दही में समभाग पानी मिलाकर मथन करें उसे उदश्वित् कहते हैं। जो अच्छी तरह तैयार किया गया हो सुगंध द्रव्य से मिश्रित हो, ठण्डा किया हो, पतले कपड़े से शोधित हो एवं निर्मल पानी के समान हो, सम्पूर्ण रोगों को व संताप को दूर करता हो व पौष्टिक हो, उसे उदश्वित् कहते हैं।

खलगुण

सर्वैः कटुद्रव्यगणैस्सुपक्वं। सुस्नेहसंस्कारयुतस्सुगंधिः॥
श्लेष्मानिलघ्नोऽग्निकरो लघुश्च। सर्वः खलस्तत्कृतकाम्लिकश्च॥30॥

भावार्थ : उपर्युक्त छाछ में मिरच आदि, कटुद्रव्य डालकर अच्छी तरह पकाकर उसमें घी आदि से संस्कार (छौंक) किया गया हो, उसे खल कहते हैं। वह कफ विकार व वात विकार को दूर करने वाली है एवं शरीर में अग्नि को तेज करती है। पचन में हल्की है। इसी छाछ के द्वारा बनाये गए अम्लिका (कढ़ी) आदि के भी यही गुण है।

नवनीत गुण

शीतं तथाम्लं मधुरातिवृष्यं। श्लेष्मावहं पित्तमरुत्प्रणाशी।
शोषक्षतक्षीणकृशातिवृद्ध-बालेषु पथ्यं नवनीतमुक्तम्॥ 31॥

भावार्थ : नवनीत (लोणी) शीत है। खट्टा रस वाला है। मधुर भी है। अति वृष्य है कफकारक है। पित्त व वायुविकार को दूर करने वाला है। क्षय, उरःक्षत रोग से जो क्षीण हो गया हो, अति कृश हो गया हो, उसे एवं बालक व वृद्धों के लिए हितकर है।

घृतगुण

वीर्याधिकं शीतगुणं विपाकि। स्वादुत्रिदोषघ्नरसायनं च।
तेजो बलायुश्च करोति मेध्यं॥ चक्षुष्यमेतद्धितमाहुरार्याः॥ 32॥

भावार्थ : घी शक्तिवर्द्धक है, शीत गुण वाला है, पचनकारक है। स्वादिष्ट होता है। वात पित्त कफ को दूर करने वाला है, रसायन है, शरीर में तेज बल आयु की वृद्धि करने वाला है। बुद्धि को बढ़ाने वाला है एवं आँखों के लिए हितकर है, ऐसा पूज्य पुरुष कहते हैं।

तैलगुण

पित्तं कषायं मधुरातिवृष्यं। सुतीक्ष्णमग्निप्रभवैकहेतुम्॥
केश्यं शरीरोज्वलवर्णकारी। तैलं क्रिमिश्लेष्ममरु त्प्रणाशी॥ 33॥

भावार्थ : तेल पित्त करने वाला है। इसका रस मधुर और कषाय है। वृष्य है, अग्नि को तीक्ष्ण करने वाला है। केशों को हित करने वाला है। शरीर का तेज बढ़ाने वाला है एवं कृमि को नाश करने वाला है। कफ और वायु को दूर करने वाला है।

कांजी के गुण

सौवीरमम्लं बहिरेव शीत - मंतर्विदाह्यग्निकृदश्मरेकम्।
गुल्मादिसंभेद्यनिलापहारि, हृद्यं गुरु प्राणबलप्रदं च॥ 34॥

भावार्थ : खट्टी कांजी बाहर से ही शीत प्रतिभास होती है। परन्तु अंदर जाकर जलन पैदा करने वाली है। गुल्म आदि को भेदन करती है। मूत्र के पत्थर को रेचन करने वाली, वात विकार को दूर करने वाली है एवं पचने में भारी है। शरीर को शक्ति देने वाली है।

अथ मूत्रवर्गः

अष्ट मूत्रगुण

गोऽजामहिष्याश्वखरोष्ट्रहस्ति -शस्ताविसंभूतमिहाष्टभेदम्॥

मूत्रं क्रिमिघ्नं कटुतिक्तमुष्णम्। रुक्षं लघुश्लेष्ममरूद्विनाशि॥ 35॥

क्षार गुण

क्षारस्सदा मूत्रगुणानुकारी। कुष्ठार्बुदग्रंथिकिलासकृच्छ्रान्।

अर्शांसि दुष्टव्रणसर्वजंतू-नाग्नेयशक्त्या दहतहि देहम्॥ 36॥

भावार्थ : गाय, बकरी, भैंस, घोड़ा, गधा, ऊंट, हाथी, मेंढा इन आठ प्राणियों से उत्पन्न मूत्र आठ प्रकार का है। यह क्रिमियों को नाश करने वाले हैं। कटु (चिरपरा) तिक्त व उष्ण हैं। रुक्ष हैं, लघु हैं एवं कफ और वात को दूर करने वाले हैं। क्षार में उपरोक्त मूत्र के गुण हैं। कुष्ठ, अर्बुद, ग्रंथि, किलासकुष्ठ, मूत्रकृच्छ्र, बवासीर, दूषितव्रण और सम्पूर्ण क्रिमि रोग को जीतता है। अपनी आग्नेय शक्ति के द्वारा देह को जलाता है।

द्रव द्रव्यों के उपसंहार

एवं द्रवद्रव्यगुणाः प्रतीताः। पानानि मान्यानि मनोहराणि॥

युक्त्यानया सर्वहितानि तानि। ब्रूयाद्भिषग् भक्षणभोजनानि॥ 37॥

भावार्थ : इस प्रकार द्रव द्रव्यों के गुण का विचार किया गया है। इसी प्रकार प्राणियों के लिए हितकर मान्य व मनोहर भक्ष्य पेय ऐसे अन्य जो पदार्थ हैं, उनके गुणों को वैद्य बतलावें।

अनुपानाधिकारः

अनुपानविचार

इत्थं द्रवद्रव्यविधिं विधाय। संक्षेपतः सर्वमिहानुपानम्॥

वक्षाम्यहं सर्वरसानुपानं। मान्यं मनोहारि मतानुसारि॥ 38॥

भावार्थ : इस प्रकार सम्पूर्ण द्रव द्रव्यों को वर्णन करके आगे हम संक्षेप से, सर्व रसों के सम्पूर्ण अनुपान का वर्णन, मनोहर मत के अर्थात् पूर्वाचार्यों के दिव्य मत के अनुसार, सिद्धान्ताविरुद्ध रूप से करेंगे।

सर्व भोज्य पदार्थों के अनुपान

भोज्येषु सर्वेष्वपि सर्वथैव। सामान्यतो भेषजमुष्णतोयम्॥

तिक्तेषु सौवीरमथाम्लतक्रं। पथ्यानुपानं लवणान्वितेषु॥ 39॥

भावार्थ : सभी प्रकार के भोजन में सामान्य दृष्टि से सर्वथा गरम पानी पीछे से पीना यही एक

औषध है। भोजन में कांजी लेना ठीक है।

कषाय आदि रसों के अनुपान

नित्यं कषायेषु फलेषु कंद-शाकेषु पथ्यं मधुरानुपानम्।
श्रेष्ठं कटु[1]-द्रव्ययुतानुपानं। सर्वेषु साक्षान्मधुरांधिकेषु॥ 40॥

भावार्थ : कषाय रसयुक्त फल व कंदमूल के भाजियों में मीठारस अनुपान करना पथ्य है, जो भोजन साक्षात् मधुर है, उसमें कटु रस अनुपान करना अच्छा है।

अम्ल आदि रसों के अनुपान

आम्लेषु नित्यं लवणप्रगाढं। तिक्तानुपानं कटुकेषु सम्यक्॥
पथ्यं तथैवात्र कषायपानं। क्षीरं हितं सर्वरसानुपानम्॥ 41॥

भावार्थ : खट्टे पदार्थों के साथ लवणरस अनुपान करना योग्य है। तीखे पदार्थों के लिए कडुआ व कषायले रस अनुपान है, दूध सभी रसों के साथ हितकर अनुपान है।

अनुपानविधान का उपसंहार

केषांचिन्मधुरे भवत्यातितराकांक्षाम्लसंसेवना-।
दम्लेवान्यतरातिसेवनतया वांछा भवेदादरात्॥
यद्यद्यस्य हितं यदेव रुचिकृद्यद्यस्य सात्म्यादिकं।
तत्तत्सर्वमिहानुपानविधिना योज्यं भिषग्भिस्सदा॥42॥

भावार्थ : किसी-किसी को अम्लरस के अधिक सेवन से मीठे रस में अधिक इच्छा रहती है। किसी को अम्ल के अतिरिक्त किसी रस का अधिक सेवन से खट्टे रस की इच्छा होती है। इसी तरह किसी को कुछ, अन्य को कुछ रस सेवन की चाह होती है। इसलिए विद्वान् वैद्य को उचित है कि वे जिनको जिस रस की इच्छा हो और जो हितकर हो और उनकी प्रकृति के लिए अनुकूल हो, उन सबको अनुपान विधि से प्रयोग करें।

भोजन के पश्चात् विधेय विधि

पश्चाद्धौतकरौ प्रमथ्य सलिलं दद्यात्सुचक्षुप्रदं।
प्रोद्यद्दृष्टिकरं विरूपविविधव्याधिप्रणाशावहं।
वक्त्रं पद्मसमं भवेत्प्रतिदिनं तेनैव संरक्षितं।
वक्रव्यंगतिलातिकालकमलानीलीप्रणाशावहम्॥43॥

भावार्थ : भोजन के अनंतर हाथों को धोकर, उन्हीं को परस्पर थोड़ा मलकर और उन्हीं से

1. कटुस्यात्कटुतिक्तयोः।

थोड़ा जल आँखों में डालना चाहिए अर्थात् जलयुक्त हाथों से आँख का स्पर्श करना चाहिए। इससे आँखों का हित होता है। तेजी आती है और नाना प्रकार के विरुद्ध अक्षिरोग दूर हो जाते है। इसी तरह, हाथों को मल कर प्रतिदिन मुख का स्पर्श करें अर्थात् थोड़ा-सा मलें तो मुख कमल के समान कांतियुक्त होता है तथा मुखगत व्यंग, तिलकालक, नीली आदि अनेक रोग दूर हो जाते हैं।

तत्पश्चाद्विधेय विधि

भुक्त्वाचम्य कषायतिक्तकटुकैः श्लेष्माणमुग्रं नुदेत्।
किंचिद्गर्वितवात्स्थितः[1] पदशतं संक्रम्य शय्यातले॥
वामं पार्श्वमथ प्रपीडय शनकैः पूर्वं शयीत क्षणं।
व्यायामादिविवर्जितो द्रवतरासेवी निषण्णो भवेत्॥44॥

भावार्थ : इस प्रकार, भोजन करने के पश्चात् अच्छी तरह कुल्ला करके कषाय कडुआ, तीखा रसयुक्त पदार्थों को अर्थात् सुपारी, कत्था लवंग कस्तूरी तांम्बूल आदि सेवन कर, या ह्रद्य धूम आदि के सेवन कर, उद्रिक्त कफ को दूर करें (क्योंकि भोजन करते ही कफ की वृद्धि होती है) पश्चात् गर्वित होकर बैठें अर्थात् किसी की कुछ भी परवाह न कर निश्चित चित्त से बैठें। बाद में सौ कदम चलकर, वाम पार्श्व को थोड़ा दबाकर उसी बायें बगल से थोड़ी देर सोवें और उठते ही व्यायाम आदि न करें और द्रव पदार्थ को सेवन करते हुए थोड़ी देर बैठना चाहिए।

अंत्यमंगल

इति जिनवक्त्रनिर्गतसुशास्त्रमहांबुनिधेः। सकलपदार्थविस्तृततरंगकुलाकुलतः॥
उभयभवार्थसाधनतटद्वयभासुरतो। निसृतमिदं हि शीकरनिभं जगदेकहितम्॥45॥

भावार्थ : जिसमें सम्पूर्ण द्रव्य, तत्त्व व पदार्थ रूपी तरंग उठ रहे हैं, इहलोक परलोक के लिए प्रयोजनीभूत साधनरूपी जिसके दो सुंदर तट हैं, ऐसे श्री जिनेन्द्र के मुख से उत्पन्न शास्त्रसमुद्र से निकली हुई बूँद के समान यह शास्त्र है। साथ में जगत् का एक मात्र हित साधक है (इसलिए ही इसका नाम कल्याणकारक है।

इत्युग्रादित्याचार्यकृत कल्याणकारके स्वास्थ्यरक्षाणाधिकारे अन्नपानविधिः पंचम परिच्छेदः।

इत्युग्रादित्याचार्यकृत कल्याणकारक ग्रन्थ के स्वास्थ्यरक्षणाधिकार में विद्यावाचस्पतीत्युपाधिविभूषित **वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री** द्वारा लिखित **भावार्थ दीपिका** टीका में अन्नपानविधि नामक **पाँचवां परिच्छेद** समाप्त हुआ।

1. भुक्ते राजवत् आसीत।

अथ षष्ठः परिच्छेदः

अथ दिनचर्याधिकारः

मंगलाचरण व प्रतिज्ञा।

नत्त्वा देवं देववृंदार्चितांघ्रि। वीरं धीरं साधु सुज्ञानवार्धिम्॥
स्वस्थं स्वस्थाचारमार्गो यथावच्छास्त्रोद्दिष्टः स्पष्टमुद्योततेऽतः॥ 1॥

भावार्थ : देवों के द्वारा वंद्य चरण वाले, धीर वीर और साधुओं के लिए ज्ञान समुद्र के रूप में हैं, ऐसे भगवान् को नमस्कार कर स्वास्थ्याचार शास्त्र में उपदिष्ट प्रकार श्रेष्ठ स्वास्थ का उपदेश यहाँ पर दिया जाता है।

दंत धावन

प्रातः प्रातर्भक्षयेद्वंतकाष्टं। निर्दोषं यद्दोषवर्गानुरूपम्॥
अन्ने कांक्षा वाक्प्रवृत्तिं सुगंधिं। कुर्यादेतन्नाशयेदास्यरोगान्॥ 2॥

भावार्थ : प्रतिनित्य प्रातःकाल, नीम, बबूल, कारंज, अर्जुन आदि के दांतूनों से जो वात पित्त कफों के अनुकूल अर्थात् दोषों को नाश करने वाले हो एवं निर्दोष हों दांत साफ करना चाहिए। इस प्रकार दांतुन करने से भोजन में इच्छा, वचनप्रवृत्ति में स्पष्टता, मुख में सुगंधि एवं सर्व मुख रोगों का नाश होता है।

दांतून करने के अयोग्य मनुष्य

शोषोन्मादाजीर्णमूर्च्छार्दिता ये। कासश्वासच्छर्दिहिक्काभिभूताः॥
पानाहाराः क्लिन्नगात्राः क्षतार्ताः। सर्वे वर्ज्याः दन्तकाष्ठप्रयोगे ॥ 3॥

भावार्थ : शोष (क्षय) उन्माद, अजीर्ण, मूर्च्छा, कास श्वास, वमन हिचकी आदि रोगों से पीड़ित, क्षत आदि के द्वारा जिनका शरीर क्लिन्न (आर्द्र) हो और पान, आहार ले चुके हों, ऐसे मनुष्य दांतुन नहीं करें।

तैलाभ्यंग गुण

दद्यात्तैलं मस्तके स्वस्थकाले। कुर्यादेतत्तर्पणं चेंद्रियाणाम्।
केशानां वा मार्दवं हि प्रशांतं। रोगान्सर्वान्नाशयेत्त्वग्गतांश्च॥ 4॥

भावार्थ : स्वस्थावस्था में मस्तक में तेल लगाना चाहिए। इससे इंद्रियों को शांति मिलती है। बाल (केश) को मृदु करने के लिए यह कारण है एवं मस्तक को ठण्डा रखता है। चर्मगत सर्व रोगों को यह नाश करता है।

तैलघृताभ्यंग गुण

तैलाभ्यंगश्लेष्मवातप्रणाशी। पित्तं रक्तं नाशयेद्वा घृतस्य॥
देहं सर्वं तर्पयेद्रोमकूपैर्वैवर्ण्यादिख्यातरोगापकर्षी॥ 5॥

भावार्थ : तैल मालिश करना यह कफ और वात को नाश करता है। घी के मालिश करने से रक्त पित्त दूर हो जाता है। रोमकूपों से प्रवेश हो कर यह सर्व देह को शांति पहुँचाता है और वैवर्ण्यादि प्रसिद्ध त्वग्गत रोगों को दूर करता है।

अभ्यंग के लिए अयोग्य व्यक्ति

मूर्च्छाक्रांतोऽजीर्णभक्तः पिपासी। पानाक्रांतो रेचकी क्षीणगात्रः॥
तं चाभ्यंगं वर्जयेत्सर्वकालं। सद्योगर्भे दाहयुक्तज्वरे वा॥ 6॥

भावार्थ : मूर्च्छित, अजीर्ण रोग से पीड़ित, प्यासा मद्य आदि को जिसने पीलिया हो और रेचन लिया हो जिस का शरीर अतिकृश हो, दाह ज्वर से युक्त हो, गर्भधारण कर अल्प समय हो गया हो तो, ऐसे व्यक्तियों को हमेशा अभ्यंग (मालिश) नहीं करना चाहिए।

व्यायाम गुण

दीप्ताग्नित्वं व्याधिनिर्मुक्तगात्रं। निद्रा तंद्रास्थौल्यनिर्नाशनं च॥
कुर्यात्कांतिं पुष्टिमारोग्यमायुर्व्यायामोऽयंयौवनं देहदार्ढ्यम्॥ 7॥

भावार्थ : प्रतिनित्य मनुष्य को व्यायाम करना चाहिए। व्यायाम से अग्नि तेज होती है। शरीर के रोग दूर होते है। निद्रा, आलस्य, स्थूलता आदि शरीर दोष दूर होकर शरीर में कांति, पुष्टि स्वास्थ्य और दीर्घ आयु की प्राप्ति होती है। विशेष क्या; यह व्यायाम यौवन को कायम रखता है और शरीर को मजबूत करता है।

व्यायाम के लिए अयोग्य व्यक्ति

तं व्यायामं वर्जयेद्रक्तपित्ती। श्वासी बालः कासहिक्काभिभूतः॥
स्त्रीषु क्षीणोभुक्तवान्सक्षतांग। स्स्वोष्णे काले स्विन्नगात्रो ज्वरार्तः॥ 8॥

भावार्थ : रक्तपित्त श्वासकास (खांसी) हिचकी, क्षत (जखम) और ज्वर से पीड़ित, जिसके शरीर से पसीना निकला हो, जो अतिमैथुन से क्षीण हो, ऐसे मनुष्य एवं बालक को व्यायाम नहीं करना चाहिए तथा स्वस्थ पुरुष को भी उष्णकाल (ग्रीष्म शरद ऋतु) में व्यायाम छोड़ देना चाहिए।

बलार्ध लक्षण

प्रस्वेदाद्वा शक्तिशैथिल्यभावाच्छक्तेरर्धं चावशिष्टं विदित्वा॥
व्यायामोऽयं वर्जनीयो मनुष्यैरत्यंताधिक्यान्वितो हंति मर्त्यम् ॥9॥

भावार्थ : यथेष्ट व्यायाम करने के बाद पसीना आवे अर्थात् शक्ति कम हो गई हो तब अर्धांश[1] शक्ति रह गई समझकर व्यायाम को छोड़ना चाहिए। अत्यधिक व्यायाम शरीर को नाश ही करता है।

उद्वर्तन गुण

त्वग्वैवर्ण्ये श्लेष्ममेदोविकारे। कण्डूप्राये गात्रकार्श्यस्वरूपे।

वाताक्रांते पित्तरक्तातुरेऽस्मिन्। कार्यं तत्रोद्वर्तनं सर्वदैव॥ 10॥

भावार्थ : शरीर में वर्ण विकार, कफविकारमेद, धातु का विकार हो जाय, प्रायः सर्व शरीर वात से पीड़ित हो एवं रक्तपित्त से पीड़ित हो, उस अवस्था में खुजली हो जाय व शरीर कृश हो जाय तो उद्वर्तन (उवटन) सर्वदा उत्तम है।

विशिष्ट उद्वर्तन गुण

फेनोध्दर्षाच्छोदसंवाहनाद्यैः, गात्रस्थैर्यं त्वक्प्रसादो भवेच्च॥

मेदश्लेष्मग्रंथिकण्ड्वामयास्ते, नस्युस्सर्वे वातरक्तोद्भवाश्च॥ 11॥

भावार्थ : गेंहू आदि की पिठ्ठी से, शरीर को घर्षण करने व औषधियों के चूर्ण को शरीर पर डालने से, शरीर में स्थिरता आ जाती है, चर्म में कांति आ जाती है, मेदविकार, श्लेष्मविकार ग्रंथिरोग (संधिरोग) खुजली और वातरोग एवं रक्तोत्पन्न रोग भी इससे नष्ट होते हैं।

पवित्र स्नान गुण

तुष्टिं पुष्टिंकांतिमारोग्यमायुस्सौम्यं दोषाणां साम्यमग्नेश्च दीप्तिम्।

तंद्रानिद्रापापशांतिं पवित्रम्। स्नानं कुर्यादन्नकांक्षामतीव॥ 12॥

भावार्थ : स्नान करने से मन में संतोष उत्पन्न होता है। तेज बढ़ता है। आरोग्य रहता है। दीर्घायु होता है। शुचिता प्राप्त होती है। दोषों का साम्य होता है। अग्नि तेज हो जाती है, आलस्य निद्रा दूर हो जाती है। पाप को उपशमन कर शरीर को पवित्र करता है भोजन में इच्छा उत्पन्न करता है। इसलिए पवित्र स्नान अवश्य करना चाहिये।

स्नान के लिए अयोग्य व्यक्ति

स्नानं वर्ज्यं छर्दिते कर्णशूलेचाध्मानाजीर्णाक्षिरोगेषु सम्यक्॥

सद्योजाते पीनसे चातिसारे। भुक्ते साक्षात्सज्वरे वा मनुष्ये॥ 13॥

भावार्थ : जिसको उल्टी हो रही हो, कर्णशूल (दर्द) हो गया हो जिसका पेट फूल गया हो अजीर्ण हो गया हो आँखों का रोग हो गया हो, पीनस रोग होकर अल्प समय हो गया हो, अतिसार हो गया हो, जिसने भोजन किया हो साक्षात् ज्वर सहित हो, ऐसे मनुष्य ऐसी अवस्थाओं में स्नान नहीं करें।

---

1. शरीर में जितनी शक्ति हो उससे अर्ध भाग मात्र व्यायाम में खर्च करना चाहिए।

तांबूल भक्षण गुण

सौख्यं भाग्यं सौरभं सुप्रसादं। कांति प्रल्हादं कामुकत्वं सगर्वं॥
सौख्यं सौंदर्यं सौमनस्यं सुरूपं। नित्यं सर्वेषामंगरागः करोति॥ 14॥
कांतिं संतोषं सद्रवत्वं मुखस्य। व्यक्तं वेद्यं भूषणं भूषणानाम्।।
रागं रागित्वं रोगनाशं च कुर्यात्। पूज्यं तांबूलं शुद्धिमाहारकांक्षाम् ॥15॥

भावार्थ : तांबूल (पान) के खाने से शरीर में सौख्य, भाग्य, सुगंधि, संतोष कांति, उल्लास, सुंदर विषयाभिलाषा आदि गुण बढ़ते हैं। मुख में कांति होने के साथ-साथ मन में संतोष रहता है। मुख में द्रवत्व रहता है, लोक में वह मुख का भूषण भी समझा जाता है। मधुर स्वर पैदा होता है। मुख में ललाई उत्पन्न होने के साथ-साथ बहुत से रोगों का नाश भी करता है। आहार में इच्छा को उत्पन्न करता है। भोजन के बाद मुख शुद्धि करता है, इसलिये ऐसे अनेक प्रकारके गुणों से युक्त तांबूल सदा सेव्य है।

ताम्बूल सेवन के लिए अयोग्य व्यक्ति

तत्तांबूलं रक्तपित्तज्वरार्तः। शोषी क्षीणस्सद्विरिक्तोऽतिसारी॥
क्षुत्तृष्णोन्मादातिकृच्छ्रोभिभूतः। पीत क्षीरस्संत्यजेन्मद्यमत्तः॥ 16॥

भावार्थ : जिसको रक्तपित्त हो गया हो, जो ज्वर से पीड़ित हो, जिसे क्षयरोग हो गया हो जो अत्यन्त कृश हो, जिसको विरेचन दे दिया हो, अतिसार रोग से पीड़ित हो, क्षुधा व तृषा से बाधिक हो, उन्माद जिसको हुआ हो, मूत्रकृच्छ्र से पीड़ित हो, दूध पिया हो, और शराब पीकर नशे में मस्त हो ऐसी अवस्थाओं में तांबूल वर्ज्य है।

जूता पहनने व पादाभ्यंग के गुण

सोपानत्कस्संचरेत्सर्वकालं। तेनारोग्यं प्राप्नुयान्मार्दवं च॥
पादाभ्यंगात्पाददाहप्रशांतिं। निद्रासौख्यं निर्मलां चापि दृष्टिम्॥ 17॥

भावार्थ : हमेशा जूता पहिनकर चलना चाहिए जिससे आरोग्य प्राप्त होता है व शरीर मृदु हो जाता है। पैर (पादतल) में तैल मालिश करने से पादक जलन शांत होती है। सुखपूर्वक नींद आती है। आँख निर्मल हो जाती हैं।

रात्रिचर्याधिकारः

मैथुनसेवनकाल

शीते काले नित्यमेकैकवारं। यायात्स्वस्थो ग्राम्यधर्मोपयोगम्॥
ज्ञात्वा शक्तिं चोष्णकाले कदाचित्। पक्षादर्धात्सप्तष पंचरात्रात् ॥18॥

भावार्थ : स्वस्थ मनुष्य ठण्ड के मौसम में प्रतिनित्य एक दफे मैथुन सेवन कर सकता है। उष्ण काल में अपनी शक्ति का ख्याल रखकर पाँच, छह, सात व आठ दिन में एक दफे मैथुन सेवन करना चाहिए।

मैथुन के लिए अयोग्य व्यक्ति

क्षुत्तृष्णार्तो मूत्रविट्शुक्रवेगी। दूराध्वन्यो य क्षतोत्पीडितांगः॥
रेतःक्षीणो दुर्बलश्च ज्वरार्तः। प्रत्यूषे संवर्जयेत्तं व्यवायम् ॥19॥

भावार्थ : क्षुधा तृषा से जो पीड़ित हो, मल मूत्र व शुक्र का वेग उपस्थित (बाहर निकलने के लिए तैयार हो) हो, दूर से जो चल कर आने से थक गए हो, क्षय से जो पीड़ित हो, जिनका शुक्र क्षीण हो गया हो, जो शक्तिहीन हो, ज्वर पीड़ित हो उनको मैथुन सेवन वर्ज्य है। एवं प्रातःकाल के समय मैथुन (किसी को भी) नहीं करना चाहिये।

सतत मैथुन के योग्य व्यक्ति

कल्याणांगो यो युवा वृष्यसेवी। तस्यैवोक्तस्सर्वकाले व्यवायः॥
वृष्यान्योगान्योगराजाधिकारे। वक्ष्याम्यक्षूणान् लक्षणैरूत्तरत्र॥ 20॥

भावार्थ : जिसका शरीर बिल्कुल निरोग है, जो जवान है व वृष्य (कामवर्द्धक, शुक्रजनक) पदार्थों को सेवन करता है, उसी को हमेशा मैथुन सेवन करने के लिए कहा है। अर्थात् वही सदा सेवन कर सकता है। वह वृष्य पदार्थ कौन से है यह आगे योगराजधिकार में लक्षण सहित प्रतिपादन करेंगे ऐसी आचार्य प्रतिज्ञा करते हैं।

ब्रह्मचर्य के गुण

वर्णाधिक्यं निर्वलीकं शरीरं। सत्वोपेतं दीर्घमायुस्सुदृष्टिम्।
कांतिं गात्राणां स्थैर्यमत्यंतवीर्यम्। मर्त्यः प्राप्नोति स्त्रीषु नित्यं जितात्मा॥21॥

भावार्थ : जो मनुष्य स्त्रियों में नित्य विरक्त रहता है उस के शरीर का वर्ण बढ़ता है, शरीर वली (चमड़े का सिकुड़ना) रहित होता है, मनोबल से युक्त होता है, दीर्घायु होता है, आँख अच्छी रहती है अर्थात् दृष्टि मन्द नहीं होती है। शरीर में कांति व मजबूती आ जाती है, और वह अत्यन्त शक्तिशाली होता है।

मैथुन के लिए अयोग्य स्त्री व काल

दुष्टां दुर्जातिं दुर्भगां दुस्स्वरूपा - मल्पछिद्रांगीमातुरामार्तवीं च
संध्यास्वस्पृश्यां पर्वसु प्राप्ययोग्यां। वृद्धान्नोपयाद्राजपत्नीं मनुष्यः॥22॥

भावार्थ : दुष्टा स्त्री, नीच जाति वाली, दूषितयोनि वाली, कुरूपी, अल्प छिद्र (योनिस्थान का) वाली, रोग से पीड़ित, रजस्वला, अस्पृश्या, वृद्धा ऐसी स्त्री तथा राजपत्नी के साथ कभी भी

संभोग न करें। जो संभोग करने के लिए योग्य हो उसी के साथ भी, संध्याकाल व अष्टमी–चतुर्दशी आदि पर्व दिनों में संभोग नहीं करना चाहिए।

मैथुनानंतर विधेय विधि

स्वादुस्निग्धं मृष्टमिष्टं मनोज्ञं। क्षीरोपेतं भक्ष्यमिक्षोर्विकारं।
शीतो वातश्शीतलं चान्नपानं। निद्रा सेव्या ग्राम्यधर्मावसाने॥ 23॥

भावार्थ : स्वादिष्ट, चिकना, स्वच्छ, स्वेच्छा के अनुकूल, मनोज्ञ तथा क्षीरयुक्त ऐसे भक्ष्य और ईख के विकार शक्कर आदि को मैथुन सेवन के बाद खाना चाहिए एवं ठण्डी हवा लेने के साथ शीतगुण युक्त अन्न पानकर शांति से निद्रा लेनी चाहिए, यह हितकर है।

निद्रा की आवश्यकता

रात्रौ निद्रालुः स्यान्मनुष्यः सुखार्थी। निद्रा सर्वेषां नित्यमारोग्यहेतुः॥
निद्राभंगे स्यात्सर्वदोषप्रकोपो। वर्ज्या निद्रा स्यात्सर्वदैवाप्यमोघम्॥ 24॥

भावार्थ : रात्रि में जो मनुष्य यथेष्ट निद्रा लेता है वह सुखी बन जाता है। अथवा सुख की इच्छा रखने वाला रात्रि में निद्रा अवश्य लेवें। निद्रा सभी प्राणियों को आरोग्य का कारण है। निद्रा भंग होने से वातादि दोषों का उद्रेक होता है, लेकिन रात–दिन निद्रा नहीं लेनी चाहिए।

दिन में निद्रा लेने का अवस्था विशेष

दूराध्वन्यः श्रांतदेहः पिपासी। वातक्षीणो मद्यमत्तोऽतिसारी॥
रात्रौ ये वा जागरूकास्तदर्धा निद्रा सेव्या तैर्मनुष्यैर्दिवापि॥ 25॥

भावार्थ : दूर से जो चलकर आया हो, थका हुआ हो, प्यासा हो, वातरोग से पीड़ित होकर क्षीण हो गया हो, अतिसार रोग से पीड़ित हो, मद्य पीकर मत्त हो गया हो एवं रात्रि मे जो जगा हो, वह मनुष्य जागरण से आधी नींद दिन में ले सकता है।

सर्वर्तुसाधारणचर्याधिकारः

हितमितभाषण

एवं सद्वृत्तैस्सज्जनं दुर्जनं वा। जन्माचारांतर्गतानिष्टवाक्यैः।
रागद्वेषात्यंतमोहैर्निमित्तैः। नैव ब्रूयात्स्वस्य संपत्सुखार्थी॥ 26॥

भावार्थ : जो मनुष्य संसार में सम्पत्ति व सुख चाहता है उसे चाहिए कि वह सज्जन व दुर्जन के प्रति, जन्म (पैदाइश) सम्बन्धी व आचार सम्बन्धी अनिष्ट वचनों के प्रयोग न करे, जो कि राग–द्वेष व मोह की उत्पत्ति के लिए कारण होते हों।

शैलाद्यारोहण निषेध

शैलान्वृक्षान्दुष्टवाजीरूपेन्द्रा-न्नारोहेद्वा ग्राहनकाकुलोर्मिः।
तीव्रस्त्रोतो वाहिनी वारिधीन्वा॥ गाहेत्तान्यत्पल्वलस्थे न तोये॥ 27॥

भावार्थ : सुखेच्छु मनुष्य, पहाड़, वृक्ष, दुष्टघोड़ा व हाथी इत्यादि पर नहीं चढ़े, जिसमें मगर व अधिक उर्मी हो, तीव्र स्रोत बह रहा हो ऐसी नदी व समुद्र में प्रवेश न करें, तथा पल्वल (जमीन में बड़े-बड़े गड्ढे रहते हैं, इनमें बरसात के समय पानी भर जाता है वह कई दिनों तक रहता है उनको पल्बल कहते हैं) के जल में भी स्नानादिक न करें।

पापादि कार्यों के निषेध

यद्यत्पापार्थं यच्च पैशून्यहेतुर्यद्यल्लोकानामप्रियं चाप्रशस्तं॥
यद्यत्सर्वेषामेव बाधानिमित्तम्। तत्तत्सर्वं वर्जनीयं मनुष्यैः॥ 28॥

भावार्थ : जो-जो कार्य पापोपार्जन के लिए कारण हों, जो लोकापवाद के लिए कारण हों, लोगों के लिए अप्रिय एवं अमंगल हो और जो सबके लिए बाधा उत्पन्न करने वाले हों, ऐसे कार्यों को बुद्धिमान् मनुष्य कभी न करें।

हिंसादि के त्याग

हिंसासत्यं स्तेयमोहादि सर्वं। त्यक्त्वा धीमांश्चारुचारित्रयुक्तः।
साधून्संपूज्य प्राज्यवीर्याधियुक्ता-नारोग्यार्थी योजयेद्योगराजान्॥ 29॥

भावार्थ : स्वास्थ्य की इच्छा रखने वाला मनुष्य हिंसा, झूठ, चोरी, परिग्रह, कुशील मोह इत्यादि सब को छोड़कर सदाचरण में तत्पर होवें, सज्जन व संयमियों की सेवा करके अत्यन्त शक्तिवर्द्धक योगराजों का प्रयोग करें।

वृष्याधिकारः

कामोत्पत्ति के साधन

चित्ताल्हादः कांतिमन्मानसानि। प्रोद्यत्पुष्पोद्भासि वल्लीगृहाणि॥
चक्षु स्पर्शश्रोत्रनासासुखानि। प्रायेणैतत्कामिनां कामहेतु॥ 30॥

भावार्थ : चित्त में आल्हाद उत्पन्न करने वाले एवं मन में हर्ष और प्रसन्नता को बढ़ाने वाले लतागृह जिनमें बहुत से सुंदर पुष्प खिले हुए दिख रहे हों, विहार करने योग्य है। उनसे इन्द्रियों को सुख मिलता है एवं प्रायः ये कामुकों के लिए काम की इच्छा उत्पन्न करने के लिए कारण हैं।

कामोद्दीपन करने वाली स्त्री

या लावण्योपेतगात्रानुकूला। भूषावेषोद्भासि सद्यौवना च ॥
मध्ये क्षामोत्तुंगपीनस्तनीया। सुश्रोणी सा वृष्यहेतुर्नराणाम् ॥31॥

भावार्थ : जो सुंदरी शरीर के लिए शोभने वाले वस्त्राभूषणों को धारण करती हो, युवती हो, मध्यस्थान जिसका कृश हो और उन्नत एवं मोटे स्तनों से युक्त हो, नितंब स्थान जिसका सुंदर हो वह स्त्री, पुरुषों को कामोद्दीपन करने वाली होती है।

वृष्यामलक योग

धात्रीचूर्णं तद्रसेनैव सिक्तं। शुष्कं सम्यक्क्षीरसंभावितं च॥
खण्डेनाक्तं सेव्यमानो मनुष्यो। वीर्याधिक्यं प्राप्नुयात्क्षीरपानात्॥ 32॥

भावार्थ : आंवले के चूर्ण में, उसी के रस डालकर सुखावें, इसी को भावना कहते हैं। तत्पश्चात् अच्छी तरह दूध की भावना देवें। इस प्रकार भावित चूर्ण के बराबर खांड मिलाकर खावें और ऊपर से दूध पीवें, तो अत्यन्त वीर्य की वृद्धि होती है।

नोट : जहाँ भावना का प्रमाण नहीं लिखा हो, वहाँ सम भावना देनी चाहिए ऐसी परिभाषा है। इसलिए यहाँ भी भावना प्रमाण नहीं लिखने के कारण, आँवले के रस, और दूध के साथ-साथ भावना देनी चाहिए।

वृष्य, शाल्यादियोग

कृत्वा चूर्णं शालिमाषांस्तिलांश्च। क्षीराज्याभ्यां शर्करामिश्रिताभ्यां॥
पक्वा पूपान्भक्षयेदक्षयं तत्। वृष्यं वांछन् कामिनीतृप्तिहेतुं॥ 33॥

भावार्थ : धान, उड़द, तिल इन तीनों के आटा बनाकर उनके सम्मिश्रण से बनाया गया पुआ शक्कर दूध घी के साथ खावें तो पौष्टिक है एवं कामभोग में कामिनी को तृप्ति करने के लिए कारण है।

वृष्य सक्तू

सक्तून्मिश्रान्क्षीरसंतानिकान्वा। माषाणां वा चूर्णयुक्तं गुडाढ्यम्॥
जग्ध्वा नित्यं सप्ततिं कामिनीनां। यायाद्वृद्धोप्यश्रमेणैव मर्त्यः॥ 34॥

भावार्थ : सत्तू को मलाई में मिश्रित करके सेवन करें अथवा गुड़ से युक्त उड़द के आटे का कोई पदार्थ बनाकर खावे तो वह बुड्ढा भी हो तो प्रतिदिन सत्तर स्त्रियों को भी बिना श्रम के सेवन कर सकता है।

वृष्य गोधूमचूर्ण

गोधूमानां चूर्णमिक्षोर्विकारैः। पक्वं क्षीरेणातिशीतं मनोज्ञं॥
आज्येनैतत्भक्षयित्वांगनानां। षष्ठिं गच्छेदेकवारं क्रमेण॥ 35॥

भावार्थ : गेंहू का आटा शक्कर और दूध के साथ पकाकर अत्यन्त ठण्डा करें। इस मनोज्ञ पाक को घी के साथ खावें तो वह मनुष्य एकदफे क्रम से साठ स्त्रियों को भोग सकता है।

वृष्य रक्ताश्वत्थादियोग

रक्ताश्वत्थत्वग्विपक्वं पयो वा। यष्टीचूर्णोन्मिश्रितं शर्कराढ्यं॥
पीत्वा सद्यस्सप्तवारान्व्रजेद्वा॥ निर्वीर्योपि प्रत्यहं कामतप्तः॥ 36॥

भावार्थ : लाल अश्वस्थ की छाल को दूध में पकाकर अथवा मुलहटी का चूर्ण और शक्कर से मिश्रित दूध को यदि मनुष्य पीवे, तो चाहे वह वीर्य रहित क्यों न हो तथापि प्रतिनित्य कामतप्त होकर सातवार स्त्रीसेवन कर सकता है।

वृष्यामलकादि चूर्ण

छागक्षीरेणामलक्याः फलं वा। पक्वं शुष्कं चूर्णितं शर्कराढ्यम्॥
मूलानां वाप्युच्चटागोक्षुराणां। वीर्यं कुर्याच्छागवीर्येण तुल्यम्॥ 37॥

भावार्थ : बकरी के दूध के साथ आँवले को पकाकर, सूखने के बाद चूर्णकर शक्कर के सम्मिश्रण से खाने से या चिंचोकतृण (उटंगण) और गोखरु की जड़ को आँवले के रसायन से, खाने पर, बकरे के वीर्य के समान ही वीर्य बनता है।

छागदुग्ध

माषक्वाथोन्मिश्रितं छागदुग्धं। पीत्वा रात्रौ, तद्घृताक्तं गुडाढ्यम् ॥
यामे यामे सप्तसप्तैकवारं। स्त्रीव्यापारे याति जातप्रमोदः॥ 38॥

भावार्थ : बकरी के दूध में उड़द का क्वाथ (काढ़ा) घी, गुड़ मिलाकर रात्रि में पीवें, तो प्रति प्रहर में उल्लासपूर्वक सात-सात बार स्त्रियों का सेवन कर सकता है।

वृष्य, भूकूष्माण्डादि चूर्ण

भूकूष्माण्डं चेक्षुराणां च बीजं। गुप्ताबीजं वा मुसल्याश्च मूलम्॥
चूर्णीभूतं छागदुग्धेन पातुं। तद्वद्देयं रात्रिसंभोगकाले॥ 39॥

भावार्थ : जमीनकद्दू तालमखाना विदारिकद बीज, कौंच के बीज मुसली (तालमूली) की जड़ इनको चूर्णकर, बकरी के दूध के साथ रात्रि में संभोग के समय पीने के लिए देना चाहिए।

नपुंसकत्व के कारण व चिकित्सा

मर्मच्छेदाच्छुक्रधातुक्षयाद्वा। मेढ्रव्याघेर्जानतः क्लैब्यमुक्तम्॥
साध्यत्क्लैब्यं यत्क्षयाज्जातमेषु। प्रोक्ता योगास्तेऽत्र योज्या विधिज्ञैः॥40॥

भावार्थ : मर्मच्छेद होने से, वीर्य का अत्यधिक नाश होने से और कोई शिश्न रोग आदि कारणों से नपुंकसता आती है। इनमें से, शुक्रक्षय से होने वाला जो नपुंसकत्व है वह साध्य है। इस नपुंसकत्व के निवारणार्थ पूर्वकथित वृष्ययोगों को विधिज्ञ वैद्य प्रयोग करें।

रसायनाधिकार

संक्षेप से वृष्य पदार्थों के कथन

यद्यच्छीतं स्निग्धमाधुर्ययुक्तं। तत्तद्रव्यं वृष्यमाहुर्मुनींद्राः॥
रोगान्सर्वान् हंतुमत्यंतवीर्यान्। योगान्वक्षाम्यात्मसंरक्षणार्थं॥ 41॥

भावार्थ : जो-जो पदार्थ शीतगुण युक्त है, स्निग्ध (चिकना) है और माधुर्यगुण युक्त है, वे सभी वृष्य (वीर्यवर्द्धक, कामोत्तेजक) है ऐसा महर्षिगण कहते हैं। आचार्य कहते हैं कि आत्मसंरक्षण के लिए निरोग शरीर की आवश्यकता है। इसलिए सभी रोगों को दूर करने के लिए अत्यन्त वीर्ययुक्त योगों का अर्थात् रसायनों का निरुपण आगे करेंगे।

त्रिफला रसायन

प्रातर्धात्री[1] भक्षयेद्भक्तकाले। पथ्यामेकां नक्तमक्षं यथावत्॥
कल्याणांगस्तीव्रचक्षुश्चिरायु-र्भूत्वाजीवेद्धर्मकामार्थयुक्तः॥ 42॥

भावार्थ : प्रातःकाल भोजन के समय में तीन आँवला रात्रि के समय एक हरड़, दो बहेड़ा को चूर्ण करके घी शक्कर आदि योग्य अनुपान के साथ सेवन करें तो शरीर के सभी रोग नाश होकर शरीर सुंदर बनता है, आँखों में तेजी आती है। वह व्यक्ति धर्म, अर्थ, काम, को पालन करते हुए चिरायु होकर जीता है।

वृष्य विडंग व यष्टिचूर्ण

वैडंगं वा चूर्णमत्यंतसूक्ष्मं। तद्वद्यष्टीशर्कराचूर्णयुक्तम्।
नित्यं प्रातस्सेवमानो मनुष्य-श्शीतं तोयं चानुपानं दधानः॥ 43॥

भावार्थ : विडंग के सूक्ष्म चूर्ण, अथवा मुलहटी के चूर्ण में समभाग शक्कर मिलाकर ठण्डे पानी के साथ हमेशा प्रातःकाल सेवन करने से वलीपलित आदि नाश होकर चिरकाल तक जीता है।

---

1. यद्यपि इस श्लोक में आँवला और बहड़े की संख्या निर्देश ठीक तौर से नहीं की गई है। तथापि अन्य अनेक वैद्यक ग्रंथों में प्रायः इसी प्रकार का उल्लेख मिलता है कि जहाँ पर त्रिफला का साधारण कथन हो, वही उपरोक्त प्रकार से ग्रहण किया जाता है। इसी आधार से ऊपर स्पष्टतया संख्या निर्देश की गई है।

   दूसरी बात यह है कि श्लोक में बहेड़ा सेवन करने का समय नहीं बतलाया है। हरड़ के साथ ही खावें तो मात्रा बढ़ती है, आँवले की मात्रा कमती होती है। इस कारण से हम यह समझते हैं कि एक हरड़, दो बहेड़ा, तीन आँवला इस क्रम से लेकर तीनों को एक साथ चूर्ण करके योग्य मात्रा से शाम-सुबह सेवन करना चाहिए। यही आचार्य का अभिप्राय होगा।

रसायन के अनुपान

तेषामेव क्वाथसंयुक्तमेतद्भल्लातक्या वा गुडूच्यास्तथैव॥
द्राक्षाक्वाथेनाथवा त्रैफलेन। प्रायेणैते भेषजस्योपयोग्याः॥ 44॥

भावार्थ : जिस रासायनिक औषधि को, रसायन के रूप में सेवन करना हो उसके लिए उसी औषधि का क्वाथ (काढ़ा) को अनुपान करना चाहिए। जैसे त्रिफला रसायन के साथ त्रिफला का ही काढ़ा पीना चाहिए, अथवा भिलावे, गिलोय, द्राक्षा, त्रिफला (हरड़, बहेड़ा, आँवला) इन एक-एक औषधियों के क्वाथ के अनुपान से (रसायन) सेवन करना चाहिए। ये औषधियाँ प्रायः प्रत्येक रसायन के साथ उपयोग करने योग्य हैं।

रसायनसेवन में पथ्याहार

एतत्पीत्वा जीर्णकाले यथावत्। क्षीरेणान्नं सर्पिषा मुद्गयूषैः।
सामुद्राद्यैर्वर्जितं प्राज्यरोगान्। जित्वा जीवेन्निर्जरो निर्वलीकः॥ 45॥

भावार्थ : उपर्युक्त क्वाथ (अनुपान) को पीकर जीर्ण होने के बाद दूध के साथ अथवा घी, मूंग के दाल के साथ भोजन करें। परन्तु सामुद्रलवण आदि तीक्ष्ण पदार्थों के साथ उपयोग नहीं करें। इससे बड़े-बड़े रोग दूर हो जाते है और बुढ़ापा, व वली (चमड़े की सिकुड़न) रहित होकर अनेक वर्षों तक जीता है।

विडङ्गसार रसायन।

साराणां वा सद्विडंगोद्भवानां। पिष्टं सम्यक्पिष्टवत्शोधयित्वा॥
शीतीभूतं निष्कषायं विशुष्कं। धूलीं कृत्वा शर्कराज्याभिमिश्रम्॥ 46॥
तद्गंधांभोधौतनिश्छिद्रकुंभे। गंधद्रव्यैश्चानुलिप्तांतराले॥
निक्षिप्योर्ध्वं बंधयेद्देहमध्ये। वर्षाकाले स्थापयेद्धान्यराशौ॥ 47॥
उद्धृत्यैतन्मेघकाले व्यतीते। पूजां कृत्वा शुद्धदेहः प्रयत्नात्॥
प्रातः प्रातः भक्षयेदक्षमात्रं। जीर्णे सर्पिः क्षीरयुक्तं तु भोज्यम्॥ 48॥
स्नानाभ्यंगं चंदनेनानुलेपं। कुर्यादास्यावासमप्यात्मरम्यं॥
कांताकांतश्शांतरोगोपतापो। मासास्वादाद्दिव्यमाप्नोति रूपं॥ 49॥

भावार्थ : वायविडंग के कणों को पिट्टी बनाकर, (उसको पिट्टी के समान अच्छी तरह से शोधन करके,) जब वह ठण्डे हो जाये, कषाय रहित हों सूख गए हों, तो उसको अच्छी तरह से चूर्ण करके बराबर, शक्कर और घी मिलावें। छिद्ररहित नया घड़ा लेकर उसे सुगंधित पानी से अच्छी तरह धोलें एवं उसके अंदर के भाग में सुगंधद्रव्य को लेपन करें। उसमें उपर्युक्त अवलेह को रखकर अच्छी

तरह उसका मुँह बाँधकर बरसात के दिनों में घर के बीच में रहने वाली धान्य की राशि में रखना चाहिए। बरसात का मौसम निकल जाने के बाद इसको निकाल लेवें। तत् पश्चात् वमन, विरेचन आदि पंचकर्मों के द्वारा शरीर की शुद्धि व प्रयत्नपूर्वक दान करके, देवपूजा आदि सत्कर्मों को करें। तदनंतर इस रसायन को प्रातः प्रतिदिन एक तोले के प्रमाण से सेवन करें। जीर्ण होने के बाद घी दूध के साथ भोजन करना चाहिए। तैलाभ्यंग, स्नान, शरीर को चंदन लेपन आदि करना चाहिए। रहने का स्थान भी सुंदर बनाना चाहिए। इस प्रकार एक महिना करें तो उसका शरीर अतिसुंदर बनता है, शरीर के सर्व रोग दूर होते हैं तथा स्त्रियों को प्रिय होता है।

बलारसायन

यत्नाद्बलामूलातुलां विशोष्य। धूलीकृतां शुद्धतनुः पलार्धम्॥

नित्यं पिबेदुग्धविमिश्रितं त। ज्जीर्णे घृतक्षीरयुतान्नभुक्तिः॥ 50॥

भावार्थ : खरैटी की जड़ को अच्छी तरह सुखाकर उसे चूर्ण करें। वमन आदि से शरीर की शुद्धि करके उसे नित्य दो तोले दूध के साथ सेवन करें। जीर्ण होने के बाद घी दूध से भोजन करें।

नागबलादि रसायन

पिबेत्तथा नागबलातिपूर्व-। बलातिचूर्णं पयसा प्रभाते॥

भवेद्विदार्याश्च पिबेन्मनुष्यो। महाबलायुष्ययुतो वपुष्मान्॥ 51॥

भावार्थ : इसी प्रकार गंगेरन, सहदेईका (कंघी) चूर्ण कर दूध के साथ व विदारिकन्द के चूर्ण को दूध के साथ उपयोग करें तो शरीर में बल बढ़ता है। दीर्घायु होता है, शरीर सुंदर बनता है।

वाकुची रसायन

गुडान्वितं वाकुचिबीजचूर्ण-मयोघटन्यस्तमतिप्रयत्नात्॥

निधाय धान्ये भुवि सप्तरात्रं। व्यपेतदोषोऽक्षफलप्रमाणम्।

प्रभक्ष्य तच्छीतजलानुपानं। रसायनाहारविधानयुक्तः॥

निरामयस्सर्वमनोहरांग-स्समाशतं जीवति सत्वयुक्तः॥ 53॥

भावार्थ : गुड़ से युक्त बाकुची बीज के चूर्ण को लोहे के घड़े में बहुत यत्नपूर्वक रखकर धान की राशि व भूमि में, अथवा जमीन में गड्ढा खोदकर, उसमें धान भरकर, उसके बीच में रखे। तदनंतर शुद्ध शरीर होकर (वमन विरेचनादि से शुद्ध होकर) वह बहेड़ा के फल के बराबर रोज लेवें व ऊपर से ठण्डा पानी पी लेवें। जीर्ण होने पर रसायन सेवन करने के समय में जो भोजन (दूध, घी, भात) आदि बतलाया है उसको सेवन करें। इस रसायन को जो सेवन करता है, वह मनुष्य निरोग होकर सुंदर शरीर वाला बनता है एवं महाबलशाली होकर सौ वर्ष तक जीता है।

ब्राह्मादि रसायन

ब्राह्मीं मंडूकपर्णीमधिकतरवचाशर्कराक्षीरसर्पि-।
र्मिश्रां संख्याक्रमेण प्रतिदिनममलस्सेवमानो मनुष्यः॥
रोगान्सर्वान्निहंति प्रकटतरबलो रूपलावण्ययुक्तो।
जीवेत्संवत्सराणां शतमिह सकलग्रन्थतत्त्वार्थवेदी ॥ 54॥

भावार्थ : ब्राह्मी, मजीठ एवं बच इनको चूर्ण कर प्रतिदिन शुद्ध चित्त से घी, दूध, शक्कर के साथ सेवन करने वाला मनुष्य निरोगी बन जाता है। उसकी शक्ति बढ़ती है, सौंदर्य से युक्त होकर एवं सम्पूर्ण शास्त्रों को जानने वाला विद्वान् होकर सौ वर्ष तक जीता है।

वज्रादि रसायन

वज्री गोक्षुरवृद्धदारुकशतावर्यश्च गंधाग्निका।
वर्षाभूसपुनर्नवाघृतकुमारी - त्युक्तदिव्यौषधीन्॥
हृत्वा चूर्णितमक्षमात्रमखिलं प्रत्येकशं वा पिबन्।
नित्यं क्षीरयुतं भविष्यति नरश्चंद्रार्कतेजोऽधिकः॥ 55॥

भावार्थ : गिलोय, गोखरु, विधारा शतावरी, काली अगर, भिलावा, रक्तपुनर्नवा, श्वेतपुनर्नवा, बाराहीकंद, बड़ी इलायची, इन दिव्य औषधियों को समभाग लेकर चूर्ण करें। इस चूर्ण को एक-एक तोला प्रमाण प्रतिनित्य सेवन कर ऊपर से दूध पी लेवें। अथवा उपरोक्त, एक-एक औषधियों के चूर्ण को दूध के साथ सेवन करना चाहिए। इसके प्रभाव से मनुष्य चन्द्र-सूर्य से भी अधिक कांति वाला बन जाता है।

रसायन सेवन करने का नियम

मद्यं, मासं, कषायं कटुकलवणंसक्षाररूक्षाम्लवर्गं।
त्यक्त्वा सत्यव्रतस्सन् सकलतनुभृतां सद्दयाव्याप्ततात्मा॥
क्रोधायासव्यवायाताप - पवनविरुद्धाशनाजीर्णहीनः।
शश्वत्सर्वज्ञभक्तो मुनिगणवृषभापूजयेदौषदार्थी॥ 56॥

भावार्थ : औषध से निरोग बनने की इच्छा रखने वाला जीव सबसे पहले मद्य, माँस, कषायला पदार्थ तीखा (चरपरा) नमकीन, यवक्षार आदि क्षार, रूक्ष पदार्थ और हर प्रकार के खट्टे रसों को छोड़कर एवं क्रोध, परिश्रम, मैथुन, धूप, वायु, विरुद्ध भोजन, अजीर्ण बाधा इत्यादि कष्ट से रहित होकर, सत्यव्रत में दृढ़ रहें। सभी प्राणियों के ऊपर दया रखें। सदा काल सर्वज्ञ तीर्थङ्करों के प्रति भक्ति करते हुए मुनिगण व धर्म की उपासना करें। इस उपरोक्त आचरण को पालन करते हुए जो रसायन सेवन करता है, वह उन रसायनों के पूर्ण गुण को पाता हैं।

चंद्रामृत रसायन

प्रोक्तं लोकप्रतीतं भुवनतलगतं चंद्रनामामृताख्यं ॥
वक्षाम्येतत्सपर्णैः प्रतिदिनममलैश्चंद्रवद्वृद्धिहानिं ॥
शुक्ले कृष्णे च पक्षे व्रजति खलु सदालभ्यमेतद्यमावा-।
स्यायां निष्पत्रमस्य ह्रदगाहननदीशैलदेशेषु जन्म ॥57॥
एकानेकस्वभावं जिनमतमिवतद्वीर्यसंज्ञास्वरूपै-।
स्तन्यक्षीरं प्रमाणात्कुडबमिह गृहीत्वादारात् प्रातरेव ॥
कृत्वा गेहं त्रिकुड्यं त्रितलमतिघनं त्रिःपरीत्य प्रवेशं।
तस्यैवांतर्गृहस्थो वियुतपरिजनस्तत्पिबेन्निश्चितात्मा ॥58॥
पीत्वादर्भोरुशय्यातलनिहिततनुर्वाग्यतस्संयतात्मा ॥
त्यक्त्वाहारं समस्तं तृषित इव पिबेच्छीततोयं यथावत् ॥
सम्यग्वांतं विरिक्तं विगतमलकलंकोल्वणं पांशुशय्या-।
संसुप्तांगं क्षुधार्तं परिजनमिह तं पाययेत्क्षीरमेव ॥59॥
नित्यं संशुद्धदेहं सुरभितरसृतं क्षीरमत्यंतशीतं ॥
सम्यक्तं पाययित्वा बलममृतसमुद्भूतमालोक्य पश्चात् ॥
स्नानाभ्यंगानुलेपननुदिनमशनं शालिजं क्षीरसर्पि-।
र्युक्तं चैकैकवारं ददतु परिजनास्तस्य निष्कल्मषस्य ॥60॥
एवं मासादुपानव्द्यवहितचरणो वारवाणावृतांग-।
स्सोष्णीषो रक्षितात्मा परिजनपरितो निर्व्रजदात्मवासात्॥
रात्रौ रात्रौ तथाह्याप्यनलपवनशीतातपान्यंबुपाना।
न्यभ्यस्यन्नित्यमेवं पुनरपि निवसेद्देहमेतत्तथैव ॥61॥
प्रत्यक्षं देवतात्मा स भवति मनुजो मानुषांगो द्वितीय-।
श्चंद्रादित्यप्रकाशस्सजलजलधरध्वानगंभीरनादः ।
विद्युन्मालासहस्रद्युतियुतीवलसद्भूषणैर्भूषितांगो ।
दिव्यंस्रक्चंदनाद्यैरमलिनवसनैरन्वितोंऽतर्मुहूर्तात् ॥62॥
पाताले चांतरिक्षे दिशि विदिशि द्वीपशैलाब्धिदेशे।
यत्रेच्छा तत्र तत्राप्रतिहतगतिकश्चाद्वितीयं बलं च॥

स्पर्शो दिव्यामृतांगः स्वयमपि सकलान् रोगराजान्विजेतुं।
शक्तश्चायुष्यमाप्नोत्यमलिनचरितः पूर्वकोटीसहस्रम्॥ 63॥

भावार्थ : इस भूमि के अंदर चंद्रामृत नाम का औषधि विशेष है। उसकी विशेषता यह है कि वह अपने पत्तों के साथ कृष्ण और शुक्ल पक्ष में प्रतिदिन चंद्र के समान हानि और वृद्धि को प्राप्त होता है अर्थात् शुक्ल पक्ष में रोज बढ़ते-बढ़ते पूर्णिमा के दिन बिल्कुल हरा-भरा होता है। कृष्णपक्ष में प्रतिदिन घटता जाता है और प्रत्येक अमावस्या के रोज उसकी सब पत्तियाँ झड़ जाती हैं और वह बहुत कठिनता से मिलता है। यह तालाब गहरी नदी और पर्वत प्रदेशों में उत्पन्न होता है। जिनमत के स्याद्वाद के समान, इस का वीर्य नाम, स्वरूप आदि एकानेक स्वभावयुक्त है। तात्पर्य यह कि इसकी शक्ति आदि अचिंत्य है। इस औषधि को सेवन करने के लिए एक ऐसा मकान बनावे जो तीन दीवाल, तीन मंजिल का हो और तीन प्रदक्षिणा देने के ही बाद जिस के अंदर प्रवेश हो सकें। इस के गर्भगृह (बीचवाला कमरा) में, रसायन सेवन करने वाला, बंधुबांधव परिचारक आदिकों से वियुक्त होकर अकेला ही बैठें और 16 तोले स्त्री के दूध में इस चद्रांमृत को मिलाकर निश्चल चित्त से प्रातःकाल में पीवें। पश्चात् मौनधारण करते हुए दर्भशय्या पर सोवें। सम्पूर्ण आहार को छोड़कर, प्यासे के समान वार-बार केवल ठण्डा पानी पीवें। उसके बाद उसे अच्छी तरह वमन व विरेचन होकर कोष्ट की शुध्दि होती है। इस प्रकार जिस के शरीर से मल, दोष आदि निकल गए हों,जो धूलिशय्या (जमीन) में पड़ा हो, क्षुधा से पीड़ित हो, उसको कुटुंबीजन केवल दूध पिलावें। फिर चटाई के ऊपर लेटकर मौन धारण करें संपूर्ण आहारों का त्याग करें। प्यासे के समान बार-बार ठण्डा पानी पीवें, उसके बाद उसे अच्छी तरह वमन और विरेचन होकर कोष्टकीशुध्दि हो जायेगी, तब उसे ऊँची शैय्या (पलंग) पर सुलावें। क्षुधारोग से पीड़ित उसको कुटुंबीजन केवल दूध पिलावें। प्रतिनित्य (वमन विरेचन होने के बाद) उसे इसी प्रकार सुगंधयुक्त गरम करके ठण्डा किया हुआ दूध पिलावें। एवं इस अमृत के योग से उसके शरीर में शक्ति आई मालूम पड़ने पर मालिश, स्नान, अनुलेपन वगैरह करावें एवं चावल का भात ,घी ,दूधके साथ दिन में एक बार खिलावें। इस प्रकार का प्रयोग एक महिने तक करें। तदनंतर वह पैर में जूता, मोजा वगैरह पहन कर, गरम कोट वगैरह से शरीर को ढककर, शिर में साफा बांधकर, अपने परिवार के लोगों को साथ लेकर बाहर रात में निकलने का अभ्यास करें। इस प्रकार अग्नि वायु ठण्ड गरमी और अधिक पानी पीने आदि का अभ्यास करते हुए फिर उसी घर में प्रवेश करें। यह अभ्यास प्रतिनित्य करें। इस रसायनको सेवन करने वाला व्यक्ति देवों के समान अद्वितीय बन जाता है, चन्द्रसूर्य के समान प्रकाशवान शरीरवाला होता है। मेघ के समान गंभीर शब्द वाला बन जाता है। हजारों बिजलियों के समान चमकने वाले आभूषणों से युक्त शरीर वाला बन जाता है। स्वर्गीय पुष्पमाला, चंदन, निर्मलवस्त्र इत्यादि से अन्तर्मुहुर्त में शोभित होता है। पाताल में, आकाश में, दिशा-विदिशा में, पर्वत में, समुद्रप्रान्त में, जहाँ पर भी इच्छा है, वहीं पर बिना रुकावट गमन कर सकता है। स्पर्शकरनेमें उसका शरीर ऐसा मालूम होता है कि दिव्यअमृत ही हो एवं वह बड़े-बड़े रोगों को जीतने के लिए समर्थ रहता है। इस

संसार में निर्मल चारित्र को प्राप्तकर सहस्र पूर्वकोटि आयुष्य को प्राप्त करता है।

विविध रसायन

एवं चंद्रामृतादप्यधिकतरबलान्यत्रसंत्यौषधानि।
प्रख्यातानींद्ररूपाण्यतिबहुविलसन्मण्डलैर्मण्डितानि॥
नानारेखाकुलानि प्रबलतरलतान्येकपत्रद्विपत्रा-।
ण्येतान्येतद्विधानादनुभवनमिह प्रोक्तमासीत्तथैव॥64॥

भावार्थ : इस प्रकार इस चंद्रामृत से भी अधिक शक्ति युक्त बहुत से औषध मौजूद हैं। उनके सेवन से साक्षात् देवेन्द्र के समान रूप बन जाता है। उनके पत्तों में बहुत-सी चमकीली नाना प्रकार की रेखायें रहती हैं। कोई एक पत्र द्विपत्र वाली लतायें रहती हैं। उनको उक्त विधि के अनुसार सेवन करने से अनेक प्रकार के फल मिलते हैं।

चन्द्रामृतादि रसायन के अयोग्य मनुष्य

पापी भीरूः प्रमादी जनधनरहितो भेषजस्यावमानी।
कल्याणोसाहहीनो व्यसनपरिकरो नात्मवान् रोषिणश्च॥
तेचान्ये वर्जनीया जिनपतिमतबाह्याश्च ये दुर्मनुष्याः।
लक्ष्मीसर्वस्वसौख्यास्पदगुणयुतसद्भेषजैश्चंद्रमुख्यैः॥65॥

भावार्थ : ऐश्वर्य व सुख को उत्पन्न करने वाले, उपर्युक्त चंद्रामृतादि दिव्य औषधियों को पापी, भीरु, आलसी,परिवारजनरहित, निर्धन, औषधि के अपमान करने वाले, कल्याण की भावना से रहित, उत्साह से रहित व्यसनों में मग्न, इन्द्रियों के वशवर्ति (असंयमी) क्रोधी, जिनधर्मद्वेषी और दुर्जन आदि को नहीं देना चाहिए।

दिव्यौषध प्राप्त न होने के कारण

दैवादज्ञानतो वा धनरहिततया भेषजालाभतो वा।
चित्तस्याप्यस्थिरत्वात्स्वयमिहनियतोद्योगहीनस्वभावात्॥
आवासाभावतो वा स्वजनपरिजनानिष्टसंपर्कतो वा।
नास्तिक्यान्नाप्नुवंति स्वहिततरमहाभेषजान्यप्युदाराः॥66॥

भावार्थ : बड़े-बड़े श्रीमंत भी उपर्युक्त महाऔषधियों को दैव से, अज्ञान से, धनाभाव से, औषधि के न मिलने से, चित्त की अस्थिरता से, नियत उद्योग के रहित होने से, स्वभाव से, योग्य मकान के न होने से, अनिष्ट निजबंधु व मित्रों के संपर्क से एवं नास्तिक भावों के होने से प्राप्त नहीं कर पाते हैं।

अंतिमकथन

इति जिनवक्त्रनिर्गतसुशास्त्रमहांबुनिधेः। सकलपदार्थविस्तृततरंगकुलाकुलतः।
उभयभवार्थसाधनतटद्वयभासुरतो। निसृतमिदं हि शीकरनिभं जगदेकहितम् ॥45॥

भावार्थ : जिसमें संपूर्ण द्रव्य, तत्त्व व पदार्थरूपी तरंग उठ रहे हैं, इह लोक व परलोक के लिए प्रयोजनीभूत साधनरूपी जिसके दो सुंदर तट हैं, ऐसे श्रीजिनेन्द्र के मुख से उत्पन्न शास्त्रसमुद्र से निकली हुई बूंद के समान यह शास्त्र है। साथ में जगत् का एक मात्र हित साधक है (इसलिए ही इसका नाम कल्याणकारक है)।

इत्युग्रादित्याचार्यकृत कल्याणकारके स्वास्थ्यरक्षाणाधिकारे रसायनविधिषष्ठ परिच्छेदः ।

इत्युग्रादित्याचार्यकृत कल्याणकारक ग्रन्थ के स्वास्थरक्षणाधिकार में विद्यावाचस्पतीत्युपाधिविभूषित वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री द्वारा लिखित भावार्थदीपिका टीका में रसायनविधि नामक छठा परिच्छेद समाप्त हुआ।

अथ सप्तम परिच्छेद:

अथ चिकित्सासूत्राधिकार

मंगलाचरण व प्रतिज्ञा

जिनेन्द्रमानंदितसर्वसत्वं। जरारूजामृत्युविनाशहेतुं॥

प्रणम्य वक्ष्यामि यथानुपूर्वं। चिकित्सितं सिद्धमहाप्रयोगै:॥ 1॥

भावार्थ : जन्म-जरा-मृत्यु को नाश करने के लिए कारणीभूत अतएव सर्वलोक को आनंदित करने वाले श्री जिनेन्द्र भगवान् को प्रणाम कर सिद्ध महाप्रयोगों के द्वारा यथाक्रम चिकित्सा का निरूपण करूँगा, इस प्रकार आचार्य प्रतिज्ञा करते हैं।

पुरुष निरुपण प्रतिज्ञा

चिकित्सितस्याति महागुणस्य। य एवमाधारतया प्रतीत:॥

स एव सम्यक्पुरुषाभिधानो। निगद्यते चारुविचारमार्गै:॥ 2॥

भावार्थ : महागुणकारक चिकित्सा के आधारभूत और पुरुष नामांकित जो आत्मा है, उसके स्वभाव आदि के विषय में सुचारु रूप से कुछ वर्णन करेंगे इस प्रकार आचार्य कहते हैं।

आत्मस्वरूप विवेचन

अनादिबद्धस्स कथंचिदात्मा। स्वकर्मनिर्मापितदेहयोगात्॥

अमूर्तमूर्तत्वनिजस्वभाव-। स्स एव जानाति स पश्यतीह॥ 3॥

भावार्थ : यह ज्ञानदर्शन स्वरूप (अमूर्तिमान) आत्मा अपने कर्मसे रचित शरीर के द्वारा अनादि काल से बद्ध है इसलिए वह कथंचित् अमूर्तत्व कथंचित् मूर्तित्व, स्वभाव से युक्त है। ज्ञानदर्शन ही उसका लक्षण है इसलिए, वही सब बातों को जानता है और देखता भी है। अतएव ज्ञाता दृष्टा कहलाता है।

आत्मा के कर्तृत्व आदि स्वभाव

सदैव संस्कर्तृगुणोपपन्नस्स्वकर्मजस्यापि फलस्य भोक्ता॥

अनाद्यनंतस्स्वशरीरमात्र: प्रधानसंहारविसर्पणात्मा॥4॥

भावार्थ : यह आत्मा, सदा कर्तृत्व गुण से युक्त है, अर्थात् सभी कार्यों को करता है। इसलिए

कर्ता कहलाता है। पूर्व में किए गए अपने कर्मफल को स्वयं भोगता है, (अन्य नहीं) इसीलिए भोक्ता है। यह आत्मा अनादि व अनंत है एवं अपने शरीर के प्रमाण में रहने वाला है और संकोच विस्तार गुण से युक्त है।

आत्मा स्वदेह परिमाण है

नं चाणुमात्रो न कणप्रमाणो, नाप्येवमंगुष्ठसमप्रमाणः॥

न योजनात्मा नच लोकमात्रो। देही सदा देहपरिप्रमाणः॥ 5॥

भावार्थ : इस आत्मा का प्रमाण अणुमात्र भी नहीं है। एक कणमात्र भी नहीं है एवं अंगुष्ठ के समान प्रमाण वाला भी नहीं है और न इसका प्रमाण योजन का है, न लोकव्यापी है। (आत्मा) सदा अपने देह के ही प्रमाण वाला है।

आत्मा का नित्यनित्यादि स्वरूप

ध्रुवोप्यसौ जन्मजरादियोग - पर्यायभेदैः परिणामयुक्तः।

गुणात्मको दुःखसुखाधिवासः। कर्मक्षयादक्षयमोक्षभागी॥ 6॥

भावार्थ : यद्यपि यह आत्मा ध्रुव (नित्य) है अर्थात् अविनाशी है। तथापि जन्म-जरा-मृत्यु इत्यादि पर्यायों के कारण परिवर्तन शील है अर्थात् अनित्य है, विनाश स्वरूपी है। अनेक श्रेष्ठ गुणों से युक्त है। दुःख-सुखों का आधारभूत है अर्थात् उनको स्वयं अनुभव करता है। कर्मक्षय होने के बाद अक्षय (अविनाशी) मोक्षस्थान को प्राप्त करता है।

आत्मा का उपर्युक्त स्वरूप चिकित्सा के लिए अत्यावश्यक है

एवं विधो जीवपदार्थभेदो मते भवेद्यस्य चिकित्सकस्य॥

सोऽयं भवेदौषधसंविधानं। सुखैकहेतुं तनुमद्गणस्य॥ 7॥

न नित्यमार्गे क्षणिकस्वभावे। क्रिया प्रसिद्धा स्ववचो विरोधात्॥

हेत्वागमाधिष्ठितयुक्तियुक्तं। स्याद्वादवादाश्रयणं प्रधानम्॥ 8॥

भावार्थ : जिस चिकित्सक के मत में उपर्युक्त प्रकार जीव पदार्थ का वर्णन किया गया हो, वही चिकित्सक प्राणियों को सुख उत्पन्न करने वाली चिकित्सा को कर सकता है। अन्य नहीं। आत्मा के स्वभाव को सर्वथा नित्य मानने पर अथवा सर्वथा क्षणिक मानने पर चिकित्सा की प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती, क्योंकि स्ववचन से ही विरोध आता है। आत्मा को सर्वथा नित्य मानने पर चिकित्सा की आवश्यकता ही नहीं। सर्वथा क्षणिक मानने पर कौन किसकी चिकित्सा करें। इसलिए हेतु, आगम, युक्ति से युक्त स्याद्वाद (अनेकान्त) का आश्रय करना आवश्यक है अर्थात् कथंचित् नित्य कथंचित् अनित्य मानना पड़ेगा।

अतः पुमान्व्याधिरिहौषधानि। कालः कथंचिव्द्यवहारयोग्यः॥
नः सर्वथेति प्रतिपादनीयम्। युक्त्यागमाभ्यामधिकं विरोधात्॥ 9॥

भावार्थ : इसलिए आत्मा, व्याधि, औषधि और काल को ऐसा मानना चाहिए जिससे वे किसी अपेक्षा से व्यवहार में लाने योग्य हों। कभी भी, नित्य ही है, अनित्य ही है, इत्यादि इस प्रकार सर्वथा प्रतिपादन न करना चाहिए। क्योंकि सर्वथा प्रतिपादन करने में, युक्ति और आगम से अत्यन्त विरोध आता है।

कर्मों के उदय के लिए निमित्त कारण

जीवस्वकर्मार्जितपुण्यपापफलं प्रयत्नेन विनापि भुंक्ते॥
दोषप्रकोपोपशमौ च ताभ्यामुदाहृतौ हेतुनिबंधनौ तौ॥ 10॥

भावार्थ : यह जीव अपने कर्मोंपार्जित पुण्य-पाप[1] फल को बिना प्रयत्न के ही अवश्य अनुभव करता है। वातपित्तादि दोषों के प्रकोप और उपशम, पाप कर्म, व पुण्यकर्म के फल देने में निमित्त कारण है।

रोगोत्पत्ति के हेतु

सहेतुकास्सर्वविकारजातास्तेषां विवेको गुणमुख्यभेदात्॥
हेतुःपुनः पूर्वकृतं स्वकर्म-। ततःपरे तस्य विशेषणानि॥ 11॥

भावार्थ : शरीर में सर्व विकार (रोग) सहेतुक ही होते हैं, परन्तु उन हेतुओं को जानने के लिए गौण और मुख्य विवक्षा विवेक से काम लेने की जरूरत है। रोगादिक विकारों का मुख्य हेतु अपने पूर्वकृत कर्म है। बाकी के सब उसके विशेषण हैं, अर्थात् निमित्त कारण है। गौण हैं।

कर्म का पर्याय

स्वभावकालग्रहकर्मदैव - विधातृपुण्येश्वरभाग्यपापम्॥
विधिःकृतांतो नियतिर्यमश्च पुराकृतस्यैव विशेषसंज्ञाः॥ 12॥

भावार्थ : स्वभाव, काल, ग्रह, कर्म, दैव, विधाता (ब्रह्मा) पुण्य, ईश्वर, भाग्य, पाप, विधि, कृतांत, नियति, यम ये सब पूर्वजन्म कृत कर्म का ही अपरनाम है। इसलिए जो लोग ऐसा कहा करते है कि काल बिगड़ गया, ग्रह दोष मुझे दुःख दे रहा है, दैव रुष्ट हैं, ब्रह्मा ने ऐसा ही लिखा है, ''ईश्वर की ऐसी मर्जी है, यम महान् दुष्ट है, होनहार बड़ा प्रबल है'' इन सबका यही अर्थ है कि पूर्वोपार्जित कर्म के उदय से ही मनुष्य को सुख दुःख मिलते हैं।

---

1. पुण्यकर्म जिस समय, अपना फल देने लगता है तो प्राणियों को सुख का अनुभव होता है। पाप कर्म अपना फल देने लगे तो, दुःख ही दुःख का अनुभव होता है। (इन कर्मों के बिना सुख-दुःख का अनुभव हो ही नहीं सकता) लेकिन इन दोनों कर्मों को अपना फल प्रदान करने में निमित्त कारणों की जरुरत पड़ती है। पुण्यकर्म के लिए निमित्तकारण, दोषों के उपशम होना हैं, पाप कर्म के लिए, दोषों का प्रकोप होना है।

रोगोत्पत्ति के मुख्य कारण

न भूतकोपान्नच दोषकोपान्नचैव सांवत्सरिकोपरिष्टात्।

ग्रहप्रकोपात्प्रभवंति रोगाः कर्मोदयोदीरणभावतस्ते ॥13॥

भावार्थ : पृथ्वी आदि भूतों के कोप से रोग उत्पन्न नहीं होते हैं और न कोई दोषों के प्रकोप से ही रोग होते हैं। वर्षफल के खराब होने से और मंगल आदि ग्रहों के प्रकोप से भी रोगों की उत्पत्ति नहीं होती है लेकिन कर्म के उदय और उदीरणा से ही रोग उत्पन्न होते हैं।

कर्मोपशांति करने वाली क्रिया ही चिकित्सा है

तस्मात्स्वकर्मोपशमक्रियाया। व्याधिप्रशांति प्रवदंति तद्ज्ञाः॥

स्वकर्मपाको द्विविधो यथाव-दुपायकालक्रमभेदभिन्नः ॥14॥

भावार्थ : इसलिए कर्म के उपशमनक्रिया (देवपूजा-ध्यान आदि) को बुद्धिमान् लोक वास्तव में रोग शांति करने वाली क्रिया अर्थात् चिकित्सा कहते हैं। अपने कर्म का पकना दोनों प्रकार से होता है। एक तो यथाकाल पकना दूसरा उपाय से पकना।

सविपाकाविपाक निर्जरा

उपायपाको वरघोरवीर-। तपः प्रकारैस्सुविशुद्धमार्गैः॥

सद्यः फलं यच्छति कालपाकः। कालांतराद्यः स्वयमेव दद्यात् ॥15॥

भावार्थ : उत्कृष्ट घोर वीर तपस्यादि विशुद्ध उपायों से कर्म को जबरदस्ती से (वह कर्म का उदय काल न होते हुए भी) उदय को लाना यह उपाय पाक कहलाता है। इससे उसी समय फल मिलता है। कालांतर में यथासमय (अपने आयुष्यावसान) पककर स्वयं उदय में आकर फल देता है, वह कालपाक है।

यथा तरूणां फलपाकयोगो। मतिप्रगल्भैः पुरूषैर्विधेयः॥

तथा चिकित्सा प्रविभागकाले। दोषप्रपाको द्विविधः प्रसिद्धः॥16॥

भावार्थ : जिस प्रकार वृक्ष के फल स्वयं भी पकते हैं एवं उन्हें बुद्धिमान् मनुष्य उपायों द्वारा भी पकाते हैं। इसी प्रकार प्रकुपित दोष भी उपाय (चिकित्सा) और कालक्रम से दो प्रकार से पक्व होते हैं।

उपाय और कालपाक का लक्षण

आमघ्नसद्भेषजसंप्रयोगा - दुपायपाकं प्रवदंति तद्ज्ञाः॥

कालांतरात्कालविपाकमाहु - र्मृगद्विजानाथजनेषु दृष्टम्॥17॥

भावार्थ : रोग की कच्चावट को दूर करने वाली औषधियों का प्रयोग करके दोषों को पकाना

उपाय पाक कहलाता है। कालांतर में (अपने अवधिकेअन्दर) स्वयमेव (बिना औषधि के ही) पक जाने को कालपाक कहते हैं। जो पशु पक्षी और अनाथों में देखा जाता है।

गृहनिर्माण कथन प्रतिज्ञा

तस्माच्चिकित्साविषयोपपन्न। नरस्य सद्वृत्तमुदाहरिष्ये॥

तत्रादितो वेश्मविधानमेव। निगद्यते वास्तुविचारयुक्तम्॥ 18॥

भावार्थ : इसलिए चिकित्सा करने योग्य मनुष्य में क्या आचरण होना चाहिए, यह बात कहेंगे। उसमें भी सबसे पहले रोगी को रहने योग्य मकान के विषय में वास्तुविद्या के साथ निरूपण किया जायगा। क्योंकि सबसे अधिक उसकी मुख्यता है।

गृहनिर्मापण विधान

प्रशस्तदिग्देशकृतं प्रधान-। माशागतायां प्रविभक्तभागं॥

प्राचीनमेतं प्रभुमंत्रतंत्र - यंत्रैस्सदा रक्षितमक्षरज्ञैः॥ 19॥

भावार्थ : मकान योग्य (प्रशस्त) दिशा देश में बना हुआ होना चाहिए प्रधान दिशा में भी जो श्रेष्ठ भाग है उसमें होना चाहिए। प्राचीन मंत्र-यंत्र के विषय को जानने वाले विद्वानों द्वारा मंत्र-यंत्र-तंत्र प्रयोग कराकर रक्षित हो ऐसा होना चाहिए।

सदैव संमार्जन दीप धूप-। पुष्पोपहारैः परिशोभमानन्॥

मनोहरं रक्षकरक्षणीयम् परीक्षितस्त्रीपुरुषप्रवेशनन्॥20॥

भावार्थ : वह मकान, सदा झाडू लगाना, दीप जलाना, धूप से सुगंधित करना, फूल मालाओं को टांगना इनसे सुशोभित, मनोहर और रक्षकों द्वारा रक्षित होना चाहिए एवं वह योग्य स्त्री पुरुषों के प्रवेश से परीक्षित होना चाहिए।

निवातनिश्छिद्रमपेतदोष-मासन्नसोपस्करभेषजाढ्यम्॥

आपूर्णवर्णोज्वलकर्करीभिरलंकृतं मंगलवास्तु शस्तम्॥ 21॥

भावार्थ : वह मकान अधिक हवादार छिद्र व दोषयुक्त न हों। अनेक उपकरण और श्रेष्ठ औषधियाँ जिसके पास में हो, सुन्दर-सुन्दर चित्र व गुलछर्रों से शोभित हो ऐसा मंगल मकान प्रशस्त है।

शय्याविधान

तस्मिन्महावेश्मनि नानुवंशं। विशीर्णविस्तीर्णमनोभिरामं॥

सुखट्वमाढ्यंशयनं विधेयम्। निरंतरातानवितानयुक्तम्॥ 22॥

भावार्थ : उपर्युक्त प्रकार के महान् मकान में, रोगी को सोने के लिए एक अच्छे खाट (पलंग) पर, ऐसा बिस्तर बिछाना चाहिए, जो नया, विशाल और मनोहर हो, जिसके चारों ओर पर्दा, ऊपर

चन्दोबा (मच्छरदानी) हो।

शयनविधि

स्निग्धैः स्थिरैर्बंधुभिरप्रमत्तै-रनाकुलैस्साधु विधाय रक्षाम्॥

प्राग्दक्षिणाशानिहितोत्तमांगश्शयीत तस्मिन् शयने सुखार्थी॥ 23॥

भावार्थ : मित्रजन, स्थिर चित्त वाले, बंधु, सतर्क और शांत मनुष्यों के द्वारा रोगी की रक्षा होनी चाहिए। सुख की इच्छा से वह रोगी उस पलंग पर पूर्व या दक्षिण दिशा के तरफ मस्तक करके शयन करें।

रोगी की दिनचर्या

प्रातः समुत्थाय यथोचितात्मा। नित्यौषधाहारविचारधर्मः॥

आस्तिक्यबुद्धिस्सततताप्रमत्तस्सर्वात्मना वैद्यवचोऽनुवर्ती॥ 24॥

भावार्थ : प्रातःकाल उठकर प्रतिनित्य अपने योग्य औषधि और आहार के विषय में वह विचार करें कि किस समय कौन-सी औषधि लेनी है, क्या खाना चाहिए आदि। आस्तिक्य बुद्धि रखें और सदा सावधान रहें। एवं सर्व प्रकार से वैद्य के अभिप्रायानुसार ही अपना आहारविहार आदि कार्य करें।

यमैश्च सर्वैर्नियमैरूपेतो। मृत्युंजयाभ्यासरतो जितात्मा॥

जिनेन्द्रबिंबार्चनयात्मरक्षां। दीक्षामिमां सावधिकां गृहीत्वा॥ 25॥

भावार्थ : प्रतिनित्य यम या नियम व्रतों से युक्त रहें। मृत्युंजयादि मंत्रों को जपते रहें। इन्द्रियों को वश में रखें। जिनेन्द्र बिम्ब की पूजा से मैं अपनी आत्मरक्षा कर लूँगा, इस प्रकार की नियम दीक्षा को लेवें।

दिवा निशं धर्मकथास्स शृण्वन्। समाहितो दानदयापरश्च॥

शांतिं पयोमृष्टरसान्नपानैस्संतर्पयन्साधुमुनींद्रवृंदम्॥ 26॥

भावार्थ : रात्रिदिन धर्म कथाओं को सुनते हुए सदाकाल दया और दान में रत रहें। सदा सुंदर मिष्ट रस अन्न पान आहारों से संतुष्ट करता हुआ शान्ति पूर्वक साधु मुनीन्द्र समूह को करता रहे।

सदातुरस्सर्वहितानुरागी। पापक्रियाया विनिवृत्तवृत्तिः॥

वृषान्विमुंचन्नथदेहिनश्च (?) विमोचयन्बंधनपंजरस्थान्॥ 27॥

भावार्थ : सदा रोगी सबका हितैषी बने और सबसे प्रेम रखें। सर्व पाप क्रियाओं को बिल्कुल छोड़ देवे धर्म से च्युत हुये प्राणियों के (?)। बंधन व पंजर में बद्ध चूहे व अन्य प्राणियों को दया से छुड़ावें।

शाम्योपशांतिं च नरश्चभक्त्या। निनादभक्त्या जिनचंद्रभक्त्या॥

एवंविधो दूरत एव पापा-द्विमुच्यते किं खलु रोगजालैः॥ 28॥

भावार्थ : उपर्युक्त प्रकार के सदाचरणों से जो मनुष्य अपने आत्मा को निर्मल बना लेता है एवं जो जिनागम व जिनेन्द्र के प्रति भक्ति करता है, वह मनुष्य शांति व सुख को प्राप्त करता है। उस मनुष्य को पाप भी दूर से छोड़कर जाते हैं, दुष्ट रोग जाल क्यों उसके पास में जायेंगे?

सर्वात्मना धर्मपरो नरस्स्या-। त्तमाशु सर्वं समुपैति सौख्यम्॥

पापोदयात्ते प्रभवंति रोगा-। धर्माच्च पापाः प्रतिपक्षभावात्॥ 29॥

नश्यंति[1], सर्वे प्रतिपक्षयोगा-द्विनाशमायांति किमत्रचित्रम्॥

भावार्थ : जो व्यक्ति सर्वप्रकार से धर्मपरायण रहता है, उसे संपूर्ण सुख शीघ्र आकर मिलते हैं। (इसलिए, रोगी को, धर्म में रत रहना चाहिए) पाप के उदय से रोग उत्पन्न होते हैं। पाप और धर्म ये दोनों परस्पर विरोधी है। धर्म के अस्तित्त्व में पापनाश होता है। क्योंकि धर्म पाप का प्रतिपक्षी है अर्थात् पाप अपना प्रभाव धर्म के सामने नहीं बतला सकता। प्रतिपक्ष की प्रबलता होने पर अन्य पक्ष के नाश होने में आश्चर्य क्या है।

रोगोपशमनार्थ, बाह्याभ्यतंर चिकित्सा

धर्मस्तथाभ्यंतरकारणं स्या-। द्रोगप्रशांत्यै सहकारिपूरम्॥

बाह्यं विधानं प्रतिपद्यतेऽत्र चिकित्सितं सर्वमिहोभयात्म॥ 30॥

भावार्थ : इस कारण से रोग शांति के लिए धर्म अभ्यंतर कारण है। बाह्य चिकित्सा केवल सहकारी कारण है उसका निरूपण यहाँ पर किया जायेगा। अत एव संपूर्ण चिकित्सा बाह्य और अभ्यंतर के भेद से दो प्रकार की है।

बाह्यचिकित्सा

द्रव्यं तथा क्षेत्रमिहापि कालं। भावं समाश्रित्य नरस्सुखी स्यात्॥

स्नेहादिभिर्वा सुविशेषयुक्तम्। छेद्यादिभिर्वा निगृहीतदेहः॥ 31॥

भावार्थ : द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का अनुसरण करके यथायोग्य स्नेहन, स्वेदन, वमन विरेचन आदि कर्मों को तथा छेदन-भेदन आदि के योग्य रोगों में छेदन, भेदन आदि क्रियायें करें तो रोग पीड़ित मनुष्य सुखी होता है।

1. इस श्लोक के दो मूल प्रतियाँ को टटोलने पर भी दो ही चरण उपलब्ध हुए।

चिकित्सा प्रशंसा

चिकित्सितं पापविनाशनार्थं। चिकित्सितं धर्मविवृद्धये च।
चिकित्सितं चोभयलोकसाधनं। चिकित्सितान्नास्ति परं तपश्च॥ 32॥

भावार्थ : रोगियों की चिकित्सा करना पाप नाश का कारण है। चिकित्सा से धर्म की वृद्धि होती है। चिकित्सा इह एवं परलोक में सुख देने वाली है। किं बहुना? चिकित्सा से उत्कृष्ट कोई तप नहीं है।

चिकित्सा के उद्देश्य

तस्माच्चिकित्सा न च काममोहान्नचार्थलोभान्नच मित्ररागात्॥
न शत्रुरोषान्नच बंधुबुध्या। न चान्यइत्यन्यमनोविकारात्॥ 33॥
नचैव सत्कारनिमित्ततो वा। नचात्मनस्सद्यशसे विधेयम्॥
कारुण्यबुद्धया परलोकहेतो। कर्मक्षयार्थं विदधीत विद्वान्॥ 34॥

भावार्थ : इसलिए वैद्य को उचित है कि वह काम और मोह बुद्धि से चिकित्सा कभी नहीं करें। द्रव्य के लोभ से, मित्रानुराग से, शत्रुरोष से, बंधु बुद्धि से, एवं अन्य मनोविकारों से युक्त होकर वह चिकित्सा में प्रवृत्त नहीं होवें। आदर सत्कार की इच्छा से, अपने यश के लिए भी वह चिकित्सा नहीं करें। केवल रोगियों के प्रति दयाभाव से एवं परलोक साधन के लिए एवं कर्मक्षय होने के लिए विद्वान् वैद्य चिकित्सा करें।

निरीह चिकित्सा का फल

एवं कृता सर्वफलप्रसिद्धिं। स्वयं विदध्यादिह सा चिकित्सा॥
सम्यक्कृता साधु कृषिर्यथार्थं। ददाति तत्पूरुषदैवयोगात्॥ 35॥

भावार्थ : इस प्रकार उपर्युक्त उद्देश्य से की हुई चिकित्सा उस वैद्यको सर्व फल को स्वयं देती है। बिन चाहे उसे धन यश सब कुछ मिलते हैं। जिस प्रकार अच्छी तरह की हुई कृषि बल के पौरुष व दैवयोग से स्वयं धन संचय कराती है, उसी प्रकार शुद्ध हृदय से की हुई चिकित्सा वैद्य को इह व पर लोक में समस्त सुख देती है।

चिकित्सा से लाभ

क्वचिच्च धर्मं क्वचिदर्थलाभं। क्वचिच्च कामं क्वचिदेव मित्रम्॥
क्वचिद्यशस्सा कुरुते चिकित्सा। क्वचित्सदभ्यासविशारदत्वम्॥ 36॥

भावार्थ : उस चिकित्सा से वैद्य को कहीं धर्म (पुण्य) की प्राप्ति होगी। कहीं द्रव्यलाभ होगा। कहीं सुख मिलेगा। किसी जगह मित्रत्व की प्राप्ति होगी। कहीं यश का लाभ होगा और कहीं चिकित्सा

का अभ्यास बढ़ जायेगा।

वैद्यों को नित्य सम्पत्ति की प्राप्ति

न चास्ति देशो मनुजैर्विहीनो। न मानुषस्त्यक्तनिजामिषा वा॥
न भुक्तवंतो विगतामयास्तेप्यतो हि संपद्भिषजां हि नित्यम्॥ 37॥

भावार्थ : ऐसा कोई देश नहीं जहाँ मनुष्य न हो। ऐसे कोई मनुष्य नहीं, जो भोजन नहीं करते हो। ऐसे कोई भोजन करने वाले नहीं जो निरोगी हों। इसलिए विद्वान् वैद्य को सदा सम्पत्ति मिलती है।

वैद्य के गुण

चिकित्सकस्सत्यपरस्सुधीः। क्षमान्वितो हस्तलघुत्वयुक्तः॥
स्वयं कृती दृष्टमहाप्रयोगः। समस्तशास्त्रार्थविदप्रमादी॥ 38॥

भावार्थ : चिकित्सक, वैद्य, सत्यनिष्ठ हो, धीर हो, क्षमा और हस्तलाघव से युक्त हो, कृती (कृतकृत्य व निरोगी) हो, जिसने बड़ी-बड़ी चिकित्सा प्रयोगों को देखा हो, सम्पूर्ण आयुर्वेदीय शास्त्र के अर्थों को गुरु मुख से जान लिया हो तथा प्रमाद रहित हो। इन गुणों से सुशोभित वैद्य ही योग्य वैद्य कहलाता है।

रोगी के गुण

अघातुरोप्यर्थपतिश्चिरायु-। स्सुबुद्धिमानिष्टकलत्रपुत्र॥
सुभृत्युबंधुस्सुसमाहितात्मा। सुसत्ववानात्मसुखाभिलाषी॥39॥

भावार्थ : रोगी भी श्रीमंत हो, दीर्घायुषी हो, बुद्धिमान् हो, अनुकूल स्त्री, पुत्र, मित्र, बंधु, भृत्यों से युक्त हो, शक्तिशाली हो, जितेन्द्रिय हो एवं आत्मसुख की इच्छा रखने वाला हो।

औषधि के गुण

सुदेशकालोध्धृतमल्पमात्रं। सुखं सुरूपं सुरसं सुगंधि॥
निपीतमात्रामयनाशहेतुम्। विशेषतो भेषजमादिशंति॥ 40॥

भावार्थ : सुदेश में उत्पन्न, योग्य काल में उद्धृत (उखाड़ी), परिमाण में अल्प, सुखकारक, श्रेष्ठ रूप, रस, गंध से युक्त और जिसके सेवन करने मात्र से ही रोगनाशक होता हो ऐसी औषधि प्रशस्त होती है।

परिचारक के गुण

बलाधिकाः क्षांतिपराः सुधीराः। परार्थबुद्ध्यैकरसप्रधानाः॥
सहिष्णवः स्निग्धतराः प्रवीणाः। भवेयुरेते परिचारकाख्याः॥ 41॥

भावार्थ : परिचारक अत्यन्त बलशाली, क्षमाशील, धीर, परोपकार करने में दत्तचित्त, सहिष्णु स्नेही एवं चातुर्य से युक्त होना चाहिए अर्थात् रोगी के पास रहने वाले परिचारकों में उपर्युक्त गुण होने चाहिए।

पादचतुष्टय की आवश्यकता

एते भवंत्यप्रतिमस्तुपादा-श्चिकित्सितस्यांगतया प्रतीताः॥

तैस्तद्विकारानचिरेण हंति। चतुष्टयेनैव बलेन शत्रून्॥ 42॥

भावार्थ : इन पूर्व कथित गुणों से युक्त, वैद्य, आतुर, औषध और परिचारक, चिकित्सा के विषय में, असाधारण पाद चतुष्ट्य कहलाते हैं। ये चारों चिकित्सा के अंग हैं। इनके द्वारा ही, रोगों के समूह शीघ्र नाश हो सकते है। जिस प्रकार राजा चतुरंग सेना के बल से शत्रुओं को नाश करता है।

वैद्य की प्रधानता

पादैस्त्रिभिर्भासुरसद्गुणाढ्यो। वैद्यो महान्नातुरपाशु सौख्यं॥

सम्प्रापयत्यागमदृष्टतत्त्वो। रत्नत्रयेणैव गुरुस्स्वशिष्यम्॥ 43॥

भावार्थ : आगम के तत्त्वों के अभ्यस्त, सद्गुणी वैद्य उपर्युक्त औषधि और परिचारक व आतुर रूपी प्रधान अंगों की सहायता से भयंकर रोगी को भी शीघ्र आराम पहुँचाता है। जिस प्रकार गुरु सम्यग्दर्शन -ज्ञान-चारित्र के बल से अपने शिष्यों का उपकार करते हैं।

वैद्य पर रोगी का विश्वास

अथातुरो मातृपितृस्वबंधून्। पुत्रान्समित्रोरुकलत्रवर्गान्॥

विशंकते सर्वहितैकबुद्धौ। विश्वास एवात्र भिषग्वरेऽस्मिन्॥44॥

भावार्थ : रोगी अपने माता-पिता, पुत्र-मित्र, बंधु-स्त्री आदि सबको (औषधि के विषय में) संदेह की दृष्टि से देखता है। परन्तु सर्वतो प्रकार से हित को चाहने वाले वैद्यराज के प्रति वह विश्वास रखता है।

रोगी के प्रति वैद्य का कर्तव्य

तस्मात्पितेवात्मसुतं सुवैद्यो। विश्वासयोगात्करुणात्मकत्वात्।

सर्वप्रकारैस्सततताप्रमत्तो। रक्षेन्नरं क्षीणमथो वृषार्थम्॥ 45॥

भावार्थ : वैद्य को इसलिए उचित है कि जिस प्रकार एक पिता अपने पुत्र की प्रेम भाव से रक्षा करता है, उसी प्रकार रोगी को पुत्र के समान समझकर चिकित्सा करें। क्योंकि वह वैद्य के ऊपर विश्वास रख चुका है, अतएव करुणा का पात्र हैं। इसलिए सर्वप्रकार से हमेशा अप्रमादी होकर धर्म के लिए सुवैद्य रोगी की रक्षा करें।

योग्य वैद्य

गुरूपदेशादधिगम्य शास्त्रम्। क्रियाश्च दृष्टाःसकलाः प्रयोगैः ॥

स कर्म कर्तुं भिषगत्र योग्यो। न शास्त्रविन्नैवच कर्मविद्वा ॥ 46 ॥

भावार्थ : गुरुपदेश से आयुर्वेद शास्त्र का अध्ययन कर औषध योजना के साथ-साथ सम्पूर्ण चिकित्सा को देखें व अनुभव करें। जो शास्त्र जानता है और जिसको चिकित्सा प्रयोग का अनुभव है, वही वैद्य योग्य है। केवल शास्त्र जानने वाला अथवा केवल क्रिया जानने वाला योग्य वैद्य नहीं हो सकता।

प्रागुक्त कथन समर्थन

तावप्यन्योन्यमतप्रवीणौ। क्रियां विधातुं नहि तौ समर्थौ।

एकैकपादाविव देवदत्ता-। वन्योन्यबद्धौ नहि तौ प्रयातुम् ॥ 47 ॥

भावार्थ : एक शास्त्र जानने वाले और एक क्रिया जानने वाले ऐसे दो वैद्यों के एकत्र मिलने पर भी वे दोनों चिकित्सा करने में समर्थ नहीं हो सकते, जिस प्रकार कि एक-एक पैर वाले देवदत्तों के एक साथ बांधने पर भी वे चलने में समर्थ नहीं हो पाते हैं।

उभयज्ञवैद्य ही चिकित्सा के लिए योग्य

यस्तूभयज्ञो मतिमानशेष-। प्रयोगयंत्रागमशस्त्रशास्त्रः।

राज्ञोपदिष्टस्सकलप्रजानाम्। क्रियां विधातुं भिषगत्र योग्यः ॥ 48 ॥

भावार्थ : जो दोनों (क्रिया और शास्त्र) बातों में प्रवीण है, बुद्धिमान है सर्व औषधि प्रयोग यंत्रशास्त्र, शस्त्र, शास्त्र आदि का ज्ञान रखता है, वह वैद्य राजा की आज्ञा से सम्पूर्ण प्रजा की चिकित्सा करने योग्य है।

अज्ञ वैद्य से हानि

अज्ञानतो वाप्यतिलोभमोहा-। दशास्त्रविद्यः कुरुते चिकित्साम्।

सर्वानसौ मारयतीह जंतून्। क्षितीश्वरैरत्र निवारणीयः ॥ 49 ॥

भावार्थ : अज्ञान अथवा अति लोभ व मोह से शास्त्र को नहीं जानते हुए भी चिकित्सा कार्य में जो प्रवृत्त होता है, वह सभी प्राणियों को मारता है। राजाओं को उचित है कि वे ऐसे वैद्यों को चिकित्सा करने से रोकें।

अज्ञ वैद्य की चिकित्सा की निंदा

अज्ञानिना यत्कृतकर्मजातं। कृतार्थमप्यत्र विगर्हणीयम्।

उत्कीर्णमप्यक्षरमक्षरज्ञैर्न वाच्यते तद्गणवर्णमार्गैः ॥ 50 ॥

भावार्थ : अज्ञानी वैद्य की चिकित्सा में सफलता मिली तो भी वह चिकित्सा विद्वानों द्वारा प्रशंसनीय नहीं होती है। जिस प्रकार कि लकड़ी को उखेरने वाली कीड़ा या अज्ञानी मनुष्य के द्वारा उखेरे हुए अक्षर होने पर भी उसे विद्वान् लोग गणवर्ण इत्यादि शास्त्रोक्त मार्ग से नहीं बांचते हैं या ज्ञान के साधन नहीं समझते इसी प्रकार अज्ञ वैद्य की चिकित्सा निंद्य समझें।

अज्ञ वैद्य की चिकित्सा से अनर्थ

तस्मादनर्थानिभवंति कर्मा-ण्यज्ञानानिना यानि नियोजितानि-।

सद्भेषजान्यप्यमृतोपमानि। निस्त्रिंशधाराशनिनिष्टुराणि॥51॥

भावार्थ : इसलिए अज्ञानियों द्वारा नियोजित चिकित्सा से अनेक अनर्थ होते हैं। चाहे वे औषधियाँ अच्छी ही क्यों न हो, अमृत सदृश ही क्यों न हो तथापि खड्गधारा व बिजली के समान भयंकर है। वे प्राण का घात कर देते हैं।

चिकित्सा करने का नियम

ततस्तुवैद्यास्सुतिथौ सुवारे। नक्षत्रयोगे करणे मुहूर्ते॥

सचंद्रताराबलसंयुते वा। दूतैर्निमित्तैश्शकुनानुरूपैः॥52॥

क्रियां स कुर्यात्क्रियया समेतो। राज्ञोपदिष्टस्तु निवेद्य राज्ञे॥

बलाबलं व्याधिगतं समस्तं। स्पृष्ट्वाथ सर्वाणि तथैव दृष्ट्वा॥53॥

भावार्थ : इसलिए राजा के द्वारा अनुमोदित क्रिया कुशल, सुयोग्य वैद्य को उचित है कि, योग्य तिथि, वार, नक्षत्र, योग करण और मुहूर्त में तथा ताराबल चंद्रबल रहते हुए, अनुकूल दूत निमित्त व प्रशस्त शकुन को, देखते हुए एवं दर्शन, स्पर्शन, प्रश्नों के द्वारा व्याधि के बलाबल, साध्यासाध्य आदि समस्त विषयों को अच्छी तरह समझकर और उन को राजा से निवेदन कर वह चिकित्सा करें।

स्पर्श परीक्षा

स्पृष्ट्वोष्णशीतं कठिनं मृदुत्वं। सुस्निग्धरूक्षं विशदं तथान्यत्।

दोषैरितं वा गुरुता लघुत्वं। साम्यं च पश्येदपि तद्विरूपं॥ 54॥

भावार्थ : प्रकुपित दोषों से संयुक्त, रोगी का शरीर उष्ण है या शीत, कठिन है या मृदु, स्निग्ध है वा रुक्ष, लघु है या गुरु वा विशद, इसी तरह के अनेक (शरीरगत नाड़ी की चलन आदि) बातों को, एवं उपरोक्त बातें प्रकृति के अनुकूल है या विकृत है? इनको स्पर्श परीक्षा द्वारा जाननी चाहिए।

प्रश्न परीक्षा

स्पृष्ट्वाथ देशं कुलगोत्रमग्नि-। बलाबलं व्याधिबलं स्वशक्तिम्।

आहारनीहारविधिं विशेषा-। दसात्म्यसात्म्यक्रममत्र विद्यात्॥ 55॥

भावार्थ : रोगी किस देश का है? किस कुल व गोत्र में जन्म लिया है ? शरीर की प्राकृतिक स्थिति क्या है? जठराग्नि किस प्रकार है, व कितने आहार को पचा सकता है? (इत्यादि प्रश्नों से अग्नि के बलाबल) व्याधि का जोर (यदि ज्वर हो तो कितनी गर्मी बढ़ जाती है? यदि अतिसार हो तो दस्त कितने होते है? कितने-कितने समय के बाद होते है? आदि, इसी प्रकार अन्य रोगों में भी प्रश्न के द्वारा व्याधिबलाबल कितनी है? रोगी की शक्ति कितनी है? आहार क्या खाना चाहता है? गेहूँ का स्वाद कैसा है? मलमूत्र विसर्जन का क्या हाल है? कौन-सी चीज प्रकृति के अनुकूल पड़ती है? कौन-सी नहीं! आदि बातों को प्रश्न-परीक्षा (पूछकर) द्वारा जानें।

दर्शन परीक्षा

दृष्ट्वायुषो हानिमथापिवृद्धि-। छायाकृतिव्यंजनलक्षणानि।
विरूपरूपातिशयोग्रशांत-स्वरूपमाचार्यमतैर्विचार्यं ॥56॥

भावार्थ : रोगी के शरीर की छाया, आकृति, व्यञ्जन, लक्षण, इनका क्या होता है? शरीर, विरूप या कोई अतिशय रूप से युक्त तो नहीं तथा रोगी का स्वभाव (प्रकृति के स्वभाव से) अत्यन्त उग्र या शांत तो नहीं? इन उपरोक्त कारणों से, आयुष्य की हानि व वृद्धि इत्यादि बातों को, पूर्वाचार्यों के वचनानुसार, दर्शन परीक्षा द्वारा (देखकर) जानना चाहिए।

महान् व अल्प व्याधि परीक्षा

महानपि व्याधिरिहाल्परूपः। स्वल्पोप्यसाध्याकृतिरस्ति कश्चित्।
उपचारेदाशु विचार्य रोगं। युक्त्यागमाभ्यामिंह सिद्धसेनैः॥57॥

भावार्थ : बहुत से महान् भयंकर रोग भी ऊपर से अल्प रूप से दिख सकते हैं एवं अल्परोग भी असाध्य रोग के समान दिख सकते है, परन्तु चतुर सिद्धहस्त वैद्य को उचित है कि युक्ति और आगम से सब बातों को विचार कर रोग का उपचार शीघ्र करें।

रोग के साध्यासाध्य भेद

असाध्यसाध्यक्रमतो हि रोगा-। द्विधैव चोक्तास्तु समंतभद्रैः।
असाध्ययाप्यक्रमतोह्यसाध्य। द्विधातिकृच्छ्रातिसुखेन साध्यं॥58॥

भावार्थ : रोग असाध्य और साध्य इस प्रकार दो विभाग से विभक्त है ऐसा भगवान् समंतभद्र स्वामी ने कहा है। असाध्य (अनुपक्रम) याप्य क्रम इस प्रकार से दो भेद असाध्य के हैं और अति कृच्छ्र साध्य, अति सुख सुसाध्य यह साध्य के भेद हैं।

अनुपक्रम याप्य के लक्षण

कालांतरासाध्यतमास्तु याप्या। भैषज्यलाभादुपशांतरूपाः।
प्राणांश्च सद्यः क्षपयंत्यसाध्याः। बिख्याप्य तद्रूपमुपक्रमेत॥59॥

भावार्थ : जो रोग उसके अनुकूल औषधि पथ्य आदि सेवन करते रहने से दब जाते है (रोगी का सद्य प्राण घात नहीं करते हैं) और कालांतर में प्राणघात करते हैं, असाध्य होते हैं, वे याप्य कहलाते हैं। तत्काल प्राणों का जो हरण करते हैं उनको असाध्य अर्थात् अनुपक्रम रोग कहते हैं। वैद्य को उचित है कि इन असाध्य अवस्थाओं की चिकित्सा करते समय, स्पष्टतया बताकर चिकित्सा आरम्भ करें (अन्यथा अपयश होता है)।

कृच्छ्रसाध्य, सुसाध्य के लक्षण

महाप्रयत्नान्महतः प्रबंधान्महाप्रयोगैरिहकृच्छ्रसाध्याः।

अल्पप्रयत्नादपिचाल्पकाला। दल्पौषधैस्साधुतरैस्सुसाध्यम्॥60॥

भावार्थ : बडे-बड़े प्रयत्न से, बहुत व्यवस्था से एवं बड़े-बड़े प्रयोगों के द्वारा चिकित्सा करने से जो रोग शांत होते हों,उनको कठिनसाध्य समझना चाहिए। अल्प प्रयत्न से, अल्प काल में अल्प औषधियों द्वारा जिसका उपशम होता हो, उसको सुख साध्य समझना चाहिए।

विद्वानों का आद्य कर्त्तव्य

चतुःप्रकाराः प्रतिपादिता इमे। समस्तरोगास्तनुविघ्नकारिणः।

ततःचतुर्वर्गविधानसाधनं। शरीरमाद्यं परिरक्ष्यते बुधैः॥ 61॥

भावार्थ : इस प्रकार ये रोग चार प्रकार से निरूपण किए गए हैं। जितने भी रोग हैं, वे सब शरीर में बाधा पहुँचाने वाले हैं। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष रूपी चतुः पुरुषार्थों के साधन करने के लिए शरीर प्रधान साधन है। क्योंकि शरीर के बिना धर्म साधन नहीं हो सकता है। धर्म साधन के बिना अर्थ, और अर्थ के बिना काम साधन नहीं बन सकता है। एवं च जो त्रिवर्ग से शून्य हैं उनको मोक्ष की प्राप्ति होना असंभव ही है। इसलिए बुद्धिमानों को उचित है कि चतुःपुरुषार्थों की सिद्धि के लिए सबसे पहिले शरीर की हर तरह से रक्षा करें।

चिकित्सा के विषय में उपेक्षा न करें

साध्याः कृच्छ्रतरा भवंत्यविहिताः कृच्छ्रश्च याप्यात्मकाः।

याप्यास्तेऽपि तथाप्यसाध्यनिभृताः साक्षादसाध्या अपि॥

प्राणान्हंतुमिहोद्यता इति पुरा श्रीपूज्यपादार्पिता-।

द्वाक्यात्क्षिप्रमिहाग्निसर्पसदृशान् रोगान् सदा साधयेत्॥ 62॥

भावार्थ : शीघ्र और ठीक-ठीक (शास्त्रोक्त पद्धति के अनुसार) चिकित्सा न करने से, अर्थात् रोगों की चिकित्सा, शास्त्रोक्त पद्धति के अनुसार, शीघ्र न करने से, जो रोग सुखसाध्य हैं, वे ही कृच्छ्रसाध्य हो जाते है। जो कृच्छ्रसाध्य है वे याप्यत्व को, जो याप्य है वे अनुपक्रमत्व अवस्था को प्राप्त

हो जाते हैं और जो अनुपक्रम है, वे तत्क्षण ही, प्राण का घात करते हैं। इस प्रकार प्राचीन काल में, आचार्य श्रीपूज्यपाद ने कहा है। इसलिए, अग्नि और सर्प के समान, शीघ्र अमूल्य प्राण को नष्ट करने वाले रोगों को, हमेशा शीघ्र ही योग्य चिकित्सा द्वारा ठीक करें।

अंतिम कथन

इति जिनवक्त्रनिर्गतसुशास्त्रमहांबुनिधेः। सकलपदार्थविस्तृततरंगकुलाकुलतः॥

उभयभवार्थसाधनतटद्वयभासुरतो। निसृतमिदं हि शीकरनिभं जगदेकहितम् ॥63॥

भावार्थ : जिसमें सम्पूर्ण द्रव्य, तत्त्व व पदार्थरूपी तरंग उठ रहे हैं, इह लोक व परलोक के लिए प्रयोजनीभूत साधन रूपी जिसके दो सुंदर तट है, ऐसे श्रीजिनेन्द्र के मुख से उत्पन्न शास्त्र समुद्र से निकली हुई बूँद के समान यह शास्त्र है। साथ में जगत् का एक मात्र हित साधक है (इसलिए ही इसका नाम कल्याणकारक है)।

इत्युग्रादित्याचार्यकृत कल्याणकारके चिकित्साधिकारे व्याधिसमुद्देश आदितस्सप्तमपरिच्छेदः।

इत्युग्रादित्याचार्यकृत कल्याणकारक ग्रन्थ के चिकित्साधिकार में विद्यावाचस्पतीत्युपाधिविभूषित वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री द्वारा लिखित भावार्थदीपिका टीका में व्याधिसमुद्देश नामक सातवां परिच्छेद समाप्त हुआ।

अथाष्टमः परिच्छेद

अथ वातरोगाधिकार

मंगलाचरण व प्रतिज्ञा

अतींद्रियपदार्थसार्थनिपुणावबोधात्मकं। निराकृतसमस्तदोषकृतदुर्मदाहंकृतिम्॥
जिनेन्द्रममरेंद्रमौलिमणिरश्मिमालार्चितं। प्रणम्य कथयाम्यहं विदितवातरोगक्रियाम्॥1॥

भावार्थ : समस्त दोषों को एवं अहंकार को जिन्होंने नाश किया है, अतएव संपूर्ण पदार्थों को साक्षात्कार करने वाले अतीन्द्रिय ज्ञान को प्राप्त किया है, जिनके चरण में आकर देवेन्द्र भी मस्तक झुकाते हैं, ऐसे जिनेन्द्र भगवान् को नमस्कार कर वातरोग की चिकित्सा के विषय में कहेंगे। इस प्रकार आचार्य प्रतिज्ञा करते है।

वातदोष

स वात इति कथ्यते प्रकटवेदनालक्षणः। प्रवात हिमवृष्टिशीततररूक्षसेवाधिकः॥
प्रदेशसकलांगको बहुविधामयैकालयो। मुहुर्मुहुरुदेति रात्रिकृतदेहदुःखास्पदः॥2॥

भावार्थ : जिसका पारुष्य, शीतत्त्व, खरत्व, सुप्ताव, तोद शूल आदि वेदना, और रूक्ष, शीत खर, चल, लघु आदि लक्षण (संसार में) प्रसिद्ध हैं, जो अत्यधिक बर्फ, वृष्टि (बरसात) तथा शीत व रूक्ष गुण युक्त आहार को अधिक सेवन करने से प्रकुपित होता है, एकाङ्ग व सर्वांगगत नाना प्रकार के रोगों की उत्पत्ति के लिए जो मुख्य स्थान है अर्थात् मूलकारण है, जो बार-बार कुपित होता है और रात्रि में विशेष रीति से शरीर को दुःख पहुँचाता है, वह वात (दोष) कहलाता है।

प्राणवात

मुखे वसति योऽनिलः प्रथित नामतः प्राणकः। प्रवेशयति सोऽन्नपानमखिलामिषं सर्वदा।
करोति कुपितस्स्वयं श्वसनकासाहिक्काधिका। ननेकविधतीव्रवेगकृतवेदनाव्याकुलान्॥ 3॥

भावार्थ : मुख में जो वायु वास करता है, उसे प्राणवायु कहते हैं। वह (स्वस्थावस्था में) अन्न पान आदि समस्त भोज्य वर्ग को पेट में पहुँचाता है। यदि वह वायु कुपित हो जाये, तो अपने नाना प्रकार के तीव्र वेगों द्वारा उत्पादित वेदना से व्याकुलित करने वाले दमा, खाँसी, हिचकी इत्यादि रोग उत्पन्न होते हैं।

उदानवायु

शिरोगत इहाप्युदान इति विश्रुतस्सर्वदा। प्रवर्तयति गीतभाषितविशेषहास्यादिकान्॥
करोति निभृतोर्ध्वजत्रुगतरोगदुःखाकुलं। पुमांसमनिलस्ततः प्रकुपितस्स्वयं कारणैः॥4॥

भावार्थ : मस्तक में रहने वाला वायु उदान नाम से प्रसिद्ध है। वह(स्वस्थावस्थामें) गीत, भाषण, हास्य आदिकों को प्रवर्तित करता है। यदि वह स्वकारण से कुपित हो जाये तो कंठ, मुख, कर्ण, मस्तक आदि, जत्रुक हड्डी से (गर्दनसे) ऊपर होने वाले रोगों को पैदा करता है।

समानवायु

समान इति योऽनिलोऽग्निसख उच्यते सर्वदा। वसत्युदर एव भोजनगणस्य संपाचकः॥
करोति विपरीततामुपगतस्स्वयं प्राणिना-मनग्निमतिसारमंत्ररुजमुग्रगुल्मादिकान्॥ 5॥

भावार्थ : जो वायु उदर (आमाशय व पक्वाशय) में रहता है, अग्नि के प्रदीप्त होने में सहायक है इसलिए अग्निसख कहलाता है तथा भोजनवर्ग को पचाता है उसको समानवात कहते है। यदि वह कुपित हो जावें तो, अग्निमांद्य, अतिसार, अंत्रशूल गुल्म आदि उग्र रोगों को पैदा करता है।

अपानवायु

अपान इति योऽनिलो वसति वस्तिपक्वाशये। स वात मलमूत्रशुक्रनिखिलोरुगर्भार्तवम्॥
स्वकालवशतो विनिर्गमयति स्वयं कोपतः। करोति गुदबस्तिसंस्थितमहास्वरूपामयान्॥ 6॥

भावार्थ : अपानवायु बस्ति व पक्वाशय में रहता है। वह योग्य समय में मलमूत्र रजोवीर्य आर्तव (स्त्रियों के दुष्टरज) व गर्भ को बाहर निकालता है। यदि वह कुपित हो जाये तो गुद व मूत्राशयगत मलावरोध, मूत्रावरोध, मूत्रकृच्छ्र इत्यादि महान् रोगों को उत्पन्न करता है।

व्यानवायु

सकृत्स तनुमाश्रितस्सततमेव यो व्यान इत्यनेकविधचेष्टयाचरति सर्वकर्माण्यपि॥
करोति पवनो गदान्निखिलदेहगेहाश्रितान्। स्वयं प्रकुपितस्सदा विकृतवेदनालंकृतान्॥ 7॥

भावार्थ : जो वायु शरीर के सम्पूर्ण भाग में व्याप्त होकर रहता है, उसे व्यानवायु कहते हैं। यह शरीर में अपनी अनेक प्रकार की चेष्टाओं को दर्शाते हुए चलता फिरता है। शरीरगत सर्वकर्मों (रक्त संचालन, पित्त-कफ आदिकों को यथास्थान पहुँचाना आदि) को करता है। वह कुपित हो जावें तो हमेशा सर्व देहाश्रित, सर्वांगवात, वा सर्वाङ्गवध, सर्वाङ्गकम्प आदि विकृत वेदनायुक्त रोगों को पैदा करता है।

कुपितवात व रोगोत्पत्ति

यथैव कुपितोऽनिलस्स्वयमिहामपक्काशये। तथैव कुरूते गदानपि च तत्र तत्रैव तान्।
त्वगादिषु यथाक्रमादखिलवायुसंक्षोभतश्शरीरमथ नश्यते प्रलयवातघातादिव॥8॥

भावार्थ : जिस प्रकार आमाशय, व पक्वाशय में प्रकुपित (समान) वायु आमाशयगत व पक्वाशयगत छर्दि अतिसार आदि रोगों को उत्पन्न करता है, उसी प्रकार त्वगादि स्वस्थानों में प्रकुपित तत्तद्वायु भी स्व-स्व स्थानगत व्याधिको यथाक्रम से पैदा करता है। यदि ये पाँचों वायु एक साथ प्रकुपित होवे तो, शरीर को ही नष्ट कर देते है, जिस प्रकार प्रलयकाल का वायु समस्त पृथ्वी को नष्ट करता है।

कफ, पित्त, रक्तयुक्त वात का लक्षण

कफेन सह संयुतस्तनुमिहानिलस्तंभये-दवेदनमलेपनानिभृतमंगसंस्पर्शनम्॥
सपित्तरूधिरान्वितस्सततदेहसंतापकृ-द्भविष्यति नरस्य वातविधिरेवमत्र त्रिधा॥ 9॥

भावार्थ : यदि वायु कफ युक्त हो तो शरीर को स्तम्भन करता है। पीड़ा उत्पन्न नहीं करता है, और स्पर्श में कठिन कर देता है। यदि पित्त व रक्त से युक्त हो तो देह में संताप (जलन) पैदा करता है। इन तीन सांसर्गिक अवस्थाओं में भी तीन प्रकार से वात की ही चिकित्सा करनी पड़ती है।

वातव्याधि के भेद

मुहुर्मुहुरिहाक्षिपत्यखिलदेहमाक्षेपकः। स संचलति चापतानक इति प्रतीतो निलः। मुखार्धमखिलार्धमर्दितसुपक्षघातादपि। स्थितिर्भवति निश्चलं विगतकर्मकार्यादिकम्॥10॥

भावार्थ : सम्पूर्ण शरीर को बार-बार कम्पन करने वाला आक्षेप वात, चंचलयुक्त सुप्रसिद्ध अपतानक, आधे मुखको वक्र करके निश्चल करने वाला अर्दित, सारे शरीर के अर्ध भाग का निश्चेष्ट करने वाला पक्षाघात, ये सब वातरोग के भेद हैं।

अपतानक रोग का लक्षण

करांगुलिगतोदरोरुहृदयाश्रितान् कंडरान्। क्षिपं क्षिपति मारुतस्स्वकशररिमाक्षेपकान्। कफं वमति चोर्ध्वदृष्टितवभुग्नपार्श्वोहनोर्न चालयति सोन्नपानमपि कृच्छ्रतोऽप्यश्नुते॥ 11॥

भावार्थ : वह वायु हाथ, अंगुली, उदर एवं हृदयगत कण्डराओं (स्थूल शिरा)को प्राप्त करके शरीर में झटका उत्पन्न करता है, कम्पाता है। उस से पीड़ित रोगी, कफ का वमन करता है, उसकी दृष्टि ऊर्ध्व होती है। दोनों पार्श्व भुग्न (टूटा सा हो जाना) होते है, वह मुख को नहीं चला सकता है। वह अन्नपान को भी कष्ट से लेता है।

अर्दित निदान व लक्षण

विजृंभणविभाषणात्कठिनभक्षणोद्वेगतः। स्थिरोच्चतरशीर्षभागशयनात्कफाच्छीततः॥ भविष्यति तथादितो विकृतिरिंद्रियाणां तथा। मुखं भवति वक्रमक्रमगतिश्च वाक्प्राणिनाम्॥12॥

भावार्थ : अधिक जंभाई आने से, अधिक बोलने से, कठिन पदार्थों को खाने से, उद्वेग से, सोते समय सिर के नीचे ऊँचा और कठिन तकिया रखकर सोने से, कफ से व शीत से अर्दित नामक रोग

होता है। उस रोग में इंद्रियों का विकार होता है। मुख वक्र होता है। प्राणियों का पचन ठीक क्रम से नहीं निकलता है। अक्रम होकर निकलता है।

अर्दित का असाध्य लक्षण व पक्षाघात की समाप्ति व लक्षण

त्रिवर्षकृतवेपमानशिरसश्चिराद्भषिणो। निमेषरहितस्य चापि न च सिध्यतीहार्दितः॥
रुधा च धमनीशरीरसकलार्धपक्षाश्रितान्। प्रपद्य पवनः करोति निभृतांगमज्ञाकृतम्॥13॥

भावार्थ : जिस अर्दित रोगी का शिर, बराबर तीन वर्ष से काँप रहा हो, बहुत देर से जिसका वचन निकलता हो, आँखें जिनकी बंद नहीं होती हो ऐसे रोगों का अर्दित रोग असाध्य जानना चाहिए। वही वायु शरीर के सम्पूर्ण अर्ध भाग में आश्रित धमनियों को प्राप्त कर और उनको रोककर, (विशोषण कर) शरीर को कठिन बनाता है एवं स्पर्श ज्ञान को नष्ट करता है (जिससे शरीर का अर्ध भाग अकर्मण्य होता है) इस रोग को, पक्षवध पक्षाघात व एकांगरोग भी कहते हैं।

पक्षघात का कृच्छ्रसाध्य व असाध्य लक्षण

स केवलमरुत्कृतस्तु भुवि कृच्छ्रसाध्य स्मृतो। न सिध्यति च यः क्षताद्भवति पक्षघातः स्फुटं॥
स एव कफकारणाद्रुरुतरातिशोफावहस्सपित्तरु धिरादपि प्रबलदाहमूर्च्छाधिकः॥14॥

भावार्थ : वह पक्षघात यदि केवल वात से युक्त है तो उसे कठिनसाध्य समझना चाहिए। यदि क्षत (जख्म) के कारण पक्षाघात हो गया हो तो वह निश्चय से असाध्य है। वह यदि कफ से युक्त हो तो शरीर को भारी बनाता है एवं शरीर में सूजन आदि विकार उत्पन्न होते हैं। पित्त एवं रक्त से युक्त हो, तो शरीर में अत्यधिक दाह व मूर्च्छा आदि उत्पन्न होते हैं।

अपतानक व आक्षेपक के असाध्य लक्षण

तथैवमपतानकोऽप्यधिकशोणितातिस्रवात्। स्वगर्भपतनात्तथा प्रकटिताभिघातादपि॥
न सिध्यति परित्यजेदथ भिषक्तमप्यातुरं। तथैवमभिघातजान् स्वयमिहापि चाक्षेपकान्॥15॥

भावार्थ : शरीर से अधिक रक्त के बह जाने से, गर्भ च्युति होने से एवं और कोई धक्का लगने से उत्पन्न अपतानक रोग भी असाध्य है। ऐसे अपतानक से पीड़ित रोगी को एवं जखम से उत्पन्न आक्षेपक रोगी को वैद्य असाध्य समझकर छोड़ें।

दण्डापतानक, धनुस्तम्भ, बहिरायास, अंतरायाम की संप्राप्ति व लक्षण

समस्तधमनीगतप्रकुपितोऽनिलः श्लेष्मणा। स दण्डधनुराकृतिं तनुमिहातनोत्यायताम्॥
स एव बहिरंतरंगधमनीगतोऽप्युद्धतो। बहिर्वहिरिहांतरांतरधिकं नरं नामयेम्॥16॥

भावार्थ : वायु समस्त धमनियों में व्याप्त होकर कफ से प्रकुपित हो जाय तो वह सारे शरीर को दण्ड व धनुष्य के आकार में नमा देता है। वह वायु यदि बहिरङ्ग धमनीगत हो तो बाहर की तरफ, और यदि अंतरङ्ग धमनीगत हो तो अंदर के तरफ शरीर को नमाता है।

विशेष : प्रकुपित, वायु, कफ से युक्त होता हुआ, शरीर की समस्त धमनियों को प्राप्त होकर शरीर को दण्ड के समान आयत (सीधा) कर देता है। इसको दण्डापतानक वातव्याधि कहते हैं। वही वायु (कफ से युक्त) वैसे ही (समस्त धमनियों को प्राप्त कर) शरीर को धनुष समान नमा देता है उसे धनुस्तम्भ वातव्याधि कहते हैं तथा वही वायु शरीर के बहिर्भाग की धमनियों को प्राप्त हो जाये, तो बाहर के तरफ शरीर को नमा देता है और अभ्यंतर (अन्दर के तरफ) के धमनीगत हो, तो अन्दर के तरफ नमा देता है, इनको क्रम से बहिरायाम अंतरायाम वातव्याधि कहते हैं।

गृध्रसी अवबाहु की संप्राप्ति व लक्षण

यदात्मकरपादचारुतरकंदरान् दण्डयन्। स खण्डयति चण्डवेगपवनो भृशं मानुषान्॥

तदा निभृतविश्वसत्प्रकटवेदना गृध्रसिं। करोति निभृतावबाहुमपिचांसदेशस्थितं॥17॥

भावार्थ : जिस समय हाथ और पैरों के मनोहर कंडराओं को दण्डित (पीड़ित करता हुआ) भयंकर वेगवाला पवन, मनुष्यों को हाथ पैरों का टूटा-सा अनुभव कराता हो, उस समय,उन स्थानों में असह्य पीड़ा होती है। इस को गृध्रसी रोग कहते है। कंधों के प्रदेश (मूल) में स्थित वायु, तत्स्थानगत, शिराओं को संकोचित कर, हाथों के स्पन्दन (हिलन) को नष्ट करता है, उसे अवबाहु कहते हैं।

कलायखंज, पंगु, ऊरुस्तम्भ, वातकटंक व पादहर्ष के लक्षण

कटीगत इहानिलः खलः कलायखंजत्वकृत्। नरं तरलपंगुमंगविकलं समापादयेत्॥

तथोरुगतऊस्त्युग्ममपि निश्चलं स्तंभयेत् -स्ववातकृतकंटकानपि च पादहर्षं पदे॥18॥

भावार्थ : कटिप्रदेशगत दुष्टवायु जब पैरों के कंडाराओं को (मोटी नस) खींचता है तब कलायखंज, व पंगु नामक व्याधि को पैदा करता है, जिस (पंगु) से मनुष्य का अंग विकल हो जाता है, अर्थात् पैरों के चलने की शक्ति नाश हो जाती है। यदि वह ऊरुस्थान को प्राप्त हो तो दोनों ऊरुवों को स्तंभित करता है, जिससे दोनों ऊरु निश्चल हो जाते है एवं पादगत वायु पादहर्ष नामक व्याधि को उत्पन्न करता है। इसका खुलासा इस प्रकार है।

कलायखंज- जो गमन के आरंभ मे कम्पाता है, लंगड़े की तरह चलाता है और पैरों की संधि छूटी हुई-सी मालूम होती है, उसे कलायखंज वातव्याधि कहते हैं।

पंगु- दोनों पैर चलनक्रिया में बिल्कुल असमर्थ हो जाते हैं, उसे पंगु (पांगला) कहते हैं।

ऊरुस्तम्भ - जिसमें दोनों ऊरु, स्तब्ध, शीत और चेतनारहित होते हैं। तथा इतने भारी हो जाते हैं मानों दूसरों के पैरों को लाकर के रख दिया है। उनमें असह्य पीड़ा होती है। वह रोगी चिता, अंगमर्द (अंग में पीड़ा) तंद्रा, अरुचित, ज्वर आदि उपद्रवों से युक्त होता है और वह अपने पैरों को, अत्यन्त कष्ट से उठाता है। इत्यादि अनेक लक्षणों से संयुक्त इस व्याधि को (अन्य मतके) कोई 2 आचार्य आढयवात भी कहते है।

वातकण्टक- पैरों को विषम रूप से रखने से वा अत्यन्त परिश्रम के द्वारा प्रकुपित वायु गुल्फसंधि (गट्टा) को आश्रित कर पीड़ा उत्पन्न करता है, उसे वातकण्टक कहते हैं।

पादहर्ष - जिसमें दोनों पाद हर्षित एवं थोड़ी देर के लिए संज्ञा शून्य होते हैं और अपने को थोड़ा मोटा हुआ जैसा प्रतीत होता है।

तूनी प्रतितूनी, अष्टीला व आध्मान के लक्षण

तुनिप्रतितुनिं च नाभिगुदमध्यकोत्ष्ठीलिका-मनुप्रतिबिपिलोमिकां स कुरुते मरुद्रोधिनीम्।
तथा प्रतिसमानलोमगुणनामकाध्मानकं। करोति भृशशूलमप्यधिकृतोऽनिलः कुक्षिगः ॥19॥

भावार्थ : प्रकुपित वाततूनि प्रतितूनि तथा नाभि और गुदा के बीच में वात को रोकने वाली अनुलोमाष्ठीला(अष्ठीला) प्रतिलोमाष्ठीला (प्रत्यष्ठीला) नामक रोग को उत्पन्न करता है। कुक्षि (उदर) गत वायु अत्यन्त शूलोत्पादक आध्मान, प्रत्याध्मान नामक रोग को पैदा करता है। इसका खुलासा इस प्रकार है-

तूनी- जो पक्वाशय व मूत्राशय में अथवा दोनों में एक साथ उत्पन्न हो, नीचे (गुदा और गुह्येन्द्रिय) की तरफ जाता हो, गुह्येन्द्रिय व गुदा को फोड़ने जैसी पीड़ा का अनुभव कराता हो, ऐसी वेदना (शूल) को तूनी नामक वातव्याधि कहते हैं।

प्रतितूनी- जो शूल गुदा और गुह्येन्द्रिय में उत्पन्न होकर वेग के साथ, ऊपर के तरफ जाता हो एवं पक्वाशय में पहुँचता हो, उसे प्रतितूनी कहते हैं।

अष्ठीला- जिससे नाभि व गुदा के बीच में गोल पत्थर जैसी, ग्रंथि (गांठ) उत्पन्न हो जाती है, जो चलनशील अथवा अचल होता है, जिसके उपरिम भाग दीर्घ है, तिरछा भाग उन्नत (ऊँचा उठा हुआ) है और जिससे वायु मलमूत्र रुक जाते हैं, उसे अष्ठीला कहते हैं।

प्रत्यष्ठीला- यह भी उपरोक्त अष्ठीला सदृश्य ही है, लेकिन इसमें इतना विशेष है कि इसका तिरछा भाग दीर्घ होता है।

आध्मान- जिससे पक्वाशय में गुड़गुड़, चल चल, ऐसे शब्द होते हैं, उग्र पीड़ा होती है, वात से भरी हुई थैली के समान, पेट (पक्वाशय प्रदेश) फूल जाता है, उसे आध्मान कहते हैं।

प्रत्याध्मान- उपरोक्त आध्मान यदि आमाशय में उत्पन्न होवें, उसे प्रत्याध्मान कहते हैं। लेकिन इस से दोनों पार्श्व (बगल) और हृदय में किसी प्रकार की तकलीफ नहीं होती है।

वातव्याधि का उपसंहार

स सर्वगतमारुतो बहुविधामयान्सर्वगान्। करोत्यवयवे तथावयवशोफशूलादिकान्॥
किमत्र बहुना स्वभेदकृतलक्षणैर्लक्षितैर्गदैर्निगदितैर्गदाशनिनिभैः क्रियैका मता ॥20॥

भावार्थ : यदि वात सर्व देहगत हो तो सर्वांगवात, सर्वांगकम्प आदि नाना प्रकार के सर्व शरीर

में होने वाले रोगों को उत्पन्न करता है। वही वायु शरीर के अवयव में प्राप्त हो तो तत्तदवयवों में सूजन, शूल आदि अनेक रोगों को उत्पन्न करता है। इस वात के विषय में विशेष कहने से क्या? स्थान आदि भेदों के कारण जो रोग भेद होता है उनके अनुसार प्रकट होने वाले अन्यान्य लक्षणों से संयुक्त, विष, बिजली जैसे शीघ्र प्राणघातक अनेक रोगों को वह वात पैदा करता है। इन सर्व वातरोगों में (मुख्यतया) एक बात को जीतना पड़ता है। अतएव सबके लिए एक ही चिकित्सा है, ऐसा पूर्वाचार्यों का अभिमत है।

वातरक्त का निदान, संप्राप्ति व लक्षण

विदाहिरससंयुतान्यतिविदाहिकाले भृशं। निषेव्य कटुभोजनान्यतिकटूष्णरूक्षाण्यपि॥
रथाश्वतरवाजिवारणखरोष्ट्रवाहादिकांश्चिरं समधिरुह्य शीघ्रमिह गच्छतां देहिनाम्॥ 21॥
विदाहकृतदुष्टशोणितमिहांततः पादयोः। करोति भृशमास्यशोफमखिलाङ्गदुःखावहम्॥
सवातरुधिरेण तोदनविभेदनास्पर्शनैर्विशोषणविशोषणौर्भवत एव पादौ नृणां॥22॥

भावार्थ : गर्मी के समय में विदाही अन्नों को सेवन करने से, कटुभोजन, अतिकटूष्ण तथा रूक्ष आहारों को अत्यधिक सेवन करने से, एवं रथ, घोड़ा, हाथी, ऊंट आदि सवारी पर बहुत देर तक चढ़कर दौड़ाने से रक्त विदग्ध होता है तथा वायु भी प्रकुपित होता है। वह-विदग्धरक्त जिस समय वायु के मार्ग को रोक देता है तो वह अत्यधिक प्रकुपित होकर और रक्त को दूषित कर देता है। तब रक्त दोनों पादों में संचय होता है। इसी से सम्पूर्ण अंगों में दुःख उत्पन्न करने वाली सूजन हो जाती है। उस समय दोनों पाद तोदन, भेदन आदि पीड़ा संयुक्त स्पर्शनासह होते हैं और सूख भी जाते है। इस को वातरक्त कहते हैं।

पित्त कफ युक्त व त्रिदोषज वात रक्त का लक्षण

सपित्तरुधिरेण सोष्णमृदुशोफदाहान्वितौ। शरीरतरकण्डुनौ गुरुघनौ च सश्लेष्मणा॥
सपित्तकफमारुतैरभिहते च रक्ते तथा। भवंति कथितामया विहितपादयौःप्राणिनाम्॥23॥

भावार्थ : वह यदि पित्त से युक्त हो तो पाद उष्ण, मृदु, सूजन व दाह से युक्त होते हैं। यदि कफ सहित हो तो खुजली से युक्त, भारी एवं घन (सूजन, होते है एवं पित्त, कफ, वात से युक्त हो जाये, तो तीनों विकारों से उत्पन्न लक्षण) उसमें पाये जाते हैं।

क्रोष्टुकशीर्ष लक्षण

स्थिरप्रबलवेदनासहितशोफमत्यायतं। करोति निजजानुनि प्रथिततीव्रसत्क्रोष्टुक-॥
शिरः प्रतिममित्यनेकविधवातरक्तामया। यथार्थकृतनामकाः प्रतिपदं मया चोदिताः॥ 24॥

भावार्थ : इसी वातरक्त के विकार से जानुवों में जो अत्यन्त वेदना से युक्त अत्यन्त आयत सूजन उत्पन्न होती है, वह क्रोष्टुक (गीद्ड) के मस्तक के समान होती है। इसलिए उसे क्रोष्टुकशीर्ष[1] नाम

1. गीदड के मस्तक के समान

का रोग कहते हैं। इसी प्रकार उक्त क्रम से वात रक्त के विकार से अपने-अपने नाम के समान पाद में अनेक रोग होते हैं।

वातरक्त असाध्य लक्षण

स्फुटं स्फुटति भिन्नसासृतरसं तथा जानुतस्तदेतदिह वातशोणितमसाध्यमुक्तं जिनैः।
यदेतदिह वत्सराननुगतं तद्याप्यमित्यथोत्तरमिह क्रियां प्रकटयमि सद्भेषजैः ॥25॥

भावार्थ : वह अच्छी तरह फूटकर जिस समय उससे व घुटने से रक्त रस का स्राव होने लगे, उस वातरक्त को असाध्य समझना चाहिए! एक वर्ष से पहले साध्य है, उसके बाद याप्य हो जाता है। अब हम वातरोगों की चिकित्सा का वर्णन श्रेष्ठ औषधियों के साथ -साथ करेंगे।

वातरोग चिकित्सा वर्णन की प्रतिज्ञा

त एव तनुभृद्गणस्य सुखसंपदां नाशकाः। स्फुरद्विषमनिष्टुराशनिविषोपमा व्याधयः॥
महाप्रलयवातोपमशरीरवातोद्भवा। मया निगदितास्ततस्तु विधिरुच्यते तद्गतः ॥26॥

भावार्थ : शरीर में उत्पन्न होने वाले वात रोग प्राणियों के सुख सम्पत्तियों को नाश करने वाले हैं। भयंकर बिजली व विष के समान हैं, इतना ही नहीं, महाप्रलय काल के प्रचण्ड मारुत के समान है। इसलिए उनका प्रतिकार शास्त्रोक्त क्रम से यहाँ कहा जाता है।

आमाशयगत वातरोग चिकित्सा

अथ प्रकुपितेऽनिले सति निजामसंज्ञाशये। प्लुतं सलवणोष्णतोयसहितं हितं पाययेत्॥
ससधैंवसुखोष्णतैलपारीदिग्धगात्रं नरं। कुधान्यसिकतादिसोष्णशयने तदा स्वेदयेत्॥ 27॥

भावार्थ : आमाशय में वात प्रकुपित होने पर,(उसको जीतने के लिए) वमन कराना चाहिए, उसकी विधि इस प्रकार है। उस रोगी को, सबसे पहले सैंधानमक मिला हुआ, सुखोष्ण तैल से मालिश करा कर(इस विधि से स्नेहन[1] कराकर) कुधान्य,वालु आदि से व उष्ण(कम्बल आदि) शयन में सुलाकर स्वेदन करें। तत्पश्चात् वमन कराने के लिए, गरम पानी में सैंधा नमक भिगोकर पिलाना चाहिए।

स्नेहपान विधि

त्रिरात्रमिह पाययेन्मृदुतरोदरं पित्ततस्तथैव कफतोपि मध्यममिहैव पंचान्हिकम्॥
स्ववातकृतनिष्ठुरोरुखरकोष्ठमप्यादराद्विनान्यपिच सप्त सर्वविधिषु क्रमोऽयं स्मृतः ॥28॥

भावार्थ : घृत तैल आदि किसी स्निग्ध पदार्थ को सेवन कराकर, शरीर को चिकना बना देना यही स्नेहन है। इसकी विधि इस प्रकार है। शरीर में पित्त की अधिकता से मृदुकोष्ठ, कफ की

1. वमन विरेचन आदि प्रत्येक पंचकर्मों को करने के पहले स्नेहन और स्वेदन क्रिया करनी चाहिए, ऐसा आयुर्वेद शास्त्र का नियम है। स्नेहन-स्वेदन पूर्व कर्म हैं।

अधिकता से मध्यमकोष्ठ, और वाताधिक्य से खरकोष्ठ, इस प्रकार कोष्ठ तीन प्रकार से विभक्त है। मृदुकोष्ठ के लिए तीन दिन, मध्यमकोष्ठ के लिए पाँच दिन व खरकोष्ठ के लिए सात दिन तक स्नेहपदार्थ (घृत) पिलाना चाहिए (इस क्रम से शरीर अच्छी तरह स्निग्ध होता है) स्नेहन क्रिया में सर्वत्र यही विधि है।

स्नेहपान के गुण

विशेषनिशिताग्नयोऽधिकबलाः सुवर्णोज्वलाः। स्थिराभिनवधातवः प्रतिदिनं विशुद्धाशयाः॥
दृढेन्द्रियशतायुषः स्थिरवयस्सुरूपास्सदा। भवंति भुवि संततं घृतमिदं पिबंतो नराः॥29॥

भावार्थ : इस तरह घी पीने वाले मनुष्य की अग्नि तीक्ष्ण हो जाती है। अधिक बलशाली व सुवर्ण के समान कांतीमान होता है, शरीर में स्थिर व नये धातुओं की उत्पत्ति होती है। आमाशयादि शुद्ध होते है, इन्द्रियाँ दृढ़ हो जाती है, वह शतायुषी हो जाता है। शरीर सुरूप व सुडौल बन जाता है।

स्नेहन के लिए अपात्र

अरोचकनवज्वरान् हृदयगर्भमूर्च्छामद-भ्रमक्लमकृशानसुरापरिगतानथोन्दारिणः।
अजीर्णपरिपीडितानधिकशुद्धदेहान्नरान्। सबस्तिकृतकर्मणो न घृतमेतदापाययेत्॥30॥

भावार्थ : अरोचक अवस्था में, नवज्वर पीड़ित को, हृदय रोग से पीड़ित को, गर्भवती को, मूर्च्छित को, मद,भ्रम-श्रम से युक्त, कृश, ऐसे व्यक्ति को एवं मद्य पीये हुए को, उद्गारी को, अजीर्ण से पीड़ित को, वमनादि से अत्यधिक विशुद्ध देहवाले को, बस्तिकर्म जिसको किया गया हो, उसको यह घृत नहीं पिलाना चाहिए अर्थात् ऐसे मनुष्य स्नेहन के लिए अपात्र हैं।

स्वेदन का फल

अथाग्निरभिवर्द्धते मुदुतरं सुवर्णोज्वलं। शरीरमशने रुचिं निभृतगात्रचेष्टामपि॥
लघुत्वपवनानुलोम्य मलमूत्रवृत्तिक्रमान्। करोति तनुतापनं सततदुष्टनिद्रापहम्॥31॥

भावार्थ : शरीर से किसी भी प्रकार से पसीना लाया जाता है, उसे स्वेदन क्रिया कहते हैं। स्वेदन से शरीर में अग्नि तीव्र हो जाती है। शरीर मृदु व कांतियुक्त हो जाता है। भोजन में रुचि उत्पन्न होती है। शरीर के प्रत्येक अवयव योग्य क्रिया करने लगते है, शरीर हल्का हो जाता है। वात का अनुलोम हो कर, मलमूत्रों का ठीक-ठीक निर्गम होता है, दुष्ट निद्रा दूर होती है।

स्वेदन के लिए अपात्र

क्षतोष्मपरिपीडितांस्तृषितपाण्डुमेहातुरा - नुपोषितनरातिसारबहुरक्तपित्तातुरान्॥
जलोदरविषार्तमूर्छितनरार्भकान् गर्भिणीं। स्वयं प्रकृतिपित्तरक्तगुणमत्र न स्वेदयेत्॥32॥

भावार्थ : क्षत व उष्ण से पीड़ित, तृषित, पांडु व मेहरोग के रोगी को उपवास किए हुए को, रक्तपित्ती को, अतिसारी को, जलोदर, विषरोग व मूर्च्छा रोग से पीड़ित को, गर्भिणीं को एवं पित्त

प्रकृति वाले को, स्वेदन नहीं करना चाहिए।

वमनविधि

ततस्सलवणोग्रमागधिककल्कमिश्रैःशुभैः। फलैस्त्रिफलकैस्तथा मदननामकैः पाचितम्॥
सुखोष्णतरदुग्धमातुरमथागमे पाययेन्निविष्टमिह जानुदघ्नमृदुस्थिरोच्चासने ॥33॥

भावार्थ : इस तरह स्नेहन स्वेदन करने के बाद सैंधा नमक, वच, पीपल इन तीनों के कल्क से मिश्रित त्रिफला (हर्ड, बहेड़ा, आमला) व मेनफल को दूध में पकाना चाहिए। रोगी को घुटने बराबर ऊँचे, स्थिर व मृदु श्रेष्ठ आसन पर बैठाल कर उपर्युक्त प्रकार के सुखोष्ण दूध को प्रातःकाल के समय पिलाना चाहिए।

सुवांत लक्षण व वमनानंतर विधि

क्रमान्निखिलभेषजोरुकफपित्तसंदर्शनात्। सुवांतमतिशांतदोषमुपशांतरोगोद्धतिम्॥
नरं सुविहितान्नपानविधिना समाप्याययन्। सहाप्यमलभेषजैःप्रतिदिनं जयेदामयान्॥ 34॥

भावार्थ : (इसके बाद गले में अंगुली या मृदु लकड़ी डालते हुए वमन करने के लिए कोशिश करनी चाहिए। बाद में वमन शुरु हो जाता है) उस वमन में पहले औषधि, फिर कफ, तदनंतर पित्त गिर जाये एवं दोषोपशमन व रोगोद्रेक की कमी हो जाये तो अच्छी तरह वमन हो गया है, ऐसा समझना चाहिए। पश्चात् ऐसे वामित मनुष्य को, पेय आदि योग्य अन्नपान की योजना से, अग्नि को अनुकूल कर फिर रोगों की उपशांति के लिए औषध की व्यवस्था करनी चाहिए।

विशेष : वमन आदि के द्वारा शुद्ध किए गए मनुष्य का आहार सेवन क्रमः-

वमनादिकों से शरीर की शुद्धि करने के पश्चात् प्रायः उस मनुष्य की अग्नि मंद हो जाती है। उसे निम्नलिखित क्रम से बढ़ाना चाहिए।

शुद्धि तीन प्रकार की है। प्रधान (उत्तम) शुद्धि, मध्यमशुद्धि, जघन्यशुद्धि। इन तीनों प्रकार की शुद्धियों से शुद्ध करने के पश्चात् उस व्यक्ति को गरम-पानी से स्नान कराकर, भूख लगने पर जिस दिन शुद्धि की हो उसी दिन शाम को या दूसरे दिन प्रातःकाल, रक्तशालि के अन्न को (अग्नि बल के अनुसार) खिलाते हुए, यथाक्रम से तीन-तीन, दो-दो, एक-एक अन्नकालों (भोजन समय) में पेया, विलेपी, कृताकृतयूष तथा दूध सेवन कराना चाहिए। तात्पर्य यह है कि किसी को प्रधान (उत्तम) शुद्धि द्वारा शुद्ध किया हो, उसको प्रथम दिन में दो अन्नकालों (सुबह शाम) में पेया पिलावें, दूसरे दिन प्रथम अन्नकाल में पेया, द्वितीय अन्नकाल में विलेपी तृतीय दिन प्रथम द्वितीय अन्नकाल में विलेपी चौथे दिन प्रथम द्वितीय अन्नकाल में अकृतयूष (दाल का पानी) के साथ, पाँचवें दिन में प्रथम अन्नकाल में कृतयूष के साथ लाल चावल के भात, (अथवा एक अन्नकाल में अकृतयूष दो कालों में कृतयूष के साथ) द्वितीय अन्नकाल तथा छठवें दिन दोनों अन्नकालों में दूध भात देना चाहिए। सातवें दिन स्वस्थ पुरुष के समान आहार देना चाहिए। इसी तरह मध्यमशुद्धि में दो 2 अन्नकालों में, जघन्य शुद्धि में एक 2 अन्नकाल

में पेया आदि देना चाहिए। जघन्यशुद्धि में एक 2 अन्नकाल में पेया आदि देने के कारण, कृतयूष, अकृतयूष इन दोनों तो दे नहीं सकते क्योंकि अन्नकाल एक है। चीज दो है इसलिए इस शुद्धि में या तो अकृतयूष ही देवें, अथवा कृताकृत मिश्रकर के देवें।

ऊपर जो पेयादि देने का क्रम बतलाया है वह सर्व साधारण क्रम है, लेकिन देश, काल, प्रकृति, सात्म्य, दोषोद्रेक आदि के तरफ ध्यान देते हुए, अवस्था विशेष में उस क्रम में कुछ परिवर्तन भी वैद्य कर सकता है। पेय के स्थान में यवागू भी दे सकता है। तीव्राग्नि हो तो प्रारम्भ में ही दूध भात भी दे सकते हैं आदि जानना चाहिए।

पेया : दाल-चावल आदि को चौदह गुण जल में इतना पकावें, जो पीने लायक रहे और दाल आदि के कण भी उसी में रहे उसे पेया कहते हैं।

विलेपी : जो चतुर्गुण जल में तैयार की गई हो, जिस में से दाल आदि के कण नहीं निकाले हो और इस में द्रवभाग अत्यल्प हो अर्थात् वह गाढ़ी हो, उसे विलेपी कहते हैं।

यूष : एक भाग धुली हुई दाल को अठारह गुने जल में पकावें। पकते पकते जब पानी चतुर्थांश रहे तब, वस्त्र में छान लेवें इसको यूष कहते हैं। अर्थात् दाल के पानी को यूष कहते हैं।

कृतयूष : जिस यूष में सोंठ, मिरच, पीपल, घी, सैंधानमक डाल कर सिद्ध करते हैं, उसे कृतयूष कहते हैं।

अकृतयूष : जो केवल दाल का ही यूष हो सोंठ आदि जिसमें नहीं डाला है, उसे अकृतयूष कहते हैं।

वमन गुण

प्रलापगुरुगात्रतां स्वरविभेदनिद्रोद्धतिं। मुखे विरसमग्निमांद्यमधिकास्यदुर्गंधताम्॥
विदाहहृदयामयान्कफनिषेककंठोत्कटं। व्यपोहति विषोल्वणं वमनमत्र संयोजितं॥35॥

भावार्थ : सम्यग् वमन से रोगी का बड़बड़ाना, शरीर का भारीपन, स्वरभेद, निद्राधिकता, मुखविरसता, अग्निमांद्य, मुखदुर्गंध, विदाहरोग, हृदयरोग कफ, कंठरोध, विषोद्रेक आदि बहुत से रोग दूर होते हैं।

वमन के लिए अपात्र

न गुल्मतिमिरोर्ध्वरक्तविषमार्दिताक्षेपक। प्रमढितरवृद्धपांडुगुदजांकुरोत्पीडितान्॥
क्षतोदरविरूक्षितातिकृशगर्भविस्तंभक-क्रिमिप्रबलतुण्डबंधुरतरान्नरान्वामयेत्॥36॥

भावार्थ : गुल्मरोगी, तिमिररोगी, रक्तपित्त, अर्दित, आक्षेपक, प्रमेह, बहुत पुराना पांडुरोग, बवासीर और क्षतोदर से पीड़ित व्यक्ति को एवं रूक्ष शरीर वाले को, गर्भिणी को, स्तंभन करने योग्य रोगीको, क्रिमिरोगी को, दंत रोगी को और अत्यन्त सुखियों को वमन नहीं देना चाहिए।

वमनापवाद

अजीर्णपरिपीड़ितानतिविषोल्वणश्लैष्मिका-नुरोगतमरुत्कृतप्रबलवेदनाव्यापृतान्॥
नरानिह निवारितानपि विपक्वयष्टिर्जलैः। कणोग्रफलकल्पितैर्मृदुतरं तदा छर्दयेत्॥ 37॥

भावार्थ : ऊपर वमन देने को जिनको निषेध किया है, ऐसे रोगी भी कदाचित् अत्यन्त अजीर्ण से पीड़ित हो, विषम विष से पीड़ित हो, कफोद्रिक्त हो, छाती में प्राप्त वात की प्रबल वेदना से पीड़ित हो, तो उनको मुलैठी, पीपल, बच, मेनफल के क्वाथ से मृदु वमन करा देना चाहिए।

कटुत्रिकादि चूर्ण

कटुत्रिकविडंगहिंगुविडसैंधवैलाग्निकान्। सुवर्चलसुरेन्द्रदारुकटुरोहिणीजीरकान्।
विचूर्ण्य घृतमातुलुंगरससक्तक्रादिकैः। पिबन्कफसमीरणामयगणान्जयत्यातुरः॥ 38॥

भावार्थ : त्रिकटु (सोंठ, मिरच, पीपल) वायविडंग, हींग, बिडनमक, सैंधानमक, इलायची, चित्रक, काला नमक, देवदारु, कुटकी,जीरा, इन चीजों का चूर्ण करके घी, मातुलुंग के रस, छाछ आदि में मिलाकर या उनके अनुपान के साथ सेवन से वातजन्य,कफजन्य, रोगसमूह उपशम को प्राप्त होते हैं।

महौषधादि क्वाथ व अनुपान

महौषधवराग्निमंथबृहतीद्वयैरण्डकै-स्सबिल्णसुरदारुपाटलसमातुलुंगैः श्रृतैः॥
घृताम्लदधितक्रदुग्धतिलतैलतोयादिभिर्महातुरमिहान्नपानविधिना सदोपाचरेत्॥ 39॥

भावार्थ : सोंठ, हरड़, बहेड़ा, आंवला, अग्निमंथ, छोटी व बड़ी कटेली, एरण्ड, देवदारु, पाढल, मातुलुंग बेलगिरि इनके क्वाथ से सिद्ध घी, आम्ल पदार्थ, दही, छाछ, दूध, तिलका तेल, पानी आदि से अन्नपान विधिपूर्वक रोगी का उपचार करना चाहिए।

पक्वाशयगत वात के लिए विरेचन

अथ प्रकुपितेऽनिले विदितभूरिपक्वाशये। स्नुहित्रिकटुदुग्धकल्कपयासा विपक्वं घृतं॥
सुखोष्णलवणांभसानिलविनाशहेतुं तथा। पिबेत् प्रथमसंस्कृतातिहितदेहपूर्वक्रियः॥ 40॥

भावार्थ : यदि वह वायु पक्वाशय में कुपित हो जाये तो थूहर का दूध, त्रिकटु, (सोंठ, मिरच, पीपल) गाय का दूध इनके कल्क व दूध से गोघृत को सिद्ध करना चाहिए। वात को नाश करने वाले इस विरेचन घृत को, स्नेहन व स्वेदन से जिसका शरीर पहले ही संस्कृत किया गया हो, ऐसे मनुष्य को सुखोष्ण (गुनगुना) नमक के पानी में डाल कर पिलाना चाहिए। इससे विरेचन होकर वात शांत हो जाता है।

वातनाशक विरेचकयोग

त्रिवृत्त्रिकटुकैस्समं लवणचित्रतैलान्वितं। पिबेदनिलनाशनं घृतविमिश्रितं वा पुनः॥
महौषधहरीतकी लवणकल्कमुष्णोदकैस्सतैलसितपिप्पलीकमथवा त्रिवृद्घातनुत्॥ 41॥

भावार्थ : निसोत[1], त्रिकटु (सोंठ, मिरच, पीपल) सैंधानमक, इनके चूर्ण को एरण्डतैल अथवा घी के साथ पीने से, सोंठ, हरीतकी, सैंधानमक इनके कल्क को गरम पानी के साथ व शक्कर पीपल, निसोत के कल्क व चूर्ण को तेल के साथ सेवन करने से विरेचन होकर पक्वाशयगत वात दूर हो जाता है।

विरेचन फल

सुदृष्टिकरमिष्टमिंद्रियबलावहं बुद्धिकृत्। शरीरपरिवृद्धिमिद्धमनलं वयस्थापनम्॥
विरेचनमिहातनोति मलमूत्रदोषोद्भव-क्रिमिप्रकरकुष्टकोष्ठगतदुष्टरोगापहम्॥ 42॥

भावार्थ : विरेचन से दृष्टि तीक्ष्ण होती है, इन्द्रियों का बल बढ़ता है, बुद्धि की वृद्धि होती है। शरीर की शक्ति बढ़ती है, अग्नि बढ़ती है। दीर्घायुषी हो जाता है एवं मलमूत्र के दोषों से उत्पन्न होने वाले रोग, क्रिमिरोग, कुष्ठरोग, कोष्ठगत दुष्टरोग आदि को यह विरेचन दूर करता है।

विरेचन के लिए अपात्र

सशोकभयपीडितानतिकृशातिरूक्षाकुलान्। श्रमक्लमतृषानजीर्णरुधिरातिसारान्वितान्॥
शिशुस्थविरगर्भिणीविदितमद्यपानादिकान-संस्कृतशरीरिणः परिहरेद्विरेकैस्सदा॥ 43॥

भावार्थ : शोक व भय से पीड़ित, अतिकृश, अतिरुक्ष, अत्यन्त कुलित, श्रम, कर्म, तृषा, अजीर्ण, रक्तातिसार से युक्त, बाल, वृद्ध, गर्भिणी, मद्यपायी, स्वेहन, स्वेदन आदि से असंस्कृत शरीर वाले इत्यादि प्रकार के लोगों को विरेचन नहीं देना चाहिए।

विरेचनापवाद

तथा परिहृतानपि प्रबलपित्तसन्तापिता-नतिक्रिमिगतोदरानपि च मूत्रविष्टाम्भिनः॥
सितत्रिकटुचूर्णकैरहिमवारिणा वान्वितै-स्त्रिवृल्लवणनागरैमृदुविरैचनैर्योजयेत्॥ 44॥

भावार्थ : ऊपर विरेचन के लिए निषेध किए हुए रोगी भी यदि प्रबल पित्तोद्रेक से संतप्त हो, उदर में क्रिमियों की अत्यधिकता हो, मूत्रबद्ध हो तो उनको शक्कर त्रिकुट के चूर्ण को गरम पानी में मिलाकर विरेचन देना चाहिए अथवा निसोत, नमक, सोंठ के कषाय से चूर्ण से मृदु विरेचन कराना चाहिए।

सर्वशरीरगत वातचिकित्सा

समस्ततनुमाश्रितं पवनमुग्रमास्थापनैः। प्रवृद्धमनुवासैनरिह जयेद्यथोक्तक्रमात्॥
निरूह इति सर्वदोषहरणात्तथास्थापनं। वयस्थितिनिमित्ततोऽर्थवशतो निरुक्तं मया॥ 45॥

1. यहाँ निसोत आदि कितना प्रमाण लेना चाहिए! इसका उल्लेख नहीं किया है। आयुर्वेदशास्त्र का नियम है कि जहाँ औषधि प्रमाण नहीं लिखा हो वहाँ सबको समभाग (बराबर) लेना चाहिए! इसलिए यहाँ और आगे भी ऐसे स्थानों में समभाग ही ग्रहण करें।

भावार्थ : समस्त शरीर में व्याप्त (कुपित) वायु को विधि पूर्वक आस्थापन, अनुवासन बस्तियों से शमन करना चाहिए। सम्पूर्ण दोषों को अपहरण करने से उसका नाम निरूह, वयस्थापन करने से आस्थापन पड़ गया है। इस प्रकार उन दोनों बस्तियों के सार्थक नाम है।

अनुवासन बस्ति का प्रधानत्व

अथान्नमनुवासनादनुवसन्न दुष्यत्यपि। प्रधानमनुवासनं प्रकटितं पुराणैः पुरा॥
तथोभयमपीह बस्तियुतनेत्रसल्लक्षण-द्रवप्रवरभेषजामयवयप्रमाणैर्ब्रुवे॥ 46॥

भावार्थ : अनुवासन बस्ति का उपयोग करने पर भी आहारादिक में (अग्निमांद्य आदि) कोई दोष नहीं आता है। इसलिए इस अनुवासन बस्ति को महर्षि लोग मुख्य बतलाते हैं। आगे हम आस्थापन अनुवासन बस्तियों की विधि रोग, वय अनुकूल प्रमाण के साथ-साथ बस्ति से युक्त पिचकारी का लक्षण, उसके प्रयोग में आने वाले द्रव द्रव्य, उत्कृष्ट औषधि वगैरह का निरुपण करेंगे।

प्रतिज्ञा

जिनप्रवचनांबुधेर्विदितचारुसंख्याक्रमा। दिहापि गणनाविधिः प्रतिविधास्यते प्रस्तुतः॥
विचार्य परमागमादधिगतो बुधैर्गृह्यते। सुखग्रहणकारणादुरुतरार्थसंक्षेपतः॥ 47॥

भावार्थ : जैनशास्त्र रूपी समुद्र में बस्ति के विषय में गणना के जो निरूपण है, उसी को अनुसरण करके यहाँ पर कथन किया जावेगा। बुद्धिमान लोग परमागम से विचार किए हुए विषय को ही ग्रहण करते है। क्योंकि विस्तृत विषय को भी संक्षेप व सुलभता से जानने के लिए परमागम ही साधन है।

बस्तिनेत्रलक्षण

दृढातिमृदुचर्मनिर्मितनिरास्रवच्छागल - प्रमाणकुडबाष्टकद्रवमितोरुबस्त्यन्वितम्।
षडष्टगुणसंख्यया विरचितांगुलीभिः कृतः। त्रिनेत्रविधिलक्षणं शिशुकुमारयूनां क्रमात्॥ 48॥

भावार्थ : निरूह व अन्वासन बस्ति देने के लिए एक ऐसी नेत्र (पिचकारी) बनावें, जो मजबूत व मृदु चर्म से निर्मित, छिद्र रहित बस्ति से संयुक्त हो, जिसमें आठ कुडब (128 तोले) (?) द्रव पदार्थ समा सके, जिसकी लम्बाई, बालकों के लिए 6 अंगुल, कुमारों के लिए 8 अंगुल, जवानों के लिए 10 अंगुल प्रमाण हो।

तथैकनय[1]-रत्न[2]-भेदगणितांगुलीसंस्थिताक्रमोन्नतसुकर्णिकान्यपि कनिष्ठिकानामिका॥
स्वमध्यमवरांगुलात्मपरिणाहसंस्कारिता-न्यनिंद्यपशुबालधिप्रतिमवर्तुलान्यग्रतः॥ 49॥

---

1. द्विविध नय-द्रव्यर्थिक पर्यायार्थिक, द्रव्य की विवक्षा करने वाला नय द्रव्यार्थिक व पर्याय की विवक्षा करने वाला पर्यायार्थिक कहलाता है।
2. रत्नत्रय-सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, तत्त्वों पर यथार्थ विश्वास (Good Conduct) रखना सम्यग्दर्शन तत्त्वों के यथार्थ ज्ञान (Good Knowledge) सम्यग्ज्ञान व हेयोपादेय रूप से तत्त्वों मे विवेक जागृति होकर आचरण करना (Good Character) सम्यक्चारित्र कहलाता है।

भावार्थ : बस्तिनेत्र (पिचकारी) के अग्रभाग में एक गोल कर्णिका[1] होनी चाहिए जिसका प्रमाण (शिशु कुमार, युवा पुरुषों की बस्ति में) एक, दो, तीन अंगुल का प्रमाण होना चाहिए। नेत्र की मोटाई अग्रभाग में कनिष्ठांगुली, मध्यमभाग में अनामिका (अंगूठे के पास के) अंगुली, मूल में बीच की अंगुली के बराबर होना चाहिए एवं श्रेष्ठ गोपुच्छ के समान आकृति से युक्त और अग्रभाग गोल होना चाहिए।

बस्तिनेत्र निर्माण के योग्य पदार्थ व छिद्रप्रमाण

सुवर्णवरतारताम्रतरु निर्मितान्यक्षता-न्यनूनगुलिकामुखान्यतिविपक्व मुद्गाढकी ॥
कलायगतिपातितात्मसुषिरानुधारान्विता-न्यमूनि परिकल्पयेदुदितलक्षनेत्राण्यलम् ॥50 ॥

भावार्थ : यह पिचकारी सुवर्ण, उत्तम चाँदी, ताम्र व लकड़ी आदि से बनाई हुई होनी चाहिए। वह अक्षत हो, उसके मुख में एक सुंदर गोली होनी चाहिए। अंदर(अग्रभाग में) का छिद्र शिशु, कुमारों युवावस्था वालों के लिए, क्रम से, पके हुए मूंग, अरहर व मटर के बराबर होना चाहिए। इस प्रकार के लक्षणों से पिचकारी तैयार करें।

बस्ति के लिए औषधि

सतैलघृतदुग्धतक्रदधिकांजिकाम्लद्रवै - स्त्रिवृन्मदनचित्रबीजकविपक्वमूत्रैस्समम् ॥
खजाप्रमथितैश्रृतैस्सह विमिश्रितैः कल्कितै - र्महौषधमरीचमागधिकसैंधवोग्रान्वितैः ॥51 ॥
सदेवतरुकुष्टहिंगुबिडजरिकैलात्रिवृद्यवान्यति - विषासयष्टिसितसर्षपैस्सर्षपैः ॥
सुपिष्टवरभेषजैः पलचतुर्थभागांशकै। र्विलोड्य मथितं कदुष्णमिह सेचयेद्बस्तिषु ॥52 ॥

भावार्थ : बस्तिप्रयोग करने के लिए, तैल, घी, दूध, तक्र, दही, कांजी ये द्रवपदार्थ, निसोत, मैनफल, एरण्डबीज, इनके काढ़ा और गोमूत्र, इनको यथा मात्रा मिलाकर मंथन करें। इसमें सोंठ, मिरच, पीपल, सैंधानमक, बच, देवदारु, कूट, हींग, बिडनमक, जीरा, इलायची, निसोत, अजवायन, अतीस, मुलैठी, सफेद सरसों, काली सरसों इन औषधियों को एक एक तोला प्रमाण लेकर बारीक पीस लेवें और उपरोक्त द्रवपदार्थ में इस कल्क को मिलाकर, मंथनी से मथें। इस प्रकार साधित औषध, अल्प उष्ण रहने पर, बस्ति नेत्र (पिचकारी) में डालें।

बस्ति के लिए औषध प्रमाण

इहैकनयसच्चतुः कुडवसंख्यया सद्द्रवा-न्निषिच्य निपुणाः पुरा विहितनेत्रनाडीमुखम् ॥
स्वदक्षिणपदांगुलावधृतवामपादस्थितं। द्रवोपरि निबंधयेद्विहितबस्तिवातोद्गमम् ॥ 53 ॥

भावार्थ : उस पिचकारी में (शिशु, कुमार, युवकों को) क्रम से एक कुडब (16 तोले) दो

1. यह इसलिए बनायी जाती है कि सम्पूर्ण पिचकारी के पूर्ण भाग को गुदा के अंदर जाने से रोके।

कुडब (32 तोले) चार कुडब (64 तोला) उपरोक्त द्रव पदार्थ को भरकर, उस पिचकारी को, वायें पाद के सहारे रखकर दाहिने पैर की अंगुलिओं से पकड़कर, उसके मुख में बस्ति को बाँधे, पश्चात् उससे वायु को निकाल देवें।

औषध का उत्कृष्ट प्रमाण

वयोबलशरीरदोषपरिवृद्धिभेदादपि। द्रवप्रवणता भवेद्गुणनया गुरुद्रव्ययोः॥
न च प्रमितिरूर्जिता कुडबषट्कतोन्या मता। तदर्धमिह पक्वतैलघृतयोः प्रमाणं परम्॥54॥

भावार्थ : वय, बल, शरीर, दोषों की वृद्धि व हानि गुरुद्रव्य, लघुद्रव्य की अपेक्षा से, द्रवद्रव्यों के प्रयोग होता है। तात्पर्य यह कि द्रवद्रव्य का उपरोक्त प्रमाण से वय आदि को देखते हुए कुछ घटा-बढ़ा भी सकते हैं, लेकिन ज्यादा से ज्यादा छह कुडब तक प्रयोग कर सकते हैं। इससे अधिक नहीं। औषधियों द्वारा सिद्ध किया हुआ तैल या घृत की मात्रा उपरोक्त द्रवद्रव्य के प्रमाण से अर्धांश हैं।

बस्तिदान क्रम

निपीड्य निजवामपार्श्वमिहजानुमात्रोच्छ्रिते। शयानमिति चातुरं प्रतिवदेद्विषग्मंचके॥
प्रवेशय गुदं स्वदक्षिणकरेण नेत्रं शनै-। र्घृताक्तमुपसंहरन् स्वमुचितांघ्रिवामेतरम्॥ 55॥

भावार्थ : घुटने के बराबर ऊँचे तख्त में वामपार्श्व को दबाते हुए(उसी करवट से) रोगी को सुलाकर उससे कहे कि अपने दाँये पैर को सिकोड़कर, अपने दाहिने हाथ से धृत से लिप्त उस बस्ति (पिचकारी) को घृत से चिकना किए गए गुदा में, धीरे-धीरे प्रवेश कराओ।

प्रवेश्य शनकैस्सुखं प्रकटनेत्रनाडीमुखम्। प्रपीडयतु बस्तिमप्रचलितानुवंशस्थितिम्॥
द्रवक्षयविदातुरं विगमनेत्रमाश्वागमात्। करेण करमाहरन्पदभवोत्कुटीकासनम्॥ 56॥

भावार्थ : जिस का मुख खुला हुआ है ऐसी बस्ति नालिका (पिचकारी) को, पूर्वोक्त क्रम से, धीरे-धीरे प्रवेश कराने के बाद, वंशस्थि (पीठ के बीच में जो गले से लेकर कमर तक रहने वाली हड्डी) की और झुकाकर निश्चल रूप से पिचकारी को दबाना चाहिए। द्रव पदार्थ खत्म होने के बाद, उस बस्ति को शीघ्र ही हाथों-हाथ, गुदाद्वार से निकालना चाहिए। पश्चात् प्रयुक्त औषधि के बाहर निकालने के लिए, रोगी को (एक मुहूर्त[1] पर्यंत) उकरु बैठालना चाहिए।

सुनिरूढ लक्षण

क्रमाद्भवपुरीषदोषपरिशुद्धिमालोक्यतत्पुटत्रयमिहाचरेदपि चतुर्थपंचान्हिकम्॥
यथा कफविनिर्गमो भवति वेदनानिग्रह-स्तथैव समुपाचरेन्न च निरूहसंख्या मता॥57॥

भावार्थ : उपरोक्त क्रम से निरूहबस्ति प्रयोग करने के बाद सबसे पहले प्रयुक्त द्रव पदार्थ

1. एक मुहूर्त (दो घड़ी) के अंदर निरूहनबस्ति पेट से बाहर निकल न जावे तो रोगी की मृत्यु होने की सम्भावना होती है। कहा भी है - **न आगतौ परमः कालो मुहूर्तो मृत्यवे परं।**

पश्चात् यथाक्रम से मल, वात, पित्त, कफ बाहर निकल आवें एवं रोग की उपशांति होवे, तो जानना चाहिए कि निरूहबस्ति ठीक-ठीक हो गयी है अर्थात् यह सुनिरूढ का लक्षण है। यदि सुनिरूढता का लक्षण प्रकट न हो तो फिर चार-पाँच दिन तक क्रमशः तीन बस्तिका प्रयोग करना चाहिए। लेकिन निरूहबस्ति के विषय में यह कोई नियम नहीं है कि एक, दो, तीन या चार बस्ति प्रयोग करें। जब तक कफ बाहर नहीं आता है और रोग की उपशांति नहीं होती है, तब तक बराबर बस्ति देते जाना चाहिए।

निरूह के पश्चाद्विधेय विधि व अनुवासनबस्तिप्रयोग

ततश्च सुविशुद्धकोष्ठमुपधौतमुष्णोदकैः। स्वदोषशमन प्रयोगलघुभोजनानंतरम्॥
यथोक्तमनुवासनं विधियुतं नियुज्याचरे-द्विषग्जघनपादताडन सुमंचकोत्क्षेपणैः॥58॥

भावार्थ : उपर्युक्त प्रकार से बस्तिकर्म से कोष्ठशुद्धि होने के बाद गरम पानी से स्नान करा कर तत्तदोषों को शमन करने वाले औषध योगों से सिद्ध किए गए लघुभोजन कराना चाहिए। तदनंतर उसे विधिपूर्वक अनुवासन बस्ति देनी चाहिए। अनुवासन बस्तिगतद्रव्य शीघ्र बाहर नहीं आवें, इसके लिए रोगी को चित्त सुलाकर जघन स्थान व पाद को ताड़न करना चाहिए। तख्त को ऊँचा उठाना चाहिए।

अनुवास के पश्चाद्विधेय विधि

स्वदक्षिणाकरं निपीड्य शयने सुखं संविशेत्। स्वमेवमिति तं वदेन्मलविनिर्गमाकांक्षया॥
ततोऽनिलपुरीषमिश्रघृततैलयोर्वागमात्। प्रशस्तमनुवासनं प्रतिवदन्ति तद्विदिनः॥59॥

भावार्थ : दाहिने हाथ को दबाकर अच्छी तरह सुखपूर्वक सोने के लिए उसे कहना चाहिए। जिससे मल शीघ्र नहीं निकल[1] सके। उसके बाद वायु व मल से मिश्रित (पहले प्रयोग किया हुआ) तेल वा घी निकल जावे तो बस्तिकर्म को जानने वाले उत्तम अनुवासन बस्ति हुई ऐसा कहते हैं।

अनुवासन का शीघ्र विनिर्गमनकारण व उसका उपाय

पुरीषबहुलान्मरुत्प्रबलतातिरूक्षादपि। स्वयं घृतसुतैलयोरातिकनिष्ठमात्रान्वितात्।
स च प्रतिनिवर्तते घृतमथापि तैलं पुन-स्ततश्च शतपुष्पसैंधवयुतं नियोज्यं सदा॥ 60॥

भावार्थ : कोष्ठ में मल का संचय, वात का प्रकोप और रूक्षत्व (रूखापना) के अधिक होने से व प्रयुक्त घृत व तैल की मात्रा अत्यल्प होने से, प्रयुक्त अनुवासन बस्ति शीघ्र ही लोट आवें तो, घृत या तेल के साथ सोंफ, सैंधानमक को मिलाकर फिर बस्ति प्रयोग करना चाहिए।

अनुवासनबस्ति की संख्या

तृतीयदिवसात्पुनःपुनरपीह संयोजये-द्यथोक्तमनुवासनं त्रिकचतुष्कषष्ठाष्टमान॥
शरीरबलदोषविद्विविधवेदनानिग्रहं। निरूहमपि योजयेत्तदनुवासमध्ये पुनः॥ 61॥

1. अनुवासनबस्ति प्रयोग करते हो बाहर आवें तो गुणकारी नहीं होती है। इसलिए, पेट के अंदर थोड़ी देर ठहरना अत्यावश्यक है।

अर्थ : पुनः तीसरे दिन में रोगी के शरीर बल, दोष प्रकोप वेदना की उप शांति आदि पर ध्यान देते हुई उसे तीन, चार, छह, आठ तक अनुवासन बस्ति देनी चाहिए। उस अनुवासन बस्ति के बीच में आवश्यकता हुई तो निरूहबस्तिका प्रयोग भी करना चाहिए।

बस्तिकर्म के लिए अपात्र

अजीर्णभयशोकपाण्डुमदमूर्च्छनारोचक-भ्रमश्वसनकासकुष्ठजठरार्तितृष्णान्वितान्॥
गुदांकुरनिपीडितांस्तरुणगर्भिणीशोषिणः। प्रमेहकृशदुर्बलाग्निपरिबाधितोन्मादिनः॥ 62॥
उरःक्षतयुतान्नरानधिकवातरोगादृते। बलक्षयविशोषितान्प्रतिदिनं प्रलापान्वितान्॥
अतिस्तिमितगात्रगाढतरनिद्रया व्याकुलान्। सदैव परिवर्जयेदुदितबस्तिसत्कर्मणा॥ 63॥

भावार्थ : अजीर्ण, भय, शोक, पाण्डुरोग, मद, मूर्छा, अरुचि, भ्रम, श्वास, कास, कुष्ठ, उदररोग, तृषा बवासीर, अल्पवयस्क, गर्भिणी, क्षय, प्रमेह, कृश, दुर्बलाग्नि, उन्माद इत्यादि से पीड़ित एवं प्रबल वातरोग से रहित उरक्षत, शक्ति का ह्रास, शोष, प्रलाप, गात्रस्तब्ध व गाढ़ निद्रा से व्याकुलित व्यक्तियों को, बस्ति कभी नहीं देनी चाहिए।

बस्तिकर्म का फल

न चास्ति पवनामयप्रशमनक्रियान्या तथा। यथा निपुणबस्तिकर्म विदधाति सौख्यं नृणां।
शरीरपरिवृद्धिमायुरनलं बलं वृष्यतां। वयस्थितिमरोगतामममलवर्णमप्यावहेत्॥ 64॥

भावार्थ : वात रोगों के उपशमन के लिए (अच्छी तरह से प्रयुक्त) बस्तिकर्म से अधिक उपयेागी अन्य कोई क्रिया नहीं है। उचित रूप से बस्तिकर्म किया जाये, तो वात का शमन होकर रोगी को सुख होता है, शरीर में शक्ति बढ़ती है, आयुष्य भी बढ़ता है, अग्नि तेज हो जाती है। बाजीकरण होता है। वयस्थापन (काफी आयु होने पर भी, शरीर यौवनवस्था सदृश सुदृढ़ रहना) होता है, निरोगता प्राप्त हो जाती है। शरीर की कांति भी बढ़ती है।

बस्तिकर्म का फल

बलेन गजमश्वमाशुगमनेन बुध्या गुरुं । दिवाकरनिशाकरावपिच तेजसा कांतितः॥
सुवर्णमिह सूक्ष्मदृष्टिगुणतोंऽगजं रूपतो। जयेदमलिनानुवासनशतोपयोगान्नरः॥ 65॥

भावार्थ : ठीक-ठीक अनुवासन बस्ति यदि सौ संख्या में ले ली जाये तो वह मनुष्य बल से हाथी को, शीघ्र गमन से घोड़े को, बुद्धि से बृहस्पति को, तेज से सूर्य व चंद्र को, कांति से सुवर्ण को सूक्ष्म दृष्टि गुण से हाथी को, रूप से कामदेव को जीतेगा इतनी शक्ति उस अनुवासन बस्ति में है।

शिरोगत वायु की चिकित्सा

शिरोगतमिहानिलं शिरसि तैलसंतर्पणै। र्विपक्कवरतैलनस्यविधिना जयेत्संततम्॥
महौषधिशिरीषशिग्रुसुरदारुदार्वीयुतः। करंजखरमंजरीरुचकहिंगुकांजीरैकः॥ 66॥

प्रलेपनमपीह तैः कथितभेषजैर्वाचरेद्विपक्वघनकोषधान्यकृतसोष्णसंस्वेदनैः॥
यथोक्तमुपनाहनैस्सुखतरैश्शिरोबस्तिभि। र्जयेद्रुधिरमोक्षणैरनिलमुत्तमांगस्थितम्॥67॥

भावार्थ : मस्तकगत वायु को मस्तक में तैल मालिश करना व तैल भिगोया गया पिचु (पोये) रखना, सोंठ, सिरीस का बीज, सेजन, देवदारु, दारुहल्दी, करंज, लटजीरा (अपामार्ग), कालानमक, हींग, कांजीर, जीरा इन औषधियों से सिद्ध किए गए तैल के नस्य देना और इन ही (उपरोक्त) औषधियों के लेप करना, नागरमोथा, कड़वी तुरई, धनिया इन औषधियों द्वारा उष्ण स्वेदन देना विधिपूर्वक उपनाह(पुलटिश) करना, योग्य शिरोबस्ति व रक्तमोक्षण करना इत्यादि उपायों से जीतना चाहिए।

नस्य का भेद

नस्यं सर्वं तच्चतुर्धा विभक्तं। स्नेहेन स्याद्रूक्षजातौषधैश्च॥
स्नेहान्नस्यं चावमर्षं च योज्यम्। वाते पित्ते तद्वयव्यापृते वा॥68॥

भावार्थ : तैल आदि चिकना पदार्थ और अपामार्ग आदि रूक्ष पदार्थ, इस प्रकार दो प्रकार के औषधियों से नस्यकर्म[1] किया जाता है। उस स्नेहनस्य का मर्श[2], अवमर्श (प्रतिमर्श) नाम से दो भेद है और रूक्ष औषधियों द्वारा किए जाने वाले नस्य के अवपीड़न[3], प्रधमन[4] इस प्रकार दो भेद हैं। चूँकि विरेचन बृंहण आदि जो नस्य के भेद हैं के सभी उपरोक्त स्नेह व रूक्ष पदार्थों द्वारा ही होते हैं, इसलिए (मुख्यतः) सम्पूर्ण नस्यों के भेद चार हैं। वात, पित्त या वातपित्तों से उत्पन्न शिरो रोगों में अवमर्श नस्य को उपयोग में लाना चाहिए।

अवमर्ष नस्य

यद्यन्नस्यं तत्त्रिवारं प्रयोज्यं। यावद्वक्त्रं प्राप्नुयात्स्नेहबिंदुः॥
तं चाप्याहुश्चावमर्षं विधिज्ञाः। रूक्षद्रव्यैर्यत्तदत्र द्विधा स्यात्॥69॥

भावार्थ : सर्वत्र नस्य को त्रिवार प्रयोग करना चाहिए। जब वह नस्यगत स्नेहबिन्दु मुख में आ जावे उसे अवमर्ष नस्य कहते हैं। इसकी मात्रा दो बिंदु है। रूक्षद्रव्यगत नस्य उपर्युक्त प्रकार दो तरह का है।

अवपीड़न नस्य

व्याध्यावपीड़नमिति प्रवदंति नस्यं। श्लेष्मानिले मरिचनागरपिप्पलीनाम्॥
कोशातकी मरिचशिग्व्रपमार्गबीज-। सिंधूत्थचूर्णमुदकेन शिरोविरेकम्॥ 70॥

1. जो औषध नाक के द्वारा ग्रहण किया जाता है, उसे नस्य कहते हैं।
2. उत्तम, मध्यम, जघन्य यथाक्रम 10-8-6 बिन्दु स्नेह जो नाक में डाला जाता है, उसे मर्शनस्य कहते हैं।
3. रूक्ष औषधियों के कल्क क्वाथ स्वरस आदि से जो नस्य दिया जाता है, उसे अवपीड़न नस्य कहते हैं।
4. जो सूखे चूर्ण को नली में भरकर नासा रंध में फूका जाता है, उसे प्रधमन नस्य कहते हैं।

भावार्थ : श्लेष्मवात रोग में मिरच, सोंठ, पीपल के अवपीडन नस्य को देना चाहिए एवं कडुवी तुरई, मिरच, सैंजन, अपामार्ग के बीज व सैंधानमक के चूर्ण को पानी में पीसकर शिरो विरेचनार्थ प्रयुक्त करना चाहिए।

नस्य के लिए अपात्र

नस्येत्वेते वर्जनीया मनुष्याः। स्नाता स्नातुं प्रार्थयन्भुक्तवंताः॥
अन्नक्षीणा गर्भिणी रक्तपित्ताः।श्वासैस्सद्यः पीनसेनाभिभूताः॥71॥

भावार्थ : स्नान किए हुए व करने की इच्छा रखने वाले को, भोजन किए हुए को, वमन किए हुए को, बहुत कम जीमने वाले को, गर्भिणी और रक्त पित्ती को, श्वास रोग से व नवीन पीनस रोग से पीड़ित व्यक्ति को नस्य प्रयोग नहीं करना चाहिए।

नस्यफल

एतच्चतुर्विधमपि प्रथितोरुनस्यं। कृत्वा भवंति मनुजा मनुजायुषस्ते॥
साक्षाद्वलीपलितवार्जितगात्रयष्टिसाराश्शशांककमलोपमचारूवक्त्राः॥ 72॥

भावार्थ : इन उपर्युक्त चारों प्रकार के नस्यों के उपयोग करने से मनुष्य दीर्घायुषी होते हैं, शरीर में वली नहीं पड़ती है, बाल सफेद नहीं होते है। उनका मुख चंद्रमा के समान कांतिमान्, कमल के समान सुंदर हो जाता है एवं वे लोक में सर्वगुणसम्पन्न होते हैं।

अंतिम कथन

इति जिनवक्त्रनिर्गतसुशास्त्रमहांबुनिधेः। सकलपदार्थविस्तृततरंगकुलाकुलतः॥
उभयभवार्थसाधनतटद्वयभासुरतो। निसृतमिदं हि शीकरनिभं जगदेकहितम्॥ 73॥

भावार्थ : जिसमें सम्पूर्ण द्रव्य, तत्त्व पदार्थ रूपी तरंग उठ रहे हैं, इहलोक-परलोक के लिए प्रयोजनीभूत साधन रूपी जिसके दो सुंदर तट हैं, ऐसे श्रीजिनेन्द्र के मुख से उत्पन्न शास्त्र समुद्र से निकली हुई बूँद के समान यह शास्त्र है। साथ में जगत् का एक मात्र हित साधक है। इसलिए ही इसका नाम कल्याणकारक है।

इत्युग्रादित्याचार्याकृत कल्याणकारके चिकित्साधिकारे
वातरोगाचिकित्सितं नामादितोऽष्टमः परिच्छेदः।

इत्युग्रादित्याचार्यकृत कल्याणकारक ग्रन्थ के चिकित्साधिकार में विद्यावाचस्पतीत्युपधिविभूषित **वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री** द्वारा लिखित **भावार्थदीपिका** टीका में वातरोगाधिकार नामक **आठवाँ परिच्छेद** समाप्त हुआ।

अथ नवम परिच्छेदः

पित्तरोगाधिकारः

प्रतिज्ञा

स्तुत्वा जिनेन्द्रमुपसंहृतसर्वदोषं। दोषक्रमादखिलरोगविनाशहेतुम्॥
पित्तामयप्रशमनं प्रशमाधिकानां। वक्ष्यामहे गुरुजनानुमतोपदेशात्॥ 1॥

भावार्थ : सम्पूर्ण दोषों से रहित एवं दूसरों के समस्त रोगों को नाश करने के लिए कारण ऐसे श्री जिनेन्द्र भगवंत को नमस्कार कर दोषों के क्रम से पित्तरोग के उपशमन विधि को प्रशम आदि गुण जिनमें अधिक पाया जाता है, उन मनुष्यों के लिए गुरूपदेशानुसार प्रतिपादन करेंगे।

पित्तप्रकोप में कारण व तज्जरोग

कट्वम्लरूक्षलवणोष्णविदाहिमद्य-सेवारतस्य पुरुषस्य भवंति रोगाः॥
पित्तोद्भवाः प्रकटमूर्छनदाहशोष-विस्फोटनप्रलपनातितृषाप्रकाराः॥ 2॥

भावार्थ : कटु (चरपरा) खट्टा, रूखा, नमकीन, उष्ण व विदाहि आहारों को और मद्य को अत्यधिक सेवन करते रहने से, पित्त प्रकुपित होता है। इस से मूर्च्छा (बेहोश) दाह (जलन) शोष (सूखना) विस्फोट (फफोला) प्रलाप तृषा आदि रोगों की उत्पत्ति होती है।

पित्त का लक्षण व तज्जन्य रोग

पित्तं विदाहि कटुतिक्तरस सुतीक्ष्णं। यत्र स्थितं दहति तत्र करोति रोगान्॥
सर्वांगगं सकलदेहपरीतदाह-तृष्णाज्वरभ्रममदास्रमहातिसारान्॥ 3॥

भावार्थ : विदहि, कटु, तिक्तरस और तीक्ष्ण, ये पित्त का लक्षण हैं। जहाँ वह प्रकुपित होकर रहता है उस स्थान को जलाते हुए वहीं रोगों को पैदा करता है। यदि वह प्रकुपित पित्त सर्वांग में प्राप्त हो तो सम्पूर्ण शरीर में दाह, प्यास, ज्वर, भ्रम, मद, रक्तपित्त, अतिसार आदि अनेक रोग उत्पन्न होते हैं।

पित्तप्रकोप का लक्षण

आरक्तलोचनमुखः कटुवाक्प्रचण्डः। शीतप्रियो मधुरमृष्टरसान्नसेवी॥
पीतावभासुरवपुःपुरुषोऽतिरोषी। पित्ताधिको भवति वित्तपतेः समानः॥ 4॥

भावार्थ : पित्तोद्रेकी का मुख व नेत्र लाल-लाल होते हैं। कटुवचन बोलता है, उग्र दिखता है। उसे ठण्ड अधिक प्रिय रहती है। मधुर व स्वादिष्ट भोजन करने की उसे इच्छा रहती है। शरीर पीले

वर्ण का हो जाता है। वह श्रीमंत मनुष्य के समान अति क्रोधी हुआ करता है।

पित्तोपशमनविधि

शीतं विधानमधिकृत्य तथा प्रयत्ना-च्छीतान्नपानमतिशीतलवारिधारा- ॥
पाताभिषेकहिमशीतगृहप्रवेशैः। शीतानिलैश्शमयति स्थिरपित्तदाहः ॥5॥

भावार्थ : पित्तोशमन करने के लिए, मुख्यतया शीत क्रिया करनी चाहिए। इसलिए प्रयत्नपूर्वक शीत अन्नपानादि का सेवन, ठण्डे पानी की धारा छोड़ना, स्नान, ठण्डे मकान में रहना, ठण्डी हवा इत्यादि से पित्त का प्रबल जलन दूर हो जाती है।

पित्तोपशमन का बाह्य उपाय

तत्राभितोऽभिनवयौवनभूषणेन। संभूषिता मधुरवाक्प्रसरप्रगल्भाः ॥
कान्तातिकान्तकठिनात्मकुचैकभारैः।पाठीनलोचनशतप्रभवैः कटाक्षैः॥6॥
स्निग्धैर्मनोहरतरैर्मधुराक्षराढ्यै - स्सम्भाषितैश्शशिनिभाननपङ्कजैश्च॥
नीलोत्पलाभनयनैर्वनितास्तमाशु। संल्हादयेयुरतिशीतकरावमर्षैः॥ 7॥

भावार्थ : पैत्तिक रोगी को चारों तरफ से, नवीन यौवन व सुंदर आभूषणों से भूषित अत्यन्त मधुर वचन बोलने वाली स्त्रियाँ, अपनी अपनी सुमनोहर कठिन कुचों से, मत्स्य जैसी सुंदर आँखों से उत्पन्न कटाक्ष से, प्रेमयुक्त अतिमनोहर व मधुराक्षर संयुक्त मीठे सम्भाषणों से, चन्द्रोपम मुखकमल से, नीलोपलसदृश अक्षियों से, अतिशीतल हाथों के स्पर्श से शीघ्र ही संतोषित करे तो पित्तोपशमन होता है।

पित्तोपशमकारक अन्य उपाय

स्रक्चंदनैर्विमलसूक्ष्मजलार्द्रवस्त्रैः। कल्हारहारकदलीदलपद्मपत्रैः॥
शीतांबुशीकरकणप्रकरावकीर्णैः। निर्वापयेदरुणपल्लवतालंवृतैः॥ 8॥

भावार्थ : पुष्प माला धारण, चन्दनलेपन, पानी में भिगोया हुआ पतला वस्त्रधारण, कमलनाड़ी का हार पहनना, केले की पत्ती और कमलपत्ती को ऊपर नीचे बिछाकर सोना, ठण्डे पानी के सूक्ष्म कणों से प्रक्षेपण, कोंपल व पंखे की शीतल हवा, इत्यादि ठण्डे पदार्थों के प्रयोग से पित्तोपशमन करना चाहिए।

पित्तोपशमक द्राक्षादि योग

द्राक्षासयष्टिमधुकेक्षुजलांबुदानां। तोये लवंगकमलोत्पलकेसराणां॥
कल्कं गुडांबुपरिमिश्रितमाशु तस्मिन्नालोड्य गालितामिदं स पिबेत्सुखार्थी॥ 9॥

भावार्थ : द्राक्षा, मुलैठी, ईख, नेत्रवाला, नागरमोथा इनके जल (क्वाथ, शीतकषाय आदि) में,

लवंग, कमल, नीलकमल, पद्मकेशर इन को अच्छी तरह पीसकर, इसमें गुड़ का पानी मिलाकर, अच्छी तरह घोल लेवें। फिर उसको छानकर पित्तामयप्रशमन करने के लिए सुखार्थी मनुष्य पीवें।

कासादि क्वाथ

कासेक्षुखंडमलयोद्भवशारिवाणां। तोयं सुशीतलतरं वरशर्कराढ्यं॥
कर्कोलजातिफलनागलवंगकल्क-मिश्रं पिबेदधिकतापविनाशनार्थम्॥10॥

भावार्थ : कास, ईख, चंदन, अनंतमूल के ठण्डे पानी मे शक्कर मिलाकर उसमें कंकोल, जायफल, नागकेसर व लवंग के कल्क मिलाकर पीने से पित्तोद्रेक से उत्पन्न संताप दूर होता है।

पित्तोपशामक वमन

शीतांबुना मदनमागधिकोग्रगंधा - मिश्रेण चंदनयुतेन गुडाप्लुतेन॥
तं छर्दयेदधिकपित्तवितप्तदेहं। शीतां पिबेत्तदनुदुग्धघृतां यवागूम्॥11॥

भावार्थ : ठण्डे पानी में मेनफल, पीपल, वच व चंदन को मिलाकर उसमें गुड़ भिगोये। यदि अधिक पित्तप्रकोप हुआ तो उक्त पानी से उसे वमन करावें एवं पीछे ठण्डा घृत व दूध मिली हुई यवागू पीने को देवें।

व्योषादि चूर्ण

व्योषत्रिजातकघनामलकैस्समांशैः। निःसूत्रचूर्णमिह शर्करया विमिश्रम्॥
तद्भक्षयेदधिकपित्तकृतामयार्तः। शीतांबुपानमनुपानमुशंति संतः॥ 12॥

भावार्थ : त्रिकटु, त्रिजातक (दालचीनी, इलायची, पत्रज) नागरमोथा, आमलक इनको समभाग लेकर कपड़ा छान चूर्ण करके शक्कर के साथ मिलाकर, ठण्डे पानी के अनुपान के साथ खावें तो अत्यधिक पित्तोद्रेक भी शांत हो जाता है।

एलादिचूर्ण

संशुद्ध देहमिति संशमनप्रयोगैः। शेषं जयेत्तदनुपित्तमिहोच्यमानैः॥
एलालवंगघनचंदननागपुष्प-लाजाकणामलकचूर्णगुडांबुपानैः॥13॥

भावार्थ : वमन व विरेचन से संशुद्ध देह वालों के वक्ष्यमाण उपशमन प्रयोगों के द्वारा पित्त को शांत करना चाहिए। इलायची, लवंग, नागरमोथा, चंदन, नागकेसर, लाजा (खील), कणा, (जीरा) आँवला इनके चूर्णों को गुड़ के पानी के साथ मिलाकर पीने से पित्तोपशमन होता है।

निंबादि क्वाथ

निंबाभ्रमंबुदपटोलसुचंदनानां। क्वाथ गुडेन सहितं हिमशीतलं तम्॥
पीत्वा सुखी भवति दाहतृषाभिभूतः। विस्फोटशोषपरितापमसूरिकासु॥14॥

भावार्थ : निंबु, आम, नागरमोथा, पटोलपत्र, चंदन, इनके कषाय में गुड़ मिलाकर चाँदनी में रखकर ठण्डा करें। फिर उस कषाय को पीने से पित्तोद्रेक से उत्पन्न फफोले, शोष मसूरिका आदि रोगों में यदि दाह तृषा आदि पीड़ा हो जायें तो सर्व शमन होते हैं, जिससे रोगी सुखी होता है।

रक्तपित्त निदान

वाताभिघातपरितापनिमित्ततो वा। पित्तप्रकोपवशतः पवनाभिभूतम्॥
रक्तं प्लीहा यकृदुपाश्रितमाशु दुष्टं। कष्टं स्रवेद्युगदूर्ध्वमधःक्रमाद्वा॥15॥

भावार्थ : वात व अभिघात से, संताप होने से, पित्त प्रकोप होकर दूषित वायु यकृत् प्लीहा के आश्रित रक्त को दूषित करता है। उससे नीचे (शिश्न, योनि, गुदामार्ग) से वा ऊपर (आँख, कान मुख) से या दोनों मार्ग से रक्तस्राव होने लगता है, इसे रक्तपित्त रोग कहते हैं।

रक्तपित्त का पूर्व रूप

तास्मिन्भविष्यति गुरुदरदाहकण्ठ - धूमायनारुचिबलक्षयरक्तगंध।
निश्वासता च मनुजस्य भवंति पूर्व-रूपाणि शोधनमधः कुरुरक्तपित्ते॥ 16॥

भावार्थ : रक्तपित्त होने के पूर्व उदर गुरु होता है। शरीर में जलन उत्पन्न होती है एवं कंठ से धुँआ निकलता जैसा मालूम होता है। अरूचि, बलहीनता, श्वासोच्छ्वास में रक्त की गंध इत्यादि लक्षण प्रकट होते हैं। इस रक्तपित्त में अधः शोधन[1] (विरेचन) करना उपयोगी है।

रक्तपित्त का असाध्यलक्षण

नीलातिकृष्णमतिपित्तमतिप्रदग्ध। मुष्णं सकोथबहुमांसमतिप्रलापम्॥
मूर्छान्वितं रुधिरपित्तमहेंद्रचाप-गोपीपमं मनुजमाशु निहंति वांतम्॥17॥

भावार्थ : वमन किया हुआ रक्त का वर्ण नीला हो, अधिक काला हो, अत्यधिक पित्त सहित हो, जला जैसा हो, अति नरम हो, सड़ गया जैसा हो, माँस रस के समान एवं इंद्रधनुष के समान वर्ण वाला हो, इंद्रगोप नामक लाल कीड़ा जैसा हो, साथ में रक्त पित्ती रोगी बहुत प्रलाप कर रहा हो, मूर्छा से युक्त हो तो ऐसे रक्तपित्त को असाध्य जानना चाहिए। ऐसे रोगी जल्दी नाश होते हैं।

साध्यासाध्य विचार

साध्यं तदूर्ध्वमथ याप्यमधःप्रवृत्तं। वर्ज्यं भिषग्भिरधिकं युगपद्विसृष्टम्॥
तन्नातिपाण्डुमतिशीतकराननांघ्रि। निश्वासमाशु विनिहंति सरक्तनेत्रम्॥18॥

भावार्थ : ऊर्ध्वगत रक्त पित्त साध्य, अधोगत याप्य एवं ऊर्ध्व और अध युगपत् अधिक निकला हुआ असाध्य (अनुपक्रम) समझना चाहिए। रक्तपित्त के रोगी का शरीर हाथ-पैर बिल्कुल

1. ऊर्ध्वगत रक्तपित्त हो तो विरेचन देना चाहिए, अधोगत में वमन देना योग्य है।

पीला हो गया हो, मुख श्वास ठंडा पड़ गया हो, आँखें लाल हो गई हों, ऐसे रोगी को यमपुर का टिकिट मिल गया समझना चाहिए।

द्राक्षा कषाय

द्राक्षाकषाययममलं तु कणासमेतम्। प्रातः पिबेद्गुडघृतं पयसा विमिश्रम्॥
सद्यःसुखी भवति लोहितपित्तयुक्तः।शीताभिरद्भिरथवा पयसाभिषिक्तम्॥19॥

भावार्थ : निर्मल द्राक्षाकषाय को प्रातःकाल गुड़, घी, दूध के साथ मिलाकर पीने से रक्त पित्ती सुखी हो जाता है अथवा ठण्डे पानी या दूध से स्नान कराना भी उसके लिए हितकर होगा।

कासादि स्वरस

कासेक्षुखडपुटजातिरसं विगृह्य। स्नात्वार्द्रवस्त्रसहितश्शिशिरोदंकन॥
यष्ठ्याह्वकल्कगुडमाहिषदुग्धमिश्रं। पीत्वाम्रपित्तमचिरेण पुमन्निहंति॥ 20॥

भावार्थ : कास, ईख, केवटी मोथा, (कैवर्तमुस्त) चमेली इनके रस में मुलैठी का कल्क, गुड़ (पुराना) और भैंस का दूध मिलाकर ठण्डे पानी से स्नान कर गीली धोती पहने हुए ही पीने से रक्तपित्त रोग शीघ्र नाश होता है।

मधुकादि घृत

पक्वं घृतं मधुक चंदनसारिबाणां। क्वथेन दुग्धसदृशेन चतुर्गुणेन॥
हंत्यम्रपित्तमचिरेण सशर्करेण। काकोलिकाप्रभृतिमष्टगुणान्वितेन॥ 21॥

भावार्थ : मुलैटी, लालचंदन, अनंतमूल इनके चतुर्गुण क्वाथ, चतुर्गुण गोदुग्ध व शक्कर और काकोली, क्षीरकाकोली, जीवक, ऋषभक, मेदा, महामेदा, ऋद्धि, वृद्धि इन आठों द्रव्यों के कल्क के द्वारा सिद्ध किए गए घृत को सेवन करने से रक्तपित्त शीघ्र ही नाश होता है।

घ्राण प्रवृत्त रुधिर चिकित्सा

संतर्पणं शिरसि जीर्णघृतैर्घृतैर्वा। क्षीरद्रुमांबुनिचुलार्जुनतोयपक्वः॥
घ्राणप्रवृत्तरुधिरं शमयत्यशेषं। सौवीरवारिपयसा परिषेचनं वा॥ 22॥

भावार्थ : मस्तक में पुराना घी मलने एवं पंचक्षीरीवृक्ष (बड़, गूलर, पीपल, पाकर, शिरीष), नेत्र वाला वेत अर्जुनवृक्ष इनके कषाय से पकाये हुए घी को मस्तक में मलने से यदि नाक से रक्तपित्त बह रहा हो तो उपशमन को प्राप्त होता है, अथवा वेर का क्वाथ आदि की या दूध की धार देनी चाहिए। यह भी हितकर है।

---

1. कोई शिरीष के स्थान मे बेत, कोई पीपल का भेदभूत वृक्ष विशेष मानते हैं। जैसे कि- न्यग्रोधोदुम्बराश्वस्थ पारीषप्लक्षपादपाः। पंचैते क्षीरिणो वृक्षाः। केचित्तु पारीष स्थाने ''शिरीषं वेतसं परे'' इति वदंति। शब्दसिधु।

घ्राण प्रवृत्त रक्त में नस्य प्रयोग

नस्येन नाशयति शोणितमाशु सर्वे। दूर्वाजलामृतपयः पयसा विपक्वं ॥
स्तन्येय दडिमरसो निचुलस्य वापि। घ्राणागतं घृतमथापि च पूर्वमुक्तं॥ 23॥

भावार्थ : दूब, नेत्रवाल, गिलोय इनके रस और दूध से पकाये हुए घृत का अथवा दाडिम का रस, हिज्जल वृक्ष व बेंत का रस स्तन्य दूध से पकाये हुए घृत का अथवा पूर्व कथित घृतों के नस्य देवें तो रक्तपित्त शीघ्र ही नाश होता है।

ऊर्ध्वाधःप्रवृत्त रक्त पित्त की चिकित्सा

उर्ध्वं विरेचनमयैर्वमनौषधैश्च। तीव्रास्रपित्तमिहसाध्यमधःप्रयातम्॥
शीतैःसुसंशमनभेषजसंप्रयोगैः। रक्तं जयेद्युगपदूर्ध्वमधःप्रवृत्तम्॥24॥

भावार्थ : रक्तपित्त उर्ध्वगत हो तो विरेचन से व अधोगत हो तो वमन से साध्य करना चाहिए। अध और ऊर्ध्व एक साथ स्राव होने लगे तो शीतगुणयुक्त शामक प्रयोगों से उसका उपशम करना चाहिए।

रक्तपित्तनाशक बस्तिक्षीर

आस्थापनं च महिषीपयसा विधेय-माज्येन सम्यगनुवासनमत्र कुर्यात्॥
नीलोत्पलांबुजसुकेसरचूर्णयुक्तं। क्षीरं पिबेच्छिशिरमिक्षुरसेन सार्धम्॥ 25॥

भावार्थ : इस रक्तपित्त में भैंस के दूध से आस्थापन बस्ति व घृत से अनुवासन बस्ति देनी चाहिए। नीलकमल, कमल, नागकेसर इनके चूर्ण को ठण्डा दूध और ईख के रस के साथ पीना चाहिए।

रक्तपित्ती को पथ्य

क्षीरं घृतं शिशिरमिक्षरसान्नपानं। पित्तामयेषु विदधीत सतीनयूषः॥
मुद्गान्गुडप्रमुदितान्दधिमाहिषं वा। मत्स्याक्षिशाकमथवा घतमेघनादम्॥26॥

भावार्थ : इस प्रकार पित्तरोगों के उपशमन के लिए घी, दूध, इक्षुरस, मटर, मूंग दाल व गुड़ विकार (गुड़ से बने हुए पदार्थ) महिषदधि, मछेछी का शाक और मेघनादघृत आदि ठण्डे अन्नपान का सेवन कराना चाहिए।

खर्जूरादि लेप

खर्जूरसर्जरसदाडिमनालिकेर। हिंतालतालतरुमस्तकमेव पिष्टम्॥
रंभारसेन घृतमाहिषदुग्धमिश्र-मालेपयेन्मधुकचंदनशारिबाभिः॥ 27॥

भावार्थ : रक्तपित्तोशमन के लिए, खजूर, राल, अनार, नारियल, महाताल व ताल (ड) इन वृक्षों के मस्तकों को (अग्रभाग को) केले के रस में पीसकर, उसमें घी, भैंस का दही मिलाकर अथवा मुलैठी, चंदन, अनंतमूल इनको उपरोक्त चीजों से पीसकर लेप करना चाहिए।

लेप व स्नान

क्षीरद्रुमांकुरशिफान्पयसासुपिष्टा-नालेपयेद्रुधिरपित्तकृतन्विकारान्॥
जंबूकदंबतरुनिंवकषायधौतान्। क्षीरेण चंदनसुगंधिहिमांबुना वा॥ 28॥

भावार्थ : रक्तपित्ती रोगी को क्षीरीवृक्षों के कोंपल व जड़ को दूध में पीसकर लेपन करें तथा जम्बूवृक्ष, कदंब निंबवृक्ष की छाल के कषाय से अथवा दूध से वा चंदन से सुगंधित ठण्डे जल से स्नान कराना चाहिए अथवा लालचन्दन, नागरमोथा खश इनके कषाय से स्नान कराना चाहिए।

रक्तपित्त असाध्य लक्षण

सश्वासकासबलनाशमदज्वरार्त। मूर्छाभिभूतमविपाकविदाहयुक्तम्॥
तं वर्जयेद्विषगसृक्प्परितप्तदेहम्। हिक्वान्वितं कुपित[1]-लोहितपूतिगंधिम्॥ 29॥

भावार्थ : रक्तपित्ती रोगी श्वासकास से युक्त हो, अशक्त हो, मद, ज्वर, अग्निमांद्य और विदाह आदि से पीड़ित हो, हिचकी से युक्त हो, कुपितरक्त के सदृश्य दुर्गंध से पीड़ित हो, ऐसे रोगी को असाध्य समझकर छोड़ना चाहिए।

अथ प्रदराधिकारः

असृग्दरनिदान व लक्षण

संतापगर्भपतनातिमहाप्रसंगात्। योन्यां प्रवृत्तमनृतावभिघाततो वा॥
रक्तं सरक्तमनिलान्वितपित्तयुक्तं। स्त्रीणामसृग्दर इति प्रवदंति संतः॥ 30॥

भावार्थ : स्त्रियों को, संताप से, गर्भपात, अतिमैथुन व अभिघात से ऋतुसमय को छोड़कर अन्य समय मे रक्त, वात व पित्तयुक्त रजोभूत रक्त जो योनि से निकलता है, उसे सत्पुरुष असृंग्दर (प्रदर) कहते हैं।

प्रदर चिकित्सा

नीलांजनं मधुकतण्डुलमूलकल्क-मिश्रं सलोध्रकदलीफलनालिकेर-।
तोयेन पायितमसृग्दरमाशु हंति। पिष्टं च सारिवमजापयसा समेतं॥31॥

भावार्थ : कालासुरमा, मुलैठी, चौलाई की जड़ इनके कल्क से मिश्रित पठानीलोध, कदलीफल (केला) और नारियल के रस (क्वाथ आदि) को पीने से और अनंतमूल को बकरी के दूध के साथ

1. कुपित के स्थान मे कुथित होवे तो अधिक अच्छा मालूम होता है।

पीसकर पीने से प्रदर रोग शीघ्र नाश हो जाता है।

अथ विसर्पाधिकारः

विसर्पनिदान चिकित्सा

पित्तात्क्षतादपि भवत्यचिरारूिपर्पः। शोफस्तनोर्विसरणाच्च विसर्पमाहुः॥

शीतक्रियामभिहितामनुलेपनानि। तान्याचरेत्कृतविधिं च विपाककाले॥ 32॥

भावार्थ : पित्त प्रकोप से, क्षत (जखम) हो जाने से, शीघ्र ही विसर्प नामक रोग की उत्पत्ति होती है। शरीर में सूजन शीघ्र ही फैलती है, इसलिए इसे विसर्प कहते हैं। उसके प्रकोप काल में शीत पदार्थों की प्रयोग विधि पहले बतलाई गई है। उसका एवं लेपन वगैरह का प्रयोग वमन, विरेचन आदि योग्य क्रिया करके करना चाहिए।

विसर्प का भेद

वातात्कफात्त्रिभिरपि प्रभवेरूिपर्पः। शोफःस्वदोषकृतलक्षणसञ्चरोऽयम्॥

तस्माज्जवरप्रकरणाभिहितां चिकित्सां। कुर्यात्तथा मरुदृग्विहितौषधानि॥33॥

भावार्थ : इसी प्रकार वात से, कफ से एवं वातपित्तकफ से भी विसर्प रोग की उत्पत्ति होती है। इसमें विसर्प की सूजन अपने-अपने दोषों के लक्षण से संयुक्त(यथा वातिक विसर्प में वात का लक्षण प्रकट होता है, पैत्तिक हो तो पित्त का लक्षण) होती है। एवं ज्वर भी पाया जाता है। इसलिए ज्वर प्रकरण में कही हुई चिकित्सा एवं वातरक्त के लिए कथित औषधियों का प्रयोग करना चाहिए।

विसर्प का असाध्य लक्षण।

स्फोटान्वितं विविधतीव्ररुजा विदाह-मत्यर्थरक्तमतिकृष्णमतीवपीतम्॥

मर्मक्षतोद्भवमपीह विसर्पसर्पं। तं वर्जयेदखिलदोषकृतं च साक्षात्॥ 34॥

भावार्थ : जो विसर्प रोग फफोलों से युक्त हो, नाना प्रकार की तीव्र पीड़ा सहित हो, अत्यधिक दाह से युक्त हो, रोगी का शरीर अत्यन्त लाल, काला वा अत्यन्त पीला हो, मर्मस्थानों के क्षत के कारण उत्पन्न हुआ हो व सान्निपातिक हो तो ऐसे विसर्प रोगरूपी सर्प को असाध्य समझकर छोड़ देना चाहिए।

अथ वातरक्ताधिकारः

वातरक्त चिकित्सा

वातादिदोषकुपितेष्वपि शोणितेषु। पादाश्रितेषु परिकर्मविधिं विधास्ये॥

संख्यानतस्सकललक्षणलक्षितेषु। संक्षेपतः क्षपितदोषगणैः प्रयोगैः॥35॥

भावार्थ : वातादि दोषों द्वारा कुपित रक्त, पाद को प्राप्त कर जो रोग उत्पन्न करता है, जिसकी संख्या व लक्षणों को पहले कह चुके हैं, ऐसे वातरक्त नामक रोग की चिकित्सा, तत्तद्दोषनाशक प्रयोगों

के साथ-साथ आगे वर्णन करेंगे।

रास्नादिलेप

रास्नाहरेणुशतपुष्पसुरेन्द्रकाष्ठ - कुष्ठागरुस्तगरबिल्वबलाप्रियालैः॥
क्षीराम्लपिष्टधृततैलयुतैस्सुखोष्णै। रालेपयेदनिलशोणितवारणार्थम्॥ 36॥

भावार्थ : रास्ना, रेणुका का बीज, सौंफ, देवदारु, कूट, अगरू, तगर, बेलफल, बला, चिरौंजी, इन औषधियों को दूध व अम्ल पदार्थों के साथ पीसकर उसमें घी और तेल को मिलायें। फिर उसे थोड़ा गरमकर लेप करने से वातरक्त रोगदूर हो जाता है।

मुद्रादिलेप

मुद्गाढकीतिलकलायमसूरमाष - गोधूमशालियवपिष्टमयैर्विशिष्टैः॥
आलेपयेत् घृतगुडेक्षुरसातिशीतैः। क्षीरान्वितैरसृजि पित्तयुते प्रगाढम्॥ 37॥

भावार्थ : पित्त प्रबल वातरक्त में मूंग, अरहर, तिल, मटर, मसूर, उड़द, गेहूँ, धान, यव इनके पिष्ट में घी, गुड़, इक्षुरस दूध इन अत्यन्त ठण्डे पदार्थों का मिलाकर फिर गाढ़ा लेपन करना चाहिए।

पुनर्नवादि लेप

श्वेतापुनर्नवबृहत्यमृतातसीना। मेरण्डयष्टिमधुशिग्रुतिलेक्षुराणाम्॥
सक्षारमूत्रपरिपिष्टसुखोष्णकल्कै - रालेपयेदतिकफोल्वणवातरक्ते॥ 38॥

भावार्थ : कफ प्रबल वातरक्त में सफेद पुनर्नवा, बड़ी कटेली, गिलोय, एरंड, मुलैठी, सेंजन, तिल, गोखरू इनको क्षार व गोमूत्र के साथ पीसकर उस कल्क को लेपन करना चाहिए।

जम्ब्वादिलेप

जंबूकदंबवृहतीद्वयनिंबरम्भा। बिंब्यंबजोत्पलसुगंधिसृगालविन्ना॥
कल्कैर्घृतेक्षुरसदुग्धयुतानि शीतै-रालेपयेदधिकमारुतशोणितेऽस्मिन्॥39॥

भावार्थ : वात प्रबल वातरक्त में जामुन, कंदबवृक्ष, दोनों (छोटी बड़ी) कटेली, नीम, केला, कुंदरु, कमल, नील कमल, पिप्पली मूल, पृस्नपर्णी, इन सबको घी, इक्षुरस, दूध में पीसकर इस कल्क को ठण्डा ही लेपन करना चाहिए।

मुस्तादिलेप

मुस्ताप्रियालुमधुकाम्रविदारिगंधा-दूर्वांबुजासितपयोजशतावरीभिः॥
भूनिंबचंदनकशेरुककुष्ठकाष्टा-पुष्पैःप्रलेप इह सर्वजशोणितेषु॥40॥

भावार्थ : सन्निपातज वातरक्त में नागरमोथा, चिरौंजी, मुलैठी, आम की छाल, शातपर्णी,

प्रियंगु, दूब, कमल, श्वेत कमल, शतावरी, चिरायता, लालचंदन, कशेरू, कूट, दारुहल्दी, इनका लेपन करना चाहिए।

बिम्ब्यादिघृत

बिंबीकशेरु कबलातिबलाटरूष - जीवंतिकामधुकचंदनसारिवाणाम्॥
कल्केन तत्क्वथिततोयपयोविपक्व-माज्यं पिबेदनिलशोणितपित्तरोगी॥41॥

भावार्थ : पित्ताधिक वात रोगी को कुंदरु, कशेरु, बला, अतिबला, अडूस, जीवंति, मुलैठी, चंदन, सारिव, इनके कल्क को उन्हीं औषधियों के काढ़ा और दूध के द्वारा पकाये हुए घी को पिलाना चाहिए।

अजपयःपान

यष्टीकषायपरिपक्व मजापयो वा। शीतीकृतं मधुककल्कसिताज्ययुक्तम्।
पीत्वानिलास्त्रमचिरादुपहन्त्यजस्र-मस्रान्वितातिबहुपित्तविकारजातान्॥42॥

भावार्थ : मुलैठी का कषाय द्वारा पकाये गए बकरी के ठण्डे दूध में, मुलैठी का ही कल्क, खांड और घी मिलाकर पीने से, शीघ्र ही वातरक्त, रक्तपित्त आदि समस्त पित्तविकार नाश हो जाते हैं।

टुंटुकादि दुग्ध

टुंटूकपीलु वृहती द्वय पाट लाग्नि-मंथाश्वगंधसुषवीमधुकांबुपक्वम्॥
क्षीरं पिबेत् घृतगुडान्बितमीषदुष्णं। सर्वास्रपित्तपबनामयनाशनार्थम्॥ 43॥

भावार्थ : सर्व रक्तपित्त व वातरक्त रोगों को नाश करने के लिए टुंटूक, पीलु,(टैंटू) दोनों कटेली, पाढ, अगेथु, असगंध, काला जीरा, मुलैठी, नेत्र वाला, इनसे पकाये हुए दूध में घी गुड़ मिलाकर थोड़ा ठण्डा करके पीना चाहिए।

शीतं कषाययममलामलकांबुदांबुः - कुस्तुंबुरुकथितमिक्षुरसप्रगाढम्॥
प्रातः पिबेत्त्रिफलया कृतमाज्यमिश्रं। विश्वामयप्रशमनं कुशलोपदिष्टम्॥44॥

भावार्थ : आंवला, नागरमोथा, नेत्रवाल, धनिया इनके शीतकषाय अथवा काढ़ा में अधिक ईख का रस मिलाकर घृतमिश्रित त्रिफला चूर्ण के साथ पीने से समस्त रोग दूर हो जाते हैं।

गोधूमादि लेप

गोधूमशालितिलमुद्गमसूरमाषै - श्चूर्णीकृतैरपि पयोघृततैलपक्वैः॥
यत्रातिरुग्भवति तत्र सपत्रबंधो। दोषोच्छ्रये कुरुत बस्तियुतं विरेकम्॥45॥

भावार्थ : गेहूँ, धान, तिल, मूँग, मसूर, उड़द, इनके चूर्ण को दूध, घी व तेल से पकाकर जहाँ अधिक पीड़ा होती हो, वहाँ पत्ते के साथ बाँध देना चाहिए। दोष का उद्रेक अधिक हो तो बस्ति व

विरेचन देना चाहिए।

क्षीरद्रुमादि तैल

आलेपनं घृतयुतं परिषेचनार्थं। क्षीरद्रुमांबुबलया परिपक्व तैलम्
अभ्यंगबस्तिषु हितं च तथान्नपानं। गोधूमशालियवमुद्गपयोघृतानि॥46॥

भावार्थ : इस रोग के लिए क्षीरीवृक्ष, नेत्रवाल, बला इनके द्वारा सिद्ध किए हुए तेल को परिषेचन (धारा गिराना) अभ्यंग (मालिश) बस्तिकार्य में प्रयोग करना चाहिए। लेपन के लिए घी मिलाकर काम में लेना चाहिए। गेहूँ, धान, जौ, मूंग, दूध, घृत ये इसमें हितकारी अन्नपान हैं।

सर्वरोगनाशक उपाय

शाल्योदनो घृतदधीक्षुविकारदुग्धं। सेवा यथर्तुतनुशोधनसंयमश्च॥
व्यायामसर्वतनुभृद्गणंसदयात्मा। पंचेद्रियोरुविजयश्च रसायनं स्यात्॥ 47॥

भावार्थ : भात, घी, दही, इक्षुविकार (गुड आदि) दूध, ऋतु के अनुसार शरीर शोधन (वमन, विरेचन आदि से) करना, संयम धारण करना, व्यायाम करना, सर्वप्राणियों में अनुकम्पा, पञ्चेन्द्रियों को वश में रखना यह सर्व रोगों को जीतने वाला रसायन है।

वातरक्त चिकित्सा का उपसंहार

नित्यं विरेचनपरो रुधिरप्रमोक्ष - बस्तिक्रियापरिगतस्सततोपनाही॥
शीतान्नपानमधुरातिकषायतिक्त-सेवी जयत्यनिलशोणितरक्तपित्तम्॥ 48॥

भावार्थ : सदा विरेचन लेने वाला, रक्त मोक्षण कराने वाला, बस्ति क्रिया में प्रवृत्त, पुलटिश बाँधने वाला, शीत अन्न पान व मधुर, कषाय, तिक्त रसों को सेवन करने वाला वातरक्त व रक्तपित्त को जीत लेता है।

पित्तादृते न च भवंत्यतिसारदाह - तृष्णाज्वरभ्रममदोष्मविशेषदोषाः॥
वातात्कफात्त्रिभिरपि प्रभवंति तेषामुत्कर्षतो भवति तद् गुणमुख्यभेदात्॥ 49॥

भावार्थ : पित्तोद्रेक के विना अतिसार, दाह, तृषा, ज्वर, भ्रम, मद, उष्ण इत्यादि विशेष दोष (रोग) उत्पन्न नहीं होते हैं। साथ में ये ही रोग, वात, कफ और वातपित्तकफ इन तीनों दोषों से भी उत्पन्न होते हैं। इसलिए वातातिसार, त्रिदोषातिसार आदि कहलाते हैं। दोषों के उत्कर्ष, अपकर्ष के कारण गौण, मुख्य रूप से व्यवहार होता है। जैसे अतिसार के लिए मूल कारण पित्त ही है, तो भी वातातिसार में पित्त की अपेक्षा वात, का प्रकोप अधिक है, इसलिए वह पित्तोद्भव होने पर भी वातातिसार कहलाता है।

अथ ज्वराधिकार

ज्वरनिदान

आहारतो विविधरोगसमुद्भवाद्वा। कालक्रमाद्विचरणादभिघाततो वा।
दोषास्तया प्रकुपिताः सकलं शरीरं। व्याप्य स्थिता ज्वरविकारकरा भवंति॥ 50॥

भावार्थ : मिथ्या आहार से, अनेक रोगों के जन्म होने से, कालानुसरण से, मिथ्या-विहार से, चोट लगने से दोष (वात-पित्त-कफ) प्रकुपित होकर सारे शरीर में फैल कर ज्वर रोग को उत्पन्न करते है।

ज्वरलक्षण

स्वेदावरोधषरितापशिरोगमर्द। निश्वासदेहगुरुतांतिमहोष्मता च॥
यस्मिन्भवंत्यसचिरप्रतिमांबुतृष्णाः। सोऽयं भवेज्जवर इति प्रतिपन्नरोगः॥ 51॥

भावार्थ : पसीने का रुक जाना, संताप, शिर व शरीर टूटा-सा मालूम होना, अति उष्ण का अनुभव होना, अरुचि व पानी पीने की अत्यन्त इच्छा होना ये सब ज्वर के लक्षण हैं।

ज्वर का पूर्वरूप

सर्वांगरुक्क्षवथुगौरवरोगहर्षा - रूपाणि पूर्वमखिलज्वरसंभवेषु॥
पित्तज्वरान्नयनरोगविदाहशोषाः। वाताद्विजृंभणमरोचकता कफाच्च॥52॥

भावार्थ : सर्वांग में पीड़ा होना, छींक आना, शरीर भारी हो जाना, रोमांच होना यह सब ज्वरों के पूर्वरूप हैं। नयनरोग (आँख आना आदि) नेत्र शरीर में अरुचित होना, यह कफ ज्वर का पूर्वरूप है। वातरोग का पूर्व रूप जंभाई आना है। अरुचि होना यह कफ ज्वर का पूर्व रूप है।

वातज्वर का लक्षण

हृत्पृष्ठमात्रशिरसामतिवेदनानि। विष्टंभरूक्षविरसत्वविजंभणानि।
आध्मानशूलमललोचनकृष्णताति- श्वासोरुकासविषमोष्मककंपनानि॥ 53॥
स्तब्धातिसुप्ततनुतातिहिमाप्रियत्व - निद्राक्षतिश्वसनसंभवलक्षणानि।
वातज्वरे सततमेव भवंति तानि। ज्ञात्वानिलघ्नमचिराद्विचरेद्यथोक्तम्॥ 54।

भावार्थ : हृदय, पीठ शरीर व शिर में अत्यधिक दर्द होना, मलावरोध शरीर में रूक्षपना हो जाना, विरसत्व, जंभाई, आध्मान (अफरा) मल व आँख आदि काला हो जाना व श्वाँस खाँसी होना, ज्वर का विषम वेग व कंपन होना, शरीर का जकड़ाहट, शरीर के स्पर्श का ज्ञान होना, ठण्डे पदार्थ अप्रिय लगना, निद्रानाश होना, ये सब वात ज्वर के लक्षण हैं, उनको जानकर वातविकार को दूर करने वाली चिकित्सा शीघ्र करनी चाहिए।

पित्तज्वरलक्षण

तृष्णाप्रलापमददाहमहोष्मताति - मूर्च्छाभ्रमाननकटुत्वविमोहनानि॥
नासास्यपाकस्रधिरान्वितपित्तमिश्र। निष्ठीवनातिशिशिरप्रियतातिरोषः॥ 55॥
विड्भेदपीतमलमूत्रविलोचनाति - प्रस्वेदनप्रचुररक्तमहातिसाराः॥
निश्वासपूतिरिति भाषितलक्षणानि। पित्तज्वरे प्रतिदनि प्रभवंति तानि॥ 56॥

भावार्थ : तृषा, बकवाद, मद, जलन, ज्वर का तीव्रवेग, मूर्च्छा, भ्रम, मुख कडुवा होना, बेचैनी होना, नाक व मुख पक जाना, थूक में रक्त व पित्त मिलकर आ जाना, ठण्डे पदार्थों में अत्यधिक इच्छा, अतिक्रोध, अतिसार, मल मूत्र व नेत्र पीला हो जाना, विशेष पसीना आना, रक्तातिसार, श्वाँस में दुर्गंध, ये सब लक्षण पित्तज्वर में पाये जाते हैं।

कफ ज्वर लक्षण

निद्रालुतारु चिरतीवशिरोगुरुत्वं। मंदोष्णतातिमधुराननरोमहर्षाः॥
स्रोतावरोधनमिहाल्परुगक्षिपात। छर्दिप्रसेकधवलाक्षिमलाननत्वम्॥ 57॥
अत्यन्गसादनविपाकविहीनताति-कासातिपीनसकफोद्गमकण्ठकण्डूः॥
श्लेष्मज्वरे प्रकटितानि च लक्षणानि। सर्वाणि सर्वजमहाज्वरसंभवानि॥ 58॥

भावार्थ : निद्राधिकता, अरुचि, शिर अधिक भारी हो जाना, शरीर कम गरम रहना, मुख में मिठास रहना, रोमांच होना, स्रोतों का मार्ग रुक जाना, अल्प पीड़ा, आँख में स्तब्धता, वमन (थूक आदि विशेष) आँख मल व मुख का वर्ण सफेद हो जाना, अत्यन्त शरीर ग्लानि, अपचन, खाँसी, जुखाम, कफ आना व कंठ खुलजाना, ये सब श्लेष्म ज्वर में पाये जाने वाले लक्षण हैं। उपर्युक्त वातपित्तकफ ज्वर के तीनों प्रकार के लक्षण एकत्र पाये जावें तो उसे सन्निपातज्वर समझना चाहिए।

द्वंद्वज ज्वर लक्षण

दोषद्वयेरितसुलक्षणलक्षितं त - द्दोषद्वयोद्भवमिति ज्वरमाहुरत्र॥
दोषप्रकोषशमनादिह शीतदाहा-वाद्यं तयोर्विनियमयेन भविष्यतस्तौ॥ 59॥

भावार्थ : जिसमें दो दोषों के (वात-पित्त, वात कफ, या पित्त कफ) लक्षण प्रकट होते हैं, उसे द्वंद्वंज ज्वर समझना चाहिए। ज्वर के आदि और अंत्य में, दोषों के प्रकोप व उपशमन के अनुसार शीत, अथवा दाह परिवर्तन से होते हैं अर्थात् यदि ज्वर के आदि से वातप्रकोप हो तो ठण्डी लगती है, पित्तोद्रेक हो तो दाह कम होता है। यही क्रम ज्वर के अंत में भी जानना चाहिए।

सन्निपात ज्वर का असाध्य लक्षण

सर्वज्वरेषु कथिताखिललक्षण तं। सर्वैरुपद्रवगणैरपि संप्रयुक्तम्।
हीनस्वरं विकृतलोचनमुच्छ्वसंतं। भूमौ प्रलापसहितं सततं पतन्तम्॥ 60॥
यस्ताप्यति स्वपिति शीतलगात्रयष्टि-रंतर्विदाहसहितः स्मरणादपेतः॥
रक्तेक्षणो हृषतरोमचयस्सशूल-स्तं वर्जयेद्भिषगिहज्वरलक्षणज्ञः॥ 61॥

भावार्थ : सन्निपात के पूर्ण लक्षण जो वातादि ज्वरों में पृथक् पृथक् बतलाये हैं, वे उनका एक साथ प्रकट होना सन्निपात ज्वर का लक्षण है। इन त्रिदोषों के सम्पूर्ण लक्षण एक साथ प्रकट हो, सम्पूर्ण उपद्रवों से संयुक्त हो, स्वर (आवाज) कम हो गया हो, नेत्र विकृत हो गए हो, ऊर्ध्व श्वाँस से पीड़ित हो, बड़बड़ करके भूमि पर सदा गिरता हो, संताप से युक्त हो, दीर्घनिद्रा लेता हो, जिसका शरीर ठंडा पड़ गया हो, अंदर से अत्यधिक दाह हो रहा हो, जिसकी स्मृति शक्ति नष्ट हो गई हो, आँखें लाल हो गई हो, रोमांच हो गया हो, शूल सहित हो, ऐसे सान्निपातिक रोगी को ज्वर लक्षण जानने वाला विद्वान् वैद्य असाध्य समझकर अवश्य छोड़े।

सन्निपात ज्वर के उपद्रव

मूर्च्छांगरुक्क्षयतृषावमथुज्वरार्ति - श्वासैस्सशूलमलमूत्रनिरोधदाहैः॥
हिक्कातिसारगलशोषणशोफकासै-रेतैरुपद्रवगणैस्सहिताश्च वर्ज्याः॥ 62॥

भावार्थ : बेहोश अंगों में पीड़ा होना, धातुक्षय, तीव्र प्यास, वमन, श्वाँस, शूल, मलमूत्रावरोध, दाह, हिचकी, अतिसार (दस्त लगना) कंठ शोष, सूजन, खाँसी ये सब सन्निपात ज्वर के उपद्रव हैं। इन उपद्रवों के समूह से युक्त ज्वर को वैद्य असाध्य समझकर छोड़ दें।

ज्वर की पूर्व रूप में चिकित्सा

रूपेषु पूर्वजनितेषु सुखोष्णतोयै। वांतः पिबेन्निशितशोधनसर्पिरेव॥
संशुद्धदेहमिति न ज्वरति ज्वरोऽयं। व्यक्तज्वरे भवति लंघनमेव कार्यम्॥ 63॥

भावार्थ : ज्वर के पूर्व रूप प्रकट होने पर मंदोष्ण पानी से वमन कराना चाहिए एवं तीक्ष्ण विरेचन घृत को पिलाकर विरेचन कराना चाहिए, इस प्रकार शोधित शरीर वाले को ज्वर बाधा नहीं पहुँचाता है, अर्थात् बुखार आता ही नहीं। ज्वर प्रकट होने पर लंघन करना ही उचित है।

लंघन व जलपान विधि

आनध्ददोषमखिलं स्तिमितांगयष्टि - मालोक्य लंघनविधिं वितरेत्तृपार्त्तं॥
तोयं पिबेत्कफमरुज्ज्वरपीडितांगः। सोष्णं सपित्तसहितः शृतशीतलं तु॥ 64॥

भावार्थ : दोषों के विशेष उद्रेक व स्तब्ध शरीर को देखकर[1] लंघन कराना चाहिए। यदि प्यास लगे तो वातकफज्वरी गरम पानी व पित्तज्वरी गरम करके ठण्डा किया गया पानी को पीना उचित है।

क्षुत्पीडितो यंदि भवेन्मनुजो यवागूं। पीत्वा ज्वरप्रशमनं प्रतिसंविशेद्वा।
तद्वद्विलेप्यमपि यूषगणैः कदुष्णैः। संयोजयेज्ज्वरविकारनिराकरिष्णुः॥ 65॥

भावार्थ : लंघित रोगी को यदि भूख लगे तो क्रम से ज्वरनाशक मंदोष्ण यवागू विलेंपी व यूषों को देना चाहिए, फिर विश्रांती देनी चाहिए।

वातपित्त ज्वर में पाचन

बिल्वाग्निमंथबृहतीद्वयपाटलीनां। क्वाथं पिबेदशिशिरं पवनज्वरार्त्तः॥
काशेक्षुयष्टिमधुचंदनसारिवानां। शीतं कषायमिह पित्तविकारनिघ्नम्॥ 66॥

भावार्थ : बेल, अगेथु, दोनों कटेली, पाढ, इनका सुखोष्ण क्वाथ वात ज्वरी को पाचनार्थ पीना उचित है। काश, ईख की जड़, मुलैठी, चंदन, सारिव इनका ठण्डा क्वाथ पाचन के लिए पित्तज्वरी को देना चाहिए।

कफज्वर में पाचन व पक्व ज्वरलक्षण

भार्ङ्गीफलत्रयकटुत्रिकपक्वतोय-मुष्णं पिबेत्कफकृतज्वरपाचनार्थम्॥
लघ्वी तनुः प्रकृतिमूत्रमलप्रवृत्ति-र्मंदज्वरश्शिथिलकुक्षिरपीह पक्वे॥ 67॥

भावार्थ : भार्डी, त्रिफला (हरड, बहेड़ा, आँवला) त्रिकटु (सोंठ, मिरच, पीपल) इनसे पकाया गया पानी को अर्थात् काढ़ा पीने से कफ ज्वर का पाचन होता है, ज्वर के पाचन होने पर शरीर हल्का, मल-मूत्रों की स्वाभाविक प्रवृत्ति, मंद ज्वर, पेट शिथिल हो जाता है।

वात व पित्त पक्व ज्वर चिकित्सा

पक्वज्वरं समभिवीक्ष्य यथानुरूपं। स्निग्धैर्विरेचनगणैरथवा निरूहैः।
संयोजयेत्सरुजवातकृतज्वरार्त्तः। पित्तज्वरे वमनशीतविरेचनैश्च॥ 68॥

भावार्थ : ज्वर पक जाने पर यदि वह पीड़ायुक्त वातज्वर हो तो उसे यथायोग्य स्नेह (एरण्ड तैल आदि) विरेचन अथवा निरूहबस्ति देनी चाहिए, यदि पित्त ज्वर हो तो यथा योग्य शीत वमन, वा विरेचन से उपशम करना चाहिए।

---

1. यदि दोषोद्रेक आदि अधिक नहीं, ज्वर भी साधारण हो तो लंघन कराने की जरूरत नहीं है। लघु आहार दे सकते हैं। दूसरा यह भी तात्पर्य है - जब तक दोषोद्रेक अंगों में स्तब्धता आदि अधिक हो तो तब तक लंघन कराना चाहिए।

पक्व श्लेष्म ज्वर चिकित्सा

श्लेष्मज्वरे वमनमिष्टमरिष्टतोयैः। संपिष्टसैंधववचामदनप्रभूतैः॥
नस्यांजनेष्टकटुभेषजसद्विरेक-गण्डूषयूषखलतिक्तगणैःप्रयोज्यः॥69॥

भावार्थ : कफज्वर में नीम कषाय में सैंधानमक, वचा, मेनफल इनका कल्क डालकर वमन देना चाहिए और कटु औषधियों द्वारा नस्य, अंजन, विरेचन तथा तिक्त गणौषधियों द्वारा कवलधारण (कुरला) कराना व यूष देना चाहिए।

लंघन आदि के लिए पात्रापात्र रोगी

तत्राल्पदोषकृतदुर्बलबालवृद्ध। स्त्रीणां क्रिया भवति संशमनप्रयौगैः॥
तीव्रोपवासमलशोधनसिद्धमार्गै-स्संभावयेदधिकसत्वलान्ज्वरार्तान्॥ 70॥

भावार्थ : यदि दोषों का उद्रेक अल्प हो, रोगी बालक हो, वृद्ध हो, स्त्री हो, तो उनकी चिकित्सा शमन प्रयोग के द्वारा करनी चाहिए। इससे विपरीत अधिक बल वाले ज्वरी को तीव्र लंघन, उपर्युक्त वमन विरेचनादि से चिकित्सा करना चाहिए।

वातज्वर में क्वाथ

वासामृतांबुदपटोलमहौषधानां। पाठाग्निमंथबृहतीद्वयनागराणाम्॥
वा शृंगवेरपिचुमंदनृपांघ्रिपानाम्। क्वाथं पिबेदखिलवातकृतज्वरेषु॥71॥

भावार्थ : संपूर्ण वातिक ज्वरों में अडूसा, गिलोय, नागरमोथा, परवल की पत्तियाँ, सोंठ इनका या पाठा, अगेथु, दोनों कटेली, सोंठ इनका, या शुंठी, नीम, अमलतास इनका क्वाथ (काढा) बनाकर पीना चाहिए।

पित्तज्वर में क्वाथ

लाजाजलामलकबालकशेरुकाणां। मृद्वीकनागमधुकोत्पलशारिवानां॥
कुस्तुंबुरोत्पलपयोदपयोरुहाणां। क्वाथं पिबेदखिलपित्तकृतज्वरेषु॥72॥

भावार्थ : पैत्तिक ज्वरों में धान के खील, नेत्रवाला, आंवला, कच्चा कशेरु इनका या मनुक्का, नागरमोथा, मुलैठी, नीम, कमल, सारिबा इनका, या धनिया, नीलकमल, नागरमोथा, कमल इनका क्वाथ बनाकर पीना चाहिए।

कफज्वर में क्वाथ

एलाजमोदमरिचामलकाभयाना - मारग्वधांबुदमहौषधपिप्पलीनाम्॥
भूनिंबनिंबबृहतीद्वयनागराणाम्। क्वाथं पिबेदिह कफप्रचुरज्वरेषु॥73॥

भावार्थ : कफ ज्वर में इलायची, अजवाईन, मिरच, आंवला, हरड़ इनका या अमलतास, नागरमोथा, शुंठी, पीपल इनका, या चिराता, नीम, दोनों कटेली, शुंठी इनका कषाय बनाकर पीने से शांति होती है।

सन्निपातिक ज्वर में क्वाथ।

मुस्तानिशामलकचंदनसारिवानां। छिन्नोद्भवांबुदपटोलहरीतकीनां॥
मूर्वामृतांबुदविभीतकरोहिणीनां। क्वाथं पिबेदखिलदोषकृतज्वरेषु॥74॥

भावार्थ : नागरमोथा, हल्दी, आंवला, चंदन, सारिवा, इनका या गिलोय, नागरमोथा, कडुवा परवल (महिन पत्र) हरड़ इनका अथवा मूर्वा, गिलोय, नागरमोथा, बहेड़ा, कुटकी इनका कषाय पीने से सन्निपात ज्वर का उपशम होता है।

विषम ज्वर चिकित्सा

दोषानुरूपकभितौषधतत्प्रयोगैः। प्रत्येकसिद्धघृततैलपयःखलाम्लैः॥
अभ्यंगनस्यसततांजनपानकाद्यै।रेकांतरादिविषमज्वरनाशनं स्यात्॥75॥

भावार्थ : दोषों को अनुसरण करके जिन औषधियों का निरूपण किया गया है, उन-उन औषधि प्रयोगों से, तथा तत्तदौषधियों द्वारा सिद्ध किए गए घृत, तेल, दूध व्यंजन विशेष आदि के अभ्यंग, नस्य, अंजन, पान इत्यादि कराने से एकांतरा, संतत[1], सतत अन्येद्युष्क, तृतीयक, चतुर्थकादि विषमज्वर नष्ट होते हैं।

विषमज्वरनाशक घृत

एवं तृतीयकचतुर्थदिनांतरेषु। संभूतवातजमहाविषमज्वरेषु॥
गव्यं घृतं त्रिकटुकं त्रिफलत्रिजात-कात्तं पिबेदहिमदुग्धयुतं हितार्थी॥ 76॥

भावार्थ : इसी प्रकार जिस मे वात की प्रधानता रहती है, ऐसे तृयीयक, चतुर्थक आदि विषमज्वरों से मुक्त होने की इच्छा रखने वाला मनुष्य त्रिकटुक, त्रिफला व त्रिजात (दालचीनी, इलायची, तेजपान) चूर्ण मिला हुआ गाय के घी को मंदोष्ण दूध के साथ पीवें।

---

1. **संतत** - जो, वात-पित्त-कफों के कारण से, क्रमशः सात, दस व बारह दिन तक (बीच में न छूटकर) बराबर आता है, उसे संतत कहते हैं।
   सतत - जो दिन के किसी दो टाइम में आता है, उसे सतत ज्वर कहते हैं।
   अन्येद्युष्क- रात व दिन किसी एक काल में ज्वर आता है, उसे अन्येद्युष्क कहते हैं।
   तृतीयक- बीच में एक दिन रुककर जो तीसरे दिन में आता है, उसे तृतीयंक कहते हैं।
   चतुर्थक - जो बीच के दो दिनों में न आकर चौथे दिन में आता है।

भूतज्वर के लिए धूप

गोशृंगहिंगुमरिचार्कपलाशसर्प-निर्मोकनिर्मलमहौषधचाषपत्रैः ॥
कार्पासबीजसितसर्षपबर्हिबर्है-र्धूपो ग्रहज्वरपिशाचविनाशहेतुः ॥ 77 ॥

भावार्थ : हींग, मिरच, अकौवा, पलाश, सर्पकी कचैली, उत्तम सोंठ, चाषपत्र, कपास का बीज, सफेद सरसों, मयूर के पंख इनसे धूप देने से भूतप्रेतों के उपद्रवों से उत्पन्न ग्रहज्वर का भी उपशम होता है।

स्नेह व रुक्षोत्थित ज्वरचिकित्सा

स्नेहोत्थितेष्वहिमपेयविलेप्ययूष-दूष्याद्धि रूक्षणविधिः कथितो ज्वरेषु ॥
स्नेहक्रियां तदनुरूपवरौषधाद्यां । संयोजयेदधिकरूक्षसमुद्भवेषु ॥78 ॥

भावार्थ : अधिक स्नेहन करने से उत्पन्न ज्वर में गरम पेय, विलेपी, यूषादि धातुओं के रक्षण करने वाली विधि का प्रयोग करना चाहिए, अति रूक्षण करने से उत्पन्न ज्वरों में स्नेह क्रिया व तद्योग्य औषधियों से चिकित्सा करनी चाहिए।

स्नेह व रूक्षेत्थित ज्वरों में वमनादि प्रयोग

स्नेहोद्भवेषु वमनं च विरेचनं स्या । द्रूक्षज्वरेषु विदधीत स बस्तिकार्यम् ॥
क्षीरं घृतं गुडयुतं सह पिप्पलीभिः । पेयं पुराणतररूक्षमडाज्वरेषु ॥79 ॥

भावार्थ : स्नेहज ज्वर में वमन विरेचन देना चाहिए, और रूक्षज ज्वर में बस्तिकार्य करना चाहिए, पुराने रूक्षज महाज्वर में गुड़ व पीपल इनसे युक्त दूध या घी को पीना चाहिए।

ज्वर मुक्त लक्षण

कांक्षां लघुक्षवथुमन्नरुचिं प्रसन्नं । सर्वेन्द्रियाणि समशीतशरीरभावम् ॥
कण्डूमलप्रकृतिमुज्वलितोदराग्निं । वीक्ष्यातुरं ज्वरविमुक्तमिति व्यवस्येत् ॥80 ॥

भावार्थ : खाने की इच्छा होना, शरीर का हल्का हो जाना, अन्न से रुचित होना, प्रसन्न चित्त होना, संपूर्ण इंद्रियों की अपने-अपने कार्य करने में समर्थता होना, शरीर में समशीतोष्णता होना, खुजलाना, मल का विसर्जन ठीक-ठीक होना, उदराग्नि का प्रज्वलित होना यह ज्वरविमुक्त का लक्षण है।

ज्वर का पुनरावर्तन

शीतांबुपानशिशिरासनभोजनादे । व्यायाममारुतगुरुप्लवनाभिघातात् ॥
शीघ्रं ज्वरः पुनरुषैति नरं यथेष्ट-चारित्रतो ज्वरविमुक्तमपीह तद्विः ॥ 81 ॥

भावार्थ : एक बार ज्वर छूट जाने पर भी ठंडे पानी के पीने से, ठंडे जगह में बैठने से, अत्यन्त शीतवीर्ययुक्त भोजन पान आदि करने से, अतिव्यायाम करने से, हवा लगने से, विशेष तैरने से, चोट लगने इत्यादि व स्वछन्द वृत्ति से वह पुनः लौट आता है।

पुनरागत ज्वर का दुष्टफल

दावानलो दहति काष्ठमिवातिशुष्कं। प्रत्यागतो ज्वरविमुक्तमिह ज्वरोऽयं॥
तस्माज्ज्वरातुर इव ज्वरमुक्तगात्रः। रक्ष्यो निजाचरणभोजनभेषजाद्यैः॥ 82॥

भावार्थ : जिस प्रकार अग्नि सूखी लकड़ी को शीघ्र जलाती है,उसी प्रकार ज्वरमुक्त को लौटा हुआ ज्वर पीड़ा देता है, शरीर को नष्ट-भ्रष्ट करता है। इसलिए ज्वर, गमन के समय जिस प्रकार उसकी रक्षा करते हैं, उसी प्रकार ज्वरमुक्त होने पर भी निजाचरण, भोजन, औषधियों द्वारा उसकी रक्षा करनी चाहिए।

अथ अतिसाराधिकारः

अतिसारनिदान

पित्तं विदग्धमसृजा कफमारुताभ्यां। युक्तं मलाशयगतं शमितोदराग्निम्॥
क्षिप्रं मलं विसृजति द्रवतामुपेतम्। तं व्याधिमाहुरतिसारमिति प्रवीणाः॥83॥

भावार्थ : स्वकारण से दग्धपित्त, रक्त, कफ, वायु से मिलकर जब मलाशय में पहुँच जाता है वहाँ उदराग्नि को मंद कर देता है। फिर उससे पतला दस्त होने लगता है, इसे महर्षि लोग अतिसार रोग कहते हैं।

वातातिसार लक्षण

शूलान्वितो मलमपानरुजा प्रगाढं। यस्तोयफेनसहितं सरुजं सशद्वम्॥
रूक्षं सृजत्यतिमुहुर्मुहुरल्पमल्पम्। वातातिसार इति तं मुनयो वदंति॥84॥

भावार्थ : जिसमें अपानवायु के प्रकोप से, मल अत्यन्त गाढा, रूक्ष एवं फेन युक्त होता हुआ बार बार थोड़ा -थोड़ा पीड़ा व शब्द के साथ-साथ उतरता है, रोगी शूलसंयुक्त होता है। उसको महर्षिगण वातातिसार कहते है। तात्पर्य- यह कि ये सब लक्षण वातातिसार के हैं।

पित्तातिसार लक्षण

पीतं सरक्तमहिमं हरितं सदहि। मूच्छर्तृषाज्वरविपाकमदैरुपेतम्॥
शीघ्रं सृजत्यतिविभिन्नपुरीषमच्छं। पित्तातिसार इति तं मुनयो वदंति॥85॥

भावार्थ : पीला हरावर्ण से युक्त, अधिक उष्ण, रक्तसहित स्वच्छ व पतला मल व शीघ्र उतरना, रोगी मूर्छा, प्यास, ज्वर, अपचन, मद, इनसे युक्त होना, ये सब लक्षण पित्तातिसार के है, ऐसा आचार्य प्रवर कहते हैं।

श्लेष्मातिसार

श्वेतं बलासबहुतो बहुलं सुशीतं। शीतार्दितातिगुरुशीतलगात्रयष्टिः॥
कृत्स्नं मलं सृजति मंदमनल्पमल्पं। श्लेष्मातिसार इति तं मुनयो वदंति॥86॥

भावार्थ : कफ के आधिक्य से, मल का वर्ण श्वेत, गाढा, व अधिक ठण्डा होता है और मंदवेग के साथ, अधिक मात्रा में मल निकलता है, रोगी अत्यन्त शीत से पीड़ित होता है, शरीर भारी, व अति शीतल मालूम पड़ता है, जिसमें ये सब लक्षण प्रकट होते हैं,उसे महर्षिगण श्लेष्मातिसार कहते हैं।

सन्निपातातिसार, आमतिसार व पक्वातिसार का लक्षण

सर्वात्मकं सकलदोषविशेषयुक्तम्। विच्छिन्नमच्छमतिसिक्थमसिक्थकं वा।
दुर्गंधंमप्स्वपि निमग्नमेध्यमामं। पक्वातिसारमिति तद्विपरीतमाहुः॥ 87॥

भावार्थ : वात पित्त कफ इन तीनों अतिसारों के लक्षणों से युक्त, छिन्न-छिन्न स्वच्छ, कण सहित व कणरहित मल निकलता है, इसे सन्निपातातिसार कहते हैं। मल पानी में डालने पर डूबे, दुर्गंध से युक्त हो तो उसे आमातिसार कहते हैं। इससे विपरीत लक्षण वाले को पक्वातिसार कहते हैं।

अतिसार का असाध्य लक्षण

शोकादतिप्रवलशोणितमिश्रमुष्ण-। माध्मानशूलसहितं मलमुत्सृजंतम्॥
तृष्णाद्युपद्रवसमेतमरोचकार्तम्॥ कुक्ष्यामयः क्षपयति क्षपितस्वरं वा॥88॥

भावार्थ : अतिशोक के कारण से उत्पन्न, अत्यधिक रक्तमिश्रित, अतिउष्ण, मल को निकालने वाला शोकातिसार, आध्मान (अफरा) व शूलयुक्त, तृष्णा, सूजन, ज्वर, श्वांस, खाँसी आदि उपद्रवों से संयुक्त, अरुचि से पीड़ित, हीन स्वर संयुक्त रोगी को (अतिसार रोग) नाश करता है।

अन्य असाध्य लक्षण

बालातिवृद्धकृशदुर्बलशोषिणां च। कृच्छ्रातिसार इति तं परिवर्जयेत॥
सर्पिः प्लीहामधुवसायकृतासमानं। तैलांबुदुग्धदधितक्रसमं स्रवंतम्॥ 89॥

भावार्थ : अतिसार रोगी अति बालक हो, अति वृद्ध हो, कृश, दुर्बल व शोषी (क्षयरोग से पीडित) हो एवं जिनका मल घी, प्लिहा, वसा, यकृत्, तेल, पानी, दूध, दही, छाछ के समान वर्णवाला हो, ऐसे रोगियों का अतिसार महान् कष्ट पूर्ण है, इसलिए उसे छोड़ना चाहिए।

आमतिसार में वमन

ज्ञात्वामपक्व मखिलामयसंविधानं। सम्यग्विधेयमधिकामयुतातिसारे॥
प्रच्छर्दनं मदनसैंधवपिप्पलीनां। कल्कान्वितोष्णजलपानत एव कुर्यात्॥90॥

भावार्थ : अतिसारों के आमपक्वावस्थावों को अच्छी तरह जानकर यथायोग्य (आम में पाचन व पक्वस्तंभन) चिकित्सा करनी चाहिए। अधिक आमयुक्त हो तो मेनफल, सैंधानमक, पीपल इनके कल्क से मिश्रित उष्णजलपान से वमन कराना चाहिए।

वमनपश्चात् क्रिया

वांतं प्रशांतमददाहमपेतदोषं। श्रांतं तदाहनि विवर्जितभुक्तपानं॥
सांग्राहिकौषधविपक्वविलेप्ययूषमन्येद्युरल्पमहिमं वितरेद्यथोक्तम्॥ 91॥

भावार्थ : वमन कराने के बाद, जिसका मद, दाह व दोष शांत हो गए हो, जो थका हो ऐसे रोगी को उस दिन खाने पीने को कुछ नहीं देना चाहिए। दूसरे दिन ग्राहि औषधियों से पकाये हुए विलेपी या यूष (दाल) गरम व अल्पप्रमाण में देना चाहिए।

वातातिसार में आमावस्था की चिकित्सा

अत्यम्लतक्रमनिलामयुतातिसारे। प्रातः पिबेन्मरिचसैन्धवनागराढ्यं॥
हिंगुमगाढमथवा मरिचाजमोद। सिन्धूत्थनागरविपक्वराम्लिकां वा॥ 92॥

भावार्थ : वातज अतिसार के आमावस्था में अत्यन्त खट्टी छाछ में मिरच, सैंधानमक, सोंठ, हींग मिलाकर अथवा मिरच, अजवाईन, सैंधानमक, सोंठ, इनसे पकायी हुई कांजी पीना चाहिए।

पित्तातिसार में आमावस्था की चिकित्सा

यष्टीकषायपरिपक्व मजापयो वा। जम्बंबुदाम्रकुटजातिविषाकषायः॥
पीतस्तथा दधिरसेन तिलांबुकल्कं। पित्ताममाशु शमयत्यतिसाररोगे॥93॥

भावार्थ : पित्तज अतिसार के आम अवस्था में मुलैठी के कषाय से सिद्ध किया हुआ बकरी का दूध व जामुन, नागरमोथा, आम, कूटज, अतीस, इनका कषाय अथवा तिल व नेत्रवाले का कल्क को दही के तोड़ (रस) के साथ पीना चाहिए।

कफातिसार में आमावस्था की चिकित्सा

दार्वीनिशात्रिकटुकांबुदचित्रकाणां। पाठाजमोदमरिचामलकाभयानाम्॥
कल्कं पिबेदशिशिरेण जलेन शुंठीमेकां तथा कफकृतामयुत्तातिसारे॥94॥

भावार्थ : श्लेष्मातिसार की आम अवस्था में दारुहल्दी, हल्दी, त्रिकटु (सोंठ मिरच, पीपल) नागरमोथा, चित्रक इनके या पाठा, अजवाईन, मिरच, आंवला व हरडा इनके कल्क को गरम जल में मिलाकर पीना चाहिए अथवा शुंठी को ही पानी के साथ पीसकर पीना चाहिए।

पक्वातिसारमें आम्रास्थ्यादि चूर्ण

आम्रास्थिलोध्रमधुकं तिलपद्मकाख्यं। सद्धातकीकुसुमशाल्मलिवेष्टकं च॥
बिल्वप्रियंगुकुटजातिविषासमंगाः। पक्वातिसारशमनं दधितोयपीताः॥ 95॥

भावार्थ : आम की गुठली, लोध्र, मुलैठी, तिल, पद्माख, घाई के फूल, सेमल की गोंद, बेल का गुदा, प्रियंगु (फूलप्रियंगु) कुटज की छाल अतीस मंजीठ इनको चूर्णकर दही के तोड़ के साथ पीने से पक्वातिसार शमन होता है।

त्वगादिपुटपाक

त्वग्दीर्घवृंतकुटजाम्रकदंबजांबू - वृक्षोद्भवा बहुलतण्डुलतोयपिष्टाः ॥
रंभादलेन परिवेष्ठ्य पुटेनदग्धा। निष्पीडिता गलति रक्तरसं सुगंधिम् ॥96॥

भावार्थ : दालचीनी, अरलु, कुटज, आम, कदंब, जामुन वृक्षों की छाल को चावल के माण्ड के साथ पीसकर केले के पत्ते से लपेटकर पुटपाक विधि से पकाना चाहिए। फिर उसे निचोड़ने पर उससे सुगंध लाल रस निकलता है।

तं शीतलं मधुककल्कयुतं प्रपेय। कुक्ष्यामयं जयति मंक्षुतरं मनुष्यः ॥
अम्बष्टिका[1]-सरसदाडिम तिंदुकं वा। तक्रे विषाच्य परिपीतमपीह सद्यः ॥ 97 ॥

भावार्थ : उस शीतल रस में मुलैठी का कल्क मिलाकर पीने से सर्व अतिसार रोग दूर होते हैं। अथवा अंबाडा, उत्तर दाडिम, तेंदु, इनको छाछ में पकाकर पीने से भी अतिसार रोग का उपशम होता है।

जम्ब्बादि पाणितक

जंब्बाम्रनिंबघनवृक्षसुधातकीना-। मष्टांशशिष्टमवतार्य विगाल्य तोयम्॥
दर्वीमलेपमिह पाणितकं विपाच्य। लीढ्वातिसारमचिरेण जयेन्मनुष्यः ॥ 98 ॥

भावार्थ : जामुन, आम, नीम, नागरमोथा, अमलतास, घाई के फूल, इनका कषाय आठवाँ अंश बाकी रहे तब उतारकर उसे छान लेवें, फिर उसको दर्वी प्रलेप (जब तक करछली में चिपक जावें) होने तक पकाकर उतार लेवें। उस अवलेह के सेवन करने से अतिसार रोग दूर होता है।

सिद्धक्षीर

क्षीरं त्रिवृत्त्रिफलया परिपक्व माशु। कुक्ष्यामयं शमयति त्रिकटुप्रगाढम्॥
सिंधूत्थहिंगुमरिचातिविषाजमोद-शुंठीसमेतमथवा शतपुष्पयुक्तम् ॥ 99॥

भावार्थ : त्रिवि (निशोथ) त्रिफला, (हरड़, बहेड़ा, आँवला) त्रिकटु (सोठ, मिरच, पीपल) इनसे पकाये हुए दूध को पीने से अतिसार रोगदूर हो जाता हे। सैंधानमक, हींग, मिरच, अतीस अजवाइन, सोंठ इनसे पकाये हुए दूध अथवा सौंफ से युक्त दूध को पीने से अतिसार रोग दूर होता है।

उग्रगंधादिकाथ

उग्रांबुदातिविषयष्टिकषायमष्ट-भागावशिष्टमतिगाल्य विशिष्टमिष्टं ॥
अम्बष्टिकासहितमाशु पिबेन्मनुष्यो। गंगां रूणद्धि किमुताल्पतरातिसारम् ॥100॥

भावार्थ : वचा, नागरमोथा, अतीस, मुलैठी इनका अष्टभागावशेष कषाय बनाकर फिर उसको छान लेवें। उस कषाय में अंबाडा डालकर पीवें। इससे गंगा नदी के बाड के समान बहने वाला अतिसार

1. अंबष्ठिका का अर्थ पाठा (पहाडमूल) भी होता है।

भी उपशम होता है। अल्प प्रमाण वाले अतिसार की तो क्या बात है?

क्षीर का विशिष्ट गुण

गव्यं क्षीरं सुखोष्णं हितमतिचिरकालातिसारज्वरोन्मा-
दापध्यारामगुल्मोदश्यकृदनिलश्वासकासप्लिहासु ॥
अष्टीलाशर्करासृग्दरमंदतनुदाहभ्रमक्षीणरेतो ।
मूर्च्छाक्रांतेषु पीतं किमुत तदनुरूपौषधैस्सयप्रयुक्तम् ॥101॥

भावार्थ : मंदोष्ण दूध, पुराना अतिसार, जीर्णज्वर, उन्माद, अपस्मार, अश्मरी, गुल्म, उदर, यकृतदरवात, श्वासकास, प्लीहोदर, अष्टीला, शर्करा, असृग्दर, दाहरोग, भ्रम, क्षीणशुक्र, मूर्च्छा आदि अनेक रोगों के लिए हितकर है। उसको यदि तत्तद्रोगनाशक औषधियों से सिद्धकर प्रयोग किया जाये तो फिर कहना ही क्या है?

अतिसार में पथ्य

तक्रं सैंधवनागराढ्यमथवा मुद्गं रसं जीरकै-र्व्यामिश्रं घृतसैंधवैः समरिचैस्संस्कारमाप्तं भृशं॥
क्षीरं वाप्यजमोदसैंधवयुतं सम्यक्तया संस्कृत-माहारेषु हितं नृणां चिरतरातीसारजीर्णज्वरे॥ 102॥

भावार्थ : सैंधानमक, सोंठ से मिली हुई छाछ, अथवा मूंग के पानी में जीरा मिलाकर उसमें घी, नमक व मिर्च का छोंक देकर पीवें, अथवा अजवाईन, सैंधानमक से सिद्ध किया हुआ दूध यह सब अतिसार व जीर्ण ज्वर में हितकर है।

अंतिम कथन

इति जिनवक्त्रनिर्गतसुशास्त्रमहांबुनिधेः। सकलपदार्थविस्तृततरंगकुलाकुलतः॥
उभयभवार्थसाधनतटद्वयभासुरतो। निसृतमिदं हि शीकरनिभं जगदेकाहितम् ॥103॥

भावार्थ : जिसमें सम्पूर्ण द्रव्य, तत्त्व व पदार्थ रूपी तरंगें उठ रहे हैं, इहलोक-परलोक के लिए प्रयोजनीभूत साधन रूपी जिसके दो सुंदर तट हैं, ऐसे श्रीजिनेन्द्र के मुख से उत्पन्न शास्त्र समुद्र से निकली हुई बूँद के समान यह शास्त्र है। साथ में जगत् का एक मात्र हित साधक है। (इसलिए ही इसका नाम कल्याणकारक है)।

इत्यूग्रादित्याचार्यकृत कल्याणकारके चिकित्साधिकारेके
पित्यरोगचिकित्सितं नामादितो नवमः परिच्छेदः।

इत्युग्रादित्याचार्यकृत कल्याणकारक ग्रन्थ के चिकित्साधिकार में विद्यावाचस्पतीत्युपाविविभूषित **वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री** द्वारा लिखित **भावार्थदीपिका** टीका में पित्तरोगधिकार नामक **नवमा परिच्छेद** समाप्त हुआ।

अथ दशमः परिच्छेदः

कफरोगाधिकारः

श्लेष्मरोगाभिधानप्रतिज्ञा

मंगलाचरण

जीवाजीवाद्यशेषं विधिवदभिहितं येन तद्भेदभिन्नं।
ध्रौव्योत्पादव्ययात्माप्रकट - परिणतिप्राप्तमेतत्क्षणेस्मिन्॥
तं देवेंद्राभिवंद्यं जिनपतिमजितं प्राप्तसत्प्रातिहार्यं।
नत्वा श्लेष्मामयानामनुगतमखिलं संविधास्ये विधानम्॥1॥

भावार्थ : जिसने अपने-अपने भेदों से भिन्न तथा (अपने स्वभाव में स्थित होते हुए भी) परिणति को प्राप्त उत्पाद,व्यय, ध्रौव्यों से युक्त जीवादि द्रव्यों का विधि प्रकार निरूपण किया है और जो देवेन्द्रादियों के द्वारा पूज्य है, अष्ट महाप्रतिहार्यों कर युक्त हैं, ऐसे श्री अजितनाथ जिनेन्द्र को वंदना कर कफ रोगों के विषय में निरूपण करेंगे, इस प्रकार आचार्य प्रतिज्ञा करते हैं।

प्रकुपित कफ का लक्षण

स्तब्धं शैत्यं महत्त्वं गुरुतरकठिनत्वातिशतितातिकिडूं-।
स्नेहक्लेद-प्रसेकारुचिबमथुशिरोगौरवात्यंतनिद्राः ॥
मंदाग्नित्वाविपाकौ मुखगतलवणस्वादुता सुप्ततादिः।
श्लेष्मव्याधिस्वरूपाण्यविकलमधिगम्याचरेदौषधानि ॥2॥

भावार्थ : शरीर का स्तब्ध होना, ठण्डा पड़ जाना, फूल जाना, भारी हो जाना, कठिन, अतिशीत, अतिकंडू (खाज) चिकना, गीला हो जाना, थूक का पड़ना, अन्नादिक में अरुचि, शिरोगुरुता, अत्यधिक निद्रा, मंदाग्नित्व, अपचन, मुख नमकीन या स्वादु हो जाना, अंगों में स्पर्श ज्ञान का नाश हो जाना, यह सब कफ प्रकोप का लक्षण है। ये लक्षण जिन-जिन व्याधियों में पाये जाते हैं, उनको कफजव्याधि समझना चाहिए। इन लक्षणों को अच्छी तरह जानकर कुशल वैद्य तद्योग्य औषधियों के द्वारा उपचार करें।

श्लेष्म नाशक गण

सक्षारैरुष्णवर्गैर्लघुतर - विशदैरल्पमात्रान्नपानैः।
कौलत्यैर्मुद्गयूषैरतिकटुककलायाढकीनां रसैर्वा॥
तीव्रस्वेदोपवासैस्तिलज - परिगतोन्मर्दनाादिव्यवायैः।
श्लेष्मोद्रेकप्रशांति व्रजति कटुकतिक्तातिरूक्षैः कषायैः॥3॥

भावार्थ : क्षार पदार्थ, उष्ण पदार्थों के वर्ग, लघु व विशद (स्वच्छ) अल्प प्रमाण में अन्नपान का सेवन, कुलथी व मूंग का यूष, कटुक रस युक्त मटर व अरहर का पानी (पेया आदि) तीव्र स्वेदन, उपवास, तिल तैल से मर्दन, मैथुन सेवन एवं कडुवा, चरपरा, कषाय रस, रूक्ष पदार्थ इत्यादि से कफ विकार (कफप्रकोप) शांति को प्राप्त होता है।

कफनाशक उपाय

गण्डूषैस्सर्षपाद्यैर्लवणकटुकषायाति - तिक्तोष्णतोयैः।
निंबैः कारंजकाद्यैस्त्रिकटुकलवणोन्मिश्रितैर्दंतकाष्टैः॥
नारंगैर्वेत्रजातैश्चणक - विलुलितैर्मातुलुंगाम्ल[1]-वर्गैः।
सव्योषैस्सैंधवाद्यैः कफशमनमवाप्नोति मर्त्यः प्रयोगैः॥4॥

भावार्थ : सरसों आदि कफनाशक औषधियों के तथा लवण, चरपरा, कषाय, कड़वा रस, गरम पानी, इत्यादि औषधियों के गण्डूष[2] धारण करने से नीम, करंज, बबूल आदि कड़वा, चरपरा, कषाय रस दांतोन व सोंठ, मिरच, पीपल नमक मिश्रित दंत मंजन द्वारा, दंतधावन करने से, निंबू, वेत के कोंपल, चने का क्षार, बिजोरी निंबू, जम्बीरी निंबू, तिंतिडीक आदि अम्लवर्गोक्त पदार्थ एवं त्रिकटु सैंधानमक, कालानमक, समुद्रनमक, विडनमक व औद्भिद (ऊषर) नमक इनके प्रयोग से कफ शमन होता है।

भारंगिादि चूर्ण

भार्ङीहिंगूग्रगंधा- मरिच- बिड - यवक्षार- सौवर्चलैलाः।
कुष्टं - शुंठी - सपाठाकुटज-फलमहानिंबबीजाजमोदाः॥

1. अम्लवर्ग - अम्लवेतसजम्बीरलुङ्गाम्ललवणाम्लकाः नगरंगं तिंतिडीच र्चिचाफलसनिम्बुकं। चागेरी दाडिमं चैव करमर्दे तथैव च। एष चाम्लगणः प्रोक्तो बेतसाम्लसमायुतः॥ रसेन्द्रसारसंग्रहः
   अम्लवेत, जम्बारीनिम्बू, बिजौरा निंबू, चने का खार, नारंगी, तिंतिडीक, इमली के फल, नींबू, चांगेरी, (चुक्का) खट्टा अनार और कमरख इनको अम्लवर्ग कहा है।
2. औषधियों के कषाय को तब तक मुख में भरकर रखें जबतक कफादि दोष निकल न जाये उसे गण्डूष कहते हैं।

चव्याजाजीशताह्वादहन - गज- कणापिप्पलीग्रंथिसिंधून्।
चूर्णीकृत्याम्लवर्गैर्लुळितमसकृदाशोषितं चूर्णितं तत्॥ 5॥
पीत्वा-सौवीरमिश्रं - क्षपयति - यकृदष्टीलगुल्माग्निमांद्यं।
कासोर्ध्वश्वासशूलावमथुजठर - कुक्ष्यामयार्शप्लिहादीन्॥
तक्रेण श्लेष्मरोगान् घृतगुडपयसा पैत्तिकान् हंत्यशेषा-।
नुष्णांभस्तैलयुक्तं शमयति सहसा वातजातानमोघम्॥ 6॥

भावार्थ :भारंगी, हींग, वचा, मिरच, विडनमक, यवक्षार, कालानमक, इलायची, कूट, सोंठ, पाठा, कुटज फल (इंद्रजौ) महानिंब (वकायन) का बीज, अजवाइन, चाब, जीरा, सौंफ, चित्रक, गजपीपल, पीपल, सैंधानमक इनको चूर्ण करके अम्लवर्ग के औषधियों के रसों से इसमें अनेक बार भावना देकर कांजी मिलाकर पीवें, जिसमें यकृदुदर अष्टीलिका गुल्म, अग्निमांद्य खांसी, ऊर्ध्वश्वास, शूल, वमन, उदर रोग, कुक्षिरोग (संग्रहणी अतिसार आदि) प्लीहोदर आदि रोग दूर होते हैं तथा इस चूर्ण को छाछ में मिलाकर पीवें तो समस्त श्लेष्मरोग, घृतगुड व दूध में मिलाकर पीवे तो सर्व पित्तज रोग एवं गरम पानी व तेल में मिलाकर पीवें तो वातज रोग उपशमन होते हैं।

कफनाशक व खदिरादि चूर्ण

निबक्वाथं सुखोष्णं त्रिकटुकसहितं यः प्रपाय प्रभूतं।
छर्दिं कृत्वा समांशं खदिरकुटजपाठापटोलानिशानाम्॥
चूर्णं व्योषप्रगाढे प्रतिदिनमहिमेनांभसातत्पिबन्सः।
कुष्ठार्शः कीटकच्छून् शमयति कफसंभूतमातंकजातम्॥ 7॥

भावार्थ : त्रिकटुक से युक्त नीम के कषाय को थोड़ा गरम पिलाकर वमन कराना चाहिए। तदनंतर खैर, कुटज, पाठा, पटोलपत्र, हलदी, त्रिकटु, इनके समांशः चूर्ण को गरम पानी के साथ प्रतिदिन पिलाने से कुष्ठ, बवासीर, कीटकरोग, कच्छुरोग एवं कफोत्थ सर्व रोगों की उपशांति होती है।

व्योषादि चूर्णचतुष्क

व्योषं वा मातुलुंगोद्भवरससहितं सैंधवाढ्यं समांशं।
क्षारं वा मुष्कभस्मोदकपरिगलितं पक्व मारक्तचूर्णं॥
चूर्णं गोमूत्रपीतं समधृतमसकृत्त्रैफलं मार्कवं वा।
श्लेष्मव्याधीनशेषान् क्षपयति बहुमूत्रामयानप्रमेयान्॥8॥

भावार्थ : माहुलंग के रस सहित सैंधानमक, त्रिकुट के समांश चूर्ण, मुष्कवृक्ष के (मोखावृक्ष)

लालवर्ण का क्षार व समांश त्रिफला व भृंगराज चूर्ण गोमूत्र के साथ सेवन करने से सर्व कफ रोगों को दूर करते हैं एवं अत्यन्त कठिन साध्य बहुमूत्र रोग को भी उपशमन करते हैं।

हिंग्वादि चूर्णत्रय

हिंग्वेलाजाजिचव्यत्रिकुटक - यवजक्षारसौवर्चलं वा।
मुस्ताव्योषाजमोदामलकलवणपाठाभयाचित्रकं वा॥
शिग्रुग्रंथ्यक्षपथ्या - मरिचमगधजानागरैलाविडंगं।
चूर्णीकृत्योष्णतोयैर्घृतयुतमथवा पीतमेतत्कफघ्नम्॥ 9॥

भावार्थ : हींग, इलायची, जीरा, चाब, त्रिकटुक, यवक्षार, कालानमक, अथवा नागरमोथा, त्रिकुटु, अजवाइन, आंवला, सैंधालवण, पाठा, हरड़, चित्रक अथवा सेंजन, पीपलीमूल, बहेड़ा, हरड, मिरच, पीप्पली, सोंठ, इलायची, वायविडंग, इनको चूर्ण करके गरम पानी या घृत में मिलाकर पीने से कफ को नाश करता है।

विल्बविलेप

बिल्वाग्निग्रंथिकांताकुलहलकुनटी शिग्रुमूलाग्निमंथा-।
नर्कालर्कोग्रगंधात्रिकटुक - रजनीसर्षपोष्णीकरंजान्॥
कल्कीकृत्य प्रदेहः प्रबलकफमरुज्जातशोफानशेषा।
न्निर्मूलं नाशयेत्तान् दवदहन इवामेयतार्णोरुराशीन्॥ 10॥

भावार्थ : बेल, चित्रक, पीपलीमूल, रेणुकबीज, महाश्रवणी, गोरखमुण्डी, मनःशिला, सेंजनकाजड, अगेथु, अकौवा, सफेद अकौवा, वचा, त्रिकटु, हलदी, सरसौ, प्याज, करंज इनका कल्क बनाकर उसे लेपन करें, जिससे प्रबल कफ व वात से उत्पन्न हर तरह की सूजन दूर हो जाती है। बड़े भारी तृणराशी को जिस प्रकार दावानल नाश कर देती है, उसी प्रकार उक्त कल्क समस्त वातज और कफज रोगों को दूर करती है।

शिग्वादि लेप

शिग्रुव्याघातकाग्नि - त्रिकटुकहयमाराश्वगंधाजगधैः।
रेतैर्वा चक्रमर्दामलकलवणसद्वाकुचीभूशिरीषैः॥
क्षारांबुक्षीरतक्रैर्लवणजलयुतैः श्लक्ष्णपिष्टैस्समांशै-।
रुद्वत्याँलेपनार्थं क्षपयाति किटपान् दद्रुककच्छूनशेषान्॥11॥

भावार्थ : सेंजन, करंज, चित्रक, त्रिकटुक, अश्वमार (करनेर) अश्वगंध, रानतुलसी इनको अथवा चकोंदा, आंवला सैंधानमक, बाकुची भूशिरीष इनको समांश लेकर क्षारजल या दूध या छाछ, लवण जल के साथ पीसकर महीन लेपन करें, तो किटिभ कुष्ठ, दद्रु, कच्छू आदि अनेक कुष्ठविशेष

दूर होते हैं।

धात्र्यादि लेप

धात्र्यक्षाहाभयाख्या त्रिकटुकरजनीचक्रमर्दाद्रिकर्णी।
निंबव्याघातकाग्निद्रुमलवणगणैः कांजिकातक्रपिष्टैः॥
गाढाद्यावर्तनालेपनयुतविधिना दद्रुकंडूकिलास-।
प्रोसिध्मात्युग्रकच्छून् शमयति सहसा श्लेष्मरोगानशेषान् ॥ 12॥

भावार्थ : आँवला, बहेड़ा, हरड़, त्रिकटु, हल्दी, चकोंदा, कोइल, नीम, करंज, भिलावा, पाँचों लवण, इनको कांजी व छाछ में पीसकर अवलेपन करने से दद्रु, कंडू किलास सिध्मारोग, उग्रकच्छू आदि अनेक श्लेष्म रोग उपशम होते हैं।

धूमपानकबलधारणादि

धूमैर्वा ग्रंथिहिंगुत्रिकटुककुनटीभव्यभार्ङ्गीनिशानां।
कल्के नालिप्तसूक्ष्मांबरवृतबृहदेरण्डवृंतांतदत्तैः॥
सिद्धार्थैस्सर्षपाख्यैर्मरिचमगध-जानागरैश्शिग्रुमूलैः ।
श्लेष्मोद्रेकप्रशांतिं व्रजति कवल-गंडूषसेकप्रलेपैः॥13॥

भावार्थ : पीपलामूल, हींग, त्रिकटु, धनिया, कमरख, भार्ङ्गी, हल्दी, इनके कल्क को पतले वस्त्र पर लेप करके, उस कपड़े के बीच में एक एरण्ड का डंठल रखकर उसको लपेट लेवें। इस बत्ती में आग लगाकर, इसका धूमपान करने से तथा सफेद सरसों, सरसों, कालीमिरच, पीपल, सोंठ सेंजन का जड़ इनके कवलधारण गण्डूष, सेंक और लेप से, कफ प्रकोप का शमन होता है।

एलादि चूर्ण

एलात्वङ्नागपुष्पोषणकमगधजानागरं भागवृध्या।
संख्यातश्चूर्णितं तत्समसितसहितं श्रेष्टमिष्टं कफध्नम्॥
पित्तासृक्पांडुरोगक्षयमदगुदजारोचका - जीर्णगुल्म।
ग्रंथिश्वासोरुहिक्वाज्वरजठरमहाकासहृद्रोगनाशं॥ 14॥

भावार्थ : इलायची एकभाग, दालचीनी दो भाग, नागकेशर तीन भाग, पीपल चार भाग मिरच पाँच भाग, सोंठ छह भाग, इनको इस क्रम से लेकर चूर्ण कर सबके बराबर उसमें शक्कर मिलावें। इस चूर्ण के सेवन से कफ रोग दूर होता है तथा पित्तरक्त, पाण्डुरोग, मद, क्षय, अरुचि, अजीर्ण, खाँसी, हृदयरोग को यह चूर्ण नाश करता है, अतएव यह श्रेष्ठ है।

तालीसादि मोदक

तालीसंचैकभागं द्विगुणितमरिचं त्र्यंशशुंठीचतुर्भा-।
गाढ्यं सत्पिप्पलीकं त्वगमल[1]-बहुलं पंचभागप्रमाणं॥
चूर्णं कृत्वा गुडेनामलकसमकृतान्मोदकान् भक्षयित्वा।
कासोर्ध्वश्वासहिक्वाज्वरवमथुमदश्लेष्मरोगान्निहंति॥ 15॥

भावार्थ : एक भाग तालीस, दो भाग मिरच, तीन भाग सोंठ, चार भाग पीपल, दालचीनी इलायची ये दोनों मिलकर पाँच भाग लेकर किए हुए चूर्ण में गुड़ मिलाकर आँवले के बराबर गोली बनावें (इसे तालीसादि मोदक कहते हैं) उस मोदक को भक्षण करने से खाँसी, ऊर्ध्व श्वास, हिचकी ज्वर, वमन, मद व श्लेष्म रोग नाश होते हैं।

कफनाशक गण

शार्डे.ष्टानक्तमालाद्वयखदिर- फलाशाजकर्णाजशृंगैः।
पिप्पल्येला- हरिद्रा- द्वयकुटज- वचाकुष्ट- मुस्ताविडंगैः॥
निर्गुंडी-चित्रकारुष्करवरखरभूषार्जुनत्रैः फलाख्यै-।
र्भूनिंबारग्वधाद्यैः कफशमनमवाप्नोति सर्वप्रकारैः॥ 16॥

भावार्थ : काकजंघा, दोनों करंज, (करंज पुतीकरंज) खैर, फलाश, विजयसार, मेढसिंगी, पीपल, इलायची, हलदी, दारुहल्दी, कूडा की छाल, वच, कूट, नागरमोथा, वायुविडंग, निर्गुण्डी, चित्रक, भिलावा, मरवा, अर्जुन, त्रिफला, चिरायत्ता, अमलतास ये सब औषधियाँ कफशमन को करनेवाली है। कुशल वैद्य को उचित है कि वह विकारों के बलाबल को देखकर इन औषधियों का सर्वप्रकार (क्वाथ चूर्ण आदि) से प्रयोग कर कफ रोग का उपशमन करना चाहिए।

कफनाशक, औषधियों के समुच्चय

यत्तिक्तं यच्च रूक्षं यदपि च कटुकं यत्कषायं विशुष्कं।
यत्क्षारं यच्च तीक्ष्णं यदपि च विशदं यल्लघुद्रव्यमुष्णं॥
तत्तत्सर्वं कफघ्नं रसगुणमसकृत्सम्यगास्वाद्य सर्वं।
योज्यं भोज्येषु दोषक्रममिवगम्यातुराणां हितार्थम्॥ 17॥

भावार्थ : जो पदार्थ कडुवा है, रूक्ष है, चरपरा है, कषायला है, शुष्क है, क्षार है, तीक्ष्ण है, विशद है, लघु व उष्ण है, वे सर्व पदार्थ कफनाशक हैं। उन सर्व पदार्थों के रस व गुण बार-बार अच्छी

1. तुंगमवि बहुलां इति पाठांतरं। इसके अनुसार दालचीनी की जगह वंशलोचन ग्रहण करना चाहिए। लेकिन वंशलोचन बोधक तुगा शब्द है। तुंग नहीं है। तुंग शब्द से अन्य किसी औषध का बोध नहीं होता है। तथा तालीसादि चूर्ण में वंशलोचन आता है। वह कफ नाशक भी है। इसलिए इसको ग्रहण कर सकते हैं।

तरह जानकर एवं रोगियों के दोषाक्रम को भी अच्छी तरह जानकर उनके हित के लिए उन पदार्थों को भोजनादि में प्रयोग करना चाहिए।

वातनाशक गण

एरण्डी द्वे बृहत्यौ वरणकनृपवृक्षाग्निमंथाग्निशिग्रु-।
ख्याताकार्कालर्कतर्कार्यमरतरुमयूराख्यंटुटूक वृक्षाः॥
मूर्वाकोरंटपीलुस्नुहियुततिलकास्तिल्बकाः केबुकाख्याः।
वर्षाभूपाटलीकाः पवनकृतरुजाः शांतिमापादयंति॥18॥

भावार्थ : लाल व सफेद एरण्ड (छोटी बड़ी) दोनों कटेली, वरना, आमलतास, अगेथु, चित्रक का जड़, सेंजन, अकौवा, सफेद अकौवा की छाल, पाडल, तर्कारी देवदारु, लटजीरा, टेंटु, मूर्वा, पीयावास, पालु, सेहुण्ड, मरुआ, लोध, पतंग, पुनर्नवा, वे सब वात विकारों का उपशम करने वाले हैं।

वातघ्ने औषधियों के समुच्चयन

यत्तीक्ष्णं स्तिग्धमुष्णं लवणमतिगुरुद्रव्यमत्यम्लयुक्तं।
यत्सम्यक्पिच्छिलं यन्मधुरकटुकतिक्तादिभेदस्वभावम्॥
तत्तद्वातघ्नमुक्तं रसगुणमधिगम्यातुरारोग्यहेतोः।
पानाभ्यंगोपनाहाह्वतियुतपरिषेकावगाहेषु योज्यं ॥19॥

भावार्थ : जो-जो पदार्थ तीक्ष्ण हैं, स्निग्ध है, उष्ण है, खारा है, अत्यन्त गुरु है, खट्टा है, पिच्छल (लिवलिवाहट) है, मधुर है, चरपरा है, कडुआ आदि स्वभावों से युक्त हैं, वह वातविकार को नाश करने वाला है। पदार्थों के रस व गुण को समझकर रोगियों के हित के लिए उन पदार्थों को पान, अभ्यंग, पुल्टिष, आहार, सेंक, अवगाहन, आदि क्रियाओं में प्रयोग करना चाहिए।

पित्तनाशक गण

बिंबीनिंबेंद्र- पुष्पी- मधुक- ससहविश्वादिदेवीविदारी।
काकोलीबृश्चिकाल्यंजनकमधुक- पुष्पैरुशीराम्रसारैः॥
जबूरंभाम्बुदांब्वंम्बुजवर - निचुलैश्चंदनैलासमंगै-।
न्यग्रोधाश्वत्थवृक्षैः कुमुदकुवलयैः पित्तमायाति शांतिम्॥20॥

भावार्थ : कुंदरु, नीम, लवंग, मुलैठी, सहदेवी (वृक्ष) गंगेरन, विदारी कंद, काकोली, वृश्चिकाली रसोंत, महुवे का फूल, खस, आम्र, केला, नागर मोथा, सुगंध वाला, कमल जलबेत, चंदन, इलाइची, मंजिष्ठा, वट, अश्वत्व, नील कमल, स्वेत कमल इन पदार्थों के प्रयोग से पित्त का शमन होता है।

पित्तघ्न औषधियों के समुच्चय

यत्स्निग्धं यच्च शीतं यदपि च मधुरं यत्कषायं सुतिक्तं।
यत्साक्षात्पिच्छिलं यन्मृदुतरमधिकं यद्गुरूद्रव्यमुक्तम्॥
तत्तत्पित्तघ्नमुक्तं रसगुण - विधिना सम्यगास्वाद्य सर्वं।
भोज्याभ्यंगप्रलेपप्रचुरतरपरीषेकनस्येषु योज्यम्॥21॥

भावार्थ : जो-जो पदार्थ स्निग्ध हैं, शीत हैं, मधुर हैं, कषायला है, तीखा है, चिकना है, मृदुतर है, गुरु है, यह सब पित्त को उपशमन करने वाले हैं। इस प्रकार रस व गुणों को अच्छी तरह जानकर भोजन, अभ्यंग, लेपन, सेक व नस्यों में प्रयोग करना चाहिए।

त्वगादि[1] चूर्ण

त्वक्चैलो पिप्पलीका मधुरतरतुगा शर्कराचातिशुक्ला।
याथासंख्यक्रमेण द्विगुणगुणयुता चूर्णितं सर्वमेतत्॥
व्यामिश्रं भक्षयित्वा जयति नरवरो रक्तपित्तक्षयासृ-।
क्तृष्णाश्वासोरुहिक्काज्वरमदकसनारोचकात्यंतदाहान्॥22॥

भावार्थ : दालचीनी 1 भाग, इलायची 2 भाग, पीपल 4 भाग, वंशलोचन 8 भाग, शक्कर 16 भाग प्रमाण लेकर सुखाकर चूर्ण करें। फिर सबको मिलाकर खाने से यह मनुष्य रक्तपित्त, क्षय, रक्तृष्णा, श्वास, हिचकी, ज्वर, मद, खाँसी, अरुचि व अत्यन्त दाह आदि अनेक रोगों को जीत लेता है।

दोषों के उपसंहार

एवं दोषत्रयाणामभिहित मखिलं संविधानस्वरूपं।
श्लोकैःस्तौकैर्यथोक्तैरधिकृतमधिगम्यामयानप्रमेयान्॥
तत्तत्सर्वं नियुज्य प्रशमयतु भिषग्दोषभेदानुभेद-।
व्यामिश्राधिक्ययुक्त्या तदनुगुणलसद्भेषजानां प्रयोगैः॥23॥

भावार्थ : इस प्रकार, तीनों दोषों के प्रकोप के कारण, कुपित होने पर प्रकट होने वाले लक्षण और उसके प्रशमन उपाय आदि सर्व विषय थोड़े ही श्लोकों के द्वारा अर्थात् संक्षेप से निरूपण किया गया है। कठिनता से जानने योग्य इन रोगों के स्वरूप भेद आदि को अच्छी तरह जानकर, वैद्य को उचित है कि दोषों के भेद, अनुभेद, व्यामिश्र भेद, आधिक्य-अनाधिक्य इत्यादि अवस्थाओं पर ध्यान देते हुए उनके अनुरूप श्रेष्ठ औषधियों को युक्ति पूर्वक प्रयोगकर के रोगों को उपशमन करें।

1. इसे व्यवहार में सीतोपलादि चूर्ण के नाम से कहते हैं।

लघुताप्रदर्शन

द्रव्याण्येतान्यचिंत्यान्यगणितरसवीर्यप्रपाकप्रभावा-।
न्युक्तान्यन्यान्यनुक्तान्यधिकतरगुणान्यद्भुतान्यल्पशास्त्रे॥
वक्तुं शक्नोति नान्यस्त्रिभुवनभवनांभ्यंतरानेकवस्तु-।
ग्राहिज्ञानैकचक्षुस्सकलविदपि मोमुह्यते मद्विधःकिम्॥24॥

भावार्थ : अभी तक जो औषधियों के वर्णन किए गए हैं वे अचिंत्य है, अगणित रस वीर्य विपाक प्रभावों से संयुक्त हैं। लेकिन अधिक व अद्भुत गुणयुक्त और भी अनेक औषध मौजूद हैं, जिनका वर्णन यहाँ नहीं किया है। क्योंकि अगणित शक्ति के धारक, असंख्यात अनंत द्रव्यों का कथन इस अल्पशास्त्र में कैसे किया जा सकता है ? इस तीन लोक के अंदर रहने वाले अनेक वस्तुओं को जानने में जिन का ज्ञान समर्थ है, इसीलिए सर्वविद् हैं, ऐसे वैद्यों के कथन में भी औषधद्रव्य अपूर्ण रह जाते हैं तो फिर मुझ सरीखों की क्या बात है।

चिकित्सासूत्र

दोषान्विचार्य गुणदोषविशेषयुक्त्या। सद्भेषजान्यपि महामयलक्षणानि॥
योग्यौषधैः प्रतिविधाय भिषग्विपश्चि-द्रोगान् जयत्याखिलरोगबलप्रमाथी॥ 25॥

भावार्थ : सम्पूर्ण रोग रूपी सैन्य को मारने में समर्थ विद्वान वैद्य, दोषों के विषय में विचार करते हुए, अर्थात् किस दोष से रोग की उत्पत्ति हुई है? कौन-सा प्रबल है, अबल है आदि बातों पर ध्यान देते हुए श्रेष्ठ भेषजों के गुणदोषों को युक्ति पूर्वक समझकर तथा महारोगों के लक्षणों को भी जानकर योग्य औषधियों द्वारा चिकित्सा करके रोगों को जीतता है, अथवा जीतना चाहिए।

औषधि का यथालाभ प्रयोग

सर्वैरेतैः प्रोक्तसद्भेषजैर्वाप्यर्धैरर्धैर्वा यथालाभतो वा।
योग्यैर्योगैः प्रत्यनीकैः प्रयोगैः रोगाश्शाम्यंत्यद्वितीयैरमोघैः॥ 26॥

भावार्थ : जो तत्तद्रोगनाशक, औषधगण (अभी तक कहे हैं) वे स्वकार्य करने में अद्वितीय हैं, व अमोघ हैं, इसलिए योग्य योग है। अतएव सर्व औषधियों द्वारा यदि गणोक्त सम्पूर्ण औषधियाँ न मिलें तो आधा व उसके आधा, अंततो जितने मिलें उतनी ही औषधियों से चिकित्सा करें तो रोग अवश्य शमन होते हैं।

साध्यासाध्य रोगों के विषय में वैद्य का कर्तव्य

साध्यान्व्याधीन् साधयेदौषधाद्यै। र्याप्यान् व्याधीन् यापयेत्कर्मभेदैः॥
दुर्विज्ञेयान् दुश्चिकित्स्यानसाध्यानुक्त्वा वैद्यो वर्जयेद्वर्जनीयान्॥ 27॥

भावार्थ : साध्य रोगों को औषधादिक प्रयोग से साधन करना चाहिए। याप्य रोगों को कुशल क्रियायों के द्वारा याप्य करना चाहिए। दुर्विज्ञेय व दुश्चिकित्स्य ऐसे असाध्य रोगों की असाध्य समझकर व कहकर छोड़ना चाहिए।

अंतिम कथन

इति जिनवक्त्रनिर्गतसुशास्त्रमहांबुनिधेः। सकलपदार्थविस्तृततरंगकुलाकुलतः॥

उभयभवार्थसाधनतटद्वयभासुरतो। निसृतमिदं हि शीकरनिभं जगदेकाहितम्॥ 28॥

भावार्थ : जिसमें सम्पूर्ण द्रव्य, तत्त्व व पदार्थ रूपी तरंग उठ रहे हैं, इहलोक-परलोक के लिए प्रयोजनीभूत साधनरूपी जिसके दो सुंदर तट हैं, ऐसे श्रीजिनेन्द्र के मुख से उत्पन्न शास्त्र समुद्र से निकली हुई बूँद के समान यह शास्त्र है। साथ में जगत् का एक मात्र हितसाधक है (इसलिए ही इसका नाम कल्याणकारक है)।

इत्युग्रादित्याचार्यकृत कल्याणकारके चिकित्साधिकारे

श्लेष्मव्याधिचिकित्सितं नामदितो दशमः परिच्छेदः।

इत्यग्रादित्याचार्यकृत कल्याणकारक ग्रन्थ के चिकित्साधिकार में विद्यावाचस्पतीत्युपाधिधिभूषितः वर्धमान पार्श्वनाथशास्त्री द्वारा लिखित भावार्थदीपिका टीका में कफरोगधिकार नामक दशम परिच्छेद समाप्त हुआ।

अथैकादशः परिच्छेदः

महामयाधिकारः

मंगलाचरण व प्रतिज्ञा

श्रियामधीशं परमेश्वरं जिनं। प्रमाणनिक्षेपनयप्रवादिनम्॥

प्रणम्य सर्वामयलक्षैणस्सह। प्रवक्ष्यते सिद्धचिकित्सितं क्रमात्॥1॥

भावार्थ : अंतरङ्ग बहिरङ्ग लक्ष्मी के स्वामी, परमैश्वर्य से युक्त, प्रमाण, नय व निक्षेप के द्वारा वस्तुतत्त्व को कथन करने वाले श्री जिनेन्द्रभगवान् को प्रमाण करके क्रमशः समस्त रोगों के लक्षणों के साथ सिद्ध चिकित्सा का वर्णन भी किया जायगा।

प्रतिज्ञा

नकश्चिदस्यास्ति विकारसंभवो। बिना समस्तैरिह दोषकारणैः॥

तथापि नामाकृतिलक्षणेक्षितानशेषरोगान्सचिकित्सितान् ब्रुवे॥2॥

भावार्थ : वात पित्त कफ, इस प्रकार तीन दोषों के विना कोई विकार (रोग) की उत्पत्ति होने की संभावना नहीं। फिर भी रोगों के नाम, आकृति, लक्षण आदिकों को कथन करते हुए, तत्तद्रोगों की चिकित्सा भी कहेंगे।

वर्णन क्रम

महामयानादित एव लक्षणैस्सरिष्टवर्गैरपि तत्क्रियाक्रमैः।

ततः परं क्षद्रुरुजागणानथ। ब्रवीमि शालाक्यविषौषधैस्सह॥ 3॥

भावार्थ : सबसे पहले महारोगउनके लक्षण, मरणसूचक चिह्न व उनकी चिकित्सा भी क्रम से कहेंगे। तदनंतर क्षुद्ररोग समुदायों का, शालाक्यतंत्र व अगदतंत्र का वर्णन करेंगे।

महामय संज्ञा

महामया इत्यखिलाभयाधिकाः। प्रमेहकुष्ठोदरदुष्टवातजः॥

समूढगर्भं गुदजांकुराश्मरी। भगंदरं चाहुरशेषवेदिनः॥ 4॥

भावार्थ : सब विषय को जानने वाले (सर्वज्ञ) प्रमेह, कुष्ठ, उदररोग, वातव्याधि, मूढगर्भ, बवासीर, अश्मरी, भगंदर, इनको महारोग कहते हैं।

महामय वर्णन क्रम

महामयानामखिलां क्रियां ब्रुवे। यथाक्रमाल्लक्षणतच्चिकित्सितैः॥
असाध्यसाध्यदिकरोगसंभवप्रधानसत्कारणवारणादिभिः॥ 5॥

भावार्थ : उन महारोगों की सम्पूर्ण चिकित्सा, क्रम से लक्षण, साध्यासाध्य विचार रोगोत्पत्ति के प्रधान कारण, रोगोत्पत्ति को रोकने के उपाय, आदियों के साथ निरूपण करेंगे।

अथ प्रमेहाधिकारः

प्रमेह निदान

गुरुद्रवस्निग्धहिमातिभोजनं। दिवातिनिद्रालुतया श्रमालसं॥
नरं प्रमेहो हि भविष्यतीरितं। विनिर्दिशेदाशु विशेषलक्षणैः॥ 6॥

भावार्थ : गुरु, द्रव्य, स्निग्ध व ठंडा भोजन अधिक करने से, दिन में अधिक निद्रा लेने से, श्रम न करने से आलस्य करने से प्रमेह रोग उत्पन्न होता है। लक्षणों के प्रकट होने पर उन्हें देखकर प्रमेह रोग हैं, ऐसा निश्चय करना चाहिए।

प्रमेह का पूर्वरूप

स्वपाणिपादांगविदाहता तृषा। शरीरसुस्निग्धतयातिचिक्कणम्॥
मुखातिमाधुर्यमिहातिभोजनम्। प्रमेहरूपाणि भवंति पूर्वतः॥ 7॥

भावार्थ : अपने हाथ पैर व अंग में दाह उत्पन्न होना, अधिक प्यास लगना, शरीर स्निग्ध व अतिचिकना होना, मुख अत्यन्त मीठा होना, अधिक भोजन करना, यह सब प्रमेह रोग के पूर्व रूप है।

प्रमेह की संप्राप्ति

अथ प्रवृत्ताः कफपित्तमारुतास्समेदसो बस्तिगताः प्रपाकिनः॥
प्रमेहरोगान् जनयंन्त्यथाबिल-प्रभूतमूत्रं बहुशस्स्रुवंति ते॥ 8॥

भावार्थ : प्रकुपित कफ, पित्त व वात भेद के साथ-साथ बस्ति में जाकर जब परिपाक होते हैं तब प्रमेह रोग को उत्पन्न करते हैं। इससे गंदला मूत्र अधिक प्रमाण से निकलने लगता है, यही प्रमेह का मुख्य लक्षण है।

प्रमेह विविध है

इह प्रमेहा विविधा स्त्रिदोषजास्स्वदोषभेदात् गुणमुख्यभावतः॥
त एव सर्वे निजदुर्जया मताः। नटा इवानेकरसस्वभाविनः॥ 9॥

भावार्थ : यह प्रमेह, वात, पित्त कफ, इन दोषों से उत्पन्न होने पर भी दोष भेद व दोषों के गौण मुख्य भेद के कारण अनेक प्रकार का होता है। जैसे-नाटक में एक ही वेषधारी, अनेक रस व स्वभाव में मग्न रहता है। वैसे ही यह प्रमेह अनेक प्रकार का होता है। सम्पूर्ण प्रमेह, स्वभाव से ही दुर्जय होते हैं।

प्रमेह का लक्षण

स पूर्वरूपेषु बहूदकं यदा। स्रवेत्प्रमेहीति विनिर्दिशेन्नरं॥
प्रमीढ इत्येव भवेत्प्रमेहवान्। मधुप्रमेही पिटकाभिरन्वितः॥ 10॥

भावार्थ : जब पूर्व रूप प्रकट होते हुए यदि अधिक मूत्र को विसर्जन करने लगेगा, तब उसे प्रमेह रोग कहना चाहिए। प्रमेहवान् को प्रमीढ ऐसा कहते हैं। यदि प्रमेह की चिकित्सा शीघ्र नहीं की जावे तो, वही कालांतर में मधुमेह के रूप को धारण कर लेता है। इसलिए रोगी मधुमेही कहलाता है एवं प्रमेहपिटिका (फुंशी) से युक्त होता है।

दशविध प्रमेहपिटकाः

शराविका सर्षपिका सजालिनी। सपुत्रिणी कच्छपिका मसूरिका॥
विदारिका विद्रधिकालजी मता। प्रमेहिणां स्युःपिटका दशैव ताः॥11॥

भावार्थ : शराविका, सर्पपिका, जाहिनी, पुत्रिणी, कच्छपिका, मसूरिका, विदारिका, विद्रधिका, अलजी, विनता इस प्रकार वह प्रमेहपिटक दश प्रकार के हैं।

शराविका लक्षण

समेचका क्लेदयुतातिवेदना। सनिम्नमध्यन्निततोष्ठसंयुता॥
शरावसंस्थानवरप्रमाणता। शराविकेति प्रतिपाद्यते बुधैः॥12॥

भावार्थ : वह पिटक अनेक वर्ण व स्राव युक्त हो, अतिवेदना युक्त हो उसका मध्यभाग नीचा व किनारा ऊँचा होकर सरावेके आकार में हो, तो उसको विद्वान् लोक शराविका कहते हैं।

सर्षपिका लक्षण

सशीघ्रपाका महती सवेदना। ससर्षपाकारसमप्रमाणता॥
ससूक्ष्मका स्वल्पघना द्विधा च सा। प्रभाषिता सर्षपिका विदग्धकैः॥13॥

भावार्थ : जल्दी पकने वाला, अतिवेदना से युक्त, सरसों के आकार के बराबर होता हो, छोटे-छोटे हो, ऐसे पिटकों को विद्वान् लोक सर्षपिका कहते हैं।

जालिनी लक्षण

समांसनाडीचयजालकावृता। महाशयात्यर्तिसतोदनान्विता॥
सुस्निग्धसंस्रावि ससूक्ष्मरंध्रका। स्तब्धा सजालिन्यपि कीर्त्यते ततः॥14॥

भावार्थ : जो माँस व नाड़ी समूह के जाले से आवृत हो, बड़ा हो, अत्यन्त पीड़ा व तोदन से युक्त हो, स्निग्ध हो, जिससे स्राव होता हो, सूक्ष्मरंध्रों से युक्त हो, स्तब्ध हो उसको जालिनी पिटक कहते हैं।

पुत्रिणी, कच्छपिका, मसूरिका लक्षण

ससूक्ष्मकाभिः पिटकाभिरन्विता। प्रवक्ष्यते सा महती सपुत्रिणी।
महासमूलातिघनार्तिसंयुता। सकच्छपापृष्टनिभातितोदना॥ 15॥
सदापि संश्लक्ष्णगुणातिखेदना[1]। निगद्यते कच्छपिकापि पण्डितैः।
मसुरकाकारवरप्रमाणा मनाक् सतोदा च मसूरिकोक्ता॥16॥

भावार्थ : सूक्ष्मपिटक युक्त हो व बड़ी हो, उसे पुत्रिणी कहते हैं एवं मूल में जो बड़ी हो, बड़े भारी पीड़ा से युक्त हो, कछुवे के पीठ के समान आकार वाली हो, अतितोदन से युक्त हो, चिकनी हो, अत्यन्त खेद उत्पन्न करने वाली हो उसे विद्वान् लोग कच्छपिका कहते हैं। मसूर के आकार से युक्त व तोदन से सहित पिटक को मसूरिका कहते हैं।

विदारी, विद्रधि, विनता का लक्षण

विदारिका कंदकठोरवृत्तता। विदारिका वेदनया समन्विता।
सविद्रधिः पंचविधः प्रकल्पितः। समस्तदोषैरपि कारितैः पुरा॥ 17॥
सवर्णकः शीघ्रविदाहितायास्साविद्राधिश्चेद्विविधो मयोदितः।।
उन्नम्य तीव्रैर्दहति त्वचं सा स्फोटैर्वृता कृष्णतरातिरक्ता ॥ 18॥
तृण्मोहसंजूर्तिकरी सदाहा भूयिष्ठकष्टाप्यलजी समुक्ता।
पृष्ठोदराद्यन्यतरप्रसिद्धाधिस्थानभूता महती सतोदा॥ 19॥
गाढातिस्रक्क्लेदयुता सनीला। संकल्पितेयं विनताः विराजिता ॥
त्रिदोषजास्सर्वगुणास्समस्तास्त्रिदोषलक्ष्मांकितवर्णयुक्ता॥ 20॥

भावार्थ : विदारिका कंद के समान कठोर व गोल जो रहती है, उसे विदारिका कहते हैं। समस्त दोषों से उत्पन्न, वेदना से युक्त विद्रधि पाँच प्रकार से विभक्त है। फिर भी मुख्य रूप से यहाँ सवर्णक व शीघ्रविदाहि के भेद से दो ही प्रकार से वर्णन किया है। उठती हुई जो त्वचा में खूब दाह उत्पन्न करती हो, फफोले से युक्त हो, जिसका वर्ण काला व लाल हो, तृषा व मोह दाह को करती हो, जो अत्यन्त कष्टमय हो उसे अलजी कहते हैं। पृष्ठ उदर स्थानों में से किसी एक स्थान में होकर उत्पन्न अत्यन्त तोदन से (सुई चुभने जैसी पीड़ा) युक्त, पीड़ा व गाढ़ स्राव से युक्त नीलवर्ण वाली, इसे विनता कहते हैं। तीन दोषों से पिटिकाओं की उत्पत्ति होती है। इसलिए इसमें तीनों दोषों में कहे गए लक्षण गुण आदि पाये जाते हैं।

1. भेदना

पिटिकाओं के अन्वर्थ नाम

शराविकाद्याः प्रथितार्थनामकास्सविद्रधिश्चापि भवेत्साविद्रधिः ॥
सरक्ताविस्फोटवृतालजी मता-प्युपद्रवान् दोषकृतान् ब्रवीम्यहम् ॥ 21 ॥

भावार्थ : उपर्युक्त शराविका आदि पिटिकायें अन्वर्थ नामों से युक्त हैं। अर्थात् नाम के अनुसार आकृति गुण आदि पाये जाते हैं, जैसे कि जो विद्रधि के समान है, उसका नाम विद्रधि है। तथा, जो लाल स्फोटों (फफोले जैसे) से युक्त हो, उसका नाम अलजी है। अब हम दोषों से उत्पन्न उपद्रवों को कहते हैं।

कफप्रमेह का उपद्रव

अरोचकाजीर्णकफप्रसेकता-प्रपीनसालस्यमथाति निद्राः।
समक्षिकासर्पणमास्यपिच्छिलं। कफप्रमेहेषु भवंत्युपद्रवाः ॥22 ॥

भावार्थ : अरुचि, अजीर्ण, कफ गिरना, पीनस (नाक के रोग विशेष) आलस्य, अतिनिद्रा रोगी के ऊपर मक्खी बैठना, मुख में लिवलिवाहट होना, इत्यादि कफज प्रमेह में उपद्रव होते हैं।

पैत्तिक प्रमेह के उपद्रव

समेद्मुष्ककक्षतवस्तितोदनं। विदाहकृच्छ्रलपिपासिकाम्लिकम् ॥
ज्वरातिमूर्च्छामदपाण्डुरोगताः। सपित्तमेहेषु भवंत्युपद्रवाः ॥ 23 ॥

भावार्थ : लिंग, अण्डकोश में जखम होना व बस्तिस्थान (मूत्राशय) में दर्द को करने वाले शूल अर्थात् पैत्तिक शूल होना, विदाह, पिपास, (प्यास) मुख में खट्टा मालूम होना, ज्वर, मूर्छा, मद पाण्डुरोग ये सब पित्तप्रमेह में होने वाले उपद्रव हैं।

वातिक प्रमेह के उपद्रव

सहृद्ग्रहं लौल्यमनिद्रया सह। प्रक्वम्पशुलातिपुरीषबंधनम्।
प्रकासाहिक्काश्वसनास्यशोषणं। सषातमेहेषु भवंष्युपद्रवाः ॥ 24 ॥

भावार्थ : हृदय का ग्राह (कोई पकड़कर खींचता हो ऐसे मालूम होना) इन्द्रियों के विषय में लोलुपता होना, निद्रा नहीं आना, शरीर में कंप (कांपना) अतिशूल, मलावरोध, खाँसी, हिचकी, श्वास होना, मुख के सूखना ये सब वातप्रमेह में होने वाले उपद्रव है।

प्रमेह असाध्य लक्षण

वसाघृतक्षौद्रनिभं स्रवंति ये। मदांधगंधेभजलप्रवाहवत् ॥
सृजंति येमूत्रमजस्रमाविलं। समन्विता ये कथतैरुपद्रवैः ॥ 25 ॥
गुदांसहृत्पृष्ठशिरोगलोदरस्वमर्मजाभिः पिटकाभिरन्विताः ॥
पिबंति ये स्वप्नगतास्तरंति ये नदीसमुद्रादिषु तोयमायतम् ॥ 26 ॥

यथोक्तदोषानुगतैरुपद्रवैस्समन्विता ये मधुवत्क्षरंत्यपि ॥

विशीर्णगात्रा मनुजाः प्रमेहिणोऽचिरान्म्रियंते न च तानुपाचरेत् ॥27॥

भावार्थ : वसा, घृत, मधु के समान व मदोन्मत्त हाथी के गण्डस्थल से स्राव होने वाले मदजल के समान जिनका गंदला मूत्र बह रहा हो एवं उपर्युक्त उपद्रवों से सहित हो, गुदाअंस (कंधा) हृदय, पीठ, शिर, कंठ, पेट व मर्मस्थान में जिनको पिटिकायें उत्पन्न हुई हों एवं स्वप्न में नदी, समुद्र इत्यादि को तैरते हो या उनका पानी पीते हो पूर्वोक्त दोषानुसार उपद्रवों से युक्त हो, मधु के समानमूत्र भी निकलता हो, जिनका शरीर अत्यन्त शीर्ण (शिथिल) हो चुका हो, ऐसे प्रमेही रोगी जल्दी मर जाते हैं। उनकी चिकित्सा करना व्यर्थ है।

प्रमेह चिकित्सा

सदा त्रिदोषाकृतिलक्षणेक्षित - प्रमेहरूपाण्यधिगम्य यत्नतः।

भिषक्तदुद्रेकवशादशेषवित् क्रियां विदध्यादखिलप्रमेहिणां॥ 28॥

भावार्थ : सर्व विषय को जानने वाले, वैद्य को उचित है कि वह उपर्युक्त प्रकार से त्रिदोषों से उत्पन्न प्रमेह का लक्षण व आकर को दोषोद्रेक के अनुसार, प्रयत्नपूर्वक जानकर, सम्पूर्ण प्रमेहियों की चिकित्सा करें।

कर्षणबृंहण चिकित्सा

कृशस्तथा स्थूल इति प्रमेहिणौ। स्वजन्मतोऽपथ्यनिमित्ततोऽपि यौ॥

तयोः कृशस्याधिकपुष्टिवर्धनैः। क्रियां प्रकुर्यादपरस्यःकर्षणैः ॥29॥

भावार्थ : जन्म से अथवा अपथ्य के सेवन से प्रमेह के रोगी दो प्रकार के होते हैं। एक कृश (पतला) दूसरा स्थूल (मोटा) उनमें कृश को पुष्टि देने वाला औषधियों से पुष्ट व स्थूल को कर्षण (पतला करने वाले) प्रयोग से कृश करना चाहिए।

प्रमेहियों के लिए पथ्यापथ

सुरासवारिष्टपयोघृताम्लिका। प्रभूतमिष्टान्नदधीक्षुभक्षणम्।

विवर्जयेन्मांसमापि प्रमेहवान्। विरूक्षणाहारपरो नरो भवेत्॥ 30॥

भावार्थ : प्रमेही रोगी मद्य, आसवारिष्ठ, दूध, घी, इमली (अन्य खट्टे पदार्थ) मिष्टान्न, दही, ईख, मांस आदि आहार को छोड़कर रुक्षाहार को लेवें।

प्रमेही के वमन विरेचन

तिलातसीसर्षपतैलभावितं - स्वदेहमेहातुरमाशु वामयेत्।

सनिंबतोयैर्मदनोद्भवैः फलै-विरेचयेच्चापि विरेचनौषधैः॥ 31॥

भावार्थ : प्रमेही रोगी के शरीर को तिल, अलसी व सरसों के तेल से स्नेहित (स्नेहनक्रिया) करके नीम का रस व मेनफल के कषाय से वमन कराना चाहिए एवं विरेचन औषधियों द्वारा विरेचन कराना चाहिए।

निरूहबस्ति प्रयोग

विरेचनानंतरमेव तं नरं। निरूहयेच्चपि निरूहणौषधैः।
गवांबुयुक्तैस्तिलतैलमिश्रितै-स्ततो विशुद्धांगममीभिराचरेत्॥ 32॥

भावार्थ : विरेचन के अनंतर गोमूत्र व तिलतैल से मिश्रित निरूहण औषधियों के द्वारा निरूह बस्ति देनी चाहिए। उसके बाद उस शुद्ध अंग वाले को, निम्नलिखित पदार्थों से उपचार करें।

प्रमेही के लिए भोज्य पदार्थ

प्रियंगुकोद्दालकशालिपिष्टकैः। सकंगुगोधूमयवान्नभोजनैः।
कषायतिक्तैः कटुकैस्सहाढकी- कलायमुद्गैरपि भोजयेद्भिषक्॥ 33॥

भावार्थ : प्रियंगु (फूलप्रियंगु) जंगली कोद्रव, शालिधानका आटा, कांगुनी धान, गेंहू, जौ तथा कषायले, चरपरे कडुवे पदार्थों के साथ एवं अरहर, मटर व मूंग का उसे भोजन करना चाहिए।

आमलकारिष्ट

निशां चविचूर्ण्यामलकांबुमिश्रितां। घटे निषिक्य प्रपिधाय संस्कृते।
सधान्यकूपे निहितं यथाबलं निहंति मेहान् क्रमतो निषेवितम्॥ 34॥

भावार्थ : हलदी को अच्छी तरह पीसकर आँवले के रस या काढ़े में मिलावें। फिर उसे एक धूप आदि से संस्कृत घड़े में डालकर उसका मुँह अच्छी तरह बाँधे। फिर धान से भरे हुए, गड्ढे में (एक महिने तक) रखें। फिर वहाँ अच्छी तरह संस्कृत होने के बाद निकालकर प्रमेही को सेवन करावें तो प्रमेह रोगदूर हो जाता है।

निशादि क्वाथ

निशां समुस्तात्रिफलां सुरेंधनम्। विपच्य निष्क्वाथमिह प्रयत्नतः।
प्रपाय नित्यं कफमेहमागम-प्रणीतमार्गाद्विजिन्द्रियो जयेत्॥ 35॥

भावार्थ : जिसने आगमोक्त मार्ग से, इन्द्रियों को जीत लिया है, ऐसे प्रमेह रोगी को हलदी, नागरमोथा, त्रिफला, देवदारु इनसे बनाये हुए कषाय को सदा पिलाकर कफप्रमेह को जीतना चाहिए।

चंदनादि क्वाथ

सचंदनेन्द्राशनतिंदुकद्रुमैः। क्षरत्पयोवृक्षगणैः फलत्रयैः।
कृतं कषायं घनकल्कमिश्रितं सपायेत्पैत्तकमेहजातकान्॥ 36॥

भावार्थ : चंदन, जायफल, इंद्र, असन, तेंदुवृक्ष, पंच क्षीरीवृक्ष (बड़, गूलर, पीपल, पाखर, शिरीष) त्रिफला इनसे बनाये हुए कषाय में नागरमोथा का कल्क मिलाकर पिलाने से पैत्तिक प्रमेह दूर होता है।

कपित्थादि क्वाथ

कपिस्थबिल्वासनधावनीनिशा। हरीतकाक्षामलकार्जुनांघ्रिपैः।
श्रितं कषायं प्रपिबेत् जितेन्द्रियो। जयेत्प्रमेहानखिलानुपद्रवैः॥37॥

भावार्थ : कैथ, बेल, विजयसार, पिठवन, हलदी, हरड, बहेड़ा, आँवला, और अर्जुनवृक्ष की छाल से बनाये हुए कषाय को पीने से जितेन्द्रिय रोगी प्रमेह रोग को उपद्रव के साथ-साथ जीत लेता है।

खर आदि के मलोपयोग

खरोष्ट्रगोमाहिषवाजिनां शकृद्रसेन संमिश्रितपिष्टभक्षणैः।
तथैव तद्भस्मविगालितोदकप्रपानभोजैर्ययति प्रमेहवान्॥ 38॥

भावार्थ : गधा, ऊंट, गाय, भैंस, घोड़ा इनके मलरस से मिश्रित शालि गेंहू आदि के आटे को खाने से एवं उसी मल को जलाकर बनाये हुए भस्म से छने हुए जल को पान भोजन में उपयोग करने पर प्रमेह रोग दूर होता है।

त्रिफला क्वाथ

फलत्रिकक्वाथघृतं शिलाजतु। प्रमाय मेहानखिलानशेषतः॥
जयेत्प्रमेहान् सकलैरुपद्रवैः। सह प्रतीतान् पिटकाभिरन्वितान्॥39॥

भावार्थ : त्रिफला, घी, शिलाजीत इनका क्वाथ बनाकर पिलावें, तो अनेक उपद्रवों से सहित एवं प्रमेह पिटकों से युक्त सर्वप्रमेह रोग को भी पूर्ण रूपेण जीत लेता है।

प्रमेही के लिए विहार

सदा श्रमाभ्यासपरो नरो भवेदशेषमेहानपहर्तुमिच्छया।
गजाश्वरोहैरखिलायुधक्रम-क्रियाविशेषैः परिधावनादिभिः॥40॥

भावार्थ : प्रमेहरोग को नाश करने के लिए मनुष्य सदाकाल परिश्रम करने का अभ्यास करें। हाथी पर चढ़ना, घोड़े पर चढ़ना, आयुध लाटी वगैरह चलाना व दौड़ना आदि क्रिया विशेषों से, श्रम होता है। इसलिए प्रमेही को ऐसी क्रियावों में प्रवृत्त होना चाहिए।

कुलीन को प्रमेहजयार्थ क्रिया विशेष

कुलीनमार्तं धनहींनमद्भुतं। प्रमेहिनं साधु वदेदतिक्रमात्।
मडंबघोषाकरपट्टणादिकान्। विहृत्य नित्यं व्रज तीर्थयात्रया॥41॥

भावार्थ : जिसका रोग कृच्छ्रसाध्य है, ऐसा प्रमेही यदि कुलीन हो एवं धनहीन हो तो उसे ग्राम नगरादिक को छोड़कर पैदल तीर्थयात्रा करने के लिए कहें, जिससे उसे श्रम होता है।

प्रमेहजयार्थ नीचकुलोत्पन्न का क्रियाविशेष

कुलेतरः कूपतटाकवापिकाः। खनेत्तथा गां परिपालयेत्सदा।
दिवैकबेलाप्रगृहतिभैक्षभुग्जलं पिबेद्गोगणपानमानितम्॥ 42॥

भावार्थ : नीचकुलोत्पन्न एवं निर्धन प्रमेही कुआँ, तालाब आदि को खोदें एवं उसे गाय-भैंस आदि को चराने के लिए कहें। भिक्षावृत्ति से प्राप्त भोजन को दिन में एक बार खाना चाहिए तथा गायों को पीने लायक ऐसा पानी पीना चाहिए।

पिटिकोत्पत्ति

यथोक्तमार्गाचरणौषधादिभिः। क्रियाविहीनस्य नरस्य दुस्सहाः।
अधःशरीरे विविधा विशेषतो। भवन्त्यथोक्ताः पिटिकाः प्रमेहिणः॥43॥

भावार्थ : उपरोक्त प्रकार से आहार, विहार, औषध आदि द्वारा प्रमेह रोगी की चिकित्सा न की जावे, तो उसके शरीर के निचले भाग में नाना प्रकार की दुस्सह पूर्वकथित पिटिकायें निकलती हैं।

प्रमेहपिटिका चिकित्सा

अतस्तु तासां प्रथमं जलायुका-निपातनाच्छोणितमोक्षणं हितम्।
विरेचनं चापि सुतीक्ष्णमाचरेन्मधुप्रमेही खलु दुर्विरिच्यते॥ 44॥

भावार्थ : इसलिए सबसे पहले हितकर है कि उन पिटकों के ऊपर जोंक लगाकर रक्तमोक्षण करना चाहिए उसके बाद तीक्ष्ण विरेचन कराना चाहिए। मधु प्रमेही को विरेचन कष्ट से होता है।

विलयन पाचन योग

सुसर्षपं मूलकबीजसंयुतं । स सैंधवोष्णमिधुशिग्रुणा सह॥
कटुत्रिकोष्णाखिलभेषजान्यपि। प्रपाचनान्यामविलायनानि च॥45॥

दारणशोधनरोपणक्रिया

प्रपीडनालेपनबंधनादिकान् क्रियाविशेषानभिभूय यद्बलात्॥
स्वयं प्रपक्वाः पिटिका भिषग्वरो। विदार्य संशोधनरोपणैर्जयेत् ॥46॥

भावार्थ : पाचन करने वाले एवं आम विकार को नष्ट करने वाले सरसों, मूली का बीज, सैंधालवण, सेंजन व त्रिकटु इन औषधियों से पीड़न, आलेपन, बंधन आदि क्रियाओं को करनी चाहिए, जिससे वह पिटक स्वयं पक जाते हैं। जब वैद्य को उचित है कि उसका विदारण (चीरना) करें। तदनन्तर उस व्रण को स्वच्छ रखने वाले औषधियों से संशोधन कर फिर व्रण भरकर आने योग्य औषधियों से भरने का प्रयत्न करें।

शोधन औषधियाँ

करंजकांजीरनिशाससारिबाः। सनिंबपाठाकटुरोहिणींगुदी॥
सराजवृक्षेंद्रयवेंद्रवारुणी पटोलजातीर्व्रणशोधने हिताः॥ 47॥

भावार्थ : करंज, जीरा, हल्दी, सारिब, नीम पाठा, कुटकी, इंगुद, अमलतास, इंद्रजौ, इंद्रयन, जंगली परवल, चमेली, ये सब व्रणशोधन (पीप आदि निकलकर शुद्धि करने) में हितकर औषधियाँ हैं।

रोपण औषधियाँ

तिलाः सलोध्रा मधुकार्जुनत्वचः। पलाशदुग्धांघ्रिपसूतपल्लवाः॥
कदंवजम्ब्बाम्रकपित्थतिंदुकाः। समंग एते व्रणरोपणे हिताः॥ 48॥

भावार्थ : तिल, लोध, मुलैठी, अर्जुनवृक्ष की छाल, पलाश (ढाक) क्षीरी वृक्ष (वड, गूलर, पीपल, पाखर, शिरीष) के कोंपल, कदंब, जामुन, आम, कैथ, तेंदु, मंजिष्ठा ये सब औषधियाँ व्रणरोपण (भरने) में हितकर है।

रोपण वर्त्तिका

सवज्रवृक्षार्ककुरंटकोद्भवैः। पयोभिरात्तैस्सकरंजलांगलैः।
ससैंधवांकोलशिलान्वितैः कृता। निहंति वर्तिर्व्रणदुष्टनाडिकाः॥ 49॥

भावार्थ : दुष्ट नाड़ीव्रण में थोहर, अकौआ, कुरंटवृक्ष, इनके दूध व करंज, कलिहारी सैंधानमक, अंकोल, मेनशिल इनसे बनाई हुई बत्ती को व्रण पर रखने से, दुष्टव्रण, नाडीव्रण आदि नाश होते हैं अर्थात् रोपण होते हैं।

सद्योव्रण चिकित्सा

विशोध्य सद्यो व्रणवक्रपूरणं। घृतेन संरोपणकल्कितेन वा॥
सुपिष्टयष्टीमधुकान्वितेन वा। क्षतोष्मणः संहरणार्थमिष्यते॥ 50॥

भावार्थ : सद्योव्रण[1] को अच्छी तरह धोकर, उसके मुख में घी (उपरोक्त) रोपण कल्क, अथवा मुलैठी के कल्क को जखम की गर्मी शांत करने के लिए भरना चाहिए।

बंधनक्रिया

सपन्नदानं परिवेष्टयेद्व्रणं। सुसूक्ष्मवस्त्रावयवेन यत्नतः।
स्वदोषदेहव्रणकालभावतः सदैव बद्धं समुपचारेद्भिषक्॥ 51॥

भावार्थ : इस प्रकार व्रण में कल्क भरने के बाद, उसके ऊपर पत्ते रख कर, उस पर पतले कपड़े

1. शस्त्र अस्त्र आदि से अकस्मात् जो जख्म होता है, उसे सद्योव्रण कहते हैं।

से लपेटना चाहिए अर्थात् पट्टी बाँधनी चाहिए। स्व तत्तदोष, शरीर, व्रण, काल, भाव इत्यादि पर ध्यान देते हुए, व्रण को हमेशा बाँध कर वैद्य चिकित्सा करें।

बंधन पश्चात् क्रिया

ततो द्वितीयेऽहनि बंधमोक्षणं। विधाय पूयं विनिवर्त्य पीडनैः।
कषायधौतं व्रणमौषधैः पुन-र्विधाय बंधं विदधीत पूर्ववत्॥ 52॥

भावार्थ : उसके बाद दूसरे दिन उस पट्टी को खोलकर पीड़न क्रियाओं के द्वारा अर्थात् उस व्रण को अच्छी तरह दाबकर उसके पूय को निकालना चाहिए। फिर कषाय जल से धोकर पूर्ववत् औषधि वगैरह लगाकर उसको बाँधना चाहिए।

बंधनफल

स बंधनात् शुध्यति रोहतिव्रणो। मृदुत्वमायाति विवेदनो भवेत्।
अतस्सदा बंधनमेव शोभनं व्रणेषु सर्वेष्वयमेव सत्क्रमः॥ 53॥

भावार्थ : उपर्युक्त प्रकार से पट्टी बाँधने से वह फोड़ा शुद्ध हो जाता है। भर जाता है, मुदु व वेदना रहित हो जाता है। इसलिए उसको बाँधना ही योग्य है। सर्व व्रण चिकित्सा में यही क्रम उपयुक्त है।

व्रण चिकित्सा समुच्चय

यथोक्तसद्भेषजवर्गसाधितं। कषायकल्काज्यतिलोद्भवादिकं।
विधीयते साधनसाध्यवेदिना। विधानमत्सद्भुतदोषभेदतः॥ 54॥

भावार्थ : रोग के साध्य साधन भाव को जानने वाला वैद्य दोषों के बलाबल को देखकर पूर्व में कहे हुए औषधियों से साधित कषाय, कल्क, घृत व तैल आदि का यथोपयोग प्रयोग करें।

शुद्ध व रूढ व्रण लक्षण

स्थिरो निरस्रावपरो विवेदनः। कपोतवर्णान्तयुतोऽतिमांसलः॥
व्रणस्स रोहत्यतिशुद्धलक्षणः। समस्सवर्णो भवति प्ररूढवान्॥55॥

भावार्थ : जो व्रण स्थिर हो गया हो, जिससे पीप नहीं निकलता हो, वेदना रहित हो, व्रण के अंदर का भाग कपोत वर्ण से युक्त हो, अत्यन्त माँस से युक्त हो अर्थात् भरता आ रहा हो, तो, उसे शुद्ध व्रण समझना चाहिए। शुद्ध व्रण अवश्य भरता है। त्वचा के समतल व समान वर्ण होना यह रूढ़ (भरा हुआ) व्रण का लक्षण है

प्रमेह विमुक्त लक्षण

यदा प्रमेही विशदातितिक्तकं। सरूक्षसक्षारकदुष्णमूत्रकम्।
कदाचिदल्पं विसृजेदनाविलं। तदा भवेन्मेहविहीनलक्षणम्॥ 56॥

भावार्थ : जब प्रमेही विशद, अति कडुआ, रूक्ष, क्षार व मंदोष्ण (थोड़ा गरम) व निर्मल गंदला रहित मूत्र को कभी-कभी थोड़ा-थोड़ा विसर्जन करता हो, तब उसे प्रमेह रोग से वियुक्त समझना चाहिए।

प्रमेह पिडिका का उपसंहार

एवं सर्वमुदीरितं व्रणमिमं ज्ञात्वा भिषक्छोधनैः।
शोध्यं शुद्धतरं च रोपणयुतैः। कल्कैः कषायैरपि॥
क्षाराण्यौषधशस्त्रकर्मसहितैर्यो येन साध्यो भवे-
त्तेनैवात्र विधीयते विधिरयं विश्वामयेष्वादरात्॥ 57॥

भावार्थ : इस प्रकार उपर्युक्त सर्व प्रकार के व्रण व उनके भेद को जानकर कुशल वैद्य को उचित है कि वह शोधन प्रयोगों के द्वारा उन व्रणों का शोधन करे। जब व्रण शुद्ध हो जाये तब कषाय, कल्क आदि रोपण प्रयोगों के द्वारा रोपण करना चाहिए एवं क्षार, औषधि, शस्त्रकर्म आदि प्रयोग जो जिससे साध्य हों, उसका उपयोग करना चाहिए।

कुष्ठरोगाधिकारः

कुष्ठं दुष्टसमस्तदोषजनितं सामान्यतो लक्षणैः॥
दोषाणां गुणमुख्यभेदरचितैरष्टादशात्मान्यपि[1]॥
तान्यत्रामयलक्षणैः प्रतिविधानाद्यैः सरिष्टक्रमैः।
साध्यासाध्यविचारणापरिणतैर्वक्ष्यामि संक्षेपतः॥ 58॥

भावार्थ : कुष्ठ सामान्य रूप से दूषित वात पित्त कफ (त्रिदोष) से उत्पन्न होता है। फिर भी दोषों के गौण मुख्य भेदों से उत्पन्न लक्षणों से युक्त है। इसलिए मरणचिह्न व साध्यासाध्य विचार सहित यहाँ पर संक्षेप से कहेंगे।

कुष्ठ की संप्राप्ति

आचारतोऽपथ्यनिमित्ततो वा, दुष्टोऽनिलः कुपितपित्तकफौ विगृह्य।
य क्षिपत्युच्छ्रितदोषभेदात्तत्रैव कुष्ठमतिकष्टतरं करोति॥ 59॥

भावार्थ : दुष्ट आचार (देव, गुरु, शास्त्र की निन्दा आदि) से अथवा अपथ्य सेवन से, दूषितवात, कुपित कफ पित्त को लेकर, जिस स्थान में क्षेपण करता है, अर्थात् रुक जाता है उसी स्थान में, उद्रिक्त दोषों के अनुसार अति कष्टदायक, दुष्ट कुष्ठ की उत्पत्ति होती है।

1. न्यात्मकै इति पाठांतरं

कुष्ठ का पूर्वरूप

प्रस्वेदनास्वेदनरोमहर्षा - स्सुप्तत्वकृष्णरुधिरातिगुरुत्वकंडूः।
पारुष्यविस्पंदनरूपकाणि। कुष्ठे भविष्यति सति प्रथमं भवंति॥ 60॥

भावार्थ : अत्यधिक पसीना आना, बिल्कुल पसीना नहीं आना, रोमांच, छूने से मालूम नहीं होना, रक्त (खून) काला हो जाना, शरीर अत्यन्त भारी हो जाना, खाज चलना, कठिनता होना व कंपन ये सब कुष्ठ के पूर्वरूप हैं।

सप्तमहाकुष्ठ

वातोद्भवं कृष्ठमिहारुणाख्यं। विस्फोटनैररुणवर्णयुतैस्सतोदैः।
पित्तात्कपालर्व्यकजिह्विकाच्चौदुंबरं स्फुरितकाकनकं सदाहम्॥ 61॥

भावार्थ : अरुण कुष्ठ वात से उत्पन्न होता है, जो दर्द सहित लालवर्ण के फफोलों से युक्त होता है। ऋष्य कपाल, जिह्वा, औदुंबर, काकनक ये चार कुष्ठ पित्त से उत्पन्न होते हैं।

श्लेष्मोद्भवं दद्रुसपुण्डरीकं। कण्डूयुताधिकसितं बहुलं चिरोत्थम्॥
धातुप्रवेशादधिकादसाध्यात्। कुष्ठानि सप्त कथितानि महांति लोके॥ 62॥

भावार्थ : कफ से दद्रु और पुण्डरीक ऐसे दो कुष्ठ उत्पन्न होते है जो अधिक खुजली, श्वेतवर्ण युक्त, मोटा, बहुत दिनों से चले आने वाले होते हैं। ये सब कुष्ठ धातुवों में प्रविष्ट होने से अधिकतर असाध्य होने से ये सात प्रकारके कुष्ठ महाकुष्ठ कहे गए है।

क्षुद्रकुष्ठ

क्षुद्राण्यरुष्कुष्ठमिहापि सिध्म। श्लेष्मान्वितं रक्ततया सहस्रम्॥
प्रदिष्टरूपेऽद्भुतकण्डुराणि श्वेतं तनुत्वचि भवंपरुषं च सिध्म॥ 63॥

भावार्थ : श्लेष्म व रक्तभेद से क्षुद्रकुष्ठ में हजारों भेद होते हैं, उनमें से अरुष्कुष्ठ, सिध्मकुष्ठ इन दोनों में कफ प्रधान होता है। जिसमें अत्यधिक खाज चले, शरीर के चमड़े सफेद हो जायें एवं कठिन हो जाये, उसे सिध्म कुष्ठ कहते हैं।

रकशकुष्ठलक्षण

निस्राववत्यः पिटकाः शरीरे। नश्यंति ताः प्रतिदिनं च पुनर्भवंति।
कण्डूयुताः सूक्ष्मबहुप्रकाराः स्निग्धाः कफादधिकृता रकशेति दृष्टाः॥ 64॥

भावार्थ : जिनसे पूय नहीं निकलते हों ऐसी बहुत-सी फुँसियाँ शरीर में रोज उत्पन्न होती है व रोज नष्ट होती है। उनमें खाज चलती है। वे सूक्ष्म व अनेक प्रकार से होता है। स्निग्ध गुण से युक्त एवं कफ से उत्पन्न होने से उसे रकश कहते हैं।

कुष्ठ में दोषों की प्रधानता

वातान्महैकं परिसर्पमेकं पित्तादतोऽन्यदवशिष्ट्यमिह त्रिदोष्यम्।
देहेऽखिले ताडनभेदनत्वक्-संकोचनं महति कुष्ठपरे तथैकं॥ 65॥

भावार्थ : वात से महाकुष्ठ उत्पन्न होता है। पित्त से परिसर्प व अन्य कुष्ठ होते हैं। बाकी के सब त्रिदोष से उत्पन्न होते हैं। महाकुष्ठ से युक्त रोगी के शरीर में ताडन-भेदन, त्वक्संकोचन आदि लक्षण होते हैं।

एक विचर्चि विपदिका कुष्ठ लक्षण

कृत्स्नं शरीरं घनकृष्णवर्णं। तोदान्वितं समुपयत्यरुणप्रभं वा।
दह्याःसदापाणितले विचर्चिः। पाद्द्वये भवति सैव विपादिकारव्या॥ 66॥

भावार्थ : जिसमें सारा शरीर काला वर्ण अथवा लाल हो जाता है एवं शरीर में दर्द, सुई चुभने जैसी पीड़ा होती है, वह भी एक कुष्ठ है। जिससे करतल में जलन उत्पन्न होती है, उसे विचर्चि कहते हैं यदि दोनों पादतलों में जलन उत्पन्न करें तो उसे विपादिका कुष्ठ कहते हैं।

परिसर्प विसर्पण कुष्ठ लक्षण

पित्तात्सदाहाःपिटकास्सुतीव्राः। स्रावान्विितास्सरुधिराः परिसर्पमाहुः।
सोष्णं समंतात्परिसर्पते य-त्तीक्ष्णं विसपर्णमिति प्रवदंति तज्ज्ञाः॥ 67॥

भावार्थ : पित्त से जलनसहित, तीव्र पूय व रक्त निकलने वाले पिटक जिसमें होते हैं, उसे परिसर्प कहते हैं जो कि उष्ण रहता है और सारे शरीर में फैलता है। जो तीक्ष्ण रहता है, उसे विसर्पण कहते हैं।

किटिभपामाकच्छुलक्षण

सस्रावसुस्निग्धमतीवकृष्णं सन्मण्डलं किटिभमाहुरतिप्रगल्भाः।
ऊष्मान्वितं शोषयुतं सतोदं पाण्योस्तले प्रबलचर्मदलं वदंति॥ 68॥
पामेति कंडूप्रबलाः सपूयतीव्रोष्मिकाः पिटिकिकाः पदयुग्मजाताः।
पाण्योः स्फिचोः संभवति प्रभूता। या सैव कच्छुरिति शास्त्रविदोपदिष्टा॥ 69॥

भावार्थ : स्रावसहित, स्निग्ध अत्यन्त काला व मंडल सहित कुष्ठ को किटिम कहते हैं! करतल में जो कुष्ठ होता है उष्णता, शोष व तुदन जैसी दर्द से युक्त होता है, उसे चर्मदल कुष्ठ कहते है। जिसमें तीव्र खाज चलती हो, पीप का स्राव होता हो, तीव्र उष्णता से युक्त हो, ऐसे दोनों पादों में उत्पन्न होने वाली पिटिकाओं को पामाकुष्ठ कहते हैं। वही यदि हाथ व चूतड़ में पैदा हो तो उसे आयुर्वेद शास्त्रज्ञ विद्वान् कच्छु कहते हैं।

असाध्य कुष्ठ

अन्यत्किलासाख्यमपीहकुष्ठं कुष्ठात्परं त्रिविधदोषकृतं स्वरूपम्॥
त्वक्स्थं निरास्रावि विपाण्डुरं त-त्तद्वर्णमाप्त सहजं च न सिद्धिमेति॥ 70॥

भावार्थ : किलास व त्रिदोषोत्पन्नकुष्ठ एवं स्रावरहित, पाण्डुवर्ण युक्त, ऐसे त्वचा में स्थित, तथा जो सहज(जन्म के साथ होने वाले) कुष्ठ ये सब असाध्य होते हैं।

वातपित्त प्रधान कुष्ठ लक्षण

त्वग्नाशशोषस्वरभंगुराद्याः। स्वापे भवंत्यनिलकुष्ठमहाविकाराः।
भ्रूकर्णनासाक्षतिरक्षिरागः। पादांगुलीपतनसक्षतमेव पित्तात्॥ 71॥

भावार्थ : वातजकुष्ठ में त्वचा का स्वाप (स्पर्श ज्ञान शून्य होना) शोष, स्वरभंग व निद्राभंग आदि विकार होते हैं। भ्रू, कान, नाक में जखम होना, आँखें लाल होना, पैर के अंगुलियों का गलना व जखम होना ये विकार पैत्तिक कुष्ठ में होते हैं।

कफ प्रधान, वत्वक्स्थ कुष्ठलक्षण

कुष्ठ में कफ का लक्षण

सस्रावकण्डूगुरु गात्रतांग-शैत्यं सशोफमखिलानि कफोद्भवानि।
रूपाण्यमून्यत्र भवंति कुष्ठे। त्वक्स्थे स्ववर्णविपरीतविरूक्षणं स्यात्॥ 72॥

भावार्थ : स्राव होना, खुजली चलना, शरीर भारी होना, शीत व सूजन होना ये सब लक्षण कफज कुष्ठ में होते हैं। त्वचा में स्थित कुष्ठ में त्वचा से विपरीत वर्ण व रूक्षण होता है।

रक्तमांसगत कुष्ठ लक्षण

प्रस्वेदनास्वापविरूपशोफा। रक्ताश्रिते निखिलकुष्ठविकारनाम्नि॥
स्राघान्विताः स्फोटगणासुतीव्राः। संधिष्वतिप्रबलर्मासगतोरुकुष्ठे॥ 73॥

भावार्थ : अधिक पसीना आना, अंग में स्पर्श ज्ञान शून्य होना विरूप व सूजन उत्पन्न होना, यह सब रक्ताश्रित कुष्ठ में होने वाले लक्षण हैं। मांसगत प्रबल कुष्ठ मे स्रावयुक्त तीव्र फफोले उठते हैं।

मेद सिरा स्नायु गत कुष्ठ लक्षण

कौव्यं क्षतस्यापि विसर्पणत्व-मंगक्षतिं गमनविघ्नमिहावसादम्।
मेदस्सिरास्नायुगतं हि कुष्ठं। दुष्टव्रणत्वमपि कष्टतरं करोति॥ 74॥

भावार्थ : मेद, शिरा व स्नायुगत कुष्ठ में हाथ में लंगड़ापना, जखम, फैलना, शरीर क्षति, चलने में विघ्न, अंगग्लानि व दुष्टव्रण आदि अनेक विकार होते हैं।

मज्जास्थिगत कुष्ठलक्षण

तीक्ष्णाक्षिरोगक्रिमिसंभवपाटनाद्या। नासास्वरक्षतिरपि प्रबला विकाराः॥
मज्जास्थिसंप्राप्तमहोग्रकुष्ठे ते पूर्वपूर्वकथिताश्च भवंति पश्चात्॥ 75॥

भावार्थ : मज्जा व अस्थिगत भयंकर कुष्ठ में तीक्ष्ण अक्षिरोग, क्रिमियों की उत्पत्ति, फूटना, नाक में जखम, स्वरभंग आदि प्रबल विकार होते हैं एवं पूर्व धातुगत कुष्ठ के लक्षण उत्तरोत्तर कुष्ठों में पाये जाते हैं।

कुष्ठ का साध्यासाध्य विचार

त्वग्रक्तमांसाश्चितमेव कुष्ठं। साध्यं विधानं विहितौषधस्य।
मेदोगतं याप्यमतोन्यदिष्टं। कुष्ठं कनिष्ठमिति सत्परिवर्जनीयम्॥ 76॥

भावार्थ : त्वचा, रक्त मांस में आश्रित कुष्ठ में औषधि प्रयोग करें तो साध्य है। मेदोगत कुष्ठ याप्य है। शेष कुष्ठ असाध्य समझकर छोड़ें।

असाध्य कुष्ठ

यत्पुण्डरीकं सितपद्मतुल्यं। बंधूकपुष्पसदृशं कनकावभासम्।
बिंबोपमं काकणकं सपित्तं। तद्वर्जयेदुदितजन्मत एव जातम्॥ 77॥

भावार्थ : जो सफेद कमल के समान रहने वाला पुण्डरीक कुष्ठ है, बंधूक पुष्प व सोने के समान एवं बिंबफल के समान जिसका वर्ण है, ऐसे पित्त सहित काकनक एवं जन्मगत कुष्ठ असाध्य समझकर छोड़ना चाहिए।

असाध्य कुष्ठ वरिष्ठ

यत्कुष्ठिदुष्टार्तवशुक्रजाता-पत्यं भवेदधिककुष्ठिगतं त्वसाध्यम्॥
रिष्टं भवेत्तीव्रतराक्षिरोग-नष्टस्वरव्रणमुखो गलितप्रपूयम्॥ 78॥

भावार्थ : कुष्ठरोग युक्त माता-पितरों के, दूषित रजोवीर्य के सम्बन्ध से उत्पन्न संतान अधिक कुष्ठी हो तो उसे असाध्य समझना चाहिए। तीव्र अक्षिरोग, स्वरभंग व व्रणों से पूय निकलना यह कुष्ठ में रिष्ट (मरणचिह्न) है।

कुष्ठी के लिए अपथ्य पदार्थ

कुष्ठी सदा दुग्धदधीक्षुजात - निष्पावमाषतिलतैलकुलत्थवर्गं।
पिष्टालसांद्राम्लफलानि सर्वं। मांसं त्यजेल्लवणपुष्टिकरान्नपानम्॥ 79॥

भावार्थ : दूध, दही, शक्कर, गुड़ आदि इक्षु रसोत्पन्न पदार्थ, सेम, उड़द, तिल, तैल, कुलथी, आटे का पदार्थ व घन पदार्थ, फल, माँस, लवण एवं पुष्टिकर अन्नपान आदि कुष्ठ रोग वाला ग्रहण नहीं करें।

अथ कुष्ठचिकित्सा

कुष्ठ में पथ्यशाक

वासागुलूचीसपुनर्नवार्क-पुष्पादितिक्तकटुकाखिलशाकवर्गैः।
आरग्वधारुष्करनिंबतोय-पक्वैस्सदा खदिरसारकषायपानैः॥ 80॥

भावार्थ : अमलतास, भिलावा, नीम व कत्था इनके पानी से पकाये हुए अडूसा, गिलोय, सोंठ, अर्कपुष्पी, व तीखे व कडुवे शाकवर्ग को कुष्ठ में प्रयोग करें।

कुष्ठ में पथ्य धान्य

मुद्गाढकीसूपरसप्रयुक्तम्। श्यामाककंगुवरकादिविरूक्षणान्नं॥
भुंजीत कुष्ठी नृपनिंबवृक्षतोयेन सिद्धमथवा खदिरांबुपक्वम्॥ 81॥

भावार्थ : अमलतास, नीम के कषाय अथवा खैर के कषाय से पकाया हुआ एवं मूंग, अरहर श्यामाक धान्य, कंगुनी, मोंठ आदि रूक्ष अन्न कुष्ठी को देना चाहिए।

कुष्ठ से वमन विरेचन व त्वक्स्थकुष्ठ की चिकित्सा

मार्गद्वये शोधनमेव पूर्वरूपेषु कुष्ठजननेषु विधेयमत्र।
त्वक्स्थेऽपि कुष्ठेऽधिकशोधनं स्यात्कुष्ठघ्नसद्विविधभेषजलेपनं च॥ 82॥

भावार्थ : कुष्ठ के पूर्वरूपों के प्रकट होने पर वमन विरेचन से शरीर का शोधन करना चाहिए, त्वचा में स्थित्त कुष्ठ के लिए भी वमन विरेचन से अधिक शोधन व कुष्ठ नाशक विविध औषधियों का लेपन भी हितकर है।

रक्त व मांसगत कुष्ठ चिकित्सा

रक्ताश्रिते पूर्वमुदाहृतानि। रक्तस्य मोक्षणकषायनिषेवणं च॥
मांसस्थिते पूर्वकृतानि कृत्वा। पश्चान्महाविविधभेषजयोगसिद्धम्॥ 83॥

भावार्थ : रक्ताश्रित कुष्ठ में त्वचागत कुष्ठ की सर्वक्रिया (वमन विरेचन) लेपन, रक्त निकालना व कषाय सेवन करना चाहिए। मांसगत कुष्ठ हो, तो उसके लिए उपर्युक्त शोधनादि विधियों को करके तदनंतर तदुपयोगी अनेक उत्कृष्ट सिद्ध औषधियों का प्रयोग करना चाहिए।

मेदोऽस्थ्यादिगतकुष्ठ चिकित्सा

मेदोगतं कुष्ठमिहातिकष्टं। याप्यं भवेदधिकभेषजसंविधानैः।
अन्यद्विषग्भिः परिवर्जनीयम्। यत्पंचकर्मगतिमप्यधिगम्य याति॥ 84॥

भावार्थ : मदोगत कुष्ठ अत्यन्त कष्टतर है। उसे अनेक प्रकार की औषधियों के प्रयोग से यापन करना चाहिए। बाकी के कुष्ठ अस्थि, मज्जा शुक्रगत, पंचकर्म करने पर भी ठीक नहीं होते उनको

असाध्य समझकर छोड़ना चाहिए।

त्रिदोष कुष्ठ चिकित्सा

दोषत्रयोद्भूत समस्तकुष्ठदर्पापहैर्विविधभेषज - संविधानैः ॥
पक्वं घृतं वापि सुतैलोतत्। पीत्वातुरस्तनुविशोधनमेव कार्यम्॥ 85॥

भावार्थ : त्रिदोष से उत्पन्न कुष्ठ में कुष्ठ गर्व को नाश करने वाले औषधियों से पक्व घृत वा अच्छे तेल को पिलाकर कुष्ठ रोगी का शरीर शोधन करना चाहिए।

ज्ञात्वा शिरामोक्षणमत्र कृत्वा। योगानिमानखिलकुष्ठहरान्विदध्यात्।
दन्तीं द्रवंती त्रिवृतं हरिद्रां। कुष्टं वचां कटुकरोहिणिकां सपाठाम्॥ 86॥
भल्लातकां वल्गुजबीजयुक्तां निंबास्थिमज्जसहितां सतिलां समुस्ताम्।
पथ्याक्षधात्रीसविडंग नीली - मूलानि भृंगरजसारपुनर्नवानि॥ 87॥
एतानि सर्वाणि विशोषितानि। सम्यक्तुलासमधृतानि विचूर्णितानि।
निंबासनारग्वधधावनीनां। क्वाथेन सम्यक्परिभावितानि॥ 88॥
ब्राह्मीरसेनापि पुनः पुनश्च। संभावितानि सकलं बदरप्रमाणात्॥
आरभ्य तद्यावदिहाक्षमात्रं। खादेत्ततस्सुविहिताक्षपरिप्रमाणं॥ 89॥
कुष्ठानि मेहानखिलोदराणि। दुर्नामकान्कृमिभगंदरदुष्टनाडीः॥
ग्रन्थीन् सशोफानखिलामयानप्येतद्धरेस्सततमेव निषेव्यमाणम्॥ 90॥

भावार्थ : त्रिदोषज आदि कुष्ठों के साध्यासाध्य विषय को अच्छी तरह जानकर सिरामोक्षण करना चाहिए। तदनंतर निम्नलिखित योगों का प्रयोग करना चाहिए। जमालगोटा, बड़ा जमाल गोटा, त्रिवि, हलदी, कूट, वचा, कुटकी, पाठा, भिलावा, बावुची का बीज, नीम की मिगनी व गूदा, तिल, नागरमोथा, हरड़, बहेड़ा, आंवला, वायविडंग, नीली का मूल, भंगरा, पुनर्नव इन सबको समान भाग में लेकर सुखाना चाहिए फिर चूर्ण करना चाहिए। तदनंतर नीम, असनवृक्ष, पृश्नपर्णी, अमलतास इनकी छाल के कषाय से भावना देनी चाहिए। फिर पुनः पुनः ब्राह्मी रस से भावना देकर बेर के प्रमाण से लेकर बहेड़े के प्रमाण (एक तोला) पर्यंत प्रमाण से उसे खाना चाहिए। जिससे सर्व कुष्ठ, प्रमेह, उदर, बवासीर, भगंदर, दुष्ट नाड़ीव्रण, ग्रंथि, सूजन आदि अनेक रोग दूर होते हैं।

निंबास्थिसारदि चूर्ण

निंबास्थिसारं सविडंगचूर्णं। भल्लातकास्थिरजनीद्वयसंप्रयुक्तम्॥
निम्बास्थितैलेन समन्वितं तत्क्षुण्णं निहंति सकलामपि कुष्ठजातिम्॥91॥

भावार्थ : नीम के बीज का गूदा, वायुबिडंग, भिलावे का बीज, हल्दी, दारुहल्दी इनको कपड़ों

से छान के चूर्ण करके नीम के बीज के तेल के साथ मिलाकर उपयोग करने से समस्त जाति के कुष्ठ नाश होते हैं।

पुन्नागबीजादिलेप

अत्युच्छ्रितान्यत्र हि मण्डलानि। शस्त्रैस्सफेननिशितेष्ठिकया विघृष्य॥

पुन्नगबीजैः सह सैंधवार्कैस्सौवर्चलैः कुटजकल्कयुतैः प्रलिपेत्॥ 92॥

भावार्थ : जिस कुष्ठ में अत्यधिक उठे हुए मण्डल (चकते) हों तो उनको शस्त्र से, समुद्रफेन से अथवा तीक्ष्ण ईंट से घिसकर फिर उसको पुन्नागवृक्ष के बीज, सैंधानमक, अकौबा, कालानमक, कुरैया की छाल इनके कल्क को लेपन करना चाहिए।

पलाशक्षार लेप

पालाशभस्मन्युदकाश्रिते तत्। सम्यक्परिस्रुतमिहापि पुनर्विपक्वम्॥

तस्मिन् हरिद्रां गृहधूमकुष्ट-सौवर्चलत्रिकटुकान् प्रतिवाप्य लिंपेत्॥ 93॥

भावार्थ : पलाश (ढाक) भस्म को पानी में घोलकर अच्छी तरह छानना चाहिए। फिर उसको पकाकर उसमें हलदी, घर के धुंआ, कूट, कालानमक, त्रिकटुक इनको डालें व लेपन करें, जिससे कुष्ठ रोग दूर हो जाता है।

लेपद्वय

आलेपयेत्सैंधवशक्रमर्द-कुष्टाग्निकत्रिकटुकैः पशुमूत्रैपिष्टैः।

सद्वाकुचीसैंधवभूशिरीष- कुष्टाश्वमारकटुकत्रिकचित्रकैर्वा॥ 94॥

भावार्थ : सैंधानमक, चकमोद (चकोंदा) कूट, चित्रक, त्रिकटुक इनको गोमूत्र के साथ पीसकर लेपन करना चाहिए। अथवा बाबची, सैंधानमक, भूसिरस, कूट, करनेर, सोंठ, मिरच, पीपल व चित्रक इनको गोमूत्र में पीसकर लेपन करना चाहिए।

सिद्धार्थादि लेप

सिद्धार्थकैः सर्षपसैंधवोग्र-कुष्टार्कदुग्धसहितैस्समनश्शिलालैः।

चूर्णीकृतैंस्तीक्ष्णसुधाविमिश्रै-रालेपयेदसितमुष्ककभस्मयुक्तैः॥ 95॥

भावार्थ : सफेद सरसों, सरसों, सैंधा नमक, वचा, कूट, मेनशिला, हरताल, तीक्ष्णविष (वत्सनाभ आदि) इनको चूर्णकर इसमें काला मोखा वृक्ष का भस्म व अकौवा के दूध मिलाकर, कुष्ठ रोग में लेपन करना चाहिए।

श्वित्रेष्वपि प्रोक्तमहाप्रलेपा। योज्या भवंति बहुलोक्तचिकित्सितं च।

अन्यत्सवर्णस्य निमित्तभूत-मालेपनं प्रतिविधानमिहोच्यतेऽत्र॥ 96॥

भावार्थ : श्वेतकुष्ठ में भी उपर्युक्त लेपन व चिकित्सा करनी चाहिए। अब चर्म को सवर्ण बनाने के लिए निमित्त भूत लेपन सवर्णकरण योगों को कहेंगे ।

भल्लातकास्थादि लेप

भल्लातकास्थयग्निकबिल्वपेशी। भृंगार्कदुग्धहरितालमनश्शिलाश्च॥

द्वैप्यं तथा चर्म गजाजिनं वा। दग्ध्वा विचूर्ण्य तिलतैलयुतः प्रलेपः॥ 97॥

भावार्थ : भिलावे का बीज, चित्रक, बेल की मज्जा, भांगरा, अकौबे का दूध, हरताल, मेनशिला इनको अथवा चीता व्याघ्र गज व मृग इनके चर्म को जलाकर चूर्ण करके तिल के तेल में मिलाकर लेपन करें ।

भल्लातकादि लेप

भल्लातकाक्षामलकाभयार्क- दुग्धं तिलास्त्रिकटुकं क्रिमिहापमार्गं॥

कांजीरधामार्गवतिक्ततुंबी। निंबास्थिदग्धमिह तैलयुतः प्रलेपः॥ 98॥

भावार्थ : भिलावा, बहेड़ा, आँवला, हरड़, अकौवे का दूध, तिल, त्रिकटुक, वायुविडंग, लटजीरा, कांजीर, कड़वी तोरई, कटुतुंबी, नीम का बीज इनको जलाकर तिल तैल मिलाकर लेपन करना चाहिए।

ऊर्ध्वाधःशोधन

संशोधयेदूर्ध्वमधश्च सम्यग्रक्तस्य मोक्षणमपि प्रचुरं विदध्यात्।

दोषेऽवशिष्टेऽपि पुनर्भवंति कुष्ठान्यतः प्रतिविधानपरो नरः स्यात्॥99॥

भावार्थ : कुष्ठ रोगियों के शरीर वमन, विरेचन द्वारा अच्छी तरह शुद्ध करके रक्तमोक्षण भी खूब करना चाहिए। दोष यदि शेष रहे तो पुनः कुष्ठ हो जाता है। इसलिए उसकी चिकित्सा यथोक्त विधि से करने में लीन होना चाहिए।

कुष्ठ में वमन विरेचन रक्तमोक्षण का क्रम

पक्षादतः पक्षत एव वम्याः। कुष्टातुरान्वरविरेचनमेव मासात्॥

मासाच्चतेषां विदधीत रक्तं। निर्मोक्षयेदपि च षट्सु दिनेपु षट्सु ॥100॥

भावार्थ : इसके बाद पंद्रह-पंद्रह दिन में वमन कराना चाहिए। तदनंतर एक-एक मास के बाद तीक्ष्ण विरेचन देना चाहिए। छह-छह दिन के बाद रक्तमोक्षण करना चाहिए।

सम्यक्शिरश्शुद्धिमपीहकुर्या-द्वैद्यस्त्रिभिस्त्रिभिरहोभिरिहाप्रमादी॥

सर्वेषु रोगेष्वयमेव मार्ग- स्तत्साध्यसाधनविशेषविदां प्रकर्षः ॥101॥

भावार्थ : इसी प्रकार वैद्य को प्रमादरहित होकर प्रति तीन दिन में शिरोविरेचन कराना चाहिए।

सम्पूर्ण कुष्ठरोग की यही चिकित्सा क्रम है। साध्य साधन आदि विशेष नातों को जानने वाले वैद्यों को (कुष्ठरोग के विषय में) इसी मार्ग का अनुसरण करना चाहिए।

कुष्ठप्रमेहोदरदुष्टनाडी - स्थूलेषु शोफकफरोगयुतेषु मेदः॥
प्रायेषु भैषज्यमिहातिकार्श्य-मिच्छत्सु साधु कथयामि यथाप्रयोगैः ॥ 102॥

भावार्थ : कुष्ठ, प्रमेह, उदररोग, नाड़ीव्रण इन रोगों के कारण से जो स्थूल है तथा सूजन, कफरोग, मेदवृद्धि से संयुक्त है और वे कृश होना चाहते हैं अथवा उनको कृश करना जरूरी है। उनके लिए उपयुक्त, औषधियों के प्रयोग कहेंगे।

गोधूमकान्रेणुयवान्यवान्वा। क्षुण्णांस्तुषापहरणानतिशुद्धशुष्कान्॥
गोमूत्रकेणापि पुनः पुनश्च। संभावितानभिनवामलपात्रभृष्टान्॥103॥
भल्लातकावल्गुजमार्कवाके। मुस्ताबिडंगकृतचूर्णचतुर्थभागान्॥
चूर्णीकृतानक्षपरिप्रमाणान्। संयोजितान्कटुकतिक्तकषायपिष्टान्॥104॥
गोभिस्तथाश्वैरपि भक्षितांस्तां - स्तद्वत्क्रियानतिसुसूक्ष्मतरं विचूर्ण्य।
सालाजकर्णार्जुनशिंशपानां। सालोदकेन सहितान् प्रतिबेत्ससक्थून्॥105॥

भावार्थ : गेंहू, रेणुकीबीज, जौ, इनको कूटकर छिलका निकाल कर शुद्ध कर अच्छी तरह सुखा लें और गोमूत्र से बार-बार भावना देकर नये बर्तन में भुनना चाहिए। फिर उनका सूक्ष्म चूर्ण करें। भिलावा, वाकुची, भृंगराज (भांगरा) अकौवा, नागरमोथा, वायविडंग इनको समभाग लेकर, चूर्ण करके उपरोक्त चूर्ण में मिलावें। इसका प्रमाण उपरोक्त (गेंहू आदि के) चूर्ण से चौथाई हिस्सा होना चाहिए। फिर इनको चरपरा, कडुआ, कषाय, रस के द्वारा पीसकर इस सत्थू को साल विजयसार, अर्जुन और सीसम की छाल के चूर्ण (रालवृक्ष) व साल के कषाय के साथ पीना चाहिए।

तानेव सक्थून् कथितक्रमेण, कृत्वा त्रिजातकमहौषधचूर्णमिश्रान्।
भल्लातकाद्यौषधसंप्रयुक्तान्निंबासनक्षितिपवृक्षकषाययुक्तान् ॥ 106॥
सच्छर्करानामलकाम्ललुंग - वेत्राम्लदाडिमलसच्चणकाम्लयुक्तान्।
सारांघ्रिपक्वाथ ससैंधवांस्तांस्तांस्तान्पिबेदखिलमंदविकल्प एषः॥ 107॥

भावार्थ : उन्हीं (पूर्वकथितगोधूमदि) सत्थूओं को उपर्युक्त प्रकार से तैयार करके उसमें त्रिजातक (दालचीनी, इलायची, तेजपाल) सोंठ और भिलावा आदि (उपरोक्त) औषधियों को मिलाकर, नीम, विजयसार, अमलतास, इनके काढ़े से भावना देवें फिर शक्कर, आँवला, खट्टा बिजौरा निंबू, वेत, खट्टा अनार, चने का क्षार, सैंधानमक मिलाकर और खेर के काढ़े के साथ, निःसंशय होकर पीवें।

तैरेव सक्तुप्रकरैर्विपक्वान् भक्ष्यानपूपसकलानि सपूर्णकोशान्।
धानानुदं भानपिशष्कुलीका-स्तं भक्षयेदखिलकुष्ठमहामयार्त्तः ॥ 108 ॥

भावार्थ : कुष्ठ रोगी के लिए उपर्युक्त प्रकार के सत्थुवों के साथ पकाये हुए भक्ष्य, पुआ, पोळी व पूरी शष्कुली आदि खाने को देना चाहिए।

दंती त्रिवृच्चित्रकदेवदारु - पूतीकसत्रिकटुकत्रिफलासुगंधि ॥
प्रत्येकमेवं कुडवप्रमाणं। चूर्णं भवेदमलतीक्ष्णरजोऽर्धभागम् ॥ 109 ॥
प्रागाज्यकुंभं पुनरग्निदग्धं। जंबूकपित्थसुरसाम्रकमातुंलग ॥
पत्रैर्विपक्वं परिघौतमंत-र्गंधोदकैर्मरिचमागधिकाविचूर्णोः ॥ 110 ॥
सच्छर्करांभःपरिमिश्रितैस्तै - र्लिप्तान्तरं कुसुमवासितरूपितांतः ॥
बाह्यं दृढं सूत्रकृतोरुबद्धम्! कृत्वोक्तभेषजक्विचूर्णमिह क्षिपेत्तत् ॥ 111 ॥
तस्मिन्गुडस्यार्धतुलां निधाय। सारोदकस्य कुडबाष्टकमिश्रितं तत्॥
सम्यक्पिधायास्य घटस्य वक्त्रं। संस्थापयेदधिकधान्ययवोरुकूपे ॥ 112 ॥
एवं समस्तानमृतप्रयोगान्। संयोजयेत्काथितमार्गत एव सर्वान्॥
संस्कार एषोऽभिहितस्समस्तः। सर्वौषधादारघटे विधेयम्॥ 113 ॥
उध्दृत्य तत्सप्तदिनाच्च पक्षात्। मासादतः प्रचुरगंधरसं सवीर्यं।
तद्धक्षयेदाग्निबलानुरूपम्। कुष्ठप्रमेहोदरनाशहेतुम्॥ 114 ॥

भावार्थ : जमालगोटे की जड़, चित्रक, देवदारु, पूतीकरंज, निशोध, त्रिकटु, त्रिफला, पीपलमूल इनको प्रत्येक को कुडुब (16 तोला) प्रमाण लेकर उनका चूर्ण कर और उसमें अर्ध भाग (8 तोला) लोहे के चूर्ण (भस्म) की मिलावें, यह चूर्ण तैयार रखें।

एक घी का घड़ा लेकर उसे अग्नि में जलावे एवं जामुन, कैथ, आम्र, तुलसी, मातुलुंग इनके पत्तों को उसमें पकाकर पुनः गंधोदक (चंदन, नेत्रवाला, खश आदि गंध द्रव्यों के कषाय) से उसे अच्छी तरह धोना चाहिए। फिर शक्कर के पानी से मिश्रित कालीमिरच, पीपल के चूर्ण को घड़े के अंदर लेपन कर सुगंध पुष्पों द्वारा उसे सुगंधित करें। पश्चात् बाहर से अच्छी तरह उसे डोरों से बुनना चाहिए, जिससे वह सुरक्षित रहे। इस प्रकार संस्कार किए गए घड़े में ऊपर तैयार किए हुए चूर्ण को डाल देवें, उसमें अर्ध तुला ढाई सेर एवं आठ कुडुब प्रमाण खदिर का काढ़ा मिलाकर उसके मुँह को अच्छी तरह बंद कर कोई धान्य कूप (धान व जौ से भरा हुआ गड्ढा) में गाड़ना चाहिए। इसी विधि से सम्पूर्ण अमृततुल्य प्रयोगों को तैयार करना चाहिए। तात्पर्य सम्पूर्ण अरिष्टों को बनाने की विधि यही है। उस औषधि के आधारभूत घट का संस्कार उपर्युक्त विधि से ही करना चाहिए।

फिर उसको सात दिन में या पंद्रह दिन में या एक महिने में जब अच्छी तरह गंध, रस, वीर्य आदि गुण उसमें व्यक्त हो जाये तब निकाल कर रोगी के अग्निबल के अनुसार खिलावें, जिससे कुष्ठरोग, उदर व प्रमेहरोग नष्ट होते।

आरग्वधारुष्करमुष्कनिंब। रंभार्कतालतिलमंजरिकासुभस्म॥
द्रोणं चतुर्द्रोणजलैर्विपक्वं। रक्तं रसं स्रवति शुद्धपटाबवद्धम्॥ 115॥
अत्र क्षिपेदाढकसप्रमाणं। शुद्धं गुडं त्रिकटुकं त्रिफलाविडंगम्॥
प्रत्येकमेकं कुडवप्रमाणं। चूर्णेलवंगलबलीबहुलाप्रगाढम्॥ 116॥
कुंभे निधायोक्तबहुप्रकार। धान्ये स्थितं मासपरिप्रमाणम्।
तद्भक्षयेदक्षरोगराजान्। संक्षेपतः क्षपयितुं मनसाभिवांछन्॥ 117॥

भावार्थ : अमलतास, भिलावा, माखा, नीम, ताड़ का फूल, केले की जड़, अकौवा, तिल का गुच्छ इनका भस्म तैयार कर एक द्रोण (12 सेर, 4 तोला) भस्म को चार द्रोण पानी से पकाकर शुद्ध कपड़े से छानें। जब लाल बूँदें उससे टपकती हैं, उसमें एक आढक (3 सैर 16 तोला) शुद्ध गुड़, त्रिकटुक त्रिफला व वायविडंग इनको प्रत्येक सोलह-सोलह तोला प्रमाण चूर्ण को डालकर साथ में लवंग, हरपार रेवड़ी, इलायची को मिलावें, उपर्युक्त प्रकार से संस्कृत घट में डालकर धान से भरे हुए गड्डे में गाड़कर रखें, फिर एक मास बाद निकालकर रोगी को पिलावें, जिससे अनेक प्रकार के कुष्ठ प्रमेह आदि रोगराज अत्यन्त शीघ्र नष्ट होते हैं।

खदिर चूर्ण

सारद्रुमाणामपि सारचूर्णं। सारद्रुमस्वरसभावितशोषितं तत्॥
सारांघ्रिपक्वाथयुतं प्रतीतं। सारौषधं भवति सारमहामयघ्नम्॥ 118॥

भावार्थ : खैर के वृक्ष के सारभूत चूर्ण को खैर के रस से भावना देकर फिर उसे सुखावें, पुनः उस शुष्कचूर्ण को खैर के वृक्ष के कषाय के साथ मिलाकर पीवें, तो कुष्ठ रोग के लिए उत्तम औषध है अर्थात् उसको पीने से कुष्ठ रोग दूर हो जाता है।

तीक्ष्ण लोह भस्म

तीक्ष्णस्य लोहस्य तनूनि पात्राण्यालिप्य पंचलवणाम्लकृतोरुकल्कैः।
दग्ध्वा पुटेनैव सुगोमयाग्नौ। निर्वाप्य सारतरुसत्रिफलारसेन॥ 119॥
एवं पुनः पूर्ववदेव दग्ध्वा। निर्वाप्य तद्वदिहषोडशवारमात्रम्॥
पश्चात्पुनः खादिरकाष्टदग्धं। शांतं विचूर्ण्य पटनिसृतमत्र कृत्वा॥ 120॥
तच्चूर्णमाज्यन्वितर्शकरांक्त। ज्ञात्वा बलं सततमेव निषेव्यमाणम्।
कुष्टप्लीहार्शादिकपाण्डुरोगान्। हत्वा वयोबलशरीरसुखं करोति॥ 121॥

भावार्थ : तीक्ष्ण लोह के पतले पतरों को लेकर पंचलवण, (सैंधानमक, कालानमक व सामुद्रनमक विडनमक औद्भिद नमक) आम्ल पदार्थ इनके कल्कों से उन्हें लेपन करें, फिर उसे संपुट में बंद करके कण्डे के अग्नि से पुट देना चाहिए। फिर वहाँ से निकालकर पुनः खैर की छाल व त्रिफला इन के काढे से घोटकर वा लेपन कर पुनः सम्पुट बंद करके पुट देना चाहिए। इस प्रकार सोलह बार पुट देना चाहिए। पुनः उसे खेर की लकड़ी की अग्नि से पुट देना चाहिए। जब वह शांत हो जाये, तब उसे बारीक चूर्ण कर कपड़े से छान लें (इस क्रिया से लोहभस्म हो जाता है) फिर इस भस्म को घी शक्कर के साथ मिलाकर, उसे कपड़े से छान लेवें। शरीरबल, अग्निबल आदि देखकर सतत् सेवन करें तो वह कुष्ठ, प्लीहा, अर्श, पाण्डु आदि रोगों को दूर कर शरीरबल वय व सुख को उत्पन्न करता है।

लोह भस्म फल

जीर्णामहायस्कृतिभेषजेऽस्मिन्। रोगानुरूपलवणाम्लविवर्जितान्नम्।
भुक्त्वा तुलामेतदिहोपयुज्य। जीवेदनामयशरीरयुतः शतायुः॥ 122॥

भावार्थ : उपर्युक्त प्रकार से तैयार किए हुए तीक्ष्ण लोह के भस्म को उपयोग करते समय रोग के बलाबल को देखकर लवण खटाई रहित भोजन करते हुए यदि एक तुला (5 सेर) प्रमाण इसको सेवन करें, तो निरोगी होकर सौ वर्ष तक जीता है, अर्थात् यह रसायन है।

नवायसचूर्ण

भुस्ताविडंगं त्रिफलाग्निकैस्सव्योषं विचुर्ण्य नवभाग समं तथायः॥
चूर्णं सिताज्येन विमिश्रितं तत्। संभक्ष्य मंक्षु शययत्यधिकान्विकारान्॥ 123॥

भावार्थ : नागरमोथा, वायुविडंग, व चित्रक, त्रिकटु इनको समभाग लेकर चूर्ण करके उसके नौ भाग लोहभस्म मिलावें फिर उसे शक्कर व घी के साथ मिलाकर खाने से शीघ्र ही पाण्डु आदि अनेक रोग उपशान्त होते हैं ।

एवं नवायसमिति प्रथिताषधाख्यं। कृत्वोषयुज्य विधिना विविधप्रकारान्।
पाण्डुप्रमेहगुदजांकुरदुष्टकुष्ठ- नाड़ीव्रणक्रिमिरुजः शमयेन्मनुष्यः॥ 124॥

भावार्थ : इस प्रकार नवायस नामक प्रसिद्ध औषधि को तैयार कर जो विधिपूर्वक सेवन करते हैं, उनके अनेक प्रकार के पाण्डु, प्रमेह, बवासीर, दुष्ट कुष्ठ, नाडीव्रण क्रिमिरोग आदि अनेक रोग उपशमन होते हैं।

संक्षेप से सम्पूर्ण कुष्ठ चिकित्सा कथन

कुष्ठघ्नसद्विविधभेषजकल्कतोयैः। पक्वं घृतं तिलजमप्युपहंति नित्यं॥
अभ्यंगपानपरिषेकशिरोविरेकैर्योयुज्य मानमचिरात्प्रचुरप्रयोगैः॥ 125॥

भावार्थ : कुष्ठ हर अनेक प्रकार के औषधि प्रयोगों, औषधि के कल्क व कषायों से पक्व घृत वा तेल प्रतिनित्य अभ्यंग, पान, सेंक व शिरोविरोचन आदि काम में उपयोग करने से शीघ्र कुष्ठ दूर होता है।

खदिर प्रयोग

सर्वात्मना खदिरसारकषायमेकं। पीत्वाभिषिक्ततनुरप्यतिकुष्ठजुष्टः॥
नीचैर्नखैस्तनुरुहैस्सुविशुद्धगात्रः। सद्यःसुखीभवतिशांतमहामयार्तिः॥ 126॥

भावार्थ : अकेला खैर के कषाय को ही सतत पीने के काम में एवं स्नान के काम में लेने से नख रोम उत्पन्न होकर, शरीर शुद्ध होता है। कुष्ठरोग उपशमन होता है, इसलिए रोगी सुखी होता है।

अथ उदररोगाधिकारः

उदररोग निदान

नृणां समस्तैः पृथगेव दोषैर्यकृत्प्लिहाभ्यामुदकोपयोगात्॥
विषप्रयोगांत्ररनिरोधशल्याद्भवंति घोराणि महोदराणि॥ 127॥

भावार्थ : मनुष्यों को समस्त वा व्यस्त दोषों से, यकृत्, प्लीहा में, जलविकार से उदर में, विषप्रयोग व अवरोध शल्य से अनेक प्रकार के घोर उदर रोग होते हैं। प्रकुपित वात पित्त कफ व इनके सन्निपात, यकृत् प्लीहा में स्नेहन आदि क्रिया करते समय, पानी पीना, विष के प्रयोग, आंतड़ी में शल्य के रुक जाना इत्यादि कारणों से घोर उदररोग उत्पन्न होते हैं। तात्पर्य यह कि, उपरोक्त कारणों से, वातोदर, पित्तोदर, कफोदर, सन्निपातिकोदर (दृष्योदर) यकृत्प्लीहोदर, बद्धगुदोदर, क्षतोदर (परिस्राव्युदर) दकोदर, इस प्रकार अष्टविध उदररोग उत्पन्न होते हैं।

वातोदर लक्षण

अपथ्यमिथ्याचरणहृतिभ्यां। प्रदुष्टवातोऽन्नरसान प्रदूष्य॥
सशूलमाध्यानमनेकतोदं। महोदरं कृष्णशिरां करोति॥ 128॥

भावार्थ : अपथ्यसेवन, मिथ्या आहार विहार के कारण वात प्रकुपित होकर उदर रोग को उत्पन्न करता है अर्थात् वातोदर की उत्पत्ति होती है। जिसमें शूल, पेट अफराना (पेट फूलना) सुई चुभने जैसी नाना प्रकार की पीड़ा होना, पेट की नसें काली पड़ जाना, आदि लक्षण प्रकट होते हैं।

पित्तोदर लक्षण

सदाहतृष्णाज्वरशोषयुक्तम्। सपीतविण्मूत्रशिराप्रतानम्॥
महोदरं शीघ्रविसारि साक्षात्। करोति पित्तं स्वनिमित्तदुष्टम्॥ 129॥

भावार्थ : अपने प्रकोप कारणों से, दूषित पित्त से उत्पन्न महोदर में दाह, तृष्णा ज्वर, शोष आदि विकार होते हैं। महामूत्र व (पेट सम्बन्धी) शिरा समूह पीले वर्ण का होता है एवं यह शीघ्र पसरने वाला

होता है।

कफोदर लक्षण

गुरुस्थिरं स्निग्धतरं सुशीतं। महत्सितं शुल्कशिरावनद्धम्।
क्रमात्प्रवृद्धं जठरं सशोफम्। कफः करोति स्वयमेव दुष्टः॥ 130॥

भावार्थ : अपने प्रकोप कारणों द्वारा प्रकुपित कफ से उत्पन्न महोदर में उदर भारी, स्थिर, कठिन, चिकना, ठण्डा बड़ा व सफेद हो जाता है एवं शिरा (उदर सम्बन्धी) भी सफेद होती है। शरीर शोध युक्त होता है एवं रोग धीरे-धीरे बढ़ता है।

सन्निपातोदर निदान

समूत्रविट्शुक्ररजोयुतान्नैर्विषोदकैश्चापि विषप्रयोगैः।
सरक्तदोषाः कुपिताः प्रकुर्युर्महोदरं दूषिविषांबुजातम्॥ 131॥

भावार्थ : मल, मूत्र, वीर्य, रजसहित अन्न के सेवन से, विषजल के सेवन से एवं अन्य विषों के प्रयोग से रक्त के साथ तीनों दोष, प्रकुपित होकर सान्निपातिकोदर (दूष्योदर) रोग को उत्पन्न करते हैं।

सन्निपातोदरलक्षण

तदेतदत्यंबुददुर्दिनेषु। विशेषतः कोपमुपैति नित्यम्॥
तदानुगो मूर्च्छति तृष्णया च। विदाह्यते दाहपरीतदेहः॥ 132॥

भावार्थ : यह विशेष कर बरसात के दिनों में उनमें भी जिस दिन आकाश अत्यधिक बादल से आच्छादित होता है उस दिन उद्रिक्त होता है। इसके प्रकोप होने से रोगी मूर्च्छित होता है एवं अत्यधिक प्यास लगने से, सारे अंगों में दाह उत्पन्न होता है, इसलिए वह जलन का अनुभव करता है।

यकृत् प्लीहोदर लक्षण

ज्वरातिदाहात्प्रचुरांबुपाना - द्विदाहिभिर्दूषितरक्तकोपात्।
यकृत्प्लिहाभ्यामधिकं प्रवृद्धं। महोदरं दक्षिणवामपार्श्वे॥ 133॥

भावार्थ : ज्वर, अत्यन्त दाह, अत्यधिक पानी पीने व विदाहि पदार्थों के सेवन से दूषित रक्त के प्रकोप होने से दक्षिण भाग में यकृत व वाम भाग में प्लीहा बढ़ जाता है। इनसे, यकृदुदर, प्लीहोदर उत्पन्न होता है या इसी को यकृत् प्लीहोदर कहते हैं।

---

1. स्त्रियाँ अज्ञान से, पुरुषों को वशवर्ती करने के लिए, मल-मूत्र आदि अन्न में मिलाकर खिला देती हैं। बैरीगण, मारने आदि के बास्ते, विष प्रयोग करते हैं।

बद्धोदर लक्षण

सवालपाषाणतृणावरोधात्। सदांत्र एवातिचितं मलं यत्।
महोदरं बद्धगुदप्रतीतं। करोत्यमेध्यादिकगंधयुक्तम्॥ 134॥

भावार्थ : भोजन में छोटे कंकर, व घास के तुकड़े आदि जाकर आतड़ी में रुक जाने से सदा मल आंत्र में ही जमा हो जाता है, तब मलावरोध होता है और बहुत मुश्किल से निकलता है, इसे बद्धोदर कहते हैं एवं उससे अमेध्यादिक दुर्गंध युक्त होते हैं।

स्राावि उदर लक्षण

सशल्यमज्ञानत एव भुक्तं। तदंत्रभेदं प्रकरोति तस्मात्।
परिस्रवद्भूरिरसप्रवुद्धं। महोदरं स्राावि भवेत्स्वनाम्ना॥ 135॥

भावार्थ : भोजन के समय नहीं जानते हुए कांटे को खा जावे तो वह अंदर जाकर अंत्रभेदन करता है। तब आंतडी से बहुत (पानी जैसा) रस का स्राव होकर गुद मार्ग से निकलता है। सुई चुभने जैसी पीड़ा आदि लक्षण प्रकट होते हैं। इसे स्राावि उदर कहते हैं।

जलोदर निदान

यदेव वांतः सुविरिक्तदेहस्सबस्तिदत्तो घृतपानयुक्तः।
पिबेज्जलं शीतलमत्यनल्पं। जलोदरं तत्कुरुते यथार्थम्॥ 136॥

भावार्थ : जिसको, वमन व विरेचन कराया हो, बस्ति प्रयोग किया हो, घृत आदि स्नेह जिसने पी लिया हो अर्थात् स्नेहन क्रिया की हो, यदि वह उन हालतों में, ठण्डा जल, अत्यधिक पीवें तो निश्चय से उसे जलोदर रोग उत्पन्न होता है।

जलोदर लक्षण

महज्जलापूर्णधृतिप्रकल्पं। प्रकंपते क्षुभ्यति विस्तृतं तत्।
सचातुरः कृश्यति मुह्यतीह। पिपासुराहारविरक्तभावः॥ 137॥

भावार्थ : बहुत जल से भरा हुआ मशक जिस प्रकार हिलता है, इसी प्रकार जलोदर से पीड़ित व्यक्ति का विस्तृत पेट भी कंपता है व उससे क्षोभ उत्पन्न होता है। यह जलोदरी कृश व बेहोश भी होता है। उसे प्यास तो अधिक लगती है। उसे भोजन करने की विशेष इच्छा नहीं रहती है।

उदर रोग के साधारण लक्षण

सदाहमूर्च्छोदरपूरणाग्नि। मरुत्पुरीषातिविरोधनानि।
सशोफकार्श्यांगनिपीडनानि। भवंति सर्वाणि महोदराणि॥138॥

भावार्थ : सर्व महोदर रोगों में दाह, मूर्च्छा, पेट भरा हुआ होना, अग्निमांद्य वातावरोध, मलावरोध, सूजन, कृशता व शरीर में दर्द आदि विकार होते हैं।

असाध्योदर

जलोदराण्येव भवंति सर्वाण्यसाध्यरूपाण्यवसानकाले।
तदाभिषक्तानि विवर्जयेत्तत्। प्रबद्धसंस्राव्युदराणि चापि॥ 139॥

भावार्थ : वृद्धावस्था में जलोदर हो तो उसे असाध्य समझना चाहिए एवं बद्धोदर स्रावी उदर को भी समझना चाहिए। वैद्य को उचित है कि वह ऐसे रोगियों की चिकित्सा नहीं करें।

कृच्छ्रसाध्योदर

अथावशिष्टानि महोदराणि। सुकृच्छ्रसाध्यानि भवंति तानि॥
भिषक्प्रतिक्रम्य यथानुरूपं। चिकित्सितं तत्र करोति नित्यम् ॥ 141॥

भावार्थ : बाकी के महोदर रोग कष्टसाध्य होते हैं। यदि वैद्य कुशल क्रियाओं से प्रतिनित्य अनुकूल चिकित्सा करें, तो वे कष्ट से अच्छे होते हैं।

भैषजशस्त्रसाध्योदरों के पृथक्क रण

तदर्धमप्यदष्टमहोदरेषु। वरौषधैस्साध्यमथापरार्धम्॥
सशस्त्रसाध्यं सकलानिकालाद्भवंति शस्त्रौषधसाधनानि॥ 141॥

भावार्थ : उपर्युक्त आठ महोदर रोगी में आदि के चार (वात, पित्त, कफ व सन्निपात इनसे उत्पन्न) तो उत्तम औषधियों से साध्य हो सकते हैं। बाकी के चार शस्त्रकर्म से ठीक होते हैं। बहुत काल बीतने पर सर्व ही महोदर शस्त्र व औषधियों से साध्य होते हैं।

असाध्य लक्षण

अरोचकोद्यत्परिभग्नपार्श्वं। सशोफकुक्ष्यामयपीडितांगम्॥
विरिक्तमप्याशु निपूरयंतम्। विवर्जयेत्तं जठरामयार्तम्॥ 142॥

भावार्थ : जिस उदर रोगी को अरुचित अधिक हो, जिसका दोनों पार्श्व टूटे से मालूम होते हों व सूजन से युक्त हो, विरेचन देने पर भी शीघ्र पानी भर जाता हो उस रोगी को असाध्य समझकर छोड़ना चाहिए।

अथोदर चिकित्सा

बिडोग्रगंधामधुशिग्रुवल्कं। कषायकल्कं घृतमत्र पीत्वा॥
विरेचयेत्तिल्वकसीपषासौ। गवांबुना चापि निरूहयेत्तम्॥143॥

भावार्थ : बिडानमक, बचा, मधु सेंजन, इनके कषाय व कल्क से सिद्ध घृत को पिलाकर महोदर रोगी को तिल्बक घृत प्रयोग से विरेचन कराना चाहिए एवं गोमूत्र से निरूह बस्ति देनी चाहिए।

वातोदर चिकित्सा

महोदरं तैलविलिप्तमाशु। मरुत्कृतं क्षीरदधिप्रपक्वैः॥
सुशिग्रुमूलैस्सकरंजयुग्मैस्सपत्रदानैरुपनाहयेत्तम्॥ 144॥

भावार्थ : वातज महोदर हो तो उसके पेट पर तेल का लेपन कर दूध व दही से पकाये हुए सेंजन का जड़ व दोनों करंज (करंजपूतीकरंज) के पुल्टिश, एरंड आदि वातनाशक पत्तें के साथ पेट पर बाँधनी चाहिए।

सदैव संस्वेदनमप्यभीक्ष्णं। महोदरे मारुतजे विधेयम्॥
महौषधैस्सैंधवशिग्रुमूलै। स्सुसिद्धदुग्धादिकभोजनं च॥ 145॥

भावार्थ : वातज महोदर में सदा स्वेदन (पसीना लाना) भी कराना चाहिए एवं उसे सदा सोंठ, सैंधानमक, सेंजन के जड़ से सिद्ध दूध आदि भोजन कराना चाहिए।

पित्तोदर चिकित्सा

सपित्तदुष्टोदरिणं सुमृष्ट-। विंशिष्टशीतौषधसाधुसिद्धम्।
घृतं प्रपाय त्रिवृता यथेष्टं। विरेचयेत्तं समशर्करेण॥146॥

भावार्थ : पित्तोद्रेक से उत्पन्न महोदरी को अच्छे व विशेषरूप से शीत औषधियों से अच्छी तरह सिद्ध किया हुआ घृत पिलाकर एवं निशोथ व शक्कर मिलाकर उसे विरेचन कराना चाहिए।

पैत्तिकोदर में सनिरुह बस्ति

सशर्करा क्षीरघृतप्रगाढैर्वनस्पतिक्वाथगणैस्सुखोष्णैः॥
निरूहणैः पित्तकृतोदरार्तं। निरूहयेदौषधसंप्रयुक्तैः॥ 147॥

भावार्थ : पित्तज महोदरों को जिसमें शक्कर, दूध व घी अधिक हों ऐसे मंदोष्ण निरूहण वनस्पति के क्वाथ से निरूह बस्ति देनी चाहिए।

घृत प्रलिप्तं सुविशुद्धकोष्ठं। सपत्रबद्धं कुरु पायसेन॥
सुखोष्णदुग्धाधिकभोजनानि। विधीयतां तस्य सतिक्तशाकैः॥ 148॥

भावार्थ : कोष्ठ शुद्ध होने के बाद उस के पेट के ऊपर घी लगाकर दूध से सिद्ध पुल्टिश बाँधनी चाहिए जिस के ऊपर पत्ते बाँधने चाहिए और उसे जिसमें दूध अधिक हो एवं कडुवी तरकारियों से युक्त हो, ऐसा भोजन कराना चाहिए।

कफोदर

कफोदरं तिक्तकषायरूक्षकटुत्रिकक्षारगणप्रपक्वैः।
घृतैस्सतैलैस्सुसमाहितं तद्विरेचयेद्वज्रपयः प्रसिद्धैः॥ 149॥

भावार्थ : कफोदरी को कडुआ, कषाय रस, रूक्ष औषध त्रिकटु व क्षारसमूह के द्वारा पक्व, घृत तेल से स्नेह कराकर थोहर के दूध से विरेचन करना चाहिए।

गवांबुगोक्षीरकटुत्रिकाद्यैः। फलत्रयक्वाथगणैस्सतिक्तैः॥
निरूहभैषज्ययुतैस्सुखोष्णैर्निरूहयेत्तैरुपनाहयेच्च॥150॥

भावार्थ : गोमूत्र, गाय का दूध, त्रिकटु आदि कफनाशक औषध, त्रिफला और निरूहणकारक अन्य औषध इनके सुखोष्ण कषाय से निरूह बस्ति देनी चाहिए एवं पूर्वोक्त प्रकार कफनाशक पुल्टिश बांधनी चाहिए।

सदैव शोभांजनकार्द्रकाणां। रसेन संपक्वपयः प्लवान्नम्॥
कषायतिक्तातिकटुप्रकारैस्सुशाकवर्गैरसह भोजयेत्तम्॥ 151॥

भावार्थ : उसको सदा सेंजन व अदरख के रस से पक्व दूध से युक्त अन्न व कषाय तीखे, अति कडुए रस से युक्त तरकारियों से भोजन कराना चाहिए।

सन्निपातोदर चिकित्सा

यथोक्तदूषीविषजं महोदरं। त्रिदोषभैषज्यविशेषमार्गतः॥
उपाचरेदाशकरंजलांगलीशिरीषकल्कैरनुलेपयेद्बहिः॥151॥

भावार्थ : यदि दूष्योदर (सन्निपातोदर) हो जाये, तो त्रिदोष के उपशामक औषधियों से शीघ्र उपचार करना चाहिए एवं करंज, कलिहारी, सिरस के कल्क से बाहर लेपन करना चाहिए।

निदिग्धिकादि घृत

निदिग्धिका निंबकरंजपाटली। पलाशनीली कुटजांघ्रिपांबुभिः॥
विडंगपाठास्नुहिदुग्धमिश्रितैः। पचेद्घृतं तच्च पिबेद्विषोदरी॥ 153॥

भावार्थ : कटेली, नीम, करंज, पाडल, पलाश, नील, कुटज, इन वृक्षों के कषाय व वायविडंग, पाढा, थोहर के दूध इनके कल्क से पकाये हुए घृत उस विषोदरी को पिलाना चाहिए।

एरण्ड तेल प्रयोग

ससैंधवं नागरचूर्णमिश्रितं। विचित्रबीजोद्भवतैलमेव वा॥
लिहेत्समस्तोदरनाशहेतुकं। सुखोष्णगोक्षीरतनुं पिबेदपि॥ 154॥

भावार्थ : एरण्ड बीज से उत्पन्न तेल अर्थात् एरण्ड तेल में सैंधानमक सोंठ के चूर्ण को मिलाकर चाटने को देना चाहिए एवं मंदोष्ण गाय का दूध पिलाना चाहिए जिससे समस्त उदर रोग नाश होते हैं।

उदर नाशक योग

तथैव दुग्धार्द्रकजातिसद्रवै। र्विपक्व माशु क्षपयच्छेतांशकैः॥
तथा मरुंग्या स्वरसेन साधितं। पुनर्नवस्यापि रसैर्महोदरम्॥ 155॥

भावार्थ : इसी प्रकार दूध अदरख व जाई के रस से सौ बार पकाये गए तथा काले सेंजन के रस से वा पुनर्नवा के रस से सिद्ध एरण्ड तैल के सेवन से महोदर रोग नाश होता है।

अन्यान्य योग

सुवर्धिका हिंगुयुतं सनागरं। सुखोष्णदुग्धं शमयेन्महोदरं॥
गुडं द्वितीयं सततं निषेवितं। हरीतकीनामयुतं प्रयत्नतः॥ 156॥

भावार्थ : यवक्षार हींग व सोंठ से युक्त मंदोष्ण दूध को पीने से अथवा हरड़ के साथ गुड़ को प्रतिनित्य प्रयत्नपूर्वक सेवन करने से उदर महारोग नाश होता है।

स्नुहीपयोभावितजातपिप्पली - सहस्रमेवाशु जयेन्महोदरम्॥
हरीतकीचूर्णचतुर्गुणं घृतं निहंति तप्तं मथितं भुविस्थितं॥ 157॥

भावार्थ : थोहर के दूध से भावित हजार पीपल के सेवन से उदर महारोग शीघ्र नाश होता है। इसी प्रकार हरडे के चूर्ण को चतुर्गुण (घृत) में डालकर गरम करके जमीन में गाढे। पंद्रह दिन या एक मास के बाद निकाल कर पीवें तो सर्व उदररोग नाश होता है।

नाराच घृत

महातरुक्षीरचतुर्गुणं गवां। पयो विपाच्यं प्रतितक्रसंधितं॥
खजेन मंथा नवनीतमुध्दृतं। पुनर्विपक्वं पयसा महातरोः॥ 158॥
तदर्धमासं वरमासमेव वा। पिबेच्च नाराचघृतं घृतोत्तमं॥
महामयानामिदमेव साधनं। विरेचनद्रव्यकषायसाधितम्॥ 159॥

भावार्थ : थोहर के दूध के साथ चतुर्गुण गाय का दूध मिलाकर फिर तपावे तदनंतर छाछ के संयोग से उस दूध को जमावें, जब वह दही हो जावे तब उसे मंथनकर लोणी निकालें उस लोणी में पुनः थोहर के दूध मिलाकर पकावें, इसे नाराच घृत कहते हैं। यह सर्व घृतों में श्रेष्ठ है। उसे 15 दिन या एक मास तक पीवें। जिससे (विरेचन होकर) रोग दूर होता है। कुष्ठ, उदर आदि महारोगों के नाशार्थ यही एक उत्तम साधन है। एवं विरेचन द्रव्यों से साधित अन्य घृत भी ऐसे रोगों के लिए हितकर है।

महानाराच घृत

त्रिवृत्सदंती त्रिफला सशंखिनी। कषायभागैर्नृपवृक्षसत्फलैः॥
महातरुक्षीरयुतैस्सचित्रकैर्विडंगचव्यक्षणदा कटुत्रिकैः॥ 160॥
पचेत्सनाराचघृतं महाख्यं। महोदराष्टीलकनिष्ठ कुष्ठिनाम्।
सगुल्मिकापस्मरणोद्धतोन्मदप्रलापिनां श्रेष्ठविधं विरेचनम्॥ 161॥

भावार्थ : जमालगोटे की जड़, त्रिफला, शंखिनी (यवतिक्ता, चोरपुष्णी, पुन्नागवृक्ष) इनके

कषाय, थोहर का दूध और अमलतास का गूदा, चीता की जड़ वायविडंग, चव्य, हल्दी, सोंठ, मिरच, पीपल, इनके कल्क से घृत सिद्ध करना चाहिए। इसका नाम महानाराच घृत है। इसके सेवन से, शीघ्र विरेचन होता है। इसलिए सर्व उदररोग, अष्टीलीका, कुष्ठ गुल्म, अपस्मार भयंकर उन्माद और प्रलाप युक्त रोगियों के यह अत्यन्त हितकर है।

मूत्रवर्तिका

समस्तसंशोधनभेषजैस्समैः। कटुप्रकारैर्लवणैर्गवां जलैः॥

महातरुक्षीरयुतैस्सुसाधितैर्महामयघ्ना वरमूत्रवर्तिका॥ 162॥

भावार्थ : सर्वप्रकार के पीपल आदि संशोधन औषधियाँ (विरेचन निरूह कारक) कटु रसयुक्त पंचलवण इनको गोमूत्र व थोहर के दूध के साथ पीसकर बत्ती बनावें, इसका नाम मूत्रवर्तिका है। इसको गुदा में रखने से उदररोग नाश होता है।

द्वितीय वर्तिका

संशोधनद्रव्ययुतैस्सुसर्षपैस्ससैंधव - क्षारगणानुमिश्रितैः॥

कटुत्रिकै मूत्रफलाम्लेपषितैर्विधीयते वर्तिरियं महोदरे॥ 163॥

भावार्थ : शोधनद्रव्य, सरसों, सैंधानमक, क्षारवर्ग (यवक्षार, सज्जीक्षार आदि पूर्वकथित) त्रिकटु इनको गोमूत्र व अम्ल पदार्थ के साथ पीसकर बत्ती बनावें और गुदा में रखें तो वह महोदर रोग में उपयोगी है।

वर्तिका प्रयोग विधि

गुदे विलिप्ते तिलतैलसेंधवैः। प्रलिप्तवर्तिं च विधाय यत्नतः॥

जयेन्महानाहमिहोदराश्रितान्। क्रिमीन्मरुन्मूत्रपुरीषरोधनम्॥164॥

भावार्थ : गुदस्थान में सेंधानमक से मिश्रित तिलके तेल को लेपन कर, उपरोक्त बत्ती को भी लेपन करें। फिर (इन दोनों को चिकना बनाकर) उसे गुदा के अंदर प्रवेश करना चाहिए। जिससे उदर आश्रित, आध्मान (अफराना) क्रिमि वात और मल मूत्रावरोध दूर होता है। अर्थात् आध्मात, महोदर इन रोगों में रहने वाले कृमि व वायुविकार एवं मल मूत्रावरोध आदि दूर होते हैं।

दृष्योदर चिकित्सा।

तदाशु दूष्योदरिणं परित्यजे-द्विषाणि वा सेवितुमस्य दापयेत्॥

कदाचिदेवाशु च रोगनिवृति-र्भवेत्कदाचिन्मरणं यथासुखम्॥165॥

भावार्थ : दूष्योदरीको असाध्य कहकर छोड़ना चाहिए। अथवा उसे विष सेवन कराना चाहिए। उसके सेवन से कदाचित् उसके रोग की निवृत्ति हो जायेगी अथवा कदाचित् सुख पूर्वक मरण भी हो जायेगा।

यकृत्प्लीहोदर चिकित्सा

यकृत्प्लिहोद्भूतमहोदरे शिरां। स्वदक्षिणे वामकरे च मध्यमे॥
यथाक्रमात्तां व्यधयेद्विमर्दयन्। प्लिहां करेणातिदधिप्रभोजिनम्॥166॥

भावार्थ : रोगी को खूब दही खिलाकर यकृदुदररोग में दाहिने हाथ के, प्लीहोदर में बायें हाथ के मध्यप्रभाग स्थित शिरा को, प्लीहा को, मर्दन करते हुए, व्यधकरना (फस्त खोलना) चाहिए।

सुधांशुतक्षिणाम्बररोपमप्रभां। सुखोष्णगोक्षीरविमिश्रितां पिबेत्॥
यकृत्प्लिहाध्मातमहोदरो नरः। क्रमात्सुखं प्राप्तुमना मनोहरम्॥167॥

भावार्थ : कपूर से मिश्रित सुखोष्ण गाय का दूध उसे पिलाना चाहिए। जिससे यकृत, प्लीहा, आध्मान, महोदर आदि रोग दूर होते हैं।

यकृत्प्लीहानाशकयोग

सौवर्चिकाहिंगुमहौषधान्विता। पलाशभस्मसृतमिश्रितां पिबेत्॥
निहंति सक्षारगणैर्विपाचितं। समुद्रजातं लवणं प्लिहोदरम्॥168॥

भावार्थ : काला नमक, हींग, सोंठ इनको पलाश भस्म के कषाय में मिलाकर पीना चाहिए एवं क्षार वर्ग के साथ समुद्र लवण को पकाकर पीवें तो प्लीहोदर रोग नाश होता है।

पिप्पल्यादि चूर्ण

सपिप्पलीसैंधवचित्रकान्वितं। यवोद्भवं साधु विचूर्णितं समम्॥
रसेन सौभांजनकस्य मिश्रितं। लिहेद्यकृत्प्लीह्युदरोपशांतये॥169॥

भावार्थ : पीपल, सैंधानमक, चित्रक व यवक्षार को समांश चूर्ण करके उसे सेंजन के रस में मिलाकर रोज चाटें तो यकृत व प्लीहोदर की शांति होती है।

षटपलसर्पि

सपिप्पली नागरहस्तिपिप्पली। शटीसमुद्राग्नियवोद्भवैः शुभैः॥
कषायकल्कैः पलषट्कसंमितै, रिदं घृतं प्रस्थसमांशगोमयम्॥170॥
लिहेदिदं षट्पलसर्पिरुत्तमं। यकृत्प्लिहाध्मानमहोदरेष्वपि॥
सकासगुल्मोद्भ्वमरुत्प्रपीडिता, त्युदासमुद्वर्तनिवारणं परम्॥171॥

भावार्थ : पीपल, सोंठ, गजपीपल, कचोर, समुद्रलवण, चित्रक व यवक्षार इनके छह पल (24 तोला) कषाय व छह पल कल्क और एक प्रस्थ (64 तोला) गोबर का रस डालकर एक प्रस्थ घृत सिद्ध करें। इसे षट्पलसर्पि कहते हैं। इस उत्तम घृत को सेवन करने से यकृत, प्लीहा, आध्मान, महोदर, कास, गुल्म, ऊर्ध्ववात, उदावर्त को नाश करता है।

बद्ध व स्राव्युदर चिकित्सा

विबद्धसंस्राव्युदरेऽपि वामतो। विपाट्य नाभेश्चतुरंगुलादधः।
तदांत्रमाकृष्य निरीक्ष्य रोधनं। व्यपोह्य सिव्यादचिराद्वहिर्व्रणम्॥ 172॥
प्रवन्महांत्रं रजतेन कीलयेच्छ्रितं पयः पातुमिहास्य दापयेत्॥
सुखोष्णतैलप्रकटावगाहनं। विधाय रक्षेत्परिपाटितोदरम् ॥ 173॥

भावार्थ : विबद्ध व स्रावी उदर में भी बांये ओर से नाभी के नीचे चार अंगुल के स्थान में चीरना चाहिए। उसके बाद अंदर से आंतड़ी को खींचकर अच्छी तरह देखकर उसमें कंकड़, कांटे आदि रुके हुए को निकालना चाहिए। छिन्न-भिन्न आंतडी को चाँदी के पतले तार से जोड़ देना चाहिए। पश्चात् उदर के बाहर के भाग को शीघ्र सीकर ओटाये हुए दूध को पिलाना चाहिए एवं उसको थोड़ा गरम तैल में बैठाल कर उसकी रक्षा करनी चाहिए।

जलोदर चिकित्सा

जलोदरे तैलविलिप्तदेहिनं। सुखोष्णतोयैः परिषिक्तमातुरम्॥
पटेन कक्ष्यात्परिवेष्टितोदरम्। यथोक्तदेशं व्यथयेदधारया॥ 174॥

भावार्थ : जलोदरी को सबसे पहले तेल का लेपन कर मंदोष्ण पानी से स्नान करना चाहिए। उसके बाद कटी प्रदेश के ऊपर कपड़े को लपेटना चाहिए। फिर बिगर धार के कोई शस्त्र से पूर्वोक्त प्रदेश (नाभि के चार अंगुल नीचे बांयें भाग) में छेद करना चाहिए।

उदर से जल निकालने की विधि

निधाय नाडीं तनुधारयान्वितां। क्रमादिहाल्पाल्पजलं निषेचयेत्॥
न चैकवारं निखिलं सृजेत्तृषा। तीव्रातिमूर्च्छाज्वरदाहसंभवात्॥176॥

भावार्थ : उस छेद में एक योग्य दो मुख वाली नली को रखकर थोड़े-थोडे जल उससे निकालना चाहिए। एकदम सब जल नहीं निकालना चाहिए। क्योंकि अत्यन्त तृषा तीव्र मूर्च्छा, ज्वर व दाह इत्यादि होने की संभावना रहती है।

यथा यथा दोषजलस्रुतिर्भवेत्। तथा तथा गाढतरातिबंधनम्॥
विधाय पक्षादथवापि वामतः। समस्तदोषोदकमुत्सृजेद्बुधः ॥177॥

भावार्थ : जैसे जैसे सदोष जल निकल जावेगा वैसे-वैसे (कमर के) कपड़े के बंधन को अधिक कसते हुए जाना चाहिए। इस प्रकार बुद्धिमान् वैद्य को उचित है कि पंद्रह दिन तक संपूर्ण दोष युक्त जल को वामपार्श्व से निकालना चाहिए।

जलोदरी को पथ्य

ततश्च षण्मासमिहोदरर्दिते। सुखोष्णदुग्धेन सदैव भोजयेत्॥
क्रियासु सर्वास्वथ सर्वथैव। महोदरे क्षीरमिह प्रयोजयेत् ॥ 178॥

भावार्थ : उसके बाद छह महीने तक भी उस जलोदरी को मंदोष्ण दूध के साथ ही भोजन कराना चाहिए। महोदर रोग सम्बन्धी सर्वचिकित्सा करते समय दूध का उपयोग करना चाहिए।

दुग्ध का विशेष गुण

क्षीरं महोदरहितं परितापशोषतृष्णास्रपित्तपवनामयनाशहेतुम्।
वृष्यं बलप्रजननं परिशोधनं च। संधानकृत्तदनुरूपगुणौषधाढ्यम् ॥179॥

भावार्थ : तत्तद्रोगनाशक, औषधियों से युक्त, दूध, उदररोग संताप, शोष, तृष्णा, रक्तपित्त व वातविकार को नाश करता है। साथ ही पौष्टिक है। बलप्रद है, शोधक है और संधानकारी है।

अंतिम कथन

इति जिनवक्त्रनिर्गतसुशास्त्रमहांबुनिधेः। सकलपदार्थविस्तृततरंगकुलाकुलतः॥
उभयभवार्थसाधनतटद्वयभासुरतो। निसृतमिदं हि शीकरनिभं जगदेकहितम् ॥180॥

भावार्थ : जिसमें सम्पूर्ण द्रव्य, तत्त्व व पदार्थरूपी तरंग उठ रहे हैं, इहलोक-परलोक के लिए प्रयोजनीभूत साधनरूपी जिसके दो सुंदर तट हैं, ऐसे श्रीजिनेन्द्र के मुख से उत्पन्न शास्त्र समुद्र से निकली हुई बूँद के समान यह शास्त्र है। साथ में जगत् का एक मात्र हितसाधक है। (इसलिए ही इसका नाम कल्याणकारक है)।

इत्युग्रदित्याचार्यकृत कल्याणकारके चिकित्साधिकारे
महाव्याधिचिकित्सितं नामदितो एकादशमः परिच्छेदः

इत्युग्रदित्याचार्यकृत कल्याणकारक ग्रन्थ के चिकित्साधिकार में विद्यावाचस्पतीत्युपाधिविभूषित **वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री** द्वारा लिखित **भावार्थदीपिका** टीका में महारोगाधिकार नामक **ग्यारहवां परिच्छेद** समाप्त हुआ।

अथ द्वादशः परिच्छेदः

वातरोग चिकित्सा

मंगल व प्रतिज्ञा

देवदेवमभिवंद्य जिनेन्द्रं। भावितामखिलवातचिकित्सां॥

श्रावयामि वरभेषजयुक्तां। सावशेषकथितां सहरिष्टैः॥ 1॥

भावार्थ : देवाधिदेव श्री जिनेन्द्र भगवंत को नमस्कार कर पूर्व ऋषियों के द्वारा आज्ञापित वात चिकित्सा के सम्बन्ध में पूर्वोक्त प्रकरण से शेष विषयों को औषध विधान व रिष्ट वगैरह के साथ कहेंगे।

वातरोग का चिकित्सासूत्र

यत्र-यत्र नियताखिलरोगः। तत्र-तत्र विदधीत विधानम्।

तैललेपनविमर्दनयुक्तस्वेदनोपनहनैरनिलघ्नैः ॥ 2॥

भावार्थ : शरीर के जिस-जिस अवयव में जो-जो रोग हो उसी भाग में वात नाश करने वाले औषधियों से सिद्ध तैललेप, उबटन, स्वेदन और उपनाहन (पुलटिस बाँधना) के द्वारा तदनुकूल चिकित्सा करनी चाहिए।

त्वक्सिरादिगतवातचिकित्सा

त्वक्सिरापिहितसंश्रितवाते। रक्तमोक्षणमथासत्कृदुक्तम्।

अस्थिसंधिधमनीगतमास्वेद्याशु बंधनविधिं विदधीत॥ 3॥

भावार्थ : यदि वात त्वचा व शिरागत हो तो बार-बार रक्त मोक्षण (खून निकालना) करना चाहिए। यदि अस्थि संधि व धमनी में प्राप्त हो तो शीघ्र स्वेदन क्रिया कर बंधन करना चाहिए।

अस्थिगत वात चिकित्सा

अस्थिसंश्रितमथावयवस्थं। शृंगमाशु जयतीह नियुक्तम्।

पाणिमन्थनविदारितमस्थ्या। व्यापयेन्नलिकया पवनं वा॥ 4॥

भावार्थ : वह वायु अस्थि अवयव में प्रविष्ट हो तो सीग लगाकर रक्त निकालने से वह ठीक होता है अथवा हाथ से मलकर व चीरकर नली से वायु को बाहर निकालना चाहिए।

श्लेष्मादियुक्त व सुप्तवात चिकित्सा

श्लेष्मापित्तरुधिरान्वितवायौ। तत्प्रति प्रवरभेषजवर्गैः॥
सुप्तवातमसृजः परिमोक्षै र्योजयेदुपशमक्रिययापि॥ 5॥

भावार्थ : यदि वात कफ, पित्त व रक्त से युक्त हो तो उसके लिए उपयोगी श्रेष्ठ औषधियों का प्रयोग करना चाहिए। सुप्तवात के लिए रक्तमोक्षण करना व उसके योग्य उपशम क्रिया करना उपयेागी है।

कफ पित्त युक्त वात चिकित्सा।

तापबंधनमहोष्मनिजाख्यैः। स्वेदनैः कफयुताद्भुतवातम्॥
स्वेदयेद्रुधिरपित्तसमेतं। क्षीरवारिघृतकांजिकमिश्रैः॥ 6॥

भावार्थ : ताप, बंधन (उपनाह) ऊष्म और द्रव, इस प्रकार स्वेद के चार भेद हैं। यदि वात कफयुक्त हो तो ताप, बंधन और उपनाह के द्वारा स्वेदन करना (पसीना निकालना) चाहिए। रक्त व पित्त युक्त हो तो दूध, पानी, घी और कांजी मिलाकर द्रवस्वेद के द्वारा पसीना निकालना चाहिए। इसका विशेष इस प्रकार है।

1. **तापस्वेद** – बालु की पोटली हथेली, वस्त्र, ईंट आदि को गरम कर के इनसे, शरीर को तपाकर (सेंककर) जो पसीना निकाला जाता है, उसे तापस्वेद कहते हैं।

2. **उपनाह (बंधन) स्वेद** – वातघ्न औषधि, तैल, ताक[1], दही, दूध अम्ल पदार्थ आदि से सिद्ध किए हुए औषध पिण्ड से तत्तदंगों में मोटा लेप कर उसके ऊपर कम्बल, कपड़ा, वातघ्न एरण्ड अर्कादि पत्तियों को बाँधकर (इसी को पुलटिश बाँधना कहते हैं) जो पसीना निकाला जाता है, उसे उपनाह व बंधन कहते हैं।

3. **ऊष्मस्वेद** – 1 लोहे का गोला, ईंट आदिकों को तपाकर उस पर छाछ, कांजी आदि खट्टा द्रव छिड़कना चाहिए। रोगी को कम्बल आदि उढ़ाकर उस तपे हुए गोले व ईंट से सेकें तो उसके वाष्प से पसीना आता है।

वातघ्न दशमूल आदि औषधियों के काढ़ा व रस के एक घड़े में भरकर तपावें घड़े का मुँह बंद करके और उसके पेट में छिद्र बनाकर उसमें लोहा वांस आदि से बनी हुई एक नली लगावें। रोगी को वातघ्न तैल मालिस करके कम्बल आदि ओढ़ाकर बैठावें। पश्चात् घड़े की नली के मुँह को रोगी के कपड़े के अंदर करें तो उसके वाफ से पसीना आता है।

मनुष्य के शरीर के बराबर लम्बा और चौड़ा जमीन खोदकर उसमें खेर की लकड़ी भरकर जलावें। जब वह अच्छी तरह जल जावे, उसी समय कोयला निकालकर दूध छाछ कांजी आदि छिड़क

1. देखो श्लोक नंबर 7

कर उस पर वातघ्न निर्गुण्डी एरण्ड, आक आदि के पत्तियों को बिछावें बाद में उसके ऊपर रोगी को सुलावें। ऊपर से कम्बल आदि ओढ़ावे। इससे पसीना आता है। इत्यादि विधियों से जो स्वेद निकाला जाता है, इसे ऊष्मस्वेद कहते हैं।

4. द्रवस्वेद – वातघ्न औषधियों के गरम काढ़े को लोह ताम्र आदि के बड़े पात्र में भरकर उसमें तैल से मालिश किए हुए रोगी को बैठालकर (रोगी का शरीर छाती पर्यंत काढ़े में डूबना चाहिए) जो पसीना लाया जाता है अथवा रोगी को खाली बर्तन में बैठालकर ऊपर से काढ़े की धारा तब तक गिरावे जब तक कि नाभि से छह अंगुल ऊपर तक बह जावे, इससे भी पसीना आता है इनको द्रवस्वेद कहते हैं। इसी प्रकार घी दूध तेल आदि से यथायोग्य रोगों में स्वेदन करा सकते हैं।

वातघ्नउपनाह

तैलतक्रदधिदुग्धघृताम्लैः। तण्डुलैर्मधुरभेषजवर्गैः॥
क्षारमूत्रलवणैस्सह सिद्धं। पत्रबंधनमिदं पवनघ्नम् ॥ 7॥

भावार्थ : तैल, छाछ, दही, घृत अम्ल पदार्थ, चावल व मधुर औषधि वर्ग यवक्षारादि क्षार गोमूत्र व सेंधवादि लवणों के द्वारा सिद्ध पुलटिस को बाँधकर उसके ऊपर वातघ्न पत्तों का प्रतिबंधन करना चाहिए। यह वातहर होता है।

सर्वदेहाश्रितवात चिकित्सा

सर्वदेहमिहसंश्रितवातं। वातरोगशमनैरवगौहः।
पक्व धान्यनिचयास्तरणाद्यैः।स्वेदयेत्कुरुत बस्तिविधानम्॥ 8॥

भावार्थ : सर्वदेहमें व्याप्त वात हो, तो वात रोग को उपशमन करने वाले औषधियों से सिद्ध काढ़े में रोगी को अवगाहन[1], (बैठालना) व पके हुए धान्यसमूह के ऊपर सुलाना[2] आदि क्रियाओं के द्वारा स्वेदन कराना चाहिए। फिर बस्तिप्रयोग करना चाहिए।

स्तब्धदिवातचिकित्सा

स्तब्धदेहमिह कुंचितगात्रं। गाढबंधयुतमाचरणीयम्॥
स्कंधजन्नुगलवक्षसि वातं। नस्यमाशुशमयेद्वमनं च॥ 9॥

भावार्थ : वातविकार से जिसका शरीर स्तब्ध व आकुंचित हो गया है उसके लिए मोटा पुल्टिश बाँधना चाहिए। स्कंध (कंधा), जन्नु (हंसली) गल व वक्षस्थान में वात हो तो नस्य और वमन से शमन करना चाहिए।

1–2. इन दोनों का खुलासा ऊष्म द्रव स्वेद में किया है।

सर्वांगगतादिवातचिकित्सा

एकदेशसकलांगगवातं। बस्तिरेव शमयेदतिकृच्छ्रम्॥
उत्तमांगसहितामलबस्तिं। धारयेत्क्षणसहस्रमशेषम्॥ 10॥

भावार्थ : एक देशगत व सर्वांगगत अतिकठिनसाध्य वात को बस्तिप्रयोग ही शमन कर सकता है। शिरोगतवायु हो तो शिरोबस्ति को एक हजार क्षण तक धारण करना चाहिए।

शिरोवस्ति– चर्म व चर्मसदृश मोटे कपड़े से टोपी के आकार वाली लेकिन इसके ऊपर व नीचे का भाग खुला रहे (टोपी में ऊपर का भाग बंद रहता है) ऐसी बस्ति बनावें। उसके एक मुँह को शिर पर जमा के रखें। उसकी संधि में उड़द की पिट्टी का लेप करें। इसके बाद उसके अंदर वातघ्न तैल भरकर 1000 एक हजार क्षण तक शिर को निश्चल रखकर धारण करावें, तो नाक मुँह और नेत्र में स्राव होने लगता है। तब उसको शिर से निकाल लेवें। इसे शिरोबस्ति कहते हैं।

अतिवृद्धवात चिकित्सा

स्नेहिकैर्वमनलेपविरेकाभ्यंगधूपकबलाखिलबस्तिम्॥
प्रोक्तनस्यमखिलं परिकर्म। प्रारभेत बहुवातविकारे ॥11॥

भावार्थ : अत्यधिक वातविकार हो तो स्नेहन, वमन, लेप, विरेक, अभ्यंग, धूप, कबल व बस्ति आदि पहले कहे हुए नस्य प्रयोगों का आवश्यकतानुसार प्रयोग करें।

वातरोग में हित

स्निग्धदुग्धदधिभोजनपानान्यम्लकानि लवणोष्णगृहाणि॥
कुष्ठपत्रबहुलागुरुयुक्तालेपनान्यनिलरोगहितानि ॥12॥

भावार्थ : चिकने पदार्थ (तैल घी) व दूध, दही, खट्टा और नमकीन पदार्थों को भोजन व पान में उपयेाग, गरम मकान में निवास और कूट, तेजपात, इलायची व अगुरु उनका लेपन करना, वातरोग के लिए हितकर है।

वातरोग में हित

साग्नियानगुरुसंवरणानि। ब्रह्मचर्यशयनानि मृदूनि॥
धान्ययूषसहितानि खलानि। प्रस्तुतान्यनिलरोगिषु नित्यम्॥13॥

भावार्थ : गरम सवारी में जाना, भारी कपड़ों को ओढ़ना, ब्रह्मचर्य से रहना, मृदुशयन में सोना, धान्ययूष सहित खल (व्यंजनविशेष) ये सब वातरोग के लिए हितकर हैं।

वातरोग में हित

आज्यतैलयुतभक्षणभौज्योष्णावगाहपरिषेककरीषैः॥
स्वेदनान्यतिसुखोष्णसुखानीत्येवमाद्यनिलवारणमिष्टम्॥14॥

भावार्थ : घी, तेल से युक्त भक्ष्य व भोजन, उष्ण काढा आदि में अवगाहन करावें (सूखे गोबर) को थोड़ा गरम करके सेंककर सुखपूर्वक स्वेद लाना आदि यह सब वात निवारण के लिए हितकर हैं।

तिल्वकादि घृत

तिल्वकाम्लपरिपेषितकल्कं। बिल्वमात्रमवगृह्य सुदंती॥
क्षीरकंचुकमिति त्रिवृतारव्यान्यक्षमात्रपरिमाणयुतानि॥ 15॥
आढकं दधिफलत्रयजात-। क्वाथमाढकमथापि घृतस्य॥
प्रस्थयुग्ममखिलं परिपक्वं। वातिनां हितविरेचनसर्पिः॥ 16॥

भावार्थ : खट्टी चीजों से पिसा हुआ तिल्वक[1] (लोध के वृक्ष के आकार वाला जिसकी पत्तियाँ बड़ी होती हैं, लालवर्ण युक्त, ऐसे विरेचनकारक वृक्ष विशेष) कल्क 4 तोले, जमालगोटे की जड़, क्षीर कंचुकी (क्षीरीश वृक्ष) निशोध ये एक 2 तोले लेकर, चूर्ण करें और उपरोक्त (तिल्क) कल्क में मिलावे यह कल्क, एक आढक (3 से 16 तोले) दही, एक आढ़क त्रिफला क्वाथ, इन चीजों से दो प्रस्थ (डेढ़ सेर 12 तोला) घृत यथाविधि सिद्ध करें। यह तिल्वकादि घृत, वातिक रोगियों को विरेचन के लिए उपयेागी है।

अणु तैल

पीलुकोपकरणानितिलानां। खण्डखण्डशकलानि विधाय॥
क्वाथयेद्बहुतरोदकमध्ये। तैलमुत्पतितमत्र गृहीत्वा॥ 17॥
तच्च वातहरभेषजकल्क-। क्वाथदुग्धदधिभागविपक्वम्॥
वातरोगमणुतैलमशेषं। हंति शांतिरिव कर्मकलंकम्॥ 18॥

भावार्थ : पीलु वृक्ष की छाल व तिल को टुकड़ा- टुकड़ा कर बहुत से पानी में पकाकर क्वाथ करना चाहिए। उसमें जो तेल निकले उसे निकालकर वात हर औषधियों का कल्क क्वाथ, दूध, दही के साथ पकाने पर तैल सिद्ध होता है। उसका नाम अणुतैल है। जिस प्रकार शांतिक्रिया कर्म कलंक को नाश करती है, उसी प्रकार उस तेल का एक अणु भी संपूर्ण वात रोग को नाश करता है।

सहस्र विपाक तैल

सर्ववातहरवृक्षविशेषैश्शोषितैरवनिमाशु विदग्धाम्॥
तैर्विपक्व वरतैलघटैर्निर्वाप्य नक्तमुषितां ह्यपरेद्युः॥ 19॥
स्नेहभावितसमस्तमृदं निःक्वाथ्य पूर्ववदिहोत्थिततैलम्।
आम्लदुग्धदधिवातहरक्वाथौषधैरीप ससहस्त्रगुणांशैः॥ 20॥

1. रोध्राकरे बृहत्पत्रे, रक्तवैरेचनिक वृक्षे। वैद्यक शब्दसिन्धु

सर्वगंधपरिवापविपक्वं, पूजया सततमेव महत्या।
पूजितं रजतकांचनकुंभ, स्थापितं वरसहस्रविपाकम्॥ 21॥
राजराजसदृशोऽतिधनाढ्यः। श्रीमतां समुचितं भुवि साक्षात्।
तैलमेतदुपयुज्य मनुष्यो। नाशयेदखिलवातविकारान्॥ 22॥

भावार्थ : सर्व वातहर वृक्षों को सुखाकर उनसे भूमि को जलावें तथा उन्हीं वातहर वृक्षों की छाल, जड़ आदि के क्वाथ व कल्क के द्वारा एक आढ़क तिल के तैल को पकाकर सिद्ध करें। उस तेलको उस जलाई हुई भूमि पर डालें। एक रात्रि वैसा ही छोड़कर दूसरे दिन उस तेल से भावित मिट्टी को निकालकर क्वाथ करें, जिससे यथापूर्व निकल जायेगा। उस तेल को हजार गुना आम्ल, दधि, दुग्ध व वातहर औषधियों के क्वाथ व कल्क के साथ हजार बार पकाना चाहिए। तब वह तेल सिद्ध हो जाता है। फिर उसमें सर्व गंध द्रव्यों (चन्दन, कस्तूरी, कपूर आदि) को डालकर बहुत विजृंभण के साथ पूजा करके उसे चाँदी व सोने के घड़े में भरकर रखें। इस तैल को तैयार करने के लिए राजाधिराज सदृश धनाढ्य ही समर्थ हैं। इस तैल को उपयोग करने से मनुष्य सर्वप्रकार के वात विकारों को दूर करता है।

पत्रलवण

नक्तमालबृहतीद्वयपूति - कााग्निकेक्षुरकमुष्कपुनर्नै-॥
रण्डपन्नगणमत्र गृहीत्वा। क्षुण्णमंबुलवणेन समानम्॥ 23॥
तत्सुपात्रनिहितं प्रपिधाया- रण्यगोमयमहाग्निविदग्धम्॥
पत्रनामलवणं पवनघ्नम्। ग्रंथिगुल्मकफशोफविनाशम्॥ 24॥

भावार्थ : करंज, छोटी कटेली, बड़ी कटेली, पूती करंज, चित्रक, गोखुर मोखा, पुनर्नवा, एरण्ड इनकी पत्तियों को समभाग लेकर चूर्ण करें। इस चूर्ण के बराबर समुद्र नमक मिलाकर उसे एक अच्छे मिट्टी के घड़े में डालकर, उसका मुँह बंद कर दें। फिर जंगली कण्डों से एक लघु पुट देवें (जलावें) बस औषध तैयार हो गया। इसका नाम पत्र लवण है। इसके सेवन से वातरोग नाश होते हैं तथा ग्रंथि, गुल्म, कफ और शोथ (सूजन) को नष्ट करता है।

क्वाथ सिद्ध लक्षण

नक्तमालपिचुंमदपटोला - । पाटलीनृपतरूत्रिफलाग्नि॥
क्वाथसिद्धलवणं स्नुहिदुग्धोन्मिश्रितं प्रशमयेदुदरादीन्॥ 25॥

भावार्थ : करंज, नीम, पटोलपत्र (कड़वी परवल) पाढ़, अमलतास का गूदा त्रिफला, चित्रक इनको समांश लेकर बने हुए क्वाथ में सिद्ध[1] नमक में थोहर का दूध मिश्रकर उपयोग में लेवे तो उदरादि अनेक रोगों को दूर करता है।

1. औषधियों के क्वाथ में उसके बराबर सैंधानमक डालकर तब तक पकावें कि वह जब तक गाढ़ा न होवे।

कल्याण लवण

पारिभद्रकुटजार्कमहावृक्षा - पमार्गनिचुलाग्निपलाशान्॥
शिग्रुशाकबृहतीद्वयनादेयाट - रूषकसपाटलबिल्वान्॥
नक्तमालयुगलामल - चव्यारुष्करांघ्रिपसमूलपलाशान्।
वैजयंत्युपयुतान् लवणेनोन्मिश्रितान्कथितमार्गविदग्धान्॥ 27॥
षड्गुणोदकविमिश्रित - पक्वान्गालितानतिघनामलवस्त्रे।
तद्द्रवं परिपचेत्प्रति - वापैहिंगुजीरकमहौषधचव्यैः॥ 28॥
चित्रकैर्मरिचदीप्यकमिश्रैः। पिप्पलीत्रिकयुतैश्च समांशैः।
चूर्णितैर्बहलपक्व मिदं कल्याणकाख्यलवणं पवनघ्नम् ॥29॥

भावार्थ : बकायन, कुटज, अकौवा, थोहर, लटजीरा, चित्रक, पलाश, सेंजन, दोनों (छोटी बड़ी) कटेली, अडूसा, पाढ, बेल, दोनों (करंज पूतीकरंज) करंज, चाव, भिलावा, पलाशमूल, अगेथु इन सब औषधियों को चूर्ण कर उसमें सैंधालवण सन्मिश्रण करके पूर्वोक्त प्रकार से जलाना चाहिए। तदनंतर उसे षड्गुण जल मिलाकर उसको पकावे। फिर अच्छे कपड़े से छानकर उस द्रव में हींग, जीरा, सौंठ चाव चित्रक, कालीमिरच अजमोद तीनों[1] प्रकार के पीपल, इनके समांश चूर्ण को डालकर तब तक पकावें, जब तक गाढा न हो इसे कल्याणलवण कहते हैं। यह वातविकार को नाश करता है।

अग्निमांद्यगुदजांकुरगुल्म-। ग्रंथिकीटकठिनोदरशूला-॥
नाहकुक्षिपरिवर्तविषूची। साररोगशमनं लवणं तत्॥ 30॥

भावार्थ : यह लवण अग्निमांद्य, बवासीर, गुल्म, ग्रंथि, कृमिरोग कठिनोदर, शूल, आध्मान, कुक्षि, परिवर्त, हैजा, अतिसार आदि अनेक रोगों को उपशमन करता है।

साध्यासाध्य विचार पूर्वक चिकित्सा करनी चाहिए

उक्तलक्षणमहानिलरोगेष्वप्यसाध्यमधिगम्य विधिज्ञः॥
साधयेदधिकसाधनवेदी। वक्ष्यमाणकथितौषधयोगैः॥ 31॥

भावार्थ : इस प्रकार लक्षण सहित कहे गए वातरोगों में चिकित्सा शास्त्र में कुशल वैद्य साध्यासाध्य का निर्णय करें और साध्य रोगों को आगे कहने वाले व कहे गए औषधियों के प्रयोग से साध्य करें।

अपतानक का असाध्य लक्षण

स्रस्तलोचनमतिश्रम - बिंदुव्याप्तगात्रमभिजृंभितमेदम्॥
मंचकाहतबहिर्गतदेहम्। वर्जयेत्तदपतानकतप्तम्॥ 32॥

1. पिप्पली, 2. जलपिप्पली, 3. गजपिप्पली

भावार्थ : जिसकी आँखें खिसक गई हो, अतिश्रम से युक्त हो, जिसके शरीर में बहुत से चकते हो गए हो, जिसका शिश्न बहुत बढ़ गया हो, खाट पर हाथ पैर को खूब पटकता हो व उससे बाहर गिरता हो, ऐसे अपतानक रोगी को असाध्य समझकर छोड़ना चाहिए।

पक्षाघात का असाध्य लक्षण

शूनगात्रमपसुप्तशरीरा - ध्मानभुग्नतनुकंपरुजार्तम्॥
वर्जयेदाधिकवातगृहीतं। पक्षघातमरुजं परिशुष्कम्॥ 33॥

भावार्थ : जिसका शरीर सूज गया हो, सुप्त (स्पर्श ज्ञान शून्य) हुआ हो, आध्मान (अफराना) से युक्त हो, नम गया हो व कम्प से युक्त हो, अत्यधिक वात से गृहीत हो पीड़ा रहित हो, अंगोपांग सुख गए हों, ऐसे पक्षाघात रोगी को असाध्य समझकर छोड़ना चाहिए।

आक्षेपक अपतानक चिकित्सा

स्नेहनाद्युपकृतातुरमोक्ष-। पापतानकनिपीडितगात्रम्॥
शोधयेच्छिरसि शोधनवर्गैः।पाययेद्धृतमनंतरमच्छम्॥ 34॥

भावार्थ : आक्षेपक अपतानक से पीड़ित रोगी को स्नेहन-स्वेदन आदि क्रियाओं के प्रयोग कर (शिरोविरेचन) शिरशोधन वर्ग की औषधियों से शिरशोधन करना चाहिए। तदनंतर स्वच्छ घृत को पिलाना चाहिए।

वातहर तैल

ख्यातवातहरभेषजकल्क-। क्वाथकोलयवतोयकुलुत्थो-॥
त्पन्नयूषदधिदुग्धफलाम्लैस्तैलमाज्यसहितं परिपक्वम्॥ 35॥

भावार्थ : वात को नाश करने वाली औषधियों से बनाया हुआ कल्क व क्वाथ बेर व यव का पानी, कुलथी का यूष, दही, दूध अम्ल फल और घी इनसे तैल सिद्ध करना चाहिए।

वातहर तैल का उपयोग

नस्यतर्पणशिरः परिषेकाभ्यंगबस्तिषु विधेयमिहाक्षे-।
पापतानकमहानिलरोगेष्वष्टवर्गसहितं मिथुनाख्यम्॥ 36॥

भावार्थ : उपरोक्त तैल को, अपतानक महावात रोगों में नस्य, सिर का तर्पण, परिषेक, अभ्यंग, और बस्तिक्रिया में उपयोग करना चाहिए। एवं जीवक ऋषभक, काकोली क्षीरकाकोली, मेदा, महामेदा, ऋद्धि, वृद्धि इन अष्टवर्ग से सिद्ध किए हुए मिथुन नामक तैल को उपरोक्त कार्यों में उपयोग करना चाहिए।

अर्दित वात चिकित्सा

स्वेदयेदसकृदर्दितवातं। स्वेदनैर्बहुविधैर्बहुधोक्तैः।
अर्कतैलमपतानकपत्रा-म्लाधिकं दधि च पीतमभुक्त्वा॥ 37॥

भावार्थ : अर्दित वातरोग में भोजन न खिलाकर, अम्लरस व दही को पिलावें पश्चात् अनेक बार कहे गए, नाना प्रकार के स्वेदन विधियों द्वारा, बार-बार स्वेदन करें। आक के तैल का मलिश करें।

शुद्ध व मिश्रवात चिकित्सा।

शुद्धवाताहितमेतदशेषं। मिश्रितेष्वपि च मिश्रितमिष्टम्।
दोषभेदरसभेदविधिज्ञो। योजयेत्प्रतिविधानविशेषैः॥ 38॥

भावार्थ : ऊपर अभी तक जो वातरोग की चिकित्सा का वर्णन किया है, वे सम्पूर्ण शुद्धवातारब्ध अर्थात् केवल वात से उत्पन्न रोगों में हितकर है। अन्य दोषों से मिश्रित (युक्त) वातरोगों के लिए भी रसभेद, दोषभेद व तत्तद्रोगों के प्रतीकार विधान को जाननेवाला वैद्य, तत्तद्दोषों के प्रतिकूल, ऐसी मिश्रित चिकित्सा करें।

पक्षाघात अर्दितवात चिकित्सा

पक्षघातमपि साधु विशोध्या- । स्थापनाद्यखिलरोगचिकित्सा॥
संविधाय विदितार्दितसंज्ञम्। स्वेदनैरुपचरेदवपीडैः॥ 39॥

भावार्थ : पक्षाघात रोगी को अच्छी तरह विरेचन कराकर, आस्थापनाबस्ति आदि वातरोगों के लिए कथित, सम्पूर्ण चिकित्सा करनी चाहिए। अर्दित वातरोगी को स्वेदन व अवपीड़न नस्य आदि से उपचार करना चाहिए।

आर्दितवात के लिए कासादि तैल

काशदर्भकुशपाटलबिल्व। क्वाथभागयुगलैकसुदुग्धम्॥
तैलमर्धमशिलं परिपक्वं। सर्वथार्दितविनाशनमेतत्॥ 40॥

भावार्थ : कास तृण, दर्भी, कुश, पाढ, बेल इनके दो भाग क्वाथ एक भाग दूध एवं उससे (दूध से) आधा भाग तैल डालकर पकावें। ऐसे तैल को नस्य आदि के द्वारा प्रयोग करें, तो आर्दितवात को विनाश करता है।

गृध्रसी प्रभूतिवात रोग चिकित्सा

गृध्रसिप्रभृतिवातविकारा- । न्रक्तमोक्षणमहानिलरोग- ॥
प्रोक्तसर्वपरिकर्मविधानैः। साधयेदुरुतरौषधयोगैः॥ 41॥

भावार्थ : गृध्रसि आदि महावात विकार में रक्तमोक्षण करके पहले कहे गए उत्तम औषधियों

के प्रयोग से योग्य चिकित्सा करनी चाहिए।

कोष्ठगतवात चिकित्सा

कोष्ठजानपि महानिलरोगान्। कुष्टपत्रलवणादिघृतैर्वा॥
बस्तिभिर्विविधभेषजयोगैः। साधयेदनिलरोगविधिज्ञः॥42॥

भावार्थ : कोष्ठगत महावात रोगों में पत्र लवणादिक, घृत व बस्तिप्रयोग आदि अनेक प्रकार के प्रयोगों द्वारा सम्पूर्ण वात रोगों की विधि जाननेवाला कुशल वैद्य चिकित्सा करें।

वातव्याधि का उपसंहार

केवलोऽयमितरैस्सहयुक्तो। वात इत्युदितलक्षणमार्गात्॥
आकलय्य सकलं सविशेषै। र्भेषजैरुपचरेदनुरूपैः॥43॥

भावार्थ : यह केवल वातज विकार है, यह अन्य दोषों से युक्त है। इन बातों का पहले कहे हुए वातादि दोषों के लक्षणों से निश्चयकर उनके योग्य औषधियों से चिकित्सा करनी चाहिए।

कर्णशूल चिकित्सा

कर्णशूलमपि सैंधवहिंगुच्छृंगवेररसतैलसमेतैः।
पूरयेच्छ्रवणमाशु जयेत्तं। छागतोयलशुनार्कपयोभिः॥44॥

भावार्थ : सैंधानमक, हींग, अदरख के रस को तेल में मिलाकर अथवा बकरे की मूत, लहसन व अकौवे का रस इनको मिलाकर गरम करके कान में भरें और उसको सौ पाँच सौ अथवा एक हजार मात्रा[1] समय तक धारण करावें, तो कर्णशूल शांत होता है।

अथ मूढ़गर्भाधिकारः

मूढगर्भ कथन प्रतिज्ञा

उक्तमेतदखिलामययोग्यं। सच्चिकिकित्सितमतःपरमन्ये।
मूढगर्भगतिलक्षणरिष्ट-। प्रोद्यदुद्धरणयुक्तकथेयम्॥45॥

भावार्थ : अभी तक वात रोगों के लिए योग्य चिकित्सा विशेषों का प्रतिपादन किया है। अब मूढ़गर्भ के लक्षण, रिष्ट व उद्धरण की (निकालने की) विधि आदि को कहेंगे।

गर्भपात का कारण

वाहनाध्वगमनस्खलनाति-। ग्राम्यधर्मपतनाद्यभिघातात्॥
प्रच्युतः पतति विसृतगर्भ। स्सस्वाशयात्फलमिवांघ्रिपवृंदात्॥46॥

1. घुटने के चारों तरफ हाथ से एक चक्कर फिरा कर चुटकी बजावे। इतने काल की एक मात्रा होती है।

भावार्थ : अत्यधिक वाहन में बैठने से, अधिक चलने से, स्खलन (पैर फिसलना) होने से, मैथुन करने से, कहीं गिर पड़ने से, चोट लगने से, जिस प्रकार वृक्ष से फलच्युत होता है, उसी प्रकार गर्भ अपने स्थान से अर्थात् गर्भाशय से च्युत होकर गिर जाता है (इसे गर्भपात[1] कहते हैं)।

गर्भस्राव स्वरूप

गर्भघातविपुलीकृतवायुः। पार्श्वबस्त्युदरयोनिशिरस्था।
नाहशूलजलरोधकरोऽस्त्रं। स्रावयत्यतितरां तरुणश्चेत् ॥47॥

भावार्थ : वह गर्भ यदि तरुण (चार महीने तक का) होवे तो गर्भ के आघात से उद्रिक्तवायु पार्श्व, बस्ति उदरस्योनि व शिरादि स्थानों को पाकर आध्मान, शूल, मूत्ररोध को करते हुए अत्यधिक रक्त का स्राव करता है। (इसी अवस्था को गर्भस्राव[2] कहते हैं)।

मूढ़गर्भलक्षण

कश्चिदेवमभिवृद्धिमुपेतोऽपानवायुविपुटीकृतमार्गम् ।
मूढगर्भ इति तं प्रवदंति। द्वारमाश्वलभमानमसुघ्नम्॥ 48॥

भावार्थ : बिना किसी उपद्रव के कोई गर्भवृद्धि को प्राप्त होकर जब वह प्रसवोन्मुख होता है, तब यदि अपान वायु प्रकुपित हो जावे, तो वह गर्भ की गति को विपरीत कर देता है। इसलिए उसे निर्गमनद्वार शीघ्र नहीं मिल पाता है। विरुद्ध क्रम से बाहर निकलने लगता है। इसे मूढ़गर्भ कहते हैं। यदि इस की शीघ्र चिकित्सा न की जाये तो प्राणघात करता है।

मूढ़गर्भ की गति के प्रकार

कश्चिदेव करपादयुगाभ्या-। मुत्तमांगविनित्तकराभ्याम्॥
पृष्ठपार्श्वजठरेण च कश्चित्। स्फिक्छिरोंघ्रिभिरपि प्रतिभुग्नः॥ 49॥

भावार्थ : उस मूढ़गर्भ से पीड़ित होने पर किसी-किसी बालक का सबसे पहले हाथ-पाँव एक साथ बाहर आते हैं। किसी-किसी के मस्तक ही बाहर आ जाता है। हाथ अंदर रह जाता है। किसी-किसी बालक की पीठ व बगली बाहर आ जाते है और किसी का पेट, इसी प्रकार किसी किसी के पाद और मस्तक एक साथ मिल जाने से कटिप्रदेश पहले आ जाता है।

मूढ़गर्भ का अन्य भेद

योनिवायुगतपादयुगाभ्यां। प्राप्नुयाद्बहुविधागमभेदैः॥
मूढगर्भ इति तं प्रविचार्या-।श्वाहरेदसुहरं निजमातुः॥ 50॥

भावार्थ : योनिगत कुपित वात से दोनों पाद ही पहले आते हैं। इस प्रकार गर्भ अनेक प्रकार

1. पाँचवें या छटवे महीने में जो गर्भ गिर जाता है, उसे गर्भपात कहते हैं।
2. प्रथम से चार महिने तक जो गर्भ गिर जाता है, उसे गर्भस्राव कहते हैं।

से बाहर आता है इसलिए मूढ़गर्भ के भी अनेक भेद हैं। उस समय मूढ़गर्भ की गति को अच्छी तरह विचार कर जैसा भी निकल सके, बच्चे को शीघ्र बाहर निकालना चाहिए। नहीं तो वह माता के प्राण का घातक होगा।

मूढ़गर्भ का असाध्य लक्षण

वैदनाभिरतिविश्रुतमत्या-। ध्मानपीडितमतिप्रलपंतीं ॥
मूर्च्छयाकुलितमुद्गतदृष्टीं। वर्जयेदधिमूढजगर्भाम् ॥ 51 ॥

भावार्थ : अत्यन्त वेदना से युक्त, आध्मान से पीड़ित, अत्यन्त प्रलाप करती हुई, मूर्च्छा कुलित व जिसकी दृष्टि ऊपर की ओर हो ऐसी मूढ़गर्भ वाली स्त्री को असाध्य समझकर छोड़ें।

शिशुरक्षण

प्राणमोक्षणमपि प्रमदायाः। स्पंदनातिशिथिलीकृतकुक्षिम्।
प्राग्विबुध्य जठरं प्रविपाठ्य। प्रोद्धरेत्करुणया तदपत्यम् ॥ 52 ॥

भावार्थ : स्त्री का प्राण छूट जाने पर भी यदि पेट में गर्भ फड़कता हो, पेट शिथिल हो गया हो तो ऐसी अवस्था को पहले ही जानकर दयाभाव से बच्चे को बचाने की इच्छा से, पेट को चीर कर उसे बाहर निकालें।

मृतगर्भ लक्षण

श्वासपूतिरतिशूलपिपासा। पाण्डुवक्त्रमचलोदरतात्या- ॥
ध्मानमाविपरिणाशनमेत-। ज्जायते मृताशिशावबलायाः ॥ 53 ॥

भावार्थ : यदि बच्चा पेट में मर गया तो माता को श्वास दुर्गंध, अतिशूल, प्यास, पाण्डुरामुख, निश्चल पेट, अति आध्मान (अफराना) प्रसववेदन विनाश ये सब विकार प्रकट होते हैं।

मूढ़गर्भ उद्धरण विधि

मूढगर्भमतिकष्टमिहांत्रा-। द्यंतराक्तमपहर्तुमशक्यम् ॥
तन्निवेद्य नरपाय परेभ्यः। तस्य कृच्छतरतां प्रतिपाद्य ॥ 54 ॥
पिच्छिलौषधघृतप्रविलिप्त-। क्लृप्तकुंठनखरेण करेण ॥
प्रोद्धरेत्समुचितं कृपया तद्गर्भिणीमपि च गर्भमहिंसन् ॥ 55 ॥

भावार्थ : आंतडी यकृत प्लीहा आदि के बीच में रहने वाले मूढगर्भ को निकालना अतिकठिन व दुःसाध्य काम है। इसलिए वैद्य को उचित है कि उसकी कष्ट साध्यता को, राजा व अन्य उसके बंधु बांधवों से कहकर लिवलिवाहट (फिसलने वाले) औषध और घी को, नाखून कटे हुए हाथों में लेपकर, अंदर हाथ डालकर योग्य रीति से, दयार्द्र हृदय होते हुए निकाल लेवें। परन्तु ध्यान रहे कि गर्भिणी व उसके गर्भ को कुछ भी बाधा न पहुँचे।

वर्तनातिपरिवर्तनविक्षेपातिकर्षणविशेषविधानैः।
आहरेदसुहरं दृढगर्भं। श्रावयेदपि च मंत्रमदानि॥ 56॥

भावार्थ : माता के प्राण को घात करने वाले मूढगर्भ को निकालने के लिए जिस समय वह अंदर हाथ डाले उस समय बच्चे को जैसा रहे वैसा ही खींचना, उसको बदलकर खींचना, सरकाकर खींचना व एकदम खींचना आदि अनेक विधानों से अर्थात् प्राण हरने वाले मूढगर्भ की जैसी स्थिती हो तदनुरूप विधानों (जिससे बिना बाधा के शीघ्र निकल आवें) के द्वारा बाहर निकालना चाहिए।

लांगलाख्यवरभेषजकल्कं। लेपयेदुदरपादतलान्युन्।
मत्तमूलमथवा खरमंज। र्याश्च साधु शिरसि प्राणिधेयम्॥ 57॥

भावार्थ : कलिहारी की जड़ के कल्क बनाकर गर्भिणी के पेट व पादतल में लेपन करना चाहिए, धतूरे की जड़ व चिरचिरे की जड़ को मस्तक पर रखना चाहिए।

सुख प्रसवार्थ उपायान्तर

तीर्थकृत्प्रवरनामपदैर्वा। मंत्रितं तिलजपानमनूनम्॥
चाषपत्रमथ योनिमुखस्थं। कारयेत्सुखतरप्रसवार्थम्॥ 58॥

भावार्थ : तीर्थंकर परमदेवाधिदेव के पवित्र नामोच्चारण से मंत्रित तेल गर्भिणी को पिलाना चाहिए। तथा योनी के मुख में चाषपत्र को रखना चाहिए। उपरोक्त क्रियाओं से सुखपूर्वक शीघ्र ही प्रसव होता है।

मृतगर्भाहरण विधान

पूर्वमेव तदनंतरमास-। न्नागतं ह्यपहरेयुरपत्यं॥
मुद्रिकानिहितशस्त्रमुखेना-। श्वाहरेन्मृतशिशुं प्रविदार्य॥ 59॥

भावार्थ : पहले से ही अथवा औषधि आदि के प्रयोग के बाद निकट आये हुए बच्चे को हाथ से बाहर निकालना चाहिए। यदि वह बच्चा मर गया हो तो मुद्रिका शस्त्र से विदारण करके निकालना चाहिए।

स्थूलगर्भाहरण विधान

स्थौल्यदोषपरिलग्नमपीह। प्राहरेत्प्रबलपिच्छिलतैला-।
लिप्तहस्तशिशुयोनिमुखान्त-। र्मार्गगर्भमतियत्नपरस्सन्॥ 60॥

भावार्थ : यदि वह बच्चा कुछ मोटा हो अतएव योनि के अंतर्मार्ग में रुका हुआ हो, तो उस समय लिबलिबे औषधियों को अपने हाथ, बच्चा व योनि में लगाकर बच्चे को बहुत सावधान होकर बाहर निकालना चाहिए।

गर्भ को छेदनकर निकालना

येन येन सकलावयवेन। सज्यते मृदुशरीरमपत्यम्॥
तं करेण परिमृज्य विधिज्ञः। छेदनैरपहरेदतियत्नात्॥ 61॥

भावार्थ : मृदु शरीर का धारक बच्चा जिस अवयव से अटक जाता हो, उन अंगों को हाथ से मलकर एवं छेदकर[1] बहुत यत्न के साथ बच्चे को बाहर निकालना चाहिए।

सर्वमूढ़गर्भापहरण विधान

मूढगर्भगतिरत्र विचित्रा। तत्त्वविद्विविधमार्गविकल्पैः॥
निर्हरेत्तदनुरूपविशेषै-। र्गर्भिणीमुपचरेदपि पश्चात्॥ 62॥

भावार्थ : मूढगर्भ की गति अत्यन्त विचित्र हुआ करती है। इसलिए उनके सब प्रकार के भेदों को जानने वाला कुशल वैद्य अनेक प्रकार की उचित रीतियों से उसे बाहर निकाले। तदनंतर गर्भिणी का उपचार करें ।

प्रसूता का उपचार

योनितर्पणशरीरपरिषे-। कावगाहनविलेपननस्ये-॥
षूक्ततैलमनिलघ्नमशेषं। योजयेदपि बलाविहितं च॥ 63॥

भावार्थ : प्रसूत स्त्री के योनितर्पण (योनि में तेल से भिजा हुआ कपड़ा रखना आदि) शरीर सेक, शरीर पर तेल छिड़कना व धारा देना आदि अवगाहना[2], लेपन और नस्य क्रिया में पूर्वोक्त सम्पूर्ण वातहर तैलों को अथवा बलातैल (आगे कहेंगे) को उपयेाग में लाना चाहिए। सारांश यह कि वातनाशक तैलों के द्वारा प्रसूता स्त्री को योनितर्पण आदि चिकित्सा करनी चाहिए।

बलातैल

क्वाथ एव च बलांघ्रिविपक्वषष्ड्गुणस्सदृशदुग्धविमिश्रः॥
कोलबिल्वबृहतीद्वयटुंटू-। काग्निमंथयवहस्तकुलुत्थैः॥ 64॥
विश्रुतैः कृतकषायविभागैः। तैलभागसहितास्तु समस्ताः॥
तच्चतुर्दशमहाढकभागे। पाचयेदाधिकभेषजकल्कैः॥ 65॥
अष्टवर्गमधुरौषधयुक्तैः। क्षीरिकां मधुकचंदनमंजि-।
ष्ठाश्वगंधसुरदारुशतावर्येंघ्रिकुष्ठसरलस्तगरैला ॥ 66॥
सारिवासुरससर्ज्जरसाख्ये। पत्रशैलजजटागुरुगंधो।
ग्राख्यसैंधवयुतैः परिपिष्टैः कल्कितैस्समशृतैस्सहपक्वम्॥ 67॥
साधुसिद्धमवतार्य सुतैलं। राजते कनकमृण्मयकुंभे॥
सान्निधाय विदधीत सदेदं। राजराजसदृशां महतां च॥ 68॥

1. यदि गर्भ जीवित हो तो कभी छेदन नहीं करना चाहिए।
2. अवगाहन आदि का स्वरूप पहले लिख चुके हैं।

पाननस्यपरिषेकविशेषा-। लेपबस्तिषु विधानविधिज्ञैः॥
योजितं पवनपित्तकफोत्थान्नाशयेदखिलरोगसमूहान्॥ 69॥

भावार्थ : तैलसे षड्गुण बलामूल का कषाय व दूध एवं तेल का समभाग बेर, बेल, दोनों कटेली, टुंटूक, अगेथु, जौ, कुलथी इनके कषाय व चतुर्दश आढक प्रमाण तिल का तेल लेकर पकाना चाहिए। उसमें अष्टवर्ग (काकोली, क्षीरकाकोली, मेदा, महामेद, ऋद्धि, वृद्धि, जीवक, ऋषभक) मधुरौषधि, अकौवा, मुलैठी, चंदन, मंजीठ असगंध, देवरारु, शतावरीमूल, कूट, धूपसरल, तगर, इलायची, सारिबा, तुलसी, राल, दालचीनी का पत्र, शैलज नामक सुगंध द्रव्य (भूरिछरील) जटामांसी, अगरु, वचा, सैंधानमक इनको पीसकर तैल से चतुर्थांश भाग कल्क उस तेल में डालकर पकाना चाहिए। जब वह तेल अच्छी तरह सिद्ध हो जाये तो उसे उतारें। फिर उसे चाँदी सोने अथवा मट्टी के घड़े में रखें। वह राजाधिराजों व तत्सदृश महान् पुरुषों को उपयोग करने योग्य है। इस तैल को पान, नस्य सेक, आलेपन, बस्ति आदि विधानों में प्रयोग किया जाये तो वात, पित्त, कफ आदि दोषों से उत्पन्न अनेक रोगों को दूर करता है।

शतपाक वला तैल

तत्कषायबहुभावितशुष्क। कृष्णसत्तिलनिपीडिततैलम्॥
तद्बलाक्वथिततोयशतांशैः।पक्वेमेतदसकृच्छतपाकम्॥70॥
तद्रसायनविधानविशेषैस्सेव्यमान शतपाकवलाख्यम्
दीर्घमायुरनवद्यशरीरं । द्रोणमेव कुरतेऽत्र नराणाम्॥ 71॥

भावार्थ : बलामूल के कषाय से अनेक बार भावित काले तिल से तैल निकाल कर उससे, सौगुना बलामूल के कषाय डालकर बार-बार पकावें। इसका नाम शतपाक बलातैल है। इस तैल को रसायन सेवन विधान से, एक द्रोण (पौने तेरह सेर) प्रमाण सेवन किया जाये तो दीर्घायु एवं शरीर निर्दोष होता है।

नागवलादि तैल

तद्वदुत्तमगजातिबलाको-। रंटमूलशतमूलगुळूच्या-।
दित्यपर्णितुरगार्कविशारीण्यादितैलमखिलं पचनयिम्॥72॥

भावार्थ : इस तैल की विधि से उत्तम नागवला, अतिबला, पियावासा इनके मूल शतावरी गुडूची (गुर्च) सूत्रपर्णी, अश्वगंध, अकौवा, माषपर्णी (बनमूग) इत्यादि वातघ्न औषधियों से तैल सिद्ध[1] करना चाहिए।

1. तैल को सिद्ध करने की परिपाटी यह है कि तैल के बराबर कषाय डालकर प्रत्येक दिन पकाया जाता है। इस प्रकार सौ दिन पकाने पर तैल सिद्ध होता है।

प्रसूता स्त्री के लिए सेव्य औषध

मार्कवेष्वपि पिबेद्यवजं सत्क्षारमाज्यसहितोष्णजलैर्वा॥
पिप्पलीत्रिकटुकद्वययुक्तं। सैंधवं तिलजामिश्रितमेव॥ 73॥
सत्रिजातककटुत्रयमिश्रं। मिश्रशोधनपुराणगुडं वा॥
भक्षयेन्मरिचमागधिकाकुस्तुंबरक्वथितसोष्णजलं वा॥ 74॥

भावार्थ : प्रसूता स्त्री को भृंगराज रस में यवक्षार डालकर अथवा घी, उष्णजल यवक्षार मिलाकर अथवा सोंठ मिरच पीपल, सैंधानमक इनको तिल के तैल में मिलाकर पिलाना चाहिए व पुराने गुड़ के साथ त्रिकटु व त्रिजातक मिलाकर भक्षण करना चाहिए। अथवा मिरच, पीपल व धनिया से क्वथित उष्णजल को पिलाना चाहिए।

गर्भिणी आदि के सुखकारक उपाय

गर्भिणी प्रसविनीं तदपत्यं। प्रोक्तवातहरभेषजमार्गैः॥
संविनीय सुखितामतियत्ना- द्बालपोषणमपि प्रविदध्यात्॥ 75॥

भावार्थ : इस प्रकार उपर्युक्त प्रकार वातहर औषधियों के प्रयोगों द्वारा बहुत प्रयत्न से गर्भिणी, प्रसूता व बच्चे की सुखावस्था में पहुँचाना चाहिए। तदनंतर उस बालक का पोषण भी करना चाहिए।

बालरक्षणाधिकारः

बालकं बहुविधौषधरक्षा-। रक्षितं कृतसुमंगलकार्यम्॥
यंत्रतंत्रनुतमंत्रविधौन-। र्मंत्रितं परिचरेदुपचारैः॥ 76॥

भावार्थ : उस बालक को जातकर्म आदि मंगल कार्य करते हुए अनेक प्रकार की औषधि व यंत्र, तंत्र, मंत्र आदि विधानों के द्वारा रक्षा करनी चाहिए।

शिशुसेव्यघृत

गव्यमेव नवनतिघृतं वा। हेमचूर्णसहितं वचयात्र।
पाययेच्छिशुमिहाग्निबलेना। त्यल्पमल्पमधिकं च यथावत् ॥77॥

भावार्थ : गाय का मख्खन व घी में सुवर्णभस्म व बच का चूर्ण मिलाकर बालक के अग्निबल के अनुसार अल्पमात्रा से आरंभ कर थोड़ा-थोड़ा बढ़ाते हुए पिलाना चाहिए, जिससे आयुष्य, शरीर, कांति आदि वृद्धि होते हैं।

धात्री लक्षण

दुग्धवत्कृशतरस्तनयुक्तां। शोधितामतिहितामिह धात्रीं।
गोत्रजां कुशलिनीमंपि कुर्यादायुरर्थमतिबुद्धिकरार्थं॥ 78॥

भावार्थ : बालक की आयु व बुद्धि के लिए दूध वाले और कृश (पतला) स्तनों से संयुक्त परीक्षित (दुष्ट स्वभाव आदि से रहित) बालक के हित को चाहने वाली स्वगोत्रोत्पन्न कुशल ऐसी दाई को दूध पिलाना आदि बालक के उपचार के लिए रखनी चाहिए।

बालग्रहपरीक्षा

बालकाकृतिशरीरसुचेष्टां। संविलोक्य परिपृच्छ्रयच धात्रीम्॥

भूतवैकृतविशेषविकारा-। नाकलय्य सकलं विदधीत॥ 79॥

भावार्थ : बालक के आकार और शरीर चेष्टा को देखकर एवं उसके विषय में दाई से पूछकर भूत विकार अर्थात् बालग्रह रोग की परीक्षा करें। यादि बालग्रह मौजूद हो तो उसकी सम्पूर्ण चिकित्सा करनी चाहिए।

बालग्रहचिकित्सा

होमधूमबलिमण्डलयंत्रान् भूततंत्रविहितौषधमार्गात्॥

संविधाय शमयेच्छमनीयम्। बालकग्रहगृहीतमपत्यम्॥ 80॥

भावार्थ : बालग्रह से पीड़ित बालक को होम, धूंवा, बली, मण्डल, यंत्र एवं भूत तंत्रोक्त भूतों को दूर करने वाली औषधियों से उपशम करना चाहिए।

बालरोग चिकित्सा

आमयानपि समस्तशिशूनां। दोषभेदकथितौषधयोगैः॥

साधयेदधिकसाधनवेदी। मात्रयात्र महतामिव सर्वान्॥ 81॥

भावार्थ : प्रकुपित दोषों के अनुसार अर्थात् तत्तद्दोषनाशक औषधियों के योगों द्वारा वय, बल, दोषादि के अनुकूल मात्रा आदि की कल्पना करते हुए जिस प्रकार बड़ों (युवादि अवस्था वालों) की चिकित्सा की जाती है, उसी विधि के अनुसार उन्हीं औषधियों से सम्पूर्ण रोगों की चिकित्सा कार्य में अत्यन्त निपुण वैद्य बालकों की चिकित्सा करें।

बालकों को अग्निकर्म आदि का निषेध

अग्निकर्मसविरेकविशेष-। क्षारकर्मभिरशेषीशशूनाम्॥

आमयान्न तु चिकित्सायितव्यास्तत्र तत्तदुचितेषु मृदुस्यात्॥ 82॥

भावार्थ : बालकों के रोगों की चिकित्सा अग्निकर्म, विरेक, क्षारकर्म, शस्त्रकर्म, वमन आदि अग्निकर्म आदि से नहीं करना चाहिए। साध्य रोगों में तदनुरूप मृदु क्रियाओं से करनी चाहिए।

अथार्शरोगाधिकारः

अर्शकथन प्रतिज्ञा

मूढगर्भमखिलं प्रतिपाद्य। प्रोद्यदुद्धतमहामयसंब-।
न्धयर्शसामपि निदानचिकित्सां। स्थानरिष्टसहितां कथयामि॥ 83॥

भावार्थ : इस प्रकार मूढगर्भ के विषय प्रतिपादन कर महारोग सम्बन्धी अर्श रोग (बवासीर) के निदान चिकित्सा, उसके स्थान व रिष्टों का (मरणचिह्न) कथन करेंगे इस प्रकार आचार्य प्रतिज्ञा करते हैं।

अर्श निदान

वेगधारणचिरासनविष्टं-। भाभिघातविषमाद्यशनाद्यैः।
अर्शसां प्रभवकारणमुक्तं। वातपित्तकफरक्तसमस्तैः ॥84॥

भावार्थ : मलमूत्र के वेग को रोकना, बहुत देर तक बैठे रहना, मलावरोध, चोट लगना, विषम भोजन आदि कारणों से दूषित व इनके एक साथ कुपित होने से पृथक्-पृथक् बात पित्त कफ व रक्तों से अर्श रोग की उत्पत्ति होती है।

अर्शभेद व वातार्श लक्षण

षड्विधा गुदगदांकुजातिः। प्रोक्तमार्गसहजक्रमभेदात्॥
वातजानि परुषाणि सशूला-। ध्मानवातमलरोधकराणि॥ 85॥

भावार्थ : वातज, पित्तज, कफज, रक्तज, सन्निपातज एवं सहज इस प्रकार अर्श (बवासीर) के छह भेद है। इनमें वातज अर्श कठिन होते है एवं शूल अध्मान (अफराना) वात व मलरोध आदि लक्षण उसमें उत्पन्न होते हैं।

पित्तरक्त कफार्श लक्षण

पित्तरक्तजनितानि मृदून्य। त्युष्णमस्रमसकृद्विसृजंति॥
श्लेष्मजान्यपि महाकठिनान्यत्युग्रकण्डुरतराणि बृहन्ति॥ 86॥

भावार्थ : पित्त व रक्तज अर्श मृदु होते हैं। अत्युष्ण रक्त जिनमें बार-बार पड़ता है। श्लेष्मज अति कठिन होते हैं। देखने में अन्य अर्शी की अपेक्षा बड़े होते हैं एवं उसमें बहुत अधिक खुजली चलती है।

सन्निपातसहजार्श लक्षण

सर्वजान्यखिललक्षणलक्ष्याणीक्षितानि सहजान्यतिसूक्ष्मा-।
ण्युक्तदोषसहितान्यतिकृच्छ्राण्यर्शसां समुदितानि कुलानि॥ 87॥

भावार्थ : सन्निपातज बवासीर में, वातादि पृथक्-पृथक् दोषोत्पन्न, अर्शों में पाये जाने वाले, पृथक् पृथक् लक्षण एक साथ पाये जाते हैं। अर्थात् तीनों दोषों के लक्षण मिलते हैं। सहज (जन्मगत) अर्श अत्यन्त सूक्ष्म होते है एवं इसमें सन्निपातार्श में प्रकट होने वाले सर्व लक्षण मिलते हैं। (क्योंकि यह भी सन्निपातज है।) उपरोक्त सर्व प्रकार के अर्श के समूह कष्ट साध्य होते हैं।

अर्श के स्थान

तिस्र एव वलयास्तु गुदोष्टादंगुलांतरनिवेशितसंस्थाः ॥
तत्र दोषविहितात्मकता दुर्नामकान्यनुदिनं प्रभवंति ॥ 88 ॥

भावार्थ : गुदास्थान में तीन[1] बल (बलियाँ) होते हैं और वे गुदा के मुख से लेकर तीनों एक[2]-एक अंगुल के अंतर में है।)। (तात्पर्य यह कि एक-एक वलय एक-एक अंगुल प्रमाण है। इस प्रकार तीनों वलय गुदा के मुख से लेकर तीन अंगुल प्रमाण हैं) इन बलयों में, वातादि दोषोत्पन्न पूर्वोक्त सभी अर्श उत्पन्न होते हैं।

अर्श का पूर्व रूप

अम्लिकारुचिविदाहमहोदराविपाककृशतोदरकंपाः ॥
संभवंति गुदजाकुरपूर्वोत्पन्नरूपकृतिभूरिविकाराः ॥ 89 ॥

भावार्थ : खट्टी ढकार आना और मुख खट्टा-खट्टा हो जाना, अरुचि होना, दाह, उदर रोग होना, अपचन, कृशता व उदरकंप आदि बहुत से लक्षण अर्श रोग होने के पहले होते है। अर्थात् बवासीर के ये पूर्वरूप हैं।

मूलरोग संज्ञा

ग्रंथिगुल्मयकृदद्धुतध्यष्टीलकोदरबल - क्षयशूलाः ॥
तन्निमित्तजनिता यत एते। मूलरोग इति तं प्रवदंति ॥ 90 ॥

भावार्थ : अर्श रोग से ग्रंथि, गुल्म, यकृतवृद्धि, अष्टील, उदर, बलक्षय व शूल आदि अनेक रोग उत्पन्न होते हैं। अर्थात् अनेक रोगों की उत्पत्ति में यह मूल कारण है, इसलिए इसे मूलरोग (मूलव्याधि) कहते हैं।

अर्श के असाध्य लक्षण

दोषभेद - कृत - लक्षणरूपोपद्रवादिसहितैर्गुदकीलैः।
पीडिताः प्रतिदिनं मनुजास्ते। मृत्युवक्त्रमचिरादुपयांति ॥ 91 ॥

1. प्रवाहणी, विसर्जनी, संवरणी, ये अंदर से लेकर बाहर तक रहने वाली वलियों के क्रमशः नाम है।
2. अन्य ग्रंथों में, प्रथम वली 1 अंगुल प्रमाण, बाकी की दो वलियाँ 1॥ डेढ 2 अंगुल प्रमाण है, ऐसा पाया जाता है।

भावार्थ : जिसमें भिन्न-भिन्न दोषों के लक्षण प्रकट हो अर्थात् तीनों दोषों के सम्पूर्ण लक्षण एक साथ प्रकट हो, उपद्रवों से संयुक्त हो ऐसे अर्श रोग से पीड़ित मनुष्य शीघ्र ही यम के मुख में जाते हैं।

मेढ्रादि स्थानों में अर्शरोग की उत्पत्ति

मेढ्रयोनिनयनश्रवणास्य - घ्राणजेष्वपि तदाश्रयरोगाः ॥
संभवंत्यतितरां त्वचि जाता । श्चर्मकीलनिजनामयुतास्ते ॥ 92 ॥

भावार्थ : मेढ्र (शिश्नेन्द्रिय) योनि, आँख, कान, मुँह और नाक में भी अर्श रोग की उत्पत्ति होती है। उसके होने पर, मेढू आदि स्थानों में उत्पन्न होने वाले अन्य रोगों की उत्पत्ति भी होती है। यह अर्श यदि त्वचा में होवे तो, उसे चर्मकीला कहते हैं।

अर्श का असाध्य लक्षण

प्रसृतातिरूधिराद्यतिसारश्वासशूलपरिशोषतृषार्तम् ॥
वर्जयेद्गुदगदांकुरवर्गोत्पीडितं पुरुषमाशु यशोऽर्थी ॥ 93 ॥

भावार्थ : जिससे अधिक रक्त पड़ता हो और जो अतिसार, श्वास, शूल, परिशोष और अत्यन्त प्यास आदि अनेक उपद्रवों से युक्त हो, ऐसे अर्श रोगी को यश को चाहने वाला वैद्य अवश्य छोड़ें।

अन्य असाध्य लक्षण

अंतरङ्गवलिजैर्गुदकीलैस्सर्वजैरपि निपीडितगात्राः ।
पिच्छिलास्रकफमिश्रमलं येऽजस्त्रमाशु विसृजंति सतोदम् ॥ 94 ॥

भावार्थ : अंदर की (तीसरी) वलि में उत्पन्न अर्श एवं सन्निपातज अर्श से पीड़ित तथा जो सदा पिच्छिल रक्त व कफ मिश्रित मल को विसर्जन करते रहते हैं, जिसे उस समय अत्यन्त वेदना होती है, ऐसे अर्श रोगी को असाध्य समझकर छोड़ें।

अन्य असाध्य लक्षण

वल्य एव बहुलाविलदुर्ना। मांकुरैरूपहता गुदसंस्थाः ॥
तान्नरानखिलरोगसमूहैः- । कालयान्परिहरेदिह येषां ॥ 95 ॥

भावार्थ : अर्शरोग से पीड़ित, गुदास्थानगत, वलिया, अत्यन्त गंदली या सड़ गयी हों, एवं अनेक रोगों के समूह से पीड़ित हों, ऐसे अर्शरोगी को असाध्य समझकर छोड़ना चाहिए।

अर्श रोग की चिकित्सा

तच्चिकित्सितमतः परमुद्यत्पाटयंत्रवरभेषजशस्त्रैः ॥
उच्यतेऽधिकमहागुणयुक्तः । क्षारपाकविधिरप्यातियत्नात् ॥ 96 ॥

भावार्थ : उस अर्श रोग की चिकित्सा यंत्र, पट्टीबंधन, उत्तम औषधि व शस्त्रकर्म के बल से

एवं महान् गुण से युक्त क्षारकर्म विधि से किस प्रकार करनी चाहिए यह विषय बहुत प्रयत्न से यहाँ से आगे कहा जायेगा अर्थात् अर्श रोग की चिकित्सा यहाँ से आगे कहेंगे।

मुष्ककादि क्षार

कृष्णमुष्ककतरुं परिगृह्योत्पाट्य शुष्कमवदह्य सुभस्म॥
द्रोणमिश्रितजलाढकषट्कं। क्वाथयेन्महति निर्मलपात्रे॥ 97॥
यावदच्छमतिरक्तसुतीक्ष्णं। तावदुत्क्व थितमाशुविगाल्यो॥
द्धट्टयन् परिपचेदथ दर्व्या। यद्यथा द्रवघनं न भवेत्तत् ॥ 98॥
शंखनाभिमवदह्य सुतीक्ष्णं। शर्करामपि निषिच्य यथावत्॥
क्षारतोयपरिपेषितपूति। काग्निकं प्रतिनिवापितमेतत् ॥ 99॥
साधुपात्रनिहितं परिगृह्याभ्यंतरांकुरमहोदरकीले॥
ग्रंथिगुल्मयकृति प्रपिबेत्त। द्बाह्यजं प्रति विलेपनमिष्ठम् ॥ 100॥

भावार्थ : काला मोखा वृक्ष को फाड़कर सुखावें, फिर से जलाकर भस्म करें। इसका एक द्रोण (पौने तेरह सेर) भस्म को, एक बड़ा निर्मल पात्र में डालकर, उसमें छह आढक (19 सर 10 तोला) जल मिलावें। पश्चात् इसे तब तक पकावें जब तक वह स्वच्छ, लाल व तीक्ष्ण न हों। फिर इसे छानकर इस पानी को करछली से चलाते हुए पुनः पकाना चाहिए जब तक वह द्रव गाढ़ा न हों। इस (क्षारजल) में तीक्ष्ण शंखनामि और चूना को जलाकर योग्य प्रमाण में मिलावें तथा पूतिकरंज व भिलावे को क्षार जल में पीस कर डालें। इस प्रकार सिद्ध किए हुए क्षार को एक अच्छे पात्र में सुरक्षित रूप से रखें। इसको अंदर के भाग में होने वाले अर्श, महोदर, ग्रंथि, गुल्म, यकृतवृद्धि इत्यादि रोगों में योग्य मात्रा में पीना चाहिए तथा बाहर होने वाले अर्श, चर्मकलि आदि में लेपन करें। तात्पर्य यह है उसको पीने व लगाने से उपरोक्त रोग नष्ट होते हैं।

अर्श यंत्र विधान

गोस्तनप्रतिमयंत्रमिहद्विच्छिद्रमंगुलिचतुष्कसमानम् ॥
अंगुलीप्रवरपंचकवृत्तम् कारयेद्रजतकांचनताम्रैः॥ 101॥
यंत्रवक्त्रमवलोकनिमित्तं। स्यादिहांगुलिमितोन्नमितोष्ठं॥
त्र्यंगुलायतमिहांगुलिदेशं। पार्श्वतो विवरमंकुरकार्ये॥ 102॥

भावार्थ : अर्श को शस्त्र, क्षार आदि कर्म करने के लिए, गाय के स्तनों के सदृश आकार वाला, चार अंगुल लम्बा, पाँच अंगुल गोल, दो छिद्रों से युक्त ऐसा एक यंत्र चाँदी, सोना या ताम्र से बनवाना चाहिए। ऊपर जो दो छिद्र बतलाये हैं उनमें से, एक यंत्र के मुख में होना चाहिए (अर्थात् यह यंत्र का मुख स्वरूप रहे) जो अर्श को देखने के लिए है। इसका ओष्ठ अर्थात् बाहर का भाग थोड़ा उठा हुआ

होना चाहिए। दूसरा छिद्र यंत्र के बगल में होना चाहिए, यह क्षारादि कर्म करने के लिए है। ये दोनों, तीन अंगुल मोटा होना चाहिए।

अर्शपातन विधि

स्नेहनाद्युपकृतं गुदकीलैः पीडितं वलिनमन्यतरस्यो॥
त्संगसंनिहितपूर्वशरीरं। भुक्तवंतमिह संवृतदेशे॥ 103॥
व्यभ्रसौम्यसमये समकायोत्थानशायितगुदप्रतिसूर्यम्॥
शाटकेन गुदसंधिनिबद्धम्। संगृहीतमपि कृत्य सुहृद्भिः॥ 104॥
तस्य पायुनि यथा सुखमाज्या। लिप्तयंत्रमुपधाय घृताक्ते॥
यंत्र पार्श्वविवरागतमर्श। पातकेन पिचुनाथ विमृज्य॥ 105॥
संविलोक्य बलितेन गृहीत्वा। कर्तरीनिहितशस्त्रमुखेन॥
छर्दयेदपि दहेदचिरार्तः शोणितं स्थितिविधाननिमित्तम्॥ 106॥
कूर्चकेन परिगृह्य विपक्व। क्षारमेव परिलिप्य यथार्शः॥
पातयेन्निहितयंत्रमुखंतद्वाकृतं करतलेन पिधाय ॥ 107॥
पक्क जांबवसमप्रतिभासं मानमीषदवसन्नमदार्शः।
प्रेक्ष्य दुग्धजलमस्तुसधान्याम्लैस्सुधौतमसकृद्भिमशीतैः॥108॥
सर्पिषा मधुकचंदनकल्कालेपनैः प्रशमयेदतितीव्रम्॥
क्षारदाहमपनीय च यंत्रम्। स्नापयेत्तमपि शीतलतोयैः॥ 109॥
तन्निवातसुखशीतलगेहे। सन्निवेश्य घृतदुग्धविमिश्रम्॥
शालिषाष्ठिकयवाद्युचितान्नं। भोजयेत्तदनुरूपकशाकैः॥110॥
सप्त सप्त दिवसात्तत्तएकै-। कांकुरक्षतमिहाचरणीयम्॥
सावशेषमपि तत्पुनरेवं। संदहेत्काथितमार्गविधानात्॥ 111॥

भावार्थ : अर्शरोग से पीड़ित बलवान मनुष्य को स्नेहन, स्वेदन, वमन, विरेचन आदि से संस्कृत कर के, लघु, चिकना, उष्ण, अल्प अन्न को खिलाकर, मेघ (बादल) से रहित सौम्य समय में किसी एकांत वा गुप्त प्रदेश में, किसी मनुष्य की गोद में (रोगी को) इस प्रकार चित्त सुलाये की, गुदा सूर्य के अभिमुख हो, कमर से ऊपर के शरीर भाग (पूर्वोक्त मनुष्य के) गोद में हो, कटिप्रदेश जहाँ ऊँचा हो। पश्चात् गुदा[1] संधि को कपड़े की पट्टी से बाँधकर उसे परिचारक मित्र, अच्छी तरह से पकड़ रखें (जिससे वह हिले नहीं) तदनंतर गुदाप्रदेश को घी लेपन कर, घृत से लिप्त अर्शयंत्र को गुदा में प्रवेश करावें। जब मस्से यंत्र के पार्श्वस्थित, छिद्र (सुराक) से अंदर आ जावें तो उनको कपड़ा व फोया

1. दोनों पैर और गले को परस्पर बांधना चाहिए। ऐसा अन्य ग्रंथों में लिखा है।

से साफ करके और अच्छी तरह से देखकर, बलित (शस्त्रविशेष) से पकड़ कर कर्तरी शस्त्र से काटकर अर्श की स्थिति के लिए कारणभूत दूषित रक्त को बाहर निकालना चाहिए अथवा जला देना चाहिए अथवा कूर्चक से पकड़कर, पकाकर सिद्ध किए हुए क्षार को लेप करके, अर्श यंत्र के मुँह को, हथैली से ढके (और सौ तक गिनने के समय तक रहने दें) जब मस्से पके हुए जामुन सदृश नीले थोड़ा ऊंधा हो जावे तो, पश्चात् ठण्डे एवं दूध, जल, दही का तोड़, कांजी इनसे बार-बार धोकर एवं मुलैठी, चंदन इनके कल्क को घी के साथ लेपन कर, क्षार का जलन को शमन करना चाहिए। इसके बाद अर्श यंत्र को निकालकर ठंडे पानी से स्नान करावें और हवा रहित मकान में बैठा लें। पश्चात् साठी चावल, जौ आदि के योग्य अन्न को घी, दूध मिलाकर योग्य शाकों के साथ खिलाना चाहिए। सात-सात दिन में एक अंकुर को गिराना चाहिए। इस प्रकार गिराते हुए यदि कुछ भाग शेष रह जायें तो फिर पूवोक्त क्रम से जलाना चाहिए।

इसमें अर्श का शस्त्र, क्षार, अग्निकर्म बतलाये हैं। आगे अनेक अर्शनाशक योग भी बतलायेंगे। लेकिन प्रश्न यह उठता है कि इनको किन-किन हालतों में प्रयोग करना चाहिए। इसका खुलासा इस प्रकार है-

जिसको उत्पन्न होकर थोडे दिन हो गए हों, अल्प दोष, अल्प लक्षण, अल्प उपद्रवों से संयुक्त हो तथा जो अभ्यंतर भाग में होने से बाहर नहीं दीखता हो, ऐसे बवासीर को औषध खिलाकर ठीक करना चाहिए। अर्थात् वे औषध सेवन से अच्छे हो सकते है।

जिसके मस्से, कोमल, फैले हुए, मोटे और उभरे हुए हों तो उसको क्षार लगाकर जीतना चाहिए।

जो मस्से, खरदरे, स्थिर, उँचे व कड़े हों उनको अग्निकर्म से ठीक करना चाहिए। जिनकी जड़ पतली हो, जो ऊँचे व लटकते हो, क्लेदयुक्त हो, उनको शस्त्र से काट कर अच्छा करना चाहिए

भिन्न-भिन्न अर्शों की भिन्न-भिन्न चिकित्सा

तत्र वातकफजान्गुदकीलान्। साधयेदधिकतीव्रतराग्नि॥
क्षारपातविधिना तत उद्यत्। क्षारतो रूधिरपित्तकृतानि॥112॥
स्थूलमूलकठिनातिमहान्तं। छेदनाग्निविधिना गुदकीलम्।
कोमलांकुरचयं प्रतिलेपै। र्योजयेद्बलतां बहुयोगैः॥ 113॥

भावार्थ : वात व कफ से उत्पन्न अर्श को क्षार कर्म व अग्नि कर्म से, रक्त व पित्तोत्पन्न अर्श को क्षारकर्म से एवं मूल में स्थूल, कठिन व बड़े अर्श को छेदन व अग्निकर्म से साधन करना चाहिए। जिसका अंकुर कोमल है, रोगी भी बलवान है, उसको अनेक प्रकार के लेपों अनेक प्रकार के औषधि योगों द्वारा उपशम करना चाहिए।

अर्शघ्न लेप

अर्कदुग्धहरितालहरिद्रा - चूर्णमिश्रितविलेपनमिष्टम्॥

वज्रवृक्षपयसाग्निकगुंजा - सैंधवोज्वलनिशान्तिमन्यत्॥ 114॥

भावार्थ : आक के दूध में हरताल, हल्दी के चूर्ण को मिलकार लेपन करें अथवा थोहर के दूध में चित्रक, घुंघची, सैंधानमक व हल्दी के चूर्ण मिलाकर लेपन करें तो अर्श रोग उपशमन को प्राप्त होता है।

पिप्पलीलवणचित्रकगुंजा - कुष्टमर्कपयसा परिपिष्टम्॥

कुष्ठचित्रकसुधारूचकं गो - मूत्रापिष्ठमपरं गुदजानाम्॥ 115॥

भावार्थ : पीपल, सैंधानमक, चित्रक व घुंघची को कूटकर अकौवे के दूध के साथ पीसें। उसे लेपन करें अथवा कूट, चित्रक, थोहर व काले नमक को कूटकर गोमूत्र के साथ पीसा हुआ लेपन भी उपयोगी है।

अश्वमारकं विडंगसुदन्ती - चित्रमूलहरितालसुधार्क॥

क्षीरसैंधवविपक्वमथार्श - स्तैलमेव शमयेदिहलेपात्॥ 116॥

भावार्थ : करनेर, वायविडंग, जमालगोटे की जड़, चित्रक, हरताल, थोहर का दूध अकौवे का दूध व सैंधानमक से पका हुआ तेल अर्श पर लेपन के लिए उपयोगी है।

अदृश्यार्श नाशक चूर्ण

यान्यदृश्यतररूपकदुर्ना-मानि तेषु विदधीत विधिज्ञः॥

प्रातरग्निकहरीतकचूर्णं। भक्षणं पलशतं गुडयुक्तम्॥ 117॥

भावार्थ : जो अर्श अदृश्यरूप से हो अर्थात् अंदर हो तो कुशल वैद्य को उचित है कि वह रोगी को प्रतिदिन प्रातःकाल भिलावा व हरड़ के चूर्ण को गुड़ के साथ मिलाकर खाने को देवें। इस प्रकार सौ पल चूर्ण उसे खिलाना चाहिए।

अर्शघ्नयोगद्वय

प्रातरेवमभयाग्निकचूर्णं - सैंधवेन. सह कांजिकया गो।

मूत्रसिद्धमसकृत्प्रपिबेद्वा। तत्र साधितरसं खरभूषात्॥ 118॥

भावार्थ : प्रातःकाल में हरड़, चीता की जड़, सैंधानमक इनके चूर्ण को गोमूत्र से भावना देकर कांजी के साथ बार-बार पीना चाहिए। अथवा गोमूत्र से सिद्ध किए गए, खरबूज के कषाय को पीना चाहिए।

चित्रकादि चूर्ण

चित्रकान्वितभरूष्करबीजैः क्षुण्णसत्तिलगुडं सततं तत्॥
भक्षयन् जयति सर्वजदुर्नामान्युपद्रवयुतान्यपि मर्त्यः॥ 119॥

भावार्थ : चित्रक की जड़ व भिलावे के बीज के साथ तिल व गुड़ को कूटकर जो रोज भक्षण करता है, वह सन्निपातज व उपद्रव सहित अर्श को भी जीत लेता है अर्थात् वे उपशम होते हैं।

अर्शनाशकतक्र

श्लक्ष्णपिष्टवरचित्रकलिप्ताभ्यन्तराभिनवनिर्मलकुंभे॥
न्यस्ततक्रमुपयुज्य समस्तान्यर्शसां शमयतीह कुलानि॥ 120॥

भावार्थ : चित्रक को बारीक पीसकर एक निर्मल घड़ा लेकर उसके अंदर उसे लेपन करे। ऐसे घड़े में रखे हुए छाछ को प्रतिदिन सेवन करें, तो अर्शरोग उपशमन होता है।

सूरण मोदक

सत्क्रमान्मरिचनागरविख्याताग्नि - कप्रकटसूरणकन्दान्॥
उत्तरोत्तरकृतद्विगुणांशान्। मर्दितान् समगुडेन विचूर्णान्॥ 121॥
मोदकान्विदितानिष्परिहारान्। भक्षयन्नधिकमृष्टसुगंधान्॥
दुर्जयानपि जयत्यतिगर्भा। दर्शसां सकलरोगसमूहान् ॥ 122 ॥

भावार्थ : मिरच, सोंठ, भिलाया व सूरणकंद इनको क्रम से द्विगुणांश[1] लेकर सबको एक साथ पीसें। उसके बाद इनके बराबर गुड़ लेवें। इन दोनों को मिलाकर बनाया हुआ रुचिकर व सुगंध मिठाई को (लाडू) जो रोज खाते हैं उनके कठिन से कठिन अर्श भी दूर होते हैं। इसके सेवन करते समय किसी प्रकार की परहेज करने की जरूरत नहीं है।

तक्र कल्प

तक्रमेव सततं प्रपिबेदत्यम्लमन्नरहितं गुदजघ्नम्॥
शृंगवेरकुटजाग्निपुनर्भू। सिद्धतोयपरिपक्व पयो वा॥ 123॥

भावार्थ : अर्श रोगी को अन्न खाने को नहीं देकर अर्थात् अन्न को छुड़ाकर केवल अम्ल छाछ पीने को देना चाहिए अथवा अदरख, कूट, चित्रक, पुनर्नवा इनसे सिद्ध जल व इन औषधियों से पकाये हुऐ दूध पीने को देना चाहिए।

1. 1 तोला काली मिरच, 2 तोला सौंठ, 4 तोला भिलावा, 8 तोला सूरणकंद (जमीकंद इनको बारीक चूर्ण करे और 15 तोला गुड़ की चासनी बनाकर ऊपर के चूर्ण को मिलावें लाडू या बर्फी तैयार करें।

अर्शनाशक पाणितक

तत्कषायमिह पाणितकं कृत्वाग्निकत्रिकटुजीरकदीप्य॥

ग्रंथिचव्यविहितप्रतिवाप्यं। भक्षयेद्गुदगदांकुररोगी॥124॥

भावार्थ : उपर्युक्त कषाय को पाणितक बनाकर उसमें चित्रक, त्रिकटु (सोंठ, मिरच, पीपल) जीरक, अजवाईन, पीपलामूल, चाव इनका कल्क डालकर अर्श रोगी प्रतिनित्य भक्षण करें।

पाटलादियोग

पाटलीकबृहतीद्वयपूति। कापमार्गकुटजाग्निपलाश॥

क्षारमेव सततं प्रपिबेद्वुर्नामरोगशमनं श्रृतमच्छम्॥125॥

भावार्थ : पाढ, दोनों कटेली, पूतीकारंज, लटजीरा, कुडाकी छाल, चित्रक व पलाश इनके क्षार अथवा स्वच्छ कषाय को सतत पीने से अर्शरोग उपशम होता है।

अर्शघ्न कल्क

कल्कमेव नियतं प्रपिबेत्तेषां कृतं दधिरसामल्कतक्रैः॥

क्षारवारिसहितं तथादुर्नामनामसहितामयतप्तः॥ 126॥

भावार्थ : एवं अर्श रोगी को उपर्युक्त औषधियों के कल्क बनाकर दही के तोड़ आम्ल तक्र के साथ पीने को देना चाहिए। अथवा क्षार जल के साथ पीने को देना चाहिए।

भल्लातक कल्प

साधुवेश्मनि विशुद्धतनुं भल्लातकैः क्व थितचारूकषायम्॥

आज्यलिप्तवदनोष्ठगलं तम्। पाययेत्प्रतिदिनं क्रमवेदी॥127॥

भावार्थ : उस अर्श रोगी के शरीर को वमन, विरेचन आदि से शुद्ध करके एवं उसे प्रशस्त घर में रखकर भिलावे[1] के कषाय को प्रतिदिन पिलाना चाहिए। कषाय पिलाने के पहले मुख, ओष्ठ, कंठ आदि स्थानों में घी का लेपन कुशल वैद्य करा लेवें।

प्रातरौषधमिदं परिपीतं। जीर्णतामुपगतं सुविचार्य।

सर्पिषोदनमतः पयसा सं। भोजयेदलवणाम्लकमग्रयम्॥ 128॥

भावार्थ : उपर्युक्त औषधियों को प्रातःकाल के समय पिलाकर जब वह जीर्ण हो जाये, तब उसे नमक व खटाई से रहित एवं दूध घी से युक्त भात का भोजन कराना चाहिए।

1. भिलावे की शुद्धि - 8 भिलावे को एक बोरी के अंदर रखकर, साधारण कुचलना चाहिए। पश्चात् उसको निकालकर, उस पर ईंट का चूर्ण डाले और एक दिन तक रखे। दूसरे दिन पानी से धोकर टुकड़ा करके चौगुने पानी में (बर्तन के मुँह को न ढकते हुए) पकावें। फिर बराबर दूध में पकावें। बाद में धोकर सुखा लेवें। इस विधि से भिलावे की अच्छी तरह से शुद्धि होती है।

भल्लातकास्थिरसायन

पक्क शुष्कपरिशुद्धबृहद्भल्लातकाननुविदार्य चतुर्थ्यै ॥
कैकमंशमभिवर्ध्य यथास्थ्यै। कैकमेव परिवर्धयितव्यम् ॥ 129 ॥
अस्थिपंचकगणैः प्रतिपूर्णे। पंचपंचाभिरतः परिवृद्धिम् ॥
यावदस्थिशतमत्रसुपूर्णं। ह्रासयेदपि च पंच च पंच॥ 130 ॥
यावदेकमवशिष्टमतः पूर्वोक्तमार्गपरिवृद्धवतौरः ॥
सेवितैर्दशसहस्रसुबीजै। निर्जरो भवति निर्गतरोगः॥ 131 ॥

भावार्थ : अच्छी तरह पके हुए बड़े-बड़े भिलावों को शुद्ध करके सुखाना चाहिए। फिर उनको फोड़कर (उनके) बीज निकाल लेवें। पहले दिन इस बीज (गुठली) की चौथाई, दूसरे दिन आधा व तीसरे दिन पौन हिस्सा भक्षण करें। चौथे दिन एक बीज, पाँचवे दिन 2 बीज, छठवे दिन 3 बीज, सातवे दिन 4 बीज, आठवे दिन 5 बीज खावें। इस प्रकार पाँच बीज खा चुकने के बाद, प्रतिदिन पाँच-पाँच बीज को बढ़ाते हुए तब तक सेवन करें, जब तक सौ बीज न हो जायें। सौ बीज खाने के बाद फिर रोज पाँच-पाँच घटाते हुए, जब एक बीज बचें तब तक खावें। इस प्रकार बढ़ाते घटाते हुए, उपरोक्त क्रम से जो मनुष्य दस हजार भिलावे के बीजों को खाता है, उसका सम्पूर्ण रोग नष्ट होकर वह निर्जर होता है, अर्थात वह वृद्ध नहीं होता है।

भल्लातक तैल रसायन

स्नेहमेव सततं प्रपिबेदारुष्करीयमखिलोक्तविधानम् ॥
मासमात्रमुपयुज्य शतायुर्मास मासत इतः परिवृद्धि॥ 132 ॥

भावार्थ : भिलावे के तेल को निकालकर पूर्वोक्त प्रकार वृद्धि-हानि क्रम से एक मास सेवन करें तो सौ वर्ष का आयुष्य बढ़ जाता है। इसी प्रकार एक-एक मास अधिक सेवन करने से सौ -सौ वर्ष की आयु बढ़ती जाती है।

अर्शहर उत्कारिका

अम्लिकाघृतपयः परिपक्वोत्कारिका प्रतिदिनं परिभक्ष्य॥
प्राप्नुयादतिसुखं गुदकीलोत्पन्नदुःखशमनं प्रविधाय॥ 133 ॥

भावार्थ : खट्टी चीज, घी व दूध से पकायी हुई लप्सी उस रोगी को खिलानी चाहिए, जिससे समस्त अर्श दूर होकर रोगी को अत्यन्त सुख प्राप्त होता है।

वृद्धदारूकादि चूर्ण

वृद्धदारूकमहौषधभल्लातागिचूर्णमसकृद्गुडमिश्रम् ॥
भक्षयेद्गुदगदांकुररोगी सर्वरोगशमनं सुखहेतुम् ॥ 134 ॥

भावार्थ – अर्श रोगी को उचित है की वह विधारा, सोंठ, भिलावा व चित्रक इनके चूर्ण को गुड़ मिलाकर प्रतिनित्य खावें, जिससे सर्वरोग शमन होकर सुख की प्राप्ति होती है।

अर्श में तिल प्रयोग

नित्यं खादेत्सत्तिलान् कृष्णवर्णान् प्रातः प्रातः कौडुबार्धप्रमाणम्॥

शीतं तोयं संप्रपायत्तु जीर्णे। भुंजीतान्नं दुष्टदुर्नामरोगी॥ 135॥

भावार्थ : नित्य ही प्रातः काल अच्छे काले तिल अर्ध कुडुब (8 तोले) प्रमाण खावें। उसके ऊपर ठण्डा जल पीवे। जब वह पच जाये, उस अवस्था में उसे उचित भोजन करावें, इस प्रकार के प्रयोगों से अर्शरोग दूर हो जाता है एवं ऐसे दुर्नाम से रोगी को सुख प्राप्त होता है।

अंतिम कथन

इति जिनवक्त्रनिर्गतसुशास्त्रमहांबुनिधेः। सकलपदार्थविस्तृततरंग कुलाकुलतः॥

उभयभवार्थ साधनतटद्वयभासुरतो। निसृतमिदं हि शीकरनिभं जगदेकहितम्॥ 136॥

भावार्थ : जिसमें सम्पूर्ण द्रव्य, तत्त्व व पदार्थ रूपी तरंग उठ रहे हैं, इहलोक–परलोक के लिए प्रयोजनीभूत साधन रूपी जिसके दो सुंदर तट हैं, ऐसे श्री जिनेन्द्र के मुख से उत्पन्न शास्त्र समुद्र से निकली हुई बूँद के समान यह शास्त्र है। साथ में जगत् का एक मात्र हितसाधक है (इसलिए ही इसका नाम कल्याणकारक है)।

इत्युग्रादित्याचार्यकृत कल्याणकारके चिकित्साधिकारे

महाव्याधिचिकित्सितं नामादितो द्वादशः परिच्छेदः

इत्यग्रादित्याचार्यकृत कल्याणकारक ग्रन्थ के चिकित्साधिकार में विद्यावाचस्पतीत्युपधिविभूषित वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री द्वारा लिखित भावार्थदीपिका टीका में महारोगाधिकार नामक बारहवाँ परिच्छेद समाप्त हुआ॥

अथ त्रयोदशपरिच्छेदः

अथ शर्कराधिकारः

मंगलाचरण व प्रतिज्ञा

समस्तसंपत्सहिताच्युतश्रियं। प्रणम्य वीरं कथयामि सत्क्रियाम्।
सशर्करामद्भुतवेदनाश्मरी। भगन्दरं चं प्रतिसर्वयत्नतः॥ 1॥

भावार्थ : अंतरङ्ग व बहिरङ्ग समस्त संपत्तियों से युक्त अक्षयलक्ष्मी को प्राप्त श्रीवीरजिनेश्वर को प्रमाण कर, शर्करा, अत्यन्त वेदना को उत्पन्न करने वाली अश्मरी और भगंदर इन रोगों के स्वरूप व चिकित्सा को यत्नपूर्वक कहूँगा, इस प्रकार आचार्य प्रतिज्ञा करते हैं।

बस्ति स्वरूप

कटित्रिकालंबंननाभिवंक्षण। प्रदेशमध्यस्थितबस्तिसंज्ञितम्।
अलाबुसंस्थानमधोमुखाकृतिम्। कफः समूत्रानुगतो विशत्यतः॥ 2॥

भावार्थ : कटि, त्रिकास्थि, नाभि, राड. इन अवयवों के बीच में तूंबी के आकार में जिसका मुख नीचे की ओर है, ऐसा बस्ति (मूत्राशय) नामक अवयव है। उसमें जब मूत्र के साथ कफ जावे उस समय।

शर्करा संप्राप्ति

नवे घटे स्वच्छजलप्रपूरिते। यथात्र पंक : स्वयमेव जायते॥
कफस्तथा बस्तिगतोष्मशोषितो। मरुद्विशीर्णः सिकतां समावहेत्॥ 3॥

भावार्थ : जिस प्रकार नये घड़े में नीचे कीचड़ अपने आप जम जाता है, उसी प्रकार बस्ति में गया हुआ कफ जमकर उष्णता से सूखकर कड़ा हो जाता है, वह वात के द्वारा टुकड़ा होकर रेती जैसा बन जाता है तभी शर्करा रोग की उत्पत्ति हो जाती है अर्थात् इसी को शर्करा रोग कहते हैं।

शर्करालक्षण

स एव तीव्रानिलघातजर्झरा। द्विधा त्रिधा वा बहुधा विभेदतः।
कफः कटीवंक्षणबस्तिशेफसां। स्वमूत्रसंगाद्बहुवेदनावहः॥ 4॥

भावार्थ : वही शुष्क कफ तीव्र वात के आघात से दो, तीन अथवा अधिक टुकड़ा हो जाता है। जब वह मूत्र मार्ग में आकर अटक जाता है तब कटी, जांघों का जोड़, बस्ति व लिंग आदि स्थान में अत्यन्त वेदना उत्पन्न करता है।

शर्कराशूल

सशर्कराशूलमितीह शर्करा। करोति साक्षात्कटिशर्करोपमा॥

पतंति तास्तीव्रतरा मुहुर्मुहुः। स्वभेदिसद्भेषजसंप्रयोगतः॥ 5॥

भावार्थ : साक्षात् रेती के समान रहने वाला, वह शर्करा इस (पूर्वोक्त) प्रकार शर्कराशूल को उत्पन्न करता है। शर्करा को भेदन करने वाली श्रेष्ठ औषधियों के प्रयोग करने से वह तीव्र शर्करा बार-बार गिर जाती हैं अर्थात् मूत्र के साथ बाहर जाती है।

अथाश्मर्यधिकारः

अश्मरीभेद

कफः प्रधानाः सकलाश्मरीगणाः चतुः प्रकाराः गुणमुख्यभेदतः।

कफादिपित्तानिलशुक्रसंभवाः। क्रमेण तासामत उच्यते विधिः॥ 6॥

भावार्थ - सर्व प्रकार के अश्मरी[1] (पथरी) रोगों में कफ की प्रधानता रहती है। अर्थात् सर्व अश्मरी रोग कफ से उत्पन्न होते हैं। फिर भी गौणमुख्य[2] विवक्षा से कफज, पित्तज, वातज व वीर्यज इस प्रकार अश्मरी के भेद चार हैं। अब उनका लक्षण व चिकित्सा का वर्णन किया जाता है।

कफाश्मरीलक्षण

अथाश्मरीमात्समुद्भवां कफः। करोति गुर्वीं महतीं प्रपाण्डुराम्॥

तया च मूत्रागममार्गरोधतो। गुरुर्भवेद्वस्तिरिवेह भिद्यते॥ 7॥

भावार्थ : केवल कफ से उत्पन्न अश्मरी (पथरी) भारी व सफेद होती है। जब इससे मूत्रद्वार रूक जाता है, तो बस्ति भारी हो जाती है और वह बस्ति को फोड़ने जैसी पीड़ा को उत्पन्न करती है।

पेत्तिकाश्मरीलक्षण

कफस्सपित्ताधिकतामुपागतः। करोति रक्तासितपीतसप्रभाम्।

अरुष्करास्थीप्रतिमामिहाश्मरीं। रुणध्यसौ स्रोतसि मूत्रमास्थिता॥ 8॥

---

1. बस्ति में, मूत्र के साथ कफ जाकर पूर्वोक्त प्रकार से पत्थर जैसा जम जाता है। अर्थात् घन पिण्ड को उत्पन्न करता है। इसे पथरी व अश्मरी कहते हैं। यही पथरी वायु के द्वारा टुकड़ा हो जाता है, तब उसे शर्करा कहते हैं।
2. जब कफ अधिक पित्तयुक्त होता है, इससे उत्पन्न पथरी में पैत्तिकलिंग प्रकट होते हैं। इसलिए पित्ताश्मरी कहलाता है। इस पित्ताश्मरी में भी मूल कारण कफ ही है। क्योंकि कफ को छोड़ कर पत्थर जैसा घन पिण्ड अन्य दोषों से हो नहीं सकता। फिर भी यहाँ अधिक पित्त से युक्त होने से पित्त की मुख्य विवक्षा है, कफ की गौण। इसी प्रकार अन्य भी जानना चाहिए।

स्वमूत्रघातादिहबस्तिरूष्मणा। विदह्यते पच्यत एव संततम्।
सदाहदेहो मनुजस्तृषाहतः। सदोष्मवातैरपि तप्यते मुहुः॥ 9॥

भावार्थ : अधिक पित्तयुक्त कफ से उत्पन्न होने वाली अश्मरी का वर्ण लाल, काला व पीला होता है। भिलावे की गुठली जैसी उसकी आकृति होती है। यह मूत्र मार्ग में स्थित होकर मूत्र को रोकती है। मूत्र के रुक जाने से, उष्णता के द्वारा बस्ति में अत्यन्त जलन होती है और उसको अधिक प्यास लगती है। वह बार-बार उष्णवात से भी पीड़ित होता है।

वातिकाश्मरीलक्षण

बलास एवाधिकवातसंयुतो। यथोक्तमार्गादभिवृद्धिमागतः॥
करोति रूक्षासितकण्डकाचितां। कदंबपुष्पप्रतिमामथाश्मरीम्॥10॥
तया च बस्त्याननरोधतो नरो। निरुद्धमूत्रो बहुवेदनाकुलः॥
असह्यदुःखश्शयनासनादिषु। प्रतिक्रियाभावतया स धावति॥11॥
स नाभिमेढ्रं परिमर्दयन्मुहुः। गुर्देऽगुलिं निक्षिपति प्रपीडया॥
स्वदंतयत्रं प्रविधाय निश्चलं। पतत्यसौ भुग्नतनुर्धरातले॥ 12॥

भावार्थ : अधिक वायु से युक्त कफ से उत्पन्न व वृद्धि को प्राप्त अश्मरी रूक्ष, काले वर्ण से युक्त कंडरों से व्याप्त एवं कदंब पुष्प के समान रहता है, इससे जब बस्तिका मुख रुक जाता है, तो मूत्र भी रुक जाता है। जिससे उसको बहुत वेदना होती है। सोने, बैठने आदि में उस रोगी को असह्य दुःख होता है। एवं च उसके उपशम के लिए कोई उपाय न रहने से वह विह्वल होकर इधर-उधर दौड़ता है। उस पीड़ा से पीड़ित होकर वह रोगी अपने नाभि व लिंग को बार-बार मर्दन करता है एवं गुदा में अंगुलि डालता है एवं अधिक वेदना होने से अपने दाँतों को चाबकर निश्चलता से मूर्च्छित-सा होकर जमीन में पड़ा रहता है।

बालाश्मरी

दिवातिनिद्रालुतया प्रणालिका। सुसूक्ष्मतः स्निग्धमनोज्ञभोजनात्॥
कफोल्वणाद्दोषकृताश्मरीगणा। भवंति बालेषु यथोक्तवेदनाः॥13॥

भावार्थ : दिन में अधिक सोने से, मूत्रमार्ग अत्यन्त सूक्ष्म होने से, अधिक स्निग्ध मनोज्ञ अर्थात् मिष्टान्न खाने से (स्वभाव से ही) अधिक कफ की वृद्धि होने से तीनों दोषों से उत्पन्न होने वाले अश्मरीरोगसमूह (अर्थात् तीनों प्रकार की अश्मरी) बालकों में विशेषतया होते हैं। उनके लक्षण आदि पूर्वोक्त प्रकार हैं।

बालकोत्पन्नाश्मरी का सुख साध्यत्व

अथाल्पसत्वादतियंत्रयोग्यत-। स्तथाल्पबस्तेरपि चाल्पमांसतः॥
सदैव बालेषु यदश्मरीसुखा-। द्ग्रहीतुमार्हतुमतीव शक्यते॥ 14॥

भावार्थ : बालकों के शरीर व बस्ति का प्रमाण छोटा होने से, शरीर में माँस भी अल्प रहने से, यंत्रप्रयोग में भी सुलभता होने से बालकों में उत्पन्न अश्मरी को अत्यन्त सुलभता से निकाल सकते हैं।

शुक्राश्मरी संप्राप्ति

महत्सु शुक्राश्मरिको भवेत्स्वयं। विनष्टमार्गो विहतो निरोधतः॥
प्रविश्य मुस्कांतरमाशु शोफकृत्। स्वमेव शुक्रो निरुणद्धि सर्वदा॥15॥

भावार्थ : शुक्र के उपस्थित वेग को धारण करने से वह स्वस्थान से च्युत होकर बाहर निकलने के लिए मार्ग न होने[1] से उन्मार्गगामी होता है। फिर वह वायु के बल से अण्डकोश और शिश्न के बीच में अर्थात् बस्ति के मुख में प्रवेश करके, वही रुककर शुष्क होने से पथरी बन जाता है, इसी को शुक्राश्मरी कहते हैं। यह अण्डकोश में सूजन उत्पन्न करती है। वह शुक्राश्मरी जवान मनुष्य को ही होती है। बालकों को नहीं।

शुक्राश्मरी लक्षण

विलीयते तत्र विमर्दितः पुनः। विवर्धते तत्क्षणमात्रसंचितम्॥
कुमार्गगो नारकवन्महातनुं। स एव शुक्रः कुरुतेऽश्मरी नृणाम्॥ 16॥

भावार्थ : अण्डकोश शिश्नेन्द्रिय के बीच में मसलने से एक दफे तो अश्मरी का विलय होता है। लेकिन थोड़े ही समय के बाद संचित होकर पूर्ववत् बढ़ जाता है। इस प्रकार कुमार्गगामी अर्थात् स्वमार्ग को छोड़कर जाने वाला वह शुक्र, अश्मरीरोग को उत्पन्न करता है। जिस प्रकार महान् शरीर धारण करने वालों को भी नारकी कष्ट पहुँचाते हैं, वैसे ही शक्तिमान शरीर वाले मनुष्य को भी यह कष्ट पहुँचाता है।

अश्मरी का कठिन साध्य लक्षण

अथाश्मरीष्वद्भुतवेदनास्वसृग्विमिश्रमूत्रं बहुकृच्छ्रसंगतम्।
व्रणैश्च जातासु तथा विधानविद्विचार्य तासां समुपाचरेत्क्रियाम्॥17॥

भावार्थ : अश्मरीरोग से पीड़ित व्यक्ति भयंकर वेदना (दर्द) से युक्त हो, रक्त से मिश्रित मूत्र अत्यन्त कठिनता से निकलता हो, मूत्रप्रणाली आदि स्थानों में व्रण भी उत्पन्न हो गया हो, ऐसे अश्मरी रोग असाध्य या कष्टसाध्य होता है। इसलिए चिकित्सा के कार्य में निपुण वैद्य को चाहिए की उपरोक्त लक्षण युक्त रोगियों की अत्यन्त विचार पूर्वक चिकित्सा करें।

1. शुक्र के वेग को धारण करने के कारण से बाहर निकलने का मार्ग संकुचित होता है। इसलिए वह बाहर नहीं निकल पाता है।

अश्मरी का असाध्य लक्षण

स्वनाभिमुष्कध्वजशोफपीडितं। निरुद्धमूत्रातिरुजार्तमातुरम्॥
विवर्जयेत्तत्सिकतां सशर्करा महाश्मरीभिः प्रविघट्टितं नरम्॥18॥

भावार्थ : जिसका नाभि व अण्डकोश सूज गया है, मूत्र रुक गया है और अत्यन्त वेदना से व्याकुलित है ऐसे शर्करा व अश्मरी रोग से पीड़ित व्यक्ति को असाध्य समझकर छोड़ देना चाहिए।

सदाश्मरी वज्रविषाग्निसर्पवत्। स्वमृत्युरूपो विषमो महामयः॥
सदौषधैः कोमल एव साध्यते। प्रवृद्धरूपोऽत्र विभिद्य यत्नतः॥ 19॥

भावार्थ : अश्मरीरोग सदा वज्र, विष, अग्नि व सर्प के समान शीघ्र मृत्युकारक है। यह रोग अत्यन्त विषम महारोगों की गणना में है। वह (पथरी) कोमल हो (सक्त नहीं) तो औषधि प्रयोग से ठीक होती है। यदि सख्त हो गयी हो और बढ़ गयी तो यत्नपूर्वक फोड़कर निकालने से ठीक होती है, अर्थात् वह शस्त्रसाध्य है।

वाताश्मरी नाशकघृत

इहाश्मरी संभवकाल एव तं। यथोक्तसंशोधनशोधितं नरं॥
प्रपाययेदशमहांतकाश्मभिश्शतावरी गोक्षुरपाटलीद्रुमैः॥20॥
त्रिकंटकोशीरपलाशशाकजैः। सवृक्षचक्रैस्सबलामहाबलैः॥
कपोतवंकैर्बृहतीद्वयान्वितैः। यवैः कुलुत्थैः कतकोद्भवैः फलैः॥21॥
सकोलबिल्वैर्वरणाग्निमंथकैः सुवर्चिकासेंधवहिंगुचित्रकैः॥
कषायकल्कैः परिपाचितं घृतं। भिन्नत्ति तद्वातकृतां महाश्मरीम्॥22॥

भावार्थ : अश्मरी रोग की उत्पत्ति होते ही उस मनुष्य को वमन विरेचन आदि से शोधन करना चाहिए। फिर उसे पाषाणभेदी शिलाजीत, शतावरी, गोखरूपाढल, गोखरू, खस, पलाश, शेगुन, कूडा की छाल, तगर, खिरैंटी, सहदेई, ब्राह्मी, छोटीकटेली, बड़ीकटेली, जौ, कुलथी, निर्मली बीज, बदरीफल (बेर) बेल, वरना, अगेथु, यवक्षार, सेंधालोण, हींग, चीता की जड़ इनके कषाय व कल्क से सिद्ध किए हुए घृत को पिलावें। वह वातज महा अश्मरी (पथरी) रोग को दूर करता है।

वाताश्मरी के लिए अन्नपान

यथोक्तसद्भेषजसाधितोदकैः। कृता यवागूः सविलेप्य सत्खला-॥
पयांसि संभक्षणभोज्यपानकानपि प्रदद्यादनिलाश्मरीष्वलम्॥ 23॥

भावार्थ : वाताश्मरी से पीड़ित व्यक्ति को उपरोक्त (वाताश्मरी नाशक) श्रेष्ठ औषधियों द्वारा साधित जल से किया हुआ युवागू, विलेपी खलयुष[1] एवं (उन्हीं औषधियों से सिद्ध) दूध, भक्ष्य, भोज्य

1. कैथ इमली, मिरच, चित्रक, बेलगिरि और जीरा इनको डालकर सिद्ध किए हुए यूष को खलयुष कहते हैं।

और पानक को भक्षण भोजनादि के लिए प्रदान करना चाहिए।

पित्ताश्मरी नाशक योग

सकाशदर्भोत्कटमोरटाश्मभित्त्रिकण्टकैस्सारिवया सचंदनैः॥
शिरीषधत्तूरकुरण्टकाशमीवराहपाठाकदलीविदारकैः॥ 24॥
सपुष्पकूष्माण्डकपद्मकोत्पलप्रतीतकोर्वारुकतुं बिबिंबिका॥
विपक्वकसत्रायुषबीजसंयुतैः। त्रिजातकैश्शीतलमृष्टभेषजैः॥ 25॥
कृतैः कषायैस्सघृतैस्सशर्करैः। पयोगणैर्भक्षणपानभोजनैः॥
प्रयोजितैः पित्तकृताश्मरी सदा। विनश्यति श्रीरिव दुष्टमंत्रिभिः॥ 26॥

भावार्थ : काश, दर्भ, रामसर (भद्रमुंज) ईख का जड़, पाषाणभेदी, गोखरु, सारिबा (अनंतमूल) चंदन, सिरस, धतूरा, पीली कटसरैया, छौंकरा, नागरमोथा, पाठा, केले की जड़, बिदारक (जल के मध्यस्थ वृक्ष विशेष) नागकेसर, कूष्माण्ड (सफेद कद्दू) कमल, नीलकमल, ककड़ी का बीज, तुम्बी (लौकी) कुंदुरू, पके हुए खीरे का बीज, दालचीनी, तेजपात, इलायची एवं ऐसे ही शीतगुण व मधुर रसयुक्त अन्य औषधि इनके कषाय को घी शक्कर मिलाकर पीने से तथा इन्हीं औषधियों से साधित दूध, भक्ष्य पानक व भोज्य पदार्थों को पीने आदि कार्यों में प्रयोग करने से, पित्त से उत्पन्न अश्मरी (पथरी) सदा नाश होती है। जैसे कि दुष्ट मंत्रियों से राजा की राज्य संपत्ति नष्ट होती है।

कफाश्मरीनाशक योग

फलत्रिकत्र्यूषणशिग्रुचित्रकैः। र्विडंगकुष्ठैर्वरणैस्तुटित्रयैः (?)।
बिडोत्थसौवर्चलसैन्धवान्वितैः। कषायकल्कीकृतचारुभेषजैः॥ 27॥
विपक्वतैलाज्यपयोन्नभक्षणैः। कषायसक्षारयुतैस्सपानकैः॥
सुपिष्टकल्कैः कफजाश्मरी सदा। तपोगुणैस्संसृतिवद्विनश्यति॥ 28॥

भावार्थ : त्रिफला (हरड़, बहेड़ा, आँवला) त्रिकटु (सोंठ, मिरच, पीपल) सैजिन, चीता की जड़, वायविडंग, कूट, बरना, बड़ी इलायची, छोटी इलायची, बिड नमक, काला नमक, सैंधानमक इन औषधियों के कल्क व कषाय से पकाये हुए तेल, घी, दूध व अन्न के भक्षण से क्षारयुक्त कषायको पीने से एवं अच्छी तरह पिसे हुए कल्क के सेवन से कफज अश्मरी रोग नष्ट होता है, जिस प्रकार कि तपोगुण से संसार का नाश होता है।

पाटलीकादि क्वाथ

सपाटलीकैः कपिचूतकांघ्रिभिः कृतः कषायोश्मजतुप्रवापितः।
सशर्करः शर्करया सहाश्मरीं। भिन्नत्ति साक्षात्सहसा निषेवितः॥ 29॥

भावार्थ : पाडल, अम्बाडा (अथवा अश्वत्थभेद) इन वृक्षों के जड़ के कषाय में शिलाजीत और शक्कर मिलाकर पीने से शर्करा तथा अश्मरी रोग दूर होता है।

कपोतवंकादि क्वाथ

कपोतवंकैः सहशाकजैः फलैः। सविष्णुकांतैः कदलांबुजाह्वयैः।
श्रृतं पयष्टकणचूर्णमिश्रितं। सशर्करेंदुं प्रपिबेत्सशर्करी॥ 30॥

भावार्थ : ब्राह्मी, विष्णुकांत, शेगुन वृक्ष का फल, सेमर, हिज्जल वृक्ष (समुद्र फल) इनके कषाय में सुहागे के चूर्ण, शक्कर और कपूर मिलाकर शर्करा रोग वाला पीवें, तो रोग शांत होता है।

अजदुग्धपान

सुभृष्टसट्टंकण चूर्णमिश्रितं। पिबेदनाहारपरो नरस्सुखम्।
अजापयस्सोष्णतरं सशर्करं। भिन्नत्ति तच्छर्करया सहाश्मरीम्॥ 31॥

भावार्थ : संपूर्ण आहार को त्याग कर बकरी के गरम दूध में शक्कर और सुहागे के चूर्ण को मिलाकर अनेक दिन पीवें तो शर्करा और अश्मरी रोग दूर होते हैं।

नृत्यकाण्डादि कल्क

सनृत्यकाण्डोद्भवबीजपाटली। त्रिकण्टकानामपि कल्कमूर्छितम्।
पिवेद्वृधिक्षीरयुतं सशर्करं। सशर्कराश्मर्यतिभेदकृद्भवेत्॥ 32॥

भावार्थ : नृत्य काण्ड का बीज (?)गोखुरू, पाटल इनका कल्क बनाकर उसमें दूध, दही व शक्कर अच्छी तरह मिलाकर पीवें तो शर्करा और अश्मरी को शीघ्र भेदन करता है।

तिलादिक्षार

तिलापमार्गेक्षुरतालमुष्कक। क्षितीश्वराख्यांघ्रिपकिंशुकोद्भवम्।
सुभस्मानिश्राव्य पिबेत्तदश्मरीं। शिलाजतुद्राविलमिश्रितं जयेत्॥ 33॥

भावार्थ : तिल, चिरचिरा, गोखुरू, ताल, मोखा, अमलतास, किंशुक इन वृक्षों को अच्छी तरह भस्म कर उसको पानी में घोलकर छान लेवें। उस क्षारजल में शिलाजीत और बिडनमक मिलाकर पीवें, तो यह अश्मरी रोग को जीत लेता है।

यथोक्तसद्भेषजसाधितैः घृतैः। कषायसक्षारपयोऽवलेहनैः।
सदा जयेदश्मतराश्मरीं भिषग्। विशेषतो बस्तिभिरप्यथोत्तरैः॥ 34॥

भावार्थ : इस प्रकार ऊपर के कथन के अनुसार अनेक अश्मरी नाशकऔषधियों से सिद्ध घृत, कषाय, क्षार, दूध व अवलेहों के द्वारा विशेष कर उत्तरबस्ति[1] के प्रयोग से वैद्य पत्थर से भी अधिक कठिन अश्मरी रोग को जीतें।

1. जो लिंग व योनि में बस्ति (पिचकारी) लगायी जाती है, उसे उत्तरबस्ति कहते हैं।

उत्तरबस्ति विधान

अतः परं चोत्तरबस्तिरुच्यते। निरस्तबस्त्यामयवृंदबंधुरा।
प्रतीतनेत्रामलबस्तिलक्षणद्रवप्रमाणैरपि तत्क्रियाक्रमैः॥ 35॥

भावार्थ : उत्तरबस्ति बस्ति (मूत्राशय) गत सम्पूर्ण रोगों को जीतने वाली है। इसलिए यहाँ से आगे, नेत्र (पिचकारी) व बस्ति का लक्षण, प्रयोग करने योग्य द्रवप्रमाण और प्रयोग करने की विधि आदि उत्तरबस्ति सम्बन्धी विषय का वर्णन करेंगे।

पुरुष योग्य नेत्र लक्षण

प्रमाणतोऽष्टांगुल नेत्रमायतं। सुवृत्तसुस्निग्धसुरूपसंयुतम्।
सुतारनिर्मापितमूलकर्णिकं। सुमालतीवृन्तसमं तु सर्वथा॥ 36॥

भावार्थ : वह बस्ति, आठ अंगुल[1] लम्बी, गोल, कोमल व सुंदर चाँदी आदि धातुओं द्वारा निर्मापित, मूल में कर्णिका से संयुक्त एवं चमेली पुष्प के डंठल के समान होनी चाहिए। यह नेत्रप्रमाण व लक्षण पुरुषों को प्रयुक्त करने योग्य नेत्र का है।

कन्या व स्त्री योग्य नेत्र लक्षण

तदर्धभागं सबृहत्सुकर्णिकं। सुबस्तियुक्तं प्रमादाहितं सदा।
तथांगुलीयुग्मनिविष्टकर्णिकं। तदेव कन्याजननेत्रमुच्यते॥ 37॥

भावार्थ : स्त्रियों के लिए नेत्र, चार अंगुल लम्बा व बड़ी कर्णिका से संयुक्त होना चाहिए। कन्याओं के लिए प्रयोग करने योग्य नेत्र दो अंगुल लम्बा एंव कर्णिकायुक्त होना चाहिए। उपरोक्त तीनों प्रकार के नेत्र बस्ति से संयुक्त होना चाहिए।

द्रवप्रमाण

द्रवप्रमाणं प्रसृतं विधाय तत्। कषायतैलाज्यगुणेषु कस्यचित्।
प्रयोज्यतां बस्तिमथेंदुलिप्तया। शलाकया मेढ्रमुखं विशोध्यतम्॥ 38॥

भावार्थ : बस्ति में, कषाय, तैल, घी इत्यादि में से किसी भी चीज (द्रव) को प्रयोग करना हो, उसकी अधिक से अधिक मात्रा एक प्रसृत (साठ तोला) प्रमाण है। बस्ति प्रयोग करने के पहले कपूर से लेपन किए गए, पतले शलाका (सलाई) को, अंदर डालकर, शिश्नेद्रिन्य मुख को साफ कर लेनी चाहिए।

उत्तरबस्ति से पूर्वपश्चाद्विधेयविधि

प्रपीडयेत्तु प्रथमं विधानवित्। नियोजयेदुत्तरबस्तिमूर्जिताम्।
ततोऽपराण्हे पयसा च भोजयेत्। अतो विधास्ये वरबस्तिसत्क्रियाम्॥ 39॥

1. यह रोगी के हाथ का अंगुल है।

भावार्थ : उत्तर बस्ति देने के पहले उन अवयवों को मल लेना चाहिए। तदनंतर बस्तिका प्रयोग करना चाहिए। उस दिन सायंकाल दूध के साथ भोजन कराना चाहिए। अब बस्ति देने के क्रम को कहेंगे।

उत्तरबस्त्यर्थ उपवेशनविधि

स्वजानुदघ्नोन्नतसुस्थिरासने। व्यवस्थितस्यादृतकुक्कुटासने।
नरस्य योज्यं वनिताजनस्य च। तथैवमुत्तानंगतोर्ध्वपादितः ॥ 40 ॥

भावार्थ : पुरुष को उत्तरबस्ति प्रयोग करना हो तो उसको घुटने के बराबर ऊँचे व स्थिर आसन (बेंच कुर्सी आदि) पर कुक्कुटासन में व्यवस्थित रूप से बिठालकर प्रयोग करें। स्त्री को हो तो उपरोक्त आसन पर, चित्त सुलावें और दोनों पैर ऊँचा करके अर्थात् संकुचित करके प्रयोग करें।

नभोगतेऽप्युत्तरबस्तिगद्रवे। सतैलनिर्गुण्डिरसेंदुलिप्तया।
शलाकया मेढ्रमुखं विघट्टयन्नधश्च नाभेः प्रतिपीडयेद्दृढम् ॥ 41 ॥

भावार्थ : पिचकारी का द्रवद्रव्य पूर्ण होने पर तेल, निर्गुण्डि का रस और कपूर लिप्त शलाका से शिश्न के मुख को अच्छी तरह शोधन करना चाहिए एवं नाभि के नीचे अच्छी तरह हाथ से मलना चाहिए।

अगारधूमादिवर्ति

अगारधूमोत्पलकुष्ठपिप्पली। सुसैंधवैः सद्वृहतीफलद्रवैः।
विलिप्तवर्ति प्रविवेशयेद्बुधः। सुखेन सद्यो द्रवनिर्गमो भवेत् ॥ 42 ॥

भावार्थ : गृहधूम[1], नील कमल, कूट, पीपल, सेंधानमक व कटेहली फल इनके द्रव (क्वाथ आदि)को बत्ती के ऊपर लेपन कर अंदर प्रवेश कराने से उसी समय द्रवद्रव्य सुगमता से आता है।

उत्तरबस्ति का उपसंहार

समूत्ररोगानतिमूत्रकृच्छतां। सशर्करानुग्ररुजाश्मरीगणान्।
समस्तबस्त्याश्रयरोगसंचयान्। विनाशययेदुत्तरबस्तिरुत्तमः ॥ 43 ॥

भावार्थ : मूत्ररोग, मूत्रकृच्छ, शर्कराश्मरी आदि संपूर्ण बसत्याश्रित रोग इस उत्तरबस्ति से नाश होते हैं। अर्थात् मूत्रसम्बन्धी रोगों के लिए, उसमें उग्र से उग्र अश्मरी रोग के लिए व सर्व प्रकार के बस्तिगत रोगों के लिए यह उत्तरबस्ति उत्तम स्थान है।

1. घर में धुएँ के कारण, जो काला जम जाता है, उसे गृहधूम (घर का धूवा) कहते हैं।

अथ भगंदररोगाधिकारः

भगंदरवर्णनप्रतिज्ञा

निगद्य संक्षेपत एवमश्मरीं। भंगदरस्य प्रतिपाद्यते क्रिया।
स्वलक्षणैः साध्यविचारणायुतैः। सरिष्टवर्गैरपि तच्चिकित्सितैः॥44॥

भावार्थ : इस प्रकार संक्षेप में अश्मरी रोग को प्रतिपादन कर अब भगंदर रोग का वर्णन उसकी चिकित्सा, लक्षण साध्यासाध्य विचार, मृत्युचिह्न आदि के साथ-साथ करेंगे, इस प्रकार आचार्यश्री प्रतिज्ञा करते हैं।

भगंदर का भेद

क्रमान्मरुत्पित्तकफैरुदीरितैः। समस्तदोषैरपि शल्यघाततः॥
भवंति पंचैव भगंदराणि तद्विषाग्निमृत्युप्रतिमानि तान्यलं॥45॥

भावार्थ : भगंदर[1] रोग क्रम से वातज, पित्तज, कफज, वातपित्तकफज (सन्निपातज) शल्यघातज (कांटे के आघात से उत्पन्न) इस प्रकार से पाँच प्रकार का होता है। यह रोग विष, अग्नि, मृत्यु के समान भयंकर है।

शतयोनक व उष्ट्रगललक्षण

सतोदभेदप्रचुरातिवेदनं। मरुत्प्रकोपाच्छतयोनकं भवेत्॥
सतीव्रदाहज्वरमुग्रपैत्तिकं। भगंदरं चोष्ट्रगलोपमांकुरम्॥46॥

भावार्थ : वातोद्रेक से उत्पन्न भगंदर, तोद, भेद आदि अत्यन्त वेदना से युक्त होता है। इसका नाम शतयोनक[2] है। पित्तप्रकोप से उत्पन्न भगंदर में तीव्र दाह (जलन) व ज्वर होता है। यह ऊंट के गले के समान होता है। इसलिए इसे उष्ट्रगल कहते हैं।

परिस्रावि व कंबुकावर्तलक्षण

कफात्परिस्रावि भगंदरं महत्। सकण्डुरं सुस्थिरमल्पदुर्घटम्॥
उदीरितानेकविशेषवेदनम्। सुकंबुकावर्तमशेषदोषजम्॥47॥

भावार्थ : कफप्रकोप से उत्पन्न भगंदर, बड़ा व स्थिर होता है, इसमें खुजली होती है, वेदना (पीड़ा) मंद (कम) होती है एवं पूयस्राव होता रहता है। इसलिए इसे परिस्रावि भगंदर कहते हैं।

---

1. गुदा के बाहर और पास में अर्थात् गुदा से दो अंगुल के फासले में, अत्यन्त वेदना उत्पन्न करने वाली पिडका (फोड़ा) उत्पन्न होकर, वहीं फूट जाता है, इसे भगंदर रोग कहते हैं।
2. शतयोनक का अर्थ चालनी है। इस भगंदर में चालनी के समान अनेक छिद्र होते हैं। इसलिए शतयोनक नाम सार्थक है।

सन्निपात भगंदर में, पूर्वोक्त तीनों दोषों से उत्पन्न भगंदरों के पृथक्-पृथक् लक्षण एक साथ पाये जाते हैं। इसकी शंख के आवर्त (घुमाई) के समान आकृति होने से इसे कंबुकावर्त कहते हैं।

उन्मार्गि भगंदर लक्षण

सशल्यमज्ञानतयान्नामहृतम्। क्षिणोति तीक्ष्णं गुदमन्यथोगदं॥
विमार्गमुन्मार्गविशेषसंचितं। भगंदरं तत्कुरुते भयंकरम्॥ 48॥

भावार्थ : बिना देखे भाले, अन्यथा चित्त से भोजन करते समय आहार के साथ कांटा जावें तो, वह गुदा में चुभकर भगंदर को पैदा करता है। इसमें अनेक प्रकार के मार्ग (छिद्र) होते हैं। यह उन्मार्गगामी होता है। इसलिए उसे उन्मार्गी भगंदर कहते हैं। यह अत्यन्त भयंकर होता है।

भगंदर की व्युत्पत्ति व साध्यासाध्य विचार

भगान्विते बस्ति गुदे विदारणात्। भगंदराणीति वदंति तद्विदः॥
स्वभावतः कृच्छतराणि तेषुतद्विवर्जयेत्सर्वजशल्यसंभवम्॥ 49॥

भावार्थ : भंग, बस्ति और गुदास्थान में विदारण होने से इसे भगंदर[1] ऐसा विद्वान् लोग कहते हैं। सर्व प्रकार के भगंदर, अत्यन्त कष्ट साध्य हैं। इनमें से सन्निपातज व शल्यज तो असाध्य हैं। इसलिए इन दोनों को छोड़ देवें।

भगंदर चिकित्सा

भगंदरोद्यत्पिटिकाप्रपीडितं। महोपवासैः वमनैर्विरेचनैः॥
उपाचरेदाशुविशेषशोणितप्रमोक्षसंस्वेदनलेपबंधैनः॥ 50॥

भावार्थ : भगंदर पिडका (फुंसी) से पीड़ित अर्थात् भगंदर रोग से युक्त मनुष्य की उपवास, वमन, विरेचन, रक्तमोक्षण, संस्वेदन, लेपन आदि विधियों से शीघ्र चिकित्सा करें।

चिकित्सा उपेक्षा से हानि

उपेक्षितान्युत्तरकालमुद्धतैस्समस्तदोषैः परिपाकमेत्यतः॥
सृजंति रेतोमलमूत्रमारुत। क्रिमीनपि स्वव्रणवक्त्रतस्सदा॥ 51॥

भावार्थ : यदि इस भगंदर रोगी की उपेक्षा करें तो वह तीनों दोषों से संयुक्त होकर, उसका परिपाक होता है। भगंदर के मार्ग (मुख) से शुक्र, मल, मूत्र और वायु बाहर आने लगते हैं एवं उसमें नाना प्रकार के मुख से संयुक्त व्रणों की उत्पत्ति होकर, उन व्रणों के मुख से क्रिमी पड़ने लगते हैं। अर्थात् क्रिमी भी पैदा होते हैं।

1. भगं दारयतीति भगंदरः

भगंदर का असाध्य लक्षण

पुरीषमूत्राक्रिमितरेतसां। प्रवृत्तिमालोक्य भगंदरव्रणे॥

चिकित्सकस्तं मनुजं विवर्जये - दुपद्रवैरप्युपपन्नमुद्धतैः॥ 52॥

भावार्थ : भगंदर के मुख से मल, मूत्र, वात, वीर्य, क्रिमी आदि की प्रवृत्ति को देखकर एवं भयंकर उपद्रवों के उद्रेक को देखकर चिकित्सक को उचित है कि वह भगंदर रोगी को असाध्य समझकर छोड़ें।

भगंदर की अंतर्मुखबहिर्मुखपरीक्षा

तथा विपक्षेषु भगंदरेष्वतः। प्रतीतयत्नाद्गुदजांकुरेष्विव।

प्रवेश्य यंत्रम् प्रविधाय चैषणीं। बहिर्मुखांतर्मुखतां विचारयेत्॥ 53॥

भावार्थ : उपरोक्त भगंदरों से विपरीत अर्थात् असाध्य लक्षणों से रहित भगंदर रोग को, अर्श के समान ही अत्यन्त यत्न के साथ यंत्र को अंदर प्रवेश कर ऐषणी (लोह की शलाका) को अंदर डालकर भगंदर का मुख अंतर्गत है या बहिर्गत है, इसको अच्छी तरह विचार करना चाहिए।

भगंदर यंत्र

यथार्शसां यंत्रमुदाहृतं पुरा। भगंदराणां च तथाविधं भवेत्॥

अयं विशेषोऽर्धशशांकसन्निभं। स्वकर्णिकायां प्रतिपाद्यते बुधैः॥ 54॥

भावार्थ : जिस प्रकार पहले अर्श रोग के लिए यंत्र बतलाये गए हैं, वैसे ही यंत्र भगंदर के लिए भी होते हैं। परन्तु इतना विशेष विद्वानों द्वारा कहा जाता है कि इसमें कर्णिका अर्धचंद्राकृति की होनी चाहिए।

भगंदर में शस्त्राग्नि क्षार प्रयोग

अथैषणीमार्गत एव साशयं। विदार्य शस्त्रेण दहेत्तथाग्निना॥

निपात्येत्क्षारमपि व्रणक्रियां। प्रयोजयेच्छोधनरोपणौषधैः॥ 55॥

भावार्थ : भगंदर व्रण में लोह शलाका डालकर, भगंदर और उसके आधार को शस्त्र से विदारण करके अग्नि से जलावें। अथवा क्षारपातन करें। इस प्रकार, शस्त्र[1] प्रयोग आदि करने के बाद, उस व्रण (घाव) को, व्रणोपचार पद्धति से शोधन (शुद्ध करने वाली) रोपण (भरने वाली) औषधियों द्वारा चिकित्सा करें। अर्थात् रोपण करें।

1. यह शस्त्र, अग्नि व क्षार कर्म बतलाया है। इन सबको एक ही अवस्था में प्रयोग करना चाहिए। अवस्थानंतर को देखकर प्रयोग करें।

भगंदर छेदन क्रम

यदैवमन्योन्यगतागतिर्भवेत्। तदैकदा छेदनामिष्टमन्यथा॥
क्रमक्रमेणैव पृथक्पृथग्गतिं विदारयेद्यन्न बृहद्णं भवेत्॥ 56॥

भावार्थ : जब भगंदरों की गति परस्पर मिली हुई रहे तब उनको एक बार ही छेदन करना चाहिए। जिनकी गति पृथक्-पृथक् है, परस्पर मिली नहीं है उनको क्रम-क्रम से विदारण करें अर्थात् एक भरने के बाद दूसरे को। दूसरा भरने के बाद तीसरे को दारण करें। ऐसा करने से व्रण बड़ा नहीं हो पाता है।

बृहत्व्रण का दोष व उसका निषेध

बृहद्व्रणं यच्च भवेद्त्भगंदरम्। तदैव तस्मिन्मलमूत्ररेतसाम्॥
प्रवृत्तिरुक्ता महती गतिस्ततो। भिषग्विमुख्यैरपि शस्त्रकर्मवित्॥ 57॥
ततो न कुर्याद्विवृतं व्रणान्वितं। भगंदरं तत्कुरुते गुदक्षतिम्॥
स शूलमाध्मानमथान्यभावतां। करोति वातःक्षतवक्त्रनिर्गतः॥ 58॥

भावार्थ : जिस भगंदर में (शस्त्र कर्म के कारण) व्रण (घाव) बहुत बड़ा हो जाता है, उस व्रण मार्ग से मल, मूत्र, शुक्र बाहर निकलने लगते हैं। जिससे भगंदर की गति और भी महान् हो जाती है, ऐसा भिषग्वरों ने कहा है। इसलिए शस्त्रकर्म को जानने वाले वैद्य को चाहिए की वह शस्त्र कर्म करते समय भगंदर के व्रण (घाव) को कभी भी बड़ा न बनावें। यदि बढ़ जावे तो वह गुदा को विदारणा कर देता है। उस क्षतगुदा के मुख से निकला हुआ वात शूल, आध्मान (अफरा) को करता है।

अतः प्रयत्नदतिशोफभेदतां। विचार्य सम्यग्विदधीत भेषजम्॥
विधीयते छेदनमर्धलांगलप्रतीतगोतीर्थसमानमामकम्॥ 59॥

भावार्थ : इसलिए भगंदर की सूजन के भेदों को देखकर उस पर अच्छी तरह से विचारकर उसके अनुकूल प्रयत्न पूर्वक शस्त्र कर्म आदि करें। भगंदर के छेदन (की आकृति) या तो अर्धलांगल[1] के सदृश अथवा गोतीर्थ[2] के समान करें।

1. लांगल हल को कहते हैं, जो आधा हल के समान हो, उसे अर्धलांगल कहते हैं।
2. इसके विषय में अनेक मत है। कोई तो चलती हुई गाय मूतने पर जो टेढ़ी-टेढ़ी लकीर होती हैं, उसे गोतीर्थ कहते हैं। कोई तो गाय की योनि को गोतीर्थ कहते हैं।
   ग्रंथांतर में ऐसा भी लिखा है - **द्वाभ्यां समाभ्यां पार्श्वाभ्या छेदे लांगलको मतः।**
   ह्रस्वमेकतरं यच्च सोऽर्धलांगलकस्स्मृतः॥1॥
   अर्थ : जो दोनों पार्श्वों में समान छेद किया जावें, उसे ''लांगलकं'' कहते हैं। जो एक तरफ छोटा हो, वह ''अर्धलांगल'' कहलाता है।
   पार्श्वगतेन छिद्रेण छेदो गोतीर्थको भवेत्॥ जो फंसवाडी के तरफ झुककर छेद किया जावें, उसे ''गोतीर्थ'' कहते हैं।

सुखोष्णतैलेन निषेचनं हितं। गुदे यदि स्यात्क्षतवेदना नृणां॥
तथानिलघ्नौषधपक्वभाजने। सवाष्पिकेप्यासनमिष्टमादरात्॥ 60॥

भावार्थ : यदि गुदक्षत होकर उसमें वेदना हुई हो तो मंदोष्ण तेल का सिंचन करना हितकर है एवं वातहर औषधियों से पका हुआ बाफ सहित पानी में बैठना भी उपयुक्त है।

स्वेदन

सवक्रनाडीगतवाष्पतापनं। हितं शयानस्य गुदे नियोजयेत्।
तथैवमभ्यक्तशरीर मातुरं। सुखोदकेष्वप्यगाहयेद्भिषक्॥ 61॥

भावार्थ : भगंदर से पीड़ित रोगी की चिकित्सा के लिए यह भी उपाय है कि एक घड़े में वातघ्न औषधियों से सिद्ध कषाय को भरकर उसके मुँह बंद करें और उस घड़े में एक टेढ़ी नली लगावें। उस नली द्वारा आई हुई बाफ से गुदा को स्वेदन करें। अथवा वातघ्नतैल से शरीर को मालिश करके कदुष्ण (थोड़ा गरम) जल को एक बड़े बर्तन में डालकर उसमें रोगी को बैठा लें।

भगंदरघ्न उपनाह

सुतैलदुग्धाज्यविपक्वपायसं। ससैंधवं वातहरौषधान्वितम्॥
सपत्रवस्त्रैर्निहितं यथासुखं। भगंदरस्याहुरिहोपनाहनम्॥ 62॥

भावार्थ : तेल, दूध, घी, सेंधानमक और वातहर औषधि इनको एकत्र डालकर तब तक पकावें, जब तक खीर के समान गाढ़ा नहीं होवें। इस पुलटिश को, इस भगंदर व्रण पर पत्ते और वस्त्र के साथ जैसा सुख होवे वैसा बांधें।

शल्यज भगंदर चिकित्सा

यदेतदंर्गतशल्यनामकं। भगंदरं तच्च विदार्य यत्नतः।
व्यपोह्य शल्यं प्रतिपाद्य कृच्छ्रतां। नृपायं पूर्वं विदधीत तत्क्रियाम्॥ 63॥

भावार्थ : जो शल्य (कांटा) भक्षण से उत्पन्न भगंदर है। वह असाध्य होने से उसकी कठिनता को पहले राजा को सूचित करें। फिर उसका बहुत प्रयत्न के साथ विदारण करें एवं कांटे को निकालें।

शोधनरोपण

व्रणक्रियां प्राग्विहितां प्रयोजयेत्। प्रमेहतीव्रव्रणशोधनं भिषक्॥
भगंदरेप्यत्र विधिर्विधीयते। विशेषतश्शोधनरोपणादिकं॥ 64॥

भावार्थ : पहले प्रमेह व्रण के प्रकरण में जो व्रण क्रिया बताई गई है, उसी विधि से भगंदरव्रण का भी शोधन करें। विशेषतः भगंदर व्रण को शोधन रोपण आदि औषधियों का प्रयोग करें।

भगंदरघ्न तैल व घृत

तिलैस्सदंतीचित्रवृदिंद्रवारुणी। शताव्हकुष्टैः करवीरलांगलैः॥
निशार्ककांजीरकरंजचित्रकैः। सहिंगुदी (?) सैंधवचित्रबीजकैः॥ 65॥
सनिंबजातीकटुरोहिणीवचा। कटुत्रिकांकोलगिरीद्रकर्णिकैः॥
सहाश्वमारैः करकर्णिकायुतैः। महातरुक्षीरकरूटिकान्वितैः॥ 66॥
कषायकल्कीकृतचारुभेषजैः विपक्वतैलं घृतमेव वा द्वयम्॥
प्रयोगयेत्तच्च भगंदरव्रणे। रुजाहरं शोधनमाशु रोपणं॥ 67॥

भावार्थ : तिल, दंती जड़ (जमाल गोटे का पेड़) निसोथ, इंद्रायन शतावरी कूठ, कनेर, हल्दी, कांजीर, कंजा, कलिहारिकी जड, आक, सेंधालवण, चीता की जड़, गोंदीवृक्ष अथवा बड़ी कटेली, एरण्ड बीज, निंब, जायफल, कुटकी, वचा, त्रिकटु (सोंठ, मिरच, पीपल) अंकोल, (ढेरा वृक्ष) सफेद किणिही वृक्ष और कर्णिका से युक्त कनेर, थूहर का दूध, लाल एरण्ड वृक्ष, पीली कटसरैया इन औषधियों के कल्क से कषाय तैयार कर उसमें पकाये हुए तेल या घी अथवा दोनों को भगंदरव्रण में उपयोग करना चाहिए। उससे व्रण का शोधन और रोपण हो जाएगा एवं रोग भी दूर होगा।

उपरोक्त तेल घृत का विशेष गुण

तदेव दुष्टार्बुदनाडिकांकुरस्तनक्षतेष्वद्भुतपूतिकर्णयोः॥
प्रमेहकुष्ठव्रणकच्छुदद्रुषु। क्रिमिष्वपीष्टं प्रथितापचीष्वलम्॥ 68॥

भावार्थ : उपरोक्त तेल व घृत, दुष्ट अर्बुदरोग, नाड़ीव्रण, अर्श, स्तनक्षति, पिडिका, पूति, कर्णरोग, प्रमेह, कुष्ठ, कच्छु, दद्रु, अपचि और क्रिमि रोगों के लिए हितकर है।

हरीतक्यादि चूर्ण

हरीतकी रोहिणि सैंधवं वचा। कटुत्रिकं श्लक्ष्णतरं विचूर्णितं॥
पिबेत्कुलत्थोद्भवतक्रकांजिकां। द्रवेण केनापि युतं भगंदरी॥ 69॥

भावार्थ : हरड, कुटकी, सैंधानमक, वचा, त्रिकटु, इन औषधियों को महीन चूर्णकर उसे कुलथी व छाछ की कांजी में मिलाकर किसी द्रव के साथ भगंदरी पीवें, जिससे वह सुखी होता है।

भगंदर में अपथ्य

व्यवायदूराध्वगमातिवाहन - प्रयाणयुद्धाद्यभिघातहेतुकम्॥
त्यजेद्विरूढोपि भगंदरव्रणी। मासद्वयं बद्धपुरीषभोजनम्॥ 70॥

भावार्थ : भगंदर व्रण अच्छा हो जाने पर भी (भर जाने पर भी) दो महीने तक भगंदरी मैथुनसेवन, दूरमार्ग गमन, घोड़े आदि सवारी पर बैठकर अधिक प्रयाण, युद्ध (कुस्ति आदि) आदि

आघात (चोट लगने) के लिए कारणभूत क्रियाओं को न करें एवं गाढ़ा मल होने योग्य भोजन भी नहीं करना चाहिए, दो महिने तक आहार निहार की योग्य व्यवस्था रखें।

अश्मरी आदि के उपसंहार

इति क्रमादुद्धतरोगवल्लभा। नसाध्य-साध्यप्रविचारणान्वितान्॥

निगद्य तल्लक्षणतच्चिकित्सितान्। ब्रवीम्यतः क्षुद्ररूजागणानपि॥ 71॥

भावार्थ : इस प्रकार क्रम से बड़े-बड़े रोग उनका लक्षण, साध्यासाध्यविचार उनकी चिकित्सा आदि बातों को कहकर अब क्षुद्ररोगों के विषय में कहेंगे।

वृद्धि उपदंश आदि के वर्णन की प्रतिज्ञा

अतः परं वृध्युपदंशश्लीपदप्रतीतवल्मीकपदापचीगल॥

प्रलंबगण्डार्बुदलक्षणैस्सह। प्रवक्ष्यते ग्रंथिचिकित्सितं क्रमात्॥ 72॥

भावार्थ : अब अण्डवृद्धादिक रोग, उपदंश श्लीपद, अपचि, गलगण्ड, अर्बुद, ग्रन्थी आदि रोगों का लक्षण व चिकित्सा के साथ वर्णन किया जाता है।

सप्त प्रकार की वृषणवृद्धि

क्रमाच्च दोषै रुधिरेण मेदसा। प्रभूतमूत्रांत्रनिमित्ततोऽपि वा॥

सनामधेया वृषणाभिवृद्धयो। भवंति पुंसामिह सप्तसंख्यया॥ 73॥

भावार्थ : क्रम से वात, कफ, रक्त व मेद के विकार से एवं मूत्र और आंत्र के विकार से, दोषों के अनुसार नाम को धारण करने वाली (जैसे वातज वृद्धि, पित्तज वृद्धि आदि) वृष वृद्धि सात प्रकार की होती है।

वृद्धि संप्राप्ति

अथ प्रवृत्तोन्यतमोऽनिलादिषु। प्रदुष्टदोषः फलकोशवाहिनीं॥

समाश्रितोऽसौ पवनः समंततः। करोति शोफं फलकोशयोरिव॥ 74॥

भावार्थ : वात आदि दोषों में कोई भी एक दोष स्वकारण से प्रकुपित होकर अण्डकोश में बहने वाली धमनी को प्राप्तकर वायु की सहायता से अण्डकोश में फल कोश के समान सूजन को उत्पन्न करता हैं। इसे अण्डवृद्धि कहते हैं।

वात, पित्त, रक्तज वृद्धि लक्षण

मरुत्प्रपूर्णः परुषो महान्परः। सकण्टकः कृष्णतरोऽतिवेदनः॥

स एव शोफोऽनिलवृद्धिरुच्यते। ज्वरातिदाहैः सह पित्तरक्तजा॥ 75॥

भावार्थ : जो परिपूर्ण हो, कठिन वायु से हो, कण्टक (कांटे जैसे) से युक्त हो, कालांतर में

जिसमें अत्यन्त वेदना होती हो, उस सूजन को वातोत्पन्न अण्डवृद्धि, अर्थात् वातवृद्धि कहते हैं। वही अण्डवृद्धि, यदि ज्वर और अत्यन्त दाह से युक्त हो तो उसे पित्तज व रक्तज समझना चाहिए।

कफ, मेदजवृद्धि लक्षण

गुरुस्थिरो मंदरुजोग्रकण्डुरो। बृहत्करो यः कफवृद्धिरुच्यते॥
महान् मृदुस्तालफलोपमाकृतिः सतीव्रकण्डूरिह मेदसा भवेत्॥ 76॥

भावार्थ : जो भारी और स्थिर (घटने बढ़ने वाली न हो) हो जिसमें पीड़ा थोड़ी होती हो, अत्यधिक खुजली चलती हो व कठिन हो इन लक्षणों से संयुक्त अण्डवृद्धि कफज कहलाती है। जो महान् मृदु ताड़ के फल के समान जिसकी आकृति हो, अत्यन्त खुजली चलती हो, उसे मेदज अण्डवृद्धि कहते हैं।

मूत्रजवृद्धिलक्षण

स गच्छतः क्षुभ्यति वारिपूरिता - दृतिर्यथा मूत्रानिरोधतस्तथा॥
महातिकृच्छाधिकवेदनायुतो। मृदुर्नृणां मूत्राविवृद्धिरुच्यते॥ 77॥

भावार्थ : जो सूजन चलते समय पानी से भरी हुई दृति (मशक) जिस प्रकार क्षोभ को (चंचल) प्राप्त होती है, उसी प्रकार क्षोभायमान होती है। मूत्रकृच्छ व अधिक पीड़ा से युक्त है व मृदु है, वह मूत्रजवृद्धि कहलाती है। यह मूत्र के रोकने से उत्पन्न होती है।

अंत्रज वृद्धिलक्षण

यदांत्रमेतर्गतवायुपीडितं। त्वचं समुन्नम्य विधूय वंक्षणम्॥
प्रविश्य कोशं कुरुतेऽतिवेदनाम्। तदांत्रवृद्धिं प्रतिपादयेद्भिषक्॥ 78॥

भावार्थ : जिस समय अंदर रहने वाला वात अंत्र को पीड़ित करता है (संकुचित करता है) तब वह त्वचा को नमाकर वंक्षण संधि (राङ) को कम्पित करते हुए (उसी वंक्षण संधि द्वारा)अण्ड में प्रवेश करता है। तभी अंड की वृद्धि होती है, इसे वैद्य अंत्रज वृद्धि कहें।

सर्व वृद्धि में वर्जनीय कार्य

तथोक्तवृद्धिष्वखिलासु बुद्धिमान्। विवर्जयेद्वेगनिरोधवाहनम्॥
व्यवाययुद्धाद्यभिघातहेतुकं। ततश्च तासां विदधीत तत्क्रियाम्॥ 79॥

भावार्थ : उपयुक्त सर्व प्रकार के वृद्धिरोगों में बुद्धिमान रोगी को उचित है कि वह शरीर को आघात पहुँचाने वाली मैथुन सेवन, वेग निरोध (मलमूत्रादिक निरोध) वाहन में बैठना, युद्ध करना आदि क्रियाओं को छोड़ देवे। फिर उसकी चिकित्सा करानी चाहिए।

वातवृद्धि चिकित्सा

अथानिलोत्थाधिकावृद्धिमातुरं। विरेचयेत्स्निग्धतमं प्रपाययेत्॥
सदुग्धमेरण्डजतैलमेव वा। निरूहयेद्वाप्यनुवासयेद्भृशम्॥ 80॥

भावार्थ : वातोत्पन्न अण्डवृद्धि से पीड़ित रोगी को कोई स्निग्ध विरेचन (विरेचक घृत आदि) औषध पिलाकर विरेचन कराना चाहिए। इसके लिए, दूध में एरण्ड तैल मिलाकर पिलाना अत्यन्त हितकर है। अथवा निरूह व अनुवासन बस्ति का प्रयोग करना चाहिए।

स्वेदन, लेपन, बंधन व दहन

सदैव संस्वेदाविधायनौषधप्रलेपबंधैरपि वृद्धिमुद्धताम्॥
उपाचरेदाशु विशेषतो दृढं। शलाकया वाप्यधरोत्तरं दहेत्॥ 81॥

भावार्थ : अधिक बढ़ी हुई वृद्धि को हमेशा स्वेदन औषधियों द्वारा स्वेदन, लेपन औषधियों से लेपन, बंधन औषधियों से बंधन आदि क्रियाओं से उपचार कराना चाहिए। जो वृद्धि विशेष दृढ़ (मजबूत) है, उसे अग्नि से तपायी गयी शलाका से नीचे के व उत्तर भाग को जला देवें।

पित्तरक्तजवृद्धि चिकित्सा

स पित्तरक्तोद्भववृद्धिबाधितं। विरेचनैः पित्तहरैर्विशोधयेत्।
जलायुकाभिर्वृषणस्थशोणितं। प्रमोक्षयेच्छीततरैर्विलेपयेत्॥ 82॥

भावार्थ : पित्तरक्त के विकार से उत्पन्न वृद्धि में पित्तहर औषधियों से विरेचन कराना चाहिए एवं जलौंक लगवाकर अण्ड के दुष्ट रक्त का मोक्षण (निकालना) कराना चाहिए और उस पर शीत औषधियों का लेपन करना चाहिए।

कफजवृद्धि चिकित्सा

कफप्रवृद्धिस्त्रिफलाकटुत्रिकै। र्गवां जलैः क्षारयुतैस्सुपेषितैः॥
प्रलेपयेत्तच्च पिवेदथातुरः। सुखोष्णवर्गैरुपनाहयेत्सदा॥ 83॥

भावार्थ : कफवृद्धि में त्रिफला (हरड़, बहेड़ा, आँवला) व त्रिकटु (सोंठ, मिरच पीपल) को क्षारयुक्त गोमूत्र के साथ अच्छी तरह पीसकर लेपन करना चाहिए और उसी औषधि को रोगी को पिलाना चाहिए एवं च उष्ण वर्गो अर्थात् उष्णगुणयुक्त औषधियों की पुल्टिश बाँधना चाहिए।

मेदज वृद्धिचिकित्सा

विदार्य मेदःप्रभवातिवृद्धिकां। विवर्ज्य यत्नादिह सीवनीं भिषक्॥
व्यपोह्य मेदः सहसाविशोधनै। रुपाचरेत्सक्रमसोष्णबंधनैः॥ 84॥

भावार्थ : मेदोत्पन्न वृद्धि में सीवनी (लिंग के नीचे से गुदा तक गई हुई रेखा) को छोड़कर

अण्डकोश को अतियत्न के साथ विदारण (फोड़ें) करें। पश्चात् मेद को शीघ्र ही निकालकर, क्रम से शोधन (शुद्धि) करें तथा उष्ण औषधियों द्वारा बाँध देवें।

मूत्रजवृद्धि चिकित्सा

समूत्रवृद्धिं दृढबंधबंधितां। विभिद्य सुव्रीहिमुखेन यत्नतः॥
विगालयेत्संनलिकामुखेन तज्जलोदरप्रोक्तविधानमार्गतः॥ 85॥

भावार्थ : मूत्रज अण्डवृद्धि में, जलोदर में पानी निकालने की जो विधि बतलायी है, उसी विधि के अनुसार अण्ड को अच्छी तरह से वेध कर, अति प्रयत्न के साथ ब्रीहिमुख नाम के शस्त्र से भेदन करके, नली लगाकर अण्ड से पानी को बाहर निकालें।

अंत्रवृद्धि चिकित्सा

अथांत्रवृद्धौ तदसाध्यतां सदा। निवेद्य यत्नादनिलघ्नमाचरेत्॥
बलाभिधानं तिलजं प्रपाययेत्। ससैंधवैरण्डजतैलमेव वा॥ 86॥

भावार्थ : अंत्रवृद्धि के होने पर उसे पहले से असाध्य कहना चाहिए। फिर वातहर औषधियों का प्रयोग कर बहुत यत्न के साथ चिकित्सा करनी चाहिए। बलातैल[1] अथवा सैंधानमक मिलाकर एरण्ड का तैल उसे पिलाना चाहिए।

अण्डवृद्धिघ्न लेप

सुखाह्वकांजीरकरंजलांगली-। खरापमार्गांघ्रिभिरेव कल्कितैः।
प्रदिह्य पत्रैः सह बंधमाचरेत्। प्रवृद्धवृद्धिप्रशमार्थमाचरेत्॥ 87॥

भावार्थ : सुखाह्व, (वृद्धिनाशक औषधि) की जड़, कंटकयुक्त वृक्ष विशेष, कांजीर, करंज, कलिहारी चिरचिरा इनके जड़ का कल्क बनाकर उसे पत्ते पर लेप करके उसको वृद्धि पर बाँधना चाहिए। जिससे वह वृद्धि उपशम को प्राप्त होती है।

अण्डवृद्धिघ्न कल्क

पिबेत्कुबेराक्षिफलांघ्रिभिः कृतं। सुकल्कपत्यम्लकतक्रकांजिकैः॥
सुशिग्रुमूलं त्रिकटुं ससैंधवं। सद्वाजमोदैः सह चित्रकेण वा॥ 88॥

भावार्थ : पाडरवृक्ष, मदनवृक्ष (मेनफल का पेड़) इनके जड़ से बनाया हुआ कल्क, अम्लक, छाछ वा कांजी के साथ तथा सैंजन का जड़, त्रिकटु, सैंधानमक इनके कल्क को अजमोद या चित्रक के क्वाथ के साथ पीवें।

1. प्रसूति अधिकारोक्त।

सुवर्चिकादि चूर्ण

सुवर्चिकासैंधवहिंगुजीरकैः करंजयुग्मैः श्रवणाह्वभेषजैः॥

कटुत्रिकैश्चूर्णकृतैः पयः पिबेत्। करोति मुष्कं करिमुष्कवसान्निभम्॥ 89॥

भावार्थ : सज्जीखार, सैंधानमक, हींग, जीरा, छोटी-बड़ी करंजा, श्रवणी, त्रिकटू इन सब औषधियों को चूर्णकर दूध के साथ पीवें तो अण्डकोश हाथी के अण्डकोश के समान सुदृढ़ बनता है।

उपदंशशूकरोग वर्णन प्रतिज्ञा

वृषणवृद्धिगणाखिललक्षणं। प्रतिविधानविधिं प्रविधायच॥

तद्ध्वजगतानुपंदशविशेषितान्। निशितशूकविकारकृतान् ब्रुवे॥ 90॥

भावार्थ : इस प्रकार वृषण वृद्धि का सम्पूर्ण लक्षण, चिकित्सा आदि को कहकर अब पुरुष लिंग के ऊपर होने वाले उपदंश और शूक रोग का वर्णन अब आगे के प्रकरण में करेंगे।

अंतिम कथन

इति जिनवक्त्रनिर्गतसुशास्त्रमहांबुनिधेः। सकलपदार्थविस्तृतरंगकुलाकुलतः॥

उभयभवार्थसाधनतटद्वयभासुरतो। निसृतमिदं हि शीकरनिभं जगदेकहितम्॥ 91॥

भावार्थ : जिसमें सम्पूर्ण द्रव्य, तत्त्व व पदार्थ रूपी तरंग उठ रहे है, इहलोक परलोक के लिए प्रयोजनीभूत साधन रूपी जिसके दो सुंदर तट हैं, ऐसे श्रीजिनेन्द्र के मुख से उत्पन्न शास्त्र समुद्र से निकली हुई बूँद के समान यह शास्त्र है। साथ में जगत् का एक मात्र हितसाधक है (इसलिए ही इसका नाम कल्याणकारक है)।

इत्युग्रादित्याचार्यकृत कल्याणकारके चिकित्साधिकारे

क्षुद्ररोगचिकित्सितं नामादितो त्रयोदशः परिच्छेदः।

इत्युग्रादित्याचार्यकृत कल्याणकारक ग्रन्थ के चिकित्साधिकार में विद्यावाचस्पतीत्युपाधिविभूषित **वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री** द्वारा लिखित **भावार्थदीपिका टीका** में क्षुद्ररोगाधिकार नामक **तेरहवां परिच्छेद** समाप्त हुआ।

अथ चतुर्दशपरिच्छेद:

अथ उपदंशाधिकार:

मंगलाचरण व प्रतिज्ञा

जिनमनघमनंतज्ञाननेत्राभिरामं। त्रिभुवनसुखसंपन्मूर्तिमत्यादरेण॥
प्रतिदिनमतिभक्त्याऽनम्य वक्षाम्युदारं। ध्वजगतमुपदंशख्यातशूकाभिधानम्॥ 1॥

भावार्थ : सर्व पाप कर्मों से रहित, अनंतज्ञान रूपी नेत्र से शोभायमान, तीन लोक की सम्पत्ति के मूर्ति स्वरूप श्री जिनेन्द्र भगवान् को अत्यन्त आदर के साथ अति भक्ति से नमस्कार कर मेढू पर होने वाले उपदंश व शूक रोगों का प्रतिपादन करेंगे।

उपदंश चिकित्सा

दूषणविविधवृद्धिप्रोक्तदोषक्रमेण। प्रकटतरचिकित्सां मेहनोत्पन्नशोफे॥
वितरतु विधियुक्तां चोपदंशाभिधाने। निखिलविषमशोफेष्वेष एव प्रयोग:॥ 2॥

भावार्थ : अण्डवृद्धि के प्रकरण में भिन्न-भिन्न वृद्धियों का जिस प्रकार भिन्न-भिन्न प्रकार का चिकित्सा क्रम बतलाया था, उन सबको लिंग में उत्पन्न उपदंश[1] नामक शोध सूजन में दोष भेदों के अनुकूल उपयोग करें एवं अन्य सर्व प्रकार के भयंकर शोधों में भी इसी चिकित्सा का उपयोग करें।

दो प्रकार का शोथ

स भवती खलु शोफो द्विप्रकारो नराणा-। मवयवनियतोन्य: सर्व देहोद्भवश्च॥
सकलतनुगतो वा मध्यदेहेऽर्धदेहे। श्वयथुरतिसुकष्ट: क्लिष्टशुष्केतरांग:॥ 3॥

भावार्थ : वह सूजन दो प्रकार की होती है। एक नियत अवयव में होने वाली और दूसरी सर्वांगीण। सर्व अंग में फैली हुई तथा शरीर के मध्यभाग अथवा गर्म शरीर में सूजन होकर अन्य अवयव सूख गए हों, ऐसे शोध रोग कठिन साध्य होते हैं।

---

1. लिंग को हाथ के आघात से, नाखून व दाँत के लगने से, अच्छी तरह साफ न करने से, अत्यंत विषयोपभोग से एवं विकृत योनि वाली स्त्री से संसर्ग (मैथुन) से, शिश्नेन्द्रिय (लिंग) में शोध (कुलथी धान्य के आकार वाले फफोले उत्पन्न होते हैं, उसे उपदंश अर्थात् गर्मी रोग कहते हैं। वातज, पित्तज, रसज, कफज, सन्निपातज इस प्रकार उसके पाँच भेद आयुर्वेद में वर्णित है।

विद्रधि ग्रंथिपिटका लक्षण व चिकित्सा

श्वयथुरितिविशालो विद्रधिः कुंभरूपो। मुखरहिततया ते ग्रन्थयः संप्रदिष्टाः॥
मुखयुतपिटकाख्याः शोफकालेऽनुरूपै। रूपहनविशैषैः साधनैः साधयेत्तान्॥ 4॥

भावार्थ : जो शोथ विशाल है और कुम्भ के समान है वह विद्रधि कहलाता है। जिनको मुख नहीं होता वो ग्रंथियाँ हैं और मुखसहित पिटक कहलाते हैं। इन सब शोथ भेदों की यथा काल तदनुकूल औषधियों द्वारा पुल्टिश आदि बांधकर एवं और भी उपायों से चिकित्सा करनी चाहिए।

उपदंशका असाध्य लक्षण

ज्वरयुतपरिदाहश्वासतृष्णातिसार। प्रकटबलविहीनारोचकोद्गारयुक्तः॥
यमसदनमवाप्नोत्याशु शून्यांगयष्टिः। यममसकृदनूनं द्रष्टुकामो मनुष्यः॥ 5॥

भावार्थ : उपदंश का उद्रेक तीव्र होने से रोगी अत्यन्त क्षीण हो गया हो, फिर वह ज्वर, दाह, श्वास, तृषा, अतिसार, अशक्तपना, अरोचकता व उद्गार से पीड़ित हो और जिसका शरीर बिल्कुल शून्य हो गया हो तो समझना चाहिए कि वह यम को बहुत उत्सुकता के साथ देखना चाहता है। इसलिए जल्दी से जल्दी वह यम के घर पहुँच जायेगा।

दंतोद्भव उपदंश चिकित्सा

निशितविषमदन्तोद्घट्टनात् मेढ्रजात-। क्षतयुतमुपदंशात्यंतशोफं यथावत्॥
शिशिरघृतप्रयोभिः साधयेदाशु धीमान्। अतिहिमबहुभैषज्यैरपही प्रलिंपेत्॥ 6॥

भावार्थ : तीक्ष्ण व विषम दाँतों के रगड़ से उत्पन्न उपदंशक्षित (जखम) और अत्यन्त सूजन से युक्त हो तो उसका यथायोग्य ठण्डा घृत, दूध आदि के प्रयोग से बुद्धिमान वैद्य उपशमन करे एवं अत्यन्त शीत औषधियों का लेपन करें।

यदुचितमाभिघाते जातशोफे विधानं। तदपि च कुरूते यत्नेन वंशाख्यशोफे॥
व्रणविहितसमस्तैश्शोधनैरोपणैर। प्युपहनविशैषैस्साधयेत्तत्कृतं च॥ 7॥

भावार्थ : वंश नामक शोध में अभिघात से उत्पन्न सूजन में जो चिकित्सा क्रम बतलाया है उनको तथा व्रण प्रकरण में कहे गए शोधन, रोपण, उपनाह (पुल्टिश) इत्यादि का प्रयोग करें।

अथ शूकदोषाधिकारः

शूकरोग निदान व चिकित्सा

परूषविषमपत्रोद्घट्टनं मेढ्रवृध्यैः। करमथनविशेषादल्पयोनिप्रसंगात्॥
अधिकृतबहुशूकाख्यामयाः स्युस्ततस्तान् घृतबहुपरिषेकैः स्वेदनैः स्वेदयेच्च॥ 8॥

भावार्थ : मेढू (लिंग) के बढ़ने से, अनेक तरह के रूक्ष पत्तों के घर्षण से, हस्तमैथुन से एवं

अल्पयोनि में मैथुनसेवन करने से उप शिश्न पर अनेक तरह की फुनसियाँ पैदा होती हैं। उसे शूक रोग[1] कहते हैं। उस पर घृत का सिंचन करना चाहिए और स्वेदन औषधियों से स्वेदन कराना चाहिए।

तिलमधुकादि कल्क

तिलमधुककलायाश्वत्थमुद्रैः सुपिष्टैः। घृतगुडपयसाव्यामिश्रितैः शीतवर्गैः॥
कुपितरूधिरशांत्यै संप्रपिष्य प्रयत्नात्। विदित सकलदोषप्रकमेणारभेत॥ 9॥

भावार्थ : तिल, ज्येष्ठमधु (मुलैठी) मटर, अश्वत्थ, मूंग इनको अच्छी तरह पीसकर घी, दूध व गुड़ के साथ मिलावें फिर शीतवर्ग औषधियों के साथ दूषित रक्त की शांति के लिए पिलावें। फिर सर्व दोषों को विचार कर उसके उपशमन के लिए तदनुकूल योग्य चिकित्सा करें।

व्रणविधिमपि कुर्यान्मेद्जातव्रणेषु। प्रकुपितरूधिरस्रावं जलौकाप्रपातैः।
निखिलमभिहितं यद्दोषभैषज्यभेदात्। उचितमिह विदित्वा तत्प्रयोज्यं भिषग्भिः॥ 10॥

भावार्थ : मेढ़ू पर उत्पन्न व्रण (शूक रोग) में व्रण चिकित्सा के विधान का भी उपयोग करें एवं जलोंक लगाकर विकृत रक्त को निकालें। वात पित्तादिक विकारों के उपशमन के लिए जो औषधि बतलाई गई हैं, उनको यहाँ भी दोषों के बलाबल को जानकर कुशल वैद्य प्रयोग करें।

अथ श्लीपदाधिकारः

श्लीपद रोग

कुपितसकलदोषैर्येनकेनापि वा-। द्गुणगणरचितोयं वंक्षणो दीर्घशोफः॥
प्रभवति स तु मूलाङूरमाश्रित्य पश्चात्। अवतरति यथावज्जानुजंघाघ्रिदेशे॥ 11॥
स भवति दृढरोगः श्लीपदाख्यो नराणा। मनुदिनमतिसम्यक्संचितांघ्रिप्रदेशे॥
तमपि निखिलदोषाशेषभैषज्यबंध। प्रचुररूधिरमोक्षाद्यैस्सदोपाचरेच्च॥12॥

भावार्थ : सर्व दोषों का एक साथ उद्रेक वात-पित्त-कफों के एक साथ प्रकोप होने से, अथवा एक-एक दोष के प्रकोप से, अपने-अपने (दोषों के) लक्षणों से संयुक्त, जांघों की संधि में शोफ होता है। फिर वह शिश्नमूल से जानु, जंघा व पाद तक उतर जाता है। इसे श्लीपद रोग कहते हैं। यह रोग कठिन होता है। वह रोगी के पाद देश में अच्छी तरह संचित होकर प्रतिदिन उसे पीड़ा देता है। समस्त दोषों के उपशामक औषधियों से एवं बंधन, रक्तमोक्षण आदि विधियों के द्वारा उसकी चिकित्सा करना चाहिए।

त्रिकुटुकादि उपनाह

त्रिकटुलशुनहिंगूग्रेंगुदीलांगलीकैः। प्रतिदिनमनुलिप्तं चोष्णपत्रोपनाहैः॥
उपशमनमवाप्नोत्युद्धतं श्लीपदाख्यं। बहलपरिबृहत्तत्प्रस्तुतं वर्जनीयम्॥ 13॥

1. यह अठारह प्रकार का होता है।

भावार्थ : त्रिकटु, लहसन, हींग, बच, हिंगोट, कलिहारी इन औषधियों का प्रतिदिन लेपनकर उष्ण गुणयुक्त पत्ते को उस से उपर बांधने पर वह उद्विक्त श्लीपद रोग उपशमन को प्राप्त होता है। यदि अत्यधिक बढ़ गया हो तो उसे असाध्य समझना चाहिए।

वल्मीकपादघ्न तैलघृत

तिलजलवणमिश्रैरेभिरेवौषधैस्तेः प्रशमनमिह संप्राप्नोति बल्मीकपादः॥
स्नुहि पयसि विपक्वं तैलमेवं घृतं वा। शमयति लवणाढ्यं पत्रबंधेन सार्धम्॥ 14॥

भावार्थ : उपर्युक्त औषधियों को तिल का तेल, सैंधानमक के साथ मिलाकर (अथवा औषधियों के कल्क क्वाथ से तैल सिद्ध करके) लेपन करके ऊपर से पत्ता बाँधे, तो वल्मीकपाद उपशमन को प्राप्त होता है। अथवा थूहर के दूध में पकाये हुए तैल या घी में सैंधानमक मिलाकर लेपन करें और पत्ते को बाँधें तो भी हितकर होगा।

वल्मीकपाद चिकित्सा

अथ च कथितवल्मीकाख्यपादं त्रिदोष। क्रमगतविधिनोपक्रम्य तस्य व्रणेषु॥
प्रकटतरमहांसशोधनद्रव्यसिद्धा। न्यसकृदीभीहतान्यप्यत्र तैलानि दद्यात्॥15॥

भावार्थ : उद्रिक्त दोषों के अनुसार विधिपूर्वक चिकित्सा करके उसके व्रणों को प्रसिद्ध संशोधन औषधियों से सिद्ध, पूर्व में अनेक बार कथित, तैल का प्रयोग करना चाहिए।

अपचीलक्षण

हनुगलनयनोशषास्थिसंधि प्रदेशे। ष्वधिकमुपचितं यन्मदे एवाल्पशोफम्॥
कठिनमिह विधेत्त वृत्तमत्यायतं वा। प्युपचयनविशेषात्प्राहुरत्रापचीं ताम्॥ 16॥

भावार्थ : हनु (टोड़ी) गला, आँख, इनके व सर्व हड्डियों की संधि (जोड़) में अधिक मेद (चौथा धातु) एकत्रित होकर एक अल्प शोथ को उत्पन्न करता है। जो कि कठिन, गोल अथवा लम्बा होता है। इसको अपची कहते हैं। इसमें मेद का उपचय होता है। इसलिए इसको अपची नाम से कहते हैं।

अपची का विशेष लक्षण

कतिचिदिह विभिन्नस्रावमेवं स्रवन्ती। प्रशमनमिह साक्षात् केचिदेवाप्नुवंति॥
सततमभिनवास्ते ग्रन्थयोऽन्ये भवंति। विविधविषमरूपास्तेषु तैलं यथोक्तं॥ 17॥

भावार्थ : इस अपची की कितनी ही गांठे, अपने आप फूट जाती हैं और उस में पूय आदि स्राव होने लगते हैं। पूर्वोत्पन्न कितने ही (अपने आप ही) उपशमन होते हैं। फिर हमेशा नये-नये उत्पन्न होते रहते हैं, जो नाना प्रकार के विषम रूप (लक्षण) से युक्त होते हैं। इस पर पूर्वोक्त तैल का ही उपयोग करें।

अपची चिकित्सा

वमनमपिच तीक्ष्णं नस्यमत्रापचींना। विधिवदिह विधेयं सद्विरेकश्च पश्चात्॥
विविधविषमनाडीषूक्तमन्यच्च तच्च। प्रतिदिनमिह योज्यं श्लेष्मभदप्रशांत्यै॥ 18॥

भावार्थ : इस अपची रोग में कफ[1] और मेद की शांति के लिए विधि के अनुसार वमन और तीक्ष्ण नस्य देना चाहिए। उसके पश्चात् विरेचन भी देना चाहिए एवं अनेक विषम नाड़ी रोगों (नासूर) के लिए जो चिकित्सा कही गई है उन सब का भी प्रयोग करना चाहिए।

नाड़ीव्रण अपची नाशक योग

दिनकरतरूमूलैः पक्वसत्पायसो वा। प्रतिदिनशमनं स्यात्सर्वनाड़ीव्रणेषु॥
बदरखदिरशार्डेष्टांघ्रिभिर्वापि सिद्धं। शमयति तिलजाढ्यं साधुनिष्पाववर्गः॥ 19॥

भावार्थ : सर्व प्रकार के नाड़ी व्रणों में अकौवे के जड़ के साथ पकाया हुआ पायस (खीर) ही प्रतिनित्य भोजन में देना चाहिए। अथवा बदर, (बेर) खदिर (खैर) बडी करंज, इनके जड़ से सिद्ध पायस देना चाहिए। अथवा निष्पाव (भटवासु) वर्ग के (रक्तनिष्पाव, सफेद निष्पाव आदि) धान्यों को तिल के तैल से मिलाकर भोजन में देने से सर्व नाड़ीव्रण (नासूर) व अपची नष्ट होते हैं।

अपि च सरसनीलीमूलेमकं सुपिष्टं। दिनकरशशिसंयोगादिकाले स्वरात्रौ॥
असितपशुपयोव्यामिश्रितं पतिमेतत्। प्रशमनपचीनामावहत्यंधकारे॥ 20॥

भावार्थ : रसयुक्त एक ही नीली की जड़ को अच्छी तरह पीसकर, काली गाय के दूध मे मिलाकर जिस दिन सूर्य और चंद्रमा का संयोग होता हो, उसी दिन रात को अंधेरे मे पीवें तो अपची रोग शांत हो जाता है।

गलगण्डलक्षण व चिकित्सा

गलगतकफमेदोजातगण्डामयाना। मधिकवमननस्यस्वेदतीव्रोपनाहान्॥
सततमिह विधाय प्रोक्तपाकन्विदार्य। प्रतिदिनमय सम्यग्योजयेच्छोधनानि॥ 21॥

भावार्थ : कफ और मेद दूषित होकर, गले में रहने वाली मंथा नाड़ी को प्राप्त करके उसमें शोध को उत्पन्न करते हैं, जो कि अण्डकोश के समान गले में बंधा हुआ जैसा दिखता है, इसे गलगण्ड कहते हैं। इसको वमन, नस्य, स्वेदन, तीव्र उपनाह आदि का प्रयोग करें। जब वह पक जावे तो विदारण करके शोधन, रोपण विधान का प्रयोग करना चाहिए।

अर्बुद लक्षण

पवनरूधिरपित्तश्लेष्ममेदप्रकोपाद्भवति पिशितपेशीजालरोगार्बुदाख्यम्॥
अतिकफबहुमेदोव्यापृतात्मस्वभावान्नभवति परिपाकस्तस्य तत्कृच्छसाध्यः॥ 22॥

1. क्योंकि इस रोग में कफ मेद की ही अधिक वृद्धि रहती है।

भावार्थ : वात, रक्त, पित्त, कफ व मेद के प्रकोप से मांस पेशियों में मांसपिण्ड के समान शरीर को किसी भी प्रदेश में उत्पन्न ग्रन्थी या शोध को अर्बुद रोग कहते हैं। वह अत्यधिक कफ व मेदों विकार से युक्त होने के कारण पक्व अवस्था को नहीं पहुँचता है, इसलिए उसे कष्टसाध्य समझना चाहिए।

अर्बुद चिकित्सा

तमिह तदनुरूपप्रोक्तभैषज्यवर्गैः। परूषतरसुपत्रोद्धट्टनासृक्प्रमोक्षैः॥
अनुदिनमनुलेपस्नेहपत्रोपनाहै। रूपशमनविधानैः शोधनैः शोधयेत्तैः॥ 23॥

भावार्थ : पहले कहे गए उसके अनुकूल औषधिप्रयोग, कठिन पत्रों से घर्षण (रगड़ना) रक्तमोक्षण (फस्त खोलना) प्रतिदिन औषधि लेपन, स्नेहन (सिद्ध घृत तैल लगाना) पत्तियों का पुल्टिश एवं अन्य उपशमन विधियों द्वारा उस अर्बुद रोग की चिकित्सा करनी चाहिए तथा शोधन करने वाली औषधियों से (जब आवश्यकता हो) शुद्धि भी करनी चाहिए।

ग्रंथि लक्षण व चिकित्सा

रूधिरसहितदोषैः मांसमेदस्सिराभिस्तदनुविहितलिंगा ग्रन्थयोंऽगे[1] भवंति॥
असकृदभिहितैस्तै दोषभैषज्यभेद। प्रकटतरविशैषैः साधयेत्तद्यथोक्तैः॥ 24॥

भावार्थ : दूषित रक्त, वात, पित्त, कफ, माँस, मेद, सिराओं से तत्तद्दोष व धातुओं के अुनकूल प्रकट होने वाले लक्षणों से संयुक्त, शरीर में ग्रंथियाँ (गांठे) हो जाती हैं। इन सर्व प्रकार की ग्रंथियों को दोष दूष्यादि भेद के अनुसार बार-बार कहे गए औषधियों के प्रयोग से तथा लेपन, उपनाह आदि विधियों से चिकित्सा करनी चाहिए।

सिराज ग्रंथि के असाध्य कृच्छ्र साध्य लक्षण एवं द्विविध विद्रधि

परिहरति शिराजग्रंथिरोगानचाल्यान्। प्रचलतरविशेषाः वेदनाढ्यास्तु कृच्छाः॥
भवति बहिरिहांतर्विद्रधिश्चपि तद्वत्। विषमतरविकारो विद्रधिश्चातरंगः॥ 25॥

भावार्थ : सिरा से उत्पन्न अर्थात् सिराजग्रंथि (सिराज ग्रंथि के चल, अचल इस प्रकार के दो भेद हैं) यदि अचल (चलनशील न हो) होवे एवं वेदना से रहित होवे तो वह असाध्य होता है। इसलिए वह छोड़ने योग्य है (अचिकित्स्य है।) यदि चल एवं वेदना से युक्त होवें, तो वह कष्टसाध्य होता है।

विद्रधि रोग दो प्रकार का है। एक बाह्यविद्रधि दूसरा अंतर्विद्रधि। पहला तो शरीर के बाहर के प्रदेशों में होता है, इसलिए बाह्य कहलाता है। दूसरा जो शरीर के अंदर के भाग में होने से अंतर्विद्रधि

1. रक्त इत्यादि के विकार से उत्पन्न ग्रंथियाँ सात प्रकार की है, ऐसा ऊपर के कथन से ज्ञात होता है। लेकिन तंत्रातरों में वातज, पित्तज, कफज, मेदज, सिराज, इस प्रकार ग्रंथियों के भेद पाँच बतलाये हैं। (हमारी समझ से) ऊपर का कथन साधारण है। इसलिए, माँस रक्त से ग्रंथि उत्पन्न नहीं होती है, केवल वे दूषित मात्र होते हैं। ऐसा जानना चाहिए अथवा उग्रादित्याचार्य ग्रंथि के सात ही भेद मानते होंगे। ऐसा भी हो सकता है।

कहलाता है। इनमें अंतविद्रधि अत्यन्त विषम होता है अर्थात् कठिन साध्य होता है।

विशेष : अस्थि में आश्रित कुपितवातादि दोष, त्वचा, रक्त मांस, मेदों को दूषित कर, एक बहुत बड़ा गोल व लम्बा सूजन को उत्पन्न करते हैं। जिसका मूल (जड़) भारी व बड़ा होता है। वह अतीव पीड़ा से युक्त एवं भीषण होता है। इसे विद्रधि कहते हैं।

अंतर्विद्रधि शरीर के अंदर, बाजू में, गुदा बस्ति, (मूत्राशय) नाभि, कुक्षि राड. प्लीहा (तिल्ली) यकृत इत्यादि स्थानों में होता है।

विद्रधिका असाध्य दुःसाध्य लक्षण

गुदहृदययकृन्नाभिप्लिहाबस्तिजातः। समुपजनितपाको विद्रधिर्नैव साध्यः॥
विषमतरविपक्वो यश्च भिन्नोऽन्यदेशे॥ तमपि च परिहृत्य ब्रुहि दुःसाध्यतां च॥ 26॥

भावार्थ : गुद, हृदय, यकृत, नाभि, प्लीहा, बस्ति इन स्थानों में होकर जो विद्रधि पक गया हो वह असाध्य है। दूसरे अवयव में होकर भी विषम रूप से जो पक गया हो व फूट गया हो वह भी असाध्य होता है। इसलिए उसे पहले असाध्य कहकर फिर चिकित्सा करना चाहिए।

विद्रधिका असाध्य साध्य लक्षण

श्वसनकसनहिक्कारोचकाध्मानशूल। ज्वरयुतपरितापाद्बंधनिष्पंदवातात्॥
उपरिनिसृतपूये विद्रधौ नैव जीवेत्॥ भवति सुखकरोऽयं चाप्यधः सुष्टपूयः॥ 27॥

भावार्थ : वात के प्रकोप से जिस विद्रधि में श्वास, कास, हिचकी, अरोचकता अफराना, शूल, ज्वर, ताप उद्बंधन (बंधा हुआ जैसा) निश्चलता आदि विकार प्रकट होते हैं और ऊपर की ओर पूय (पीप) निकलने लगता है, उसमें रोगी कभी नहीं जी सकता है। नीचे की ओर पूय जिसमें निकले वह विद्रधि साध्य है।

विद्रधि चिकित्सा

प्रथममखिलशोफेषूष्णवर्गोपनाहैः। प्रवर इति जिनेन्द्रैः कर्मविद्भिः प्रणीतः॥
प्रशमनमधिगच्छत्यामसंज्ञाविधिज्ञस्त्वरिततरविपक्वं स्याद्विपक्वामभेदम्॥ 28॥

भावार्थ : सबसे पहले सर्व प्रकार के शोफो (विद्रधि) में उष्णवर्गोक्त औषधियों का पुल्टिश बांधना उपयोगी है। ऐसा सर्व चिकित्सा कार्य को जानने वाले श्री जिनेन्द्र भगवान् ने कहा है। उसमें आम शोफ (जो नहीं पका है)जल्दी उपशमन को प्राप्त होता है अर्थात् बैठ जाता है। जो बैठने योग्य नहीं है तो शीघ्र ही पक जाता है। शोफ दो प्रकार का है। एक आमशोफ दूसरा पक्व शोफ।

आमविदग्धविपक्व लक्षण

कठिनतरविशेषः स्यादिहामाख्यशोफो। ज्वरबहुपरितापोष्माधिकः स्याद्विदग्धः॥
विगतविषमदुःख स्याद्विवर्णो विपक्व। स्तमिह निश्चितशस्त्रेच्छेदनैः शोधयेत्तम्॥ 29॥

भावार्थ : विशेष रूप से जो शोफ कड़ा रहता है, उसे आमशोफ कहते हैं। जो ज्वर अधिक ताप (जलन) उष्णता आदियों से पीड़ित होता है, उसे विदग्ध कहते हैं। (जिस वक्त वह पक रहा हो, आम व पक्व के बीचमें होने वाली, यह अवस्था है) जिस के पूर्वोक्त ज्वर, पीड़ा आदि भयंकर दुःख नाश हो गए हों, शोथ भी विवर्ण (पहले का रंग बदल गया हो) हो गया हो उसे विपक्व कहते है, अर्थात् वह अच्छी तरह पका हुआ समझना चाहिए। इस पके हुए को तीक्ष्ण शस्त्र के प्रयोग से शुद्धि करना (पूय आदि निकालना) चाहिए।

अष्टविध शस्त्रकर्म व यंत्रनिर्देश

बहुविधमथशल्यं छेदनं भेदनं वा। प्यसकृदिह नियोज्यं लेखनं वेधनं स्यात्॥
अविदितशरशल्याद्येषणं तस्य साक्षात्। हरणमिह पुनर्विस्रावणं सीवनं च॥ 30॥
सकलतनुभृतां कर्मेव कर्माष्टभेदं। तदुचितवरशस्त्रैः तद्विधेयं विधिज्ञैः॥
विदितसकलशल्यान्यैमुद्धर्तुमत्राप्यविहतमुरुयंत्रं कंकवक्त्रं यथार्थम्॥ 31॥

भावार्थ : शरीर में नाना प्रकार के शल्य हो जाते हैं। उन शल्यों को निकालने के लिए यंत्र, शस्त्र, क्षार, अग्नि आदि के प्रयोग करना पड़ता है। जिस प्रकार समस्त प्राणियों में आठ प्रकार के कर्म होते हैं, उसी प्रकार शस्त्र कर्म के छेदन, भेदन, लेखन, वेधन, एषण, हरण (आहरण) विस्रावण, सीबन इस प्रकार आठ भेद है। विविध प्रकार के जो शस्त्र बतलाये हैं, उनमें से जिन-जिन की जहाँ जरूरत हो उनसे, शस्त्रकर्म में निपुण वैद्य छेदन आदि कर्मों को विधि के अनुसार करें। इसी प्रकार विधि रोग जिन अवस्थाओं में जिन शस्त्रकर्मों की जरूरत होती है, उनको बार-बार अवश्य प्रयोग करना चाहिए। शरीरगत सम्पूर्ण शल्यों (बाण अन्य कांटे आदि) को निकालने के लिए (सर्व यंत्रों से श्रेष्ठ कंकवक्त्र) जो कंकपक्षी के चोंच के समान हो) इस अन्वर्य नाम का धारक महान् यंत्र होता है, उसे भी तत्कार्यों में प्रयोग करें।

विशेष- शरीर में कोई कांटा घुसकर मनुष्य को तकलीफ देता है,उसी प्रकार बार- बार कष्ट पहुँचाने वाले, शरीर के अंदर गए हुए तृण, काष्ठ, पत्थर, लोहा, बाण हड्डी, सींग इत्यादि तथा नानाप्रकार के दुष्टव्रण, गुल्म, अश्मरी, मूढ़गर्भ इत्यादि सब शल्य कहलाते हैं। तात्पर्य यह है कि शल्य नाम कांटे का है। जो शल्य के समान दुःख देवें, वह सभी शल्य कहलाते हैं।

1. अर्श आदि को जो जड़ से छेदा जाता है, छेदन कहलाता है।
2. विद्रधि जैसों को फोड़ा जाता है, वह भेदन कहलाता है।
3. जो खुरचा जाता है, वह लेखन कहलाता है।
4. जिसका छोटे मुख वाले शस्त्रों से सिरा आदि वेध दिया जाता है, वह वेधन कहलाता है।
5. शरीरगत शल्य किस तरफ है, इत्यादि मालूम न पड़ने पर शलाका से डूंढा जाता है, वह

एषण कहलाता है।

6. शरीरगत शल्य अश्मरी आदि को बाहर निकाला जाता है, वह आहरण कहलाता है।

7. विद्रधि आदि व्रणों से मवाद आदि बहाया जाता है, वह विस्रावण कहलाता है।

8. उदर आदि चीरने के बाद जो सूईयों से सीया जाता है, वह सीवन कहलाता है।

शस्त्र- छुरी, चक्कू, कैंची आदि जो छेदन कामों में आते हैं।

यंत्र- शरीर में घुसे हुए, नाना प्रकार के शल्यों को पकड़ के बाहर खींचने व देखने के लिए, अर्श, भगंदर आदि रोगों में शस्त्र, क्षार, अग्नि कर्मों की योजना व शेष अंगों की (क्षार आदि के पतन से) रक्षा करने के लिए एवं बस्ति के प्रयोग के लिए, उपाय भूत जो वस्तु (लायन फोर्सेस, ड्रेसिंगफार्सेप्स, ट्युवुलर, स्कूप डूस आदि आजकल प्रचलित) विशेष हैं, वह यंत्र कहलाते हैं।

बाह्यविद्रधि चिकित्सा

बहिरूपगतवृद्धौ विद्रधौ दोषभेद। क्रमयुतविधिनात्रामादिषु प्रोक्तमार्गैः॥
स्रधिरपरिविमोक्षालेपबंधाद्यशेष-। व्रणविहितविधानैः शोधयेद्रोपयेच्च॥ 32॥

भावार्थ : विद्रदि यदि बाहिर हो तो दोषों के अनुसार जो शोफ के आम, विदग्ध, विपक्व अवस्थाओं में चिकित्सा बताई गई है वैसी चिकित्सा करें। रक्तमोक्षण, लेपन, बंधन आदि समस्त व्रण चिकित्सा में कहे गए, विधानों से उसका शोधन और रोपण करें।

अंतर्विद्रधिनाशक योग

वरूणमधुकीशिग्रवाख्याततत्कार्यमोघं। प्रशमयति महांतर्विद्रधिं सर्वदैव॥
सकलमलकलंकं शोधयेदत्यभीक्ष्णं। शुकमुखसितमूलं पाययेदुष्णतोयैः॥ 33॥

भावार्थ : वरणा, ज्येष्ठमधु, सेजिन इन औषधियों के प्रयोग से अंतर्विद्रधि उपशमन को प्राप्त होता है। शुकमुख (फल विशेष) धववृक्ष इनकी जड़ को गरम पानी में पीसकर पिलावें तो हमेशा, विद्रधि के मलकलंक की शुद्धि होती है।

विद्रधि रोगी को पथ्याहार

व्रणगतविधिनाप्याहारमुद्यत्पुराण। प्रवरविशदशालीनामिहान्नं सुपक्क॥
वितरतु घृतयुक्तं शुष्कशाकोष्णतोयैः। तदुचितमपि पेयं वा विलेप्यं सयूषम्॥ 34॥

भावार्थ : व्रण से पीड़ित रोगियों को जो हित आहार बतलाये, उनको इसमें (विद्रधि) भी देना चाहिए एवं इस रोग में पुराने धान्यों के अच्छी तरह पक्व हुए अन्न को खिलाना चाहिए। उसके साथ घी और शुष्क शाक एवं पीने के लिए उष्णजल देना चाहिए। इसके अलावा उसको योग्य अहित नहीं करने वाले पेय विलेपी या यूषको भी देना चाहिए।

अथ क्षुद्ररोगाधिकारः

क्षुद्ररोगवर्णन प्रतिज्ञा

पुनरपि बहुभेदान् क्षुद्ररोगाभिधानान्। प्रकटयितुमिहेच्छन् प्रारभेत प्रयत्नात्॥
विहितविविधदोषप्रोक्तसल्लक्षणौस्त। द्धितकरवरभैषज्यादिसंक्षेपमार्गैः॥ 35॥

भावार्थ :पहले क्षुद्र रोगों का वर्णन किया गया है। फिर भी यहाँ पर अनेक प्रकार के क्षुद्ररोगों को कहने की इच्छा से प्रयत्न के साथ उक्त अनेक दोषों के लक्षण एवं उन रोगों के लिए हितकर औषधियों का निरूपण करते हुए संक्षेप के साथ उन (क्षुद्ररोगों) का कथन प्रारंभ करेंगे।

अकथितरोगों की परीक्षा

न भवति खलु रोगो दोषाजालैर्विना यत्। तदकथितमपि प्राधान्यतस्तद्रुग्णानाम्॥
उपशमनविधानैस्साधयेत्साध्यमेवं। पुनरपि कथनं स्यात्पिष्टसंपेषणार्थम्॥ 36॥

भावार्थ : यह निश्चित है कि वात, पित्त कफ के बिना रोग उत्पन्न होता नहीं। इसलिए जिन रोगों का या रोग के भेदों का कथन नहीं किया है ऐसे रोगों में भी वात पित्तादिक विकारों के मुख्य (अर्थात् यह व्याधि वातज है ? पित्तज है ? या कफज। इत्यादि बातों की तत्तदोषों के लक्षणों से निश्चित कर)और गौणत्व का विचार कर योग्य औषधियों के प्रयोग से उनकी चिकित्सा करनी चाहिए। पुनः उसका कथन करना पिष्टपेषण दोष से दूषित होता है।

अजगल्लीलक्षण

परिणतफलरूपा तीक्ष्णपत्रस्य साक्षात्। कफपवनकृतेयं तोयपूर्णाल्परूक् च॥
जलमरूदुपयोगाब्दुब्दुदस्येव जन्म। त्वचि भवित शिशूनां नामस्तस्साजगल्ली॥ 37॥

भावार्थ : जिस प्रकार जल और वात के संयोग से बुदबुद की उत्पत्ति होती है,उसी प्रकार कफ और वात के विकार से बालकों की त्वचा में पानी से भरे हुए और कुछ वेदना सहित पिटक होते हैं, उन्हें अजगल्ली कहते हैं। उनका आकार पके हुए तुंबुरू फल के समान होता है।

आजगल्ली चिकित्सा

अभिनवजनितां तां ग्राहयेद्वा जलौका। मुपगतपरिपाकां संविदार्याशु धीमान्॥
व्रणविहिताविधानं योजयेद्योजनीयम्। कफपवननिहंतृद्रव्यवर्गप्रयोगैः॥ 38॥

भावार्थ : नवीन उत्पन्न अजगल्ली हो, जो कि पकी नहीं हो, जलौंक लगवाकर दुष्ट रक्त मोक्षण करके उपशम करना चाहिए। यदि वह पक गई हो तो बुद्धिमान् वैद्य को उचित है कि शीघ्र उसका विदारण करें और कफ व वात हर औषधियों के प्रयोग के साथ-साथ व्रण चिकित्सा में कहे गए शोधन रोपण आदि को करें।

अलजी, यव, विवृत लक्षण

अतिकठिनतरां मत्वालजीं श्लेष्मवातैः। पिशितगतविकारामल्पपूयामवक्त्रां।
यवमिति यवरूपं तद्वदंतर्विशालं। विवृतमपि च नाम्ना मण्डलं पित्तजातं॥ 39॥

भावार्थ : श्लेष्म वात के प्रकोप से मांस के आश्रित अल्प पू (पीप) सहित, मुखरहित अत्यन्त कठिन पिटक हैं, उन्हें अलजी कहते हैं। यव के आकार में रहने वाले (माँस के आश्रित कठिन) पिटकों को यव (यवप्रख्य) कहते हैं। उसी प्रकार पित्त के विकार से अंदर से विशाल, खुले (फटा) मुख वाला जो मंडल (चकता) होता है, उसे विवृत कहते हैं।

कच्छपिका वल्मीक लक्षण

कफपवनविकारात्पंचषगड्ग्रंथिरूपे। परिवृत्तमतिमध्यं कच्छपाख्यं स्वनाम्ना॥
तलहृदयगले संध्यूर्धजतृप्रदेशे। कफयुतबहुपित्तोभ्दूतवल्मीकरोगम्॥ 40॥

भावार्थ : कफ और वात के प्रकोप से पाँच अथवा छह ग्रंथि के रूप में जिनका मध्यभाग खुला नहीं है (कछुवे के पीठ के समान ऊँचा उठा हुआ है) ऐसे, जो पिटक होते हैं, उन्हें कच्छपपिटका (कच्छपिका) कहते हैं। हस्त व पादतल, हृदय, गला, सर्वसंधि, एवं जत्रुकारिथ (हंसली की हड्डी) से ऊपर के प्रदेश में कफयुक्त अधिक पित्त के प्रकोप से सर्प वामी के समान ग्रंथि (गांठ) होती है, उसे वल्मीकरोग कहते हैं।

इंद्रविद्धा, गर्दभिका, लक्षण

परिवृतपिटकाढ्यां पद्मसत्कर्णिकाभ्यां। कुपितपवनविद्धामिंद्रविद्धां विदित्वा॥
पवनरूधिरपित्तात्तद्वदुत्पन्नरूप। मतिकठिनसरक्तं मंडलं गर्दभाख्यम्॥ 41॥

भावार्थ : वात के प्रकोप से कमल की कर्णिका के समान, बीच में एक पिडिका हो उसके चारों तरफ गोल छोटी-छोटी फुंसियाँ हों, उसे इंद्रविद्धा कहते हैं। वात, पित्त व रक्त के प्रकोप से, इंद्रविद्धा के समान, छोटी-छोटी पिडिकाओं से संयुक्त कठिन व लाल मण्डल (चकता) होता है, उसे गर्दभ कहते हैं।

पाषाणगर्दभ, जालकाली लक्षण

हनुगतवरसंधौ तद्वदेवातिशोफम्। परूषविषमपाषणाधिकं गर्दभाख्यम्॥
तदुपमगतपाकं जालकालं विसर्प-। प्रति ममधिकपित्तोद्भतदाहज्वराढ्यम्॥ 42॥

भावार्थ : इसी प्रकार हनु की संधि (टोडी) में (वात, कफ से उत्पन्न) अति कठिन व विषम जो बड़ा शोध होता है, उसे पाषाणगर्दभ कहते हैं। पित्त के उद्रेक से उत्पन्न पाषाणगर्दभ आदि के समान जो नहीं पकती है, विसर्प के समान इधर-उधर फैलती है एवं दाह (जलन) ज्वर से युक्त होती है, ऐसी सूजन को जालकाली (जालगर्दभ) कहते हैं।

पनसिका लक्षण

श्रवणपरिसमंतादुन्नतामुग्नशोफां। कफपवननिमित्तां वेदनोद्भूतदुःखां॥
प्रबलपनसिकाख्यां साधयेदौषधैस्तां। प्रतिपदाविहितैस्तैः आमपक्व क्रमेण॥43॥

भावार्थ : कफवात के विकार से कान से चारों तरफ अत्यधिक सूजन होती है और वह वेदना से युक्त होती है, उसे पनसिका कहते हैं। उनको उनकी आम पक्व दशावों को विचार करके तदवस्थायोग्य बार-बार कही हुई औषधियों के प्रयोग से उनकी चिकित्सा करनी चाहिए।

इरिवेल्लिका लक्षण

शिरसि समुपजातामुन्नतां वृत्तशोफां। कुपितसकलदोषोद्भूतलिंगाधिवासाम्॥
ज्वरयुतपरितापां तां विदित्वेरिवल्ली। भुपशमनविशैषैः साधयेद्बालकानाम्॥44॥

भावार्थ : बालकों के मस्तक में ऊँची-ऊँची, गोल-गोल सूजन होती है और वह प्रकुपित समस्त (तीनों) दोषों के लक्षणों से युक्त होती है अर्थात् त्रिदोषों से उत्पन्न हैं और जिसमें ज्वर व ताप होता हैं, उसे इरिवल्ली समझकर उपशामक औषधियों से उसकी चिकित्सा करें।

कलालक्षण

करहृदयकटीपार्श्वांसकक्षप्रदेशे। परिवृतबहुपित्तोद्भूतविस्फोटकाः स्युः॥
ज्वरयुतवरकक्षाख्यां विदित्वेंद्रपुष्पं। मधुकतिलकलायालेपनान्यत्रकुर्यात्॥45॥

भावार्थ : हाथ, हृदय, कटी, पार्श्व, कंधा, कक्षा इन प्रदेशों में अत्यधिक पित्त के विकार से होने वाले विस्फोटक (फोड़ा) होते हैं। उनके साथ ज्वर भी यदि हो तो उसे कक्षा कहते हैं। लवंग, मधुक, तिल व मंजीठका लेपन करना इसमें उपयोगी है।

गंधनामा (गंधमाला) चिप्पलक्षण

अभिहितवरकक्ष्याकारविस्फोटमेकं। त्वचिभवमतिपित्तोद्भूतगंधाभिधानं॥
नखपिशितमिहाश्रित्यानिलः पित्तयुक्तो। जनयति नखसंधौ क्षिप्रमुष्णातिदुःखम्॥46॥

भावार्थ : ऊपर कथित कक्षा के समान त्वचा में जो एक विस्फोट (फोड़ा) होता है, उसे गंधनामा (गंधमाला) कहते हैं। वायु पित्त से युक्त होकर नाखून के माँस को आश्रित कर नाखून की संधि में शीघ्र ही अतीव दुःख को उत्पन्न करने वाले दाह व पाक को करता है, उसे चिप्प रोग कहते हैं।

अनुशयी लक्षण

कफपिशितमिहाश्रित्यांतरंगप्रपूयां। बहिरूपशमितोष्णामल्पसंरंभयुक्ताम्॥
विधिवदनुशयीं तामाशु शस्त्रेण भित्वा। कफशमनविशेषैः शोधयेद्रोपयेच्च॥47॥

भावार्थ : प्रकुपित कफ, मांस को आश्रय करके (विशेषकर पैरों) एक ऐसी पिडिका व सूजन को उत्पन्न करता है, जिसके अंदर तो मबाद हो, बाहर से शांत दिखें और जो थोड़ा दाह पीड़ा आदि से युक्त हो, उसे अनुशयी कहते हैं। उसको शीघ्र ही विधि के अनुसार शस्त्र से भेदन करके, कफ शमनकर औषधियों के प्रयोग से शोधन व रोपण करें (भरें)।

विदारिका लक्षण

त्रिभिरभिहितदोषैर्वंक्षणे कक्षदेशे। स्थिरतरगुरूशोफास्कंदवद्वा विदार्याः।
भवति तदभिधानख्यातरोगस्त्रिलिंग ॥ स्तमपि कथितमागैः सर्वदोषक्रमेण ॥ 48 ॥

भावार्थ : पूर्वकथित तीनों दोषों के प्रकोप से राङ व कक्षा प्रदेश (जोड़) में विदारीकंद के समान, गोल, स्थिर व बड़ा भारी शोथ उत्पन्न होता है। इसमें तीनों दोषों के लक्षण प्रकट होते हैं, इसका नाम विदारिका है। इसको भी पूर्वकथित दोष भेदों के अनुसार योग्य औषधि के प्रयोग से उपशमन करें।

शर्कराबुर्दलक्षण

कफपवनबृहन्मेदांसि मांसं सिरास्तत्। त्वचमपि सकलस्नायुप्रतानं प्रदूष्यः ॥
कठिनतरमहाग्रंथिं प्रकुर्वंति पक्वं। स्रवति मधुवसासर्पिः प्रकाशं स एव ॥ 49 ॥
तमधिकतरवायुर्विशोष्याशु मांसं। ग्रथितकठिनशुष्कं शर्कराद्यर्बुदं तं ॥
वितरति विषमं दुर्गधमुक्लेदिरक्तम्। सततमिह सिराभिः साम्रवं दुष्टरूपम् ॥ 50 ॥

भावार्थ : प्रकुपित कफ व वात, मेद, मांस, सिरा, त्वचा एवं संपूर्ण स्नायु समूह को दूषित कर, अत्यन्त कठिन ग्रंथि (गांठ) को उत्पन्न करते हैं। जब वह पककर फूट जावे तो, उसमें से शहद, चर्बी व घी के समान स्राव होने लगता है। इससे फिर वात अधिक वृद्धि होकर शीघ्र ही मांस को सुखाता है और ग्रंथित, कड़ी, व सूखी, बालू के समान बारीक गांठ को पैदा करता है। इससे शिराओं द्वारा,अतिदुर्गंध, क्लेदयुक्त रक्त हमेशा बहने लगता है तो उसे शर्करायुक्त कहते हैं।

विचर्चिका, वैपादिका, पामा, कच्छु, कदर, दारी, रोग लक्षण

विधिविहितविचर्चीभेदरूपान्विपादी। विरचितवरपामालक्षणान्कच्छुरोगान् ॥
बहुविधगुणदोषाद्रुक्षपादद्वयेऽस्मिन्। कदरमिति तले ब्रूयुर्दरीः तीव्ररूपाः ॥ 51 ॥

भावार्थ : विचर्चिका, इसी का भेदभूत विपादिका (वैपादिक) पामा, कच्छु इन रोगों का वर्णन कुष्ठ प्रकरण में क्रम प्रकार कर चुके हैं, इसलिए यहाँ भी वैसा ही लक्षण जानना चाहिए। पैरों में कंकर छिदने से, कांटे लगने से, बेर अथवा कील के समान जो गांठ होती है, उसे कदर (ठेक) कहते हैं। जो पुरुष अधिक चलता रहता है, उसके पैरों में वायु प्रकुपित होकर उनको रूक्ष करता है और फाड़ देता

है, इसे दारी या पाददारी कहते है। इसका स्वभाव तीव्र होता है।

इंद्रलुप्तलक्षण

पवनसहितपित्तं रोमकूपस्थितं तत्। वितरति सहसा केशच्युतिं श्वेततां च॥
कफरूधिरनिरूद्धात्मीयमार्गेषु तेषां। न भवति निजजन्मात्तच्च चाचेंद्रलुप्तं॥ 52॥

भावार्थ : वात से युक्त पित्त जब रोमकूपों में प्रवेश करता है, तब केशच्युति व केश में सफेदपना हो जाता है। पश्चात् कफ और रक्त के द्वारा रोमकूप (रोमों के छिद्र) रोके जाते हैं, तो फिर नये रोमों की उत्पत्ति नहीं होती है। इसे इंद्रलुप्त (चाई) रोग कहते हैं।

जतुमणि लक्षण

सहजमथ च लक्षोत्पन्नसन्मण्डलं तत्। कफरूधिरनिमित्तं रक्तमज्ञातदुःखम्॥
शुभमशुभमितीत्थम् तं विदित्वा यथाव। ज्जतुमणिरपनेये स्थापनियो भिषग्भिः॥ 53॥

भावार्थ : कफ व रक्त के प्रकोप से, जन्म के साथ ही उत्पन्न मण्डल के समान जो गोल व रक्तवर्ण युक्त चिह्न होता है जिससे किसी भी प्रकार का दुःख नहीं होता है, उसे जतुमणि कहते हैं। (इसको देश भाषा में लहसन कहते है) कोई जतुमणि किसी को शुभफलदायक और कोई अशुभदायक होता है। इसलिए इसमें जो शुभ फलदायक है उसको वैसे ही छोड़ें (किसी भी प्रकार की चिकित्सा न करें) जो अशुभफलदायक है, उसको औषधि आदि प्रयोग से निकाल देवें।

व्यंग लक्षण

कुपितरूधिरपित्ताद्वातिरोषातिदुःखा। ड्डहनतपनतापाद्वा सदा क्लेशकोपात्॥
पवनकृतविशेषादानने स्वच्छमल्पं। त्वचि भवति सुकृष्णं मंडलं व्यंगसंज्ञम्॥ 54॥

भावार्थ : रक्त व पित्त के उद्रेक से, अतिरोष करने से, अत्यन्त दुःख करने से, अग्नि और धूप से तप जाने से, सदा मन में क्लेश होने से, वात के प्रकोप से मुख में जो काला मण्डल (गोल चिह्न) उत्पन्न होता है, उसको व्यंग (झांई) कहते हैं।

माषतिलम्यच्छ लक्षण

पवनरूधिरजातं माषवन्माचसंज्ञम्। समतमतिकृष्णं सत्तिलाभं तिलाख्यं॥
सितमसितमिहाल्पं वा महत् नीरुजं तं। मुखगतमपरं तद्देहजं न्यच्छमाहुः॥ 55॥

भावार्थ : वातरक्त के विकार से शरीर में उड़द के आकार में होने वाले मण्डलों को माष (मस्सा) कहते हैं। समतल होकर अत्यन्त काले जो तिल के समान होते हैं, उन्हें तिल कहते हैं और काला या सफेद, छोटा या बड़ा, मुख में या अन्य अवयव में, पीड़ा रहित जो दाग या चकते होते हैं,

उन्हें न्यच्छ कहते हैं।

नीलिका लक्षण

तदिह भवति गात्रे वा मुखे नीलिकाख्यं। बृहदुस्तरकृष्णं पित्तरक्तानिलोत्थम्॥
तदनुविहितरक्तोन्मोक्षणालेपनाद्यैः। प्रशमनमिह सम्यग्योजयेदात्मबुध्या॥ 56॥

भावार्थ : पित्तरक्त व वात के विकार से या मुख में बड़े-बड़े काले जो मण्डल होते है, उन्हें नीलिका कहते है। उसके लिए अनुकूल रक्तमोक्षण लेपन आदि प्रशमन विधियों का प्रयोग करके वैद्य अपनी बुद्धि से चिकित्सा करें।

तारुण्यपिडका लक्षण

तरुणपिटकिकास्ताः श्लेष्मजाः यौवनोत्थाः।बहलविरलरूपाः संभवंत्याननेऽस्मिन्॥
मनियुतमुनिभिस्साध्याः कफघ्नैः प्रलेपैरनवरतमहान्स्यप्रयोगैरनेकैः॥ 57॥

भावार्थ : श्लेष्म विकार से यौवन के मद से मुख में जो पिडका होते हैं, जो कुछ मोटे व विरल (थोड़े) होते हैं, उन्हें तारुण्यपिडका कहते हैं। उनको योग्य कफहर लेपन, नस्यप्रयोग आदि उपायों से जीतना चाहिए, ऐसा बुद्धिमान मुनियों ने कहा है।

वर्तिका लक्षण

कृपितपवनदोषाद्येनकेनाभिघाता। त्प्रजनन मुख चर्मालंबमानः प्रसूनम्॥
जलमिह निरूणद्धि प्रस्रवं कृच्छ्रकृच्छ्रात। प्रसरति बहुदुःखं वर्तिकाख्यं तमाहुः॥ 58॥

भावार्थ : वातदोष के उद्रेक होने से या किसी के आघात से मुख का चर्म लंबा हो जाता है, उसमें पूय भरकर थोड़ी बहुत कठिनता से उसका स्राव होता है व अत्यधिक वेदना होती है, उसे वर्तिका नाम रोग कहते हैं।

सन्निरूद्धगुद लक्षण

मलमलमतिवेगाघ्राणशीलैर्मनुष्यैः। प्रतिदिनमिह रूद्धं तत्कोत्याशु सूक्ष्मं॥
गुदमुखमतिवातात्कष्टमेतद्विशिष्टैः। परिहृतपरिदुःखं सन्निरूदं गुदाख्यम्॥ 59॥

भावार्थ : जो मल के वेग को धारण करते रहते हैं, तब अपानवायु प्रकुपित होकर उनके गुदा को रोक कर (गुदाकर के चर्म को संकोचित करके) गुदा के द्वार को छोटा कर देता है। जिससे अत्यन्त कष्ट के साथ मलविसर्जन होता है। इसे सन्निरूद्ध गुद कहते हैं। यह अतीव दुःख को देने वाला कठिन रोग है।

अग्निरोहिणी लक्षण

त्रिकगलकरपार्श्वांघ्रिप्रदेशेषु जातां। दवदहनशिखाभामंतकाकारमूर्तिम्॥
कुपितसकलदोषामग्निरोहिण्यभिख्यां। परिहर पिटकाख्यां पक्षमात्रावसानाम्॥60॥

भावार्थ : त्रिक (पीठ के बांस के नीचे की वह जोड़ जहाँ तीन हाड़ मिले है) गला, हाथ, पार्श्व, व पाद इन प्रदेशों में समस्त दोषों के कुपित होने से उत्पन्न दावानल की शिखा के समान दाहसहित, यम के समान रहने वाले पिडका को अग्निरोहिणी कहते हैं। यह अत्यन्त भयंकर है। इसे वैद्य छोड देवें अर्थात् इसकी चिकित्सा न करे। वह रोगी ज्यादा से ज्यादा 15 दिन तक जीयेगा।

स्तनरोग चिकित्सा

स्तनगतबहुरोगान् दोषभेदादुदीक्ष्य। श्वयथुमपि विचार्यामं विदग्धं विपक्वं॥
क्रमयुतविधिना साध्यं भिषक् साधयेत्तत्। विषमकृतविशेषाशेषभैषज्यमार्गेः॥61॥

भावार्थ : स्तनगत अनेक रोगों को दोषों के भेद के अनुसार देखकर उनकी चिकित्सा करनी चाहिए। यदि शोफ (स्तनविद्रधि आदि)भी हो तो उसके आम विदग्ध, विपक्क भेदों को विचार कर आमादि अवस्थाओं में पूर्वोक्त विलयन पाचन, विदारण आदि तत्तद्योग्य चिकित्सा को, अनेक योग्य नाना प्रकार के औषधियों द्वारा करें।

क्षुद्ररोगों की चिकित्सा का उपसंहार

इति कथितविकल्पान् क्षुद्ररोगानशेषा। नभिहितवरभैषज्यप्रदेहानुलेपैः॥
रूधिरपरिविमोक्षैः सोपनाहैरनेकै-। स्तदनुविहितदोषप्रक्रमैः साधयेत्तान्॥62॥

भावार्थ : इस प्रकार अभी तक वर्णित नानाभेद से विभक्त संपूर्ण क्षुद्र रोगों को उनके कारण लक्षण आदि जानकर उन दोषों के अनुसार पूर्वकथित योग्य प्रदेह, लेपन, रक्तमोक्षण, उपमाहन आदि विधियों से उनकी चिकित्सा करें।

सर्वरोगचिकित्सा संग्रह

पृथगपृथगपि प्रख्यातदोषैः सरक्तै। रिहबहुविधमार्गाः संभवंत्युद्धतास्ते।
सहजनिजविकारान् मानसान् सोपसर्गान्॥ अपि तुदचित्तमार्गैस्साधयेद्युक्तियुक्तैः॥63॥

भावार्थ : वात, पित्त, कफ, अलग (एक) व दो-दो या तीनों एक साथ मिलाकर, अथवा रक्त को साथ लेकर, स्व-स्व कारणों से प्रकुपित हो जाते हैं और वे प्रकुपित दोष शरीर के अनेकविध मार्गों को अर्थात् नाना प्रकार के अंगोपांग आदि को अश्रित कर, शारीरिक, मानसिक, औपसर्गिक, सहज आदि रोगों को उत्पन्न करते हैं। उनको (अच्छी तरह से जानकर) युक्ति से युक्त, तत्तद्योग्य चिकित्सा द्वारा जीतें।

नाड़ी व्रण निदान व चिकित्सा

प्रपूर्णपूयः श्वयथुः समाश्रयो। विदार्य नाडीं जनयत्यपुपेक्षितम्॥
स्वदोषभेदादाव गम्य तामपि। प्रसादयेच्छोधनतैलवर्तिभिः॥ 64॥

भावार्थ : मवाद से भरे हुए व्रण को शोध करने में उपेक्षा करें अर्थात् पीड़न शोधन आदि के द्वारा मवाद को न निकालें तो वह मवाद त्वचा, माँस सिरा, स्नायु, आदि को भेद कर अन्दर अन्दर गहरा प्रवेश करने लगता है। इसको नाडीव्रण (नासूर) कहते हैं। (इसकी गति नाड़ी (नली) के समान, एक मार्ग से होने के कारण इसे नाडीव्रण कहा गया है) इस नाड़ी व्रण को भी उसके दोष भेदों को (इसके लक्षणों से) जानकर उनके योग्य शोधन तैल से भिगोयी गई बत्तियों के प्रवेश आदि के द्वारा ठीक करना चाहिए।

मुखकांतिकारक घृत

काश्मीरचन्दकुंचंदनलोध्रकुष्ठ। लाक्षाशिलालरजनीद्वयपद्ममध्यं।
मंजिष्ठिकाकनकगैरिकया च सार्धं। काकोलिकाप्रभृति मृष्टगुणं सुपिष्टं॥ 65॥
तस्माच्चतुर्गुणघृतेन सुगंधिनाति। यत्नाद्धृतद्विगुणदुग्धयुतं विषाच्य॥
व्यालेपयेन्मुखमनेन घृतेन तज्ज्ञान्। रोगान्व्यपोह्य कुरूते शशिसन्निभं तम्॥ 66॥

भावार्थ : केसर, चंदन, लालचंदन, लोध, कूट, लाख, मैनसिल, हरताल, हलदी, दारुहल्दी, कमलकेसर, मंजीठ, सोनागेरू, काकोली, क्षीर काकोली, जीवक ऋषभक, मेदा, महामेदा, बुद्धि, ऋद्धि इन औषधियों को चतुर्गण (चौगुना) सुगंधित घी, घी से द्विगुण (दुगुना) दूध इनसे प्रयत्न पूर्वक घृत सिद्ध करें। इस घृत को (snow) मुख पर लेपन करने से मुख में उत्पन्न व्यंग, नीलिका आदि समस्त रोग नाश होकर मुख चंद्रमा के समान कांतियुक्त होकर सुंदर हो जाता है।

मुख्य क्रांतिकारक लेप

तालं मनश्शिलंयुतं वटपत्रयुक्तं। श्वेताभ्रसूतसहितं पयसा सुपिष्टं॥
आलिप्यवक्त्रममलं कमलोपमानं। मान्य मनोनयनहारि करोति मर्त्यः॥ 67॥

भावार्थ : हरताल, मैनसिल, वटपत्र, सफेद अभ्रक, पारद इनको दूध के साथ अच्छी तरह पीसकर मुख पर लेपन करें, तो मुख कमल के समान बन जाता है और सबका मन व नेत्र को आकर्षित करता है।

अंतिम कथन

इति जिनवक्त्रनिर्गसुशास्त्रमहांबुनिधेः। सकलपदार्थविस्तृततरंगकुलाकुलतः॥
उभयभवार्थसाधनतटद्वयभासुरतो। निसृतमिदं हि शीकरनिभं जगदेकहितम्॥ 68॥

भावार्थ : जिसमें सम्पूर्ण द्रव्य, तत्त्व व पदार्थरूपी व तरंग उठ रहे हैं, इहलोक परलोक के लिए प्रयोजनभूत साधनरूपी जिसके दो सुंदर तट हैं, ऐसे श्रीजिनेन्द्र के मुख से उत्पन्न शास्त्रसमुद्र से निकली हुई बूँद के समान यह शास्त्र है। साथ में जगत् का एक मात्र हितसाधक है (इसलिए ही इसका नाम कल्याणकारक है)

इत्युग्रादित्याचार्यकृत कल्याणकारके चिकित्साधिकारे

क्षुद्ररोगचिकित्सितं नामादिश्चतुर्दशः परिच्छेदः।

इत्यग्रदित्याचार्यकृत कल्याणकारक ग्रन्थ के चिकित्साधिकार में विद्यावाचस्पतीत्युपाधिविभूषित **वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री** द्वारा लिखित **भावार्थदीपिका टीका** में क्षुद्ररोगाधिकार नामक **चौदहवां परिच्छेद** समाप्त हुआ ।

अथ पंचदश परिच्छेदः

अथ शिरो रोगाधिकारः

मंगलाचरण

श्रियः प्रदाता जगतामधीश्वरः। प्रमाणनिक्षेपनयप्रणायकः।

निजोपमानो विदिताकष्टकर्मृजि। ज्जयत्यजेयो जिनवल्लभोऽजितः॥1॥

भावार्थ : अंतरङ्ग–बहिरङ्ग संपत्ति को प्रदान करने वाले, जगत् के स्वामी, प्रमाण निक्षेप व नय को प्रतिपादक करने वाले, किसी से जेय नहीं ऐसे श्री अजित जिनेश्वर जयवंत रहें।

शिरोरोग कथन प्रतिज्ञा

प्रणम्यं तं पापविनाशिनं जिनं । ब्रवीमि रोगानखिलोत्तमांगान् ॥

प्रतीतसल्लक्षणसच्चिकित्सितान्। प्रधानतो व्याधिविचारणान्वितान्॥ 2॥

भावार्थ : पाप को नाश करने वाले श्री अजितनाथ को प्रणाम कर लक्षण, चिकित्सा व व्याधि विचारण पूर्वक शिरोगत रोगों का कथन करेंगे, इस प्रकार आचार्य प्रतिज्ञा करते हैं।

शिरो रोगों के भेद

शिरोरूजो वातबलासशोणित। प्रधानपित्तैरखिलैर्ब्रवीम्यहम् ॥

स सूर्यवर्त्तार्धशिरोभेदकैः। सशंखकेनापि भवंति देहिनाम्॥3 ॥

भावार्थ : मनुष्यों के शिर में वात, पित्त, कफ, रक्त, सन्निपात से, पित्तज, कफज, रक्तज, सन्निपातज शिरोरोग उत्पन्न होते हैं एवं तत्तद्दोषों के प्रकोप से, सूर्यावर्त, अर्धावभेदक, शंखक नामक

---

1. इन शिरोरोगों में वातादि दोषों के लक्षण प्रकट होते है।

   वातिकलक्षण – जिसका शिर अकस्मात् दुखे, रात्रि में अत्यधिक दुखे बंधन, सेक आदि से शांति हो उसको वातज शिरोरोग जानना चाहिए।

   पित्तज – जिसमें मस्तक अग्नि के समान अधिक उष्ण हो, आँख नाक में जलन होता हो एवं शीतल पदार्थ के सेवन से रात्रि में उपशमन होता हो उसे पित्तोत्पन्न, मस्तकशूल जानना चाहिए।

   कफज – जिसका मस्तक के भीतर का भाग कफ से लिप्त होवे, भारी, बंधा सा एवं ठंडा होवे, नेत्र के कोये व मुख सूज गये हों तो उसे कफोत्पन्न शिरोरोग जानना चाहिए।

   सन्निपातज – उपरोक्त तीनों दोषों के लक्षण एक साथ प्रकट हों तो सन्निपातज शिरोरोग जाना चाहिए।

   रक्तज – रक्तज शिरोरोग में पित्तज शिरोरोग के संपूर्ण लक्षण मिलते हैं एवं मस्तक स्पर्शासह हो जाता है।

शिरोरोगों की उत्पत्ति होती है।

कृमिज, क्षयज शिरोरोग

क्रिमिप्रकारैर्दलतीव तच्छिरो। रूजत्यसृड्.नासिकया सृजत्यलं।
स्वदोषधातुक्षयतः क्षयोद्भव-। स्तयोर्हितं तत्क्रिमिदोषवर्धनम् ॥ 4॥

भावार्थ : मस्तक के अंदर नाना प्रकार की कृमियों की उत्पत्ति से शिर में दलन के समान है, ऐसी पीड़ा होती है, नाक से खून, पूय आदि बहने लगते हैं। इसे कृमिज शिरोरोग जानना चाहिए। मस्तकगत वात-पित्त-कफ व वसा रक्त आदि धातुओं के क्षय से क्षयज[1] शिरोरोग की उत्पत्ति होती है। कृमिज शिरोरोग में कृमिनाशक नस्य आदि देना चाहिए। क्षयज शिरो रोग में दोष व धातुओं को बढ़ाने वाली चिकित्सा करनी चाहिए।

सूर्यावर्त, अर्धावभेदक लक्षण ।

क्रमक्रमाद्वृद्धिमुपैति वेदना। दिनार्धतोऽसौ व्रजतीह सूर्यवत् ॥
शिरोऽर्धमर्धं क्रमतो रूजत्यलं। ससूर्यवत्तोर्धशिरोऽवभेदकः॥5 ॥

भावार्थ : सूर्य जिस प्रकार बढ़ जाता है, उसी प्रकार से सुबह से शिर की दर्द मध्याह्न समय तक बढ़ता जाता है और सूर्य के उतरते समय वह वेदना भी उतरती जाती है। उसे सूर्यावर्त शिरोरोग कहते है। शिर के ठीक अर्धभाग में जो अत्यधिक दर्द होती है, उसे अर्धावभेदक कहते है।

शंखक लक्षण

स्वयं मरूद्वा कफपित्तशोणितैः समन्वितो वा तु शिरोगतोऽधिकः॥
सशीतबाताद्भुतदुर्दिने रूजां। करोति यच्छंखकयोर्विशेषतः॥ 6॥

भावार्थ : एक ही वात अथवा, कफ, पित्त व रक्त से युक्त होकर, शिर का आश्रय करता है, तो वह जिस दिन शीत अत्यधिक हो, ठण्डी हवा चल रही हो, आकाश मेघ से आच्छादित हो उस दिन शिर में, विशेषकर कनपटी में पीड़ा को उत्पन्न करता है, इसे शंखक शिरोरोग कहते हैं।

रक्तपित्तज, वातकफज शिरोरोग के विशिष्टलक्षण

दिवातिरूक् शोणितपित्तवेदना । निशासु शांतिं समुपैति सर्वदा ।
मरूत्कफौ रात्रिकृतातिवेदना । विह प्रसन्नावहनि स्वभावतः ॥ 7 ॥

भावार्थ : रक्त पित्त के विकार से होने वाली शिरो पीड़ा दिन में अत्यधिक होती है और रात्रि

1. इसका लक्षण यह है कि छींक अधिक आती है। शिर ज्यादा गरम होता है। असह्य पीड़ा होती एवं स्वेदन, वमन, धूम्रपान, नस्य, रक्त मोक्षण, इनसे वृद्धि को प्राप्त होता है।
2. और कनपटी में, तीव्रदाह व सूजन होती है। जिस प्रकार विष के वेग से गला रुक जाता है, उसी तरह इसमें भी गला रुक जाता है। यह रोग तीन दिन के अन्दर मनुष्य का प्राणघात करता है।

में पीड़ा शांति होती है। वात और कफ के विकार से होने वाली पीड़ा रात्रि में तो अधिक है और दिन में वे दोनों रोगी प्रसन्न रहते हैं।

शिरोरोग चिकित्सा

विशेषतो दोषगतिं विचार्य ता-। नुपाचरेदुग्रशिरोगतामयान् ।

सिराविमोक्षैः शिरसो विरेचनैः। प्रतापबंधैः कबलैः प्रलेपनैः ॥ 8 ॥

भावार्थ : इन भयंकर शिरोरोगों के दोषों की प्रधानता अप्रधानता आदि का विचार करके (जिस दोष से शिरोरोग की उत्पत्ति हुई हो उसके अनुकूल) सिरा मोक्षण, शिरो विरेचन, तापन, बंधन, कवलधारण, लेपन आदि विधियों से उनकी चिकित्सा करनी चाहिए।

क्रिमिज शिरोरोगघ्न योग ।

विजालिनीबीजवचाकटुत्रिकैः। सशिग्रुनिंबास्थिविडंगसैंधवैः ।

सकुंगुतेलैरिह नस्यकर्मतः। क्रिमीन् शिरोजानपहंति सर्षपैः ॥ 9 ॥

भावार्थ : बिजालिनी बीज, बचा, सेंजन, सोंठ, मिरच, पीपल का बीज, नींबू की गिरी, वायविडंग, सैंधानमक, सरसों मालकांगनी के तेल में मिलाकर अथवा इन औषधियों से मालकांगनी के तैल को सिद्ध करके नस्यकर्म करने से शिर में उत्पन्न समस्त क्रिमियों को दूर करता है।

शिरोरोग का उपसंहार

दशप्रकारान् शिरसो महामयान्। विधाय साध्यान् विषमोरूशंखकान् ॥

अंतःपरं कर्णगतानशेषतो। ब्रवीमि संक्षेपविशेषलक्षणैः ॥ 10 ॥

भावार्थ : दस प्रकार के विषम शंखक आदि शिरोरोगों के लक्षण व चिकित्सा को निरूपण करके अब कर्णगत समस्त रोगों को संक्षेप में विशेष लक्षणों के साथ कहेंगे।

अथ कर्णरोगाधिकारः

कर्णशूल कर्णनाद लक्षण

अथानिलः कर्णगतोऽन्यथा चरन् । करोति कर्णाधिकशूलमुद्धतम् ॥

स एव शद्वाभिवहास्तिसराश्रितः प्रणादसंज्ञःकुरुतेऽन्यथा ध्वनिम्॥ 11 ॥

भावार्थ : कर्णगत वायु प्रकुपित होकर उल्टा फिरने लगता है तो कानों में तीव्र शूल उत्पन्न होता है। इसे कर्णशूल कहते हैं। वही कर्णगत वायु प्रकुपित होकर शब्दवाहिनी सिराओं को प्राप्त करता है, तो कानों में नाना तरह के, मृदंग, भेरी, शंख आदि के शब्द के समान विपरीत शब्द सुनाई पड़ता है। इसे कर्णप्रणाद या कर्णनाद कहते हैं।

बधिर्यकर्ण व क्षोद लक्षण

स एव वातः कफसंयुतो नृणां। करोति बाधिर्यमिहातिदुःखदम् ॥
विशेषतः शुद्धपथे व्यवस्थितो। तथा तितक्षोद समुद्रघोषणम् ॥12॥

भावार्थ : वही प्रकुपित कर्णगत वायु कफ के साथ संयुक्त होकर जब शद्ववाहिनी शिराओं में ठहर जाता है, तो कान को बधिर(बहरा)कर देता है। वही वायु अन्य दोषों से संयुक्त होकर शब्द वाहिनी सिराओं में ठहरता है तो कान में समुद्रघोष जैसा शब्द सुन पड़ता है। इसे कर्णक्षोद कहते है।

कर्णस्राव लक्षण ।

जलप्रपाताच्छिरसोऽभिघाततः। प्रपाकतस्तत्पिटकादिविद्रधेः।
अजस्रमास्रावमिहास्रवत्यलं। स कर्णसंस्राव इति स्मृतो बुधैः ॥13॥

भावार्थ : जल के पात से (गोता मारने) सिर को चोट आदि लगने से, पिटिका विद्रधि आदि के उत्पन्न होकर पककर फूट जाने से, सदा कान से मवाद बहता है, उसे कर्णसंस्राव रोग कहते हैं।

पूतिकर्ण कृमिकर्ण लक्षण ।

सपूतिपूयः श्रवणात्स्रवेद्यदा । स पूतिकर्णो भवतीह देहिनम् ॥
भवंति यत्र क्रिमयोऽतिदारुणाः। स एव साक्षात्क्रिमिकर्णको भवेत् ॥14॥

भावार्थ : कान से जब दुर्गंध मवाद बहने लगता है, उसे पूतिकर्ण कहते है। जिसमें अत्यन्त भयंकर क्रिमियों की उत्पत्ति होती है, उसे क्रिमिकर्णक रोग कहते हैं।

कर्णकण्डू, कर्णगूथ, कर्णप्रतिनाद के लक्षण

कफेन कण्डूः श्रवणेषु जायते । स एव शुष्को भवतीह गूथकः ॥
स गूथ एव द्रवतां गतः पुनः । पिधाय कर्ण प्रतिनादमावहेत् ॥ 15 ॥

भावार्थ : कान में कफ संचित होने से खुजली चलने लगती है। इसे कर्णकण्डू कहते हैं। वही कफ जब कान में (पित्त के उष्ण से) सूख जाता है, उसे कर्णगूथ कहते हैं। वह कर्णगूथ जब द्रव होकर कान को ढक देता है तो इसे कर्णप्रतिनाद (प्रतिनाह) कहते हैं।

कर्णपाक, विद्रधि, शोध, अर्श का लक्षण ।

सुपक्क भिन्नादिकविद्रधेर्वशात्। स कर्णपाकाख्यमहामयो भवेत्॥
अथापरे चार्बुदशोफविद्रधि। प्रधानदुर्नामगणा भव्वंत्यपि॥16॥

भावार्थ : कान में विद्रधि उत्पन्न होकर अच्छी तरह पककर फूट जाता है, तो कान गीला व सड़ जाता है, इसे कर्णपाक कहते हैं। इसी प्रकार कान में अर्बुद, शोथ बिद्रधि, अर्श (बबासीर) समूह उत्पन्न होते हैं। इनको उन्हीं नामों से पुकारा जाता है जैसे कर्णार्बुद कर्णविद्रधि आदि।

वातज कर्णव्याधिचिकित्सा

अतःपरं कर्णगतामयेषु तत् । चिकित्सितं दोषवशाद्विधीयते ॥
अथानिलोत्थेष्वनिलघ्नभेषजै । र्विपक्व तैलैरहिमैर्निषेचयेत् ॥ 17 ॥

भावार्थ : अब कर्णरोगों की दोषों के अनुसार चिकित्सा कही जाती है। यदि वात विकार से उत्पन्न हो तो वातहर औषधियों से पकाये हुए गरम तेल को कान में छोड़ देवें।

कर्ण स्वेदन

निषिक्तकर्णं पुनरुष्णतापनैः प्रतापयेद्धान्यगणेष्ठिकादिभिः ॥
प्रणालिकास्वेदनमेव वा हितं । सपन्नभाण्डेऽ ग्नियुते निधापयेत्॥ 18॥

भावार्थ : तेल सेचन करने के बाद उष्ण धान्यगण (धान्यों की पोटली बांधकर उससे) व ईंट आदि से कान को सेंकना चाहिए। अथवा नली स्वेदन भी इसके लिए हितकर है। पत्रसहित अग्नि(गरम) युक्त बर्तन में कान को रखें व स्वेदन करें।

घृतपानआदि

पिबेत्स सर्पिः पयसा समन्वितं । सुखोष्णमस्योपरि कर्णरोगवान् ॥
बलाख्यतैलेन शिरोवितर्पणं । सनस्यकर्मात्र निषेचनं हितं ॥ 19॥

भावार्थ : अत्यधिक कर्ण रोग वाला कुछ गरम घी के साथ दूध मिलाकर पीवें। बला तैल शिर में लगावें, अथवा तैल में भिगोये गए पिचु को शिर पर रखें। तो कर्ण रोग दूर होता है। इसमें नस्यकर्म व कान में तैल डालना भी हितकर है।

कर्णरोगांतक घृत

सपेचुकांकोलफलार्द्रकाद्रवै । रहिस्रया शिग्रुरसेंद्रदारूभिः ।
सवेणुलेखैर्लशुनैस्सरामठैः। ससैंधवैर्मूत्रगणैः कटुत्रिकैः ॥ 20 ॥
पृथक् समस्तैः कथितौषधैर्बुधः। पचेद्धृतं तैलसमन्वितं भिषक् ॥
प्रपूरयेत्कर्णमनेन सोष्मणा-। निहंति तत्कर्णगताखिलामयान् ॥ 21 ॥

भावार्थ : केमुक (पेचुका) अंकोल का फल, अद्रक का रस, जटामासी, सेंजन का रस, देवदारू, बासका त्वचा, हींग, सैंधानमक, सोंठ, मिरच, पीपल इनको अलग-अलग अथवा मिले हुए औषधियों के क्वाथ व कल्क और आठ प्रकार के मूत्र, इनसे घृत व तैल को बराबर लेकर सिद्ध करें। फिर उस तेल को थोड़ा गरम कर कान में भरें तो, कर्णगत समस्त रोगों को नाश करता है।

कफाधिक कर्णरोग चिकित्सा

सशिग्रुमूलार्द्रकसद्रसेन वा। ससैंधवेनोष्णतरेण पूरयेत्॥
अजांबुना वा लशुनार्कसैंधवैः। कफाधिके कर्णगतामये भृशम्॥ 22॥

भावार्थ : सेजन के मूल का रस, अद्रक का रस इसमें सैंधानमक मिलाकर गरम करें, फिर उसे कान में छोड़ें। अथवा बकरी के मूत्र में लसून, अकौवा रस व सैंधानमक मिलाकर कुछ गरम कर कान में भरें। इनसे कफ के विकार से उद्रिक्त कर्णरोग उपशम हो जायेगा।

कृमिकर्ण, कर्णपाकचिकित्सा ।

सनिंबतैलैर्लवणैस्सुपूरयन्। क्रिमिप्रगाढे क्रिमिनाशनो विधिः॥
विधियतां पूरणमेभिरेव वा। सुकर्णपाके क्षतवद्विसर्पवत् ॥ 23॥

भावार्थ : अधिक कृमियुक्त कर्णरोग में निंबतैल सैंधानमक से कान को भरना चाहिए। एवं क्रिमिनाशक उपाय भी करना चाहिए। कर्णपाक में क्षत व विसर्प के समान इन्हीं औषधियों को कान में भरकर चिकित्सा करनी चाहिए।

कृमिनाशक योग

त्रिबुद्धरिद्रानृपवृक्ष वृक्षकैः। प्रपक्व तोयैः श्रवणप्रधावनम्॥
प्रदीपिकातैलमपि प्रयोजितं। किमीन्निहंत्युरातिवेदनान् ॥ 24॥

भावार्थ : निसोथ, हल्दी, अमलतास, कुड़ा की छाल, इनके द्वारा पकाये हुए कषाय से कान को धोवें एवं दीपिका[1] तैल को भी कान में भरें तो कृमि व भयंकर शूल भी नाश होता है।

कर्णगत आगंतुमल चिकित्सा

बलाधिकं यन्मलजातमंतरे। व्यवस्थितं कर्णगतं तदा हरेत्॥
अलाबुशृंगान्यमेन यत्नतो। बली सदा चूषणकर्मकोविदः ॥ 25॥

भावार्थ : कान के छेद में (बाहर से आकर) खूब मल जम गया हो तो उसे यदि रोगी बलवान हो तो चिकित्सा (चूषणकर्म) कार्य में निपुण वैद्य को उचित है कि अत्यन्त सावधानी से तुंबी अथवा सींगे लगाकर अथवा शलाका से निकाले (कान में कीड़ा घुस गया तो उसे भी इसी प्रकार निकाले)।

पूतिकर्ण, कर्णस्राव, कर्णार्श, विद्रधि, चिकित्सा

सपूतिपूयास्रवसंयुते द्रवं । प्रपूरयेत् शोधनतैलमीरितं ॥
अथार्शसामप्यथ विद्रधीष्वपि। प्रणीतकर्माण्यसकृत्प्रयोजयेत् ॥ 26 ॥

भावार्थ : दुर्गंध स्राव बहने वाले कर्णरोग में औषधियों के द्रव को भरना अथवा पूर्व कथित शोधन तैल को भरना हितकर है एवं अर्श और विद्रधि रोग में जो चिकित्सा क्रम बतलाया है, उनका प्रयोग कर्णगत अर्श, विद्रधि में बार-बार करना चाहिए।

1 बेल, सोनापाठा, पाढल, कुंभेर, अरणी इनसे किसी एक की अथवा पाँचों की अठारह अंगुल लम्बी डाली लेकर उसके तीन भाग को वस्त्र लपेट देवें और उसे तैल में भिगो देवें। पश्चात् इसको बत्ती की तरह जला कर (किन्हीं के ऊपर)नीचे की ओर नोक करके रखें, इसके नीचे एक पात्र भी रखें। इस पात्र पर जो तैल टपकता है, इसे दीपिका तैल कहते हैं। इसी प्रकार देवदारू, कूट, सरल, इनकी लकड़ी से (उपरोक्त विधि से जलाकर तैल निकाल सकते हैं।)।

कर्णरोग चिकित्सा का उपसंहार

इति प्रयत्नादिह विंशति स्थिताः तथैवमष्टौ श्रवणामया मया।
प्रकीर्तितास्तेषु विशेषतो भिषक्। स्वयं विदध्याद्विधिमात्मबुद्धितः॥ 27॥

भावार्थ : इस प्रकार मैंने अट्ठाईस[1] प्रकार के जो कर्ण रोग बतलाये हैं, उनके दोषादिकों को विचारकर बुद्धिमान् वैद्य अपनी बुद्धि से उनकी चिकित्सा प्रयत्न के साथ करें।

अथ नासारोगाधिकारः

नासागत रोग वर्णन प्रतिज्ञा

अथात्र नासागतरोगलक्षणैः चिकित्सितं साधु निगद्यतेऽधुना।
विदार्य तन्नामविशेषभैषज । प्रयोगसंक्षेपवचेविचारणैः॥ 28 ॥

भावार्थ : अब यहाँ पर नाक के रोगों का नाम, उनका लक्षण, योग्य औषधियों का प्रयोग व चिकित्सा क्रम आदि संक्षेप से कहा जाता है।

पीनस लक्षण व चिकित्सा

विदाहधूमायनशोषणद्रवै । र्नवेत्ति नासागतगंधजातकम् ॥
कफानिलोत्थोत्तमपनिसामयं। विशोधयेद्वातकफघ्नभैषजैः॥ 29 ॥

भावार्थ : जिसकी नाक में दाह, धुंअे के समान निकलना, सूख जाना व द्रव निकालना एवं सुगंध दुर्गंध का बोध न होना, कफ व वात के विकार से उत्पन्न पीनस नामक रोग का लक्षण है, उसको वात व कफहर औषधियों से शुद्धि करना चाहिए।

पूतिनासा के लक्षण व चिकित्सा

विदग्धदोषैर्गलताकुलाश्रितै। र्निरंतरं नासिकवायुरूद्धतः।
सपूतिनासां कुरूते तथा गलं। विशोधयेत्तच्छिरसो विरेचनैः॥ 30॥

भावार्थ : प्रकुपित पित्तादि दोषों से वायु संयुक्त होकर जब गला व तालु में अश्रित होता है तो नाक व गले अर्थात् मुँह से दुर्गंध वायु निकलने लगता है। इसे पूतिनासा (पूतिनस्य) रोग कहते हैं। इसमें गले को एवं शिरोविरेचन औषधियों से शिर को, शुद्धि करना चाहिए।

---

1. **अठ्ठाईस प्रकार के कर्णरोग** - कर्णशूल, कर्णनाद बाधिर्य, क्ष्वेड, कर्णस्राव, कर्णकण्डू, प्रतिनाह, कर्णपाक, पूर्तिकर्ण, दोषज, क्षतज, इस प्रकार द्विविध विद्रधि, वातार्श, कफार्श, अन्निपार्श, इस प्रकार चतुर्विध अर्श, वुतार्बुद, पित्तार्बुद, कर्फाबुद रक्तार्बुद, माँसार्बुद, मेदोऽर्बुद, शालाक्यतंत्रोक्त (अक्षिरोग विज्ञान में कहा गया) सन्निपार्बुद, इस प्रकार सप्तविध अर्बुद, वातज, पित्तज, कफज, सन्निपातज इस प्रकार चतुर्विध शोध, ये अठ्ठाईस कर्णरोग हैं।

नासापाक लक्षण व चिकित्सा

अरूंषि पित्तं कुपितं स्वनासिका। गतं करोत्येवमतो ही नासिका।
विपाकरोगं समुपाचरेद्भिषक्। क्षतद्रवैः पित्तविसर्पभेषजैः ॥ 31 ॥

भावार्थ : प्रकुपित पित्त, नाक में (जाकर) उतरकर फुंसी को उत्पन्न करता है (एवं नाक से भीतर का भाग पक जाता है) इसे नासापाक रोग कहते हैं। इसकी, क्षतरोग के लिए उपयुक्त द्रव व पित्तविसर्परोगोक्त औषधियों से चिकित्सा करनी चाहिए।

पूयरक्त लक्षण व चिकित्सा

ललाटदेशे क्रिमिभक्षितक्षतैः। विदग्धदोषैरभिघाततोपि वा।
सपूयरक्तं स्रवतीह नासिका। ततश्च दुष्टव्रणनाडिकाविधिः॥ 32 ॥

भावार्थ : ललाट स्थान में कीड़ों के खा जाने के घाव से प्रकुपित दोषों के कारण से अथवा चोट लगने से नाक से पीप सहित रक्तस्राव होता है, इसे पूयरक्त रोग कहते हैं। इसमें दुष्टव्रण (दूषित जखम) व नाड़ी व्रण में जो चिकित्सा विधि बतलाई है, उस ही चिकित्सा का प्रयोग करना चाहिए।

दीप्तनासा लक्षण व चिकित्सा

सरक्तपित्तं विहितक्रमैर्जयेत्। प्रदीप्तनासामपि पित्तकोपतः।
महोष्णनिश्वासविदाहसंयुता। मुपाचरेत्पित्तचिकित्सितैर्बुधः॥ 33 ॥

भावार्थ : पित्त के प्रकोप से, नाक में अत्यधिक जलन होती है और गरम (धुआँ के सदृश) निःश्वास निकलता है, इसे दीप्तनासा रोग कहते हैं। इस रोग का रक्तपित्तनाशक चिकित्सा क्रम से उपचार करना चाहिए।

क्षवथु लक्षण व चिकित्सा

स्वानासिकामर्मगतोऽनिलोभृशं। मुहुर्मुहुश्शब्दमुदीरयत्यतः।
स एव साक्षात्क्षवथुः प्रजायते। तमत्र तीक्ष्णैरवपीडनैर्जयेत् ॥ 34 ॥

भावार्थ : नासिका के मर्मस्थान में गया हुआ वात प्रकुपित होकर बार-बार कुछ -कुछ शब्द करते हुए नाक से बाहर निकल आता है, तो वही साक्षात् क्षवथु (छींक) बन जाता है। अर्थात् उसे क्षवथु कहते हैं। उसे अतितीक्ष्ण अवपीड़न या नस्य के द्वारा उपशमन करना चाहिए।

आंगतुक्षवथुलक्षण

सुतीक्ष्णचूर्णान्यतिजिघ्रतोपि वा। निरीक्षणादुष्णकरस्य मण्डलम् ।
स्वनासिकांतस्तरुणास्थिघट्टनात्। प्रजायमानः क्षवथुर्विनश्यति॥35॥

भावार्थ : तीक्ष्ण चूर्णों को बार-बार सूंघने से, सूर्यमंडल को अधिक देखने से एवं नाक की

तरुण हड्डी को चोट लगने से उत्पन्न होने वाली छीक को, आगंतु क्षवथु कहते है। यह अपने आप ही नाश हो जाता है।

महाभ्रंशन लक्षण व चिकित्सा

ततो महाभ्रंशननामरोगतः। कफोतिसांद्रो लवणः समूर्धतः।
निरीक्ष्य तत्संशिरसोवपिडनैः। र्विशोधनैरक्रममर्मसंचितम् ॥ 36 ॥

भावार्थ : मस्तक के मर्मस्थान में पहले संचित, (सूर्य किरणों से पित्त के तेज से तप्त होकर) गाढ़ा व खारा कफ, मस्तक से निकलता है, इसे महाभ्रशंन (भ्रशथु, प्रभ्रशथु) रोग कहते हैं। इसको अवपीडन व विरेचन नस्य के प्रयोग से जीतना चाहिए।

नासाप्रतिनाह लक्षण व चिकित्सा

उदानवातोतिकप्रकोपत। स्सदैव नासाविवरं वृणोति यत्।
तमाशुनासाप्रतिनाहसंयुतैः। सुधुमनस्योत्तरबस्तिभिर्जयेत् ॥ 37 ॥

भावार्थ : उदानवात कफ के अत्यन्त प्रकोप से नासारंध्रमें आकर भरा रहता है। अर्थात् नासा रंध्र को रोक देता है। इसे नासा प्रतिनाह कहते है। इसको शीघ्र धूम, नस्य व उत्तरबस्ति किंवा उत्तमांगबस्तियों के प्रयोग से जीतना चाहिए।

नासापरिस्राव लक्षण व चिकित्सा

अहर्निशं यत्कफदोषकोपतः। स्रवत्यजस्रं सलिलं स्वनासिकाम्।
ततः परिस्राविविकारिमूर्जितां। जयेत्कफघ्नौषधचूर्णपीडनैः॥ 38 ॥

भावार्थ : रात-दिन कफदोष के प्रकोप से पानी निकलता रहता है, उसे नासा परिस्राविरोग कहते हैं। उसे कफहर औषधि व अवपीड़न, नस्य आदि से जीतना चाहिए।

नासापरिशोष लक्षण व चिकित्सा

कफोतिशुष्कोधिकपित्तमारुतैः। विशोषयत्यात्मनिवासनासिकां।
ततोत्र नासापरिशोषसंज्ञितं। जयेत्सदा क्षीरसमुत्थसर्पिषा ॥ 39 ॥

भावार्थ : अधिक पित्त व वात के कारण से कफ एकदम सूखकर अपने निवास स्थान नासिका को भी एकदम सुखा देती है। उसे नासा परिशोष रोग कहते हैं। उसे दूध से निकाले हुए घृत से चिकित्सा करनी चाहिए।

नासागत रोग में पथ्य

हितं सनस्यं घृतदुग्धपायसं। यदेतदुक्लेदकरं च भोजनम्।
समस्तनासागतरोगविभ्रमान्। जयेद्यथोक्ताधिकदोषभैषजैः ॥ 40 ॥

भावार्थ : नासा रोगों में नस्य प्रयोग व भोजन में घृत, दूध, पायस (खीर) व उत्क्लेद कारक पदार्थों का उपयोग करना हितकर है और जिन दोषों का अधिक बल हो उनको देखकर वैसे ही औषधियों का प्रयोग करना चाहिए, इससे नासागत समस्त रोग दूर हो जायेंगे।

सर्वनासारोग चिकित्सा ।

शिरोविरैकैः शिरसश्च तर्पणैः सधूमगंडूषविशेषलेहनैः।
कटूष्णंसक्षारविपक्व सत्खलैः रूपाचरेत् घ्राणमहामयार्दितम्॥41॥

भावार्थ : शिरोविरेचन, शिरोतर्पण, धूम, गण्डूष (कुल्ला) लेहन, इनसे व कटु, उष्ण, क्षार द्रव्यों से पकाया हुआ खल, इनसे नासा रोग से पीड़ित रोगी की चिकित्सा करें।

नासार्श आदिकों की चिकित्सा

अथार्बुदार्शोधिकशोफनामकान्विनाशयेत्तानपि चोदितौषधैः।
यदेतदन्यच्च विकारजातकं। विचार्य साध्यादि भिषग्विशेषवित् ॥42॥

भावार्थ :इसी प्रकार नासागत अर्बुद, अर्श, शोफ आदि रोगों की भी पूर्व कथित औषधियों से चिकित्सा करें। इनके अतिरिक्त नाक में अन्य कोई भी रोग उत्पन्न हो उनकी दोषबल आदिकों को देखकर कुशल वैद्य साध्यासाध्यादि विचार कर चिकित्सा करें।

नासारोग का उपसंहार व मुखरोग वर्णन प्रतिज्ञा

इति क्रमात्त्रिंशदिहैकसंख्यया। प्रकीर्तिता घ्राणगता महामयाः।
अतो मुखोत्थाखिलरोगसंचयान्।ब्रवीम्यशेषाकृतिनामलक्षणैः॥43॥

भावार्थ :इस प्रकार से 31 प्रकार से नासागत महारोग कहे गए है। उनका निरूपण कर अब मुखगत समस्त रोगों को, लक्षण व नामनिर्देश के साथ कहेंगे।

अथ मुखरोगाधिकारः

मुख रोगों के स्थान

मुखे विकारायतनानि सप्त तत्। यथा तथोष्ठौ दशना सजिह्वया।
स्वदंतमूलानि गलः सतालुकः।प्रणीतसर्वाणि च तेषु दोषजाः॥44॥

भावार्थ :मुख में व्याधियों के आधारभूत स्थान सात बतलाये गए है। जैसे कि दो ओंठ, दाँत, जिव्हा, दंतमूल, गला, तालु, इस प्रकार सात हैं। उन सबमें दोषज विकार उत्पन्न होते हैं।

अष्टविध ओष्ट रोग

पृथक् समस्तैरिह दोषसंचितै। रसृग्विमिश्रैरभिघाततोपि वा।
समांसमेदोभिरिहाष्टभेदतः।सदोषकोपात्प्रभवंति देहिनां॥45॥

भावार्थ : वात, पित्त, कफ, सन्निपात, रक्त, अभिघात, मांस व मेदा इनके विकार से प्राणियों के ओंठ में आठ प्रकार के रोगों की उत्पत्ति होती है।

वात्तपित्त, कफज, ओष्ठ रोगों के लक्षण

सवेदनौ रूक्षतरातिनिष्ठुरौ। यदैवमोष्ठौ भवतस्तु वातजौ।
सदाहपाकौ स्फुटितौ च पित्तजौ गुरुमहांतौ कफतोतिपिच्छिलौ॥ 46॥

भावार्थ : दोनों ओंठ वेदनासहित अत्यन्त रूक्ष व कठिन होते हैं, उन्हें वातज विकार से दूषित समझें। जब उनमें दाह होता हो और पक गए हों एवं फूट गए हों, उस समय पित्तज विकार से दूषित समझें। बड़े व भारी एवं चिकने जिस समय हों उस समय कफज विकार से दूषित समझें।

सन्निपात रक्तमांस मेदोत्पन्न ओष्ठरोगों के लक्षण

समस्तलिंगाविह सन्निपातजा। वसृक्प्रभूतौ स्रवतोऽतिशोणितौ।
स्थिरावतिस्थूलतरौ च मांसजौ। वसाघृतक्षौद्रनिभौ च मेदसा॥ 47॥

भावार्थ : उपर्युक्त समस्त (तीन दोषों के चिह्न जिसमें पाये जायें, उसे सन्निपातज (ओष्ठ रोग) समझें। रक्त विकार से उत्पन्न ओष्ठ रोग में ओठों से रक्तस्राव होता है। जब स्थिर व अत्यन्त स्थूल ओंठ हो तो मांसज समझे। चरबी, घी व मधु के समान जब ओंठ हो जाते हैं, उसे मेदोविकार से उत्पन्न समझें।

सर्वओष्ठ रोग चिकित्सा

दलत्स्वरूपावतिशोफसंयुता - विहाभिघातप्रभवामरौ गतौ।
यथाक्रमाद्दोषचिकित्सितं कुरू। प्रलेपसंस्वेदनरक्तमोक्षणैः॥ 48 ॥

भावार्थ : ओंठों में चोट लगने से चिर जावें एवं अधिक सूजन के संयुक्त हो, तो उसे अभिघातज ओष्ठ रोग समझें। इस प्रकार क्रम से जो ओष्ठ रोगों का वर्णन किया है उनको तत्तद्दोषोपशामक औषधियों के प्रयोग से, लेपन, स्वेदन व रक्तमोक्षण आदि विधियों से (जहाँ जिसकी जरूरत पड़े) चिकित्सा करें।

इहोष्ठकोपान्वृषवृद्धिमार्गतः। प्रसादयेद्ग्रन्थचिकित्सितेन वा।
निशातशस्त्रौषधदाहकर्मणा। विशेषतः क्षारनिपातनेन वा॥ 49 ॥

भावार्थ : उपर्युक्त ओष्ठ विकारों की वृषण वृद्धि की चिकित्सा क्रम से अथवा ग्रंथिरोगी चिकित्सा क्रम से या शस्त्रकर्म औषध प्रयोग व दाह क्रिया से या विशेषतः क्षार प्रयोग से चिकित्सा करके ठीक करना चाहिए।

दंतरोगाधिकारः

अष्ठविध दंतरोग वर्णन प्रतिज्ञा व दालनलक्षणः

अथाष्टसंख्यान् दशनाश्रितामयान्। सलक्षणैस्साधुचिकित्सितैर्ब्रुवे।
विदारयंतीव च दंतवेदना। स दालनो नामगदोऽनिलोत्थितः॥ 50॥

भावार्थ : अब आठ भेद से युक्त दंतरोग का लक्षण व चिकित्सा को कहेंगे। दंत का विदारण होता हो, जैसी वेदना जिसमें होती हो, वह वात विकारजन्य दालन नामक दंत रोग है।

कृमिदंतलक्षण

यदासितच्छिद्रयुतोतिचंचलः। परिस्रवान्नित्यरूजोऽनिमित्ततः।
स कीटदन्तो मुनिभिः प्रकीर्तितस्तुमुद्धरेदाशु विशेषबुद्धिमान्॥ 51॥

भावार्थ : जिस समय दांतों में काली छिद्र सूराक हो जाये दांत अत्यधिक चंचल हो, उनमें से पूय आदिकास्राव होता हो विना विशेष कारण के ही, हमेशा पीड़ा होती हो, इसे मुनीश्वरों ने कृमिदंत कहा है। इस कृमिदंत को बुद्धिमान वैद्य शीघ्र ही उखाड़ देवें । क्योंकि औषधियों से यह ठीक नहीं हो पाता।

दंतहर्षलक्षण

यदा च दंता न सहंति संततं। विचर्वितुं सर्वमिहोष्णशीतजं।
स दंतहर्षो भवतीह नामतः। सवातजः स्पर्शविहिनदोषजः॥ 52 ॥

भावार्थ : जब दांतों से उष्ण, शीत गुणयुक्त किसी भी चीज को चबाने को नहीं बनता है, उसे दंतहर्ष रोग कहते हैं। यह प्रकुपित वात, पित्त से उत्पन्न होता है।

भंजनक लक्षण

मुखं सवक्रं भवतीह देहिनां। सदंतभंगश्च महातिनिष्ठुरः।
त्रिदोषजो भेजनको महागदः। स साधनीयस्त्रिविधौषधक्रमैः॥53 ॥

भावार्थ : जिसमें मनुष्य का मुख वक्र होता हो और दांत भी टूटने लगते हैं, उसे दंतभंजनक रोग कहते हैं। यह त्रिदोषज एवं भयंकर महारोग है। उसको त्रिदोषनाशक औषधि प्रयोग से साधना चाहिए।

दंतशर्करा, कापालिका लक्षण

घनं मलं दंतघुणावहं भृशं। सदैव दंताश्रितशर्करा मता।
कपालवद्यं स्फुटितं स्वयं मलं। कपालिकाख्यं दशनक्षयावहम्॥ 54॥

भावार्थ : दंतगत मल (उनको साफ न करने से) सूखकर गाढ़ा हो जाता है, रेत के समान

खरदरा स्पर्श मालूम होने लगता है और वही दांत के घुनने का कारण हो जाता है। इसे दंतशर्करा रोग कहते हैं। दांत का मल (उपरोक्त शर्करा) अपने आप ही, टीकरी के समान फूटने लगता है, इसे कापालिका रोग कहते हैं। इससे दांत का नाश हो जाता है।

श्यामदंतक हनुमोक्ष लक्षण

सरक्तपित्तेन विदग्धदंतको भवेत्सदा श्यामविशेषसंज्ञितः।
तथैव केनापि विसंगते हनौहनुप्रक्षमोऽर्दितलक्षणो गदः॥ 55॥

भावार्थ : रक्तपित्त के प्रकोप से दांत विदग्ध हो जाते हैं, उसे श्यामक रोग कहते हैं। इससे दांत काले व नीले हो जाते हैं, इसे श्यामदंतक रोग कहते हैं। वातोद्रेक से चोट आदि लगने से हनुसंघि (टोढी) छूट जाती है चलायमान होती है, इसे हनुमोक्ष व्याधि कहते हैं, इसमें अर्दितरोग के लक्षण मिलते हैं।

क्रियामिमां दंतगलामयेष्विह। प्रयोजयेद्दोषविशेषभेषजैः।
चलंतमुद्यच्छुषिराख्यदंतकं। समुद्धरेन्मूलमिहाग्निना दहेत्॥ 56॥

भावार्थ : दंत का गल रोगों में उनके दोषों को विचारकर योग्य औषधियों का प्रयोग करना चाहिए। जिसमें शुषिरदन्तक नामक रोग होकर दांत हिलता हो, उसमें दांत को उखाड़ कर दंत शूल को अग्नि से जला देवें।

दंतहर्ष चिकित्सा

स्वदंतहर्षेपि विधिर्विधीयते। महानिलघ्नाधिकभेषजान्वितः।
हितं च सुस्निग्धसुखोष्णभोजनं। घृतस्य भुक्तोपरि पानमिष्यते॥ 57॥

भावार्थ : दंतहर्ष रोग में विशेषतया वातनाशक औषधियों के प्रयोग से चिकित्सा की जाती है। उसके लिए स्निग्ध (घृत, तैल, दूध आदि) व सुखोष्ण भोजन करना हितकर है व भोजनांतर घृतपान करना चाहिए।

दंतशर्करा कापालिका चिकित्सा

स दंतमूलक्षतमावहन् भृशं। समुद्धरेद्दंतगतां च शर्कराम्।
कपालिकां कृच्छ्रतरां तथा हरेत्। सुखौष्णतैलैः कवलग्रहैस्तयोः॥ 58॥

भावार्थ : दाँतों के मूल में जखम न हो, इस प्रकार दाँतों में लगी हुई शर्करा को निकाल देवें। कष्ट से साध्य होने वाली कापालिका को भी निकालें एवं इन दोनों में कल्प गरम तैल से, कवल धारण करावें।

हनुमोक्ष चिकित्सा

ततो निशायुक्तकटुत्रिकान्वितैः ससिंधुतैलैः प्रतिसारयेद्भिषक्।
हनुप्रमोक्षार्दितवद्विधीयता। मितोऽत्र जिह्वामयपंचके तथा॥ 59॥

भावार्थ : इसके बाद हल्दी, सोंठ, मिरच, पीपल, सैंधानमक तैल इन को दाँतों पर प्रतिसारण करें (बुरखें) हनुमोक्ष दंतरोग की अर्दितवात के अनुसार चिकित्सा करें। अब यहाँ से आगे पाँच प्रकार के जिह्वा रोगों का वर्णन करेंगे।

जिह्वागत पंचविधरोग

त्रिभिस्तु दोषैरिह कंटकाः स्मृताः। स्ववेदनाविष्कृतरूपलक्षणाः।
ततो हरिद्रालवणैः कटुत्रिकैर्विघर्षयेत्तैलयुतैमरुत्कृतान्॥ 60॥

भावार्थ : प्रकुपित वात, पित्त व कफ से जिह्वा के ऊपर कांटे के समान अंकुर उत्पन्न होते हैं। दोषों के अनुसार प्रकट होने वाली वेदना व लक्षण से युक्त होते हैं। हल्दी, सैंधानमक, त्रिकटु व तेल मिलाकर उसे घर्षण करना चाहिए।

वातपित्त कफज जिह्वारोग लक्षण व चिकित्सा

विघृष्य पत्रैरपहृत्य शोणितं। सशीतलैरूष्णगणैर्घृतप्लुतैः।
प्रसारयेत्पित्तकृतोरूकंटकान्। कटुत्रिकैर्मूत्रगणैः कफोत्थितान्॥ 61॥

भावार्थ : पित्तज विकार से उत्पन्न कंटकों में पहले खरदरे पत्रों से जिह्वा को घिसकर रक्त निकालना चाहिए। तदनंतर शीतल व उष्णगणोक्त औषधियों को घी में भिगोकर उस पर लगाना चाहिए। कफ के विकार से उत्पन्न कंटकों में त्रिकटु को मूत्र वर्ग से मिलाकर लेपन करना चाहिए।

जिह्वालसकलक्षण

रसेन्द्रियस्याधरशोफमुन्नतं। बलासपित्तोत्थितमल्पवेदनम् ।
वदंति जिह्वालसकाख्यमामयं। विपक्क दोषं रसनाचलत्वकृत्॥ 62॥

भावार्थ : कफ व पित्त के विकार से रसना इंद्रिय (जीभ) के नीचे का भाग अधिक सूज जाता है। किन्तु वेदना अल्प रहती है, उसे जिह्वालसक रोग कहते हैं। इसमें दोषों का विपाक होने पर (रोग बढ़ जाने पर) जीभ हिलाने में नहीं आती।

जिह्वालसक चिकित्सा

विलिख्य जिह्वालसकं विशोध्य तत्। प्रवृत्तरक्तं प्रतिसारयेत्पुनः।
ससर्षस्सैंधवपिप्पलीवचा - पटोलनिंबैर्घृततैलमिश्रितैः॥ 63॥

भावार्थ : जिह्वालसक को लेखन (खुरच) कर जब उससे रक्त की प्रवृत्ति होवें, तब अच्छी तरह से शुद्ध करना चाहिए। विलेखन कर उससे निकले हुए अर्थात रक्त का शोधन करना चाहिए, तदनंतर सरसों, सैंधानमक, पीपल, वचा, परबल के पत्ते, नीम इनको घी तेल में मिलाकर उस में लगाना चाहिए।

उपजिह्वा लक्षण

अधस्समुन्नम्य रसेन्द्रियं भृशं। तदग्ररूपं कफरक्तशोफकम्।
अजस्रलालाकरकण्डुरान्वितं ब्रुवंति साक्षादुपाजिह्विकामयम्॥ 64॥

भावार्थ : जीभ को नीचे नमाकर, जिह्वा के अग्रभाग के समान (जीभ के आगे का हिस्सा जैसे देखने में आवें) कफ व रक्त के प्रकोप से सूजन उत्पन्न होती है। हमेशा उससे लार निकलने लगती है और खुजली युक्त होता है, इसे उपजिह्वा रोग कहते हैं।

उपजिह्वा चिकित्सा

तमत्र जिह्वालसवत्प्रसारयेच्छिरोविरेकैः कवलग्रहैस्सदा।
तथात्र पंचादशदंतमूलजान् सलक्षणान् साधुचिकित्सितान्ब्रुवे॥ 65॥

भावार्थ :उस उपजिह्विका को जिह्वालसक रोग के समान ही औषधियों से बुरखना चाहिए एवं सदा शिरोविरोचन व कवल धारण द्वारा उपचार करना चाहिए। अब दंतमूल में उत्पन्न होने वाले पंद्रह प्रकार के रोगों के लक्षण व चिकित्सा के साथ वर्णन करेंगे।

सीतोद लक्षण व चिकित्सा

स्रवेदकस्मादिह दंतवेष्टतः कफास्रदोषक्षुभितातिशोणितम्।
गदोत्र शीताद[1] इति प्रकीर्तितस्तमस्त्रमोक्षैः कवलैरूपाचरेत्॥ 66॥

भावार्थ : अकस्मात् कफ रक्त के प्रकोप से मसूड़ों से खून निकलने लगता है, उसे सीतोद रोग कहते हैं। उसे रक्तमोक्षण व कवलधारण से उपचार करना चाहिए।

दंतपुप्पट लक्षण व चिकित्सा

यदा तु वृत्तः श्ववथुः प्रजायते। सदंतमूलेषु स दंतपुप्पटम्[2]।
कफासृगुत्थं तमुपाचरेद्भिषक्। सदामपक्वक्रमतो विचक्षणः॥ 67॥

भावार्थ : कफ व रक्त के उद्रेक से जब दंतमूल में गोलाकार रूप में सूजन[3] होती है, उसे दंतपुप्पट रोग कहते हैं। कुशल वैद्य को उचित है कि वह उसको आम पक्वादिक दशा को विचारकर चिकित्सा करें अर्थात् आम को विलयन, विदग्ध को पाचन व पक्व को शोधन रोपण से चिकित्सा करें।

दंतवेष्टलक्षण व चिकित्सा

सपूतिरक्तं स्रवंतीह वेष्टतो। भवंति दंताश्च चलास्समंततः।
सदंतवेष्टो भवतीह नामतः। स्वदुष्टरक्तस्रवणैः प्रसाध्यते॥ 68॥

1. सीतोद इति पाठांतरं। 2. दंतपुष्पकमिति पाठांतरम्।
3. यह सूजन दो अथवा तीनों ही दाँतों के मूल में होती है।

भावार्थ : मसूड़ों से दुर्गंध रक्त बहता है और दांत सब के सब हिलने लगते हैं, उसे दंतवेष्ट नामक रोग कहते हैं। उसे दुष्ट रक्त के मोक्षण से जीतना चाहिए।

सुषिर लक्षण व चिकित्सा

रुजाकरश्शोफयुतस्सवेष्टजो बलासरक्तप्रभवः कफावहः।
भवेत्स्वनाम्ना सुषिरं तमामयं रुजांजनैर्लोध्रघनैः प्रसारयेत्॥ 69॥

भावार्थ : कफ रक्त के प्रकोप से मसूड़ों में पीड़ाकारक सूजन उत्पन्न होती है, जिससे कफ का स्राव होता है, इसे सुषिर रोग कहते हैं। इसको कूट, सुरमा लोध, नागरमोथा इनसे बुरखना चाहिए।

महासुषिरलक्षण व चिकित्सा

पतंति दंताः परितः स्ववेष्टतः विशीर्यते तालु व तीव्रवेदना।
भवेन्महाख्यस्सुषिरोरुसर्वजः स साध्यते सर्वजितौषधक्रमैः॥ 70॥

भावार्थ : दंतवेष्टन से दंत गिर जाते हैं और तालु चिर जाता है एवं अत्यन्त वेदना होती है, उसे महासुषिर नामक रोग कहते हैं, वह सन्निपातज है। उसके लिए तीनों दोषों को जीतने वाले औषधियों का प्रयोग करना चाहिए।

परिस्रदरलक्षण

विशीर्य मांसानि पतंति दंततो बलासपित्तक्षतजोद्भवो गदः।
असृक्स निष्टीवति दुष्टवेष्टकः परिस्रयुक्तो दर[1] इत्युदीरितः॥ 71॥

भावार्थ : जिसमें दांतों के मांस (मसूड़े) चिरकर गिरते हैं, दंतवेष्ट उनसे दूषित हो जाता है, दंतवेष्टों (मसूड़ों) से खून निकलता है, वह कफपित्त व रक्त के प्रकोप से उत्पन्न है। इस रोग को परिस्र से युक्त दर अर्थात् परिस्रदर कहते हैं।

उपकुशलक्षण

सदाहवेष्टः परिपक्व मेत्यसौ। प्रचालयत्युद्रतदंतसंततिम्।
भवेत्स दोषो कुशनामको गदः। सपित्तरक्तप्रभवोतिदुःखदः॥ 72॥

भावार्थ : पित्त रक्त के प्रकोप से मसूड़ों में दाह व पाक होता है। फिर वही सब दांतों को हिलाता है। उसमें अत्यधिक दुःख होता है, उसे कुशनामक रोग कहते हैं।

वैदर्भ, खल वर्धन (खल्ली वर्धन) लक्षण

विघृष्णमाणेऽखिलदंतवेष्टके महातिसंरंभकरोऽभिघातजः।
भवेत्स वैदर्भगदोऽधिदंतको मरूत्कृतः स्यात्खल[2]वर्द्धनोऽतिरूक्॥ 73॥

1. रद इति पाठांतरे, 2. पलवर्द्धनं इति पाठांतरं।

भावार्थ : सभी मसूड़ों को रगड़ने से उनमें महान् सूजन होती है (दांत भी हिलने लगते हैं) इसे वैदर्भ रोग कहते हैं। यह अभिघात (चोट लगने) से उत्पन्न होता है। वायु के कोप से, दांत के ऊपर दूसरा दांत उगता है और उस समय अत्यन्त वेदना होती है। (जब दांत उग आवें, तब पीड़ा अपने आप ही होती है।) इसे खलवर्धन (खल्लीवर्धन) रोग कहते हैं।

अधिमांस लक्षण व चिकित्सा

हनौ भंवत्पश्चिदंतमूलजस्सदैव लालाजननोऽतिवेदनः।
महाधिमांसश्वयथुः कफोल्वणस्तमाशु मांसक्षरणैः क्षयं नयेत्॥ 74॥

भावार्थ : हनु अस्थि से अंदर के बाजू में से पीछे (अंतिम) के दांत के व मूल (मसूड़े) में कफ के प्रकोप से, लार का स्राव, अत्यन्त वेदनायुक्त जो महान् शोध उत्पन्न होता है, उसे अधिमांस कहते हैं। इसको शीघ्र ही मांसरक्षण के द्वारा नाश करना चाहिए।

दंतनाड़ी लक्षण व चिकित्सा

तथैव नाड्योऽपि च दंतमूलजाः प्रकीर्तिताः पंचविकल्पसंख्यया।
यथाक्रमाद्दोषविशेषतो भिषक् विदार्य संशोधनरोपणैर्जयेत्॥ 75॥

भावार्थ : पहले नाडीव्रण के प्रकरण में वात, पित्त, कफ, सन्निपात और आगंतुक ऐसे पाँच प्रकार के नाडीव्रण बतलाये हैं। वे पाँचों ही दंतमूल में होते हैं, इसे दंतनाड़ी कहते हैं। इनको दोष भेद के अनुसार विदारण, शोधन, रोपण आदि विधियों द्वारा चिकित्सा करके जीतना चाहिए।

दंतमूलगत रोग चिकित्सा

दृढातिशोफान्वितमूलमुष्मणा प्रतप्तमाश्वस्रविमोक्षणैः सदा।
कषायतैलाज्यकृतैः सुभेषजैः सुखोष्णगण्डूषविशेषणैर्जयेत्॥ 76॥

भावार्थ : कठिन सूजन से युक्त उष्ण से प्रतप्त (तपा हुया) दंत मल को, शीघ्र ही रक्तमोक्षण द्वारा उपचार करें एवं कषाय, तैल घृत इनसे सिद्ध श्रेष्ठ औषधियों के गण्डूष धारण आदि विशेष क्रियाओं से जीतना चाहिए।

उपकुश में गण्डूष व नस्य

सपिप्पलीसैधवनागरान्वितैः ससर्षपैस्सोष्णजलप्रमोलितैः।
सदैव गण्डूषविधिर्विधीयतां। घृतं स नस्येन फलेन (1) पूजितम्॥ 77॥

भावार्थ : पीपल, सैंधानमक, सोंठ, सरसों इनको गरम जल में मिलाकर सदा गण्डूष धारण करना चाहिए एवं नस्य व कवल धारण में (मधुरौषध काकोल्यादि गण से सिद्ध) घृत का उपयोग करना चाहिए।

वैदर्भ चिकित्सा

निशातशस्त्रेण विदर्भसंज्ञितं विशोधयेत्तद्वृशनोरुवेष्टकम्।
निपातयेत्सारमनंतरं ततः क्रियास्सुशीताः सकला प्रयोजयेत्॥ 78॥

भावार्थ : वैदर्भनामक रोग में दंतवेष्टगत शोथ को, तीक्ष्ण शस्त्र से (विदारण करके) शुद्धि कर, क्षारपातन (क्षार डालना) करें। पश्चात् संपूर्ण शीत चिकित्सा का उपयोग करना चाहिए।

खलवर्धन चिकित्सा

अथाधिकं दंतमिहोद्धरेत्ततो दहेच्च मूलं क्रिमिदंतवत्क्रियाम्।
विधाय सम्यग्विदधीत भेषजं गलामयानां दशसप्तसंख्यया॥ 79॥

भावार्थ : खलवर्धन में जो अधिक दांत आता है। उसको निकाल डालना चाहिए, दंत मूल को जलाना चाहिए। इसमें क्रिमिदंतक रोग के लिए जो क्रिया बताई गई है, उन सबको करके योग्य औषधि द्वारा चिकित्सा करनी चाहिए। अब सत्रह प्रकार से गले रोगों का निरूपण करेंगे।

रोहिणी लक्षण

गलातिसंशोधनतपरांकुरैस्सदोषालिंगैरुपलक्षिताः पृथक्।
पृथक् समस्तैरनिलादिभिस्तत।स्तथासृजः स्यादिह रोहिणी नृणाम्॥80॥

भावार्थ : वात, पित्त, कफ, रक्त के प्रकोप एवं सन्निपात से, गले को एक दम रोकने वाले (कांटे जैसे) अंकुर (गले में) उत्पन्न[1] होते हैं, जो कि तत्तदोषों के लक्षणों से संयुक्त हैं, इसे रोहिणी रोग कहते हैं।

रोहिणी के साध्यासाध्य विचार

स्वभावतः कृच्छ्रतरातिरोहिणी स्वसन्निपातप्रभवा कफात्मिका।
विवर्जयेद्या भिषजासृगुत्थिता सुखेन साध्यात्र विधिर्विधियते॥ 81॥

भावार्थ : सर्व प्रकार के रोहिणी रोग स्वभाव से ही अत्यन्त कष्ट साध्य होते हैं। उसमें भी सन्निपातज, कफ व रक्तविकार से उत्पन्न रोहिणी को वैद्य असाध्य समझकर छोड़ें। सुख साध्य रोहिणी का चिकित्सा क्रम आगे कहा जाता है।

साध्य रोहिणी की चिकित्सा

सरक्तमोक्षैः कवलग्रहैः शुभैः सधूमपानैर्वमनाविलेहनैः।
शिरोविरेकैः प्रतिसारणादिभिः जयेत्स्वदोषक्रमतो हि रोहिणीम्॥ 82॥

भावार्थ : दोषों के बलाबल को विचार कर उनके अनुसार (जहाँ जिसकी जरूरत हो) रक्त

1. उपरोक्त प्रकार पाँच प्रकार से रोहिणी रोग होते हैं।

मोक्षण, कवलग्रहण, धूम्रपान, वमन, लेहन, शिरोविरेचन प्रति सारण (बुरखना) विधियों से रोहिणी की चिकित्सा करें।

कण्डशालूक लक्षण व चिकित्सा

खरः स्थिरः कंटकसंचितः कफात् गले भवः कोलफलास्थिसन्निभः।
संकटशालूक[1] इति प्रकीर्तितः तमाशु शस्त्रेण विदार्य शोधयेत्॥ 83॥

भावार्थ : कफ के विकार से कठोर, स्थिर व कंटक से युक्त बेर के बीज के समान कंठ में एक ग्रंथि (गांठ) होती है, उसे कंठशालूक रोग कहते हैं। उसे शीघ्र शस्त्र से विदारण कर शोधन करना चाहिए।

विजिह्विका (अधिजिह्विका) लक्षण

रसेन्द्रियस्योपरि मूलसंभवां। गले प्रबद्धां रसनोपमांकुरां।
बलासरक्तप्रभवां विजिह्विकां। विवर्जयेत्तां परिपाकमागतां॥ 84॥

भावार्थ : कफ व रक्त के प्रकोप से, जिह्वा (जीभ के) के ऊपर व उसी के मूल में गले से बंधा हुआ, और जीभ के समान, जो ग्रंथि उत्पन्न होती है, उसे विजिह्विका (अधिजिह्विका) रोग कहते हैं। यदि यह (विजिह्विका) पक जाये, जो असाध्य होती है, उसको छोड़ना चाहिए।

वलयलक्षण

कफः करोत्युपच्छ्रितशोफमायतं। जलान्नरोधादधिकं भयंकरम्।
विवर्जयेत्तं वलयं गलामयं। विषाग्निशस्त्राशुनिमृत्युकल्पितम्॥ 85॥

भावार्थ : कफ से प्रकोप से, गले में, ऊँचा और लम्बा शोथ (ग्रंथि) उत्पन्न होता है। जिससे जल अन्न आदि आहार द्रव्य गले से नीचे उतरते नहीं, इसीलिए यह अत्यधिक भयंकर है। इसका नाम वलय है। यह विष, अग्नि, शस्त्र, बिजली व मृत्यु के समान है, इसे असाध्य समझकर छोड़ना चाहिए।

महालसलक्षण

कफानिलाभ्यां श्वयथुं गलोत्थितं महालसाख्यं बहुवेदनाकुलम्।
सुदुस्तरश्वासयुतं त्यजेद्बुधः। स्वमर्मविच्छेदनमुग्रविग्रहम्॥ 86॥

भावार्थ : कफवात के प्रकोप से गले में एक ऐसा शोथ उत्पन्न होता है, जो अत्यधिक वेदना व भयंकर श्वास से युक्त होता है। मर्मच्छेदन करने वाली इस दुस्तर व्याधि को महालस (बलाश) कहते हैं।

1. तालूक इति पाठांतर।

एकवृंद लक्षण

बलासरक्तप्रभवं सकंडुरं। स्वमन्युदेशं श्वयथुं विदाहिनं।
मृदुं गुरूं वृत्तमिहाल्पवेदनम्। तमेकवृंदं प्रविदार्य साधयेत्॥ 87॥

भावार्थ : कफ रक्त के विकार से खुजली व दाह सहित कंठ प्रदेश में होने वाला शोफ जो मृदु, गुरू, गोल व अल्प वेदनासहित है, उसे एकवृंद कहते हैं। उसको विदारण कर चिकित्सा करनी चाहिए।

वृन्दलक्षण

गले समुत्थं श्वयथुं विदाहिनं। स्ववृत्तमत्युत्कटपित्तरक्तजम्।
समुन्नतं वृन्दमजित्वरान्वितम्। भयंकरं प्राणहरं विवर्जयेत्॥ 88॥

भावार्थ : गले में, गोल ऊँचा शोध उत्पन्न होता है जो कि दाह, तीव्र ज्वर से संयुक्त है, इस प्राणघातक, भयंकर व्याधि को वृन्द कहते हैं। यह असाध्य होता है, इसलिए इसे छोड़ देवें, चिकित्सा न करें।

शतघ्नी लक्षण

सतोदभेदप्रचुरांवितांकुरां घनोन्नतां वर्तिनिभां निरोधिनीम्।
त्रिदोषलिंगां गलजां विवर्जयेत्। सदा शतघ्नीमिह सार्थनामिकाम्॥ 89॥

भावार्थ : तोदन भेदनादि से युक्त, कठिन, उन्नत, तीनों दोषों के लक्षणों से संयुक्त (त्रिदोषज) गले को रोकने वाला, बत्ती के सदृश जो अंकुर उत्पन्न होता है, इसे शतघ्नी कहते हैं। इसकी शतघ्नी (कांटे से युक्त शस्त्र विशेष) के समान आकृति होने से इसका शतघ्नी नाम सार्थक है।

शिलातु (गिलायु) लक्षण

गलोद्भवं ग्रंथिमिहाल्पवेदनं बलासरक्तात्मकमूष्मसंयुतम्।
विलग्नसिक्थोपममाशु साधेयद्विदार्य शस्त्रेण शिलातुसंज्ञिकम्॥ 90॥

भावार्थ : कफरक्त के विकार से उष्णता से युक्त, अल्पवेदना सहित शिलातु नामक गलग्रंथि होती है। जिसके होने से, (भोजन करते समय) गले में अन्न का ग्रास अटकता-सा मालूम पड़ता है। इसको शीघ्र विदारण करके चिकित्सा करनी चाहिए।

गलविद्रधि व गलौघलक्षण

स विद्रधिर्विद्रधिरेब सर्जजो। गले नृणां प्राणहरस्तथापरम्।
कफास्रगुत्थं श्वयथुं निरोधतो। गले गलौघं ज्वरदाहसंयुतम् ॥ 91॥

भावार्थ : मनुष्यों के कंठ में पूर्वोक्त विद्रधि के समान लक्षणों से युक्त सन्निपातज विद्रधि होता है। वह मनुष्यों का प्राण अपहरण करने वाला है और दूसरा कफ रक्त से उत्पन्न ज्वर व दाह से युक्त गल में महान् शोध उत्पन्न होता है। यह गलावरोध (अन्नपानादिक व वायु संचार को रोकता है) करता

है, इसलिए यह गलौघ कहलाता है।

स्वरघ्नलक्षण

बलाससंरुद्धशिरासु मारुत - प्रवृत्यभावाच्छ्वसितश्रमान्वितं।
हतस्वरः शुष्कगलो विलग्नवद्भवेत्स्वरघ्नामयपीडितो नरः॥ 92॥

भावार्थ : वायु का मार्ग कफ से लिप्त होने से, वायु की प्रवृत्ति नहीं होती है। इसलिए श्वास व परिश्रम से युक्त होकर रोगी का स्वर बैठ जाता है, गला सूख जाता है, गले में आहार अटकता-सा मालूम होता है। इस वातजन्य रोग को स्वरघ्न कहते हैं।

मांस रोग (मांसतान लक्षण)

गले तनोति श्वयथुं क्रमात् क्रमात्। त्रिदोषलिंगोच्छ्रयवेदनाकुलम्।
समांसरोगाख्यगलामयं नृणां। विनाशकृत्तीव्रविषोरगोपमम्॥ 93॥

भावार्थ : तीनों दोषों के लक्षणों को प्रकट करते हुए क्रम-क्रम से गले में शोफ बढ़ता जाता है, उसे मांसरोग कहते हैं। वह तीव्र विषैला सर्प के समान विनाश करने वाला है।

गलामय चिकित्सा व तालुरोग वर्णन प्रतिज्ञा

गलामयं छर्दननस्यलेपन। प्रलेपगण्डूषविशेषरूपणैः।
जयेदतस्तालुगतामयांतरं। ब्रवीमि तल्लक्षणतश्चिकित्सतैः॥ 94॥

भावार्थ : इस प्रकार गलगत रोगों की वमन, नस्य, लेपन, प्रलेपन, गण्डूष आदि विशिष्ट प्रकार से चिकित्सा करनी चाहिए। अब तालुगत रोगों का निरूपण लक्षण व चिकित्सा के साथ करेंगे।

नव प्रकार के तालुरोग

गलशुंडिका (गलशुंडी) लक्षण

असृक्कफाभ्यामिह तालुमूलजं। प्रबृद्धदीर्घायतशोफमुन्नतम्।
सकासतृष्णाश्वसनैः समन्वितम्। वदंति संतो गलशुंडिकामयम्॥ 95॥

भावार्थ : रक्तकफ के विकार से तालु के मूल में वृद्धि को प्राप्त, लम्बा, बड़ा व उन्नत शोफ होता है, जो कि खाँसी, तृषा व श्वास से युक्त रहता है, उसे गलशुंडिका रोग कहते हैं।

गलशुंडिका चिकित्सा व तुण्डिकेरी लक्षण व चिकित्सा

विभिद्य शस्त्रेण तमाशु साधयेत्। कटुत्रिकैः कुष्ठकुटन्नटान्वितैः।
स दाहवृत्तोन्नतशोफलक्षणं। स तुण्डिकेरिमपि खण्डयेब्दुधः॥ 96॥

भावार्थ : गलशुण्डी को शीघ्र शस्त्र से विदारण करके त्रिकटु, कूठ, शोनाफ इन औषधियों से (इनका लेप, गण्डूष आदि द्वारा) चिकित्सा करनी चाहिए। तालु में दाह सहित गोल, उन्नत शोध (कफ

रक्त के प्रकोप से) उत्पन्न होता है। इसे तुण्डिकेरी रोग कहते हैं। इसे भी विद्वान् वैद्य भेदन आदि द्वारा चिकित्सा करें।

अध्रुष लक्षण व चिकित्सा

ज्वरातिदाहप्रचुरोऽति रक्तजस्सरक्तवर्णः श्वयथुर्मृदुस्तथा।

तं तालुदेशोद्भवमध्रुषं जयेत् स शस्त्रकर्मप्रतिसारणादिभिः॥ 97॥

भावार्थ : रक्त के तीव्र प्रकोप, ज्वर व अतिदाह से युक्त लाल व मृदु शोथ, तालु में उत्पन्न होता है। इसे अध्रुष रोग कहते हैं। शस्त्रकर्म व प्रतिसारण आदि उपायों से उसकी चिकित्सा करें।

कच्छप लक्षण व चिकित्सा

स कच्छपः कच्छपवत्कफाद्भवेत्। सतालुशोफो विगतातिवेदनः।

तमाशु विश्रम्य विशोधयेत्सदा। फलत्रिकट्यूषणैतैलसैंधवः॥ 98॥

भावार्थ : कफ के विकार से तालु पर कछुवे के समान आकार वाले शोध की उत्पत्ति होती है। जिसमें अत्यधिक वेदना नहीं होती है, अल्प वेदना होती है, इसे कच्छप रोग कहते हैं। उसे शीघ्र विश्रांति देकर हरड़, बहेड़ा, सोंठ, मिरच,पीपल, तैल व सैंधा नमक के द्वारा शोधन करना चाहिए।

रक्तार्बुद लक्षण व मांससंघात लक्षण

स्वतालुमध्ये रुधिरार्बुदं भवेत्। प्रतीतरक्ताम्बुजसप्रभं महत्।

तथैव दुष्टं पिशितं चयं गतं। स मांससंघातगलो विवेदनः॥ 99॥

भावार्थ : रक्त के प्रकोप से तालु के मध्य भाग में प्रसिद्ध लाल कमल की कर्णिका के समान जो महान् शोथ होता है, इसे रक्तार्बुद रोग कहते हैं। (जिसका लक्षण पूर्वोक्त रक्तार्बुद के समान होता है) उसी प्रकार तालु के मध्य भाग में (कफ से) माँस दूषित होकर इकट्ठा होता है व वेदना रहित है, इसे मांससंघात कहते हैं।

तालुपुष्ण (प्प) ट लक्षण

अरुक् स्थिरः कोलफलोपमाकृतिर्बलासमेदः प्रभवोऽल्पवेदनः।

सत्तालुजः पुष्पटकस्तमामयं। विदार्य योगैः प्रतिसारयेत् भृशम्॥ 100॥

भावार्थ : कफ व मेद के विकार से तालु में पीड़ारहित अथवा अल्पवेदना युक्त स्थिर, बेर के समान जो शोथ उत्पन्न होता है, इसे तालुपुष्पक(तालुपुष्पुट) रोग कहते हैं। इसे विदारण कर, प्रतिसारणा करें।

तालु शोष लक्षण

विदार्यते तालु विशुष्यति स्फुटं। भवेन्महाश्वासयुतोऽतिरूक्षजः।
सतालुशोषो घृततैलमिश्रितैः। क्रियाः प्रकुर्यादिह वातपित्तयोः॥ 101॥

भावार्थ : अत्यधिक रूक्ष से तालु फट जाता है, सूख जाता एवं महान् श्वास युक्त होता है। इसे तालुशोष रोग कहते हैं। इसमें वातपित्तनाशक घी व तैल से मिले हुए औषधियों द्वारा चिकित्सा करना चाहिए।

तालु पाक लक्षण

महोष्मणा कोपितपित्तमुत्कट। करोति तालुन्यतिपाकमद्भुतम्।
स तालुपाकः पठितो जिनोत्तमैः। तमाशु पित्तक्रिययैव साधयेत्॥ 102॥

भावार्थ : अत्यधिक उष्ण पदार्थ के उपयोग से पित्त प्रकुपित होकर तालु में भयंकर पाक उत्पन्न करता है। उसे जिनेन्द्र भगवंत तालुपाक रोग कहते हैं, उसे पित्तहर औषधियों के प्रयोग से साधन करना चाहिए।

सर्वमुखगत रोग वर्णन प्रतिज्ञा

निगद्य तालुप्रभवं नवामयं । मुखेऽखिले तं चतुरं ब्रवीम्यहम्।
पृथग्विचारीति विशेषनामकं त्रिदोषजं सर्वसरं तथापरम् ॥ 103॥

भावार्थ : तालु के उत्पन्न नव प्रकार के रोगों का प्रतिपादन कर सम्पूर्ण मुखगत चार प्रकार के रोगों का अब निरूपण करेंगे। उसमें एक विचारी नामक पृथक् रोग है। दूसरा सर्वसर नामक रोग है, जो वात, पित्त व कफ से उत्पन्न होता है।

विचारी लक्षण

विदाहपूत्याननपाकसंयुतः प्रतानवानुत्कटपित्तकोपजः[1]।
भवेद्विचारी प्रतिपादितो जिनैर्महाज्वरस्सर्वगतो भयंकरः॥ 104॥

भावार्थ : अत्यधिक पित्त के प्रकोप से सम्पूर्ण मुख में दाह, दुर्गंध, पाक, स्नायु प्रतान व महान् ज्वर से संयुक्त जो शोथ उत्पन्न होता है। इसे श्री जिनेन्द्र भगवान् ने विचारी (बिदारी) रोग कहा हैं। यह भयंकर होता है।

बातज सर्वसर (मुखपाक) लक्षण

सतोदभेदप्रचुरातिवेदनैः सरूक्षविस्फोटगणैर्मुखामयैः।
समन्वितस्सर्वसरस्सवातज। स्तमामयं वातहरौषधैर्जयेत्॥ 105॥

1. स्नायुप्रतानप्रभवः इति ग्रंथातरे।

भावार्थ : मुख में तोदन, भेदन आदि से संयुक्त अनेक तरह की अत्यधिक पीड़ा से युक्त रूक्ष विस्फोट (फफोले) हों, इसे वातजन्य सर्वसर[1] (मुखरोग)कहते हैं, इसको वातनाशक औषधियों से जीतना चाहिए।

पित्तज सर्वसर लक्षण

स दाहपाकज्वरसंयुतैर्मुखं। सरक्त विस्फोटगणैश्चितं यदा।
स पित्तजः सर्वसरोऽत्र वक्त्रज ।स्तमाशु पित्तघ्नवरौषधैर्जयेत्॥ 106 ॥

भावार्थ : पित्त के प्रकोप से दाह, पाकज्वर से संयुक्त, लाल विस्फोट (फफोले) मुख में व्याप्त होते है, इसे पित्तज सर्वसर (मुखपाक) कहा है। इसे शीघ्र ही पित्तनाशक श्रेष्ठ औषधियों के प्रयोग से जीतना चाहिए।

कफज सर्वसर लक्षण ।

खरैस्सुशीतैरतिकण्डुरैर्घनै। रवेदनैः स्फोटगणैः सुपिच्छिलैः।
चितं मुखं सर्वसरो बलासजः।कफापहैस्तं समुपाचरेद्भिषक्॥ 107॥

भावार्थ : परुष, शीत, खुजलीयुक्त, कठिन, दर्द रहित पिच्छिल (लिवलिवाहट) आदि जब मुख में होते हैं, उसे कफ विकार से उत्पन्न सर्वसर रोग समझें। उसकी कफहर औषधियों से चिकित्सा करें।

सर्व सर्वसररोग चिकित्सा

सपित्तरक्तानखिलान्मुखामयान्। जयेद्विरकैः रूधिरप्रमोक्षणैः॥
मरुत्कफोत्थान्वमनैः सुधूमकैश्शिरोविरेकैः कैवलः प्रसारणैः ॥108॥

भावार्थ : पित्तरक्त के विकार से उत्पन्न, समस्त मुख रोगों को विरेचन व रक्तमोक्षण से चिकित्सा करनी चाहिए। वात कफ के विकार से उत्पन्न मुख रोगों को वमन, धूम्रपान, शिरोविरेचन, कवलग्रहण व प्रतिसारण से जीतना चाहिए।

मधूकादि धूपन वर्ति

मधुकराजादननिंबसेंगुदी । पलाशसैरण्डकमज्जमिश्रितैः ।
सकुष्ठमांसीसुरदारूगुग्गुल। प्रतीतसर्ज्जार्द्रकसारिवादिभिः[2] ॥ 109 ॥
सुपिष्टकल्कैः प्रविलिप्तपट्टकं। विवेष्ट्यवर्तिं वरवृत्तगर्भिणीम् ॥
विशोषितां प्रज्वलिताग्रधूमिकां विधाय वक्त्रं सततं प्रधूपयेत् ॥ 110 ॥

1. यह रोग, मुख, जिह्वा, गला, ओंठ, मसूड़े, दाँत व तालु, इन सात स्थानों में भी व्याप्त होने से, इसको सर्वसार रोग कहा है। 2. सदैव शुभै इति पाठांतरं।

भावार्थ : महुआ, खिरनी, नीम, हिंगोट, पलाश, एरण्ड इनकी मज्जा (गिरी) कूट, जटामांसी, देवदारू, गुग्गुल, राल, अद्रक, सारिवा इत्यादि को (घी के साथ) अच्छी तरह पीसकर कल्क बनावें। फिर उस कल्क को कपड़े में लेपन कर उसे गोल वेष्टन करें। उस बत्ती को सुखावें। सुखाने के बाद उसे जलावें। जलाकर ठीक धुंअे के ऊपर मुख रखकर धूप देना चाहिए।

मुखरोग नाशक धूप

तथैव दंती किणिही सहिंगुदी। सुरेंद्रकाष्ठैः सरलैश्च धूपयेत् ॥

सगुग्गुलुध्यामकमांसिकागुरु। प्रणीतसूक्ष्मामरिचैस्तथापरैः ॥ 111 ॥

भावार्थ : उसी प्रकार दंती, चिरचिरा, हिंगोट, देवदारू धूप सरल इनसे बनाई हुई बत्ती से भी धूपन-प्रयोग करना चाहिए, इसी प्रकार गुग्गुल सुगंधि तृण (रोहिस सोंधिया) जटामांसी, सूक्ष्मजटामांसी, अगुरु, मिर्च इन औषधियों से एवं इसी प्रकार के अन्य औषधियों से भी धूपन विधि करनी चाहिए।

मुखरोगनाशक योगांतर

अयं हि धूपः कफवातरोगनुत्। घृतेन युक्तः सकलान् जयत्यपि ॥

सदैव जातीकुसुमांकुरान्वितः। कषायगोमूत्रगणो मुखामयान् ॥112 ॥

भावार्थ : यह धूप कफवात के विकार से उत्पन्न मुख रोगों को नाश करता है। यदि घृत से युक्त करें, तो सर्व मुख रोगों को भी जीतता है। सदा जाई का फूल व अंकुर से युक्त कषाय रस व गोमूत्र, मुखगत समस्त रोगों को दूर करता है।

भृंगराजादि तैल

सुभृंगरा राजामलकाख्यया रसं । पृथक् पृथक् प्रस्थमिदं सतैलकम्।

पयश्चतुः प्रस्थपलं च यष्टिकं । पचेदिदं नस्यमनेकरोगजित्॥ 113 ॥

भावार्थ : भृंगराज (भांगरा) का रस एक प्रस्थ (64 तोला) आंबले का रस एक प्रस्थ, तिल का तैल एक प्रस्थ, गाय का दूध चार प्रस्थ, मुलैठी (कल्कार्थ) 16 तोला, इन सबको मिलाकर तैल सिद्ध करें। इस तैल के नस्य देने से मुख सम्बन्धी अनेक रोग नष्ट होते हैं।

सहादितैल

सहारिमेदामलकाभयासनैः कषायकल्कै रजनीकटुत्रिकैः ॥

विपक्व तैलं पयसा जयत्यलं। स नस्यगण्डूषविधानतो गदान्॥ 114 ॥

भावार्थ : रास्ना, अरिमेद (दुर्गंध युक्त खैर) आमलक, हरड़, विजयसार हल्दी, त्रिकटु इनका कषाय व कल्क, दूध इनके साथ पकाये हुए तैल को नस्य व गण्डूष विधान में उपयोग करें तो यह अनेक मुख रोगों को जीतता है।

सुरेन्द्रकाष्टादि योग

सुरेन्द्रकाष्ठं कुटजं सपाठां । सरोहिणीं चातिविषां सदंतिकां ।
पिबन् समूत्रं धरणांशसंमितं। पृथक् पृथक्च्छ्लेष्मप्रमुखामयान् जयेत् ॥ 115 ॥

भावार्थ : देवदारू, कूड़ा[1] की छाल, पाठा, कुटकी, अतिविषा, दंति (जमालगोटे की जड़) इन औषधियों को पृथक् पृथक् 24 रत्ति प्रमाण गोमूत्र में मिलाकर पीवें, तो कफविकार से उत्पन्न मुखरोगों का नाश होता है।

सर्वमुख रोग चिकित्सा संग्रह

किमुच्यते वक्त्रगतामयौषधं। कफानिलघ्नं सततं प्रयोजयेत् ॥
स नस्य गण्डूषविलेपसारण-प्रधूपनोद्यत्कबलानि शास्त्रवित्॥ 116 ॥

भावार्थ : मुखरोग के लिए औषधि को कहने की क्या जरूरत है। क्योंकि मुख में विशेषतया वात व कफ से रोग हुआ करते हैं। उनको बात व कफहर औषधि प्रयोग से सदा चिकित्सा करें। शास्त्रज्ञ वैद्य नस्य, गण्डूष, विलेपन, सारण, धूपन व कवलग्रहण इस उपायों को भी काम में लेवें।

मुखरोगी को पथ्यभोजन

समुद्रयूषैः सघृतैस्सलावणैः खलैस्सयूषैः कटुकौषधान्वितैः ॥
कषायतिक्ताधिकशाकसंयुतैरिहैकवारं लघु भोजनं भवेत् ॥117 ॥

भावार्थ : मुखरोग से पीड़ित रोगी को, मुद्रयुष, घृत, लवण, खल, यूष एवं कटुक औषधि इनसे युक्त तथा कषाय व कड़वा शाकों से युक्त लघु भोजन दिन में एक बार देना चाहिए।

मुखगत असाध्यरोग

इति प्रयत्नात्कथिता मुखामयाः षडुत्तराः षष्ठिरिहात्मसंख्यया ॥
ततस्तु तेष्वोष्ठगता विवर्ज्यास्त्रिदोषमांसक्षतजोद्भवास्त्रयः॥ 118 ॥

भावार्थ : इस प्रकार छियासठ 66 प्रकार के मुख रोगों का वर्णन प्रयत्न पूर्वक किया गया है। उन पूर्वोक्त ओष्ठरोगों में त्रिदोष (सन्निपात) मांस, रक्त इनसे उत्पन्न 3 तीन ओष्ठ रोग छोड़ने योग्य हैं अर्थात् अचिकित्स्य हैं।

दंतगत असाध्यरोग

स्वदंतमूलेष्वपि वर्जनीयौ । त्रिदोषालिंगौ गतिशौषिरौ परौ॥
तथैव दंतप्रभवास्ततोऽ परे । सदालनश्यामलभंजनैर्द्विजाः॥ 119॥

भावार्थ : दंतमुलज रोगों में तीनों दोषों के लक्षणों से संयुक्त अर्थात् तीनों दोषों से उत्पन्न नाड़ी

1. ग्रंथांतर में कुटजफल।

व महाशोषिर ये दोनों रोग वर्जनीय है एवं दंतोत्पन्न रोगों में दालन, शयामलदंत, भंजन ये तीन रोग असाध्य हैं।

रसनेन्द्रिय व तालुगत असाध्यरोग
कंठगत व सर्वगत असाध्य रोग

रसेन्द्रिये चाप्यलसं महागदं । विवर्जयेत्तालुगतं तथार्बुदं॥
गले स्वरघ्नं वलयं संबृदम् । महालसं मांसचयं च रोहिणीम्॥ 120॥
गलौघमप्युग्रतरं शताघ्निकं । भयप्रदं सर्वगतं विचारिणम् ॥
नवोत्तरान्वक्त्रगतामयान्दश। प्रयत्नतस्तान् प्रविचार्य वर्जयेत् ॥ 121॥

भावार्थ : रसनेन्द्रियज अलस नामक महारोग असाध्य है। तालुगत अर्बुद नामक रोग वर्जनीय है। कंठगत स्वरघ्न, वलय, वृन्द, महालस, मांसचय मांसतान रोहिणी, उग्रतर शतघ्नी एवं सर्वमुख, गत, विचारी रोग को भी भयंकर असाध्य समझना चाहिए। इस प्रकार मुख में होने वाले उन्नीस रोगों को वैद्य प्रयत्नपूर्वक अच्छी तरह से विचार करके अर्थात् रोग का निर्णय करके छोड़ देवें।

अथ नेत्ररोगाधिकारः

अतः परं नेत्रगतामयान्ब्रवी । म्यशेषतः संभवकारणाश्रितान् ॥
विशेषतल्लक्षणतश्चिकित्सितान साध्यसाध्यानखिलक्रमान्वितान् ॥122॥

भावार्थ : अब नेत्रगत समस्त रोगों को उनके उत्पत्तिकारण, लक्षण चिकित्सा, साध्या साध्य विचार आदि बातों के साथ प्रतिपादन करेंगे।

नेत्र का प्रधानत्व

मुख्यं शरीरार्द्धमथाखिलं मुखं । मुखेऽपि नेत्राधिकतां वदंति तत् ॥
तथैव नेत्रद्वयहीन मानुष-। स्वरूपमानस्तमसावगुंठितः ॥ 123 ॥

भावार्थ : मनुष्य के शरीर में मुख सारे शरीर का अर्धभाग समझना चाहिए क्योंकि मुख न हो तो उस शरीर की कोई कीमत नहीं है। अतएव (अन्य अंगों की अपेक्षा) मुख्य है। मुख में भी अन्य इन्द्रियों की अपेक्षा नेत्र का मूल्य अधिक है। क्योंकि यदि नेत्र न हो तो वह मनुष्य अंधकार से घिरे हुए एक वृक्ष के समान है।

नेत्ररोग की संख्या

ततस्तु तद्रक्षणमेव शोभनं। यथार्थनेत्रेंद्रियबाधकाशुभाः॥
षडुत्तराः सप्ततिरेव संख्यया। दुरामयास्तान् समुपाचरेद्भिषक् ॥124 ॥

भावार्थ : इसलिए उस नेत्रेन्द्रिय की रक्षा करने में ही शोभा है, अर्थात् हर तरह से उस की रक्षा

करनी चाहिए। यथार्थ में नेत्रेन्द्रियों को बाधा देने वाले, अशुभ व दुष्ट छहत्तर रोग होते हैं। उनकी वैद्य बहुत विचारपूर्वक चिकित्सा करें।

नेत्ररोग के कारण

जलप्रवेशादतितप्तदेहिनः। स्थिरासनात् संक्रमणाच्च[1] घमर्तः॥
व्यवायनिद्राक्षतिसूक्ष्मदर्शना। द्रजो विधूमश्रमवाष्पनिग्रहात्[2] ॥125॥
शिरोतिरूक्षादतिरूक्षभोजनात्। पुरीषमूत्रानिलवेगधारणात्॥
पलांडुराजीलशुनार्द्रभक्षणाद्भवंति नेत्रे विविधाः स्वदोषजाः ॥126॥

भावार्थ : गर्मी से अत्यन्त तप्त होकर एक दम (ठण्डा) जल में प्रवेश (स्नान, पानी में डूबना आदि) करने से, स्थिर आसन में रहने से ऋतुओं के संक्रमण अर्थात् ऋतु विपर्यय होने से (आँख में) पसीना आने से, अथवा अत्यधिक चलने से, अति मैथुन से, निद्रा का नाश होने से, सूक्ष्म पदार्थों को देखने से, धुली का प्रवेश व धूम का लगने से, अधिक श्रम से, आँसू के रोकने से शिर अत्यन्त रूक्ष होने से, अधिक रूक्षभोजन से, मल, मूत्र, वायु इनके वेगों को धारण करने से, प्याज, राई, लहसन, अदरख, इनके अधिक भक्षण से, नेत्राश्रित दोषों से उत्पन्न नाना प्रकार के रोग नेत्र में होते हैं।

नेत्र रोगों के आश्रय

अतस्तु तेषां त्रिविधास्तथाश्रयाः। समण्डलान्यत्र च संधयोऽपरे ॥
भवंति नेत्रे पटलानि तान्यलं। पृथक् पृथक् पंच षडेव षटपुनः ॥127॥

भावार्थ : उन नेत्र रोगों के नेत्रों में मण्डल, संधि, पटल ये तीन प्रकार के आश्रय हैं और क्रमशः इनकी संख्या (पृथक्) पाँच, छह और छह होती है। अर्थात् पाँच मण्डल छह संधि और छह पटल होते हैं।

पंचमंडल षट् संधि

स्वपक्ष्मवर्त्मद्वयशुक्लकृष्णस-। द्विशेषदृष्याश्रयमण्डलानि तत् ॥
द्वयोश्च संधावपि संधयस्ततः। कनीनिकापांगगतो तथापरौ ॥ 128 ॥

भावार्थ : नेत्रों मे पक्ष्म, वर्त्म, शुक्ल, कृष्ण, दृष्टि इस प्रकार ये पाँच मंडल हैं। इनमें दो-दो मंडलों के बीच में एक-एक संधि[3] है। इस प्रकार पाँच मंडलों के बीच में 4 संधियाँ हुई। पाँचवी संधि, कनीनक (नाक के समीप) में, छठी अपांग (कनपटी के तरफ नेत्र की कोर) में हैं।

---

1. चक्रमणाच्च इति पाठांतर। 2. बिन्दुघट्टनात् इति पाठांतरं।
3. 1. जैसे 1 पक्ष्म और वर्त्य के बीच में। 2. वर्त्म और शुक्ल भाव (सफेद पुतली) के बीच में 3. सफेद और काली पुतली के बीच में । 4. काली पुतली और दृष्टि (तिल) के बीच में।

षट् पटल

इमे च साक्षात्पटले स्ववर्त्मनि । तथैव चत्वार्यपि चक्षुषः पुटम् ॥
भवेच्च घोरं तिमिरं च येषु तत् । विशेषतस्सर्वगतामयान्ब्रुवे ॥ 129 ॥

भावार्थ : दो पटल (परदे) तो वर्त्म में होते हैं। इसी प्रकार चार पटल नेत्र गोलक (अक्षि) में होते हैं। इन्हीं नेत्र गोल के चार पटलों में तिमिर नामक घोर व्याधि होती है। आगे सम्पूर्ण नेत्रगत रोगों के वर्णन विशेष रीति से करेंगे।

अभिष्यंदवर्णनप्रतिज्ञा

समस्तनेत्रामयकारणाश्रयान्। ब्रवीम्यभिष्यंदविशेषनामकान्॥
विचार्य[1] तत्पूर्णमपक्रमंच त-। द्विशेषदोषप्रभावाखिलामयान्॥ 130 ॥

भावार्थ : समस्त नेत्र रोगों के कारण व आश्रयभूत तत्तद्विशेष दोषों से उत्पन्न, अभिष्यंद इस विशेष नामधारक, सम्पूर्ण रोगों को कहते हुए उनकी सम्पूर्ण चिकित्सा को भी कहेंगे।

वाताभिष्यंद लक्षण

सतोदभेदप्रचुरातिवेदना। विशेषपारूष्यसरोमहर्षणम्॥
हिमाश्रुपातोऽशिशिराभिनंदनं । भवत्याभिष्यंद तदेव मारुतम्॥ 131 ॥

भावार्थ : जिस अक्षिरोग में, आँखों में तोदन भेदन आदि नाना प्रकार की अत्यन्त वेदना, कड़ापन व रोमांच होता हो, ठण्डे आँसू (जल) गिरते हो और गरम उपचार अच्छा मालूम होता हो, उसे वातभिष्यंद अर्थात् वातोद्रेक से उत्पन्न अभिष्यंद जानना चाहिए।

वातभिष्यंद चिकित्सा ।

पुराणसर्पिः प्रविलिप्तमक्षित। द्विशेषवातनगणैः श्रुतांबुना॥
सुखोष्णसंस्वेदनमाशु कारयेत् । प्रलेपयेत्तैरहिमैस्ससैंधवैः॥ 132 ॥

भावार्थ : उस (वाताभिष्यंद से पीड़ित आँख) पर पुराने घी का लेपन करके वातनाशक गणोक्त औषधियों से पक्व अन्य उष्ण जल से अच्छी तरह से स्वेदन कराना चाहिए। उन्हीं वातनाशक औषधियों में सेंधा नमक मिलाकर कुछ गरम करके उस पर लेपन करना चाहिए।

वाताभिष्यंद में विरेचन आदि प्रयोग

ततश्च सुस्निग्धतनुं विरेचयेत् । सिराविमोक्षैरपि बस्तिकर्मणा॥
जयेत्समस्यैः पुटपाकतर्पणैः सुधूमनिस्वेदनपत्रबंधनैः ॥ 133 ॥

भावार्थ- इसके बाद रोगी को स्नेहन करके विरेचन कराना चाहिए। सिरा विमोक्ष व बस्तिकर्म

1. व्यपोह्य इति पाठांतरं।

भी करना चाहिए एवं नस्य प्रयोग, पाक तैल तर्पण, धूमन, स्वेदन व पत्र बंधन आदि विधि करनी चाहिए।

विशेष–तर्पण जो नेत्रों की तृप्ति करता है, उसे तर्पण कहते हैं। अर्थात् आँखों के हितकारी औषधियों के रस, घी आदि को (रोगी को चित्त सुलाकर) आँखों में डालकर कुछ देर तक धारण किया जाता है, इसे तर्पण कहा है।

पुटपाक– नेत्र रोगों का हितकारी औषधियों को पीसकर गोला बनावें। पश्चात् आम इत्यादि पत्तियों को उस पर लपेट कर उस पर मिट्टी का लेप करें। इसके बाद कण्डों की अग्नि से उस गोले को (पुट पाक की विधि के अनुसार) जलावें। फिर उसकी मिट्टी व पत्तों को दूर करके उस गोले को निचोड के रस निकाल लेवें और उसकों तर्पण की विधि के अनुसार नेत्रों में डाले। इसे पुटपाक कहते हैं ।

पथ्य भोजनपान

फलाम्लसंभारसुसंस्कृतैः खलैः। घृतैः श्रृतक्षीरयुतैश्च भोजयेत्॥
पिबेत्स भुक्तोपरि सौरभंघृतं[1]। सुखोष्णमल्पं तृषिती जलांजलिम्॥134॥

भावार्थ : फल, आम्लसे युक्त, खट्टा फल, धनिया जीरा इत्यादि से अच्छी तरह संस्कृत खल, तथा घी से पका हुआ व दूध से युक्त भोजन कराना चाहिए। भोजन करने के ऊपर सुगंध घी (सौरभधृत) पिलाना चाहिए। यदि प्यास लगे तो थोड़ा–सा गरम जल पिलाना चाहिए।

वातभिष्यंदक नाशक अंजन

समातुलुगाम्लंकसैंधवं घृतं। सतैलमेद्वनितापयो युतम्॥
सनीलिकं घृष्टमिदं सदंजनं। कटुत्रिकैर्धूपितमंजयेत्सदा ॥135॥

भावार्थ : विजोरा निंबू का रस, सैंधालोण, तिल का तैल, स्त्री का दूध, नीली, इन को एकत्र कर के (ताम्रपात्र या पत्थर के पात्र में) अच्छी तरह पीसें और इस श्रेष्ठ अंजन को सौंठ, मिरच, पीपल से धूप देकर हमेशा अंजन करना चाहिए।

वाताभिष्यंदचिकित्सोपसंहार

विलोचनोद्भूतमरूत्कृतामयान्। प्रसाधयेत्प्रोक्तविधानतोऽखिलान् ॥
यथोक्तवातामयसच्चिकित्सित–। प्रणीतमार्गादथवापि यत्नतः ॥136॥

भावार्थ : इस प्रकार वात से उत्पन्न सम्पूर्ण नेत्र रोगों को पूर्वोक्त कथन के अनुसार चिकित्सा करके, ठीक करना चाहिए। अथवा वात रोगों के लिए जो चिकित्सा पहले बताई गई है, उस क्रम से यत्नपूर्वक चिकित्सा करें।

1. सुरभि गाय के दूध से उत्पन्न घृत।

पैत्तिकाभिष्यंद लक्षण

विदाहपाकप्रबलोष्माधिक। प्रवाष्पधूमायनसौष्णवारिता॥
तृषा बुभुक्षाननपीतभावता। भवंत्यभिष्यंदगणे तु पैत्तिके॥ 137॥

भावार्थ : आँखों में दाह व अधिक उष्णता, पानी गिरना, धूवां-सा उठना, अश्रुजल उष्ण रहना, अधिक भोजन की इच्छा होना, मुख पीला पड़ जाना आदि लक्षण पित्तकृत अभिष्यंद रोग में पाये जाते हैं।

पैत्तिकाभिष्यंदचिकित्सा

घृतं प्रपाय प्रथमं मृदूकृतं । विशोधयेत्तत्र शिरां विमोक्षयेत्॥
त्र्यहाच्च दुग्धोद्भव सर्पिषा शिरो। विरेचयेत्तर्पणमाशु योजयेत्॥ 138॥

भावार्थ : पित्ताभिष्यंद से पीड़ित रोगी को प्रथम घृत पिलाकर (घृत से स्नेहन कर) शरीर को मृदु करके विरेचन देना चाहिए और सिरामोक्षण (फस्त खोलना) भी करना चाहिए। इसके[1] तीन दिन के बाद दूध से उत्पन्न (दही से उत्पन्न नहीं) घी से शिरोविरेचन और तर्पण को शीघ्र प्रयोग करना चाहिए।

पित्ताभिष्यंद में लेप रसक्रिया

मृणालकल्हारकपद्मकोत्पल -। प्रधानदुग्धांघ्रिपशृंगिचंदनैः॥
पयोनुपिष्टैः घृतशर्करायुतैः। प्रलेपयेत्तैर्वितरेद्रसक्रियाम् ॥ 139॥

भावार्थ : कमलनाल, श्वेतकमल (कुमुदिनी) पद्मकाष्ठ व नीलकमल, प्रधान पंच क्षीरीवृक्ष (बड़, गूलर, पीपल, परिसपीपल, पाखर) शक्कर काकडासिंगी मिलाकर उसमें प्रलेपन करना एवं उन्हीं औषधियों की रसक्रिया[2] का प्रयोग करना हितकर है।

अंजन

सुचूर्णितं शंखमिह स्तनांबुना। विघट्टयेदायसभाजनद्वये॥
मुहूर्महुश्शर्करया सुधूपितं। सदांजयेत्पित्तकृतामयाक्षिणि॥ 140॥

भावार्थ : शंख को अच्छी तरह चूर्णकर फिर उसे स्तन दूध के साथ लोह के दो बरतन में डालकर खूब रगड़ना चाहिए (अर्थात् लोह के बरतन में डालकर लोहे की मूसली से रगड़ें) उसे बार-बार शक्कर से धूप देकर पित्तजन्य अभिष्यंद रोग से पीड़ित आँखों में हमेशा अंजन करें।

1. **सद्वयघृष्टमिष्टतः** इति पाठांतरं।
2. किसी का ऐसा मत है कि रोग की उत्पत्ति से तीन दिन के बाद शिरो विरेचन आदि करना चाहिए।
3. क्वाथ इत्यादियोंको फिर पकाकर, गाढ़ा (घन) किया जाता है, इसे रसक्रिया कहते हैं। ग्रंथातर में कहा भी है। **क्वाथादीनां पुनः पाकात् घनभावे रसक्रिया।**

अक्षिदाह चिकित्सा

सयष्टिकल्कं पय एव महषं। विगालितं शीतलमिंदुसंयुतम्॥

निषेवयेदक्षिविदाहबाधिते। घृतेन पौंड्रेक्षुरसेन वा पुनः॥ 141॥

भावार्थ : आँखें दाह से पीड़ित हो जाये, तो मुलैठी के कल्क में भैंस का दूध मिलाकर गालन करें। तदनंतर उसमें कपूर मिलाकर सेवन करें अथवा इसी कल्क को घी, या गन्ने के रस के साथ सेवन करें।

पित्ताभिष्यंद में पथ्यभोजन

पिबेद्यबागूं पयसा सुसाधितां । घृतप्लुतां शर्करया समन्वितां॥

समुद्गयूषं घृतमिश्रपायसं। सुमुद्गयुषोदनमेव वाशनम्॥ 142॥

भावार्थ : पित्ताभिष्यंद से पीड़ित रोगी को दूध से पकाया हुआ, घी से तर, शक्कर से युक्त यवागू को पिलाना चाहिए। एवं मुद्रयूष या घृतमिश्रित पायस (खीर) अथवा मुद्गयूष के साथ अन्न का भोजन कराना चाहिए।

पित्ताभिष्यंद में पथ्यशाक व जल

कषायतिक्तैर्मधुरैस्सशीतलैः विपक्व शाकैरिह भोजयेन्नरम्॥

पिबेज्जलं चंदनगंधबंधुरं। हितं मितं पुष्पघनाधिवासितम् ॥ 143॥

भावार्थ : कषाय, कड़वा, मधुर रस व शीतल वीर्ययुक्त पकाया हुआ शाक उस रोगी को खिलावें। यदि उसे प्यास लगे तो चंदन के गंध से मनोहर व सुगंध पुष्प, कपूर से सुवासिक हितकर जल को मित से पिलाना चाहिए।

पित्तजसर्वाक्षिरोग चिकित्सा

कियंत एवाक्षिगतामया नृणां। प्रतीतपित्तप्रभवा विदाहिनः॥

ततस्तु तान्शीतलसर्वकर्मणा। प्रसाधयेत्पित्तचिकित्सितेन वा॥ 144॥

भावार्थ : मनुष्यों की आँख में पित्त से उत्पन्न अतएव अत्यन्त दाह से युक्त कितने ही नेत्ररोग उत्पन्न होते हैं। इसलिए इन सब को, शीतल चिकित्सा द्वारा अथवा पैत्तिक रोगोक्त चिकित्सा क्रम द्वारा जीतना चाहिए।

रक्तजभिष्यंद लक्षण

सलोहिते वक्त्रमथाक्षिलोहितं। प्रतानराजीपरिवेष्टितं यथा ॥

सपित्तलिंगान्यपि यत्र लोहितं। भवेदभिष्येद इति प्रकीर्तितः॥ 145 ॥

भावार्थ : जिस नेत्ररोग में मुख लाल हो जाता है, आँखें भी लाल हो जाती हैं एवं लाल रेखाओं

के समूह से युक्त होती है, जिसमें पित्ताभिष्यंद के लक्षण भी प्रकट हो जाते हैं, उसे रक्तजन्य अभिष्यंद रोग जानना चाहिए।

रक्तजाभिष्यंद चिकित्सा

तमाशु पित्तक्रियया प्रसाधये। दसृग्विमोक्षैरपि शोधनादिभिः॥
सदैव पित्तास्रसमुद्भवान्गदा-। नशेषशीतक्रियया समाचरेत्॥ 146॥

भावार्थ : उसे शीघ्र पित्तहर औषधियों से चिकित्सा करनी चाहिए एवं रक्त मोक्षण, शोधनादि (वमन विरेचन आदि) विधि भी करनी चाहिए। सदा पित्त व रक्त विकार से उत्पन्न रोगों को समस्त शीत क्रियाओं से उपचार करना चाहिए।

कफजाभिष्यंद लक्षण

प्रदेहशीतातिगुरूत्वशोफता । सुतीव्रकण्डूराहिमाभिकांक्षणम् ॥
सपिच्छिलास्रावसमुद्भवः कफा।द्भवन्त्यभिष्यंदविकारनामनि ॥147॥

भावार्थ : आँखों में कुछ लिप्त-सा मालूम होना और अति शैत्य, भारीपना व शोफ होना, तीव्र खुजली चलना, गरम पदार्थों में अधिक लालसा होना एवं आँखों से चिकना स्राव होना ये लक्षण कफज अभिष्यंद रोग में पाये जाते हैं।

कफजाभिष्यंद की चिकित्सा

तमप्यभीक्ष्णं शिरसो विरेचनैः। सिराविमोक्षैरतिरूक्षतापनैः॥
फलत्रिकत्र्यूषणसार्द्रकद्रवैः। प्रलेपयेत्सोष्णगवांबुपेषितैः॥ 148॥

भावार्थ : उस कफज अभिष्यंद को भी शिरोविरेचन, सिरा मोक्षण व अतिरूक्ष पदार्थों से तापन के द्वारा उपचार करना चाहिए। एवं त्रिफला (सोंठ मिरच पिंपल) इनको अद्रक के रस व उष्ण गोमूत्र के साथ अच्छी तरह पीसकर आँखों में लेपन करना चाहिए।

कफाभिष्यंद में आश्चोतन व सेक

ससैंधवैस्सोष्णतरैर्मुहुर्मुहु-। र्भवेत्सदाश्चोतनमेव शोभनम् ॥
पुनर्नवांघ्रिप्रभवैः ससैंधवै।रसैर्निर्षिचेत्कफरूद्धलोचनम्॥ 149॥

भावार्थ : बार-बार उष्णतर सेंधा लोण से उस पर सेक देना चाहिए एवं सोंठ के रसको सेंधा लोण के साथ मिलाकर उसको उस कफगत आँख में सेचन करना चाहिए।

कफाभिष्यंदमें गण्डूष व कबल धारण ।

सुपिष्टसत्सर्षपंसोष्णवारिभिः। सदैव गण्डूषविधिर्विधीयताम् ॥
सशिग्रुमूलार्द्रककुष्टसैंधवैः।प्रयोजयेत्सत्कबलान्यनंतरम्॥ 150 ॥

भावार्थ : सरसों को अच्छी तरह पीसकर गरम पानी से मिलाकर उससे गण्डूष प्रयोग करें। एवं तदनंतर सेजन का जड़, अद्रक, सैंधानमक इन औषधियों से कबल ग्रहण करावें।

कफाभिष्यंद में पुटपाक

पुटप्रपाकैरतितीक्ष्णरूक्षजैः। कषायसक्षारगणैर्गवांबुभिः ॥
निशाद्वयत्र्यूषणकुष्ठसर्षप। प्रपिष्टकल्कैर्लुलितैः सुगालितैः ॥ 151 ॥

भावार्थ : अतितीक्ष्ण व रूक्ष औषधियों को कषाय व क्षार द्रव्यों के साथ मिलाकर गोमूत्र के साथ पीसें एवं दोनों हल्दी, त्र्यूषण, कूठ, सरसों इनका कल्क बनाकर उसमें मिलावें, फिर गालनकर पुटपाक सिद्ध होने पर कफाभिष्यंद में प्रयोग करें।

मातुलुंगाद्यजंन

समातुलुंगाम्लकसैंधवान्वितं। निशाभयानागरपिप्पलीत्रयम्॥
विघट्टयेदुज्ज्वलताम्रभाजने। हरीतकीतैलसुधूपितं मुहुः ॥ 152 ॥

भावार्थ : विजोरी निंबू, बड़हल, सैंधानमक, हल्दी हरड़, सोंठ, पीपल, वन पीपल गजपीपल, इन को साफ ताम्र के बर्तन में डालकर खूब रगड़ना चाहिए और उसे, हरड़ व तिल के तैल से बार-बार धूप देना चाहिए। यह अंजन श्लेष्माभिष्यंद रोग को हितकारी है।

मुरुग्यांजन

तथा मुरुंगी सुरसार्द्रकद्रवै। र्मणिच्छिला मागधिका महौषधम्॥
विमर्दयेत्तद्वदिहप्रधूपितं। सदांजनं श्लेष्मकृताक्षिरोगिणां॥ 153॥

भावार्थ : काला सेंजन तुलसी व आर्द्रक के रस से मैनशिल, पीपल, सोंठ, इनको ताम्र के बर्तन में खूब मर्दन करें और हरड़ और तैल से धूप देवें। इस अंजन को कफोत्पन्न नेत्र रोगियों को प्रयुक्त करना चाहिए।

कफज सर्वनेत्र रोगों के चिकित्सा संग्रह

कफोद्भवानक्षिगताखिलामया। नुपाचरेदुक्तसमस्तभेषजैः।
विशेषतः कोमलशिग्रुपल्लव। प्रधानजातीपुटपाकसद्रसैः॥ 154॥

भावार्थ : उक्त प्रकार के समस्त औषधियों से कफविकार से उत्पन्न नेत्र रोगों की चिकित्सा करनी चाहिए। विशेषतया सेंजना के कोमल पत्ते जाई (चमेली) के पत्ते को पुटपाक करके भी इसमें उपचार करना चाहिए।

कफाभिष्यंद में पथ्य भोजन

कफातियुक्तेतिकटुप्रयोगै। र्विशुष्कशाकैरहिमैर्विरूक्षितैः॥
त्र्यहात्र्यहात् प्रातरूपोषितं नरं। घृतान्नमल्पं लघुभोजयेत्सकृत् ॥ 155 ॥

भावार्थ : कफ अत्यधिक युक्त नेत्र रोगी मनुष्य को अति कटु औषधियों के प्रयोग के साथ-साथ तीन-तीन दिन तक उपवास कराकर, सूखे व रूक्ष गरम शाकों के साथ घी से युक्त लघु व अल्प अन्न को प्रातःकाल एक बार भोजन करावें।

कफाभिष्यद में पेय

पिबेदसौ कुष्टहरीतकीघनैः। श्रृतोष्णमल्पं जलमक्षिरोगवान् ।
कटूष्णसद्भेषजसिद्धमेव वा। हितं मनोहारिणमाढकीरसम् ॥ 156 ॥

भावार्थ : यह नेत्र रोगवाला कूठ, हरड़, नागरमोथा, इनसे पकाये हुए थोड़ा गरम, पानी को पीवें अथवा कटु, उष्ण औषधियों से सिद्ध अडहर के रस (जल) को पीवें, वह हितकर है।

अभिष्यंद की उपेक्षा से अधिमंथ की उत्पत्ति

उपेक्षणादक्षिगतामया इमे। प्रतीतसत्स्यंदविशेषनामकाः।
स्वदोषभेदैर्जनयंति दुर्जयान्। परानधीमन्थनसंभिधानकान्॥ 157 ॥

भावार्थ : यदि इन अभिष्यंद नामक प्रसिद्ध नेत्र रोगों की उपेक्षा की जाये, अर्थात् सकाल में योग्य चिकित्सा न करें तो वे अपने-अपने दोष भेदों के अनुसार दुर्जय ऐसे अधिमंथ नामक दूसरे रोगों को पैदा करते हैं। जैसे कि कफाभिष्यंद हो तो कफाधिमंथ को, पित्ताभिष्यंद पित्ताधिमंथ को उत्पन्न करता है इत्यादि जानना चाहिए।

अधिमंथका सामान्य लक्षण

भृशं समुत्पाट्य त एव लोचनं। मुहु मुहुर्मथ्यत एव सांप्रतम् ॥
शिरोऽर्धमप्युग्रतरातिवेदनम्। भवेदधीमन्यविशेषलक्षणम् ॥ 158 ॥

भावार्थ : जिसमें एकदम आँख उखड़ती जैसी मालूम होती हो और उनको कोई मंथन करते हो, इस प्रकार की वेदना जिसमें होती हो एवं अर्धमस्तक अत्यधिक रूप से दुखता हो, उसे अधिमन्थ रोग समझें अर्थात् यह अधिमंथ[1] रोग का लक्षण है।

अधिमंथों में दृष्टिनाश की अवधि

कफात्मको वातिकरक्तजौ क्रमात्। ससप्तषट्पंचभिरेव वा त्रिभिः॥
क्रियाविहीनाः क्षपयंति तेदृशं । प्रतापवान्पैत्तिक एव तत्क्षणात् ॥159॥

भावार्थ : कफज, वातज व रक्तज अधिमन्थ की यदि चिकित्सा न करें तो क्रम से सात छह व पाँच दिन के अंदर आँखों को नष्ट करता है। अर्थात् कफज अधिमंथ सात दिन में, वातिक अधिमंथ छह दिन में, रक्तज अधिमंथ पाँच या तीन दिन में दृष्टि को नष्ट करता है। पैत्तिक अधिमंथ तो उसी समय आँखों को नष्ट करता है।

1. इस अधिमंथ के अभिष्यंद के समान वातज, पित्तज कफज, रक्तज, इस प्रकार चार भेद हैं।

अधिमंथ चिकित्सा

अतस्तु दृष्टिक्षयकारणामयान्। सतो ह्यधीमन्थगुणान्विचार्य तान् ॥
चिकित्सितैश्शीघ्रमिह प्रसाधये-। द्भयंकरान् स्यंदविशेषभेषजैः ॥160॥

भावार्थ : इसलिए आँखों के नाश के लिए कारणीभूत इन भयंकर अधिमंथ रोगों के गुणों को अच्छी तरह विचारकर उनके योग्य औषधियों से एवं अभिष्यंद रोगोक्त औषधियों से बहुत विचारपूर्वक चिकित्सा करें।

हताधिमंथ लक्षण

भवेदधीमन्थ उपेक्षितोऽनिल। प्रभूतरोगोऽक्षिनिपातयत्यलं ॥
असाध्य एषोऽधिक वेदनाकुलो। हताधिमन्थो भुवि विश्रुतो गदः ॥161॥

भावार्थ : वातज अधिमन्थ की उपेक्षा करने पर एक रोगकी उत्पत्ति होती है, जो आँखों को गिराता है एवं जिसमें अत्यन्त वेदना होती है उसे हतधिमंथ रोग कहते है। वह असाध्य होता है।

शोफयुक्त, शोफरहित नेत्रपाक लक्षण

प्रहेदकण्ड्वास्रवदाहसंयुतः प्रपक्व बिंबीफलसन्निभो महान् ॥
सशोफकः स्यादखिलाक्षिपाकइ-। त्यथापरः शोफविहीनलक्षणः ॥162॥

भावार्थ : मल से लिप्त-सा होना, खाज, स्राव व दाह से युक्त होकर बिंबीफल के समान जो लाल सूज गया हो, उसे शोफ सहित अक्षिपाक कहते हैं। इसके अलावा शोफ रहित अक्षिपाक भी रोग होता है।

वातपर्यय लक्षण

यदानिलः पक्ष्मयुगे भ्रमत्यलं। भ्रुवं सनेत्रं त्वधिकं श्रितस्तदा।
करोति पर्यायत एव वेदनां। स पर्ययस्यादिह वातकोपतः॥ 163॥

भावार्थ : जब वायु भृकुटी व नेत्र को विशेषतया प्राप्त कर दोनों पलकों में घूमता है अर्थात् (भृकुटी, नेत्र की अपेक्षा) कुछ कम अंश में पलकों में आश्रित होता है तब (कभी नेत्र, कभी दोनों पलकें, कभी भृकुटी प्रदेश में घूमता है तो) पर्याय रूप से अर्थात् कभी नेत्र में कभी भृकुटी में कभी पलकों में वेदना उत्पन्न करता है। यह उद्रिक्त वात से उत्पन्न होता है। इसे वातपर्यय रोग कहते हैं।

शुष्काक्षिपाक लक्षण

यदाक्षि सकुंचितवर्त्मदारूणं। निरीक्षितुं रूक्षतराविलात्मकं ।
न चैव शक्नोत्यनिलप्रकोपतो। विशुष्कपाकप्रहतं तदादिशेत् ॥ 164 ॥

भावार्थ : वात के प्रकोप से आँखें संकुचित हो जाये अर्थात् खुले नहीं और रुक्ष हो जिसकी वर्त्म, (वाफणी) कठिन हो, देखने में मैला दिखें (साफ न दिखें), आँखों से देख नहीं सकें (उघाड़ने

में अत्यन्त कष्ट होता हो) उसे शुष्काक्षिपाक कहना चाहिए।

अन्यतो वात लक्षण

विलोचनस्थो भ्रुवि संचितोऽनिलः शिरोवहां कर्णहनुप्रभेदिनी।
करोति मन्यास्वपि तीव्रवेदनां। तमन्यतो वातमुशन्ति संततम् ॥ 165 ॥

भावार्थ : आँख में रहने वाला, भ्रू में संचित वात शिर में बहने वाली नाड़ी, कान, हनु (टोडी) और मन्यानाड़ी में ऐसी तीव्र पीड़ा उत्पन्न करता है जो भिदती मालूम होती है। इसे अन्यतो[1] वातरोग कहते हैं।

आम्लाध्युषित लक्षण

विदाहिनाम्लेन निषेवितेन तद्विपच्यते लोचनमेव सर्वतः ॥
सलोहितं शोफयुतं विदाहवद्भवेत्तदाम्लाध्युषितस्तु रक्ततः ॥166 ॥

भावार्थ : विदाही आम्ल पदार्थ के सेवन करने से संपूर्ण आँख पक जाती है। और लाल, शोफयुक्त व दाहयुक्त होती है। वह रोग रक्त के प्रकोप से उत्पन्न होता है। उसे आम्लाध्युषित रोग कहते हैं।

शिरोत्पात लक्षण

यदक्षिराज्यो हि भवंति लोहिताः। संवेदना वाप्यथवा विवेदनाः॥
मुहुर्विसृज्यन्त्यसृजः प्रकोपतो। भवेच्छिरोत्पात इतीरितो गदः ॥167 ॥

भावार्थ : जिसमें आँखों की नसें पीड़ायुक्त अथवा पीड़ा रहित होती हुई, लाल हो जाती है और बार-बार ललाई को छोड़ देती है अथवा विशेष लाल हो जाती हैं, इस व्याधि को शिरोत्पाद कहते है। यह रक्त प्रकोप से उत्पन्न होता है।

शिराप्रहर्ष लक्षण

यदा शिरोत्पात उपेक्षितो नृणां। शिराप्रहर्षो भवतीह नामतः ॥
ततः स्रवत्यच्छमजस्त्रमास्रवो। नरो न शक्नोत्यभिलक्षितुं क्षणम्॥ 168॥

भावार्थ : यदि शिरोत्पात रोग की उपेक्षा करें तो शिरा प्रहर्ष नामक रोग होता है जिसमें सदा आँखों से स्वच्छ स्राव होता ही रहता है। वह मनुष्य एक क्षण भी देखने के लिए समर्थ नहीं होता है।

---

1. अन्य ग्रन्थकारों का तो ऐसा मत है कि मन्या, हनु, कर्ण आदि स्थानों में रहने वाला वात आँख व भृकुटी में पीड़ा उत्पन्न करता है, उसे अन्यतो वात कहते हैं। वह वात अन्य स्थानों में रहकर अन्य स्थान में पीड़ा उत्पन्न करता है। इसलिए इसका नाम सार्थक है।

नेत्ररोगों का उपसंहार

इति प्रयत्नादृशसप्तसंख्यया। प्रतीतरोगान्नयनाखिलाश्रयान्॥
विचार्य तत्साधनसाध्यभेदवि-। द्विशेषतस्स्येदचिकित्सतैर्जयेत्॥ 169॥

भावार्थ : इस प्रकार संपूर्ण नेत्र में होने वाले सत्रह प्रकार के नेत्र रोगों को, साध्यसाधन भेद को जानने वाला मतिमान् वैद्य, विशेष रीति से विचार करके, उनको अभिष्यदोक्त चिकित्सा पद्धति से जीतें।

संध्यादिगत नेत्ररोग वर्णन प्रतिज्ञा

अतोत्र नेत्रामयमाश्रितामया। नसाध्यसाध्यक्रमतश्चिकित्सितैः॥
ब्रवीमि तल्लक्षणतः पृथक् पृथक्। विचार्य संध्यादिगतान्स्वसंख्यया॥ 170 ॥

भावार्थ : यहाँ से आगे, नेत्र रोगों के अश्रित रहने वाले, संधि आदि स्थानों में रहने वाले, संधिगत, वर्त्मगत आदि रोगा के साध्यासाध्य विचार, उनकी चिकित्सा, अलग-अलग लक्षण और संख्या के साथ-साथ वर्णन करेंगे।

संधिगत नव विध रोग व पर्वणी लक्षण

नवैब नेत्राखिलसंधिजामया। यथाक्रमात्तान् सचिकित्सितान् ब्रुवे ॥
चलातिमृद्वि निरुजातिलोहिता। मतात्रसंधौपिटका तु पर्वणी ॥ 171॥

भावार्थ : नेत्र की सर्व संधियों में, होने वाले रोग नौ प्रकार[1] के ही होते हैं। उनको उनके चिकित्सा क्रम के साथ-साथ क्रम से वर्णन करेंगे। कृष्ण व शुल्क की संधि में चल, अत्यन्त मृदु, पीड़ा से रहित, अत्यधिक लाल, ऐसी जो पिडिका होती है, उसे आचार्यों ने पर्वणी नाम से कहा है।

अलजी लक्षण

कफादतिस्रावयुतोऽतिवेदनः। सकृष्णवर्णः कठिनश्च संधिजः ॥
भवेदतिग्रंथिरिहालजी गदः। स एव शोफः परिपाकमागतः ॥ 172 ॥

पूयालस, कफोपनाह लक्षण

सतोदभेदो बहुपूयसंस्रवी । भवेत्स पूयालस इत्यथापरः ॥
स्वदृष्टिसंधौ न विपक्वान् महा-। नुदीरितो ग्रंथिरिहाल्पवेदनः ॥ 173॥

कफजस्राव लक्षण

कफोपनाहो भवतीह संज्ञया। स एव पक्को बहुपूयसंस्रवात् ॥
सपूयसंस्रावविशेषनामकः। सितं विशुष्कं बहुलातिपिच्छिलम् ॥ 174॥

1. पूयालस, कफोपनाह, चार प्रकार के स्राव (कफस्राव, पित्तस्राव, रक्तस्राव, पूयस्राव अर्थात् सन्निपातस्राव) पर्वणी, अलजी और कृमिग्रंथि इस प्रकार संधिगत रोगों के भेद नौ हैं।

पित्तजस्राव व रक्तजस्रावलक्षण ।

स्रवेत्सदा स्रावमतो दलासजो । निशाद्रवाभं स्रवतीह पित्तजः ॥

सशोणितः शोणितसंभवो यतश्चतुर्विधाः स्रावगदा उदीरिता : ॥ 175 ॥

कृमिग्रंथि लक्षण ।

स्ववर्त्मजाताः क्रिमयोऽथ शुक्लजाः । प्रकुर्वते ग्रंथिमतीव कण्डुरम् ।

स्वसंधिदेशे निजनामलक्षणैः । समस्तसंधिप्रभवाः प्रकीर्तिताः ॥ 176 ॥

भावार्थ : कफ के विकार से अत्यधिक स्राव से युक्त, अत्यन्त वेदना सहित, कृष्ण वर्ण वाला कठिन संधिज ग्रंथिशोफ अलजी के नाम से कहा जाता है। वही (अलजी) शोफ जब पक जाता है तोदन, भेदन पीड़ा से संयुक्त होता है तो उसमें से अधिक पूयका स्राव होने लगता है, उसे पूयालस कहते हैं। दृष्टि की संधि में पाक से रहित अल्प वेदनायुक्त, जो महान् ग्रंथि (गांठ) उत्पन्न होती है ,उसे कफोपनाह कहते है। वही (कफोपनाह) पककर, उससे जब बहुत प्रकार के पूय निकलने लगते हैं, तो उसे पूयसंस्राव (पूयस्राव व सन्निपातज स्राव) कहते हैं। यदि उससे, सफेद शुष्क, गाढ़ा व चिकना पूय, सदा स्राव होवें तो उसे कफज स्राव समझना चाहिए। यदि हल्दी के पानी के सदृश, पीला स्राव होवे तो उसे पित्तज स्राव, रक्तवर्ण का स्राव होवे तो रक्तज स्राव समझें। इस प्रकार चतुर्विध स्रावरोग आगम में कहा है। वर्त्मभाग शुक्ल भाग में उत्पन्न कृमियाँ, वर्त्म और शुक्ल की संधि में अत्यधिक खुजली से युक्त ग्रन्थी (गांठ) को उत्पन्न करते हैं, इसको कृमिग्रंथि कहते हैं। इस प्रकार अपने-अपने नाम लक्षणों के साथ, सम्पूर्ण संधि में उत्पन्न होने वाले संधिगत रोगों का वर्णन हो चुका है।

वर्त्मगतरोग वर्णन प्रतिज्ञा

अतःपरं वर्त्मगतामयान्ब्रुवे । स्वदोषभेदाकृतिनामसंख्यया ॥

विशेषतस्तैः सह साध्यसाधन । प्रधानसिद्धान्तसमुद्धतौषधैः ॥177 ॥

भावार्थ : यहाँ से आगे वर्त्मगत (आँखों के) रोगी को उनका दोष भेद, लक्षण, नाम, संख्या, साध्य को साधन करने का प्रधान सिद्धान्त (चिकित्साक्रम) और श्रेष्ठ औषधियों के साथ-साथ विशेष रीति से वर्णन करेंगे।

उत्संगिनी लक्षण

त्रिदोषजेयं पिटकांतराननना । बहिर्गतैका वरसंश्रिता घना ॥

स्ववर्त्मजोत्संगिनिकात्मनामतो । भवेद्विकारो बहुवेदनाकुलः ॥ 178 ॥

भावार्थ : नीचे के कोय में बाहर उभरी हुई, घन, अत्यन्त वेदना से आकुलित, त्रिदोषोत्पन्न पिडिका होती है, जिसका मुख भीतर को (आँख की तरफ) हो इस वर्त्म में उत्पन्न विकार का नाम उत्संगिनी है।

कुंभीकलक्षण

स्ववर्त्मजा स्यात्पिटका विवेदना। स्वयं च कुंभीकफलास्थिसन्निभा ॥
मुहुस्सदाध्माति पुनश्च भिद्यते। कफात्स कुंभीक इतीरतो गदः॥ 179॥

भावार्थ : अपने वर्त्म (कोये, पलकों के बीच) में वेदनारहित कुंभीक[1]बीज के आकारवाला पिटका (फुन्सी) उत्पन्न होता है। जो एक दफे सूजता है, दूसरी दफे फूटकर उससे पूव निकलता है, पुनः सूजता है। वह कफ विकार से उत्पन्न कुंभीक नामक रोग है।

पोथकी लक्षण

सकण्डुरस्रावगुरूत्ववेदना भवंति बहूव्यः पिटकाः स्ववर्त्मजाः॥
सुरक्तवर्णास्समसर्षपोपमा-।स्सदैव पोथकय इति प्रकीर्तिताः॥ 180॥

भावार्थ : आँखों के वर्त्म (कोये) में खाज सहित, स्राव, वेदना व गुरुत्व से युक्त बहुत-सी पिडिकायें उत्पन्न होती है व लालवर्ण से युक्त सरसों के समान रहती हैं,उन्हें सदैव पोथकी पिटका कहते हैं।

वर्त्मशर्करा लक्षण

खरा महास्थूलतरा प्रदूषणा। स्ववर्त्मकेरे पिटकावृतापरैः॥
ससूक्ष्मकण्डूपिटकागणैर्भवेत्।कफानिलाभ्यामिह वर्त्मशर्करा॥181॥

भावार्थ : कठिन, बड़ी, कोये को दूषण करने वाले खुजली युक्त अन्य छोटी-छोटी फुन्सीयों के समूह से व्याप्त, जो पिडका (फुन्सी) कोये में होता है, उसे वर्त्म शर्करा कहते हैं। यह कफवात के प्रकोप से उत्पन्न होता है।

अर्शतर्ष्म का लक्षण

तथा च उर्वारूकबीजसन्निभाः। खरांकुराः श्लक्ष्णतराः विवेदनाः॥
भवंति वर्त्मन्यवलोकनक्षयाः।सदा तदर्शोऽधिकवर्त्मदेहिनाम् ॥182॥

भावार्थ : मनुष्य के कोय में ककड़ी के बीज के समान आकार वाली कठिन चिकनी, वेदना रहित और आँख को नाश करने वाली जो फुंसियाँ होती हैं उसे अर्शवर्त्म कहते हैं।

शुष्कार्श व अंजननामिका लक्षण

खरांकुरो दीर्घतरोऽतिदारूणो। विशुष्कदुर्नामगदः स्ववर्त्मनि॥
सदाहताम्रा पिटकातिकोमला।विवेदना सांजननामिका भवेत्॥ 183॥

भावार्थ : कोये में खरदरा, दीर्घ (लम्बा) अति भयंकर अंकुर उत्पन्न होता है, उसे शुष्कार्श रोग

1. अनार के आकार वाला फल विशेष कोई कुम्हेर कहते हैं।

कहते हैं। कोये में दाह युक्त, ताम्रवर्ण वाली अत्यन्त कोमल, वेदना रहित जो फुन्सी होती है, उसे अंजननामिका कहते हैं।

बहलवर्त्म लक्षण

कफोल्वणाभिः पिटकाभिरंचितं। सवर्णयुक्ताभि[1] समाभि संततः॥
समंततः स्यात् बहलाख्यवर्त्मता। स्वयं गुरुत्वान्न ददाति वीक्षितुम्॥ 184॥

भावार्थ : कोया, चारों तरफ से कफोद्रेक से उत्पन्न, समान व सवर्ण फुन्सीयों से युक्त होता है तो इसे बहलवर्त्म रोग कहते हैं। यह स्वयं गुरु रहने से आँखों को देखने नहीं देता।

वर्त्मबंध लक्षण

सशोफकण्डूयुततुच्छवेदना। समेतवर्त्माक्षिनिरिक्षणावहात्॥
युतस्तदा वर्त्मगतावबन्धको। नरो न सम्यक्सकलान्निरीक्षते॥ 185॥

भावार्थ : कोया, खुजली व अल्प वेदना वाली सूजन के युक्त होने के कारण आँखें देखने में असमर्थ होती हैं। इस रोग से पीड़ित मनुष्य सम्पूर्ण रूपों को अच्छी तरह से नहीं देख पाता है। इसे वर्त्मावबंध अथवा वर्त्मबंध कहते हैं।

क्लिष्टवर्त्म लक्षण

समं सवर्णं मृदुवेदनान्वितं। सताम्रवर्णाधिकमेव वा सदा॥
स्रवेदकस्माद्रुधिरं स्ववर्त्मतो। भवेदिदं क्लिष्टविशिष्टवर्त्मकम्॥186॥

भावार्थ : कोया, समान हो अर्थात् शोथ रहित हो, स्वाभाविक वर्ण से युक्त हो अथवा हमेशा ताम्रवर्ण (कुछ लाल) ही अधिकता से हो और अकस्मात् कोये से रक्त का स्राव हो तो, इसे क्लिष्टवर्त्म रोग कहते हैं।

कृष्णकर्दम लक्षण

उपेक्षणात्क्लिष्टमिहात्मशोणितं। दहेत्ततः क्लेदमथापि कृष्णताम्॥
व्रजेत्ततः प्राहुरिहाक्षिभिन्नकाः। स्ववेदकाः कृष्णयुतं च कर्दमम्॥ 187॥

भावार्थ : उपर्युक्त क्लिष्ट वर्त्म रोग की उपेक्षा करने से, वह वर्त्मगत रक्त को जलावें तो उसमें क्लेद (कीचड़-सा) उत्पन्न होता है और वह काला हो जाता है। इसलिए अक्षि रोगों को जानने वाले आत्मज्ञानी ऋषिगण इसे कृष्णकर्दम रोग कहते हैं।

---

1. समाभिरत्यंतसवर्णसंचयात् इति पाठांतरं।
2. इसको अन्य ग्रंथ में वर्त्मकर्दम नाम से कहते हैं।

श्यामलवर्त्म लक्षण

सबाह्यमंतश्च यदाशु वर्त्मनः । प्रसूनकं श्यामलवर्णकान्वितम् ॥
वदंति तच्छ्यामलवर्त्मनामकम् । विशेषतः शोणितपित्तसंभवम् ॥ 188 ॥

भावार्थ : जिसमें कोये के बाहर व अंदर के भाग शीघ्र ही सूजता है और काला पड़ जाता है, तो उसे श्यामलवर्त्म रोग कहते हैं। यह विशेष कर रक्तपित्त के प्रकोप से उत्पन्न होता है।

क्लिन्नवर्त्म लक्षण

यदा रूजं शूनमिहाक्षिबाह्यतः सदैवमंतः परिपिच्छिलद्रवम् ॥
स्रवेदिह क्लिन्नविशिष्टवर्त्मकम्। कफास्त्रगुत्थं प्रवदंति तद्विदः ॥ 189 ॥

भावार्थ : जब आँख (कोये) के बाहर पीड़ा रहित सूजन हो और हमेशा अन्दर से पिच्छिल (चिकना) पानी का स्राव हो, तब उसे अक्षिरोग को जानने वाले, क्लिन्नवर्त्म रोग कहते हैं। यह कफ, रक्त से उत्पन्न होता है।

अपरिक्लिन्नवर्त्म लक्षण

मुहुर्मुहर्धौतमपही वर्त्म यत्। प्रदिह्यते तत्सहसैव सांप्रतम् ॥
अपाकवत्स्यादपरिप्रयोजितं । कफोद्भवं क्लिन्नकवर्त्मनामकम् ॥ 190 ॥

भावार्थ : कोये को बार-बार धोने पर भी शीघ्र ही चिपक जावें और पके नहीं इसे अपरिक्लिन्न वर्त्म (अक्लिन्नवर्त्म) कहते हैं। यह कफ से उत्पन्न होता है।

वातहतवर्त्म लक्षण

विमुक्तसंधिप्रविनष्टचेष्टितं। निमील्यते यस्य च वर्त्म निर्भरम् ॥
भवेदिदं वातहताख्यवर्त्मकं। वदंति संतः सुविचार्य वातजम् ॥ 191 ॥

भावार्थ : जिसमें कोये की संधि खुल जावे (पृथक् हो जावें) पलक चेष्टा रहित हो, अर्थात् खुलने मिचने वाली क्रिया न हो, पलक एक दम बंद रहे, तो इसे सत्पुरुष अच्छी तरह विचार करके वातहत वर्त्म कहते हैं। यह वात से उत्पन्न होता है।

अर्बुद लक्षण

सुरक्तकल्प विषमं विलंबितं। सवर्त्मतोंऽतस्थमवेदनं घनम् ॥
भवेदिदं ग्रंथिनिभं तदर्बुदं। ब्रवंति दोषागमवेदिनो बुधाः ॥ 192 ॥

भावार्थ : कोये के भीतर लाल, विषम (कष्टकारी) अबलम्बित, वेदना रहित, कड़ा, ग्रंथि (गांठ) के सदृश जो शोथ होता है, उसे दोष शास्त्र को जानने वाले विद्वान्, अर्बुद (वर्त्मार्बुद) कहते हैं।

निमेषलक्षण

सिरां स्वसंधिप्रभवां समाश्रितः। स चालयत्याश्वनिलश्च वर्त्मनि ॥

निमेषनामामयमामनंति तं । प्रभंजनोत्थं स्फुरसन्मुहुर्मुहुः ॥193॥

भावार्थ :कोये की संधि में रहने वाली निमेषिणी (पलकों को उघाड़ ने मूंदने वाली) सिरा, नस में आश्रित वायु, शीघ्र ही कोयों को चलायमान करता है, इससे वह बार-बार स्फुरण होता है। इसलिए इस वातजरोग को निमेष कहते हैं।

रक्तार्शक्षण

स्ववर्त्म संश्रित्य विवर्धते मृदु-। स्सलोहितो दीर्घतरांकुरोऽ तिरूक् ॥

स लोहितार्शो भवतीह नामतः। प्ररोहति छिन्नमपीह तत्पुनः ॥ 194 ॥

भावार्थ :आँख के कोये को आश्रित कर जो मुदु, लाल, अत्यन्त पीड़ा कर ने वाला, लंबा अंकुर (उत्पन्न होकर) बढ़ता है। जिसको छेदन करने पर भी फिर उगता रहता है, इसे रक्तार्श[1] कहते है।

लगणलक्षण

अवेदनो ग्रंथिरपाकवान्पुनः । स वर्त्मनि स्थूलतरः कफात्मकः॥

स्वलिंगभेदो लगणोऽथ नामतः प्रकीर्तितो दोषविशेषवेदिभिः ॥ 195 ॥

भावार्थ : कोये में वेदना व पाक से रहित स्थूल, कफ से उत्पन्न, कफज लक्षणों से संयुक्त जो ग्रंथि (गांठ) उत्पन्न होती है, उसे वातादि दोषों को विशेष रीति से जानने वाले लगण रोग कहते हैं।

विसवर्त्मलक्षण

सुसूक्ष्मगंभीरगतांकुरो जले। यथा बिसं तद्वदिहापि वर्त्मनि ॥

स्रवत्यजस्रं बिसवज्जलं मुहुः। स नामतस्तद्विसवर्त्म निर्दिशेत् ॥ 196 ॥

भावार्थ : कमल नाली जो जल में नीचे तक गहरी चली जाती है और सदा जल में रहने से उससे जलस्राव होता रहता है, उसी प्रकार कोये में अतिसूक्ष्म व गहरा गया हुआ अंकुर हो, जिसमें हमेशा पानी बहता रहता हो, इसे बिसवर्त्मरोग कहना चाहिए।

पक्ष्मकोपलक्षण

यदैव पक्ष्माण्यतिवातकोपतः। प्रचालितान्यक्षि विशंति संततम् ॥

ततस्तु संरंभविकारसंभवः।स पक्ष्मकोपो भवतीह दारूणः ॥ 197 ॥

भावार्थ : वात के प्रकोप से, जब कोये के बाल चलायमान होते हैं और आँख के अन्दर प्रवेश

1. यह रक्त के प्रकोप से उत्पन्न होता है, इसलिए रक्तार्श कहा है।

करते हैं (वे नेत्रों को रगड़ते हैं) जब इससे आँख के शुक्ल कृष्ण भाग में शोध उत्पन्न होता है। इसे पक्ष्मकोप कहते हैं। यह एक भयंकर व्याधि है।

वर्त्मरोगों के उपसंहार

इतीह वर्त्माश्रयरोगसंकथा। स्वदोषभेदाकृतिनामलक्षणैः॥
अथैकविंशत्युदितात्मसंख्यया। प्रकीर्तिताः शुक्लगतामयान्ब्रुवे॥ 198॥

भावार्थ : इस प्रकार आँखों के कोयो में रहने वाले इक्कीस प्रकार के रोगों को उनके दोष भेद, आकृति, नाम व लक्षण संख्या के वर्णन कर चुके हैं। अब शुक्लमण्डलगत रोगों को कहेंगे।

विस्तर्यर्म व शुक्लार्म के लक्षण

अथार्म विस्तारि सनीललोहितं । स्वशुक्लभागे तनुविस्तृतं भवेत् ॥
तथैव शुक्लार्म चिराच्च वर्धते। सितं मृदु श्वेतगतं तथापरं ॥ 199॥

भावार्थ : आँख के शुक्ल (सफेद) भाग में, थोड़ा नील वा रक्तवर्णयुक्त पतला और विस्तृत (फैला हुआ) ऐसा जो माँस का चय (इकट्ठा) होवे इसे विस्तारि अर्म रोग कहते हैं। इसी प्रकार शुक्ल भाग में जो मृदु, सफेद और धीरे-धीरे बढ़ने वाला जो मांसचय होता है, इसे शुक्लार्म कहते हैं।

लोहितार्म व अधिमांसार्मलक्षण

यदा तु मांसं प्रचयं प्रयात्यलं। स्वलोहितार्मबुजपत्रसन्निभम्॥
यकृत्सकाशं बहलातिविस्तृतं। सिताश्रयोऽसावधिमांसनामकम्॥ 200॥

भावार्थ : जब (शुक्ल भाग में) रक्त कमल दल के समान, लाल, माँस संचित होता है, इसे लोहितार्म कहते हैं। जो जिगर के सदृशवर्णयुक्त, मोटा, अधिक फैला हुआ, माँस संचित होता है, इसे अधिमाँसार्म कहते हैं।

स्नायुअर्म व कृश शुक्ति के लक्षण

स्थिरं बहुस्नायुकृतार्म विस्तृतं। सिरावृतं स्यात्पिशितं सिताश्रयं ॥
सलोहिता श्लक्षणतराश्च बिंदवो। भवंति शुक्ले कृशशुक्तिनामकम् ॥ 201॥

भावार्थ : शुक्ल भाग में मजबूत फैला हुआ शिराओं से व्याप्त जो मांस की वृद्धि होती है। इसे स्नायुअर्म कहते हैं। लाल व चिकने बहुत से बिंदु शुक्लभाग में होते हैं, इसे कृशशुक्ति (शुक्ति) नामक रोग कहते हैं।

अर्जुन व पिष्टकलक्षण

एकः शशस्य[1] क्षतजोपमाकृतिर्व्यवस्थितो बिंदुरिहार्जुनामयः॥
सितोन्नतः पिष्टनिभः सिताश्रयः। सुपिष्टकाख्यो विदितो विवेदनः॥ 202॥

1. यथार्श एवं इति पाठांतरं।

भावार्थ : शुक्ल में खरगोश के रक्त के समान लाल, जो एक बिंदु (बूँद) होता है, इसे अर्जुन रोग कहते हैं और उसी में सफेद उठा हुआ वेदना रहित पिठ्ठी के समान बिंदु होता है, उसे पिष्टक रोग कहा है।

शिराजाल व शिराजपिडिका लक्षण

महत्सरक्तं कठिनं सिराततं । शिरादिजालं भवतीह शुक्लजम्॥
शिरावृत्ता या पिटका शिराश्रिता। सिता सिरोक्तान् सनरान् सिरोद्भवान्॥ 203॥

भावार्थ : शुक्ल मण्डल के महान् अत्यन्त लाल, कठिन जाल-सा फैला हुआ शिरासमूह होता है, उसे शिराजाल रोग कहते हैं। उस शुक्लमण्डल में कृष्ण मण्डल के समीप रहने वाली शिराओं से आच्छादित जो सफेद फुन्सी होती है, उसको शिराजपिडिका कहते हैं।

बलास ग्रथित का लक्षण

मृदुस्वकोशप्रतिमोरूबिंबिका- फलोपमो वा निजशुक्लभागजः ॥
भवेद्बलासग्रथितो दशैकजः। अतः परं कृष्णगतामयान् ब्रुवे ॥ 204॥

भावार्थ : शुक्ल मण्डल में मुदु फूल की कली के समान अथवा बिंबीफल (कुरुंद) के समान, ऊँची गांठ-सा होवे, उसे बलासग्रथित कहते हैं। इस प्रकार ग्यारह प्रकार के शुक्लगत रोगों के वर्णन कर चुके हैं। अब आगे कृष्णमण्डलगत रोगों के वर्णन करेंगे।

अथ कृष्णमण्डलगतरोगाधिकारः

अव्रण व सव्रणशुक्ललक्षण

अपव्रणं यच्च सितं समं तनुं। सुसाध्यशुक्लंनयनस्य कृष्णजम् ।
तदेन मग्नं परितस्स्रवद्व्रवं। न साध्यमेताद्विदितं तु सव्रणम् ॥ 205 ॥

भावार्थ : आँख के कृष्णमण्डल में जो सफेद बराबर (नीचा व ऊँचे से रहित) पतला शुक्ल फूल होता है, उसे अपव्रण शुक्ल अथवा अव्रण शुक्ल कहते हैं। यह साध्य होता है। वही (अव्रणशुक्ल) यदि नीचे को गड़ा हुआ हो चारों तरफ से द्रवस्राव होता हो इसे सव्रण शुक्ल कहते है। वह असाध्य होता है।

अक्षिपाकात्यय लक्षण

यदत्र दोषेण सितेन सर्वतोऽसितं तु संछाद्यत एव मण्डलम्॥
तमक्षिपाकात्ययमक्षयामयं। त्रिदोषजं दोषविशेषवित्त्यजेत्॥ 206॥

भावार्थ : जो काली पुतली दोषों से उत्पन्न, सफेदी से सभी तरफ से आच्छादित हो, यह अक्षिपाकात्यय नामक अक्षय (नाशरहित) व त्रिदोषोत्पन्न रोग है। इसको दोषों के विशेष को जानने वाला वैद्य छोड़ देवें अर्थात् यह रोग सन्निपातज होने से असाध्य होता है।

अजक लक्षण

वराटपृष्ठप्रतिमोऽतितोदनः। सरक्तवर्णो रूधिरोपमद्रवः॥

स कृष्णदेशं प्रविदार्य वर्द्धते। स चाजकाख्योऽक्षिभयंकरो[1] गदः॥207॥

भावार्थ : कमल बीज के पीठ के समान आकार वाला, अत्यन्त तोदन (सुई चुभने जैसी पीड़ा) युक्त लाल, ऐसा जो फूल कृष्णमण्डल को दारण करके उत्पन्न होकर वृद्धिंगत होता है, जिससे रक्त के समान लाल पानी गिरता है, यह अजक या भाजक (अजकजात) नामक भयंकर नेत्र रोग जानना चाहिए।

कृष्णगतरोगों के उपसंहार

इमे च चत्वार। उदीरिता गदाः। स्वदोषलक्षा[2] निजकृष्णमण्डले।

अतःपरं दृष्टिगतामयान् ब्रुवे-। विशेषनामाकृतिलक्षणेक्षितान्॥208॥

भावार्थ : इस काली पुतली में होने वाले, चार प्रकार के रोग जो कि दोष भेदानुसार उत्पन्न लक्षण से संयुक्त है उनका वर्णन कर चुके हैं। इसके बाद दृष्टिगत रोगों को उनके नाम आकृति लक्षण आदि सम्पूर्ण विषयों के साथ वर्णन करेंगे।

दृष्टि लक्षण

स्वकर्मणामौपशमप्रदेशजां । मसूरमात्रामतिशीतसाधनीं॥

प्रयत्नरक्ष्यामतिशीघ्रनाशिनीम्। वदंति दृष्टिं विदिताखिलागदाः॥209॥

भावार्थ : नेत्रेन्द्रियावरण कर्म के क्षयोपशम जिस प्रदेश में होता है, उस प्रदेश में उत्पन्न, मसूर के दाल के समान जिसका आकार गोल है और शीतलता प्रिय वा अनुकूल होता है, जिससे रूप को देख सकते हैं, ऐसे अवयव विशेष को संपूर्ण नेत्र रोगों को जानने वाले दृष्टि कहते हैं। वह दृष्टि शीघ्र नाशस्वभावी है। अतएव अति प्रयत्न से रक्षण करने योग्य है।

दृष्टिगत रोग वर्णन प्रतिज्ञा

दृगाश्रयान् दोषकृतामयान् ब्रुवे। द्विषट्प्रकारान् पटलप्रभेदनान्॥

यथाक्रमान्नामविशेषलक्षण-। प्रधानसाध्यादिविचारसत्क्रियाम्॥210॥

भावार्थ : उसी दृष्टि के आश्रयभूत अर्थात् दृष्टि में होने वाले वातादि दोषों से उत्पन्न पटल को भेदन करने वाले 12 प्रकार के रोगों के नाम, लक्षण, साध्यासाध्य विचार व चिकित्सा के कथन के साथ-साथ निरूपण करेंगे।

---

1. समाजकाख्यो इति पाठांतरं।

2. लक्षण।

प्रथम पटल गत दोष लक्षण

यदा तु दोषाः प्रथमे व्यवस्थिताः। भवंति दृष्टयाः पटले तदा नरः॥
न पश्यतीहाखिलवस्तु विस्तृतं । विशिष्टमस्पष्टतरं स्वकष्टतः ॥211॥

भावार्थ : जब आँखों के प्रथम पटल में दोषों का प्रभाव होता है अर्थात् स्थित होते हैं तब मनुष्य सर्व पदार्थों को स्पष्टतया देखता नहीं है। बहुत कष्ट से अस्पष्ट रूप से वह भी बड़े पदार्थ को देख सकता है।

द्वितीय पटलगत दोष लक्षण

नरस्य दृष्टिः परिविह्वला भवेत्। सदैव सुचीसुषिरं न पश्यति ॥
प्रयत्नतो वाप्यथ दोषसंचये। द्वितीयमेवं पटलं गते सति ॥ 212 ॥

भावार्थ : दोषों के समूह जब (आँख के) दूसरे पटल (परदे) को प्राप्त होते हैं तो मनुष्य की दृष्टि विह्वल होती है और वह प्रयत्न करने पर भी (निगाह करके देखने पर भी) हमेशा सुई के छिद्र को नहीं देख सकता है अर्थात् उसे दिखता नहीं है।

तृतीय पटलगतदोषलक्षण

अधो न पश्यत्यथ चोर्ध्वमीक्षते। तृतीयमेवं पटलं गतेऽखिलान्॥
स केशपाशान्मशकान्समाक्षिकान्। सजालकान् पश्यति दोषसंचये॥ 213॥

भावार्थ : आँख के तृतीय पटल को, दोष समूह प्राप्त होने पर, उस मनुष्य को नीचे की वस्तु नहीं दिखाई देती है। और ऊपर की वस्तु को दिखाई देते है। वह सम्पूर्ण वस्तुओं को केशपाश, मशक(मच्छर) मक्खी एवं इसी प्रकार के अन्य जीवों के रूप में देखता है।

नक्तांध्य लक्षण

त्रिषु स्थितोऽल्पः पटलेषु दोषोः। नस्स्य नक्तांध्यमिहावहत्यलम् ॥
दिवाकरेणानुगृहीतलोचनो। दिवा स पश्चेत् कफतुच्छभावतः ॥214॥

भावार्थ : तीनों पटलों में अल्प प्रमाण में स्थित दोष (कफ) मनुष्य को नक्तांध (रात को अंधा) कर देता है, जिससे उसे रात को नहीं दीखता है। उसको आँखें सूर्य से अनुगृहीत होने से व कफ की अल्पता होने से उसे दिन में दिखता है।

चतुर्थपटलगतदोषलक्षण

यदा चतुर्थ पटलं गतस्सदा। रूणद्धि दृष्टिं तिमिराख्यदोषतः॥
स सर्वतः स्वादिह लिंगनाथ इत्यथापरः षड्विधलक्षणान्वितः॥ 215॥

भावार्थ : जब तिमिरनामक दोष(रोग)चतुर्थ पटल में प्राप्त होता हो तो वह दृष्टि को सर्वतो

भाव से रोकता है। इसे लिंगनाश[1] (दृष्टि का नाश) कहते हैं। इसलिए यह (लिंगनाश) अन्य छह प्रकार के लक्षणों से संयुक्त होता है। अतएव इसके छह भेद हैं।

लिंगनाश का नामांतर व वातज लिंग नाश लक्षण

स लिंगनाशो भवतीह नीलिका। विशेषकाचाख्य इति प्रकीर्तितः॥
समस्तरूपाण्यरूणानि वातजाद्भवंति रूक्षाण्यनिशं स पश्यति॥ 216॥

भावार्थ : वह लिंगनाश रोग, नीलिकाकाच भी कहलाता है। अर्थात् नीलिका काच यह लिंगनाश का पर्याय है। वातज लिंगनाश में समस्त पदार्थ सदा लाल व रूक्ष दिखते हैं।

पित्तकफरक्तज लिंगनाश लक्षण

शतह्रदेंद्रायुधवन्हिभास्कर। प्रकाशखद्योतगणान्स पित्तजात्॥
सितानि रूपाणि कफाच्च शोणिता। दतीव रक्तानि तमांसि पश्यति॥ 217॥

भावार्थ : पित्तज लिंग नाश रोग में रोगी को सर्व पदार्थ बिजली इंद्रायुध अग्नि, सूर्य व खद्योत के समान दिखते हैं, कफ विकार से सफेद ही दिखते हैं, रक्त विकार से अत्यन्त लाल व काले दिखने लगते हैं।

सन्निपातिकालिंगनाशलक्षण व वातज वर्ण

विचित्ररूपाण्यति विप्लुतान्यलं। प्रपश्यतीत्थं निजसन्निपातजात्।
स एव काचः पवनात्मकोऽरूणो। भवेत् स्थिरो दृष्टिगतारुणप्रभः॥ 218॥

भावार्थ : सन्निपातज लिंगनाश में वह रोगी अनेक प्रकार के विचित्र (नानावर्ण के) रूपों को देखने लगता है। उसको सर्व पदार्थ विपरीत दिखते हैं। वही, काच (लिंगनाश[2]) यदि वातिक हो तो उससे, दृष्टिमण्डल लाल व स्थिर होता है।

पित्त कफज वर्ण

तथैव पित्तादतिनीलनामकं। भवेत् परिम्लायि च पिंगलात्मकं॥
कफात्सितं स्यात् इह दृष्टिमण्डलं। विमृद्यमाने विलयं प्रयात्यलं॥ 219॥

1. इसे तिमिर भी कहते हैं। व्यवहार में मोतिया बिंदु कहते हैं।
2. **नोट** – इस सान्निपातिक लिंगनाश लक्षण कथन के बाद परिम्लायि नामक पित्तजन्य रोग का लक्षण ग्रंथांतर में पाया जाता है। जो इसमें नहीं है। लेकिन इसका होना अत्यन्त जरूरी है। अन्यथा षड्संख्या की पूर्ति नहीं होती। इसके लक्षण को आचार्य ने अवश्य ही लिखा है। लेकिन प्रतिलिपिकारों के दुर्लक्ष्य से यह छूट गया है। क्योंकि स्वयं आचार्य ''षड्विध लिंगनाशकाः'' ''परिप्लायि च'' ऐसा स्पष्ट लिखते हैं। इसका लक्षण हम लिख देते हैं।

   परिम्लायी लक्षण : रक्त के तेज से मूर्च्छित पित्त से परिम्लायी रोग उत्पन्न होता है। इससे रोगी को सब दिशायें दिखती हैं और सर्वत्र उदय को प्राप्त सूर्य के समान दिखता है। तथा वृक्ष ऐसे दिखने लगते हैं कि खद्योत (ज्योतिरिंगण) व किसी प्रकाश विशेष से आच्छादित हो। इसे परिम्लायी रोग कहते हैं।

भावार्थ : पित्त से दृष्टि मण्डल नील, [1]परिम्लयी (म्लानतायुक्त अर्थात् पीला व नील मिला हुआ वर्ण) अथवा पिंगल[2] हो जाता है। कफ से सफेद होता है और दृष्टि मण्डल को मलने पर वर्ण विलय (नाश) होता है।

रक्तज सन्निपाजतवर्ण

प्रवालसंकाशमथापि वासितं। भवेच्च रक्तादिह दृष्टिमण्डलं।
विचित्रवर्णे परितस्त्रिदोषजं। प्रकीर्तिताः षड्विधलिंगनाशकाः॥ 220॥

भावार्थ : रक्तविकार से दृष्टि मंडल प्रवाल के समान लाल या काला हो जाता है एवं सन्निपात से विचित्र (नानावर्ण) वर्ण युक्त होता है। इस प्रकार छह प्रकार के लिंगनाशक रोग कहे गए हैं।

विदग्ध दृष्टिनामक षड्विध रोग व पित्तविदग्ध लक्षण

स्व दृष्टिरोगानथ षड्ब्रवीम्यहं। प्रदुष्टपित्तेन कलंकितान्स्वयं।
सुपीतलं पित्तविदग्ध दृष्टिरप्यतीव। पीतानखिलान्प्रपश्यति॥ 221॥

भावार्थ : अब दृष्टिगत छह रोगों को कहेंगे, दूषित पित्त से वह दृष्टि कलंकित होकर एकदम पीली होती है और वह रोगी सर्व पदार्थों को पीले ही रंग में देखता है, इसे पित्तविद्ग्धदृष्टि रोग कहते हैं।

कफविदग्ध दृष्टि लक्षण

तथैव स श्लेष्मविदग्धदृष्टिरप्यतीव शुक्लान्स्वयमग्रतः स्थितान्॥
शशांकशंखस्पटिकामलद्युतीन्। प्रपश्यति स्थावरजंगमान् भृशं॥ 222॥

भावार्थ : श्लेष्म विकार से पीड़ित नेत्ररोगी अग्रभाग में स्थित सर्व स्थावर जंगम पदार्थों को चंद्रमा, शंक स्फटिक के समान सफेद रूप से देखता है अर्थात् उसे वे सफेद ही दिखते हैं। इसे कफविदग्ध दृष्टि कहते हैं।

धूमदर्शी लक्षण

शिरोऽभितोष्मश्रमशोकवेदना। प्रपीडिता दृष्टिरिहाखिलान् भुवि।
प्रपश्यतीह प्रबलातिधूमवान्। स धूमदर्शीति वदंति तं बुधाः॥223॥

भावार्थ : शिर में उष्णता का प्रवेश अत्यधिक श्रम, शोक व शिर दर्द इनसे पीड़ित दृष्टि लोक के समस्त पदार्थों को धूंदला देखती है। इसे धूमदर्शी ऐसा विद्वानों ने कहा है।

ह्रस्वजाति लक्षण

भवेद्यदास्वयुता विजातिको। गदो नृणां दृष्टिगतः सतेन ते॥
भृशं प्रपश्यंति पुरो व्यवस्थितान्। तदोन्नतान्ह्रस्वनिभान्सदोषतः॥ 224॥

1. पीतनोलो वर्णः। 2. दीपशिखातुल्यवर्ण। दीप के शिखा के सदृश वर्ण।

भावार्थ : जब आँखों में ह्रस्वजातिक नामक रोग होता है तब वह रोगी सामने के बड़े-बड़े पदार्थों को भी छोटे के समान देखता है अर्थात् उसे बड़े पदार्थ छोटे दिखते हैं।

नकुलांध्य लक्षण

यदा भुवि द्योतितदृष्टिरुज्वला। नरस्य रात्रौ नकुलस्य दृष्टिवत्।
दिवा विचित्राणि स पश्यति ध्रुवं। भवेद्विकारो नकुलांध्यनामकम्॥225॥

भावार्थ : जब आँखें रात्रि में नौले के आँख के समान प्रकाशवान व उज्ज्वल होती है अर्थात् चमकती है जिनसे दिन में विचित्र रूप देखने में आता हो, उसे नकुलांध्यरोग कहते हैं।

गम्भीर दृष्टि लक्षण

प्रविष्टदृष्टिः पवनप्रपीडिता। रुजाभिभूतातिविकुं भिताकृतिः।
भवेच्चगंभीरविशेषसंज्ञया। समान्विता दुष्टविशिष्टदृष्टिका॥ 226॥

भावार्थ : वात से पीड़ित आँख, अन्दर घुसी हुई अधिक पीड़ायुक्त, कुंभ के सदृश आकृतिवाली मालूम होती हो, ऐसे दूषित विशिष्टदृष्टि को गम्भीरदृष्टि के नाम से कहते हैं।

निमित्तज लक्षण

तथैव वाह्यावपराविहामयौ। निमित्ततोऽन्यो ह्यनिमित्ततश्च यः।
निमित्ततस्तत्र ।महाभिघातजो। भवेदभिष्यंदविकल्पलक्षणः॥ 227॥

भावार्थ : आगंतुक लिंगनाश दो प्रकार का है एक निमित्तजन्य, दूसरा अनिमित्त जन्य। इनमें महान् अभिघात (विषवृक्ष के फल से स्पर्शित पवन के मस्तक में स्पर्श होना, चोट लगना इत्यादि) से उत्पन्न सन्निपातिक अभिष्यंद के लक्षण से संयुक्त लिंगनाश निमित्तजन्य कहलाता है।

अनिमित्तजन्यलक्षण

दिवाकरेंद्रोरगदीप्तवन्मणि - प्रभासमीक्षाहतनष्टदृष्टिजः।
व्यपेतदोषः प्रकृतिस्वरूपवान्। विकार एषोऽप्यनिमित्तलक्षणः॥ 228॥

भावार्थ : सूर्य, इंद्र, नागजाति के देव व विशेष प्रकाशयुक्त हीरा आदि रत्नों को टकटकी लगाकर देखने से आँख की शक्ति (दर्शनशक्ति) नष्ट होकर जो लिंगनाश उत्पन्न होता है, वह दोषों से संयुक्त नहीं होता है, और अपनी प्राकृतिक स्वरूप में ही रहता है, इसे अनिमित्तजन्य लिंगनाश कहते हैं।

नेत्ररोगों का उपसंहार

इत्येवं नयगतास्समस्तरोगाः। प्रत्येकं प्रकटितलक्षणेक्षितास्ते॥
संक्षेपादिह निखिलक्रियाविशेषै-। र्भैषज्यैरपि विधिनात्र साधयेत्तान्॥ 229॥

भावार्थ : इस प्रकार नेत्रगत समस्त रोगों को उन प्रत्येकों के लक्षण नाम आदि के साथ संक्षेप से प्रकट कर चुके हैं। उनको उनकी सम्पूर्ण क्रिया (चिकित्सा क्रम) विशेष व औषधियों से, विधिपूर्वक कुशल वैद्य साधे अर्थात् चिकित्सा करें।

छहत्तर नेत्र रोगों की गणना

वाताद्यैर्दशदश संभवंति रोगा। स्तत्रापि त्रय अधिकाः कफेन जाताः॥
रक्तादप्यथ दशषट्कसर्वजास्ते। विशंत्या पुनरिह पंच बाह्यजौ द्वौ॥ 230॥

भावार्थ : वात आदि प्रत्येक दोष से दस-दस नेत्र रोग उत्पन्न होते हैं। इनमें भी कफ से तीन अधिक होते हैं। तात्पर्य यह हुआ कि वात से दस, पित्त से दस, कफ से तेरह रोग उत्पन्न होते हैं। रक्त से सोलह, सन्निपात से पच्चीस और आगंतुक से दो रोग उत्पन्न होते हैं।

वातज असाध्य रोग

रोगास्ते षडधिकसप्ततिश्च सर्वे। तत्रादौ हतसहिताधिमंथरोगाः॥
गंभीरा दृङ्निमिषाहतं च वर्त्मा-साध्याः स्युः पवनकृताश्चतुर्विकल्पाः॥ 231॥

भावार्थ : उपरोक्त प्रकार वे सब अक्षिरोग मिलकर छहत्तर प्रकार से होते हैं। इनमें वात से उत्पन्न हताधिमंथ, गंभीरदृष्टि, निमिष, वातहत वर्त्म, ये चार प्रकार के रोग असाध्य होते हैं।

वातज याप्य, साध्य रोग

काचाख्योऽरुण इति मारूतात्स याप्यः। शुष्काक्षिप्रपचनवातपर्ययोऽसौ॥
स्यंदश्चाप्यभिहिताधिमंथरोगः।साध्याः स्यु : पवनकृतान्यतोतिवातः॥ 232॥

भावार्थ : वात से उत्पन्न, काचनामक जिसका अपर नाम अरूण रोग है वह याप्य है एवं शुष्काक्षिपाक, वातपर्यय, वाताभिष्यंद वाताधिमंथ और अन्यतोघात ये पाँच साध्य हैं।

पित्तज, असाध्य, याप्यरोग

ह्रस्वादिः पुनरपि जातिकोऽथवारि -। स्रावश्चेत्यभिहितपित्तजावसाध्यौ॥
काचाख्योप्यधिकृतनीलिसंज्ञिको।यो म्लायी परिसहितश्च यापनीयः॥ 233॥

भावार्थ : पित्त से उत्पन्न ह्रस्वजाति (जात्य) और जलस्राव, ये दो रोग असाध्य होते हैं। नीलिकाकाच, परिम्लायी ये दो रोग याप्य होते हैं।

पित्तज साध्य रोग

स्यंदाख्योऽप्यभिहितस्तदाधिमंथः। शुक्त्यम्लाध्युषितविदगध दृष्टिनाम्ना॥
धूमादिप्रकटितदर्शिना च सार्धं।साध्यास्ते षडपि च पित्तजा विकाराः॥ 234॥

भावार्थ : पैत्तिकाभिष्यंद, पैत्तिकाधिमंथ, शुक्ति, अम्लाध्युषित, धूमदर्शी, पित्त विदग्ध दृष्टि ये छह पैत्तिक, रोग साध्य होते हैं।

कफज असाध्य, साध्यरोग

स्रावोऽयं कफजनितो ह्यसाध्यरूपो। याप्यः स्यात्कफकृत एव काचसंज्ञः॥
स्यंदस्तद्विहितनिजाधिमंथः॥ श्लेष्मादिग्रथितविदग्धदृष्टिनामा॥ 235॥
पोथक्या लगणयुताः क्रिमिप्रधाना। ग्रंथिः स्यात् परियुताप्रवर्त्मपिष्टः॥
शुक्लार्मप्रबलकफोपनाहयुक्ताः।श्लेष्मोत्था दश च तथैक एव साध्यः॥236॥

भावार्थ : कफजस्राव असाध्य होता है। कफ से उत्पन्न काच रोग याप्य है। कफाभिष्यंद कफजाधिमंथ, बलासग्रथित, श्लेषविदग्धदृष्टि, पोथकी लगण, क्रिमिग्रंथि, परिक्लिन्नवर्त्म, पिष्टक, शुक्लार्म, कफोपनाह, ये ग्यारह कफोत्पन्न रोग साध्य होते हैं।

रक्तज असाध्य, याप्य, साध्यरोगलक्षण

रक्तार्शो व्रणयुतशुल्कमीरितोऽ। सृक्स्रावोऽजकजातमसाध्यरूपरोगाः॥
याप्यस्यात्पुनरपि तज्ज[1] एव काचः। स्पंदाख्योप्यधियुतमन्थनामरोगः॥237॥
क्लिष्टोऽयं निगदितवर्त्म लोहितार्म॥ प्रख्यातं क्षतवियुतशुक्लमर्जुनाख्यं।
पर्वण्यंजनकृतनामिका शिराणां॥ जालं यत्पुनरपि हर्षकोत्पातौ॥ 238॥
साध्यास्ते रुधिरकृतामयादशान्येऽप्येकश्च प्रकटितलक्षणाः प्रणीताः॥

भावार्थ : रक्त से उत्पन्न रोगों में, अक्षिगत रक्तार्श, सव्रणशुल्क, रक्तस्राव अजकजात ये चार रोग असाध्य होते हैं। रक्तज काच यह एक याप्य है। रक्ताभिष्यंद, रक्तजाधिमंथ, क्लिष्टवर्त्म, लोहितार्म, अव्रणशुल्क (शुक्र) अर्जुन, पर्वणी, अंजननामिका, शिरा जाल, शिराहर्ष, शिरोत्पात, ये (रक्त से उत्पन्न) ग्यारह नेत्र रोग साध्य होते हैं, जिनके लक्षण पहिले प्रतिपादन कर चुके हैं।

सन्निपातज असाध्य व याप्य रोग

आंध्यं यत्रकुलगतं च सर्वजेषुः। स्रावोऽपि प्रकटितपूयसंप्रयुक्तः॥ 239॥
पाकोऽयं नयनगतोऽलजी स्वनाम्ना। चत्वारः परिगदिताश्च वर्जनीयाः॥
काचश्च प्रकटितपक्ष्मजस्तु कोपो।वर्त्मस्थो द्वितयमपीह यापनीयम्॥240॥

भावार्थ : त्रिदोषज रोगों में नकुलांध्य, पूयस्राव, नेत्रपाक, अलजि ये चार प्रकार के रोग असाध्य हैं एवं पक्ष्मकोप, काच नामक पक्ष्मज रोग एवं वर्त्मस्थ दोनों प्रकार के रोग भी याप्य होते हैं।

सन्निपातज साध्यरोग

वर्त्मावप्रबलबिंबधकश्च, वर्त्मा-।प्रक्लिन्नं यदपि च(?)पिल्लिकाक्षि साक्षात्॥
या प्रोक्ता निजपिडिका सिरासु जाता।स्नाय्वर्माप्यधियुतमांसकार्म सम्यक्॥241॥

1. कृष्ण इति पाठांतरं।

प्रस्तादिप्रथितमथार्म पाकयुग्मः। श्यावाख्यं बहलसुकर्दमार्शसाम्॥
यद्वात्मान्यद्विससहितं च शर्कराढ्यं। शुक्लार्शोऽर्बुदमलस स्वपूयपूर्वः॥ 242॥
उत्संगिन्यथ पिटका च कुंभपूर्वा। साध्यास्तेषु विदितसर्वदोषजेषु॥
बाह्यौ यौ प्रकटनिमित्तजानिमित्तजौ। साध्यौ वा भवत्यसाध्यलक्षणम् वा॥ 243॥

भावार्थ : सान्निपातिक नेत्र रोगों में वर्त्मावबंध, अक्लिन्नवर्त्म, शिराजपिडिका, स्नाय्वर्म, अधिमांसार्म, प्रस्तार्यर्म, सशोध अक्षिपाक, अशोथ अक्षिपाक, श्याववर्त्म, बहलवर्त्म, कर्दमवर्त्म, अर्शोवर्त्म, बिसवर्त्म, शर्करावर्त्म, शुक्रार्श, अर्बुद, पूयालस, उत्संगिनी और कुम्भिका, इतने (19) रोग साध्य होते हैं। निमित्तजन्य व अनिमित्तजन्य ये आगंतुक रोग, कभी तो साध्य होते हैं और कभी असाध्य होते हैं।

नेत्ररोगों का उपसंहार

षट्सप्ततिः सकलनेत्रगदान्विकारान्। ज्ञात्वात्र साध्यमथ याप्यमसाध्यमित्थं॥
छेद्यादिभिः प्रबलभेषजसंविधानैः। संयोजयेदुपशमक्रियया च सम्यक्॥ 244॥

भावार्थ : उपर्युक्त प्रकार से छहत्तर प्रकार के नेत्र विकारों के साध्य, असाध्य व याप्य स्वभाव को अच्छी तरह जानकर छेदनादिक क्रियावों से व प्रबल औषधियों के प्रयोग से, उपशमन क्रिया से उनकी अच्छी तरह चिकित्सा करें।

चिकित्सा विभाग

छेद्या भवंति दश चैक इहाक्षिरोगा। भेद्याश्च पंचनव चान्यगदास्तु लेख्याः॥
व्यध्यास्तथैव दशपंच च शस्त्रवर्ज्यास्ते द्वादश प्रकटिताः खलु सप्त याप्याः॥ 245॥
पंचादशैव भिषजा परिवर्जनीयाः। बाह्यो कदाचिदिह याप्यतरावसाध्यौ॥

भावार्थ : नेत्र रोग में ग्यारह रोग छेद्य (छेदन कर्म करने योग्य) पाँच रोग, भेद्य (भेदन योग्य) नौ रोग लेखन करने (खुरचने) योग्य एवं पंद्रह रोग व्यध्य (वेधन करने योग्य) होते हैं। बारह तो शस्त्र क्रिया के योग्य नहीं है अर्थात् औषधि से साधने योग्य है। सात रोग तो (स्नेहन आदि क्रियाओं से) याप्य होते हैं। पंद्रह रोग तो छोड़ने योग्य हैं, चिकित्सा करने योग्य नहीं है। आगंतुक दो रोग कदाचित् याप्य कदाचित् असाध्य होते हैं।

छेद्य रोगों के नाम

अर्माणि पंच पिटका च सिरासमुत्था। जालं शिराजमपि चार्बुदमन्यदर्शः॥ 246॥
शुष्कं स्ववर्त्म निजपर्वणिकामयेन। छेद्या भवंति भिषजा कथिता विकाराः।

भावार्थः पाँच प्रकार के अर्म, शिराजपिडिका, शिराजाल, अर्बुद, शुष्कार्श, अशोवर्त्म, पर्वणी ये ग्यारह रोग, वैद्य द्वारा छेदने योग्य होते हैं अर्थात् छेदन करने से इनमें आराम होता है।

भेद्य रोगों के नाम

ग्रंथिःक्रिमिप्रभव एक कफोपनाहः । स्यादंजनाक्षिलगणो बिसवर्त्म भेद्याः ॥ 247 ॥

भावार्थ : कृमिग्रंथि, कफोपनाह, अंजननामिका, लगण, बिसवर्त्म, ये पाँच रोग भेदन करने योग्य होते हैं।

लेख्य रोगों के नाम

क्लिाष्टाबबंधबहलाधिककर्दमानि। श्यावादिवर्त्म सहशर्करया च कुंभी- ॥

न्युत्सगिनी कथितपोथकिका विकारा।लेख्या भवंति कथिता मुनिभिः पुराणैः ॥ 248 ॥

भावार्थ : क्लिष्टवर्त्म, बद्धवर्त्म (वर्त्मावबंध) वहलवर्त्म, कर्दमवर्त्म, (वर्त्मकर्दम) श्याववर्त्म, शर्करावर्त्म, कुंभिका, उत्संगिनी, पोथकी, ये रोग लेखन क्रिया करने योग्य है अर्थात् लेखनक्रिया से साध्य होते हैं, ऐसा प्राचीन महर्षियों ने प्रतिपादन किया है।

व्यध्य रोगों के नाम

यौ वा शिरानिगदितावथपाकसंज्ञा। वप्यन्यतश्च पवनोऽलस एव पूयः।

वातादिपर्यय समंथविशेषिताभिष्यंदाश्च साधुभिरिहाधिकृतास्तु वेध्याः ॥ 249 ॥

भावार्थ : शिरोत्पात, शिराहर्ष, सशोध नेत्रपाक, अशोथ नेत्रपाक, अन्यतोवात पूपालस, वातपर्यय, चार प्रकार का अधिमंथ, चार प्रकार का अभिष्यंद, ये 15 रोग वेधन करने से साध्य होते है, ऐसा महर्षियों ने कहा है।

शस्त्र कर्म से वर्जित नेत्र रोगों के नाम

पिष्टार्जुनेयमपि धूमनिदर्शिशुक्ति। मल्लिन्नवर्त्मकफपित्तविदग्धदृष्टि ॥

शुष्काक्षिपाकमपि शुक्लमथाम्लकादि।प्रक्लिन्नवर्त्मकफसग्रथितं च रोगः ॥ 250 ॥

तान् शस्त्रपातमपहृत्य विशेषितैश्च। सद्भेषजैरुपचरेद्विधिना विधिज्ञः ॥

आंगतुजावथ चयाविह दृष्टिरोगौ। तावप्यशस्त्रविधिना समुपक्रमेत ॥ 251 ॥

भावार्थ : पिष्टक, अर्जुन, धूमदर्शी, अक्लिन्नवर्त्म, कफविदग्धदृष्टि, पित्त, विदग्धदृष्टि, शुष्काक्षि, पाक, शुक्र, अम्लाध्युषित, क्लिन्नवर्त्म, बलासग्रथित इन 12 रोगों मे शस्त्रकर्म का प्रयोग न करके योग्य औषधियों के विधिपूर्वक प्रयोग से ही कुशल वैद्य चिकित्सा करें । आगंतुक दो रोगों को भी शस्त्र प्रयोग न कर औषधियों से ही शमन करना चाहिए।

याप्य रोगों के नाम व असाध्य नेत्र रोगों के नाम

काचाः षडप्यधिकपक्ष्मगतप्रकोपाः। याप्या भवंत्यभिहिताः पुनरप्यसाध्याः ॥

तान्वर्जयेदनिल शोणितसन्निपातात् ॥ प्रत्येकशोपि चतुरश्चतुरश्च जातान् ॥ 252 ॥

श्लेष्मोत्थमेकमपि पित्तकृतौ तथा द्वौ। द्वावेव बाह्यजनितौ च विवर्जयेत्तान्॥

भावार्थ : छह प्रकार के काच रोग (जिसके होते हुए भी मनुष्य को थोड़ा बहुत दिखता हो) और एक पक्ष्मकोप इस प्रकार सात रोग याप्य होते हैं। वात उत्पन्न चार(हतादिमंथ, निमेष, गम्भीरिका और वातहतवर्त्म) रोग, रक्त से उत्पन्न चार (रक्तस्राव, अजकजात, शोणितार्श, सव्रणशुक) रोग, सन्निपातज चार (पूयस्राव, नकुलांध्य अक्षिपाकात्यय, अलजी) रोग, कफ से उत्पन्न कफस्राव नामक एक रोग, पित्तज ह्रस्वजात्य, जलस्राव ये दो रोग इस प्रकार कुल 15 रोग असाध्य होते हैं, इसलिए कुशल वैद्य उनको छोड़ देवें। इसी प्रकार आगंतुक दो रोग भी कदाचित् असाध्य होते हैं। उस अवस्था में इन को भी छोड़ें।

अभिन्ननेत्राभिघातचिकित्सा ।

नेत्राभिघातजमभिन्नमिहावलंब -मानं निवेश्य घृतलिप्तमतः प्रबंधैः॥ 253॥

भावार्थ : नेत्र का अभिघात होकर उत्पन्न नेत्ररोग में यदि नेत्र स्वस्थान से भिन्न नहीं हुआ हो और उसी में अवलंबित हो, तो घृतलेपन कर पट्टी बाँधकर उपचार करना चाहिए।

भिन्ननेत्राभिघातचिकित्सा

भिन्नं व्यपोह्य नयनं प्रविलंबमानं। प्रागुक्तसद्व्रणविधानत एव साध्यम्॥

संस्वेदनप्रबललेपनधूमनस्य-संतर्पणैरभिहतोऽप्युपशांतिमेति॥ 254॥

भावार्थ : यदि भिन्न होकर उसमें लगा हुआ हो तो उसको अलग कर पूर्वोक्त व्रणविधान से उसे साध्य करना चाहिए। साथ में स्वेदन, लेपन, धूमृपान, नस्य व संतर्पण आदि के प्रयोग से भी उपरोक्त रोग उपशांति को प्राप्त होता है।

वातजरोगचिकित्साधिकारः

वातादि दोषज नेत्र रोगों की चिकित्सा वर्णन प्रतिज्ञा

मारुतपर्यय व अन्यतोवात चिकित्सा

वातादिदोषजनितानखिलाक्षिरोगान्। संक्षेपतः शमयितुं सुविधिं विधास्ये॥

तत्रादितोऽनिलविपर्ययमन्यतश्च।[1]वातं स वातविधिना समुपक्रमेत॥ 255॥

भावार्थ : वातादिक दोषों से उत्पन्न समस्त नेत्र रोगों को शमन करने के लिए योग्य औषधि विधि संक्षेप से कहेंगे। पहले, मारूतपर्यय, अन्यतोवात, इन दोनों रोगों का वातज नेत्ररोगों (वातभिष्यंद आदि) में कहे गए चिकित्सा विधि से उपचार करें।

1. भिन्नं इति पाठांतरं।

शुष्काक्षिपाक में अंजनतर्पण

स्तन्योदकेन घृततैलयुतेन शुंठी-चूर्णं सपूरकरसेन ससैंधवेन॥
घृष्टं तदंजनमतिप्रवरं विशुष्के। पाके हितं नयनतर्पणमाज्यतैलैः॥ 256॥

भावार्थ : स्तनदूध, घृत व तेल सैंधानमक, बिजौरा नींबू के रस में सोंठ के चूर्ण को अच्छी तरह पीसकर अंजन तैयार करें। वह अंजन शुष्काक्षिपाकरोग के लिए अत्यन्त हितकर है एवं घृत, तैल से नेत्र को तर्पण करना भी इस रोग में हितकर होता है।

शुष्काक्षिपाक में सेक

सिंधूत्थचूर्णसहितेन हितं कदुष्ण - तैलेन कोष्णपयसा परिषेचनं च॥
वातोद्धतानखिलनेत्रगतान्विकारान्। यत्नादनेन विधिना समुपक्रमेत॥ 257॥

भावार्थ : शुष्काक्षिपाक रोग में सेंधानमक को अल्प उष्ण तेल में मिलाकर सेचन करना एवं थोड़ा गरम दूध से सेचन करना हितकर है। इस प्रकार के उपायों से समस्त वातविकार से उत्पन्न नेत्ररोगों को बहुत प्रयत्न के साथ चिकित्सा करें।

पित्तजनेत्ररोगचिकित्साधिकारः

सर्वपित्तजनेत्ररोगचिकित्सा

पित्तोत्थितानखिलशीतलसंविधानैः। सर्वामयानुपचरे दुपचार वेदी॥
निर्यासमेव नरकिंशुकवृक्षजातं। क्षीरेण पिष्टमिह शर्करया विमिश्रम्॥ 258॥

अम्लाध्युषित चिकित्सा

आश्च्योतनं निखिलपित्तकृताक्षिरोगाम्लाबाधिकाध्युषितमप्युपहंति सद्यः॥
तोयं तथा त्रिफलया श्रृतमाज्यमिश्रं। पेयं भवेद्धतमलं न तु शुक्तिकायां॥ 259॥

भावार्थ : पित्तविकार से उत्पन्न समस्त रोगों को शीतल विधानों के द्वारा नेत्ररोग की चिकित्सा को जाननेवाला वैद्य उपचार करें। ढाक की गोंद को दूध के साथ पीसकर शक्कर मिलाकर आश्च्योतन (आँखों में डालने की विधि) करें। समस्त पित्तकृत नेत्ररोगों को व अम्लाध्युषित आदि रोगों को शीघ्र वह दूर करता है। इसी प्रकार त्रिफला के काढे में घी मिलाकर पीवें तो अम्लाध्युषित रोग को दूर करता है। यह योग शुक्तिरोग में हितकारी नहीं है।

शुक्तिरोग में अंजन

शीतांजनान्यपि च शुक्तिनिवारणार्थं। मुक्ताफलस्फटिकविद्रुमशंखशुक्ति-॥
सत्कांचनं रजनचंदनशर्कराढ्यं। संयोजयेदिदमजापयसा सुपिष्टम्॥ 260॥

भावार्थ : अक्षिगत शुक्तिविकार को दूर करने के लिए शीतगुणयुक्त अंजनों के प्रयोग करना

चाहिए। एवं मोती, स्पटिकमणि, शंख, सीप, सुवर्ण, चांदी, चंदन व शर्करा इनको बकरी के दूध में अच्छी तरह पीसकर अंजन बनाकर आँखों में प्रयोग करें।

कफज नेत्ररोग चिकित्साधिकारः

धूमदर्शी व सर्व श्लेष्मज नेत्र रोगों की चिकित्सा

गव्यं घृतं सततमेव पिबेच्च नस्यं। तेनैव साधु विदधीत स धूमदर्शी॥
श्लेष्मामयानपि च रूक्षकटुप्रयोगैः। शीघ्रं जयेदधिकतीक्ष्णशिरोविरेकैः॥ 261॥

भावार्थ : धूमदर्शी रोग के लिए सदा गाय का घृत पिलाना व उसी से नस्य प्रयोग करना हितकर है। कफविकार से उत्पन्न नेत्र रोगों को भी रूक्ष व कटु औषधियों के प्रयोग से एवं तीक्ष्ण शिरोविरेचन से शीघ्र उपशम करना चाहिए।

बलासग्रथित में क्षारांजन

धान्याच्छलाकियवकृष्णतिलान्विशोष्य। छागेन साधुपयसा बहुशो विभाव्य॥
क्षारप्रणीतविधिना परदिह्य पक्वं। नाड्यां स्थितं पृथुकफग्रंथितेंऽजनं स्यात्॥ 262॥

भावार्थ : शलाक से युक्त यव, कृष्णतिल, इन धान्यों को अच्छी तरह सुखाकर फिर बकरी के दूध के साथ बार-बार भावना देवें । बाद में क्षार बनाने की विधि के अनुसार उनको जलाकर उस भस्म को पानी से छानें और पकावें । इस क्षार को सलाई से बलासग्रथित रोगयुक्त आँख में अंजन करें।

पिष्टक में अंजन

सत्पिप्पलीमरिचनागरशिग्रुबीज - माम्लेन लुंगजनितेन सुपिष्टमिष्टं॥
तत्पिष्टकं प्रतिनिहंत्यचिरादशेषान्। श्लेष्मामयानपि बहून् सततांजनेन॥ 263॥

भावार्थ : पीपल, मिरच, सोंठ, सेंजन का बीज इनको खट्टे माहुलुंग के रस के साथ अच्छी तरह पीसकर अंजन बनावें। इस अंजन को अक्षिगत पिष्टक रोगों में सतत् आंजने से उन रोगों को दूर करने के अलावा वह अनेक श्लेष्म रोगों को भी शीघ्र नाश करता है।

परिक्लिन्नवर्त्म में अंजन

कासीससिंधुलवणं जलधीप्रसूतिं। तालं फलाम्लपरिपिष्टमनेन मिश्रम्॥
कास्यं सुचूर्णमवदह्य पुटेन जाती-। क्षारेण कल्कितमिदं विनिहंति पिल्लं॥ 264॥

भावार्थ : कसीस, सैंधानमक समुद्रफेन हरताल इनको खट्टे फलों के रस के साथ अच्छी तरह पीसें। उसमें कांसे का भस्म जो पुटपाक व क्षारपाक से तैयार किया हुआ हो, उसमें जाती क्षार को मिलाकर अंजन बनावें। वह परिक्लिन्नवर्त्म को नाश करने के लिए हितकर है।

कण्डूनाशकअंजन

नादेयशुक्लमरिचानि मनःशिलानि। जातीप्रवालकुसुमानि फलाम्लपिष्टा -॥
न्याशोष्य वर्तिमसकृन्नयनांजनेन। कंडू निहंति कफजानखिलान्विकारान्॥ 265॥

भावार्थ : सेंधानमक, सफेद मिरच (छिलका निकाला हुआ कालीमिर्च) मैनसिल, चमेली का कोंपल और फूल, इनको अम्लफलों के रस में पीसकर बत्ती बनाकर उसको सुखावें। इससे बार-बार अंजन करने से आँखों की खुजली और कफ से उत्पन्न अन्य समस्त विकारों का नाश होता है।

रक्तजनेत्ररोगाचिकित्साधिकारः

सर्वनेत्ररोगचिकित्सा

रक्तोत्थितानखिलनेत्रगतान्विकारान्। ष्यंदाधिमंथबहुरक्तशिराप्रसूतान्॥
सर्पिः प्रलेपनमृदून्सहसा शिराणां। मोक्षैर्जयेदपि च देहशिरोविरेकैः॥ 266॥

भावार्थ : रक्त के विकार से उत्पन्न नेत्रगत समस्त रोगों को एवं रक्ताभिष्यंद, रक्तजाधिमंथ, शिराहर्ष, शिरोत्पात इन रोगों को भी घृत के लेपन से मृदु बनाकर शिरामोक्षण व विरेचन और शिरोविरेचन से जीतना चाहिए।

पीड़ायुक्त रक्तजनेत्ररोगचिकित्सा

आश्च्योतनांजनस्यपुटप्रपाक -। धूमाक्षितर्पणविलेपनतत्प्रदेहान्॥
सुस्निग्धशीतलगणैः सुगुडैर्नियुक्तं। सोष्णैर्जयेद्यदि च तीव्ररुजासुतीव्रान्॥ 267॥

भावार्थ : रक्तज तीव्र नेत्ररोग यदि तीव्र पीड़ा से युक्त हो तो स्निग्ध शीतल उष्ण औषधि समूह व गुड़ इनके द्वारा, आश्च्योतन, अंजन, नस्य, पुटपाक, धूमपान, तर्पण, लेप और प्रदेह को नियोजन करे तो उपशम होता है।

शिरोत्पातशिरोहर्ष की चिकित्सा

सर्पिः पिबेदिह सिराप्रभवे जलूका -। स्संपातयेन्नयनयोस्सहसा समंतात्॥
आज्यं गुडांजनमपि प्रथितौ शिराजौ। रोगौ जयेदुदितादुग्धयुता सिता वा॥ 268॥

भावार्थ : शिरा समुत्पन्न नेत्ररोग (शिरोत्पात शिराहर्ष) में घृत का पीना हितकर है। एवं आँखों के चारों तरफ शीघ्र ही जलौंक लगवाकर रक्तमोक्षण करना, घृत व गुड़ के अंजन व दूध में मिले हुए शक्कर के उपयोग से शिरोत्पात, शिराहर्ष ये दोनों रोग दूर होते हैं।

अर्जुन व अव्रणशुक्ल की चिकित्सा

शंखो घृतेन सहितोप्यथवा समुद्र -। फेनो जयत्यखिलमर्जुनमूर्जितोऽयम्।
तत्फाणितप्रतिनिघृष्टमिहापि हेम। माक्षीकमर्जुनमपव्रणमक्षिपुष्पम्॥ 269॥

भावार्थ : घृत के साथ शंख भस्म या समुद्रफेन को मिलाकर अंजन करें तो अर्जुन रोग को जीतता है। सुवर्ण माक्षिक को फाणित (एव) के साथ घिस कर, अंजन करने से अर्जुन अव्रण शुक्ल ठीक होते हैं।

लेख्यांजन

सर्वैर्महोपरसरत्नसमस्तलोह -। चूर्णैरशेषलवणैर्लशुनैः करंजैः॥
एलाकटुत्रिकफलत्रयतोयपिष्टैः। लेख्यांजनं नयनरोगविलेखनं स्यात्॥ 270॥

भावार्थ : सम्पूर्ण महारस, उपरस, सम्पूर्ण रत्नोपरत्न, एवं सर्वधातु, उपधातुओं के चूर्ण (भस्म) सम्पूर्ण नमक, लहसन, करंज (कंजा) इनको इलायची सोंठ मिर्च, पीपल, हरड़, बहेडा, आंवला इनके कषाय से पीसकर अंजन तैयार करें । (इसका नाम लेख्यांजन है। नेत्र रोगों को लेखन (खुरच) कर निकालता है।

नेत्रपाकचिकित्सा

पाकं सशोफमपरं च शिरोविमोक्षैः। संशोधनैरपि जयेदिदमंजनं स्यात्॥

महांजन

सर्पिस्ससैधवफलाम्लयुतं सुताम्र -। पात्रे विघृष्टमुषितं दशरात्रमत्र॥ 271॥
जातिप्रतीतकुसुमानि विडंगसारे । शुंठी ससैंधवयुता सहपिप्पलीका॥
तैलेन मर्दितमिदं महदंजनाख्यं। नेत्रप्रपाकमसकृच्छमयत्यशेषम्॥ 272॥

भावार्थ : शोफसहित आक्षिपाक व निःशोथ आक्षिपाक रोग को शिरामोक्षण व संशोधन से जीतें। उसके लिए नीचे लिखे अंजन भी हितकर है। वृत्त, सैंधानमक अम्लफल के रस इन को ताम्बे के बर्तन में डालकर रगड़ें और दस दिन उसी में पड़े रहने दें। फिर उसमें जाईका फूल, वायबिंडग का सार, शुंठी, सैंधानमक, पीपल मिलाकर तैल से मर्दन करें, तो वह उत्तम अजंन बनता है। इस अंजन का नाम महांजन है। इसे नेत्रपाक रोग में शीघ्र शमन करता है।

पूयालसप्रक्लिन्नवर्त्म चिकित्सा

पूयालसे रूधिरमोक्षणमाशु कुर्यात्। पत्रोपनाहमपि चार्द्रकसद्रसेन।
कासीससैंधवकृतांजनकैर्जयेत्तान्। प्रक्लिन्नवर्त्मसहिताखिलनेत्ररोगान्॥ 273॥

भावार्थ : पूयालस रोग में शीघ्र रक्तमोक्षण करना चाहिए और पत्तियों से उपनाह (पुल्टिश) भी करना उचित है। परिक्लिनवर्त्मादि समस्त नेत्र रोगों को अद्रक के रस, कसीस व सैंधानमक से तैयार किए हुए अंजन से उपशम करना चाहिए।

अथ शस्त्रप्रयोगाधिकारः

नेत्ररोगों में शस्त्र प्रयोग

शस्त्र प्रसाध्य बहुनेत्रगतामयानप्युष्णांबुवस्त्रशकलेन घृतप्रलिप्तान् ॥
संस्वेदिताग्निशितशस्त्रमुखेन यत्नात्। तान्साधयेदभिहिताखिलतप्तयोगैः ॥ 274 ॥

भावार्थ : बहुत से नेत्र रोग शस्त्रक्रिया से साध्य होने वाले हैं। उनको आँख में घृत लेपन करके उष्ण जल व वस्त्र के टुकड़े द्वारा स्वेदन करें। फिर प्रयत्नपूर्वक तीक्ष्ण शस्त्रप्रयोग से पूर्वोक्त विधि प्रकार साधन करें।

लेखन आदिशस्त्रकर्म

निर्भज्य वर्त्म पिचुना परिमृज्य यत्नात्। लेख्यान्विलिख्य लवणैः प्रतिसारयेत्तत्॥
भेद्यान्विभिद्य बलिशैः परिसंगृहीतान्। छेद्यानपांगमनुसंश्रितसर्वभावान्॥ 275 ॥
छिद्यात्सिराश्च परिवेध्य यथानुरूपं। वेध्यान् जयोद्विदितवेदविदां वरिष्ठः ॥
पश्चादपि प्रकटदोषविशेषयुक्त्या। सद्भेषजैरुपचरेदखिलांजनाद्यैः ॥ 276 ॥

भावार्थ : आँख के पलकों को अच्छी तरह खोलकर पिचु (पोया) से पहले उसे साफ कर लेवें । तदनंतर लेख्य रोगों को लेखनकर लवण से प्रतिसारण करना चाहिए। वडिश शस्त्र से पकड़कर भेद्य रोगों को भेदन करना चाहिए व छेद्य रोगों को व अपांग में आश्रित सर्व विकारों को छेदन करना चाहिए। वेध्य रोगों को यथायोग्य शिरोवेध (फस्त खोल) करके आयुर्वेद जानने वालों में वरिष्ठ वैद्य जीतें। उपरोक्त प्रकार छेदन आदि करने के बाद भी दोषानुरूप औषधि व अंजन इत्यादि के प्रयोग से युक्तिपूर्वक उपचार करें।

पक्ष्मकोपचिकित्सा

पक्ष्मप्रकोपमपि साधु निपीड्यनालैः। रुद्बंधयेत् ग्रंथितचारूललाटपट्टं॥
पक्ष्माभिवृद्धिमवलोक्य सुखाय धीमान्। आमोचयेदखिलनालकृत प्रबंधान्॥ 277 ॥

भावार्थ : पक्ष्मप्रकोप में भी उसको अच्छी तरह से दबाकर नालियों से ग्रथित ललाटपट्ट (माथे) को बांधना चाहिए। जब पक्ष्मवृद्धि होती हुई दिखे तो रोगी को कष्ट न हो, इस इच्छा से उस बंधन को खोलना चाहिए।

पक्ष प्रकोप में लेखन आदि कर्म

संलिख्य तापहरणं दहनेन दग्ध्वा। चोत्पाट्य वा प्रशमयेदिह पक्ष्मकोपम्॥
दृष्टिप्रसादजनकैरपि दृष्टिरोगान्। साध्यान्विचार्य सततं समुपक्रमेत॥ 278 ॥

भावार्थ : उपरोक्त विधि से यदि पक्ष्मकोप शांत न हो तो उसको लेखनकर्म (खुरच) कर वा

अग्नि से जलाकर (अग्निकर्म कर) अथवा उत्पाटन कर उपशम करना चाहिए। जिससे पक्ष्मकोप से उत्पन्न संताप दूर होता है एवं साध्य दृष्टि रोगों को अर्थात् पक्ष्मकोप को नेत्रप्रसाद करने वाले औषधियों से हमेशा विचारपूर्वक चिकित्सा करें।

कफज लिंग नाश में शस्त्रकर्म

तल्लिंगनाशमपि तीव्रकफप्रजातं। ज्ञात्वा विमृद्य विलयं सहसा व्रजेत्तम्॥
स्वां नासिकामभिनिरीक्षत एव पुंसः। शुक्लप्रदेशसुषिरं सुविचार्य यत्नात्॥ 279॥
छिद्रे स्वदैवकृतलक्षणलक्षितेऽस्मिन्। विध्येत् क्रमक्रमत एव शनैश्शनैश्च॥
शुश्लक्ष्णताम्रयवक्त्रशलाकया तीव्रोत्सिंहनादमनुधुकफमुल्लिखेत्तम्॥ 280॥
दृष्टे पुरःस्थितसमस्त पदार्थ जाते। तामाहरेत्क्रमत एव भिषक् शलाकां॥
उत्तानतश्शयनमस्य हितं सदैव। नस्य कफघ्नकटुरूक्षवरौषधैश्च ॥ 281॥

भावार्थ : लिंगनाश रोग (तिमिर) को मर्दन करने पर यदि वह शीघ्र ही विलय होवें तो उसे तीव्र कफ से उत्पन्न लिंगनाश समझकर उस रोगी को अपने नाक की तरफ देखने को कहें। जब वैसे ही देखते रहे तो उसका आँख के शुक्लप्रदेश और छिद्र को प्रयत्नपूर्वक विचार करके, उस दैवकृत छिद्र में अत्यन्त चिकनी ताम्र से बनायी हुई, यववक्त्र नामक शलाका से, क्रमशः धीरे-धीरे वेधन करें और छींक कराकर कफ को निकालें। आँख के सामने समस्त पदार्थ स्थित होने पर अर्थात् दिखने लग जाने पर वैद्य को उस प्रवेश करायी गयी सलाई को, क्रमशः निकालना चाहिएः पश्चात् चित्त सुलाये हुए उस रोगी को कटुरूक्षगुणयुक्त, कफघ्न श्रेष्ठ औषधियों से सदैव नस्य देना हितकर है।

छागांबुना कतकनक्तफलद्वयं वा। पिष्टं तदिष्टमिह दृष्टिकरांजनं स्यात्॥
रक्ताख्यचंदनमपि क्रमतो निघृष्टं। सौवीरवारिघृततैलफलाम्लतक्रैः॥ 282॥

भावार्थ : बकरे के मूत्र के साथ कतक फल, करंज फल, इसको पीसकर अंजर तैयार करें। यह अंजन आँख को बनाने वाला है। कांजी, पानी, घृत, तेल अम्लफलों के रस व तक्र के साथ रक्त चंदन को धीरे-धीरे घिसकर अंजन करें तो आँख का अत्यन्त हित होता है।

शलाका निर्माण

सत्तारताम्रगजहेमवराः शलाकाः। श्लक्ष्णा रसेंद्रबहुवारकृतप्रलेपाः॥
सौवीरभावनविशुद्धतरातिशीताः। संघट्टनाद्विमलदृष्टिकरा नराणां॥ 283॥

भावार्थ : दृष्टि में रगड़ने व अंजन लगाने के लिए, चाँदी, ताम्बा, सीसा, व सोने की चिकनी शलाका बनानी चाहिए। उस पर पारा बहु बार (लिसोडा) का लेपन करके गरम करें और उसे, कांजी में बुझावें। इस प्रकार विशुद्ध व शीत उस शलाका को मनुष्यों की आँख पर रगड़ने से आँखें निर्मल हो जाती है।

लिंगनाश में त्रिफला चूर्ण

चूर्णं यत्त्रिफलाकृतं तिलजसंमिश्रं च वातोद्भवे।
श्लेष्मोत्थे तिमिरे घृतेन सहितं पित्तात्मके रक्तजे॥
खण्डेनातिसितेन पिण्डितमिदं संभक्षितं पण्डितैः।
दृष्टिं तुष्टिमतीव पुष्टिमधिकं वैशिष्ट्यमप्यावहेत्॥ 284॥

भावार्थ : वातिक लिंगनाश में, त्रिफला के चूर्ण को तिल के तैल के साथ, कफज लिंगनाश में घी के साथ, पित्त व रक्तज लिंगनाश में सफेद खाण्ड के साथ मिलाकर सेवन करने से नेत्र में प्रसाद, पुष्टि व वैशिष्ट्य उत्पन्न होता है।

पक्वैश्चामलकीफलैरपि शतावर्याश्च मूलैश्शुभैः।
सम्यक्पायसमेव गव्यघृतसंयुक्तं सदा सेवितं॥
साक्षी पक्षिपतेरिवाक्षियुगले दृष्टिं करोत्यायताम्।
वृष्यायुष्ककरं फलत्रयरसः शीतांबुपानोत्तमम् ॥ 285 ॥

भावार्थ : पके हुए आँवले का फल, व शतावरी के जड़ से अच्छा खीर[1] बनाकर, उसमें गाय का घी मिलाकर सदा सेवन करें तो दोनों आँखें गरुड़पक्षी के आँख के समान तीव्र होती है। त्रिफले का रस व ठण्डा पानी पीना वृष्य व आयुर्वृद्धिकारक है एवं दृष्टि को विशाल बनाता है।

मौर्व्याद्यंजन

मौर्वीवज्रीकुमारीस्वरस - परिगतं सत्पुराणेष्टकानां।
पिष्टं संघृष्टमिष्टं मलिनतरबृहत्कांस्यपात्रद्वयेऽस्मिन् ।
तैलाज्याभ्यां प्रयुक्तं पुनरपि बहुदीपांजनेनातिमिश्रं ॥
विश्वाभिष्यंदकोपान् शमयति सहसा नेत्रजान् सर्वरोगान् ॥286॥

भावार्थ : मेढासिंगी, हाडजोड, कुमारी इनके स्वरस से भावित पुराना इष्टक (एरण्डवृक्ष अथवा ईंट) की पिठ्ठी को मलिन कांसे के दो बर्तन में डालकर खूब घिसे और उसमें तैल, घी, दीपांजन (काजल) मिला देवें । इस अंजन को आंजने से वह सम्पूर्ण अभिष्यंदरोग एवं अन्य नेत्रज सर्व रोगों को शीघ्र ही शमन करता है।

1. आँवला और शतावरी को महीन चूर्ण बनाकर दूध व शक्कर के साथ पकावें। अथवा आँवला और शतावरी के रस को दूध शक्कर के साथ पकाना चाहिए, यही पायस है।

हिमशीतलांजन

कर्पूरचंदनलतालवलीलवंग । कक्कोलजातिफलकुंकुमयष्टिचूर्णैः॥
वर्तीकृतैः सुरभिगव्यघृतप्रदीप्तं। शीतांजनं नयनयोर्हिमशीतलाख्यम्॥ 287॥

भावार्थ : कर्पूर,चंदन,लता- कस्तूरी, हरपाररेबड़ी, लवंग, कंकोल, जायफल, केसर व मुलहटी इनका चूर्णकर फिर बत्ती बनाना चाहिए। उस बत्ती को सुगंधित गाय के घी से जलाकर अंजन तैयार करें । वह हिमशीतल नामक अंजन नेत्रों के लिए हितकर है और शीतगुणयुक्त है।

सौवर्णादिगुटिका

सौवर्णं ताम्रचूर्णं रजतसमधृतं मौक्तिकं विद्रुमं वा।
धात्र्याक्ष्याख्याभयानामुदधिकफ - निशाशंखतुत्थामृतानाम्॥
यष्ट्याह्वापिप्पलीनागर - वरमरिचानां विचूर्णं समांशं।
यष्टिक्वाथेन पिष्टं शमयति गुलिका नेत्ररोगानशेषान्॥ 288॥

भावार्थ : सुवर्णभस्म, ताम्रभस्म व रजतभस्म को समांश लेकर अथवा मोतीभस्म व प्रवालभस्म को समभाग लेकर उसमें आँवला, बहेड़ा, हरड़, समुद्रफेन (समुद्र झांक) हल्दी, शंख तूतिया, गिलोय, मुलैठी, पीपल, सोंठ, कालीमिरच इनके समांश चूर्ण को मिलावें। फिर मुलहटी के क्वाथ से अच्छी तरह पीसकर गोली बनावें। वह गोली (नेत्र में घिसकर लगाने से) समस्त नेत्र रोगों को नाश करती है।

तुत्थाद्यंजन

तुत्थं चंदनरक्तचंदनयुतं काश्मीरकालागुरु -।
प्रोद्यत्सूततमालचंद्रभुजगास्सर्वे समं संमिताः॥
नीलाख्यांजनमत्र तद्विगुणितं चूर्णीकृतं कालिका।
न्यस्तं नागशलाकयांजितमिदं सौभाग्यदृष्टिप्रदम्॥ 289॥

भावार्थ : तूतिया, चंदन, रक्तचंदन, केशर, कालागरु, पारा, तमालपत्र, कपूर, शीसा इनको समान अंश में लेकर उसमें नीलांजन को द्विगुणरूप से मिलावें। उन सबको चूर्ण कर काजल तैयार करें। उसे करण्ड या शीशी में रखें और शीशे की शलाका से (आँख में) लगावें तो नेत्र सौभाग्य से युक्त होता है।

प्रसिद्ध योग

पादाभ्यंगः पादपूज्यार्चितोये। नस्यं शीतं चांजनं सिद्धसेनैः॥
अक्ष्णोर्मूर्ध्नस्तर्पणं श्रीजटाख्यै ।विख्याता ये दृष्टिसंहारकाले ॥290॥

भावार्थ : दृष्टिनाश से बचने के लिए श्री पूज्यपाद स्वामी के पादाभ्यंग द्वारा पूजित अर्थात् कथित सिद्धसेन स्वामी द्वारा प्रतिपादित शीतनस्य व शीतांजन और जटाचार्य द्वारा कथित अक्षितर्पण, शिरोतर्पण ये प्रयोग संसार में प्रसिद्धि को प्राप्त हुए हैं।

सूक्ष्माक्षराभीक्ष्णनिरीक्षणोद्य-। द्वीपप्रभादर्शनतो निवृत्तिः॥
शश्वद्विनश्यत्पवयरात्मदृष्टे-। र्दृष्टातिरक्षेति समंतभद्रैः॥291॥

भावार्थ : सूक्ष्म अक्षर और उज्ज्वल दीपक आदि की प्रभा को हमेशा देखने से निवृत्त होना यही सदा विनाश स्वभाव को धारण करने वाली, श्रेष्ठ अपनी दृष्टि की रक्षा है अर्थात् आँखों के रक्षण के लिए सूक्ष्म अक्षरों का बांचना, तीव्र प्रकाश की तरफ अधिक देखते रहना हितकर नहीं है, ऐसा समंतभद्राचार्य ने कहा है।

अंतिम कथन

इति जिनवक्त्रनिर्गतसुशास्त्रमहांबुनिधेः।सकलपदार्थविस्तृततरंगकुलाकुलतः॥
उभयभवार्थसाधनतटद्वयभासुरतो।निसृतमिदं हि शीकरनिभं जगदेकहितम्॥292॥

भावार्थ : जिसमें सम्पूर्ण द्रव्य, तत्त्व व पदार्थ रूपी तरंग उठ रहे हैं, इहलोक परलोक के लिए प्रयोजनभूत साधन रूपी जिसके दो सुंदर तट हैं। ऐसे श्रीजिनेन्द्र के मुख से उत्पन्न शास्त्र समुद्र से निकली हुई बूँद के समान यह शास्त्र है। साथ में जगत् का एक मात्र हितसाधक है (इसलिए ही इसका नाम कल्याणकारक है)।

इत्युग्रादित्याचार्यकृत कल्याणकारके चिकित्साधिकारे
क्षुद्ररोगचिकित्सतं नामादितः पंचदशः परिच्छेदः।

इत्युग्रदित्याचार्यकृत कल्याणकारक ग्रन्थ के चिकित्साधिकार में विद्यावाचस्पतीत्युपाधिविभूषित **वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री** द्वारा लिखित **भावार्थदीपिका** टीका में क्षुद्ररोगाधिकार नामक **पंद्रहवां परिच्छेद** समाप्त हुआ॥

अथ षोडशः परिच्छेदः

मंगलाचरण

सुंदरांगमभिवंद्य जिनेन्द्रं। वंद्यमिंद्रमहितं प्रणिपत्य ॥
बंधुराननिबंधनरोगान्। सन्दधाम्यखिललक्षणयुक्तान् ॥ 1॥

भावार्थ : परमौदारिक दिव्य देह को धारण करनेवाले, इंद्र से पूजित श्री जिनेन्द्र की वंदना कर ऐसे अनेक रोगों को जिनके लिए मुख कारणीभूत है, उनके सम्पूर्ण लक्षण व कारण के साथ वर्णन करेंगे।

प्रतिज्ञा

श्वासकासविरसातिपिपासा। छर्द्यरोचकखरस्वरभेदो-॥
दातिवर्तनिजनिष्टुरहिक्का-। पीनसाद्यतिविरूपविकारान्॥ 2॥

भावार्थ : श्वास, कास, विरस, छर्दि अरोचकता, कर्कश स्वरभेद उदावर्त, कठोर हिक्का व पीनस विरूप आदि रोगों का वर्णन करेंगे।

लक्षितानखिललक्षणभेदैः साधयेत्तदनुरूपविधानैः।
साध्ययाप्यपरिवर्जयितव्यान्। योजयेदधिकृतक्रमवेदी॥ 3॥

भावार्थ : अपने-अपने विविध प्रकार के लक्षणों से संयुक्त उपरोक्त रोगों को उनके अनुकूल चिकित्सा क्रम को जानने वाला वैद्य साध्य करें। लेकिन साध्य रोगों को ही साध्य करें। याप्य को यापन करें। वर्जनीय को तो छोड़ देवें।

अथ श्वासाधिकारः

श्वासलक्षण

श्वास इत्यभिहितो विपरीतः। प्राणवायुरुपरि प्रतिपन्नः॥
श्लेष्मणा सह निपीड्यतरं तं। श्वास इत्यपि स पंचविधोऽयम्॥4॥

भावार्थ : प्राणवायु की गति विपरीत होकर जब वह केवल अथवा कफ के साथ पीड़न करती हुई ऊपर जाता है, इसे श्वास कहते हैं। यह श्वास पाँच[1] प्रकार का होता है।

1. महाश्वास, ऊर्ध्वश्वास, छिन्नश्वास, तमकश्वास, क्षुद्रश्वास।

क्षुद्रतमकलक्षण

क्षुद्रको भवति कर्मणि जातः। तन्निवृत्तिरपि तस्य निवृत्तौ॥
घ्योषवान् स कफकाससमेतो। दुर्बलस्य तमकोऽन्नविरोधी॥ 5॥

भावार्थ : कुछ परिश्रम करने पर जो श्वास उत्पन्न होता है विश्रांति लेने पर अपने आप ही शांत होता है उसे क्षुद्रश्वास कहते हैं। जो दुर्बल मनुष्य को शुद्धयुक्त कफ व खांसी के साथ श्वास चढ़ता है, और जो अन्न के खाने से बढ़ता है, उसे तमकश्वास कहते हैं।

छिन्न व महाश्वास लक्षण

छिन्न इत्युदरपूरणयुक्तः। सोष्णबस्तिरखिलांगरुगुग्रः॥
स्तब्धदृष्टिरिह शुष्कगलोऽति। ध्वानशूलसहितस्तु महान् स्यात् ॥6॥

भावार्थ : जिस श्वास में पेट फूलता हो, बस्ति (मूत्राशय) में दाह होता हो, सम्पूर्ण अंगों में उग्र पीड़ा होती हो (जो ठहर-ठहरकर होता हो) उसे छिन्न श्वास कहते हैं। जिसकी मौजूदगी में दृष्टि स्तब्ध होती हो, गला सूख जाता हो, अत्यन्त शब्द होता हो, शूल से संयुक्त हो ऐसे श्वास को महाश्वास कहते हैं।

ऊर्ध्व श्वासलक्षण

मर्मपीडितसमुद्भव दुःखो। बाढमुच्छ्वसिति नष्टनिनादः॥
ऊर्ध्वदृष्टिरत एव महोर्ध्व-। श्वास इत्यभिहितो जिननाथैः॥ 7॥

भावार्थ : जिसमें अत्यधिक उर्ध्व श्वास चढ़ता हो, साथ में मर्मभेदी दुःख होता हो, आवाज का नाश हो गया हो, आँखें ऊपर चढ़ गई हो तो ऐसे महान् श्वास को जिनभगवान् ने ऊर्ध्वश्वास कहा है।

साध्यासाध्य विचार

क्षुद्रकस्तमक एव च साध्यो। दुर्बलस्य तमकोऽप्यतिकृच्छ्रः॥
वर्जिता मुनिगणैरवशिष्टाः। श्वासिनामुपरि चारूचिकित्सा॥ 8॥

भावार्थ : क्षुद्रक और तमक श्वास साध्य हैं। अत्यधिक दुर्बल मनुष्य हो तो तमक श्वास भी अत्यन्त कठिनसाध्य है। बाकी के श्वासों को मुनिगण त्यागने योग्य कहते हैं। यहाँ से आगे श्वास रोगियों की श्रेष्ठ चिकित्सा का वर्णन करेंगे।

श्वासचिकित्सा

छर्दनं प्रतिविधाय पुरस्तात्। स्नेहबस्तिविगतां च विशुद्धिम्॥
योजयेद्बलवतामबलानाम्। श्वासिनामुपशमौषधयोगान्॥ 9॥

भावार्थ : बलवान श्वास रोगी को पहले वमन कराकर स्नेह बस्ति आदि अन्य शुद्धियों की योजना करनी चाहिए। निर्बल रोगी हो तो उपशम औषधियों से ही चिकित्सा करनी चाहिए।

पिप्पल्यादि घृत व भाङ्गर्यादि चूर्ण

पिप्पलीलवणवर्गविपक्वं। सर्पिरेव शमयत्यतिजीर्णं॥
श्रृंगवेरलवणान्वितभार्डीः। चूर्णमप्यमलतैलविमिश्रम्॥ 10॥

भावार्थ : पीपल व लवण वर्ग से सिद्ध किया हुआ घी अत्यन्त पुराने श्वास को शमन करता है। सोंठ लवण से युक्त भारंगी चूर्ण को निर्मल तेल में मिलाकर उपयोग करें तो भी श्वास के लिए हितकर है।

भृंगराज तैल व त्रिफला योग

भृंगराजरसविंशतिभागैः पक्वतैलमथवा प्रतिवापम्॥
श्वासकासमुपहंत्यातिशीघ्रं। त्रैफलाजलामिवाज्यसमेतम्॥ 11॥

भावार्थ : जिस प्रकार हरड़, बहेड़ा, आंवले के कषाय में घी मिलाकर सेवन करने से श्वास रोग शीघ्र नाश होता है, उसी प्रकार एक भाग तिल के तैल में बीस भाग भांगरे का रस और हरड़ का कल्क डाल कर सिद्ध करके सेवन करें, तो श्वास और कास को शीघ्र ही नाश करता है।

त्वगादि चूर्ण

त्वक्कटुत्रिकफलत्रयभार्ङ्गी। नृत्यकाण्डकफलानि विचूर्ण्य।
शर्कराज्यसहितान्यवलिह्य। श्वासमाशु जयतीद्धमपि प्राक्॥ 12॥

भावार्थ : दालचीनी, सोंठ, मिरच, पीपल, हर्ड, बहेड़ा, आंवला व भारंगी नृत्यकांडक (?) का फल इनको अच्छी तरह चूर्णकर शक्कर और घी सहित चाटें, तो बहुत दिन के पहले खूब बढ़ा हुआ भी श्वासरोग शीघ्र दूर होता है।

तलपोटक योग

[1]पिप्पलीलवणतैलघृताक्तं। मूलमेव तलपोटकजातम्॥
उत्तरीकृतमिदं क्षपयेत्तम्। श्वासमाश्वसुहरं क्षणमात्रात्॥ 13॥

भावार्थ : पीपल, लवण, तेल व घृत से युक्त तलपोटक के (?) मूल को सेवन करें तो प्राणहर श्वास को भी क्षण भर में दूर करता है।

1. ख पुस्तके पाठोऽयं नोपलभ्यते।

अथ कासाधिकारः

कास लक्षण

प्राणमारूत उदानसमेतो। भिन्नकांस्यरवसंन्निभघोषः॥

दुष्टतामुपगतः कुरुतेऽतः। कासरोगमपि पंचविकल्पम्॥ 14॥

भावार्थ : दूषित प्राणवायु उदानवायु से मिलकर जब मुख से बाहर आता है, तो फूटे हुए कांसे के वर्तन के समान शब्द होता है। इसे कास (खाँसी) कहते हैं। यह भी पाँच प्रकार का होता है।

कास का भेद व लक्षण

दोषजक्षतहृतक्षयकासास्तेषु दोषजानिता निजलक्षाः॥

वक्षसि प्रतिहतेऽध्ययनाद्यैः। सांद्ररक्तसहितः क्षतकासः॥ 15॥

भावार्थ : वातज, पित्तज, कफज, क्षतज व धातुक्षयज इस प्रकार कास पाँच प्रकार का है। दोषजकास तत्तदोषों के लक्षणों से संयुक्त होते हैं। अध्यनादिक श्रम से हृदय में क्षत (जखम) होने पर जो कास उत्पन्न होता है, जिसके साथ में गाढ़ा स्राव (खून)आता है उसे क्षतज कास कहते हैं।

दुर्बलो रुधिरछायमजस्त्रं। ष्ठीवति प्रबलकासविशिष्टः।

सर्वदोषजनितः क्षयकासो। दुश्चिकित्स्य इति तं प्रवदंति॥ 16॥

भावार्थ : धातुक्षय होने के कारण से मनुष्य दुर्बल हो गया हो, अतएव प्रबल खांसी से युक्त हुआ हो, रक्त के सदृश लाल थूंक को थूकता हो, उसे क्षयज कास समझना चाहिए। यह कास त्रिदोषजन्य है और दुश्चिकित्स्य होता है।

वातजकासचिकित्सा

वातजं प्रशमयत्यतिकासं। छर्दनं घृतविरेचनमाशु॥

स्नेहबस्तिरपि साधुविपक्वं। षट्पलं प्रथितसर्पितदारम्॥ 17॥

भावार्थ : अतिवृद्ध वातज कास में वमन, घृत से विरेचन व स्नेहबस्ति के प्रयोग करें तो वातज कास शीघ्र ही उपशम होता है एवं अच्छी तरह सिद्ध किए हुए षटपल नामक प्रसिद्ध घृत के सेवन से भी वातज खांसी उपशम को प्राप्त होती है।

सैंधवं त्रिकटुहिंगुविडंगैश्चूर्णितैर्घृततिलोद्भवमिश्रैः॥

स्नेहधूममपहंत्यनिलोत्थम्। कासमर्कपयसेव शिलालम्॥ 18॥

भावार्थ : सैंधानमक, त्रिकटु, हिंगु, वायविडंग इनको चूर्ण कर उसमें घृत व तिल का तेल मिलावें। इससे धूम्रपान करें। इस स्नेहिक धूमपान से वातज कास शीघ्र दूर होता है, जिस प्रकार कि अकौवे का दूध मनशिला, हरताल को नाश करता है।

वातजकास में योगांतर

कोष्णगव्यघृतमेव पिबेद्धा। तैलमेव लवणोषणमिश्रम्॥

ऊषणत्रयकृताम्लयवागूं। क्षीरिकामपि पयोऽनिलकासी॥ 19॥

भावार्थ : वातज कास से पीड़ित मनुष्य सेंधानमक व मिरच के चूर्ण से मिश्रित कुछ गरम घी अथवा तैल पीवें एवं पीपल गजपीपल वनपीपल इनको डालकर की गई खट्टी यवागू, दूध आदि से बना हुआ खीर अथवा दूध ही पीना चाहिए।

वातजकासघ्न योगांतर

व्याघ्रिकास्वरससिद्धघृतं वा। कासमर्दवृषभृंगरसैर्वा।

पक्वतैलमनिलोद्भवकासं। नाशयत्यभयया लवणं वा॥ 20॥

भावार्थ : कटेहरी के रस से सिद्ध घृत को पीने से अथवा कसोंदी, अडूसा व भृंगराज के पक्व तैल को अथवा हरड़ को नमक के साथ सेवन करने से वात से उत्पन्न खांसी नष्ट होती है।

पैत्तिककास चिकित्सा

पुण्डरीककुमुदोप्पलयष्टी-। सारिवाक्वथिततोयविपक्वम्॥

सर्पिरेव सितया शमयेत्तं। पित्तकासमसकृत्परिलीढम्॥ 21॥

भावार्थ : कमल, श्वेतकमल, नीलकमल, मुलैठी सारिवा उनके काढ़े से सिद्ध किए हुए घृत को शक्कर के साथ बार-बार चाटें, तो पित्तज कास शमन होता है।

पैत्तिककासघ्न योग

[1]पिप्पलीघृतगुडान्यपि पीत्वा। माहिषेण पयसा सहितानि॥

पिष्टयष्टिमधुरेक्षुरसैर्वा। पित्तकासमपहंत्यातिशीघ्रं॥ 22॥

भावार्थ : पीपल, घी व गुड़ इनको भैंस के दूध के साथ पीने से अथवा मुलैठी को ईख के रस में पीसकर सेवन करने से, पित्तज कास शीघ्र नाश होता है।

कफजकास चिकित्सा

श्लेष्मकासमभयाघनशुण्ठी-। चूर्णमाशु विनिहंति गुडेन।

छर्दनं तनुशिरोऽतिविरेकाः। तीक्ष्णधूमकबलाः कटुलेहाः॥ 23॥

भावार्थ : खस, मोथा, शुण्ठी, इनके चूर्ण को गुड़ के साथ खावें, तो श्लेष्मज कास दूर होता है एवं वमन, विरेचन, शिरोविरेचन, तीक्ष्ण, धूमपान व कवल धारण कराना एवं कटुलेहों का चटाना भी कफज कास में हितकर है।

1. मष्टमधुरेक्षु इति पाठांतरं।

क्षतज, क्षयजकास चिकित्सा

यःक्षतक्षयकृतश्च भवेत्तं। कासमामलकगोक्षुरखर्जू॥
रप्रियालमधुकोत्पलभार्ङी। पिप्पलीकृतसमांशविचूर्णम्॥ 24॥
शर्कराघृतसमेतमिदं मंक्ष्वक्षमात्रमवभक्ष्य समक्षम्॥
क्षीरभुक् क्षपयतीह समस्तं। दीक्षितो जिनमते दुरितं वा॥ 25॥

भावार्थ : आमला, गोखरू, खजूर, चिरौंजी मुलैठी, नीलकमल, भारंगी, पिप्पली इनको समान अंश में लेकर चूर्ण बनावें। इससे, एक तोला चूर्ण को घी व शक्कर मिलाकर शीघ्र भक्षण करें और दूध के साथ भोजन करते रहें, तो यह समस्त क्षत व क्षय से उत्पन्न कास को नाश करता है, जैसा कि जैनमत में दीक्षित व्यक्ति कर्मों को नाश करता है।

सक्तुपयोग

शालिमाषयवषष्टिकगोधूमप्रभृष्ट - वरपिष्टसमेतम्॥
माहिषं पय इहाज्यगुडाभ्याम्। पाययेत् क्षयकृतक्षयकासे॥ 26॥

भावार्थ : चावल, उड़द, जौ, साठीधान्य, गेंहू इनको अच्छी तरह भूनकर पीसें, इस में घी गुड़ मिलाकर भैंस के दूध के साथ पिलाने से क्षयज कास नाश होता है।

अथ विरसरोगाधिकारः

विरसनिदान व चिकित्सा

दोषभेदविरसं च मुखं प्रक्षालयेत्तदनुरूपकषायैः॥
दंतकाष्टकबलग्रहगण्डूषौषधैरपि शिरोऽतिविरेकैः॥ 27॥

भावार्थ : (दोष भेदानुसार) वात आदि दोषों से, मुख का रस विपरीत[1] (जायका खराब) हो जाता है, इसे विरस कहते हैं, इस रोग में तत्तद्दोषनाशक व मुख के रस से विपरीत रस से युक्त औषधि से सिद्ध कषायों से मुख को धोना चाहिए एवं अनुकूल दंतुन से दंतधावन योग्य औषधि से कवलधारण, गण्डूष व शिरोविरेचन कराना हितकर होता है।

अथ तृष्णारोगाधिकारः

तृष्णानिदान

दोषदूषितयकृत्प्लिहया संपिडितस्य गलतालुविशोषात्॥
जायते बलवती हृदि तृष्णा। सा च कास इव पंचविकल्पा॥ 28॥

1. जैसे कि कफोद्रेक से मुख नमकीन, पित्तोद्रेक से खट्टा कडुआ, वातोद्रेक से कषैला होता है।

भावार्थ : जिसका यकृत व प्लीहा (जिगर-तिल्ली) दोषों से दूषित होता जाता है, ऐसे पुरुष का गल व तालु प्रदेश सूख जाने से हृदय में बलवती तृष्णा (प्यास) उत्पन्न होती है। इसका नामक तृष्णा रोग है। खाँसी के समान इसका भी भेद[2] पाँच हैं।

दोषजतृष्णा लक्षण

सर्वदोषनिजलक्षणवेदी। वेदनाभिरूपलक्षितरूपाम्॥
साधयेदिह तृषामभिवृद्धां। त्रिप्रकारबहुभेषजपानैः॥ 29॥

भावार्थ : सर्वदोषों के लक्षण को जानने वाला वैद्य नाना प्रकार की वेदनाओं से, जिसका लक्षण प्रगटित है ऐसी बढ़ी हुई, तृष्णारोग को तीन प्रकार की औषधियों के पान से साधन करना चाहिए। सारांश यह है कि वातादि दोषजन्य तृष्णा को तत्तद्दोषों के लक्षण से (यह वातज है पित्तज है आदि जानकर, उन तीन दोषों को नाश करने वाली तीन प्रकार की औषधियों से चिकित्सा करनी चाहिए।

क्षतजक्षयजतृष्णा लक्षण

या क्षतात् क्षतजसंक्षयतो वा। वेदनाभिरथवापि तृषा स्यात्॥
पंचमी हृदि रसक्षयजाता-नैव शाम्यति दिवा च निशायाम्॥ 30॥

भावार्थ : शस्त्र आदि से शरीर जखम होने पर अधिक रक्तस्राव से अथवा अत्यधिक पीड़ा के कारण से तृष्णा उत्पन्न होती है। इसे क्षतज तृष्णा कहते हैं। रक्त के क्षय होने से हृदय में जो तृष्णा उत्पन्न होती है जो (पानी पीते-पीते पेट भर जाने पर भी) रात्रि व दिन कभी बिलकुल शांत नहीं होता है, उसे क्षयज तृष्णा कहते हैं।

तृष्णाचिकित्सा

तृष्णकापि न विमुंचति कायं। वारिणोदरपुटे परिपूर्णे॥
छर्दयेद्धिमजलेन विधिज्ञः। पिप्पलीमधुककल्कयुतेन॥ 31॥

भावार्थ : यदि पेट को पानी से भर देने पर भी प्यास बुझती नहीं, ऐसी अवस्था में कुशल वैद्य को उचित है कि वह पीपल व ज्येष्ठमध के कल्क से युक्त ठण्डे पानी से छर्दन (वमन) करावें।

तृष्णा निवारणार्थ उपायांतर

लेपयेदपि[1] तथाम्लफलैर्वा। तप्तलोहसिकतादिविशुद्धम्॥
पाययेन्मधुरशीतलवर्गैः। पक्वतोयमथवातिसुगंधम्॥ 32॥

भावार्थ : तृष्णा को रोकने के लिए, खट्टे फलों को पीसकर जिह्वा पर लेप करना चाहिए तथा

1. वातज, पित्तज, कफज, क्षतज, क्षयज, इस प्रकार तृष्णा के पाँच भेद हैं।
2. रोचयेदिति पाठांतरं।

लोह, बालू, चाँदी, सोना आदि को तपाकर बुझाया हुआ वा मधुरवर्ग, शीतल वर्गोक्त औषधियों से सिद्ध अथवा सुगंध औषधियों से मिश्रित वा सिद्ध पानी को उसे पिलाना चाहिए।

वातादिजतृष्णा चिकित्सा

वातिकीमहिमवारिभरूद्यत्पैत्तिकीमपि च शीतलतोयैः॥
श्लैष्मिकीं कटुकतिक्तकषायैर्वामयन्निह जयेदुरुतृष्णाम्॥ 33॥

भावार्थ : वातज तृष्णा में गरम पानी से, पित्तज में ठण्डे पानी से, कफज में कटु, तिक्तकषायरस युक्त औषधियों से वमन कराता हुआ भयंकर तृष्णा को जीतनी चाहिए।

आमजतृष्णाचिकित्सा

दोषभेदविहितामवितृष्णां। साधयेदखिलपित्तचिकित्सा-॥
मार्गतो न हि भवंति यतस्ताः। पित्तदोषरहितास्तत एव॥ 34॥

भावार्थ : दोषज तृष्णा में जिसकी गणना की गई है ऐसी आम[1] से उत्पन्न तृष्णा को पैत्तिक तृष्णा में कही गई सम्पूर्ण चिकित्सा क्रम के अनुसार साधन करें । क्योंकि पित्तदोष को छोड़कर तृष्णा उत्पन्न हो ही नहीं सकती है।

तृष्णानाशकपान

त्वक्कषायमथ शर्करया तं। क्षीरवृक्षकृतजातिरसं वा।
सद्रसं बृहदुदुंबरजातम्। पाययेदिह तृषापरितप्तम्॥ 35॥

भावार्थ : दालचीनी के कषाय में शक्कर मिलाकर, क्षीरवृक्ष या जाई के रस अथवा बड़े उदुम्बर के रस को तृषा से परिपीड़ित रोगी को पिलाना चाहिए।

उत्पलादि कषाय

उत्पलांबुजकशेरुकशृंगाटांघ्रिभिः क्वथितगालिततोयम्॥
चंदनांबुघनवालकमिश्रं। स्थापयेन्निशि नभस्थलदेशे॥ 36॥
गंधतोयमतिशीतलमेव। द्राक्षया सह सितासहितं तत्॥
पाययेदाधिकदाहतृषार्तं। मर्त्यमाशु सुखिनं विदधाति॥ 37॥

भावार्थ : नीलकमल, कमल, कसेरु, सिंघाड़े, इनके जड़ से सिद्ध किए हुए क्वाथ (काढ़ा) में चंदन, खस, कपूर, नेत्रबल को मिलाकर रात्रि में चाँदनी से रखें। इस सुगंधित व शीतल जल को

1. जो खाये हुए अन्न के अजीर्ण से उत्पन्न होती है, जिसमें हृदयशूल, लार गिरना, ग्लानि आदि तीनों दोषों के लक्षण पाये जाते हैं, उसे आमज तृष्णा कहते हैं। इस तृष्णा को दोषज तृष्णा में अंतर्भाव किया है। इसलिए पंच संख्या की हानि नहीं होती है।

द्राक्षा व शक्कर के साथ अत्यधिक दाह व तृषा सहित रोगी को पिलावें। यह उसे सुखी बनायगा।

सारिवादि क्वाथ

शारिबाकुशकशेरुककाशो-। शीरवारिदमधूकसपिष्टैः॥

पक्ववतोयमतिशीतसिताढ्यम्। पीतमेतदपहंत्यतितृष्णाम्॥ 38॥

भावार्थ : सारिबा, कुश, कसेरु, कासतृण, खस, नागरमोथा, महुआ इनको पीसकर काढ़ा करें। जब वह ठण्डा होवें, तब उसमें शक्कर मिलाकर पीवें, तो यह भयंकर तृष्णा को दूर करता है।

अथ छर्दिरोगाधिकारः

छर्दि (वमन) निदान, व चिकित्सा

छर्दिमप्यनिलपित्तकफोत्थं। साधयेदधिकृतौषधभेदैः॥

सर्वदोषजनितामपि सर्वै-। र्भेषजैर्भिषगशेषविधिज्ञः॥39॥

भावार्थ : दोषों के कुपित होने व अन्य कारण विशेषों से खाया हुआ जो कुछ भी पदार्थ मुखमार्ग से बाहर निकल आता है इसे छर्दि, वमन व उलटी कहते हैं। वातज, पित्तज, कफज, सन्निपातज, आगंतुज, इस प्रकार छर्दि के भेद पाँच हैं। इन वात आदि से उत्पन्न छर्दि रोगों में तत्तद्दोषों के लक्षण पाये जाते हैं। सन्निपातज में तीनों दोषों के लक्षण प्रकट होते हैं। जो मल, रक्त मांस आदि बीभत्स पदार्थों के देखने आदि से, गर्भोत्पत्ति के कारण से, अजीर्ण व असात्म्य अन्नों के सेवन से और क्रिमिरोग से जो छर्दि विकार (वमन) होता है, इसे आगंतुज छर्दि कहते हैं। उपरोक्त वातदिदोषजनित छर्दियों को तत्तद्दोषनाशक औषधियों के प्रयोग से साध्य करना चाहिए। तीनों दोषों से उत्पन्न (सन्निपातज) छर्दिको तीनों दोषों को नाश करनेवाली औषधियों से सम्पूर्ण चिकित्सा विधि को जानने वाला वैद्य, साधन (ठीक) करें।

आगंतुजछर्दि चिकित्सा

दौहृदोत्कटमलक्रिमिभभि-। भत्साद्यपथ्यतरभोजनजाताम्॥

छर्दिमुद्धतनिजाखिलदोष। प्रक्रमैरूपचरेदुपगम्य॥ 40॥

भावार्थ : गर्भिणी स्त्रियों की, मल की उत्कटता, क्रिमिरोग बीभत्स पदार्थों को देखना, अपथ्य भोजन आदि से उत्पन्न आगंतुज छर्दि में, जिन-जिन दोषों के उद्रेक हो, उनको जानकर तत्तदोषनाशक चिकित्सा विधि से उपचार करें।

छर्दिका असाध्यलक्षण

सास्रपूयकफमिश्रितरूपो। पद्रवाधिकनिरंतरसक्ताम्॥

वर्जयेदिह भिषग्विदितार्थः। छर्दिमर्दिततनुं बहुमूर्च्छां॥41॥

भावार्थ : छर्दि से पीड़ित रोगी, रक्त पूय व कफ से मिश्रित वमन करता हो, अत्यधिक उपद्रवों से हमेशा युक्त रहता हो, बार-बार मूर्छित होता हो तो ऐसे रोगी को अभिज्ञ वैद्य, असाध्य समझकर छोड़ देवें।

छर्दि में ऊर्ध्वाधःशोधन

छर्दिषु प्रबलदोषयुतासु। छर्दनं हितमधः परिशुद्धिम्॥
प्रोक्तदोषविहितौषधयुक्तम्। योजयेज्जिनमतक्रमवेदी॥42॥

भावार्थ : यदि छर्दि अत्यन्त प्रबल दोषों से युक्त हो, तो उसमें पूर्वोक्त, तत्तद्दोषनाशक औषधियों से, वमन व विरेचन जिनमत के आयुर्वेद शास्त्र की चिकित्सा क्रम को जानने वाला वैद्य करावें।

छर्दिरोगी को पथ्यभोजन व वातजछर्दि चिकित्सा

शुष्कसात्म्यलघुभोजनमिष्टम्। साम्लसैंधवयुता च यवागूः॥
क्षीरतोयमहिमं परिपीतं। छर्दिमाशु शमयत्यनिलोत्थम्॥ 43॥

भावार्थ : इसमें सूखा, शरीर को अनुकूल व लघु भोजन करना हितकर है। आम्ल सहित सैंधानमक से युक्त यवागू तथा गरम दूध में पानी मिलाकर पीवें, तो छर्दि रोग दूर होता है।

वातजछर्दि में सिद्धदुग्धपान

बिल्वमंथबृहतीद्वयटंटू-। कांघ्रिपक्वजलसाधितदुग्धम्॥
पाययेदहिममाज्यसमेतम्। छर्दिषु प्रबलवातयुतासु॥ 44॥

भावार्थ : बेल, अगेथु, छोड़ी-बड़ी कटेहली, टेंटू इनके जड़ से पकाये हुए पानी से सिद्ध गरम दूध में घी मिलाकर पिलावें, तो वातकृत प्रबल छर्दिरोग दूर होता है।

पित्तजछर्दि चिकित्सा

आज्यमिश्रममलामलकानां। क्वाथमिक्षुरसदुग्धसमेतम्॥
पाययेदधिकशीतलवर्गैः। छर्दिषु प्रबलपित्तयुतासु॥ 45॥

भावार्थ : घृत से मिश्रित निर्मल आमलेके क्वाथ में ईख का रस व दूध को एवं शीतल वर्गौषधियों को मिलाकर पिलाने से पित्तकृत प्रबल छर्दिरोग दूर होता है।

कफजछर्दि चिकित्सा

पाठया सह नृपांघ्रिपमुस्ता। निंबसिद्धमहिमं कटुकाढ्यम्॥
पाययेत्सलिलमत्र बलास-। छर्दिमेतदपहंत्यचिरेण॥ 46॥

भावार्थ : पाठा, आरग्वध (अमलतास का गूदा) मोथा व निंब से सिद्ध पानी में सोंठ, मिरच, पीपल आदि कटु औषधि मिलाकर पिलाने से कफकृत छर्दिरोग शीघ्र दूर होता है।

सन्निपातजछर्दि चिकित्सा

सर्वदोषजनितामपि साक्षाच्छर्दिमप्ततिहितामृतवल्ली।
क्वाथमेव शमयेच्च सिताढ्यं। पाययेन्नरमरं परमार्थम्॥ 47॥

भावार्थ : सन्निपातज छर्दिरोग में कीड़े आदि से नष्ट नहीं हुआ है, ऐसे गिलोय के क्वाथ में शक्कर मिलाकर पिलाने से अवश्य ही उपशम होता है।

वमन में सक्तु प्रयोग

शर्कराबहुलनागलवंगै। स्संस्कृते मगधजान्वितलाजा॥
तर्पणं सततमेव यथावद्भक्षयेत्तृषि हितं वमनेषु॥ 48॥

भावार्थ : शक्कर, बड़ी इलायची, नागकेशर, लवंग इनसे संस्कृत व पीपल के चूर्ण से युक्त, लाजा के (खील) तर्पण[1] को, वमन में तृष्णा से पीड़ित रोगियों को खिलावें तो अत्यन्त हितकर होता है।

कोलमज्जसहितामलकाना-। मस्थिचूर्णमथवा सितमिश्रम्॥
भक्षयेत्सकलगंधसिताभिः। नस्यमप्यतिहितं वमनेषु॥ 49॥

भावार्थ : बेर की गिरी और आंवले की गुठली की गिरी, इनके चूर्ण में शक्कर मिलाकर खिलाना, अथवा सम्पूर्ण सुगंध औषधि और शक्कर से नस्य देना वमन रोग में अत्यन्त हितकर है।

छर्दि में पथ्यभोजन

भक्ष्यभोज्यबहुपानकलेहान्। स्वादुगंधपरिपाकविचित्रान्॥
योजयेदिह भिषग्वमनार्तेष्वातुरेषु विधिवद्विधियुक्तान्॥ 50॥

भावार्थ : वमन से पीड़ित रोगियों के लिए कुशल वैद्य स्वादिष्ट, सुगंध व अच्छी तरह से किए गए योग्य भक्ष्य, भोजनद्रव्य, पानक व लेहों की विधिपूर्वक योजना करें।

अथारोचकरोगाधिकारः

अरोचक निदान

दोषवर्गबहुशोक - निमित्ताद्भोजनेष्वरुचिरप्रतिरूपा।
प्राणिनामनलवैगुणतः स्यात्। जायते स्वगुणलक्षणलक्ष्या॥ 51॥

भावार्थ : वातपित्तादि दोषों के प्रकुपित होने से, शोक भय, क्रोध इत्यादि कारण से व

1. खील के चूर्ण (सत्तु) व अन्य किसी कि सत्तुओं को फलरस, पानी, दूध आदि द्रव पदार्थ में भिगो दिया जाता है, उसे तर्पण कहते हैं। यहाँ तो खील के चूर्ण को पानी में भिगोकर और उक्त शक्कर आदि को डालकर खावें।

जठराग्नि के वैगुण्य से, प्राणियों को भोजन में अप्रतिम अरुचि उत्पन्न होती है जो कि अपने-अपने गुणों के अनुसार तत्तलक्षणों से लक्षित देखे जाते हैं। अर्थात् दोषदि के अनुसार उत्पन्न अन्यान्य लक्षणों से संयुक्त होती है, इसे अरोचक[1] रोग कहते हैं।

अरोचक चिकित्सा

देशकालकुलजातिविशेषान्। सात्म्यभोजनरसानधिगम्या॥

रोचकेषु विदधीत विचित्रा। नन्नपानबहुलक्षणलेहान्॥ 52॥

भावार्थ : अरुचिरोग से पीड़ित रोगियों को उनके, देश, काल, कुल व जाति के विशेष से, उनके अनुकूल, भोजन रस आदिकों को जानकर, अर्थात् किस देश कुल व जाति में उत्पन्न वाले को कौन सा भोजन व रस, सात्म्य व रुचिकारक होगा? इत्यादि जानकर उनको नाना प्रकार के विचित्र रुचिकारक से युक्त, अन्न, पान, अवलेह आदि को भक्षणार्थ देवें जिस से अरुचि मिट जाये।

वमन आदि प्रयोग

छर्दनैरपि विरेकनिरूहैः। रग्निदीपनकरौषधयोगैः॥

नस्यतीक्ष्णकबलग्रहगण्डू। षैररोचकिनमाशु नियुंज्यात्॥ 53॥

भावार्थ : उस अरोचकी रोगी को वमन विरेचन और निरूह बस्ति का प्रयोग करना चाहिए एवं अग्निदीपन करने वाले औषधियों के प्रयोग, नस्य कवलग्रहण, गण्डूष आदि का भी प्रयोग शीघ्र करना चाहिए।

मातुलुंगरस प्रयोग

यावशूकमणिमन्थजपथ्या। त्र्यूषणामलकचूर्णाविमित्रम्।

मातुलुंगरसमत्र पिबेत्तैः।दंतकाष्टमरूचिष्वपि दद्यात्॥54॥

भावार्थ : अरुचिरोग से पीड़ित रोगी को यवक्षार, सैंधानमक, हरड, सोंठ, पीपल, आंवला, इनके चूर्ण को बिजौरे निंबू के रस में डालकर पिलाना चाहिये। एवं इन ही चीजों से दांत साफ कराना चाहिए।

मुख प्रक्षालादि

मूत्रवर्गरजनी त्रिफलाम्ल। क्षारतिक्तकटुकोष्णकषायैः।

क्षालयेन्मुखमरोचकिनं तैर्दंतकाष्टसहितैरवलेहैः॥ 55॥

भावार्थ : मूत्रवर्ग व हल्दी हरड़, बहेड़ा, आँवला, खट्टी, क्षार, कडुआ, कटुक उष्ण व कषैली

1. इसका वातज, पित्तज, कफज, सन्निपातज, आगंतुज (शोक, क्रोध, लोभ, भय आदि से उत्पन्न) इस प्रकार पाँच पद होते हैं। ऊपर श्लोकस्थ, शोक शब्द को उपलक्षण जानना चाहिए।

औषधियों के कषाय से अरोचक रोगी के मुख को प्रक्षालन (कुल्ला) कराना चाहिए एवं खट्टा कटु आदि रस युक्त दांतूनों से दांतून कराना व योग्य अवलेहों को भी चटाना हितकर है।

पथ्य भोजन

आम्लत्तिक्तकटूसौरभशाकै-। मृष्टरूक्षलघुभोजनमिष्टम्।
संततं स्वमनसोप्यनुकूलं। विद्धरोचकनिपीडितनृणाम्॥ 56॥

भावार्थ : जो अरोचक रोग से पीड़ित है, उन रोगियों को सदा खट्टा, कडुबा कटुक (चरपरा) मनोहर शाक भाजियों से युक्त स्वादिष्ट रूक्ष व लघु भोजन कराना हितकर होता है एवं यह भी ध्यान में रहे कि वह भोजन उस रोगी के मन के अनुकूल हो।

अथ स्वरभेदरोगाधिकारः

स्वरभेदनिदान व भेद

स्वाध्यायशोकविषकंठविघातनोच्चभाषाद्यनेकविधकारणतः स्वरोप-॥
घातो भविष्यति नृणामखिलैश्च दोषैर्मेदोविकाररुधिरादपि षडविधस्सः॥ 57॥

भावार्थ : जोर से स्वाध्याय (पढ़ना) करना, अतिशोक, विषभक्षण, गले में लकड़ी आदि से चोट लगना, जोर से बोलना, भाषण देना आदि अनेक कारणों से मनुष्यों को स्वर का घात (नाश) होता है (गला बैठ जाता है) जिसे, स्वरभेद रोग कहते हैं। यह प्रकुपित वात, पित्त, कफ, त्रिदोष, मेद, व रक्त से उत्पन्न होता है। इसलिए उसके भेद छह हैं।

वातपित्तकफज स्वर भेदलक्षण

वाताहतस्वरनिपिडितमानुषस्य। भिन्नोरुगर्दभखरस्वरतातिपित्तान्॥
संतापितास्यगलशोषविदाहतृष्णा।कंठावरोधिकफयुक्कफतः स्वरः स्यात्॥58॥

भावार्थ : वातिक स्वर भेद से पीड़ित मनुष्य का स्वर निकलते समय टूटा-सा मालूम होता है व गधे के सदृश कर्कश होता है। पित्तज रोग से पीड़ित को बोलते समय गला सूखता है। गले में जलन होती है और अधिक प्यास लगती है। कफज स्वरभेद में, गला कफ से रुक जाता है, स्वर भी कफ से युक्त होकर निकलता है।

त्रिदोषज, रक्तज स्वरभेद लक्षण

प्रोक्ताखिलप्रकटदोषकृस्त्रिदोष। लिंगस्वरो भवति वर्जयितव्य एषः॥
कृष्णाननोष्मसहितो रुधिरात्मकः स्यात्तं चाप्यसाध्यमुषयस्स्वरभेदमाहुः॥59॥

भावार्थ : उपर्युक्त प्रकार के सर्व लक्षण एक साथ प्रकट हो जाये, तो उसे त्रिदोषज स्वरभेद समझना चाहिए। यह असाध्य होता है। रक्त के प्रकोप से उत्पन्न स्वरभेद में मुख काला होता जाता है

और अधिक गर्मी के साथ स्वर निकलता है। इसे भी ऋषिगण असाध्य कहते हैं।

मेदजस्वरभेद लक्षण

मेदोभिभूतगलतालुयुतो मनुष्यः। कृच्छाच्छनैर्वदति गद्गदगाढवाक्यं॥
अव्यक्तवर्णमतएव यथा प्रयत्नान्मेदःक्षयाद्भवति सुस्वरता नरस्य॥ 60॥

भावार्थ : जब मेद दूषित होकर, गल व तालु प्रदेश में प्राप्त होता है तो मेदज स्वरभेद उत्पन्न होता है। इससे युक्त मनुष्य, बहुत कष्ट से धीरे-धीरे गद्गद कंठ से कठिन वचन को बोलता है। वर्ण का भी स्पष्ट उच्चारण नहीं कर सकता है। इसलिए प्रयत्न से मेदो विकार को दूर करना चाहिए। इससे उसे सुस्वर आता है।

स्वरभेद चिकित्सा

सर्वान्स्वरातुरनरानभिवीक्ष्य साक्षात्। स्नेहादिभिः समुचितौषधयोग्ययोगैः॥
दोषक्रमादुपचरेदथ वात्र कास-। श्वासप्रशांतिकरभेषजमुख्यवर्गैः॥ 61॥

भावार्थ : सर्वप्रकार के स्वरोपघात से पीड़ित रोगियों को अच्छी तरह परीक्षा कर स्नेहनादि विधि के द्वारा एवं उसके योग्य औषधियों के प्रयोग से अथवा श्वासकास के उपशामक औषधियों से दोषों के क्रम से चिकित्सा करनी चाहिए।

वातपित्तकफज स्वरभेदचिकित्सा

भुक्तोपरि प्रतिदिनं घृतपानमिष्टं। वाताहतस्वरविकारनरेषु पित्ते॥
क्षीरं पिवेद्घृतगुडप्रबलं बलासे। क्षारोदकं त्रिकटुकत्रिफलाविमिश्रम्॥ 62॥

भावार्थ : वातज स्वरभेद से पीड़ित मनुष्यों को भोजनानंतर प्रतिदिन घी का पान इष्ट होता है अर्थात् घृतपान करना चाहिए। पित्तज स्वरोपघात में घी व गुड़ से मिला हुआ दूध पीना चाहिए। कफ से उत्पन्न रोग में क्षारजल में त्रिकटु व त्रिफला मिश्रितकर पीना चाहिए।

नस्य गण्डूष आदि के प्रयोग

भृंगामलामलकसद्रससाधितं य-। त्तैलं स्वनस्यविधिना स्वरभेदवेदी।
गण्डूषयूषकवलग्रहधूमपानै। स्संयोजयेत्तदनुरूपगणैस्स्वरार्तम्॥ 63॥

भावार्थ : स्वरभेद रोग के स्वरूप को जानने वाला वैद्य स्वरभेद से पीड़ित रोगी को भांगरा व आँवले के रस से साधित तैल से विधि के अनुसार नस्य देवें एवं तदनुकूल योग्य औषधि समूह से, गण्डूष (कुल्ला कराना) यूषप्रयोग, कलव धारण, धूम्रपान कराना चाहिए।

यष्टीकषायपरिमिश्रितदुग्धसिद्धं। मुद्गप्रभूतघृतपायसमेव भुक्त्वा॥
सप्ताहमाशुवरकिन्नरसुस्वरोयं। साक्षाद्भवेत्स्वरविकारमपोह्य धीमान्॥ 64॥

भावार्थ : मुलैठी के कषाय से मिश्रित दूध से सिद्ध मूंग के पायस (खीर) में घी मिलाकर सात दिन खावें तो संपूर्ण प्रकार के स्वर विकार दूर होकर उसका स्वर सुंदर किन्नर के समान हो जाता है।

मेदज सन्निपातज व रक्तज स्वरभेद चिकित्सा

मेदोविकारकृतदुस्स्वरभेदमत्र। विद्वान् जयेत्कफविधिं विधिवद्विधाय॥
दोषत्रयास्रजनितं परिहृत्य तस्याऽ। साध्यत्वमप्यनुविचार्य भिषग्यतेत॥ 65॥

भावार्थ : मेदो विकार से उत्पन्न स्वरभेद में कफज स्वरभेद की जो चिकित्सा कही है, वही चिकित्सा करें । त्रिदोषज व रक्तज भेद को तो असाध्य कह कर, उस असाध्यता के विषय में अच्छी तरह विचार कर चिकित्सा के करने में प्रयत्न करें।

स्वरभेदनाशक योग

भंगाख्यपल्लवयुतासितसत्तिलान्वा। संभक्षयेन्मरिचसच्चणकप्रगुफम्॥
क्षीरं पिबेत्तदनुगव्यघृतप्रगाढं। सोष्णं सशर्करमिह स्वरभेदवेदी॥ 66॥

भावार्थ : स्वरभेद से संयुक्त रोगी, भांगरे के पत्ते के साथ, काले तिलों को अथवा मिरच के साथ चने की डाली को खाकर ऊपर से गव्य घृत व शक्कर से मिला हुआ गरम दूध पीवें।

उदावर्त रोगाधिकारः

अत्रोदावर्तार्तमप्यातुरं ज्ञात्वां यत्नात् कारणैर्लक्षणैश्च।
सद्भेषज्यैस्साधयेत्साधु धीमान्। तस्योपेक्षा क्षिप्रमेव क्षिणोति॥ 67॥

भावार्थ : उदावर्त रोग को, उसके कारण व लक्षणों से परीक्षा कर अच्छी औषधियों के प्रयोग से उसकी चिकित्सा बुद्धिमान वैद्य करें। यदि उपेक्षा की जाये तो व शीघ्र ही प्राणघात करता है।

उदावर्त संप्राप्ति

वातादीनां वेगसंधारणाद्यः। सर्पेंद्राशन्यग्निशस्त्रोपमानः॥
क्रुद्धोऽपानोप्यूर्ध्वमुत्पद्य तीव्रो-। दानव्याप्तः स्यादुदावर्तरोगः॥ 68॥

भावार्थ : जब वह मनुष्य वातादिकों के वेग को रोकता है, उससे कुपित अपानवायु ऊपर जाकर उदानवायु में व्याप्त होता है तब उदावर्त[1] नामक रोग उत्पन्न होता है। यह सर्प, बिजली, अग्नि व शस्त्र के समान भयंकर होता है।

1. जिसमें वात मलमूत्र आदिकों के ऊर्ध्व भ्रमण होता है, उसे उदावर्त रोग कहते हैं। ऊर्ध्व वातविण्मूत्रादीनां आवर्तो भ्रमणं यस्मिन् स उदावर्तः॥

अपानवातरोधज उदावर्त

तस्माद्वेगो नैव संधारणीयो। दीर्घायुष्यं वांछतस्तत्तथैव॥
शूलाध्मानश्वासहृद्रोगहिक्का। रूद्रोऽपानस्तत्क्षणादेव कुर्यात्॥ 69॥

भावार्थ : इसलिए जो लोग दीर्घायुष्य चाहते हैं, वे कभी वेग संधारण नहीं करें अर्थात् उपस्थित वेगों को नहीं रोकें। अपानवायु के रोध से उसी समय शूल, आध्मान, श्वास हृदयरोग, हिचकी आदि विकार होते हैं।

मूत्रावरोधज उदावर्त

मार्गात भ्रष्टोऽपानवायुः पुरीषं। गाढं रुध्वा वक्त्रतो निक्षिपेद्वा॥
मूत्रे रूद्धे मूत्रमल्पं सृजेद्धा। ध्मातो बस्तिस्तत्र शूला भवंति॥ 70॥

भावार्थ : एवं वह अपानवायु स्वमार्ग से भ्रष्ट होकर मल को एकदम गाढा कर रोक देता है और मुख से बाहर फेंकता है। मूत्र का रोध होने पर मूत्र बहुत थोड़ा-थोड़ा निकलता है। साथ ही बस्ति में आध्मान (फूल जाना) व शूल होता है।

मलावरोधज उदावर्त

शूलाटोपः श्वासवर्चो बिबंधो। हिक्का वक्त्राद्वा पुरीषप्रवृत्तिः॥
अज्ञानाद्रुद्धे पुरीषे नराणम्। जायेदुग्रत्कर्तिकावात्र तीव्रा॥ 71॥

भावार्थ : अज्ञान से मल शूल के वेग को रोक देने से शूल आटोप (गुड़गुड़ाहट) श्वास, मल का विबंध, हिचकी, मुख से मल की प्रवृत्ति एवं कतरने जैसी तीव्र पीड़ा होती है।

शुक्रावरोधज उदावर्त

मूत्रापानद्वारमुष्कातिशोफः। कृच्छाच्छुक्रव्याप्तमूत्रप्रवृत्तिः।
शुक्राश्मर्यस्संभवंत्यत्र कृच्छाच्छुक्रस्यैवात्रापि वेगे निरुद्धे॥ 72॥

भावार्थ : वीर्य के वेग को निरोध करने पर मूत्रद्वार, अपानद्वार (गुदा) व अण्ड में शोफ होता है। और कठिनता से वीर्य से युक्त मूत्र की प्रवृत्ति होती है। इससे भयंकर शुक्राश्मरी रोग भी होता है।

वमनावरोधज अश्रुरोधज उदावर्त

छर्द्या वेगे सन्निरूद्धे तु कुष्ठं। यैरेवान्नं दोषजालैर्विदग्धम्[1]।
शोकानंदाद्यश्रुपाते निरूद्धे। मूर्धाक्ष्णोर्वात्रामयारसंभवति॥ 73॥

भावार्थ : वमन को रोकने पर जिन दोषों से वह रुद्ध अन्न दूषित हो जाता है। उन्हीं दोषों के अधिक्य से कुष्ठ उत्पन्न होता है। शोक व आनंद से उत्पन्न आँसुओं के रोकने से शिर व नेत्र सम्बन्धी रोग उत्पन्न होते हैं।

1. विरुद्ध इति पाठांतरं (विदग्धं दूषितं)

क्षुतनिरोधज उदावर्त

नासा वक्त्राक्ष्युत्तमांगोद्भवास्ते। रोगास्स्युर्वेगे निरूद्धे क्षुतस्य॥
सप्तोदावर्तेषु तेशु क्रिया विद्वातव्याधेः सच्चिकित्सां प्रकुर्यात्॥ 74॥

भावार्थ : छींक का निरोध करने पर नाक, मुख, नेत्र व मस्तक सम्बन्धी रोग उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार सात प्रकार के उदावर्त रोगों में वातव्यधि की चिकित्सा का प्रयोग कुशल वैद्य करें।

शुक्रोदावर्त व अन्योदावर्तीक चिकित्सा

शुक्रोदावर्तार्तमत्यंतरूपा। मर्त्य स्पर्शैर्हर्षयेत् कामिनी प्राक्॥
सर्वोदावर्तेषु यद्यच्च योग्यं। तत्तत्कुर्यात्तत्र तत्रौषधिज्ञः॥ 75॥

भावार्थ : शुक्रोदावर्त रोग से पीड़ित मनुष्य को अधिक रूपवती स्त्री, अपने सुख स्पर्श आदि से संतोषित करे। इसी प्रकार सर्व प्रकार के उदावर्त रोगों में भी कुशल वैद्य जिसको जो अनुकूल हो वैसी क्रिया करें।

अथ हिक्कारोगाधिकारः

हिक्का निदान

यदा तु पवनो मुहुर्मुहुरूपैति वक्त्रं भृशं। ह्यिहांत्रयकृदाननान्यधिकवेगतः पीडयन्॥
हिनस्ति यतएव गोघोषसहितस्ततः प्राणिनां। वदंति जिनवल्लभा विषमरूपहिक्कामयं॥ 76॥

भावार्थ : जब प्रकुपित वायु प्लीहा (तिल्ली) अंत्र (आंतडी) यकृत (जिगर) इन को अत्यधिक वेग से पीड़ित करता हुआ और हिग् हिग् शब्द करता हुआ, ऊपर (उदर से मुख की तरफ बार-बार आता है, इसे हिक्का (हिचकी) कहते हैं । यह रोग प्राणियों को दिव्य प्राण को नाश करता है। इसलिए इसका नाम हिक्का[1] है। ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है।

हिक्का के पाँच भेद

कफेन सहितोतिकोपवशतो महाप्राणइत्युदीरितमरूत्करोत्यखिलपंचहिक्कामयं॥
अथान्नजनितां तथात्र यमिकां पुनः क्षुद्रिकां। महाप्रलयनामिकामधिकभूरिगंभीरिकां॥ 77॥

भावार्थ : कफ से युक्त प्राण नामक महावायु कुपित होकर पाँच प्रकार के हिक्का रोग को उत्पन्न करता है। उनका नाम क्रम से अन्नजा, यमिका, क्षुद्रिका, महाप्रलया व गंभीरिका है।

अन्नजयमिका हिक्का लक्षण

सुतीव्रकटुभोजनैर्मरुदधः स्वयं पातितः। तदोर्ध्वमत उत्पतन् हृदयपार्श्वपीडावहः॥
करोत्यधिकृतान्नजां विदितनामहिक्कां पुनश्चिरेण यमिकां च वेगयुगलैः शिरः कंपयन्॥ 78॥

1. असून हिनस्तीति हिक्का।

भावार्थ : तीक्ष्ण व कटुपदार्थों के अत्यधिक भोजन से नीचे दबा हुवा वात एकदम ऊपर आकर हृदय व फसली में पीड़ा उत्पन्न करते हुए जो हिक्का को उत्पन्न करता है,उसे अन्नजा हिक्का कहते हैं और जो कंठ व सिर को कंपाते हुए ठहर ठहरकर एक-एक दफे दो-दो हिचकियों का उत्पन्न करता है, उसे यमिका हिक्का कहते हैं।

क्षुद्रिका हिक्का लक्षण

चिरेण बहुकालतो विदितमंदवेगैः क्रम - क्रमेण परिवर्द्धते प्रकटजत्रुमूलादतः॥
नृणामनुगतात्मनामसहितात्र हिक्का स्वयं। भवेदियमिह प्रतीतनिजलक्षणैः क्षुद्रिका॥ 79॥

भावार्थ : जो बहुत देर से, मंदवेग के साथ, क्रम-क्रम से, जत्रुकास्थि (हसलीहड्डी) के मूल से, अर्थात् कंठ और हृदय की संधि से आता है और जिसका नाम भी सार्थक है ऐसे स्वलक्षण से लक्षित उसे क्षुद्रिका हिक्का कहते हैं।

महाप्रलय व गंभीरिका हिक्का लक्षण

स्ववेगपरिपीडितात्म - बहुमर्मनिर्मूलिका।
महासहितनामिका भवति देहसंचालिनी॥
स्वनाभिमभिभूय हिक्कयति या च हिक्का नरा।
नुपद्रवति च प्रणादयुतघोरगंभीरिका॥ 80॥

भावार्थ : जो मर्म स्थानों को अपने वेग के द्वारा अत्यन्त पीड़ित करते हुए और समस्त शरीर को कंपाते हुए हमेशा आता है उसे माहाहिक्का कहते हैं और जो नाभिस्थान को दबाकर उत्पन्न होता है व शरीर में अनेक ज्वरादि उपद्रवों को उत्पन्न करता है एवं गम्भीर शब्द से युक्त होकर आता है, उसे गंभीरका हिक्का कहते हैं।

हिक्का के असाध्य लक्षण

दीर्घीकरोति तनुमूर्ध्वगतां च दृष्टिं। हिक्का नरः क्षवथुना परिपीडितांगः॥
क्षीणोऽत्यरोचकपरः परिभग्नपार्श्वो-प्यत्यातुरश्च भिषजा परिवर्जनीयः॥ 81॥

भावार्थ : जो हिक्का रोगी के शरीर को लंबा बनाता है अर्थात् तनाव उत्पन्न करता है, जिसमें रोगी अत्यन्त क्षीण है, दृष्टि को ऊपर करता है और छींक से युक्त है, अरोचकता से सहित है एवं जिसका पार्श्व (पसली) टूटा-सा मालूम होता है ऐसे रोगी को वैद्य असाध्य समझकर छोड़ें।

हिक्का चिकित्सा

हिक्कोद्वारस्थापनार्थं च वेगान्नोध्दुं धीमान् योजयेद्योजनीयैः॥
प्राणायामैर्स्तनैस्ताडनैर्वा। मर्त्यं शीघ्रं त्रासयेद्वा जलाद्यैः॥ 82॥

भावार्थ : हिक्का के उद्गार को बैठालने एवं वेगों को रोकने के लिए, अर्थात् उसके प्रकोप को

रोकने के लिए कुशल वैद्य योग्य योजनाओं को करें। इसके लिए प्राणायाम कराना, तर्जन (डराना) ताडन करना और जल आदि से कष्ट देना हितकर है।

हिक्कानाशक योग

शर्करामधुकमागधिकानां। चूर्णमेव शमयत्यतिहिक्कां॥

हैमगैरिकमथाज्यसमेतं। लेहयेन्मणिशिलामथवापि॥ 83॥

भावार्थ : शक्कर, मुलैठी, पीपल, इनके चूर्ण के भक्षण से अत्यन्त वेग सहित हिक्का भी उपशम होता है एवं सोना व गेरू को घी में मिलाकर चाटना चाहिए अथवा मनःशिला को घी में मिश्रकर चाटना चाहिए।

हिक्कानाश योगद्वय

सैंधवाढ्यमहिमाम्लरसं वा। सोष्णदुग्धमथवा घृतमिश्रम्॥

क्षारचूर्णपरिकीर्णमनल्पम्। प्रातरेव स पिवेदिह हिक्की॥ 84॥

भावार्थ : हिक्का रोग वालों को, प्रातःकाल खट्टे बिजोरे नींबू आदि के खट्टे रस में सैंधानमक मिलाकर कुछ गरम करके पिलावें। अथवा गरम दूध में घी व क्षारों के चूर्ण डालकर पिलावें तो शीघ्र ही हिक्का नाश होता है।

हिक्काघ्न अन्यान्य योग

अंजनामलककोलसलाजा। तर्पणं घृतगुडप्लुतमिष्टं॥

हिक्किनां कटुकरोहिणिको वा। पाटलीकुसुमतत्फलकल्कः॥ 85॥

भावार्थ : सुरमा, आंवला, बेर, खील इनको घी व गुड़ में भिगोकर हिक्कियों को खिलाना चाहिए। कटुक रोहिणी का प्रयोग भी उनके लिए उपयोगी है एवं पाढल का पुष्प व फल का कल्क बनाकर प्रयोग करना भी हितकारक है।

अधिक ऊर्ध्ववातयुक्त हिक्काचिकित्सा

ऊर्ध्ववातबहुलास्वथ हिक्का-। स्वादिशेदधिकबस्तिविधानम्॥

सैंधवाम्लसहितं च विरेकम्। योजयेदहिमभोजनवर्गम्॥ 86॥

भावार्थ : अत्यधिक ऊर्ध्ववात से युक्त हिक्का में विशेषतया बस्तिविधानक प्रयोग करना चाहिए। सैंधानमक व आम्ल से युक्त विरेचन की भी योजना करें तथा उष्ण भोजनवर्ग का भी प्रयोग करें।

अथ प्रतिश्यायरोगाधिकारः

प्रतिश्याय निदान

हिक्कास्सम्यग्विधिवदभिधाय प्रतिश्यायवर्गान्।
वक्ष्ये साक्षाद्विहितसकलैः लक्षणैर्भैषजाद्यैः॥
मूर्ध्नि व्याप्ताः पवनकफपित्तासृजस्ते पृथग्वा।
क्रुद्धा कुर्युर्निजगुणयुतान् तान् प्रतिश्यायरोगान्॥ 87॥

भावार्थ : अभी तक हिक्का रोगों के लक्षण, चिकित्सा आदि को विधिपूर्वक कहकर, अब प्रतिश्याय (जुखाम) रोग के समूह को उनके समस्त लक्षण व योग्य औषधियों के साथ वर्णन करेंगे। मस्तक में व्याप्त वात, कफ, पित्त व रक्त व्यस्त या समस्त जिस समय कुपित हो जाते है वह अपने गुण से युक्त प्रतिश्याय[1] नामक रोगों को उत्पन्न करते है।

प्रतिश्याय का पूर्वरूप

म्यादत्यंतं क्षवथुरखिलांगप्रमर्दो गुरूत्वं।
मूर्ध्निस्तम्भः सततमनिमित्तैस्तथा रोमहर्षः॥
तृष्णाद्यास्ते कतिपयमहोपद्रवास्संभवंति।
प्राग्रूपाणि प्रभवति सतीह प्रतिश्यायरोगे॥ 88॥

भावार्थ : प्रतिश्याय रोग उत्पन्न होने की सम्भावना हो तो, (रोग होने के पहले) छींक आती है, सम्पूर्ण अंग टूटते हैं, शिर में भारीपन रहता है, अंग जकड़ जाते हैं, बिना विशेष कारण के ही हमेशा रोमांच होता रहता है एवं प्यास आदि अनेक महान् उपद्रव होते हैं। ये सब प्रतिश्याय के पूर्वरूप हैं।

वातज प्रतिश्याय के लक्षण

नासास्वच्छस्त्रुतिपिहितविरूपातिनद्धेव कण्ठे॥
शोषस्तालुन्यधरपुटयोश्शंखयोश्चातितोदः ।
निद्राभंगः क्षवथुरतिकष्टस्वरातिप्रभेदो॥
वातोद्भूते निजगुणगणः स्यात्प्रतिश्यायरोगे॥ 89॥

भावार्थ : नाक से स्वच्छ (पतले) स्राव होना, नाक आच्छादित, विरूप व बंद-सा होना, गला तालु व ओठ सूख जाना, कनपटियों में सुई-चुभने जैसी तीव्र पीड़ा होना, निद्रानाश, अधिक छींक आना, गला बैठ जाना एवं अन्य वातोद्रेक के लक्षण पाया जाना, ये वातज प्रतिश्याय के लक्षण हैं।

1. उपरोक्त प्रकार वातज, पित्तज, कफज, सन्निपातज, रक्तज इस प्रकार जुखाम के पाँच भेद हैं।

पित्तज प्रतिश्याय के लक्षण

पीतस्सोष्णस्रवति सहसा स्रावदुष्टोत्तामांगाद्।
घ्राणाद्धूमज्वलनसदृशो याति निश्वासवर्गः॥
तृष्णादाहप्रकटगुणयुक् सत्प्रतिश्यायमेनम्।
पित्तोद्भूतं विदितनिजचिन्हैर्वदेद्वेदवेदी॥ 90॥

भावार्थ : जिसमें मस्तक से पीत व उष्ण दुष्टस्राव एकदम बहता हो, नाक से धुँआ व अग्नि के समान गरम निश्वास निकलता हो एवं तृष्णा, दाह व अन्य पित्त के लक्षण प्रकट होते हों, उसे शास्त्रज्ञ वैद्य पित्त के विकार से उत्पन्न प्रतिश्याय रोग कहें अर्थात् ये पित्तज प्रतिश्याय के लक्षण हैं।

कफजप्रतिश्याय के लक्षण

उच्छूनाक्षो गुरुतरशिरः कंठताल्वोष्ठशीर्षः।
कंडूप्रायः शिशिरबहलश्वेतसंस्रावयुक्तः॥
उष्णप्रार्थी घनतरकफोद्बंधनिश्वासमार्गो।
श्लेष्मोत्थेऽस्मिन् भवति मनुजोऽयं प्रतिश्यायरोगे॥91॥

भावार्थ : जिसमें इस मनुष्य की आँख के ऊपर सूजन हो जाती है, शिर भारी हो जाता है, कंठ, तालु, ओंठ व शिर में खुजली चलती है, नाक से ठण्डा गाढ़ा व सफेद स्राव बहता है, उष्ण पदार्थों की इच्छा करता है। निश्वासमार्ग में अति घन (गाढ़ा) कफ जम जाने के कारण वह बंद रहता है, उसे कफ विकार से उत्पन्न प्रतिश्याय रोग समझना चाहिए।

रक्तज प्रतिश्याय लक्षण

रक्तस्रावो भवति सततघ्राणतस्ताम्रचक्षु -।
र्वक्षोघातैः प्रतिदिनमतः पीडितस्स्यान्मनुष्यः॥
सर्वं गंधं स्वयमिह महापूतिनिश्वासयुक्तो।
नैवं वेत्ति प्रबलरूधिरोत्थप्रतिश्यायरोगी॥ 92॥

भावार्थ : रक्त विकार से उत्पन्न प्रतिश्यायरोग में नाक से सदा रक्तस्राव होता है। आँखें लाल हो जाती हैं। प्रतिदिन वह उरःक्षत के लक्षणों से युक्त होता है। स्वयं दुर्गंध निश्वास से युक्त रहने से और समस्त गंध को वह समझता ही नहीं।

सन्निपातज प्रतिश्याय लक्षण

भूयो भूयस्स्वमुपशमं यात्यकस्माच्च शीघ्रं।
भूत्वा भूत्वा पुनरपि मुहुर्यः प्रतिश्यायनामा॥

पक्वो वा स्यादथ च सहसापक्व एवात्र साक्षात्।
सोयं रोगो भवति विषमस्सर्वजस्सर्वलिंगः॥ 93॥

भावार्थ : जो प्रतिश्याय बार-बार होकर अकस्मात् शीघ्र पककर अथवा बिना पक्व ही उपशम होता है, फिर बार-बार होकर मिटता है एवं जिसमें सर्वदोषों के चिह्न प्रकट हो जाते हैं, इसे सन्निपातज प्रतिश्याय कहते हैं।

दुष्ट प्रतिश्याय लक्षण

शीघ्रं शुष्यत्यथ पुनरिह क्लिद्यते चापि नासा।
स्रोतो रोधादतिबहुकफो नह्यते तत्क्षणेन॥
वैकल्यं[1] स्यात् ब्रजति सहसा पूतिनिश्वासयोगा-।
गंधं संर्व स्वयमिह नवेत्त्येव दुष्टाख्यरोगी॥ 94॥

भावार्थ : जिसमें नासारंध्र शीघ्र सूख जाता है पुनः गीला हो जाता है वृद्ध कफ स्रोतों को रोक देता है, अतएव नाक रुक जाता है और कभी सहसा खुल जाता है। निश्वास दुर्गंध होने के कारण उसे किसी प्रकार का गंध का ज्ञान नहीं होता है, इसे दुष्टप्रतिश्याय रोग कहते हैं।

प्रतिश्याय की उपेक्षा का दोष

सर्वे चैते प्रकटितगुणा ये प्रतिश्यायरोगा।
अज्ञैर्दोषप्रमथनगुणोपेक्षिताः सर्वदैव॥
साक्षात्कालांतरमुपगता दुष्टतामेति कृच्छ्राः।
प्रत्याख्येया क्षयविषमरोगावहा वा भवंति॥ 95॥

भावार्थ : ये उपर्युक्त सर्व प्रकार के जिन के लक्षण आदि कह चुके हैं ऐसे प्रतिश्याय रोगो के अज्ञान से दोष दूर नहीं किया जायेगा अर्थात् सकाल में चिकित्सा न करके उपेक्षा की जायेगी तो कालांतर में जाकर वे बहुत दूषित होकर कष्टसाध्य, वा प्रत्याख्येय (छोड़ने योग्य) हो जाते हैं अथवा क्षय आदि विषम रोगों को उत्पन्न करते हैं।

प्रतिश्यायचिकित्सा

दोषापेक्षा - विहितसकलैर्भेषजैस्संप्रयुक्तो।
सर्पिःपानाच्छमयति नवोत्थं प्रतिश्यायरोगं॥
स्वेदाभ्यंगत्रिकटुबहुगण्डूषणैः शोधनाद्यैः॥
पक्वं कालाद्धनतरकफं स्रावयेन्नस्यवर्गैः ॥ 96॥

1. वैद्य इति पाठांतरं।

भावार्थ : दोषों की अपेक्षा से लिए गए (जिन की जहाँ जरूरत हो) सम्पूर्ण औषधियों से संयुक्त अथवा सिद्ध घृत के पीने से नवीन प्रतिश्याय रोग (अपक्व) शमन होता है एवं इस पर (पाक्वार्थ) स्वेद, अभ्यंग (मालिश), सोंठ, मिरच, पीपल आदि से गण्डूष, वमन आदि शुद्धि विधान का प्रयोग करना चाहिए। कालांतर में जो पक्व हो गया है जिसका कफ गाढ़ा होता है, उसे नस्यप्रयोग करके बहाना चाहिए।

वात, पित्त, कफ, व रक्तज प्रतिश्यायचिकित्सा

वाते पंचप्रकटलवणैर्युक्तसर्पिः प्रशस्तं।
पित्ते तिक्तामलकमधुरैः पक्वमेतच्च रक्ते।
श्लेष्मण्युष्णैरतिकटुकतिक्तातिरूक्षैः कषायैः॥
पेयं विद्वद्विहितविधिना तत्प्रतिश्यायशांत्यै॥ 97॥

भावार्थ : यदि वह प्रतिश्याय वातज हो तो घृत में पंच लवण मिलाकर पीना अच्छा है। पित्तज व रक्तज हो तो कड़वा आम्ल व मधुर रसयुक्त औषधियों से पकाया हुआ घृत पीना हितकर है। कफज प्रतिश्याय में उष्ण अतिकटुक तिक्त, रूक्ष और कषैली औषधियों से सिद्ध घृत को विधिपूर्वक पिलावें तो प्रतिश्याय की शांति होती है।

प्रतिश्याय पाचन के प्रयोग

पाकं साक्षाद्व्रजति सहसा सोष्णशुंठीजलेन।
क्षीरेणापि प्रवरमधुशिग्रुप्रयुक्तार्द्रकेण॥
तीक्ष्णैर्भक्तैः कटुकलकलायाढकीमुद्रयूषैः।
कौलत्थाम्लैर्मरिचसहितैस्तत्प्रतिश्यायरोगः॥ 98॥

भावार्थ : शुण्ठी से पकाये हुए गरम जल को पिलाने से, लाल सेंजन व आर्द्रक से सिद्ध दूध के पीने से, तीक्ष्णभक्त राई, कल (बेर) मटर, अरहर व मूंग इनसे सिद्ध यूष (दाल) से और मिरच के चूर्ण से सहित कुलथी का कांजी के सेवन से प्रतिश्याय रोग शीघ्र ही पक जाता है।

सन्निपातज व दुष्ट प्रतिश्यायचिकित्सा

सोष्णाक्षारैः कटुगणविपक्वैर्घृतैः वावपीडै-
स्तीक्ष्णैर्नस्यैरहिमपरिषेकावगाहावलेहैः ॥
गण्डूषैर्वा कवलबहुधूमप्रयोगानुलेपैः।
सद्यः शाम्यत्यखिलकृतदुष्टप्रतिश्यायरोगः॥ 99॥

भावार्थ : सर्वदोषों से दूषित दृष्ट प्रतिश्यायरोग उष्ण, क्षार, कटु औषधि वर्ग से पकाया हुआ

घृत, अवपीड़न, नस्य व अन्य तीक्ष्ण नस्य, उष्णसेक, उष्णकषाय जलादिक में अवगाहन, अवलेह, गण्डूष, कवलग्रहण, बहुधूम प्रयोग व लेप से शीघ्र उपशम होता है।

प्रतिश्याय का उपसंहार

इति प्रतिश्यायमहाविकारान्। विचार्य दोषक्रमभेदभिन्नान्॥
प्रसाधयेत्तत्प्रतिकारमार्गै। रशेषभैषज्यविशेषवेदी॥ 100॥

भावार्थ : इस प्रकार उपर्युक्त प्रकार से भिन्न-भिन्न दोषों से उत्पन्न प्रतिश्याय महारोगों को अच्छी तरह जानकर सम्पूर्ण औषधियों को जानने वाला वैद्य इन दोषों के नाश करने वाले प्रयोगों के द्वारा चिकित्सा करें।

अंतिम कथन

इति जिनवक्त्रनिर्गतसुशास्त्रमहांबुनिधेः। सकलपदार्थविस्तृततरंग कुलाकुलतः॥
उभयभवार्थ साधनतटद्वयभासुरतो। निसृतमिदं हि शीकरनिभं जगदेकहितम्॥ 101॥

भावार्थ : जिसमें सम्पूर्ण द्रव्य, तत्त्व व पदार्थ रूपी तरंग उठ रहे हैं, इहलोक-परलोक के लिए प्रयोजनभूत साधन रूपी जिसके दो सुंदर तट हैं, ऐसे श्रीजिनेन्द्र के मुख से उत्पन्न शास्त्र समुद्र से निकली हुई बूँद के समान यह शास्त्र है। साथ में जगत् का एक मात्र हितसाधक है (इसलिए ही इसका नाम कल्याणकारक है)।

इत्युग्रादित्याचार्यकृत कल्याणकारके चिकित्साधिकारे
क्षुद्ररोगचिकित्सितं नामादितः षोडशः परिच्छेदः।

इत्युग्रादित्याचार्यकृत कल्याणकारक ग्रन्थ के चिकित्साधिकार में विद्यावाचस्पतीत्युपाधिविभूषित **वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री** द्वारा लिखित **भावार्थदीपिका टीका** में क्षुद्ररोगाधिकार नामक **सोलहवां परिच्छेद** समाप्त हुआ।

अथ सप्तदशः परिच्छेदः

मंगलाचरण व प्रतिज्ञा

जिनपतिं प्रणिपत्य जगत्रय-। प्रभुगणार्चितपादसरोरुहम्॥
हृदयकोष्ठसमस्तशरीरजा। मयचिकित्सतमत्र निरूप्यते॥ 1॥

भावार्थ : जिनके चरणकमल को तीन लोक के इन्द्र आकर पूजते हैं, ऐसे श्री जिननाथ को नमस्कार कर हृदय, कोष्ठ व समस्त शरीर में उत्पन्न होने वाले रोग व उनकी चिकित्सा अब कही जाती है।

सर्वरोगों की त्रिदोषों से उत्पत्ति

निखिलदोषकृतामयलक्षण-। प्रतिविधानविशेषविचारणं॥
क्रमयुतागमतत्त्वविदां पुनः। पुनरिह प्रसभं किमु वर्ण्यते॥ 2॥

भावार्थ : सर्व प्रकार के रोग वात पित्त कफ के विकार से हुआ करते हैं, कुशल वैद्य उन दोषों के क्रम को जानकर उनकी चिकित्सा करें। दोषों के सूक्ष्म तत्त्व को जानने वाले विद्वान वैद्यों को इन बातों को बार-बार कहने की जरूरत नहीं है।

त्रिदोषोत्पन्न पृथक्-पृथक् विकार

प्रवरवातकृतातिरुजा भवे-। दतिविदाहतृषाद्यपि पित्तजम्।
उरुघनस्थिरकण्डुरता कफोद्भवगुणा इति तान् सततं वदेत्॥ 3॥

भावार्थ : वातविकार से शरीर में अत्यधिक पीड़ा होती है। पित्तविकार से दाह तृषा आदि होती है। कफ के विकार से स्थूल, घन, स्थिर व खुजली होती है। ऐसा हमेशा जानना चाहिए।

रोगपरीक्षा का सूत्र

अकथिता अपि दोषविशेषजा। न हि भवंति विना निजकारणैः।
अखिलरोगगणानवबुध्य तान्। प्रतिविधाय भिषक् समुपाचरेत्॥ 4॥

भावार्थ : दोष विशेषों (वात, पित्त, कफों) के बिना रोगों की उत्पत्ति होती ही नहीं इसलिए उन दोष रोगों के नाम, लक्षण आदि विस्तार के साथ, वर्णन नहीं करने पर भी समस्त रोगों को, दोषों के लक्षणों से (वातज है या पित्तज? इत्यादि) निश्चय कर उनके योग्य, चिकित्सा भिषक् करें।

अथ हृद्रोगाधिकारः

वातज हृदोग चिकित्सा

पवनदोषकृताधिकवेदना-। हृदयरोगनिपीडितमातुरम्॥
मगधजान्वितसर्षपमिश्रितै-। रहिमवारिभिरेव च वामयेत्॥ 5॥

भावार्थ : वात के विकार से जब हृदय में अत्यधिक वेदना होती है उस रोगी को अर्थात् वातज हृद्रोग से पीड़ित रोगी को पीपल सरसों से मिला हुआ गरम पानी पिलाकर वमन कराना चाहिए।

वातज हृद्रोगनाशक योग

लवणवर्गयवोद्भवमिश्रितं। घृतमतः प्रपिबेहद्हृदयामयी॥
त्रिकटुहिंग्वजमोदकसैंधवा-नपि फलाम्लगणैः पयसाथवा॥ 6॥

भावार्थ : वातज हृदयरोगी को लवणवर्ग व यवक्षार से मिला हुआ घृत पिलावें एवं त्रिकटु हींग, अजवाइन व सैंधानमक इनको खट्टे फल समूह के रस के साथ अथवा दूध के साथ पिलाना चाहिए।

पित्तज हृद्रोगचिकित्सा

अधिकपित्तकृते हृदयामये। घृतगुडाप्लुतदुग्धयुतौषधैः॥
वमनमत्र हितं सरिवेचनम्। कथितपित्तचिकित्सितमेव वा॥ 7॥

भावार्थ : यदि पित्त के विशेष उद्रेक से हृदय रोग हो जाये, तो उस में (पित्तज हृदय रोग में) घृत, गुड़ व दूध से युक्त (पित्तनाशक) औषधियों से वमन कराना ठीक है एवं विरेचन भी कराना चाहिए। साथ ही पूर्व कथित पित्तहर चिकित्सा करनी चाहिए।

कफज हृदोगचिकित्सा

कफकृतोग्रमहाहृदयामये। त्रिकटुकोष्णजलैरिह वामयेत्।
अपि फलाम्लयुता त्रिवृता भृशं। लवणनागरकैस्स विरेचयेत्॥ 8॥

भावार्थ : कफविकार से उत्पन्न हृदयगत महारोग में (कफज हृद्रोग में) त्रिकटु से युक्त उष्णजल से वमन कराना चाहिए एवं निशोथ, खट्टा फल, सैंधानमक व शुंठी से विरेचन कराना चाहिए।

हृद्रोग में बस्तिप्रयोग

तदनुरूपविशेषगुणौषधै-। रखिलबस्तिविधानमपीष्यते॥
हृदयरोगगणप्रशमायतत्। क्रिमिकृतस्य विधिश्च विधीयते॥ 9॥

भावार्थ : हृद्रोग के उपशमन करने के लिए तत्तद्दोषों के उपशमने योग्य औषधियों से बस्ति का भी प्रयोग करना चाहिए। यहाँ से आगे कृमि रोग के निदान व चिकित्सा का वर्णन करेंगे।

अथ क्रिमिरोगाधिकारः

कृमिरोग लक्षण

शिरसि चापि रूजो हृदये भृशं। वमथुसक्षवथुज्वरसंभवैः॥

क्रिमिकृताश्च मुहुर्मुहुरामयाः प्रतिदिनं प्रभवंति तदुद्गमे॥ 10॥

भावार्थ : शरीर में कृमिरोगों की उत्पत्ति होने पर शिर व हृदय में अत्यन्त पीड़ा, वमन, छींक व ज्वर उत्पन्न होता है एवं बार-बार कृमियों से उत्पन्न अन्य अतिसार भ्रम, हृद्रोग आदि रोग भी प्रतिदिन उत्पन्न होते हैं।

कफपुरीषरक्तज कृमियाँ

असितरक्तसिताः क्रिमयस्सदा। कफपुरीषकृता बहुधा नृणां॥

नखशिरोंगरुहक्षतदंतभ-। क्षकगणाः रुधिरप्रभवाः स्मृताः॥ 11॥

भावार्थ : मनुष्यों के कफ व मल में काला, लाल, सफेद वर्ण की नाना प्रकार की कृमियाँ होती हैं एवं नाखून, शिर के बाल, रोम, क्षत (जखम) व दंत को भक्षण करने वाली कृमियाँ रक्त में होती है।

कृमिरोग चिकित्सा

क्रिमिगणप्रशमाय चिकिर्षुणा। विविधभेषजचारूचिकित्सितं॥

सुरसयुग्मवरार्जफणिज्जक। स्वरससिद्धघृतं प्रतिपाययेत्॥ 12॥

भावार्थ : कृमियों के उद्रेक को शमन करने के लिए कुशल वैद्य योग्य विविध औषधियों के प्रयोग से चिकित्सा करें तथा काली तुलसी, पलाश, छोटी पत्ती की तुलसी, इनके रस से सिद्ध घृत का पिलाना हितकर है।

कृमिरोग शमनार्थ शुद्धिविधान

कटुकतिक्तकषायगणौषधै-। रुभतश्च विशुद्धिमुशंत्यलम्॥

लवणतीक्ष्णतरैश्च निरूहणं। क्रिमिकुलप्रशमार्थमुदाहृतम्॥13॥

भावार्थ : कटुक, तिक्त व कषायवर्ग की औषधियों से वमन विरेचन कराना कृमिरोग के लिए हितकर है। सैंधानमक व तीक्ष्ण औषधियों से निरूहण बस्तिका प्रयोग करना भी कृमिसमूह के शमन के लिए हितकर है।

कृमिघ्न स्वरस

अपि शिरीषरसं किणिहीरसं। प्रवरकेंबुककिंशुकसद्रसम्॥

तिलजमिश्रितमेव पिबेन्नरः। क्रिमिकुलानि विनाशयितुं ध्रुवं॥ 14॥

भावार्थ : सिरस, चिरचिरा, केमुक, पलाश, इनके रस को तिल के तेल में मिलाकर पीने से क्रिमियों का समूह अवश्य ही नष्ट होता है।

विडंग चूर्ण

कृतविडंगविचूर्णमनेकशः। पुनरिहाश्वशकृद्रसभावितम्॥

तिलजशर्करया च विमिश्रितं। क्रिमिकुलप्रलयावहकारणम्॥ 15॥

भावार्थ : वायविडंग के चूर्ण को अच्छी तरह कई बार घोड़े की लीद के रस से भावना देकर फिर तिल का तेल व शक्कर के साथ मिलाकर उपयोग करने पर क्रिमिकुल अवश्य ही नष्ट होता है।

मूषिककर्णादियोग

अपि च मूषिककर्णरसेन वा। प्रवररालिविडंगविचूर्णितम्॥

परिविलोड्य घृतेन विपाचितं। भवति तत्क्रिमिनाशनभक्षणम्॥ 16॥

भावार्थ : रालि (?) वायविडंग के चूर्ण को मूसाकानी के रस में घोलें। फिर उसे घृत के साथ पकाकर खाने पर कृमिनाश होता है।

कृमिनाशक तैल

वितुषसारविडंगकषायभावितितिलोद्भवमेव विरेचनौ-॥

षधगणैः परिपक्व मिदं पिबन्। क्रिमिकुलक्षयमाशु करोत्यसौ॥ 17॥

भावार्थ : तुषरहित वायविडंग के कषाय से भावित तिल से निकाले हुए तैल को विरेचनौषधि गणों के द्वारा पकाकर पीने से सर्व क्रिमिरोग शीघ्र ही दूर होते हैं।

सुरसादि योग

सुरसबंधुरकंदलकंदकैः। परिविपक्व सुतक्रमयाम्लिकाम्॥

अशिशिरां सघृतां त्रिदिनं पिबे-दुदरसर्पविनाशनकारिकाम्॥ 18॥

भावार्थ : तुलसी, वायविडंग, सफेद खैर कंदक (वनसूरण) इन से पकायी हुई छाछ से मिश्रित गरम कांजी में घी मिलाकर तीन दिन पीने से उदर में रहने वाली संपूर्ण कृमि नष्ट हो जाती है।

कृमिघ्न योग

त्रपुषघृष्ट मिहाष्ट दिनांतरम्। दधिरसेन पिबेत्क्रिमिनाशनम्॥

अथ कुलत्थरसं सतिलोद्भवं। त्रिकटुहिंगुविडंगाविमिश्रितम्॥ 19॥

भावार्थ : दही के तोड़ के साथ इंद्रायण के कल्क को मिलाकर आठ दिन में एक दफे पीना चाहिए। उससे कृमिनाश हो जायेगा तथा कुलथी के रस या तिल के तेल में त्रिकटु, हींग, वायविडंग को मिलाकर लेना भी हितकर है।

पिप्पलीमूल कल्क

सुरसजातिरसेन च ऐशितं। प्रवरपिप्पलिमूलमजांबुना॥
प्रतिदिनं प्रपिबेत्परिसर्पवान्। कटुकतिक्तगणैरशनं हितम्॥ 20॥

भावार्थ : कृमिरोग से पीड़ित रोगी को तुलसी व जाई के रस के साथ पिसा हुआ पीपली मूल को, बकरे के मूत्र के साथ प्रतिदिन पिलाना और कटुतिक्तगणोक्त द्रव्यों से भोजन देना अत्यन्त हितकर होता है।

रक्तज कृमिरोग चिकित्सा

कफपुरीषकृतानखिलान् जये-। द्वहुविधैः प्रकटीकृतभेषजैः॥
रूधिरसंजनितान्क्रिमिसंचयान्। कथितकुष्ठचिकित्सितमार्गतः॥ 21॥

भावार्थ : कफज और मलज कृमियों को पूर्वोक्त अनेक औषधियों के प्रयोग से जीतना चाहिए। रक्त में उत्पन्न कृमिसमूहों को कुष्ठरोग की चिकित्सा के अनुसार जीतना चाहिए।

कृमिरोग में अपथ्य

दधिगुडेक्षुरसाम्रफलान्यलं। पिशितदुग्धगणान्मधुरान्रसान्॥
सकलशाकयुताशनपानकान्। परिहरेत्क्रिमिभिः परिपीडितः॥ 22॥

भावार्थ : कृमिरोग से पीड़ित मनुष्य दही, गुड़, ईख का रस, आम इत्यादि फल, सर्व प्रकार के दूध, मांस व मधुररस, सर्व प्रकार के शाक से युक्त भोजनपान को वर्जन करें।

अथ अजीर्णरोगाधिकारः

आम विदग्ध, विष्टब्धाजीर्ण लक्षण

पुनरजीर्णविकल्पमपीष्यते। मधुरमन्नामिहाममथाम्लताम्॥
उपगतं तु विदग्धमतीव रूग्। मलनिरोधनमन्यदुदीरितम्॥ 23॥

भावार्थ : अब यहाँ से आगे अजीर्ण रोग का लक्षण, भेद आदि के साथ वर्णन करेंगे। जो खाया हुआ आहार जीर्ण न हो (पचे नहीं) इसे अजीर्ण रोग कहते हैं। इसका आमाजीर्ण[1], विदग्धाजीर्ण, विष्टब्धाजीर्ण इस प्रकार तीन भेद है। खाया हुआ अन्न कच्चा और मधुर रहे, मीठा डकार आदि आवें इसे आमाजीर्ण कहते हैं। जब भक्षित आहार थोड़ा पच कर खट्टा हो जावें उसे विदग्धाजीर्ण कहते है। जिससे पेट में अत्यन्त पीड़ा होती हो और पेट फूल जावें और मल भी रुक गया हो उसे विष्टब्धाजीर्ण कहते हैं।

1. आमाजीर्ण कफ से , विदग्धाजीर्ण पित्त से और विष्टब्धाजीर्ण वात से उत्पन्न होता है।

अजीर्ण से अलसक विलम्बिका विशूचिका की उत्पत्ति

अलसकं च विलंविकया सह। प्रवरतीव्ररूजा तु विषूचिका।
भवति गौरवि योऽत्ति निरंतरं। बहुतरान्नमजीर्णमतोऽस्य तत्॥ 24 ॥

भावार्थ : जो मनुष्य नाना प्रकार अन्नों को गाय के समान हमेशा खाता रहता है, उसे अजीर्ण होकर भयंकर अलसक, बिलम्बिका और अत्यन्त तीव्र पीड़ा करने वाली विशूचिका रोग उत्पन्न होता है।

अलसक लक्षण

उदरपूरणतातिनिरुत्सहो। वमथुतृड्मरुदुद्धमकूजनम्॥
मलनिरोधनतीव्ररुजारुचि-स्त्वलसकस्य विशेषितलक्षणम् ॥ 25॥

भावार्थ : जिसमे पेट बिल्कुल भरा हुआ मालूम हो रहा हो, अत्यन्त निरूत्साह मालूम हो रहा हो, वमन होता हो, नीचे की तरफ से वात रुककर ऊपर कंठ आदि स्थानों में फिरता हो, मलमूत्र रुक जाता हो, तीव्र पीड़ा होती हो और अरुचि हो उसे अलसक रोग जानना चाहिए। अर्थात् यह अलसक रोग का लक्षण है।

विलम्बिका लक्षण

कफमरूत्प्रलातिनिरोधतो। ह्युपगतं च निरूद्धमिहाशनं॥
इह भवेदतिगाढविलंबिका। मनुजजन्मविनाशनकारिका॥ 26॥

भावार्थ : कफ व वात के अत्यन्त निरोध से खाया हुआ आहार न नीचे जाता है न ऊपर (न विरेचन होता है न तो वमन ही) ही जाता है अर्थात् एकदम रुक जाता है, उसे बिलंबिका रोग कहते हैं। यह अत्यन्त भयंकर है। वह मनुष्य जन्म को नाश करने वाला है।

विषूचिका लक्षण

वमथुतृड्भ्रमशूलविवेष्टनैः परिविमूर्च्छनताद्यतिसारकैः।
चलनजृंभणदाहविवर्णकैर्हृदयवेदनया तु विषूचिका॥ 27॥

भावार्थ : जिसमें वमन, तृषा, भ्रम, शूल, उद्वेष्ट (गीले कपड़े से ढका हुआ जैसा अनुभव) मूर्छा, अतिसार, कम्प, जंभाई, दाह, विवर्ण, हृदय पीड़ा आदि विकार प्रकट होते हैं, उसे विषूचिका (हैजा) रोग कहते हैं।

अजीर्ण चिकित्सा

वमनतापनवर्तियुताग्नि - दीपनकरौषधपानविधानतः॥
प्रशमयेदृतमन्नमजीर्णतामनशनहिमवार्युपयोगतः ॥ 28॥

भावार्थ : वमन, स्वेदन, वर्तिप्रयोग (औषध निर्मित बत्ती को गुदा में रखना) अग्निदीपन करने वाली औषधियों का सेवन, पान, लंघन (उपवास) और गरम पानी पीना आदि क्रिया विशेषों से अजीर्ण रोग को उपशमन करना चाहिए।

अजीर्ण में लंघन

अनशनं त्विह कार्यमजीर्णजित्तुषित एव पिबेदहिमोदकम्॥
अशनभेषजदोषगणान्स्वयं । न सहते जठराग्निरभावतः॥ 29॥

भावार्थ : अजीर्ण को जीतने के लिए लंघन अवश्यमेव करें अर्थात् अजीर्ण के लिए लंघन अत्यन्त श्रेष्ठ है। प्यास लगने पर ही गरम पानी पीवें। क्योंकि अजीर्ण रोगी की जठराग्नि अतिक्षीण होने से वह भोजन, औषध और दोषों को पचाने में समर्थ नहीं होती है।

अजीर्ण नाशक योग

सततमेव पिबेल्लवणोदकं। गुडयुतानपि सर्षपकानपि॥
त्रिकटुसैंधवहिंगुविचूर्णमिश्रितफलाम्लमिहोष्णमजीर्णवान्॥30॥

भावार्थ : अजीर्ण रोगी सदा सैंधानमक को गरम पानी में डाल कर पीवें तथा सरसों और इन दोनों को गुड़ मिलाकर खावें। अथवा त्रिकटु सैंधानमक हींग इन के चूर्ण को खट्टे फलों के गरम रस में मिलाकर पीना चाहिए।

अजीर्णह्द्रोगत्रय

मगधजामहिमांबुयुतां पृथक्। प्रवरनागरकल्कमथाभया-॥
लवणचूर्णमिति त्रितयं पिबे-। दुदरवन्हिविवर्द्धन कारणम्॥31॥

भावार्थ : पीपल के चूर्ण को जठराग्नि के बढ़ाने के लिए गरम पानी में मिलाकर अथवा शुंठी के कल्क को गरम पानी में मिलाकर या हरड़ और लवण इनके चूर्ण को गरम पानी में मिलाकर पीना चाहिए।

कुलत्थ क्वाथ

क्व थितमुष्ककभस्मविगालितो। दकविपक्व कुलत्थरसं सदा॥
लवणितं त्रिकटूत्कटमातुरः सततमग्निकर प्रपिबेन्नरः॥ 32॥

भावार्थ : मोरवा के भस्म से क्वाथ कर उस क्वाथ को छानें, फिर उसके द्वारा उस पकाये हुए कुलथी के रस में लवण व त्रिकटु मिलाकर सदा अजीर्ण से पीड़ित पीवें, तो अग्निदीपन होता है।

विशूचिका चिकित्सा

मधुकचंदन - वालजलांबुदांबुरुहनिंबदलांघिसु - तण्डुला-।
म्बुभिरशेषमिदं मृदितं पिबेत् प्रशमयंस्तृषयातिविषूचिकाम्॥33॥

भावार्थ : मुलैठी, चंदन, खस, नेत्र वाला नागरमोथा, कमल, नीम की पत्ती व उसके जड़ को चावल के धोबन में मर्दन कर पिलावें, तो यह विषूचिका रोग को तृषा से प्रशमन करता है।

त्रिकटुकाद्यंजन

त्रिकटुकत्रिफलारजनीद्वयोत्पलकरंजसुबीजगणं शुभम्॥
फलरसेन विशोष्यकृतांजनं प्रशमयत्यधिकोग्रविषूचिकाम्॥ 34॥

भावार्थ : त्रिकटु, त्रिफला, हल्दी, नीलकमल, करंज के बीज, इनको खट्टे फलों के रस के साथ बारीक पीसकर सुखावें, इस प्रकार तैयार किए गए अंजन को आंजने से उग्र विषूचिका भी दूर होती है।

अलसकोऽप्यातिकृछ्र इतीरितः। परिहरेदविलंबिविलंबिकां॥
अपि विषूचिकया परिपीडितानिह जयेदतिसारचिकित्सितैः॥ 35॥

भावार्थ : अलसक रोग अत्यन्त कष्ट साध्य है। विलम्बिका को भी शीघ्र छोड़ देना चाहिए। विशूचिका से पीड़ित रोगी को अतिसारोक्त चिकित्सा के प्रयोग से ठीक करना चाहिए।

विशूचिका में दहन व अन्य चिकित्सा

दहनमत्र हितं निजपार्ष्णिषु। प्रबलवातयुतातिविषूचिका-।
प्रशमनाय महोष्णगुणौषधानहिमतोययुतान्परिपानतः॥ 36॥

भावार्थ : प्रबल वात के वेग से युक्त विकार से उत्पन्न विषूचिका रोग को शमन करने के लिए, पार्ष्णि स्थान में जलाना चाहिए एवं महान् उष्ण औषधियों को उष्ण जल में मिलाकर पिलाना भी हितकर है।

अजीर्ण का असाध्य लक्षण

रसनदंतनखाधरकृष्णता। वमनताक्षिनिजस्वरसंक्षयः।
स्मृतिविनाशनता शिथिलांगता। मरणकारणमेतदजीर्णिनाम्॥ 37॥

भावार्थ : अजीर्ण रोग में जीभ, दांत, नख, ओंठ का काला पड़ जाना, वमन विशेष होना, आँखें अंदर घुस जाना, स्वरनाश होना, स्मृति क्षय होना व अंग शिथिल होना, यह सब मरण के कारण समझना चाहिए अर्थात् ये लक्षण प्रकट होवें, तो रोगी शीघ्र मरता है।

मूत्र व योनिरोग वर्णन प्रतिज्ञा

अथ च मूत्रविकारकृतामयानधिकयोनिगतान्निजलक्षणान्।
प्रवरनामयुताखिलभेषजैः। प्रकथयामि कथां विततक्रमैः॥ 38॥

भावार्थ : यहाँ से आगे मूत्रविकार से उत्पन्न रोग और योनि रोगों को, उनके लक्षण, उत्कृष्ट नाम को धारण करने वाले श्रेष्ठ सम्पूर्ण औषधियों के साथ-साथ क्रम से वर्णन करेंगे इस प्रकार आचार्य प्रतिज्ञा करते हैं।

[1]मूत्रघातादिकारः

वातकुण्डलिका लक्षण

स्वजलवेगविघातविदूषितश्चिरविरूक्षवशादपि बस्तिज-।
श्चरति मूत्रयुतो मरूदुत्कटः प्रबलवेदनया सह सर्वदा॥ 39॥
सृजति मूत्रमसौ सरूजं चिरान्नरवरोल्पमतोल्पमतिव्यथः।
पवनकुण्डलिकाख्यमहामयो भवति घोरतरोऽनिलकोपतः॥ 40॥

भावार्थ : मूत्र के वेग को धारण करने व रूक्ष पदार्थों के सेवन करने से, बस्तिगत प्रबल वात प्रकुपित होकर, मूत्र के साथ मिलकर बस्ति में पीड़ा करते हुए, गोलाकार के रूप में फिरता है तो रोगी मनुष्य, अत्यन्त व्यथित होकर, पीड़ा के साथ बहुत देर से थोड़े-थोड़े मूत्र को विसर्जन करता है, इसे वातकुंडलिका रोग कहते हैं। यह भयंकर रोग वातोद्रेक से उत्पन्न होता है।

मूत्राष्ठीलिका लक्षण

कुपितवातविघातविशोषितः पृथुरिहोपलबद्घनतां गतः।
भवति मूत्रकृताश्ममहामयो। मलजलानिलरोधकृदुद्धतः॥ 41॥

भावार्थ : वात के कुपित होने से यह मूत्र जब सूख जाता है, वह बढ़कर पत्थर के समान घट्ट हो जाता है, जो कि मल-मूत्र व वात को रोकता है। वह मूत्रसम्बन्धी अश्म रोग कहलाता है। इसे मूत्राष्ठीलिका के नाम से भी कहते हैं। वह मूत्र व वात विकार से उत्पन्न होता है व अत्यन्त भयंकर है।

वातबस्ति लक्षण

जलगतेरिह वेगविघाततः प्रतिवृणोत्यथ बस्तिमुखं मरुत्।
प्रचुरमूत्रविसंगतयातिरुक्पवनबस्तिरिति प्रतिपाद्यते॥ 42॥

भावार्थ : मूत्र के वेग को रोकने से बस्तिगत वायु प्रकुपित होकर बस्ति के मुख को एकदम रोक देता है। इससे मूत्र रुक जाता है। बस्ति व कुक्षि में पीड़ा होती है, उसे वातबस्ति रोग कहते हैं।

मूत्रातीत लक्षण

अवधूतं स्वजलं मनुजो यदा। गमयितुं यदि वांछति चेत्पुनः।
व्रजति नैव तदाल्पतरं च वा। तदिह मूत्रमतीतमुदाहृतम्॥ 43॥

भावार्थ : जो मनुष्य, मूत्र के वेग को रोक कर, फिर उसे त्यागना चाहता है तो वह मूत्र उतरता ही नहीं अथवा प्रवाहण करने पर पीड़ा के साथ थोड़ा-थोड़ा उतरे इसे मूत्रातीत रोग कहते हैं।

1. मूत्रावरोध

मूत्रजठर लक्षण

उदकवेगविघातत एव तत्। प्रकुरुते मरुदुत्परिवर्तते।

उदरपूरणमुद्धतवेदनं । प्रकटमूत्रकृतं जठरं सदा॥ 44॥

भावार्थ : उस मूत्र के वेग को रोकने से, (अपान) वात जब ऊर्ध्वगामी होकर पेट में भर जाता है अर्थात् पेट को फुलाता है (नाभि से नीचे अफरा) और उस समय पेट में अत्यन्त वेदना को उत्पन्न करता है। उसे मूत्र जठर रोग कहा है।

मूत्रोत्संग लक्षण

अपि मनोहरमेहनमध्यमे। प्रवरबस्तिमुखेति विषज्यते ।

सृजत एव बलात्प्रतिबाधतः। सरुज मूत्रमतोप्यपसंगरुक्॥45॥

भावार्थ : मनोहर शिश्नेंद्रिय के मध्यभाग वा बस्ति (मूत्राशय) के मुख में, प्रवृत्त हुआ मूत्र रूक जाता है, बलात्कार से त्यागने की कोशिश करने पर, प्रतिबंधक कारण मौजूद होने से, पीड़ा के साथ धीरे-धीरे थोड़ा-थोड़ा निकलता है। कभी रक्त भी साथ आता है, इसे मूत्रोत्संग रोग कहते हैं।

मूत्रक्षय लक्षण

द्रवविहीनविरूक्षशरीरिणः। प्रकटबस्तिगतानिलपित्तकौ।

क्षपयतोऽस्य जलं बलतः स्वयं। भवति मूत्रगतक्षयनामकः॥46॥

भावार्थ : जिनके शरीर में द्रवभाग अत्यन्त कम होकर रूक्षांश अधिक हो गया हो उनकी बस्ति में पित्त व वात प्रविष्ट होकर मूत्र को जबर्दस्ती नाश करते हैं। वह मूत्रक्षय नामक रोग है।

मूत्राश्मरी लक्षण

अनिलपित्तवशादतिशोषितं। कठिनवृत्तमिहांबुनिवासितम्।

मुखगतं निरुणद्धि जलं शिलोपममतोऽस्य च नाम तदेव वा ॥47॥

भावार्थ : वात व पित्त के प्रकोप से, मूत्र सूखकर कठिन व गोल, अश्मरी के समान ग्रंथि बस्ति के मुख में उत्पन्न होता है जिससे मूत्र रुक जाता है। यह अश्मरी तुल्य होने से, इसका नाम भी मूत्राश्मरी[1] है।

मूत्रशुक लक्षण

अभिमुखस्थितमूत्रनिपीडितः। प्रकुरुतेऽज्ञतयाधिकमैथुनम्।

अपि पुरः पुरतस्सह रेतसा वहति मूत्रामिदं च तदाख्यया॥48॥

भावार्थ : जब मूत्र बाहर आने के लिए उपस्थित हो और उसी समय कोई अज्ञान से मैथुन

1. इसे ग्रंथातरों में मूत्रग्रंथि कहते हैं।

सेवन कर लेवें तो मूत्र विसर्जन के पहले (अथवा पश्चात्) वीर्यपात (जो भस्म मिला हुआ जल के समान) होता है, तो इसे मूत्रशुक्ररोग कहते हैं।

उष्णवात लक्षण

श्रमयुतोष्णनिरूक्षनिषेवया। कुपितपित्तयुत्तो मरूदुद्धतः।
प्रजननाननबस्तिगुदं दहन्। गमयतीह जलं मुहुरुष्णवत्॥ 49॥

भावार्थ : अधिक परिश्रम करने से, उष्ण व अत्यन्त रूक्ष पदार्थों के सेवन से प्रकुपित पित्त (बस्ति को प्राप्त कर) वात से संयुक्त हो जाता है, तो लिंग के अग्रभाग, बस्ति, गुदा, इन स्थानों में जलन उत्पन्न हुआ गरम (पीला, लाल व रक्त सहित) मूत्र बार-बार निकलता है। इसे उष्णवात रोग कहते हैं।

पित्तज मूत्रोपसाद लक्षण

विविधपीतकरक्त मिहोष्णवद्धहुलशुष्कमथापि च रोचना।
सदृशमत्रमिदं बहुपित्ततः स च भवेदुपसादगदो नृणाम् ॥ 50॥

भावार्थ : पित्त के अत्यधिक प्रकोप से नाना प्रकार के वर्णयुक्त व पीला, लाल गरम पेशाब अधिक आता है। यदि वह सूख जावें तो, गोरोचना के सदृश मालूम होता है। इस रोग को मूत्रोपसाद कहते हैं।

कफज मूत्रोपसाद लक्षण

बहलपिच्छिलशीतलगौरवत् । स्रवति कृच्छ्रत एव जलं चिरात्।
कुमुदशंखशशांकसमप्रभं कफकृतस्सभवेदुपसादकृत्॥ 51॥

भावार्थ : कफ के प्रकोप से, जिसमें गाढ़ा पिच्छिल (लिवलिवाहट), ठण्डा, सफेद वर्ण से युक्त पेशाब देर से व अत्यन्त कष्ट से निकलता है और वह सूख जाने पर उसका वर्ण कमलपुष्प, शंख व चंद्रमा के सदृश हो जाता है, उसे कफज मूत्रोपसाद रोग कहते हैं।

मूत्ररोग निदान का उपसंहार

इति यथाक्रमतो गुणसंख्याया, निगदिताः सजलोद्भवदुर्गुदाः॥
अथ तदौषधमार्गमतः परं, परहितार्थपरं रचयाम्यहम्॥ 52॥

भावार्थ : इस प्रकार मूत्र से उत्पन्न होने वाले दुष्टरोगों को उनके भेद सहित यथाक्रम से वर्णन किया। अब दूसरों के हित की दृष्टि से उनके योग्य औषधि व चिकित्सा विधि को प्रतिपादन करेंगे।

अथ मूत्ररोगचिकित्सा

विधिवदत्र विधाय विरेचनं, प्रकटितोत्तरबस्तिरपीष्यते।
अधिकमैथुनतो रुधिरं स्रवेत्, यदि ततो विधिमस्य च बृंहणम्॥ 53 ॥

भावार्थ : उपरोक्त मूत्ररोग में विधि से विरेचन कराना चाहिए तथा पूर्व कथित उत्तरबस्ति का प्रयोग भी हितकर है। अधिक मैथुन से यदि रुधिर स्राव होता हो तो उस पर बृंहणविधि का प्रयोग कराना चाहिए।

कपिकच्छवादि चूर्ण

कपिफलेक्षुरबीजकपिप्पली-। मधुकचूर्णमिहालुलितं शनैः॥
घृतसितैः प्रविलिह्य पिबन्पय-। स्तदनु मूत्रगदनखिलान् जयेत्॥ 54॥

भावार्थ : तालमखाने का बीज, पीपल, कौच्च के बीज, मुलैठी इनका अच्छी तरह चूर्ण बनावें और उसमें घी व शक्कर मिलाकर चाटें, पीछे से दूध पीवें। यह सम्पूर्ण मूत्र रोगों को जीत लेता है।

मूत्रामपघ्न घृत

कपिबलातिबला मधुकेक्षुर। प्रकटगोक्षुरभूरिशतावरी-।
प्रभृमृणालकशेरूकसोत्पलां-बुजफलांशुमतीं सह विन्नया॥ 55 ॥
समधृतानि विचूर्ण्य विभावितो-। दकचतुष्कमिदं पयसा चतु-॥
र्गुणयुतेन तुला गुडसाधितं। घृतवराढक मुत्कटगंधवत्॥ 56॥
घृतमिदं सततं पिबतां नृणां। अधिकवृष्यबलायुररोगता॥
भवति गर्भवती वनिता प्रजा। प्रतिदिनं पयसैव सुभोजनं॥ 57॥

भावार्थ : कौंच के बीज, खरेंटी, गंगेरेन, मुलैठी, तालमखाना, गोखुर, शतावरी, प्रभु (?) कमलनाल, कसेरू, नीलोत्पल, कमल, जायफल, शालपर्णी, (सरिबन) पृश्नपर्णी (पिठवन) इन सब को समभाग लेकर, सूक्ष्म चूर्ण करके इसमें चतुर्गुण पानी मिलावें। इस प्रकार तैयार किए हुए यह कल्क[1], व चतुर्गुण गाय के दूध, 5 सेर गुड़ के साथ चार सेर, (यहाँ 64 तोले का एक सेर जानना) सुगंध घृत को सिद्ध करें। इस घृत को प्रतिदिन सेवन करने वाले मनुष्य को वृष्य (वीर्य वृद्धि होकर काम शक्ति बढ़ना) होता है। बल और आयु वृद्धिंगत होते हैं और वह निरोगी होता है। स्त्री गर्भवती होकर पुत्र प्रसूत हो जाती है। इस घृत को सेवन करते समय प्रतिदिन केवल दूध के साथ भोजन करना चाहिए (मिरच, नमक, मसाला, खटाई आदि नहीं खाना चाहिए)।

अथ मूत्रकृच्छ्राधिकारः

इति च मूत्रकृतामयलक्षण प्रतिविधानमिह प्रतिपादितम्।
अथ तदष्टविधाधिक घात[2]लक्षणचिकित्सितमत्र निरूप्यते॥ 58॥

1. यह घृत से चतुर्थांश डाले।
2. यहाँ घात शब्द का अर्थ आचार्यों ने कृच्छ (कष्ट से निकलना) किया है।

भावार्थ : इस प्रकार मूत्र सम्बन्धी (मूत्राघात) रोग के लक्षण व चिकित्सा का प्रतिपादन किया है। अब यहाँ से मूत्र रोगातंर्गत, अन्य आठ प्रकार के मूत्राघात (मूत्रकृछ्र) रोगों का लक्षण और चिकित्सा का वर्णन करेंगे।

आठ प्रकार मूत्रकृछ्र

अनिलपित्तकफैरखिलैः पृथक्। तदभिघातवशाच्छकृताथवा।
प्रबलशर्करयाप्यधिकाश्मरीगणनिपीडितमूत्रमिहाष्टधा॥ 59॥

भावार्थ : वात, पित्त, कफ व सन्निपात से, चोट आदि लगने से, मल के विकार से, शर्करा व अश्मरी से (वातज पित्तज, कफज, सन्निपातज, अभिघातज, शकृज्ज, शर्कराज, अश्मरीज) इस प्रकार अष्टविध, मूत्रकृच्छ्र रोग उत्पन्न होते हैं।

अष्टविध मूत्र कृच्छ्रों के पृथक् लक्षण

तदनुदोषगुणैरिह मेहन। प्रवरशल्यजकं पवनामयैः॥
अधिकशूलयुतोदरपूरणैः। मलनिरोधजमश्मरिकोदिता॥ 60॥
कथितशर्करयाप्युदितक्रमात्। हृदयपीडनवेपथुशूलदु-॥
र्बलतराग्निनिपातविमोहनैः। सृजति मूत्रमिहाहतमारूतात्॥ 61॥

भावार्थ : वातादि[1] दोषज मूत्रकृच्छ् में तत्त्वदोषों के लक्षण व सन्निपातज में तीनों दोषों के लक्षण प्रकट होते हैं। मूत्रवाहि स्रोतों पर शस्त्र से घाव हो जाने से, अथवा अन्य किसी से चोट पहुँचने से जो मृत्रकृच्छ्र उत्पन्न होता है उसमें वातज मूत्र कृच्छ के सदृश लक्षण पाये जाते हैं। मल के अवरोध से वात कुपित होकर मूत्रकृच्छ्र को उत्पन्न करता है। उसमें शूल व आघ्मान (अफराना) होते हैं। अश्मरीज मूत्रकृच्छ्र का लक्षण, अश्मरीरोग के प्रकरण में कह चुके हैं। शर्कराज मूत्रकृच्छ्र का अश्मरीज के सदृश लक्षण है। लेकिन इतना विशेष कि अश्मरी (पित्त से पचकर) वायु के आघात से जब टुकड़ा-टुकड़ा रेतीला हो जाता है, इसे शर्करा कहते हैं। जब यह मूत्र मार्ग से (मूत्र के साथ) बाहर आने लगता है मूत्र अत्यन्त कष्ट से उतरता है तो हृदय में पीड़ा, कम्प (कांपना) शूल, अशक्ति, अग्निमांद्य और मूर्च्छा होती है।

---

1. **वातज मूत्रकृच्छ्** - जिसमें वंक्षण (राङ्) मूत्राशय, लिंग स्थानों में तीव्र पीड़ा होकर बारम्बार थोड़ा-थोड़ा मूत्र उतरता है, उसे वातज मूत्रकृच्छ् कहते हैं।
   पैत्तिक मूत्रकृच्छ् - इसमें पीड़ा युक्त जलन के साथ पीला, लाल मूत्र बारम्बार कष्ट से उतरता है।
   कफज मूत्रकृच्छ् - इसमें लिंग और मूत्राशय भारी व सूजन युक्त होते हैं और चिकना मूत्र आता है।

मूत्रकृच्छचिकित्सा

कथितमूत्रविघातचिकित्सितं। प्रकथयाम्यधिकाखिलभेषजैः।

प्रतिदिनं सुविशुद्धतनोः पुनः। कुरुत बस्तिमिहोत्तरसंज्ञितम्॥ 63॥

भावार्थ : उपरोक्त मूत्रकृच्छ्र रोग की चिकित्सा का वर्णन, उनके योग्य समस्त औषधियों के साथ-साथ करेंगे। प्रतिदिन रोगी के शरीर को शोधनकर पुनः उत्तर बस्ति का प्रयोग करना चाहिए।

मूत्रकृच्छ्रनाशक योग

त्रपुसबीजककल्कमिहाक्षसम्मितमथाम्लसुकांजिकयान्वितं।

लवणवर्गमपि प्रपिबेन्नरः सभयमूत्रविघातनिवारणम्॥ 33॥

भावार्थ : खीरे के बीज के एक तोले कल्क को श्रेष्ठ खट्टी कांजी के साथ एवं लवण वर्ग को कांजी के साथ पीने से, मनुष्य का भयंकर मूत्रकृच्छ्र भी शांत होता है।

मधुकादिकल्क

मधुककुंकुमकल्कमिहांबुना। गुडयुतेन विलोड्य निशास्थितं॥

शिशिरमाशु पिबन् जयतीद्धमप्यखिलमूत्रविकारमरं नरः॥ 64॥

भावार्थ : ज्येष्टमधु व कुंकुम (केशर) के कल्क में गुड़ मिलाकर पानी के साथ बिलोना चाहिए। फिर उसे रात्रि में वैसा ही रखें। अच्छी तरह ठण्डा होने के बाद (प्रातःकाल) उसे पीने से समस्त मूत्र विकार दूर हो जाते हैं।

दाडिमदि चूर्ण

सरसदाडिमबीजसुजीरनागरकणं लवणेन सुचूर्णितं॥

प्रतिदिनं वरकांजिकया पिबे-दधिकमूत्रविकाररुजापहम्॥ 65॥

भावार्थ : रस युक्त दाडिम (अनार) का बीज, जीरा, शुंठी, पीपल व लवण इनको अच्छी तरह चूर्ण कर, उसे प्रतिदिन कांजी में मिलाकर पीना चाहिए। वह अधिक मूत्रकृच्छ रोग को भी दूर करता है।

कपोतकादि योग

अपि कपोतकमूलयुतत्रिकंटकसुगृध्रनखांघ्रिगणैः श्रितम्॥

कुडुबयुग्मपयोंबुचतुर्गुणं प्रतिपिबेत्सपयः परिपेषितम् ॥ 66॥

भावार्थ : कपोतक (सफेद सुर्मा) पीपलामूल, गोखरू, कंटकपाली वृक्ष की जड़, इनसे चतुर्गण पानी डालकर सिद्ध किए हुए दूध को अथवा उपरोक्त औषधियों को दूध के साथ पीसकर (मूत्रकृच्छ्र रोग को नाश करने के लिए) पीना चाहिए।

तुरगादिस्वरस

तुरगगदर्भगोरट[1]-जं रसं कुडुबमात्रमिह प्रपिबेन्नरः ॥
लवणवर्गयुतां त्रिफलां सदा। हिमजलेन च मूत्रकृतामयम् ॥ 67 ॥

भावार्थ : अश्वगंध, सफेद कमल, दुर्गंध खैर, इनके रस को कुडुब प्रमाण पीना चाहिए। तथा लवणवर्ग व त्रिफला के चूर्ण को ठंडे जल के साथ मिलाकर पीना चाहिए, जिससे मूत्र रोग दूर होता है।

मधुकादि योग

अथ पिबेन्मधुकं च तथा निशा-। ममरदारूनिदिग्धिकया सह ॥
त्रुटिघनामलकानि जलामयी। पृथगिहाम्लपयोऽक्षतधावनैः ॥ 68 ॥

भावार्थ : मुलेंठी, हलदी, देवदारू, कटेली, छोटी इलायची, नागरमोथा, आँवला, इनके चूर्ण व कल्क को कांजी दूध, चावल का धोवन, इन किसी एक के साथ पीना चाहिए।

स्वरसमामलकोद्भवमेव वा। कुडुबसम्मितमिक्षुरसान्वितम् ॥
त्रुटिशिलाजतुमागधिकाधिकं गुडजलं प्रपिबेत्स जलामयी ॥ 69 ॥

भावार्थ : मूत्रामय से पीड़ित रोगी को 16 तोले आंवले का रस, अथवा उसमें ईख का रस मिलाकर पीना चाहिए। एवं छोटी इलायची शिलाजीत पीपल इन को गुड़ जल के साथ पीना चाहिए।

सत्रुटिरामठचूर्णयुतं पयो। घृतगुडान्वितमत्र पिबेन्नरः ॥
विविधमूत्रविघातकृतामया-नधिकशुक्रमयानपि नाशयेत् ॥ 70 ॥

भावार्थ : छोटी इलायची व हींग के चूर्ण में घी गुड़ मिलाकर, दूध के साथ पीने से नाना प्रकार के मूत्रकृच्छ्र रोगों को एवं शुक्रगत मूत्र रोगों को भी नाश करता है।

क्षारोदक

यवजपाटलबिल्व निदिग्धिका। तिलजकिंशुकभद्रकभस्मनि-।
सृतजलं सवरागविलंगमूषकफलै : त्रुटिभिः परिमिश्रितं ॥ 71 ॥
प्रसृतमेतदथार्धयुतं च वा। घृतगुडान्वितमेव पिबेन्नरः।
सकलभक्षणभोजनपानकान्यनुदिनं विदधीत तथामुना ॥ 72 ॥

भावार्थ : जौ का पंचांग, पाढल, बेल, कटेली, तिल का पंचांग, ढाक, नागरमोथा इनको जलाकर भस्म करें। इसे पानी में घोलकर छान लेवें। इस क्षार जल में दाल-चीनी, विडंग, तरुमूषिक

1. कृतं इति पाठांतरं।

(वृक्ष जाति की मूसाकानी) के फल व छोटी इलायची के चूर्ण को मिलावें। फिर इसे घी गुड़ के साथ 8 तोला अथवा 4 तोला प्रमाण प्रमेहरोगी पीवें। एवं इसी क्षार से सम्पूर्ण भक्ष्य, भोजन पानक आदिकों को बनाकर प्रतिदिन खाने को देवें।

त्रुटयादियोग

विविधमूत्ररुजामखिलाश्मरीमधिकशर्करयासह सर्वदा॥
शमयतीह निषेवितमंबुतत्त्रुटिशिलाजतुपिप्पलिकागुडैः॥ 73॥

भावार्थ : छोटी इलायची शिलाजित, पीपल व गुड़ इनको पानी के साथ सेवन करें तो नानाप्रकार के मूत्र रोग सर्वजाति के अश्मरी रोग भी शमन होते हैं।

अथ योनिरोगधिकारः

योनिरोग चिकित्सा

अथ च योनिगतानखिलामयान्निजगुणैरुपलक्षितलक्षणान्।
प्रशमयेदिह दोषविशेषत : प्रतिविधाय भिषग्विविधौषधैः॥ 74॥

भावार्थ : सम्पूर्ण योनिरोग, जो उनके कारणभूत, तत्तदोषों के लक्षणों से संयुक्त है उनको, उन-उन दोषानुसार , नानाप्रकार की औषधियों से चिकित्सा करके वैद्य शमन करें।

विशेष : मिथ्या आहार-विहार, दुष्टार्तव, शुक्रदोष व दैववशात् योनि रोग की उत्पत्ति होती है। इसके मुख्यतः वातज, पित्तज, कफज, सन्निपातज, इस प्रकार चार भेद हैं। अर्थात् प्रत्येक के पाँच-पाँच भेद हैं। इस प्रकार योनिरोग के भेद 20 होते हैं ।

वातज योनि रोग

1. जिस योनि से झाग (फेन) मिला हुआ रज बहुत कष्ट से बहे, उसे उदावर्ता योनि कहते हैं ।
2. जिस योनी का आर्तव नष्ट हो गया हो, उसे वंध्या कहते हैं।
3. जिसको निरंतर पीड़ा होती हो, उसे विप्लुता कहते हैं।
4. मैथुन करने के समय में जिसमें अत्यन्त पीड़ा होती हो, उसे विप्लुता कहते हैं।
5. जो योनि कठोर व स्तब्ध होकर शूल तोद युक्त होवे, उसको वातला कहते हैं।

ये पाँचों इनके वातोद्रेक के लक्षण पाये जाते हैं। लेकिन वातला में अन्यों की अपेक्षा अधिक लक्षण मिलते हैं।

पित्तज योनि रोग

1. जिस योनि से दाह के साथ रक्त बहे उसे लोहितक्षया कहते हैं।
2. जो योनि रज से संयुक्त शुक्र को वात के साथ वमन करें (बहावें) उसे वामिनी कहते हैं।

3. जो स्वस्थान से भ्रष्ट हो उसे प्रस्रंसिनी कहते हैं।
4. जिस योनि में रक्त के कम होने के कारण, गर्भ ठहर-ठहर कर गिर जाता है, उसे पुत्रघ्नी कहते हैं।
5. जो दाह, पाक (पकना) से युक्त हो, साथ ज्वर भी हो इसे पित्तल्ला कहते हैं।

उपरोक्त पाँचों योनि रोग पित्त से उत्पन्न होते हैं, अतएव उनमें पित्तोद्रेक के लक्षण पाये जाते हैं, लेकिन पित्तला में पित्त के अत्यधिक लक्षण प्रकट होते हैं।

कफज योनि रोग

1. जो योनि, अत्यधिक मैथुन करने पर भी, आनंद को प्राप्त न हो, उसे अत्यानंदा कहते हैं।
2. जिसमें कफ व रक्त के कारण से कर्णिका (कमल के बीच में जो कर्णिका होती है, वैसे ही मांसकंद) उत्पन्न हो, उसे कर्णिनी कहते हैं।
3. जो योनि मैथुन के समय में अच्छी तरह होने के पूर्व अर्थात् जरा से मैथुन से ही पुरुष के पहले द्रवित हो जावें और इसी कारण से बीज को ग्रहण नहीं करे उसे अचरणा कहते हैं।
4. जो बहु वार मैथुन करने पर भी पुरुष के पीछे द्रवीभूत होवें अतएव गर्भधारण न करे उसे अति चरणा कहते हैं।
5. जो पिच्छिल (लिवलिवाहट युक्त) खुजली युक्त व अत्यन्त शीत होवें, उसे श्लेष्मला कहते हैं।

उपरोक्त पाँचों रोगों में श्लेष्मोद्रेक के लक्षण पाये जाते हैं, श्लेष्मला में अन्यों की अपेक्षा अधिक लक्षण प्रकट होते हैं।

सन्निपातज योनिरोग

1. जो योनि रज से रहित है, मैथुन करने में कर्कश मालूम होती है, (जिस स्त्री के स्तन भी बहुत छोटे हों) उसे षंण्डी कहते हैं ।
2. बड़ा लिंग युक्त पुरुष के साथ मैथुन करने से जो अण्ड के समान बाहर निकल आती है, उसे अण्डली (अण्डिनी) योनि कहते हैं।
3. जिसका मुख अत्यधिक विवृत (खुला हुआ) हो और योनि भी बहुत बड़ी है, वह विवृता कहलाती है।
4. जिसके मुख सुई के नोंक के सदृश छोटी है, उसे सूचीवक्त्रा योनि कहते हैं।
5. जिसमें तीनों दोषों के लक्षण प्रकट होते हैं, उसे सन्निपातिका कह सकते हैं।

यद्यपि उपरोक्त पाँचों रोगों में भी तीनों दोषों के लक्षण मिलते हैं। सन्निपातिका में उनका बाहुल्य होता है।

सर्वज योनि रोग चिकित्सा

अखिलदोषकृतान्परिहृत्य तान् पृथगुदीरितदोषयुतामयान्।
उपचरेद्घृपानविरेचनैर्विधिकृतोत्तरबस्तिभिरप्यलम् ॥ 75॥

भावार्थ : सन्निपातज योनि रोगों को असाध्य समझकर छोड़ें और पृथक्–पृथक् दोषों से उत्पन्न योनि को घृत पान विरेचन व बस्ति आदि प्रयोग से उपचार करना चाहिए।

वातला योनि चिकित्सा

पुरुषकर्कशशूलयुतासु योनिषु विशेषितवातहरौषधैः।
परिविपक्क घटोद्भव[1]वाष्पतापनमुशंति वशीकृतमानसाः॥ 76॥

भावार्थ : जिस योनिरोग में योनि कठिन, कर्कश व शूल युक्त होती है, उसे (वातला योनि को) वातहर विशिष्ट औषधियों से सिद्ध काढ़े को, एक घड़े में भरकर उससे उत्पन्न, बाष्प (बांफ) से, (कुंभी स्वेद से) स्वेदन (सेकना)करना चाहिए। ऐसा मन को वशीभूत करने वाले महापुरुषों (मुनियों) ने कहा है।

अन्य वातज योनिरोग चिकित्सा

लवणवर्गयुतैर्मधुरौषधैः घृतपयोदधिभिः परिभावितैः[2]।
अनिलयोनिषु पूरणमिष्यते तिलजमिश्रितसत्पिचुनाथवा॥ 77॥

भावार्थ – वात विकार से उत्पन्न (अन्य) योनि रोगों में लवणवर्ग और मधुरौषधियों को घृत, दूध व दही की भावना देकर चूर्ण करके योनि में भरना चाहिए अथवा तिल से भिगोया गया पिचू (पोया) को योनि में रखना चाहिए।

पित्तज योनिरोग चिकित्सा

तदनरूपगुणौषधिसाधितैरहिमवारिभिरेव च धावनम्।
अधिकदाहयुतास्वपि योनिषु प्रथितशीतविधानमिहाचरेत्॥ 78॥

भावार्थ : वातज योनिरोग से पीड़ित योनि को उसके अनुकूल गुणयुक्त (वातनाशक) औषधियों से सिद्ध (पकाया हुआ) गरम पानी से ही धोना चाहिए। अत्यन्त दाहयुक्त (पैत्तिक) योनि रोगों में शीत क्रिया करनी चाहिए।

कफज योनि रोगनाशक प्रयोग

नृपतरुत्रिफलाधिकधातकीकुसुमचूर्णवरैरवचूर्ण्य धा–।
वनमपीह कषायकषायितैः कुरुकफोत्थितपिच्छिलयोनिषु॥ 79॥

1. घटोत्कट इति पाठांतरं, 2. परिपाचितैः इति पाठांतरं।

भावार्थ : जो योनि दुर्गंधयुक्त व पिच्छिल हो, उस पर अमलतास का गुदा त्रिफला अधिक भाग (पूर्वोक्त औषधियों की अपेक्षा) धाय के फूल, इनको अच्छी तरह से चूर्ण करके बुरखना चाहिए और (इन्हीं) कषैली औषधियों के काढ़े से धोना भी चाहिए।

कफजयोनिरोग चिकित्सा

प्रचुरकण्डुरयोनिषु तक्ष्णिभेषजगणैर्बृहतीफलसैंधवैः।

प्रतिदिनं परिपूरणमिष्टमित्यहिममूत्रगणैरपि धावनम्॥ 80॥

भावार्थ : जिसमें अत्यधिक खुजली चल रही हो, ऐसे कफज योनि रोगों में तीक्ष्ण औषधियाँ तथा कटेहरी के फल, सैंधानमक, इनके चूर्ण को प्रतिदिन भरना चाहिए तथा गरम किए हुए गोमूत्र, बकरी के मूत्र आदि मूत्र वर्ग से धोना भी चाहिए।

कर्णिनी चिकित्सा

प्रबलकर्णवतीष्वपि शोधनैः कृतसुवर्तिमिहाकधिकभेषजैः।

इह विधाय विशोधनसर्पिषा, प्रशमयेदथवाकुंरलेपनैः॥ 81॥

भावार्थ : कर्णिनी योनिरोग को शोध की वशिष्ट औषधियों द्वारा निर्मित बत्ती (योनि पर) रखना उन्हीं औषधियों से सिद्ध घृत, पोया (पिचू) धारण कराना व पिलाना चाहिए एवं अर्शनाशक लेपों के लेपन से शमन करना चाहिए।

प्रस्रंसिनीयोनिरोग चिकित्सा

अपि च योनिमिहात्यवलंबिनीं, घृतविलिप्ततनुं प्रविवेशितम्।

तिलजजीरकया प्रपिधाय तामधिकबंधनमेवसमाहरेत् ॥82॥

भावार्थ : नीचे की ओर अत्यन्त लटकती हुई (प्रस्रंसिनी) योनि को घृत का लेपन करके फिर तिल के तेल व जीरे से उसे ढककर अर्थात् उनके कल्क को उस पर रख, उसे उच्छी तरह बांधना चाहिए।

योनिरोग चिकित्सा का उपसंहार

इति जयेत्क्रमतो बहुयोनिजामयचयान्प्रतिदोषकृतोषधैः।

निखिलधावनधूपनपूरणैः मृदुविलेपनतर्पणबंधनैः॥ 83॥

भावार्थ : इस प्रकार बहुत से प्रकार के योनिजरोगों को क्रम से तत्तद्दोष नाशक औषधियों से घावन, (धोना) धूपन (धूप देना) पूरण, (भरना) लेपन तर्पण व बंधन विधि के प्रयोग कर जीतना चाहिए।

अथ गुल्मरोगाधिकारः

गुल्म निदान

अथ पृथङ्निखलैः पवनादिभिर्भवति गुल्मरुगुग्रतरो नृणाम्।
रुधिरजो वनितासु च पंचमो विदितगर्भगताखिललक्षणः॥ 84॥

भावार्थ : वात, पित , कफ सन्निपात एवं स्त्रियों के रज के विकार से , पाँच प्रकार (वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक सान्निपातीक, रक्तज) के भयंकर गुल्मरोग[1] उत्पन्न होते हैं, जिनमें आदि के गुल्म स्त्री-पुरुष दोनों को ही होते हैं, लेकिन रक्तज गुल्म स्त्रियों में होता है पुरुषों में नहीं। दोषज गुल्मों में तत्तद्दोषों के लक्षण पाये जाते हैं। सन्निपातिक में त्रिदोषों के लक्षण प्रकट होते हैं। रक्तज[2] गुल्म में पैत्तिक लक्षण मिलते हैं। औरों की अपेक्षा इसमें इतनी विशेषता होती है कि इसमे गर्भ के सभी लक्षण (जैसे मुँह से पानी छूटना, मुखमंडल पीला पड़ जाना, रतन का अग्रभाग काला हो जाना आदि) प्रकट होते हैं, लेकिन गर्भ में तो हाथ पैर आदि प्रत्येक अवयव शूल रहित फड़कता है। यह पिंड रूप में दर्द के साथ फड़कता है। गर्भ और गुल्म में इतना ही अंतर है।

गुल्मचिकित्सा

अधिकृताखिलदोषनिवारणौषधवरैः सुविरिक्तशरीरिणाम्।
अपि निरूहगणैरनुवासनैः प्रशमयेद्बुधिरेपि च पित्तवत्॥ 85॥

भावार्थ : गुल्म रोग में अच्छी तरह विरेचन कराकर वातादिक दोषों के उद्रेक को पहचान कर उन दोषों के उपशामक औषधियों का प्रयोग करना चाहिए तथा निरूहण बस्ति भी देनी चाहिए। रक्तविकारज गुल्म रोग में पित्तज गुल्म के समान चिकित्सा करनी चाहिए।

गुल्म में भोजन भक्षणादि

अखिलभोजनभक्षणपानकान्यनिलरोगिषु यानि हितानि च।
अधिकगुल्मिषु तापबंधनान्यनुदिनं विदधीत विधानवित्॥ 86॥

भावार्थ : जो भोजन, भक्षण पानक आदि वातिक रोगियों के लिए हितकर है, उन सबको गुल्मरोग से पीड़ित रोगी को भोजनादि कार्यों में देना चाहिए एवं चिकित्सा विधान को जानने वैद्य प्रतिदिन स्वेदन बंधन आदि प्रयोगों को प्रयुक्त करें।

---

1. **गुल्म का सामान्य लक्षण** - हृदय व मूत्राशय के बीच के प्रदेश में चंचल (इधर उधर फिरने वाला) वा निश्चल, कभी-कभी घटने बढ़ने वाला गोल ग्रंथी (गांठ) उत्पन्न होता है, इसे गुल्म कहते हैं।
2. यह रोग पुराना होने से सुख साध्य होता है, इसकी चिकित्सा दस महिने बीत जाने के बाद करनी चाहिए।

गुल्मनाशक प्रयोग

अनिलरोगहरैर्लवणैस्तथोदरिषु च प्रतिपादितसर्पिषा।
उपचरेदिह गुल्मविकारिणां, मलविलोडनवर्तिभिरप्यलम्॥ 87॥

भावार्थ : गुल्मरोग में वातविकार को दूर करने वाले लवणों से एंव उदर रोग में हुए घृत से चिकित्सा करनी चाहिए। तथा मल को नाश करने वाली वर्तियों (बत्ति) के प्रयोग से भी उपचार करना चाहिए।

गुल्मघ्नयोगांतर

तिलजसर्षपतैलसुभृष्टपल्लवगणान् नृपपूतिकरंजयोः।
लवणकांजिकया सह भक्षयेदुदरगुल्मविलोडनसत्पटून्॥ 88॥

भावार्थ : आरग्वध व पूति करंजे के कोंपल पत्तों को तिल के तेल व सरसों के तेल के साथ भूजकर उसे नमकीन कांजी के साथ खिलाना चाहिए। वह गुल्मरोग को नाश करने के लिए समर्थ है।

विशिष्ट प्रयोग

मलनिरोधनतः पयसा यवोदनमथाप्यसकृद्बहु भोजयेत्।
अतिविपक्व सुमाषचयानुलूखलविघृष्टविशिष्टघृताप्लुतान्॥ 89॥

भावार्थ : यदि इस रोग में मलनिरोध हो जाये तो जौका अन्न दूध के साथ बार-बार खिलाना चाहिए। अच्छी तरह पके हुए उड़द को उलूखल (ओखनी) में घर्षण (रगड़) कर के उत्तम घी में भिगोकर खिलाना चाहिए।

गुल्म में अपथ्य

बहुविधालुकमुलकमांसवैदलविशुष्कविरूक्षणशाकभो-।
जनगणान् मधुराणि फलान्यलं परिहरेदिह गुल्मविकारवान्॥ 90॥

भावार्थ : गुल्मरोग से पीड़ित मनुष्य बहुत प्रकार के रतालु, पिडांलु आदि आलू, मुली, द्विदल (मूंग मसूर आदि) धान्य, सूखा व रूक्ष शाक व इनसे संयुक्त भोजन समूहों को एवं मीठे फलों (केला आदि) को नहीं खावें।

अथ पांडुरोगाधिकारः

पांडुरोगनिदान

अथ च पाण्डुगदांश्चतुरो ब्रुवे पृथगशेषविशेषितदोषजान्।
विदितपांण्डुगुणप्रविभावितान् अपि विभिन्नगुणान्गुणमुख्यतः॥ 91॥

भावार्थ : अब वात, पित्त, कफ व सन्निपात से उत्पन्न, जिनके होने पर शरीर में पाण्डुता आती

है, दोषों के गौण मुख्य भेद से विभिन्न प्रकार के गुणों से युक्त हैं। (अर्थात् सभी प्रकार के पांडुरोगों में पांडुपना यह समान गुण [लक्षण] रहता है। लेकिन वातज आदि में दोषों के अनुसार भिन्न-भिन्न लक्षण भी मिलते हैं)ऐसे चार प्रकार के पाण्डु रोगों को कहेंगे।

वातज पांडुरोग लक्षण

असितमूत्रसिराननलोचनं। मनखान्यसितानि च यस्य वै।
मरुदुपद्रवपीडितमातुरं। मरुदुदीरितपाण्डुगदं वदेत्॥ 92॥

भावार्थ : मूत्र, सिरा, मुख, नेत्र, मल, नख आदि जिसके काले हों और वह वातज अन्य उपद्रवों से पीड़ित हो तो उसे वातविकार से उत्पन्न पाण्डुरोग समझना चाहिए अर्थात् यह वातिक पांडुरोग का लक्षण है।

पित्तज पाण्डुरोग लक्षण

निखिलपीतयुतं निजपित्तजं धवलवर्णमपीह कफात्मजम्।
सकलवर्णगुणत्रितयोत्थितं प्रतिवदेदथ कामलक्षणम्[1]॥ 93॥

भावार्थ : उपर्युक्त अवयव जिसमें पीले हों (पित्त के अन्य उपद्रव भी होते हैं) उसे पित्तज पाण्डु समझें। और सफेद वर्ण हो (कफजन्य अन्य उपद्रवों संयुक्त हो) तो कफज पाण्डु कहें और तीनों वर्ण एक साथ रहें, तो सन्निपातज समझें। अब आगे कामला रोग के स्वरूप को कहेंगे।

कामला निदान

प्रशमितज्वरदाहनरोऽचिरा - दधिकमम्लमपथ्यमिहाचरेत्।
कुपितपित्तमतोस्य च कामला मधिकशोफयुतां करुते सितां॥ 94॥

भावार्थ : जिसका ज्वर दाह पाण्डु आदि रोग शांत हो गए हों, किंतु (शांत होते ही) शीघ्र अत्यधिक खटाई और अन्य (पित्तोद्रेक करने वाले) अपथ्य पदार्थों को खाता है व अपथ्याचरण को करता है उसका पित्त प्रकुपित होकर, शरीर को एकदम सफेद (या पीला) करता है, भयंकर सूजन उत्पन्न करता है (तंद्रा निर्बलता आदि को पैदा करता है) जिसे कामला रोग कहते हैं।

पाण्डुरोग चिकित्सा

अभिहितक्रमपाण्डुगदातुरो। विदितशुद्धतनुर्घृतशर्करा-॥
विललितत्रिफला[2]-मथवा निशाद्वयमयस्त्रिकटुं सततं लिहेत्॥ 95॥

---

1. कामिलयान्यथा इति पाठांतरं।
2. इसका अर्थ इस प्रकार भी हो सकता है कि त्रिफला के चूर्ण अथवा हल्दी दारुहल्दी के चूर्ण अथवा लोहभस्म, अथवा सोंठी मिरच पींपल के चूर्ण को घी शक्कर के साथ चाटना चाहिए।

भावार्थ : उपर्युक्त प्रकार के पाण्डुरोगों से पीड़ित रोगी को सबसे पहले वमन विरेचनादि से शरीर शोधन करना चाहिए। हरड़, बहेड़, आँवला, सोंठ, मिरच, पीपल इनके चूर्ण को अथवा हल्दी दारुहल्दी, सोंठ, मिरच, पीपल इनके चूर्ण को लोहभस्म के साथ घी मिलाकर सतत् चाटना चाहिए।

पाण्डुरोगघ्न योग

अपि विडंगयुतत्रिफलांबुदान्। त्रिटुचित्रकधात्र्यजमोदकान्।
अति विचूर्ण्य गुडान् सघृताप्लुतान्। निखिलसारतरूदकसाधितान्॥96॥
इति विपक्व मिदं बहलं लिहन्। जयति पाण्डुगदानथ कामलाम्॥
अपि च शर्करया त्रिकटुं तथा। गुडयुतं च गवां पय एव वा॥ 97॥

कामला की चिकित्सा

यदिह शोफचिकित्सितमीरितं तदपि कामलिनां सततं हितम्।
गुडहरीतकमूत्रसुभस्मनिसृतजलं यवशालिगणौदनम्॥ 98॥

भावार्थ : वायविडंग, त्रिफला (सोंठ, मिरच, पीपल) नागरमोथा, त्रिकटु, चित्रक, आमला, अजवाईन इनको अच्छी तरह चूर्णकर घी व गुड़ में भिगोयें। फिर इसमें शालसारदि गणोक्त वृक्षों के क्वाथ डालकर तब तक पकावें, जब तक वह अवलेह के समान गाढा न हो। यह इस प्रकार सिद्ध औषध सर्व पाण्डुरोगों को जीतता है। एवं कामला रोग को भी जीतता है तथा शक्कर के साथ त्रिकटु अथवा गुड़ के साथ गाय का दूध सेवन करना भी हितकर है। शोफ विकार के लिए जो चिकित्सा कही गई है उसका उपयोग कामला में करना हितकर है। गुड़, हरड़ गोमूत्र, लोहभस्म इनको एकत्र डालकर पकावें। यह काढ़ा देना और जौ शालि आदि भोजन के लिए उपयोग करना हितकारी होता है।

पाण्डुरोग का उपसंहार

एवं विद्वान कथितगुणवान् अप्यशेषान विकारान्।
ज्ञात्वा दोषप्रशमनपरैरौषधैस्साधयेत्तान्॥
कार्य यस्मान्न भवति विना कारणैर्द्विप्रकारैर्भूयो
भयः तदनुकथनं पिष्टसंपेषणार्थम्॥ 99॥

भाावार्थः- इस प्रकार उपर्युक्त रोगों के व अन्य सर्व विकारों के दोष क्रम को विद्वान् वैद्य जानकर उनको उपशमन करने वाले योग्य औषधियों से उनकी चिकित्सा करें। यह निश्चित है कि बिना अंतरङ्ग व बहिरङ्ग कारण के कार्य होता ही नहीं। इसलिए बार-बार उसका कथन करना वह पिष्टपेषण के लिए हो जायेगा।

अथ मूर्च्छोन्मादापस्माराधिकारः

मूर्च्छोन्मादावपि पुनरपस्माररोगोऽपि दोषै।
रंतर्बाह्याखिलकरण - संछादकैर्गौणमुख्यैः॥
उत्पन्नास्ते तदनुगुणरूपौषधैस्तान्विदित्वा।
सर्वेष्वेषु प्रबलतरपित्तं सदोपक्रमेत॥ 100॥

भावार्थ : मूर्च्छा (बेहोश हो जाना) उन्माद (पागल हो जाना) व अपस्मार (मिर्गी) रोग, बाह्यांभ्यतर कारणों से कुपित होकर शरीर को आच्छादित करने वाले और गौणमुख्य भेदों से युक्त वातादि दोषों से ही उत्पन्न होते हैं। इसलिए उपरोक्त रोगों में दोषों के बलाबल को अच्छी तरह जान कर उनके अनुकूल अर्थात् उनको उपशमन आदि करने वाले औषधियों से चिकित्सा करनी चाहिए लेकिन उन तीनों में पित्त की प्रबलता रहती है। इसलिए उनमें हमेशा (विशेषकर) पित्तोपशमन क्रिया करें, तो हितकर होता है।

मूर्च्छानिदान

दोषव्याप्तस्मृतिपथयुतस्याशु मोहस्तमोरू-
पेण प्राप्नोत्यनिशमिह भूमौ पतत्येव तस्मात्॥
मूर्च्छामाहुः क्षतजविषमद्यैस्सदा षडिधास्ताः।
षट्स्वप्येवं भिषगिह महान् पित्तशांतिं प्रकुर्यात्॥ 101॥

भावार्थ : संज्ञावाहक नाड़ियों में जब दोष व्याप्त हो जाते हैं, तो आँखों के सामने अंधेरा-सा मालूम होकर रोगी भूमि पर पड़ता है। उस समय सर्व इन्द्रिय दोषों के प्रबल विकार से आच्छादित रहने से रूपादिक ज्ञान नहीं करते, उसे मूर्च्छारोग कहते हैं। रक्तज[1] विषज[2] व वातज, पित्तज व कफज व मद्यज[3] इस प्रकार यह रोग छह प्रकार का है। इन छहों प्रकार की मूर्च्छाओं में पित्त शांति की क्रिया को करनी चाहिए। क्योंकि सबमें पित्त की प्रबलता रहती है।

मूर्च्छा चिकित्सा

स्नानालेपाशनवसनपान- प्रदेहानिलाद्याः।
शीतास्सर्वे सततमिह मुर्च्छासु सर्वासु योज्याः॥
द्राक्षा यष्टीमधुककुसुमक्षीरसर्पिःप्रियालाः।
सेक्षुक्षीरं चणकचणकाः शर्कराशालयश्च॥ 102॥

1. रक्त के गंध को सूंघने से उत्पन्न
2. विष भक्षण से उत्पन्न
3. मदिरा पीने से उत्पन्न

भावार्थ : इन सब मूर्च्छाओं में स्नान, लेपन भोजन, वस्त्र, पान, वायु आदि में सर्व शीतपदार्थों का उपयोग करना चाहिए (अर्थात् ठण्डे पानी से स्नान कराना, ठण्डे औषधियों का लेप, ठण्डे पंखे की हवा आदि करना चाहिए।) मुलैठी धाय के फूल, द्राक्षा, दूध, घी, चिरोंजी, गन्ने का रस, चना, अतसी (अलसी) शक्कर शाली, आदि का खाने में उपयोग करना हितकर है।

उन्माद निदान

उन्मार्गसंक्षुभितभूरिसमस्तदोषा। उन्मादमाशु जनयंत्याखिलाः पृथक् च॥
शोकेन चान्य इति पंचविधा विकारास्ते मानसाः कथितदोषगुणा भवंति॥ 103॥

भावार्थ : जिस समय वात पित्त कफ, तीनों एक साथ व अलग-अलग कुपित होकर अपने-अपने मार्ग छोड़कर उन्मार्गगामी (मनोवह धमनियों में व्याप्त) होते हैं, तो उन्माद रोग उत्पन्न होता है अर्थात् वह व्यक्ति पागल हो जाता है। यह दोषों से चार (वातादिक से तीन सन्निपात से एक) शोक से एक इस प्रकार पाँच भेद से विभक्त हैं। ये पाँचों प्रकार के उन्माद मानसिक रोग हैं। इनमें पूर्वोक्त क्रम से, दोषों के गुण (लक्षण) भी होते हैं।

वातिक उन्माद के लक्षण

नृत्यत्यति प्रलपति भ्रमतीह गाय-। त्याक्रोशति स्फुटमत्यथ कंपमानः॥
आस्फोटयत्यनिलकोपकृतोन्मदार्तो। मर्त्योऽतिमत्त इव विस्तृतचित्तवृतिः॥ 104॥

भावार्थ : वातप्रकोप से उत्पन्न उन्माद रोग में मनुष्य विशाल मनोव्यापार वाला होते हुए मदोन्मत की तरह कांपते हुए नाचता है, बहुत बड़बड़ करता है। गाता है। किसी को गाली देता है। बाजार में आवारा फिरता है। ताल ठोकता है।

पैत्तिकोन्माद का लक्षण

शीतप्रियः शिथिलशीतलगात्रयष्टिः। तीक्ष्णातिरोषणपरोऽग्निशिखातिशंकी॥
तारास्य पश्यति दिवाप्यतितीव्रदृष्टी। उन्मादको भवति पित्तवशान्मनुष्यः॥ 105॥

भावार्थ : पित्तप्रकोप से जो मनुष्य उन्मादी हो गया हो। उसे शीतपदार्थ प्रिय होते हैं। उसका शरीर गरम होता है। वह तीक्ष्ण रहता है। उसे बहुत तीव्र क्रोध आता है। सर्वत्र उसे अग्निशिखा की शंका होती है। उसकी दृष्टी इतनी तीव्र रहती है दिन में भी वह तारावों को देख लेता है।

श्लेष्मिकोन्माद

स्थूलोल्परुग् बहुकफोल्पभुगुष्णसेवी। निद्रालुरल्पकथकः सभवेत्स्थिरात्मा॥
रात्रावतिप्रबलमुग्धमतिर्मनुष्यः। श्लेष्मप्रकोपकृतदुर्मथनोन्मदार्तः॥ 106॥

भावार्थ : कफप्रकोप से जो मनुष्य उन्माद से पीड़ित होता है वह मनुष्य स्थूल, अल्पपीड़ावाला, बहुकफ से युक्त, अल्पभोजी, उष्णप्रिय, निद्रालु व बहुत कम बोलने वाला, चंचलता से रहित होता है।

रात्रि में उसकी बुद्धि में अत्यधिक विभ्रम होता है अर्थात् रात्रि में रोग बढ़ जाता है। यह कठिन रोग है।

सन्निपातज, शोकज उन्मादलक्षण

स्यात्सन्निपातजनितास्त्रिविधैः त्रिदोष-। लिंगैः समीक्षितगुणो भवतीह कृच्छ्रः॥
अर्थक्षयादधिकबंधुवियोगतो वा। कामाद्भयादपि तथा मनसो विकारः॥ 107॥

भावार्थ : सन्निपातज उन्मादरोग में तीनों दोषज उन्माद में कहे गए चिह्न प्रकट होते हैं। यह भी कठिन साध्य होता है तथा धननाश , निकट बंधुवियोग, काम व भय आदि से (शोक उत्पन्न होकर) भी उन्माद रोग होता है।

उन्मादचिकित्सा

उन्मादबाधितनुं पुरुष सदोषैः। स्निग्धं तथोभयविभागविशुद्धदेहं॥
तीक्ष्णावपीडनशतैः शिरसो विरेकैः। धुपैस्सपूतिभिरतः समुपक्रमेत॥ 108॥

भावार्थ : उन्माद से पीड़ित मनुष्य को दोषों के अनुसार स्नेहन व स्वेदन कराकर वमन विरेचन से शरीर के ऊपर व नीचे के भागों को शोधन कराना चाहिए। फिर उसे अनेक प्रकार के तीक्ष्ण अवपीठननस्य, शिरोविरेचन और दुर्गंधयुक्त धुन के प्रयोग से चिकित्सा करनी चाहिए।

नस्य व त्रासन

नस्यानुलेपनमपीह हितं प्रयोज्यं। तैलेन तीक्ष्णतरसर्षपजेन युक्तम्॥
सुत्रासयेद्विविधनागतृणाग्नितोयै-। श्चोरैर्गजैरपि सुशिक्षितसर्वकार्यैः॥ 109॥

भावार्थ : इस रोग में हितकर नस्य व लेप को तीक्ष्ण सरसों के तैल के साथ प्रयोग करना चाहिए। और अनेक प्रकार के निर्विषसर्प, घास, अग्नि, पान, चोर, हाथी व अन्य शिक्षाप्रद अनेक कार्यों से उस उन्मादी का भय व त्रास पहुँचाना चाहिए।

उन्मादनाशक अन्यविधि

कूपेऽतिपूतिबहुभीमशवाकुलेऽस्मिन्। तं शाययेदतिमहाबहलांधकारे॥
सम्यग्ललाटतटसर्वशिराश्च लिद्ध्वा। रक्तप्रमोक्षणमपीह भिषग्विदध्यात्॥ 110॥

भावार्थ : अंधेरे कुएँ में और जहाँ अत्यन्त भयंकर अनेक शव पड़े हों और अत्यधिक दुर्गंध आ रही हो एवं अंधकार हो वहाँ उस उन्मादी को सुलाना[1] चाहिए। तथा कुशल वैद्य रोगी के ललाट में रहने वाले सर्व शिराओं को व्यथन करके रक्तमोक्षण भी करें।

1. उपरोक्त कार्यों को करने से प्रायः उसका दिल ठिकाने में आ जाया करता है।

उन्माद में पथ्य

स्निग्धातिधौतमधुरातिगुरूप्रकार। निद्राकराणि बहुभोजनपानकानि॥
मेधावहान्यतिमदप्रशमैकहेतून्। संशोधनानि सततं विदधीत दोषान्॥ 111॥

भावार्थ : उन्मादी की बुद्धि को ठिकाने में लाने वाले और मदशमन के कारण भूत स्निग्ध, अतिशुद्ध, मधुर, गुरु, निद्राकारक ऐसे बहुत प्रकार के भोजनपानादि द्रव्यों को देवें। हमेशा दोषों के शोधन भी करते रहें।

अपस्मार निदान

भयमिह भवत्यप्सु प्राणैर्यतःपरिमुच्यते । स्मरणमपि तत्रैवावश्यं विनश्यति मूर्च्छया॥
प्रबलमरुतापस्माराख्यास्त्रिदोषगुणोप्यसा - वसितहरितश्वेतैर्भूतैः क्षणात्पतति क्षितौ॥ 112॥
भुवि निपतितो दंतान्खादन् वमन् कफमुच्छवसन्। बलिककरगात्रोद्धृत्ताक्षः स्वयं बहु कूजति॥
मरणगुणयुक्तापस्मारोऽयमंतकसन्निभ-। स्तत इह नरो मृत्वा मृत्वात्र जीवति कृच्छ्रतः॥ 113॥

भावार्थ : जिस प्रकार पानी में गिर जाने पर एकदम ऐसा भय उत्पन्न होता है कि अभी प्राण निकल जाते हैं और मूर्च्छा के साथ ही साथ स्मरण (बुद्धि) शक्ति भी नष्ट हो जाती है। उसी प्रकार इस रोग में भी प्राणघातक भय एवं मूर्च्छा के साथ स्मरण शक्ति का भी नाश होता है। इसलिए इसे अपस्मार रोग कहते हैं। यद्यपि ये तीनों दोषों से उत्पन्न होता है फिर भी प्रत्येक में वायु का प्राबल्य रहता है। वात[1], पित्त,कफज अपस्मारों में यथाक्रम से (वेग के आरम्भ में) वह रोगी काला; हरा (अथवा पीला) व सफेदवर्ण के प्राणी व रूप विशेषों को देखकर क्षणमात्र से ही भूमि पर गिर जाता है। जमीन पर गिरा हुआ वह मनुष्य दाँतों को खाते हुए कफ को वमन करते हुए, ऊर्ध्वश्वास व ऊर्ध्वदृष्टि होकर बहुत जोर से चिल्लाता[2] है।

यह अपस्मार यम के समान मरण के गुणों से संयुक्त है अर्थात् मरणपद है। इससे मनुष्य मर मरकर बहुत कष्ट से जीता है अर्थात् यह एक अत्यन्त भयंकर रोग है।

अपस्मार की उत्पत्ति में भ्रम

व्रजति सहसा कस्माद्योऽयं स्वयं मुहुरागतः। कथितगुणदोषैरुद्भूतोऽतिशीघ्रगतागतैः॥
त्वरितमिह सोपस्माराख्यः प्रशाम्यति दोषजो। ग्रहकृत इति प्रायः केचित् ब्रुवंत्यबुधा जनाः॥ 114॥

भावार्थ : शीघ्र गमन व आगमनशील व पूर्वोक्तगुणों से संयुक्त वातादि दोषों से उत्पन्न यह अपस्मार रोग अकस्मात् अपने आप ही आकर, शीघ्र चला जाता है। क्योंकि यह बिना कारण के ही

1. इसका वातज, पित्तज, कफज, सन्निपातज इस प्रकार चार भेद हैं।
2. अपस्मार का सामान्य लक्षण है।

शमन हो जाता है इसलिए कुछ मूर्ख मनुष्य इसको ग्रहों के उपद्रव से उत्पन्न मानते हैं। लेकिन ऐसी बात नहीं है। यह दोषज ही है।

रोगों की विलंबाविलंब उत्पत्ति

कतिचिदिहदोषैरेवाशूद्भवंत्यधिकामयाः। पुनरतिचिरात्कालात्केचित्स्वभावत एव ते॥

सकलगुणसामग्या युक्तोऽपि बीजगणो यथा। प्रभवति भुवि प्रत्यात्मानं चिराचिरभेदतः॥ 115॥

भावार्थ : कई महारोग अपने स्वभाव से ही वातादि दोषों से शीघ्र उत्पन्न होते हैं और बहुत से रोग उन्हीं दोषों से देरी से उत्पन्न होते हैं। ऐसा होना उनका स्वभाव है। जैसे कि जमीन में बोये गए बीजों को पानी, योग्यक्षेत्र आदि सम्पूर्ण गुणयुक्त सामग्रियों के मिलने पर भी बहुत से तो शीघ्र उगते हैं और बहुत से तो देर में। इसी प्रकार मनुष्य के शरीर में भी रोग चिर व (देर) अचिर (शीघ्र) भेद से उत्पन्न होते हैं।

बहुविधकृतव्यापारात्मोरुकर्मवशान्मुहु-। र्मुहुरिह महादोषैः रोगा भवंत्यचिराच्चिरात्॥

सति जलनिधावप्युत्तुंगास्तरंगणास्स्वयं। पृथक् पृथगुत्पद्यंते कदाचिदनेकशः॥ 116 ॥

भावार्थ : शरीर में रोगोत्पत्ति के कारणभूत प्रकुपित दोष मौजूद होने पर भी कोई रोग देर से कोई शीघ्र क्यों उत्पन्न होते हैं। इसके उत्तर में आचार्य कहते हैं कि पूर्व में किए गए नानाप्रकार के व्यापारों से अर्जित कर्म के वशीभूत होकर महान् दोषों से बहुत से रोग शीघ्र उत्पन्न होते हैं बहुत से देर से। जैसे कि समुद्र में (तरंग के कारणभूत)अगाध जलराशि के रहने पर भी कभी-कभी बड़े-बड़े तरंग एक-एक करके (देर-देर से) आते हैं। कभी तो अनेक एक साथ (शीघ्र-शीघ्र) आते हैं।

अपस्मार चिकित्सा

इह कथित समस्तोन्मादभैषज्यवर्गैः। प्रशमयतु सदापस्माररोगं विधिज्ञः॥

सरसमधुकसारोध्दृष्टनस्यैम्समूत्रैः॥ प्रशमनविधियुक्तात्यंततीव्रौषधैश्च॥ 117॥

भावार्थ : चिकित्सा में कुशल वैद्य उन्माद रोग में जो औषधि वर्ग बतलाये गए हैं, उनसे अपस्मार रोग की चिकित्सा कर उपशमन करें। सफेद निशोथ, मुलैठी, वज्रखार इनको गोमूत्र के साथ पीसकर नस्य देवें (सुघावें) एवं अपस्मार रोग को दूर करने वाले तीव्र औषधियों के विधि प्रकार नस्य आदि में प्रयोग से चिकित्सा करें।

नस्यांजन आदि

पुराणघृतमस्य नस्यनयनांजनालेपनै - र्विधेयमधिकोन्मदादिबहुमानसव्याधिषु॥

निरंतरमिहातितीव्रकटुभेषजैश्चूर्णितैस्सदा क्षवथुमत्र सूत्रविधिना समुत्पादयेत्॥ 118 ॥

भावार्थ : अपस्माररोग से पीड़ित मनुष्य को आँख मे घी का अंजन और उसी का लेप भी करें। बढ़ा हुआ उन्माद आदि मानसिक रोगों आदि मानसिक रोगों में हमेशा अत्यन्त तीक्ष्ण, कटु (चरपरा)

औषधियों के चूर्ण से, शास्त्रोक्त विधि के अनुसार छींक पैदा करना चाहिए।

भाङ्र्याद्यरिष्ट

भाङ्र्कीकषाययुतमायसचूर्णभाग - मिक्षोर्विकारकृतसन्मधुरं सुगंधि॥
कुंभे निधाय निहितं बहुधान्यमध्येऽपस्मारमाशु शमयत्यसकृन्निपीतम्॥119॥

भावार्थ : भारंगी के कषाय में लोहभस्म व गुड़ मिलाकर एक घड़े में भर देवें। फिर उसे धान्यों की राशि में एक महीने तक रख कर निकाल लेवें। उसे कपूर आदि से सुगधिंत करें, इस सुगंधित व मीठा भाङर्यादि अरिष्ट को बार-बार पीवें, तो अपस्मार रोग शीघ्र ही शमन होता है।

अंतिम कथन

इति जिनवक्त्रनिर्गतसुशास्त्रमहांबुनिधेः। सकलपदार्थविस्तृततरंगकुलाकुलतः॥
उभयभवार्थसाधनतटद्वयभासुरतो। निसृतमिदं हि शीकरनिभं जगदेकहितम्॥ 120॥

भावार्थ : जिसमें संपूर्ण द्रव्य, तत्त्व व पदार्थ रूपी तरंग उठ रहे हैं, इहलोक और परलोक के लिए प्रयोजनभूत साधन रूपी जिसके दो सुंदर तट हैं,ऐसे श्रीजिनेन्द्र के मुख से उत्पन्न शास्त्रसमुद्र से निकली हुई बूँद के समान यह शास्त्र है साथ में जगत् का एक मात्र हितसाधक है। (इसलिए ही उसका नाम कल्याणकारक है)।

इत्युग्रामदित्याचार्यविरचित कल्याणकारके चिकित्साधिकारे
क्षुद्ररोगचिकित्सितं नामादितः सप्तदश परिच्छेदः

इत्युग्रादित्याचार्यकृत कल्याणकारक ग्रन्थ के चिकित्साधिकार में विद्यावाचस्पतीत्युपाधिविभूषित **वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री** द्वारा लिखित **भावार्थदीपिका टीका** में क्षुद्ररोगाधिकार नामक **सत्रहवां परिच्छेद** समाप्त हुआ।

अथाष्टदशः परिच्छेदः

मंगलाचरण

मम मनसि जिनेन्द्र श्रीपदांभोजयुग्मं । भवतु विभवभव्याशेषमत्तालिवृंदे-॥

रनुदिनमनुरक्तैस्सेव्यमानं प्रतीत-। त्रिभुवनसुखसंपत्प्राप्तिहेतुर्नराणाम्॥ 1॥

भावार्थ : श्री जिनेन्द्र भगवान् में आसक्त (अत्यन्त श्रद्धा रखने वाले) वैभवयुक्त सम्पूर्ण भव्यरूपी मदोन्मत्त भ्रमर समूह जिसको प्रतिदिन सेवता है और जो तीनों लोक में स्थित, प्रसिद्ध सम्पूर्ण सुख-सम्पत्ति के प्राप्ति के कारण हैं, ऐसे श्री जिनेन्द्र भगवान् के दिव्य चरण कमल युगल मेरे मन (हृदय) में हमेशा विराजता रहें।

अथ राजयक्ष्माधिकारः

राजयक्ष्मवर्णनप्रतिज्ञा

अखिलतनुगताशेषामयैकाधिवासं। प्रबलविषमशोषव्याधितत्त्वं ब्रवीमि॥

निजगुणरजचितैस्तैर्दोषभेदानुभेदैः। प्रथमतरसुरूपैरात्मरूपैस्सुरिष्टैः॥ 2॥

भावार्थ : जो सर्व शरीरागत रोगों को आश्रयभूत हैं (अर्थात् जिसके होने पर अनेक श्वास कास आदि रोग उत्पन्न हो जाते हैं) ऐसे प्रबल विषमशोष (क्षय) रोग के स्वरूप को उनके स्वभाव से उत्पन्न उन दोषों के भेदोपभेद, पूर्व रूप, लक्षण व अरिष्टों के साथ कथन करेंगे।

शोषराज की सार्थकता

विविधविषमरोगाशेषसामंतबद्धः। प्रकटितनिजरूपोध्दूतकेतुप्रतानः॥

दुरधिगमविकारो दुर्निवार्योतिवीर्यो। जगदभिभवतीदं शोषराजो जिगीषुः॥ 3॥

भावार्थ : जो नाना प्रकार के विषम रोग समूह रूपी सामंत राजाओं से युक्त हैं, प्रकट किए गए अपने लक्षणरूपी स्वरूप (पराक्रम)से अन्यरोग लक्षणरूपी राजाओं के ध्वजा को जिसने नष्ट कर दिया है। (शरीरराज्य में अपना प्रभुत्व जमा लिया है) जिसके वीर्य (शक्ति व पराक्रम) के सामने

गंभीरामलमूलसंघतिलके श्रीकुंदकुंदान्वये।
गच्छे श्रीपनसोंगवल्यनुगते देशीगणे पुस्तके॥
विख्यातागमचक्षुषोल्ललितकीर्त्याचार्यवर्यस्य ते।
कुर्वेहं परिचर्यकं चरणयोस्सिहांसनश्रीजुषो॥

इति क पुस्तके अधिक पाठोपलभ्यते।

चिकित्सा रूपी शत्रु राजा का ठहरना अत्यन्त दुष्कर है। ऐसा दुरधिगम (जानने के लिए कठिन) शोषराज सब को जीतने की इच्छा से जगत् को परास्त करता है।

क्षय के नामांतरों की सार्थकता

क्षयकरणविशेषात्संक्षयस्स्याद्रसादेरनुदिनमतितापैश्शोषणादेष शोषः॥
नृपतिजनविनाशाद्राजयक्ष्मेति साक्षादधिगतबहुनामा शोषभूपो विभाति॥ 4॥

भावार्थ : रस रक्त आदि धातुओं को क्षय करने के कारण से क्षय उन्हीं धातुओं को अपने संताप (ज्वर) के द्वारा प्रतिदिन शोषण (सुखाना) करते रहने से "**शोष**" राजा[1] महाराजाओं को भी नाश कर देने के कारण "**राजयक्ष्मा**"(राजरोग) इत्यादि अनेक सार्थक नामों को धारण करते हुए क्षयराज संसार में शोभायमान होता है। अर्थात् क्षय, शोष, राजयक्ष्मा इत्यादि तपेदिक रोग के अनेक सार्थक नाम हैं।

शोषरोग की भेदाभेदविवक्षा

अधिकतरविशेषाद्गौणमुख्यप्रभेदात्। पृथगथ कथितोऽसौ शोषरोगःस्वदोषैः॥
सकलगुणनिधानादेकरूपक्रियायास्स भवति सविशेषस्संनिपातात्मकोऽयम्॥ 5॥

भावार्थ : इस रोग में दोषों का उद्रेक अल्पप्रमाण व अधिक प्रमाण में होने के कारण से गौण व मुख्य का व्यवहार होता है। इस गौणमुख्य अपेक्षाभेद के कारण यह शोषरोग पृथक्-पृथक् दोषज (वातज, पित्तज कफज) भी कहा गया है। लेकिन सभी दोषों के लक्षण एक साथ पाये जातै हैं और इसकी चिकित्साक्रम में भी कोई भेद नहीं है। (एक ही प्रकार का चिकित्साक्रम है) इसलिए यह राजयक्ष्मा सन्निपातात्मक होता है।

राजयक्ष्माकारण

मलजलगतिरोधान्मैथुनाद्वा विघाता-दशनविरसभावाच्छ्लेष्मरोधात्सिरासु॥
कुपितसकलदोषैर्व्याप्तदेहस्य जंतो-र्भवति विषमशोषव्याधिरेषोऽतिकष्टः॥ 6॥

भावार्थ : मलमूत्र के रोकने से, अतिमैथुन करने से, कोई घात (चोट आदि लगना) होने से, मधुरादि पौष्टिक रसरहित भोजन करते करने से, रसवाहिनी सिरावों में श्लेष्मा का अवरोध होने से, प्राणियों के शरीर में सर्व दोषों का उद्रेक होने पर यह विषम (भयंकर शोषरोग उत्पन्न हो जाता है। यह अत्यन्त कठिन रोग है।

पूर्व रूप अस्तित्त्व

अनल इव सधूमो लिंगलिंगीप्रभेदात्। कथितबहुविकाराःपूर्वरूपैरुपेताः॥
हुतभुगिह स पश्चाव्यक्तसल्लक्षणात्मा। निजगुणगणयुक्ता व्याधयोप्यत्र तद्वत्॥ 7॥

1. राजा जैसा समर्थ पुरुष भी इस रोग से पीड़ित हो जावें तो रोग मुक्त नहीं होते हैं।

भावार्थ : प्रत्येक पदार्थों को जानने के लिए लिंगलिंगी भेद को जानना आवश्यक है। जिस प्रकार धूम लिंग है। अग्नि लिंगी है। धूम को देखकर अग्नि के अस्तित्त्व का ज्ञान होता है। इसी प्रकार उन शोष आदि अनेक रोगों के लिए भी लिंग रूप अनेक पूर्वरूप विकार होते हैं। तदनंतर जिस प्रकार अग्नि अपने लक्षण के साथ व्यक्त होती है। उसी प्रकार व्यधियाँ भी पश्चात् अपने लक्षणों के साथ-साथ व्यक्त हो जाती हैं।

क्षय का पूर्वरूप

बहुबहलकफातिश्वासविश्वांगसादः। वमनगलविशोषात्यग्निमांद्योन्मदाश्च॥
धवलनयनता निद्राति तत्पीनसत्वं। भवति हि खलु शोषे पूर्वरूपाणि तानि॥ 8॥

भावार्थ : गाढ़ा कफ बहुत गिरना, श्वास होना, सर्वांग शिथिलता हो जाना, वमन होना, गला सूखना, अग्निमांद्य होना, मद आना, आँखें सफेद हो जाना, अधिक नींद आना, पीनस होना ये राजयक्ष्मा का पूर्वरूप हैं अर्थात् जिनको राजयक्ष्मा होने वाला होता है उनको रोग होने के पहले उपर्युक्त लक्षण प्रकट होते हैं।

शुकशिखिशकुनैस्तै कौशिकैः काकागृध्रैः। कपिगणकृकलासैर्नीयते स्वप्नकाले॥
खरपरुषविशुष्कां वा नदी यः प्रपश्येत्। ददहनविपन्नान् रूक्षवृक्षान् सधूमान्॥ 9॥

भावार्थ : जिस को राजयक्ष्मा होने वाला होता है,उसे स्वप्न में, तोते, मयूर (मोर) शकुन (पक्षिविशेष) नकुल, कौवा, गीध, बंदर, गिरगट ये उस को (पीठ पर बिठालकर) ले जाते हुए अर्थात् उनके पीठ पर अपन सवारी करते हुए दिखाता है। खरदरा कठिन (पत्थर आदि से युक्त) जलरहित नदी और दावाग्नि से जलते हुए धूम से व्याप्त रूक्ष वृक्ष भी दीखते हैं। उपरोक्त स्वप्नों को देखना यह भी राजयक्ष्मा का पूर्वरूप है।

वात आदि के भेद से राजयक्ष्मा का लक्षण

पवनकृतविकारान्नष्टभिन्नस्वरोन्त-र्गतनिजकृशपार्श्वो वंससंकोचनं च।
ज्वरयुतपरिदाहासृग्विकारोतिसाराः। क्षयगतनिजरूपाण्यत्र पित्तोद्भवानि॥ 10॥
अरुचिरपि च कासं कंठजातं क्षतं तत्। कफकृतबहुरूपाण्युत्तमांगे गुरुत्वम्॥
इतिदशभिरथैकेनाधिकैर्वा क्षयार्तं। परिहरतु यशोऽर्थी पंचषड्भि स्वरूपैः॥ 11॥

भावार्थ : राजयक्ष्मारोग में वात के उद्रेक से 1. स्वर नष्ट या भिन्न हो जाता है। 2. दोनों कृश पार्श्व (फसली) अन्दर चले जाते है।3. अंस (कंधा) का संकोच (सिकुड़न) होता है। पित्त के प्रकोप से 4. ज्वर , 5. दाह, 6. खून का आना और 7 अतिसार (दस्त का लगना) होता है। कफ के प्रकोप से, 8. अरूचि,9. कास,10. गले में जखम और 11. शिर में भारीपना होता है। इन उपरोक्त ग्यारह लक्षणों से अथवा किसी पाँच या छह लक्षणों से पीड़ित क्षयरोगी को यश को चाहने वाला वैद्य छोड़

देवें अर्थात् ऐसा होने पर रोग असाध्य हो जाता है।

राजयक्ष्मा का असाध्यलक्षण

बहुतरमशनं य क्षीयमाणोऽतिभुंक्ते। चरणजठरगुह्योद्भूतशोफोऽतिसारी॥
यमहरवरनारीकौतुकासक्तचित्तो। व्रजति स निरपेक्षः क्षिप्रमेवक्षयार्तः॥ 12॥

भावार्थ : जो रोगी अत्यन्त क्षीण होते जाने पर भी बहुत-सा भोजन करता है (अथवा बहुत ज्यादा खाने पर भी, क्षीण ही होता जाता है) और पाद, जठर (पेट) व गुप्तेन्द्रिय में शोफ जिसे हुआ है, अतिसार से पीड़ित है, समझना चाहिए वह यम के द्वारा अपहरण की हुई सुंदर स्त्रियों में आसक्त चित्त वाला और इस लोक से निरपेक्ष होकर वहाँ जल्दी पहुँच जाता है।

राजयक्ष्मा की चिकित्सा

अभिहितसविशेषैर्बृंहणद्रव्यसिद्धैः। समुदितघृतवर्गैः स्निग्धदेहं क्षयार्तं।
मृदुततरगुणयुक्तै छर्दनैः सद्विरेकै-रपि मृदुशिरसस्संशोधनैश्शोधयेत्तम्॥ 13॥

भावार्थ : पूर्व में कथित बृंहण (बलदायक) द्रव्यों से सिद्ध घृत से क्षयरोगी के शरीर को स्निग्ध करना चाहिए। पश्चात् मृदुगुण युक्त औषधियों से मृदुछर्दन, रोगी का शिर भारी हो तो मृदशिरोविरेचन करना चाहिए व मृदुविरेचन भी करना चाहिए।

राजयक्ष्मी को भोजन

मधुरगुणविशेषाशेषशालीन्यवान्वा। बहुविधकृतभक्षालक्ष्यगोधूमसिद्धान्।
घृतगुडबहुदुग्धैर्भोजयेन्मुद्गयूषैः। फलगणयुतमृष्टैरिष्टशाकैस्सुपुष्टैः॥ 14॥

भावार्थ : मधुर गुणयुक्त सर्व प्रकार के चावल, जौ, एवं मधुर गेंहू आदि धान्य व ऐसे अन्य पदार्थों से बने हुए अनेक प्रकार के भक्ष्य, घी, गुड़, दूध, मूंग की दाल शक्तिकारक फलगण, इष्ट व पुष्टिकारक शाकों के साथ-साथ क्षय रोगी को भोजन कराना चाहिए।

क्षय नाशकयोग

त्रिकटुकघनचव्यसद्विडंगप्रचूर्णं। घृतगुडलुलिंत वा प्रातरुत्थाय लीढ्वा॥
अथ घृतगुडयुक्तद्राक्षया पिप्पलीनां। सततमनुपयोशन् स क्षयस्य क्षयः स्यात्॥ 15॥

भावार्थ : त्रिकुट, मोथा, चाव, वायविडंग इनके चूर्ण को घी व गुड़ में अच्छी तरह मिलाकर प्रातःकाल उठकर चाटें अथवा द्राक्षा व पीपल को घी व गुड़ के साथ मिलाकर बाद में दूध पीवें तो उससे क्षयरोग का क्षय होता है।

तिलादि योग

तिलपललसमांशं माषचूर्णं तयोस्तत्सदृशतुरगगंधाधूलिमाज्येन पीत्वा॥
गुडयुतपयसा सद्वाजिगंधासुकल्कैः। प्रतिदिनमनुलिप्तः स्थूलतामेति मर्त्यः॥ 16॥

भावार्थ : तिल का चूर्ण, उड़द के चूर्ण उन दोनों को बराबर[1] लेवें। इन दोनों चूर्णों के बराबर असगंध चूर्ण मिलाकर घी और गुड़ मिश्रित दूध के साथ पीना चाहिए। एवं असगंध के कल्क को प्रतिदिन शरीर में लेपन करना चाहिए। उससे क्षयरोग पीड़ित मनुष्य स्थूल हो जाता है।

क्षयनाशक योगांतर

वृषकुसुमसमूलैः पक्वसर्पिः पिबेद्वा। यवतिलगुडमाषैः शालिपिष्टैरपूपान्॥
दहनतुरगगंधामाषवज्रीलतागो-। क्षुरयुतशतमूलैर्भक्षयेत्पक्वभक्षान्॥ 17॥

भावार्थ : अडूसा के फूल व जड़ से पकाये हुए घृत को क्षयरोगी पीवें। इसे वृषघृत या वासा घृत कहते हैं तथा जौ तिल, गुड़, उड़द, शाली इनके आटे का बनाया हुआ पुआ भी खावें एवं भिलावा, अश्वगंध, माष, गोखुर, सेहुण्ड शतावर इन से पक्व भक्ष्यों को भी खावें।

क्षयनाशक घृत

शकृत इह रसैर्वाजाश्वगोवृंदकाना - ममृतखदिरमूर्वा तेजिनीक्वाथभागैः॥
घृतयुतपयसा भागैर्नवैतान्सरास्ना-त्रिकुटुकमधुकैस्तैस्सार्धकपक्वं लिहेद्वा॥ 18॥

भावार्थ : बकरी, घोड़ा गाय इनका मलरस एक-एक भाग, गिलोय, खेर की छाल, मूर्वा, चव्य इन पृथक्-पृथक् औषधियों का कषाय एक-एक भाग दूध , एक भाग घी , इन नौ भाग द्रव्यों को एकत्र डालकर पकावें इसमें रास्ना, सोंठ, मिरच, पीपल, मुलैठी इनके कल्क भी डालें। विधि प्रकार सिद्ध किए हुए इस घृत को चाटें तो राजयक्ष्मा रोग शांत होता है।

क्षयरोगातंक घृत

खदिरकुटजपाठापाटलीबिल्वभल्ला - तकनृपबृहतीसैरण्डकारंजयुग्मैः॥
यवबदरकुलत्थोग्राग्निमंदाग्निकैः स्वैः। क्वथितजलविभागैः षड्भिरेको घृतस्य॥ 19॥
स्नुहिपयसि हरीतक्यासुराह्वै सचव्यैः। प्रशमयति विपक्व शोषरोगं घृतं तत्॥
जठरमखिलमेहान्वातरोगानशेषा-। नतिबहुविषमोग्रोपद्रवग्रंथिबंधान्॥ 20॥

भावार्थ : खैर की छाल, कूड़ा की छाल, पाठा, पाढल, बेल, भिलावा, अमलतास बड़ी कटेली, एरण्ड, करंज, पूतिकरंज, जौ, बेर, कुलथी, बच, चित्रक, इनका मंदाग्नि से पकाया हुआ काढ़ा छह भाग, एक भाग घी और थोहर का दूध, हरड़, समुद्र नमक [अथवा देवदारू] चाव, इनके कल्क से सिद्ध किया गया घृत राजयक्ष्मा उदर, सर्व प्रकार के प्रमेह, सर्वविध वातरोग और अति उपद्रव युक्त विषम ग्रंथि रोग को भी दूर करता है।

1. जैसे तिल चूर्ण 10. तोला, उड़द का चूर्ण 10 तोला, असगंध का चूर्ण 20 तोला

महाक्षयरोगांतक

त्रिकटुकत्रुटिनिंबारग्वधग्रंथिभल्ला - तकदहनसुराष्ट्रोद्भूतपथ्याजमोदै- ॥
रसनखदिरधात्रीशालगायत्रिकाख्यैः ।क्वथितजलविभागैः पक्वमाज्या[1]च्चतुर्भिः ॥ 21 ॥

अथ कथितघृते त्रिंशत्सितायाः पलानि। प्रकटगुणतुगाक्षीर्याश्च षट्प्रस्थमाज्ये॥
विषतरुसुविडंगक्वाथसप्रस्थयुग्मं। खजमथितमशेषं तं तु दत्वोक्तकुंभे॥ 22 ॥

भुवि बहुतरधान्ये चानुविन्यस्तमेत-द्गतवति सति मासार्धे तदुध्दृत यत्नात्॥
प्रतिदिनमिह लीढ्वा नित्यमेकैकमंशं। पलमितमनुपानं क्षरिमस्य प्रकुर्यात्॥ 23 ॥

घृतमिदमतिमेध्यं वृष्यमायुष्यहेतुः। प्रशमयति च यक्ष्माणं तथा पाण्डूरोगान्॥
भवति न परिहारोस्त्येतदेवोपयुज्य। प्रतिदिनमथ मर्त्यः तीर्थकृद्वा वयस्थः॥ 24 ॥

भावार्थ : सोंठ, मिरच, पीपल, छोटी इलायची, नींब, अमलतास, नागरमोथा, भिलावा, चित्रक, फिटकरी, हरड़, अजवायन, विजयसार, खैर, आंवला, शाल, (सालवृक्ष) विट्खदिर (दुर्गंध खैर) इनके विधि प्रकार बने हुए चार[1] भाग काढ़े को एक[2] भाग घी में डाल कर (विधि प्रकार) पकावें इस प्रकार सिद्ध एक प्रस्थ (64 तोले) घृत में तीस पल (120 तोले) मिश्री, छह पल (24 तोले) वंशलोचन और दो प्रस्थ (128 तोले) वायविडंग के काढ़ा मिलावें और अच्छी तरह मथानी से मथें। पश्चात् इसको पहले कहे हुए मिट्टी के घड़े में डालकर मुह बंद करके धान्य की राशि के बीच में रखें पंद्रह दिन बीत जाने के बाद उसे वहाँ से यत्नपूर्वक निकाल कर, इसे प्रतिदिन एक-एक पलप्रमाण (4 तोले) चाट कर ऊपर से गाय का दूध पीना चाहिए। यह घृत अत्यन्त मेध्य (बुद्धि को बढ़ाने वाला) वृष्य, आयु को बढ़ाने वाला (रसायन) है। राजयक्ष्मा व पाण्डुरोग को शमन करता है। इसको यदि मनुष्य प्रतिदिन सेवन करें तो, देवाधिदेव तीर्थंकर भगवान् के समान (हमेशा) वय (जवानपने) को धारण करता है, अर्थात् जब तक वह जीता है तब तक जवानों के सदृश शक्तिशाली होकर जीता है। इसके सेवन करने के समय किसी प्रकार भी परहेज करने की जरूरत नहीं है।

भल्लातकादि घृत

घृतगुडसमभागैस्तुल्यमारुष्करीयं। मृदुपचनविपक्वं स्नेहमाशुपयुज्य॥
वलिपलितविहीनो यक्ष्मराजं विजित्यो-र्जितसुखसहितस्याद्द्रोणमात्रं मनुष्यः॥ 25 ॥

भावार्थ : समान भाग घी व गुड़ के साथ भिलावे के तैल को मंदाग्नि द्वारा अच्छी तरह पकाकर, एक द्रोणप्रमाण (64 तोले का 16 सेर) सेवन करें तो राजयक्ष्मा रोग दूर हो जाता है और वह

1. चार प्रस्थ, 2. एक प्रस्थ

मनुष्य बलि व पलित (बाल सफेद हो जाना) से रहित होकर उत्कृष्ट सुखी होता है।

शबरादि घृत

शबरतुरगगंधा वज्रवल्ली विदारी-क्षरकपिफलकूष्माण्डैर्विपक्वाज्यतैलं ॥
अनुदिनमनुलिप्यात्मांगसंमर्दनाद्यैः। क्षयगदमपनीय स्थूलकायो नरः स्यात् ॥ 26 ॥

भावार्थ : सफेद लोध, असगंध, अस्थिसंहारी (हाड़ संकरी) विदारीकंद, गोखुर, कौंच के बीज, जायफल, कूष्मांड (सफेद कद्दू) इनसे पकाये हुए घी तैल को प्रतिदिन लगाकर मालिश वगैरह करें, तो क्षयरोग दूर होकर मनुष्य का शरीर पुष्ट बन जाता है।

क्षयरोगनाशक दधि

अथ श्रृतपयसीक्षोः सद्विकारानुमिश्रे। सुविमलतरवर्षाभ्वंघ्रिचूर्णप्रयुक्ते ॥
समरिचवरहिंगुस्तोकलक्रान्वितेऽन्ये-द्युरिह सुरभिदध्ना तेन भुंजीत शोषी ॥ 27 ॥

भावार्थ : पकाये हुए दूध में शक्कर, पुनर्नवा के जड़ के चूर्ण, कालीमिरच, हींग और थोड़ा छाछ मिलाकर रखें। दूसरे दिन इस को सुगंध दही के साथ मिलाकर क्षय रोगी भोजन करें।

क्षयरोगी का अन्नपान

तदति लघुविपाकी द्रव्यमग्निप्रदं य-द्रुचिकरमतिवृष्यं पुष्टिकृन्मृष्टमेतत् ॥
सततमिह नियोज्यं शोषिणामन्नपानं। बहुविधरसभेदैरिष्टशाकैर्विशिष्टैः ॥ 28 ॥

भावार्थ : जल्दी पकने वाले, अग्नि को दीप्त करने वाले, रुचिकारक, अत्यन्त वृष्य, पुष्टिकारक, शक्तिवर्द्धक ऐसे द्रव्यों से तैयार किए हुए अन्नपान्नों को, नानाप्रकार के रस व प्रिय अच्छे शाकों के साथ राजयक्ष्मा से पीड़ित मनुष्य को देना चाहिए।

अथ मसूरिकारोगाधिकारः

मसूरिका निदान

अथ ग्रहक्षोभवशाद्विषांघ्रिप - प्रभूतपुष्पोत्कटगंधवासनात्।
विषप्रयोगाद्विषमाशनाशना - दृतुप्रकोपादति धर्म[1]कर्मणः ॥ 29 ॥
प्रसिद्धमत्रांहुतिहोमतो वधान्महोपसर्गान्मुनिवृंदरोषतः।
भवंति रक्तासितपीतपाण्डुरा बहुप्रकाराकृतयो मसूरिकाः ॥ 30 ॥

भावार्थ : कोई क्रूर ग्रहों के कोप से, विष वृक्षों के विषैले फूलों के सूंघने से, विषप्रयोग से, विषम भोजन करने से, ऋतु प्रकोप से (ऋतुओं के स्वभाव बदल जाना) धार्मिक कार्यों को उल्लंघन करने से, हिंसामय यज्ञ करने से, हिंसा करने से, मुनि आदि सत्पुरुषों को महान् उपसर्ग करने से, मुनियों

1. धर्म इति पाठांतरं।

के रोष से शरीर में बहुत प्रकार के आकार वाले मसूर के समान लाल, काले, सफेद व पीले दाने शरीर में निकलते हैं, उसे मसूरिका रोग (देवी, माता चेचक) कहते हैं।

मसूरिका की आकृति

स्वदोषभेदात्सिकता ससर्षपा मसूरसंस्थानयुता मसूरिकाः।
समस्तधान्याखिलवैदलोपमाः[1] सकालपीताःफलसन्निभास्तथा॥ 31॥

भावार्थ : वे मसूरिकायें अपने दोषों के भेद से बालू (रेत) सरसों, मसूर के आकार में (दाल) होती है तथा सर्वधान्य व समस्त द्विदल के आकार में होकर फल के समान योग्य काल में पीले वर्ण को धारण करती है।

विस्फोट लक्षण

विशेषविस्फोटगणास्तथापरे भवंति नानाद्रुमसत्फलोपमाः।
भयंकराः प्रणाभृतां स्वकर्मतो बहिर्मुखांतर्मुखभेदभेदिकाः॥ 32॥

भावार्थ : प्राणियों के पूर्वोपार्जित कर्म के कारण से, मसूरिका रोग में फफोले भी होते हैं, जो अनेक वृक्षों के फल के आकार में रहते हैं। वे भयकंर होते हैं। उनमें बहिर्मुख स्फोटक (इसका मुँह बाहर की ओर होता है) व अंतर्मुख स्फोटक (शरीर के अंदर की ओर मुखवाला) इस प्रकार दो भेद हैं।

अरूंषिका

सितातिरक्तारुणकृष्णमण्डलान्यणून्यरूष्यंत्र विभांत्यनंतरम्।
निमग्नमध्यान्यसिताननानि तान्यसाध्यरूपाणि विवर्जयेद्भिषक्॥ 33॥

भावार्थ : सफेद, अत्यधिक लाल, अरूण (साधारण लाल) व काले वर्ण के चकत्तों से संयुक्त, छोटी पिटकायें पश्चात् दिखने लगती है। यदि पिटकाओं के मध्यभाग में गहराई हो और उनका मुख काला हो तो उन्हें असाध्य समझना चाहिए। इसलिए ऐसे पिटकाओं को वैद्य छोड़ देवें।

मसूरिका के पूर्वरूप

मसूरिकासंभवपूर्व - लक्षणान्यतिज्वरारोचकरोमहर्षता।
विदाहतृष्णातिशिरोंगहृद्रुजःससंधिविश्लेषणगाढनिद्रता॥ 34॥
प्रलापमूर्च्छाभ्रमवक्त्रशोषणं स्वचित्तसम्मोहनशूलजृम्भणम्।
सशोफकण्डूगुरुगात्रता भृशं विषातुरस्येव भवंति संततम्॥ 35॥

भावार्थ : अत्यधिक ज्वर, अरोचकता, रोमांच, अत्यन्तदाह, तृषा, शिरशूल, अंगशूल व

1. काले पीले फल के समान।

हृदयपीड़ा, संधियों का टूटना, गाढ़निद्रा, बड़बड़ाना, मूर्च्छा, भ्रम, मुख का सूखना, चित्तविभ्रम, शूल, जंभाई, सूजन, खुजली, शरीर भारी हो जाना और विष के विकार से पीड़ित जैसे हो जाना यह सब मसूरिका रोग के पूर्वरूप हैं। अर्थात् मसूरिका रोग होने के पहले लक्षण प्रकट होते हैं।

मसूरिका असाध्यलक्षण

यदा तु शूलातिविमोहशोणितप्रवृत्तिदाहादिकशोफविभ्रमैः।
अतिप्रलापातितृषातिमूर्च्छितैः समन्वितान्याशु विनाशयंत्यसून्॥ 36॥

भावार्थ : जब मसूरिका रोग में अत्यधिक शूल, बेहोशी, मुख नाक आदि से रक्तस्राव, दाह, सूजन और भ्रम, प्रलाप (बड़बड़ाना) तृषा, गाढ़मूर्च्छा आदि उपद्रव प्रकट हो, तो समझना चाहिए कि वह प्राण को) जल्दी हर ले जाता है।

जिह्वादि स्थानों में मसूरिका की उत्पत्ति

तत स्वजिह्वाश्रवणाक्षिनासिकाभ्रुवौष्ठकंठांघ्रिकरेषु मूर्धनि।
समस्तदेहेऽपि गदा भवंति ताः प्रकीर्णरूपाः बहुलाः मसूरिकाः॥ 37॥

भावार्थ : मसूरिका का अधिक विकोप होने पर वह फैलकर जीभ, कान, नाक, आँख, भ्रू, ओंठ, कंठ, पाद, हाथ, शिर, इस प्रकार समस्त देह में फैल जाते हैं।

मसूरिका में पित्त की प्रबलता और वातिक लक्षण

भवेयुरेताः प्रबलातिपित्ततस्तथान्यदोषोल्वणलक्षणेक्षिताः।
कपोतवर्णा विषमास्सवेदना मरुत्कृताः कृष्णमुखा मसूरिकाः॥ 38॥

भावार्थ : यह मसूरिका रोग मुख्यतः पित्त के प्राबल्य से उत्पन्न होता है। फिर भी इस में प्रकुपित अन्य दोषों (वात कफों) के ससंर्ग होने से उनके लक्षण भी पाये जाते हैं (अतएव वातज मसूरिकाआदि कहलाते हैं) जिनका वर्ण कबूतर के समान रहता है और मुख काला रहता है और जो बिषम आकार (छोटे-बड़े गोल चपटा आदि) व पीड़ा से युक्त होते हैं, उन्हें वातविकार से उत्पन्न (वातज मसूरिका) समझना चाहिए।

पित्तजमसूरिका लक्षण

सपीतरक्तासितवर्णनिर्णया ज्वरातितृष्णापरितापतापिताः।
सुशीघ्रपाकाबहुपित्तसंभवा भवंति सृव्द्यो बहुला मसूरिकाः॥ 39॥

भावार्थ : जो मसूरिका पीले लाल या काले वर्ण की होती है, अत्यन्त ज्वर, तृष्णा व दाह से युक्त हैं एवं जल्दी पक जाती है और मृदु होती हैं, उनको पित्तज मसूरिका समझें।

कफज-रक्तज-सन्निपातज मसूरिका लक्षण

कफाद्घनस्थूलतरोतिशीतलाश्चिरप्रपाकाः शिशिरज्वरान्विताः।

प्रवालरक्ता बहुरक्तसंभवाः समस्तदोषैरखिलोग्रवेदनाः॥ 40॥

भावार्थ : कफविकार से होने वाली मसूरिका घट्ट (कडा), स्थूल, अतिशीतल, शीत पूर्वक ज्वर से युक्त व देर से पकने वाली होती है। रक्त विकार से उत्पन्न मसूरिका मूंगे के वर्ण के समान लाल होती है। सन्निपातज हो तो उस में तीनों दोषों से उत्पन्न उग्र लक्षण एक साथ पाये जाते हैं।

मसूरिका के असाध्य लक्षण

शरावविन्निम्नमुखाः सकर्णिका विदग्धवन्मण्डलमण्डिताश्च याः।

घनातिरक्तासितवक्त्रविस्तृताः ज्वरातिसारोद्गतशूलसंकुलाः॥41॥

विदाह - कंपातिरुजातिसारकात्यरोचकाध्मानतृषातिहिक्कया।

भवंत्यसाध्याः कथितैरुपद्रवैपद्रुताः श्वाससकासनिष्ठुरैः॥ 42॥

भावार्थ : जो मसूरिका सरावे के समान नीचे की ओर मुखवाली है,(किनारे तो ऊँचे बीच में गहरा) कर्णिका सहित है, जल जाने से उत्पन्न चकत्तों के सदृश चकत्तों से युक्त है, घट्ट (कड़ा) है, अत्यन्त लाल व काली है, विस्तृत मुखवाली है, ज्वर अतिसार, शूल जिसमें होते हैं एवं दाह, कंप, अतिपीड़ा, अतिसार, अति अरोचकता, अफराना, अतितृषा, हिचकी और प्रबलश्वास, कास आदि कथित उपद्रवों से संयुक्त होती है, उस मसूरिका को असाध्य समझें।

मसूरिका चिकित्सा

विचार्य पूर्वोद्गतलक्षणोष्वलं विलंघनानंतरमेव वामयेत्।

सनिंबयष्ठीमधुकाम्बुभिर्वरं त्रिवृत्तथोद्यत्सितया विरेचयेत्॥43॥

भावार्थ : मसूरिका के पूर्वरूप के प्रकट होने पर रोगी का अच्छी तरह लंघन कराकर नींब व ज्येष्ठमधु के कषाय से वमन कराना चाहिए एवं निशोत व शक्कर से विरेचन भी कराना चाहिए।

पथ्यभोजन

समुद्गयूषैरपि षष्ठिकोदनं सतिक्तशाकैर्मधुरैश्च भोजयेत्।

सुशीतलद्रव्यविपक्वशीतलां पिबेद्यवागूमथवा घृतप्लुताम्॥44॥

भावार्थ : उस रोगी को मीठे शाक व अन्य मीठे पदार्थ और मुद्गयूष (मूंग की दाल) के साथ साठी चावल के भात को खिलाना चाहिए अथवा शीतल द्रव्यों से पकाई हुई घृत से युक्त शीतल यवागू खिलानी चाहिए।

तृष्णा चिकित्सा व शयन विधान

सुशीतलं वा श्रृतशीतलं जलं पिबेत्तृषार्तो मनुजस्तदुद्गमे।
तथोदकोद्यत्कदलीदलाश्रिते शयीत नित्यं शयने मसूरिकी॥ 45॥

भावार्थ : मसूरिका रोग से पीड़ित रोगी को प्यास लगे तो वह बिल्कुल ठंडे या पकाकर ठंडे हुए जल को पीवें एवं मसूरिका निकलने पर पानी से भिगोये गए केलों के पत्ते जिस पर बिछाये हों ऐसे शयन (बिछौना) में वह हमेशा सोवें।

दाहनाशकोपचार

तदुद्भवोद्भूतविदाहतापिते शिराश्च व्यध्वा[1] रुधिरं प्रमोक्षयेत्।
प्रलेपयेदुत्पलपद्मकेसरैः सचंदनैर्निंबपयोंघ्रिपांकुरैः॥ 46॥

भावार्थ : मसूरिका होने के कारण से उत्पन्न भयंकर दाह से यदि शरीर तप्तायमान हो रहा है तो शिरामोक्षण कर रक्त निकालना चाहिए और नीलकमल, कमल, नागकेसर व चन्दन से अथवा नींब, क्षीरीवृक्षों के कोंपल से लेप करना चाहिए।

शर्करादि लेप

सशर्कराकिंशुकशाल्मलिद्रुमप्रवालमूलैः पयसानुपेषितैः।
प्रलेपयेदूष्मनिवारणाय तद्रुजाप्रशांत्यै मधुरैस्तथापरैः॥ 47॥

भावार्थ : इसी प्रकार ढाक सेमल इन वृक्षों के कोंपल व जड़ को दूध में पीसकर उसमें शक्कर मिलाकर, गर्मी व पीड़ा के शमन करने के लिए लेप करें। इसी प्रकार अत्यन्त मधुर औषधियों को भी लेप करना चाहिए।

शैवलादि लेप व मसूरिका चिकित्सा

सशैवलोशीरकशेरुकाशसत्कुशांघ्रिभिस्सेक्षुरसैश्च लेपयेत्।
मसूरिकास्तैर्विषजाश्च या यथाविषघ्नभैषज्यगणैर्विशेषकृत्॥ 48॥

भावार्थ : शिवार, खस, कसेरुकास, दर्भा इनके जड़ को ईख के रस के साथ पीस कर लगावें और यदि विषज मसूरिका हो तो विषहर औषधियों का लेपन करना चाहिए।

मसूरिका नाशक क्वाथ

सनिंबसारामृतचंदनांबुदैर्विपक्वतोयं प्रपिबेत्सशर्करम्।
मसूरिकी द्राक्षहरीतकामृतापटोलपाठाकटुरोहिणीघनैः॥ 49॥
अरुष्करांम्रांबुसधान्यरोहिणी घनैः श्रृतं शीतकषायमेव वा।
पिबेत्सदा स्फोटमसूरिकापहं सशर्करं सेक्षुरसे विशेषवित्॥ 50॥

1. विद्वान् इति पाठांतरं।

भावार्थ : नींब की गिरी, गिलोय, लाल चंदन, नागरमोथा इनसे पकाये हुए काढ़े में शक्कर मिलाकर मसूरिका से पीड़ित व्यक्ति पीवें एवं द्राक्षा, हरड़, गिलोय, पटोलपत्र, पाठा, कुटकी, नागरमोथा इनके क्वाथ अथवा भिलावा, आम, खश, धनिया, कुटकी, नागरमोथा इनके क्वाथ वा शीत कषाय को पीवें। ईख के रस में शक्कर मिलाकर पीने से स्फोट युक्त मसूरिका रोग दूर हो जाता है।

पच्यमान मसूरिका में लेप

विपच्यमानासु मसूरिकासु ताः प्रलेपयेद्घातकफोत्थिता भिषक्।
समस्तगंधौषधसाधितेन सत्तिलोद्भवेनाज्यगणैस्तथापरः ॥ 51 ॥

भावार्थ : वात व कफ के विकार से उत्पन्न जो मसूरिका है यदि वह पक रही हो तो सर्व गंधौषधों से सिद्ध तिल का तैल लेपन करना चाहिए यदि पित्तज प्रसूरिका पक रही हो तो, सर्वगंधौषध से सिद्ध घृतवर्ग का लेपन करना चाहिए।

पश्चमान व पक्वमसूरिका में लेप

विपाककाले लघु चाम्लभोजनं नियुज्य सम्यक्परिपाकमागतां।
विभिद्य तीक्ष्णैरिह कंटकैश्शुभैः सुचक्रतैलेन निषेचयेद्भिषक् ॥ 52 ॥

भावार्थ : मसूरिका के पकने के समय में रोगी को हलका व खट्टा भोजन कराना चाहिए। जब वह पक जाये, उसके बाद तीक्ष्ण व योग्य कांटे से उसे फोड़कर उस पर चक्र तैल (चक्की से निकाला हुआ) नया (ताजे) डालना चाहिए।

व्रणावस्थापन्न मसूरिका चिकित्सा

विपाकपाकव्रणपीडितास्वपि प्रसाधयेत्ताः क्षतवद्विसर्पवत्।
अजस्रमास्रवयुताः प्रपीडयेन्मुहुर्मुहुर्माषयवप्रलेपनैः ॥ 53 ॥

भावार्थ : मसूरिका पक जाने पर यदि व्रण हो जावें तो क्षत (जखम) व विसर्प रोग की चिकित्सा करें। यदि वह सदा स्रावसहित हो तो बार-बार उड़द जौ का लेपन से पीडन करना चाहिए।

शोषणक्रिया व क्रिमिजन्य मसूरिका चिकित्सा

सुभस्मचूर्णेन विगालितेन वा विकीर्य सभ्यक्परिशोषयेद्बुधः।
कदाचिदुद्यत्क्रिमिभक्षिताश्च ताःक्रिमिघ्नभैषज्यगणैरुपाचरेत् ॥ 54 ॥

भावार्थ : अच्छे भस्म को पुनः अच्छी तरह (छलनी आदि से) छानकर उसे उन मसूरिकाओं पर डालें जिससे वह स्राव सूख जायेगा। यदि कदाचित् उन मसूरिका व्रणों में कृमि उत्पन्न हो जाये तो कृमिनाशक औषधियों से उपचार करना चाहिए।

वीजन व धूप

अशोनिंबाम्रकदंबपल्लवैः समंततस्संततमेव वीजयेत्।
सुधूपयेद्वा गुडसर्जसद्रसैः सगुग्गुलुध्यात्मककुष्ठचंदनैः॥ 55॥

भावार्थ : मसूरिका से पीड़ित रोगी को अशोक, नीम, कदम, इन वृक्षों के पत्तों से सदा पंखा करना चाहिए। एवं गुड़, राल, गुग्गुल कत्तृण नामक गंधद्रव्य (रोहिस सोधिया) चंदन इनसे धूप करना चाहिए।

दुर्गंधितपिच्छिल मसूरिकोपचार

स पूतिगंधानपि पिच्छिलव्रणान् वनस्पतिक्वाथसुखोष्णकांजिका।
जलैरभिक्षाल्य तिलैस्सुपेशितै बृहत्तदूष्मप्रशमाय शास्त्रवित्॥ 56॥

भावार्थ : मसूरिकाजन्य व्रण दुर्गंधयुक्त व पिच्छिल (पिलपिली लिवलिवाहट) हो तो उसे नींब क्षीरीवृक्ष आदि वनस्पतियों के क्वाथ व साधारण गरम कांजी से धोकर तीव्र उष्णता के शमनार्थ, तिल को अच्छी तरह पीस कर, वैद्य उस पर लगावें।

मसूरिकी को भोजन

मसूरमुद्गप्रवराढकीगणैर्धृतान्वितैर्यूषखलैः फलाम्लकैः।
स एकवारं लघुभोजनक्रमक्रमेण संभोजनमेव भोजयेत्॥ 57॥

भावार्थ : मसूर, मूंग, अरहर आदि धान्यों से बने हुए घृतमिश्रित यूषखल, खट्टे फल इनसे उस रोगी को दिन में एक बार लघु भोजन कराना चाहिए। फिर उसके बाद क्रम-क्रम से उसकी[1] वृद्धि करते हुए अंत में सभी भोजन खिलावें।

व्रणक्रियां साधु नियुज्य साधयेदुपद्रवानप्यनुरूपसाधनैः।
घृतानुलिप्तं शयने च शाययेत् सुचर्मपद्मोत्पलपत्रसंवृते॥ 58॥

भावार्थ : मसूरिका रोग में, व्रणोक्त चिकित्सा को अच्छी तरह प्रयोग कर उसे साधना चाहिए। उस के साथ जो उपद्रव्य प्रकट हों तो उन को भी उनके योग्य चिकित्सा से शमन करना चाहिए। उसे, घृत लेपन कर, चर्म, कमल, नीलकमल के पत्ते जिस पर बिछाया हो ऐसे शयन (बिछौना) पर सुलाना चाहिए।

संधिशोथ चिकित्सा

ससंधिशोफास्वपि शोफवद्विधिं विधाय पत्रैर्धमनैश्च बंधयेत्।
विपक्वमप्याशु विदार्य साधयेद्यथोक्तनाडीव्रणवद्विचक्षणः॥ 59॥

1. द्रव्य, उसका प्रमाण व बार-

भावार्थ : संधियों में यदि शोफ हो जाये तो शोफ (सूजन) की चिकित्सा के प्रकरण में जो विधि बताई गई है, उसी प्रकार की चिकित्सा इसमें करनी चाहिए। और धमन (नरसल) वृक्ष के पत्तों से बांधना चाहिए। अथवा नाडों से बाँधना चाहिए। यदि वह पक जाये तो बुद्धिमान् वैद्य को उचित है कि वह शीघ्र पूर्वोक्त नाड़ीव्रण की चिकित्सा के समान उसको विदारण (चीर) कर शोधन रोपणआदि चिकित्सा करें।

सवर्णकरणोपाय

व्रणेषु रूढेषु सवर्णकारणैर्हरिद्रया गौरिकयाथ लोहित-।
द्रुमैर्लताभिश्च सुशीतसौरभैस्सदा विलिम्पेत् सघृतैस्सशर्करैः॥ 60॥

भावार्थ : व्रण भर जाने पर (त्वचा को) सवर्ण[1] करने के लिए तो उसमें हलदी अथवा गेरू अथवा शीत सुगंधि चंदन वा मंजीठ इन द्रव्यों को अच्छी तरह घिसकर घी व शक्कर मिलाकर उसमें सदा लेपन करना चाहिए।

कपित्थशाल्यक्षतबालकांबुभिः कलायकालेयकमल्लिकादलैः।
पयोनिघृष्टैस्तिलचंदनैरपि प्रलेपयेद्व्रव्यघृतानुमिश्रितैः॥ 61॥

भावार्थ : कैथ, शाली धान, चावल, खश, नेत्रवाला, इनको वा मटर, कालेयक, (पीला वर्ण का सुगंधकाष्ठ जिस को पीला चंदन भी कहते हैं) चमेली के पत्ते इन को वा तिल, काला चंदन इनको, दूध के साथ पीसकर व गव्यघृत मिलाकर लेप करें तो त्वचा सवर्ण बन जाता है।

उपसर्गज मसूरिका चिकित्सा

महोपसर्गप्रभवाखिला - मयान्निवारयेन्मंत्रसुतंत्रमंत्रवित्।
प्रधानरूपाक्षतपुष्पचंदनैस्समर्चयेज्जैनपदांम्बुजद्वयम्॥ 62॥

भावार्थ : महान् उपसर्ग से उत्पन्न मसूरिका आदि समस्त रोगों को योग्य मंत्र, यंत्र व तंत्र के प्रयोग से निवारण करना चाहिए एवं श्रेष्ठ अक्षत पुष्प चंदनादिक अष्टद्रव्यों से बहुत भक्ति के साथ श्री जिनेन्द्र भगवंत के चरणकमल की महापूजा करनी चाहिए।

मसूरिका आदि रोगों का संक्रमण

सशोफकुष्ठज्वरलोचनामयास्तथोपसर्गप्रभवा मसूरिका।
तदंगसंस्पर्शनिवासभोजनान्नरान्नरं क्षिप्रमिह व्रजंति ते॥ 63॥

भावार्थ : शोफ (सूजन)कोढ़, ज्वर, नेत्ररोग व उपसर्ग से उत्पन्न मसूरिका रोग से पीड़ित रोगी के स्पर्श करने से, उसके पास में रहने से एवं उसके छुया हुआ भोजन करने से, ये रोग शीघ्र एक दूसरे

1. अन्य जगहों के त्वचा के सदृश वर्ण करना। अथवा व्रण होने के पूर्व उस त्वचा का जो वर्ण था, उसको वैसे के वैसे उत्पन्न करना।

को बदल जाते हैं।

उपसर्गज मसूरिका में मंत्र प्रयोग

ततः सुमंत्राक्षररक्षितस्स्वयं चिकित्सको मारिगणान्निवारयेत्।
गुरून्नमस्कृत्य जिनेश्वरादिकान् प्रसाधयेन्मंत्रितमंत्रसाधनैः॥64॥

भावार्थ : इसलिए इन संक्रामक महा रोगों को जीतने के पहले वैद्य को उचित है कि वह पहले शक्तिशाली बीजाक्षरों के द्वारा अपनी रक्षा कर लेवें। बाद में जिनेन्द्र भगवंत व सद्गुरुओं को नमस्कार कर मंत्र प्रयोग रूपी साधन द्वारा इस रोग को जीतें।

भूततंत्रविषतंत्रमंत्रविद्योजयेत् तदनुरूपभेषजैः।
भूतपीडितनरान्विषातुरान् वेषलक्षणविशेषतो भिषक्॥65॥

भावार्थ : भूतों के पीड़न (व्यंतर जाति के देव) व विष प्रयोग जन्य मसूरिका रोग को उनके आवेश व लक्षणों से पहचान कर, भूतविद्या मंत्रविद्या व विषतंत्र को जानने वाला वैद्य, उनके अनुकूल औषधि व मंत्रों से उन्हें जीतना चाहिए।

भूतादि देवतायें मनुष्यों को कष्ट देने का कारण

व्यंतरा भुवि वसंति संततं पीडयंत्यपि नरान्समायया।
पूर्वजन्मकृतशत्रुरोषतः क्रीडनार्थमथवा जिघांसया॥66॥

भावार्थ : भूत,पिशाचादिक व्यंतरगण इस मध्यलोक में यत्र-तत्र वास करते हैं। वे सदा पूर्वजन्म की शत्रुता से, विनोद के लिए अथवा मारने की इच्छा से पीड़ा देते रहते हैं।

ग्रहबाधायोग्य मनुष्य

यत्र पंचविधसद्गुरून्सदा नार्चयंति कुसुमाक्षतादिभिः।
पापिनः परधनांगनानुगा भुंजतेन्नमतिविन्न पूजयन्॥67॥
पात्रदानबलिभैक्षवर्जिता भिन्नशून्यगृहवासिनस्तु ये।
मांसभक्षमधुमद्यपायिनःतान्विशंति कुपिता महाग्रहाः॥68॥

भावार्थ : जो प्रतिनित्य, पुष्प अक्षत आदि अष्टद्रव्यों[1] से पंच परम गुरुओं (पंचपरमेष्ठी)[2] की पूजा नहीं करते हैं, हिंसा आदि पाप कार्यों को करते हैं, परधन व परस्त्रियों में प्रेम रखते हैं, अत्यन्त विद्वान् होने पर भी देवपूजा न करके ही भोजन करते हैं, खराब शून्य गृह में वास करते हैं, मद्य[3], माँस

1. जल, चंदन, अक्षत (चावल), पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप, फल, ये देवपूजा प्रधान आठ द्रव्य हैं।
2. अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, सर्वसाधु, ये पाँच जगत् के परमदेव व गुरु हैं।
3. मद्य, माँस, मधु, इनका त्याग, जैनों के मूलगुणों में समावेश होता है। इन चीजों को जो त्याग नहीं करता है, वह वास्तव में जैन कहलाने योग्य नहीं हैं।

मधु खाते हैं, पीते हैं, ऐसे मनुष्यों को, कुपित महा गृह (देवता) प्रवेश करते हैं अर्थात् कष्ट पहुँचाते हैं।

बालग्रह के कारण

बालकानिह बहुप्रकारतस्तर्जितानपि च ताडितान्मुहुः।
त्रासितानशुचिशून्यगेहसंवर्धितानभिभवंति ते ग्रहाः॥ 69॥

भावार्थ : जो लोग बालकों को अनेक प्रकार से (देखो भूत आ गया! चुप रह इत्यादि रीति से) डराते हैं और बार-बार मारते हैं व कष्ट देते हैं एवं उन बालकों को गंदा व सूने घर में पालन-पोषण करते हैं, ऐसे बालकों को वे ग्रह कष्ट पहुँचाते हैं।

शौचहीनचरितानमंगलान्मातृदोषपरिभूत - पुत्रकान्।
आश्रितानधिककिन्नारादिभिस्तान्ब्रवीमि निजलक्षणाकृतीन्॥ 70॥

भावार्थ : जिनका आचरण शुद्ध नहीं है, जो अमंगल है, (मंगल द्रव्य के धारण आदि से रहित है) माता के दोष से दूषित हैं, ऐसे मनुष्य किन्नर आदि क्रूर ग्रहों से पीड़ित होते हैं। अब उनके लक्षण व आकृति का वर्णन करेंगे।

किन्नरग्रहगृहीत लक्षण

स्तब्धदृष्टिरसृजः सुगंधिको वक्रवक्त्रचलितैकपक्ष्मणः।
स्तन्यरुट्सलिलचक्षुरल्पतो यः शिशुः कठिनमुष्टिवर्चसः॥ 71॥

भावार्थ : किन्नर ग्रह से पीड़ित बालक की आँखें स्तब्ध होती हैं। शरीर रक्त के सदृश गंध वाला हो जाता है। मुँह टेढ़ा होता है। एक पलक फड़कता है, स्तन पीने से द्वेष करता है। आँखों से थोड़ा-थोड़ा पानी निकलता है, मुठ्ठी खूब कड़ा बाँध लेता है मन भी कड़ा होता है। तात्पर्य यह कि उपरोक्त लक्षण जिस बालक में पाये जायें तो समझना चाहिए कि यह किन्नर ग्रहगृहीत है।

किन्नरग्रहघ्न चिकित्सा

सग्रहो बहुविधैः कुमारवत्तं कुमारचरितैरुपाचरेत्।
किन्नरार्दितशिशुं विशारदो रक्तमाल्यचरुकैरुपाचरेत्॥ 72॥

भावार्थ : बालग्रह से पीड़ित बालक की बालग्रहनाशक, अभ्यंग, स्नान, धूप आदि नाना प्रकार के उपायों से चिकित्सा करनी चाहिए। खासकर किन्नर ग्रहगृहीत बालक को, लाल फूलमाला, लाल नैवेद्य समर्पण आदि से उपचार करना चाहिए।

किन्नरग्रहघ्न अभ्यंगस्नान

वातरोगशमनौषधैस्सुगंधैस्ससुसिद्धतिलजैर्जलैस्तथा- ।
भ्यंगधावनमिह प्रशस्यते किन्नरग्रहग्रहीत पुत्रके॥ 73॥

भावार्थ : उस किन्नर ग्रह से पीड़ित बालक को वातशामक व सुगंधित औषधियों से सिद्ध तिल का तैल, मालिश व इन ही औषधियों से साधित जल से स्नान कराना चाहिए।

किन्नरग्रहघ्न धूप

सर्षपैरखिलरोमसर्पनिर्मोकाहिंगुवचया तथैव का-।
कादनीघृतगुडैश्च धूपयेत्स्नापयेन्निशि दिवा च चत्वरे॥ 74॥

भावार्थ : उपरोक्त ग्रह बाधित बच्चे को सरसों, सर्व प्रकार (गाय, बकरा, मनुष्य आदि के) के बाल, सांप की कांचली, हींग, बच काकादनी, इनमें घी, गुड़ मिलाकर (आग में डालकर) इसका धूप देवें एवं रात और दिन में, चौराह में (उपरोक्त जल से) स्नान कराना चाहिए।

किन्नर ग्रहघ्न बलि व होम

शालिषष्टिकयवैः पुरं समाकारयेन्मधुरकुष्ठगोघृतैः।
होमयेन्निरवशेषतीर्थकृत् नामभिःप्रणमनैश्च पंचभिः॥ 75॥

भावार्थ : साठी धान, जौ इससे पिण्ड बनाकर बलि देना चाहिए। एवं शालिधान्य कूठ गाय का घी, इनसे तीर्थंकरों के सम्पूर्ण (1008) नाम व पंचपरमेष्ठियों के नाम के उच्चारण के साथ-साथ होम करना चाहिए। जिनसे किन्नरग्रह शांत हो जाते हैं।

किन्नरग्रहघ्न माल्यधारण

भूधरश्रवणसोमवल्लिका बिल्वचंदनयुतेंद्रवल्लिका।
शिग्रमूलसहितां गवादनीं धारयेद्ग्रथितमालिकां शिशुं॥ 76॥

भावार्थ : भूधर, गोरखमुण्डी, गिलोय, बेल[1] के कांटे, चंदन, इंद्रलता[2], सेंजन का जड़, गवादनी (इंद्रायण का जड़) इनसे बनी हुई माला को किन्नरग्रह से पीड़ित बालक को पहना देना चाहिए।

किंपुरुषग्रहगृहीतलक्षण

वेदनाभिरिहमूर्छितश्शिशुः चेतयत्यपि मुहुः करांघ्रिभिः।
नृत्यतीव विसृजत्यलं मलं मूत्रमप्यतिविनम्य जृंभयन्॥ 77॥
फेनमुद्वमति भीषणोह्यपस्मारकिंपुरषनामको ग्रहैः।
तं शिरीषसुरसैस्सबिल्वकैः स्नापयेदिह विपक्वारिभिः॥ 78॥

भावार्थ : नाना प्रकार की वेदनाओं से बालक बेहोश हो जाता है, कभी होश में भी आता है, हाथ पैरों को इस प्रकार हिलाता है, जिससे वह नाचता हो जैसा मालूम होता है। नमते व जंभाई लेते

1. बिल्वकंटकान् इति ग्रन्थांतरे, 2. गत्स्यांडक गंडदूर्वा इति लोके।

हुए अधिक मल-मूत्र को त्याग करता है, फेन (झाग) को वमन करता है तो समझना चाहिए कि वह भयंकर किंपुरुषापस्मार नामक ग्रह से पीड़ित है। इसे शिरीष, तुलसी बेल इनसे पकाये हुए जल से स्नान कराना चाहिए।

किंपुरुष ग्रहघ्न तैल व घृत

सर्वगंधपरिपक्वतैलमभ्यंजने हितमिति प्रयुज्यते।
क्षीरवृक्षमधुरैश्च साधितं पाययेद्घृतमिदं पयसा युतम्॥ 79॥

भावार्थ : इसमें सम्पूर्ण गंधद्रव्यों से सिद्ध तैल का मालिश करना एवं क्षीरोवृक्ष (गूलर आदि दूध वाले वृक्ष) व मधुर औषधियों से साधित घृत को दूध मिला कर पिलाना भी हितकारी है।

किंपुरुषग्रहघ्न धूप

गोवृषस्य मनुजस्य लोमकेशैर्नखैः करिपतेर्धृतप्लुतैः।
गृध्रकौशिकपुरीषमिश्रितैर्धूपयेदपि शिशुं ग्रहार्दितम्॥ 80॥

भावार्थ : किंपुरुष ग्रह से पीड़ित बालक को, गाय, बेल मनुष्य इनके रोम, केश व नख, हाथी के दांत, गृध्रपक्षी व उल्लू के मल, इन सबको एकत्र मिलाकर और घी में भिगोकर धूप देना चाहिए।

स्नान, बलि, धारण

स्नापयेदथ चतुष्पथे शिशुं दापयेदिह वटांघ्रिपे बलिं।
मर्कटीमपि सकुक्कुटीमनं तां च बिवलतया स धारयेत्॥ 81॥

भावार्थ : उपरोक्त ग्रह से पीड़ित बालक को चौराहे पर स्नान कराना चाहिए एवं वटवृक्ष के समीप बलि चढ़ाना चाहिए। कौंच कुक्कुटी (सेमल[1]) अनंत (उत्पल सारिवा) कंदूरी (इन के जड़) को हाथ वा गले में पहनावें।

गरुड़ ग्रह गृहीत लक्षण

पक्षिगंधसहितो बहुव्रणः स्फोटनिष्ठुरविपाकदाहवान्।
स्रस्तगात्रशिशुरेष सर्वतः संबिभेति गरुडग्रहार्तितः॥ 82॥

भावार्थ : गरुड़ग्रह से पीड़ित बालक के शरीर में बहुत से व्रण होते हैं और भयंकर पाक व दाह सहित फफोले होते हैं। वह पक्षी की बास से संयुक्त होता है और सर्व प्रकार से भयभीत रहता है।

गरुड़ ग्रहघ्न, स्नान, तैल, लेप

आम्रनिंबकदलीकपित्थजंबूद्रुमक्वथितशीतवारिभिः।
स्नापयेदथ च तद्विपक्व[2]-तैलप्रलेपनमपि प्रशस्यते॥ 83॥

1. अन्ये तु कुक्कुटीशरीरवत् कुसुम चित्राबल्लीस्फारिकरचितकुक्कुटांडतुल्य कंद्वेति वदंति।
2. तद्भिषक् च इति पाठांतरं।

भावार्थ : अनेक औषधियों से सिद्ध तेल को लेपन कराकर आम, नीम, केला, कैथ, जंबू इन वृक्षों के द्वारा पकाये हुए पानी को ठण्डा करके उस गरुड़ग्रह से पीड़ित बच्चे को स्नान कराना चाहिए, एवं उपरोक्त आम्रादिकों से साधित तैल का मालिश व उन्हीं का लेप[1] करना भी हितकर है।

गरुडग्रहघ्न घृतधूपनादि

यद्व्रणेषु कथितं चिकित्सितं यद्धृतं पुरुषनामकग्रहे।
यच्च रक्षणसुधूपनादिकं तद्धितं शकुनिपीडिते शिशौ॥ 84॥

भावार्थ : इस गरुड़ ग्रह के उपसर्ग से होने वाले व्रणों में भी पूर्व कथित व्रण चिकित्सा का प्रयोग करना चाहिए एवं किंपुरुष ग्रह पीड़ा के विकार में कहा हुआ घृत, मंत्र, रक्षण, धूपन आदि भी इसमें हित है।

गंधर्व (रेवती) ग्रहगृहीत लक्षण

पाण्डुरोगमतिलोहिताननं पीतमूत्रमलमुत्कटज्वरम्।
श्यामदेहमथवान्यरोगिणं घ्राणकर्णमसकृत्प्रमाथिनम् ॥ 85॥

भावार्थ : गंधर्व जाति के भ्रुकुटि, रेवती नामक ग्रह से पीड़ित बालक का शरीर पाण्डुर (सफेदी लिए पीला) अथवा श्याम वर्णयुक्त होता है। उसकी आँखें अत्यन्त लाल होती है। मूत्र व मल एकदम पीला हो जाता है तीव्र ज्वर आता है, अथवा कोई अन्य रोग होता है। वह बालक नाक व कान को बार-बार विशेषतया रगड़ता है।

रेवतीग्रहघ्न स्नान, अभ्यंग, घृत

तं शिशुं भ्रुकुटिरेवतीसुगंधर्ववंशविषमग्रहार्तितं।
सारिवाख्यसहिताश्वगंधशृंगीपुनर्नवसमूलसाधितैः ॥ 86॥
मंत्रपूतसलिलैर्निषेचयेत्कुष्टसर्जर - ससिद्ध तैलम्।
भ्यंजयेदखिलसारसद्रुमैः पक्वसर्पिरिति पाययेच्छिशुम्॥ 87॥

भावार्थ : ऐसे विषम ग्रह से पीड़ित बालक को सारिवा (अनंतमूल) अश्वगंध मेढ़ासिंगी, पुनर्नवा इन के जड़ से सिद्ध व मंत्र से मंत्रित जल से स्नान कराना चाहिए। एवं कूठ व राल से सिद्ध तेल को लगाना चाहिए। सर्व प्रकार के सारस वृक्षों के साथ पकाये हुए घृत को उस बालक को पिलाना चाहिए।

1. खस, मुलैठी, नेत्रवाला, सारिवा, कमल, लोध, प्रियंगु, मंजीठ, गेरु, इनका लेप करना भी हितकर है।

रेवती ग्रहघ्न धूप

धूपयेदपि च संध्ययोस्सदा गृध्रकौशिकपुरीष सद्घृतैः।
धारयेद्वरणनिंबजां त्वचां रेवतीग्रहनिवारणीं शिशुम्॥ 88॥

भावार्थ : रेवती ग्रह से दूषित बालक को दोनों संध्या समय में गृध्र (गीध) व उलूक (उल्लू) के मल को घृत के साथ मिलाकर धूनी देना चाहिए। एवं उस बालक को वरना वृक्ष व नीम की छाल को पहनाना चाहिए।

पूतना (भूत) ग्रहगृहीत लक्षण

विड्विभिन्नमसकृद्विसर्जयन् छदर्यन् ह्रषितलोमकस्तृषा-।
लुर्भवत्यधिककाकगंधवान् पूतनाग्रहगृहीतपुत्रकः॥ 89॥

भावार्थ : जो बालक बार-बार फटे मल विसर्जन कर रहा है, वमन कर रहा है, जिसे रोमांच हो रहा है, तृषा लग रही है एवं जिसका शरीर कौवे के समान बास वाला हो जाता है उसे पूतना (भूतजाति के) ग्रह से पीड़ित समझना चाहिए।

पूतनाग्रहघ्न स्नान

स्वस्थ एव दिवसे स्वपित्यसौ नैव रात्रिषु तमिद्धभूतजित्-।
पारिभद्रवरणार्कनीलिकास्फोतपक्वसलिलैर्निषेचयेत्॥ 90॥

भावार्थ : पूतनागृहीत बालक का शरीर स्वस्थ होते हुए भी, दिन और रात में वह सुख पूर्वक नहीं सोता है (उसे नींद नहीं आती है) उसे भूत को जीतने वाले नीम, वरना, अकौवा, नील आस्फोता (सारिवा[1]) इन औषधियों से पकाये हुए पानी से सेचन करना चाहिए।

पूतनाग्रहघ्न तैल व धूप

कुष्ठसर्ज्जरसतालकोग्रगंधादिपक्वतिलजं विलेपयेत्।
अष्टमृष्टगणयष्टिकातुगासिद्धसर्पिरपि पाययेच्छिशुम्॥ 91॥

भावार्थ : कूठ, राल, हरताल, वचा (दूध गिलोय) आदि औषधियों से पक्व तिल के तेल को इसमें लेपन करना चाहिए। एवं च अष्टमधुरौषध (काकोल्यादि) मुलहटी व वंशलोचन से सिद्ध घृत को उस बालक को पिलावें।

पूतनाग्रहघ्न बलि स्नान

स्नापयेदपि शिशुं सदैव सोच्छिष्टभोजनजलैर्विधानवित्।
शून्यवेश्मनि रहस्यनावृते नित्कुरुटनिकटे (?) भिषग्वरः॥ 92॥

---

1. अपरे गिरिकर्णीमाहुः।

भावार्थ : बालग्रह के उपचार को जानने वाला वैद्यवर पूतनाविष्ट बालक को शून्य मकान अथवा किसी एकांत स्थान व खुले शून्य बगीचे के समीप में जूठे भोजन के जल से सदैव स्नान कराना चाहिए।

पूतनाग्रहघ्न धूप

चंदनागुरुतमालपत्रतालीसकुष्ठ खदिरैर्घृतान्वितैः।
केशरोमनखमानुषास्थिभिः धूपयेदपि शिशु द्विसंध्ययोः॥ 93॥

भावार्थ : चंदन, अगरु, तम्बाखू, तालीसपत्र, कूठ, खदिर प्राणियों के केश, रोम, नख व मनुष्यों की हड्डी इनको चूर्ण कर फिर इसमें घी मिलाकर दोनों संध्या कालों में धूनी देना चाहिए।

पूतनाघ्न धारण व बलि

चित्रबीजसितसर्षपेंड.गुदीं धारयेदपि च काकवल्लिकां।
स्थापयेद्बलिमिहोत्कुरूटमध्ये सदा कृशरमर्चितं शिशोः॥ 94॥

भावार्थ : पूतना पीड़ित बालक को लाल एरण्ड, सफेद सरसों, हिंगोट स्वर्णवल्ली इनको धारण कराना चाहिए। एवं शून्यग्रह के बीच में सदैव खिचड़ी से बलि प्रदान करना चाहिए।

अनुपूतना (यक्ष) ग्रहगृहीत लक्षण

द्वेष्टि यस्तनमतिज्वरातिसारतिकासवमनप्रतीतहि-
क्वाभिरर्तितशिशुर्वसाम्लगंधोत्कटो विगतवर्ण च स्वरः॥ 95॥

अनुपूतनाघ्न स्नान

तं विचार्य कथितानुपूतनानामयक्षविषमग्रहार्दितम्।
तिक्तवृक्षदलपक्ववारिभिः स्नापयेदधिकमंत्रमंत्रितैः॥ 96॥

भावार्थ : जो बालक माता के स्तन के दूध को पीता नहीं, अत्यन्त ज्वर, अतिसार, खांसी, वमन और हिक्का से पीड़ित हो, जिसका शरीर वसा या खट्टे गंध से युक्त हो और शरीर का वर्ण बदल गया हो एवं स्वर भी बैठ गया हो तो उसे यक्ष जाति के पूतना ग्रह से पीड़ित समझना चाहिए। उसे कडुए वृक्षों के पत्तों से पकाये हुए पानी को मंत्रों से मंत्रित कर उससे स्नान कराना चाहिए।

अनुपूतनाघ्न तैल व घृत

कुष्ठसर्जरसतालकाश्परसौवीरसिद्धतिलजं प्रलेपयेत्।
पिप्पलीद्विकविशिष्टमृष्टवर्गैर्विपक्वघृतमेव पायतेत्॥ 97॥

भावार्थ : कूठ, राल, हरताल, मैनसिल, कांजी इनसे सिद्ध तिल के तेल का उस बालक के शरीर में मालिश करना चाहिए। एवं पीपल, पीपलामूल और मधुरवर्ग (काकोल्यादिगण) के औषधियों

से पकाये हुए घृत को पिलाना चाहिए।

अनुपूतनाघ्न धूप व धारण

केशकुक्कुट - पुरीषचर्मसर्पत्वचो घृतयुताः सुधूपयेत्।
धारयेदपि सकुक्कुटोमनंतां च बिबलतया शिशुं सदा॥ 98॥

भावार्थ : मुर्गे का रोम, मल व चर्म एवं सर्प का चर्म (कांचली) के साथ घी मिलाकर धूपन प्रयोग करना चाहिए एवं कुक्कुटी सारिव कन्दूरी इनको धारण कराना चाहिए।

बलिदान

पूर्तभक्ष्यबहुभोजनादिकान् सन्निवेद्य सततं सुपूजयेत्।
स्नापयेदपि शिशुं गृहांतरे वर्णकैर्विरचितोज्वले पुरे॥ 99॥

भावार्थ : अनेक प्रकार के भक्ष्य भोजन आदि बनाकर, उनसे ग्रह की पूजा करनी चाहिए। तथा सामने अनेक प्रकार के चित्र विचित्रित कर उस बालक को मकान के बीच में स्नान कराना चाहिए।

शीतपूतनाग्रहगृहीत लक्षण

शीतवेपिततनुर्दिवानिशं रोदिति स्वपिति चातिकुंचितः।
सांत्रकूजमतिसार्य विस्रगन्धिः शिशुर्भवतिशीतकार्दितः॥ 100॥

भावार्थ : ठण्ड के द्वारा जिस बालक का शरीर कंपायमान होता है, रात-दिन रोता रहता है एवं अत्यन्त संकुचित होकर सोता है, आंतड़ी में गुड़गुड़ाहट शब्द होता है, दस्त लगता है, शरीर कच्चे किसी दुर्गंध से युक्त होता है तो समझना चाहिए कि वह शीतपूतना ग्रह से पीड़ित है।

शीतपूतनाघ्न स्नान व तैल

तं कपित्थसुरसाम्रबिल्वभल्लातकैः क्वथितवारिभिस्सदा।
मूत्रवर्गसुरदारुसर्वगंधैर्विपक्वतिलजं प्रलेपयेत्॥ 101॥

भावार्थ : उस बालक को कैथ, तुलसी, आम, बेल, भिलावा इनसे पकाये हुए पानी से स्नान कराना चाहिए। मूत्रवर्ग (गाय आदि के आठ प्रकार के मूत्र) देवदारु व सर्व सुगंधित औषधियों से सिद्ध तिल के तेल से लेपन करना चाहिए।

शीतपूतनाघ्न घृत

रोहिणीखदिरसर्जनिंब - भूर्जार्जुनांघ्रिप्रविपक्ववारिभिः।
माहिषेण पयसा विपक्वसर्पिः शिशुं प्रतिदिनं प्रपाययेत्॥ 102॥

भावार्थ : कायफल, खेरी का वृक्ष, रालवृक्ष, नीम, भोजपत्र, अर्जुन (कुहा) वृक्ष इनके छाल का कषाय, भैंस का दूध, इनसे सिद्ध घृत को शीत पूतना से पीड़ित बालक को प्रतिदिन पिलाना चाहिए।

शीतपूतनाघ्न धूप व धारण

निंबपत्रफणि - चर्मसर्जनिर्यासभल्लशशविट्सवाजिगं-।
धैस्सुधूप्य शिशुमत्र बिंबगुंजासकाकलतया स धारयेत्॥ 103॥

भावार्थ : नीम का पत्ता, सांप की कांचली, राल, उल्लू व खरगोश के वीट अजगंधा (अजवायन) इन औषधियों से धूप देना चाहिए। बिंबलता, घुंघची, काकादनी (काकतिंदुकी) इनको धारण कराना चाहिए।

शीतपूतनाघ्न बलि स्नान का स्थान

मुद्गयूषयुतभोजनादिकैः अर्चयेदपि शिशुं जलाश्रये।
स्नापयेदधिकमंत्रमंत्रितैर्मंत्रविद्विधिविपक्ववारिभिः॥ 104॥

भावार्थ : मुद्गयूष (मूंग की दाल) से युक्त भोजन भक्ष्य आदि से जलाशय के (तालाब नदी आदि) समीप, शीतपूतना का अर्चन करना चाहिए। एवं जलाशय के समीप ही उस बालक को मंत्रों से मंत्रित, विधि प्रकार (पूर्वोक्त औषधियों से) पकाये गए जल से मंत्रज्ञ वैद्य स्नान करावें।

पिशाचग्रह गृहीत लक्षण

शोषवत्सुरुचिरानन: शिशुः क्षीयतेऽतिबहुभुकसिरातत:।
कोमलांघ्रितलपाणिपल्लवो मूत्रगंध्यपि पिशाचपीडितः॥ 105॥

भावार्थ : जो बालक सूखता हो, जिसका मुख सुंदर दिखता हो, रोज क्षीण होता जाता हो, अधिक भोजन (या रतन पान) करता हो, पेट नसों से व्याप्त हो (नसें पेट पर अच्छी तरह से चमकती हो) पादतल व हाथ कोमल हों, शरीर में गोमूत्र का गंध आता हो तो समझना चाहिए वह पिशाच ग्रह से पीड़ित है।

पिशाचग्रहघ्न स्नानौषधि व तैल

तं कुबेरनयनार्कवंशगंधर्वहस्तनृपबिल्ववारिभिः।
सन्निषिच्य पवनघ्नभेषजैः पक्वतैलमनुलेपयेच्छिशुम्॥ 106॥

भावार्थ : उसे कुबेराक्षि (पाटल) अकौवा, वंशलोचन, अमलतास, बेल, इनके द्वारा पकाये हुए पानी से अच्छी तरह स्नान कराकर वातहर औषधियों के द्वारा पकाये हुए तेल को उस पिशाच पीड़ित बालक के शरीर पर लगाना चाहिए।

पिशाच ग्रहघ्न धूप व घृत

अष्टमृष्टगणयष्टिका - तुगाक्षीरदुग्धपरि -पक्वसद्घृतम्।
पाययेदपि वचस्सकुष्टसर्जैः शिशुं सततमेव धूपयेत्॥ 107॥

भावार्थ : अष्ट मधुरौषधि वर्ग (काकोल्यादि) मुलैठी, वंशलोचन व दूध से पकाये हुए अच्छे घृत को उस बालक को पिलावें एवं वच, कूठ, राल इन से उस बालक को सतत धूपन प्रयोग करना चाहिए।

पिशाचग्रहघ्न धारण बलि व स्नानस्थान

चाषगृध्रसमयूरपक्षसर्पत्वचाविरचिताश्च धारयेत्।
वर्णपूरकबलं च गोष्ठमध्ये शिशो स्नपनमत्र दापयेत्॥ 108॥

भावार्थ : नीलकंठ (पक्षिविशेष) गृध्र, मयूर इन का पंखा, सांप की कांचली, इनसे बनी हुई माला व पोटली को पहनावें। वर्णपूर युक्त अन्न को अर्पण (बली) करें एवं उस बालक को कमरे में स्नान करावें।

राक्षसगृहीत लक्षण

फेनमुद्वमति जृंभते च सोद्वेगमूर्ध्वमवलोकते रुदन्।
मांसगंध्यपि महाज्वरोऽतिरुद्राक्षसग्रहगृहीत पुत्रकः॥ 109॥

भावार्थ : राक्षस ग्रह से पीड़ित बालक फेन का वमन करता है, उसे जंभाई आती है, उद्वेग के साथ रोते हुए ऊपर देखता है एवं उसके शरीर से मांस का गंध आता है। महाज्वर से वह पीड़ित रहता है एवं अति पीड़ा से युक्त होता है।

राक्षस ग्रहघ्नस्नान, तैल, घृत

नक्तमालबृहतीद्वयाग्निमन्थास्युरेव परिषेचनाय धा-।
न्याम्लमप्यहिममंबुदोग्रगंधाप्रियंगुसरलैः शताह्वकैः॥ 110॥
कांजिकाम्लदधितक्रमिश्रितैः पक्वतैलमनुलेपनं शिशोः।
वातरोगहरभेषजैस्सुमृष्टैश्च दुग्धसहितैः घृतं पचेत्॥ 111॥

भावार्थ : करंज, दोनों कटेहरी, अगेथु, इनसे पकाये हुए जल से उस राक्षस ग्रह पीड़ित बालक को स्नान कराना चाहिए एवं गरमकांजी को भी स्नान कार्य के उपयोग में ला सकते हैं। नागरमोथा, बच, प्रियंगु, सरलकाष्ट, शतावरी इनके क्वाथ व कल्क, कांजी, दही व छाछ इनसे साधित तैल को मालिश करना चाहिए। एवं वातरोग नाशक औषधि व मधुरौषधि के क्वाथ कल्क व दूध से साधित घृत उसे पिलाना चाहिए।

राक्षसग्रहघ्न धारण व बलिदान

धारयेदपि शिशुं हरीतकीगौरसर्पपवचा जटान्विता।
माल्यभक्ष्यतिलतण्डुलैश्शुभैरर्चयेदिह शिशुं वनस्पतौ॥ 112॥

भावार्थ : राक्षसग्रह पीड़ित बाल को हरड़, सफेद सरसों, बच, जटामांसी इनकी पोटली आदि बनाकर पहनाना चाहिए एवं पुष्पमाला, नाना प्रकार के भक्ष्य, तिल व चावल से ग्रहाविष्ट शिशु का पूजन वृक्ष के नीचे करना चाहिए।

राक्षसग्रह गृहीत का स्नान स्थान व मंत्र आदि

स्नापयेदसुरपीडितं शिशुं क्षीरवृक्षनिकटे विचक्षणः।
जैनशासनविशेषदेवतारक्षणैरपि च रक्षयेत्सदा॥ 113॥

भावार्थ : उस राक्षसग्रह पीड़ित बालक को बुद्धिमान् वैद्य दूधिया (बड़, पीपल आदि) वृक्ष के पास में ले जाकर स्नान करावें एवं जैनशासन देवता सम्बन्धी मंत्र व यंत्र के द्वारा भी उस बालक की रक्षा करनी चाहिए।

देवताओं द्वारा बालकों की रक्षा

व्यंतराश्च भवनाधिवासिनोऽष्टप्रकारविभवोपलक्षिताः।
पांति बालमशुभग्रहार्दितं स्पष्टमृष्टबलितुष्टचेतसः॥ 114॥

भावार्थ : अष्ट प्रकार के विभवों से युक्त भवनवासी व्यंतरादिक सम्यग्दृष्टि देव यदि उनको अनेक प्रकार से मनोहर गंध पुष्प नैवेद्य आदि से आदर करें तो उस से प्रसन्न होकर अशुभग्रह से पीड़ित बालक की रक्षा करते हैं।

इति बालग्रहनिदान चिकित्सा

अथ ग्रहरोगाधिकारः

ग्रहोपसर्गादि नाशक अमोघ उपाय

यत्र पंचपरमेष्ठिमंत्रसन्मंत्रितात्मकवचान्नरोत्तमान्।
पीडयंति न च तान् ग्रहोपसर्गामयाग्निविषशस्त्रसंभ्रमाः॥115॥

भावार्थः- जिन्होंने सदा पंचपरमेष्ठियों का नामस्मरण से अपनी आत्मा को पवित्र बना लिया है, उनको ग्रहपीड़ा संबंधी रोग, अग्नि,विष, शस्त्र आदि से उत्पन्न दुःख नहीं होते हैं।

मनुष्यों के साथ देवताओं के निवास

मानुषैस्सह वसंति संततं व्यंतरोरगगणा विकुर्वणैः।
ते भवंति निजलक्षणेक्षिता अष्टभेददशभेदभेदिताः॥116॥

भावार्थ : आठ प्रकार के व्यंतर, दस प्रकार के भवनवासी देव, अपने वैक्रियिक शक्ति से मनुष्यों के साथ हमेशा निवास करते हैं, जो अपने-अपने खास लक्षणों से देखे जाते हैं।

ग्रह पीड़ा के योग्य मनुष्य

तत्प्रयुक्तपरिवारकिं नरा मानुषानभिविशंति मायया।
भिन्नशून्यगृहवासिनोऽशुचीनक्षतान् क्षययुतानधर्मिणः॥ 117॥

भावार्थ : उन देवताओं के परिवार रूप में रहने वाले किन्नर अपने स्वामी से प्रेरित होकर एकान्त में, सूने घर में रहने वाले, अपवित्र, धर्मद्रोही व धर्माचरण रहित मनुष्यों को मायाचार से पीड़ा देते हैं।

देवताविष्ट मनुष्य की चेष्टा

स्वामिशीलचारितानुकारिणः किन्नराश्च बहवस्स्वचेष्टितै-।
राश्रयंति मनुजानतो नरास्तत्स्वरूपकृतवेषभूषणाः॥ 118॥

भावार्थ : अपने स्वामी के स्वभाव व आचरण का अनुसरण करने वाले (स्वामी की आज्ञा पालन के लिए) बहुत से किन्नर अपनी अपनी चेष्टाओं के साथ मनुष्यों के पीछे लग जाते हैं, जिससे मनुष्य भी उन्हीं के समान वेष व भूषा से युक्त होते हैं।

देवपीड़ित का लक्षण

पण्डितोऽति गुरुदेवभक्तिमान् गंधपुष्पनिरतस्सुपुष्टिमान्।
भास्वरानिमिषलोचनो नरो न स्वपित्यपि च देवपीडितः॥ 119॥

भावार्थ : देव द्वारा पीड़ित मनुष्य का आचरण बुद्धिमानों के समान मालूम होता है। और वह देव गुरुओं में विशेष भक्ति को प्रकट करता है। सदा गंधपुष्प को धारण किया हुआ रहता है। उसका शरीर पुष्ट रहता है, उसकी आँखें तेज व खुली हुई रहती है और वह सोता भी नहीं है।

असुर पीड़ित का लक्षण

निंदतीह गुरुदेवताः स्वयं वक्रदृष्टिरभयोऽभिमानवान्।
स्वेदनातिपरुषो न तृप्तिमानीदृगेष पुरुषोऽसुरार्दितः॥ 120॥

भावार्थ : असुर के द्वारा पीडित मनुष्य देव गुरुओं की निंदा करता है, उसको दृष्टि वक्र रहती है, वह किसी से भय नहीं खाता और अभिमानी होता है। उसके शरीर से पसीना बहता रहता है एवं कठोर रहता है, उसे कितना भी खावें तो तृप्ति नहीं होती।

गंधर्व पीड़ित का लक्षण

क्रीडतीह वनराजिरम्यहर्म्योच्चशैलपुलिनेषु हृष्टवान्।
गंधपुष्पपरिमालिकाश्च गंधर्वजुष्टपुरुषोभिऽवांछति॥ 121॥

भावार्थ : गंधर्व से पीड़ित मनुष्य जंगल, सुंदर महल, ऊँचे पहाड़ व नदी के किनारे आदि प्रदेश में बहुत हर्ष के साथ खेलता रहता है एवं सदा गंध, पुष्पमाला आदि को चाहता रहता है।

यक्ष पीड़ित का लक्षण

ताम्रवक्त्रतनुपादलोचनो याति शीघ्रमतिधीरसत्ववान्।
प्रार्थितः स वरदो महाद्युतिर्यक्षपीडितनरस्सदा भवेत्॥ 122॥

भावार्थ : यक्ष से पीड़ित मनुष्य का मुख शरीर, पाद, आँखें लाल रहती है, यह शीघ्रगामी व अत्यन्त धीर व शक्तिशाली (अथवा बुद्धिमान) रहता है। प्रार्थना करने पर वह वर देता है और उसका शरीर महाकांतियुक्त रहता है।

भूत पितृ पीड़ित का लक्षण

तर्पयत्यपि पितॄन्निवापदानादिभिर्जलमपि प्रदास्यति।
पायसेक्षुगुडमांसलोलुपो दुष्टभूतपितृपीडितो नरः॥ 123॥

भावार्थ : दुष्ट भूतपितृ से पीड़ित मनुष्य पितरों के उद्देश्य से निवाप (तर्पण) दान आदि से उनका तर्पण करता है और जल का तर्पण भी देता है। एवं वह खीर ईख, गुड़ व मांस को खाने में लोलुपी रहता है।

राक्षस पीड़ित का लक्षण

मांसमद्यरुधिरप्रियोऽतिशूरोऽतिनिष्ठुरतरः स्वलज्जया।
वर्जितोऽतिबलवान्निशाचरः शोफरुग्भवति राक्षसो नरः॥ 124॥

भावार्थ : राक्षस से पीड़ित मनुष्य की मांस, मद्य व रक्त अत्यन्त प्रिय होते हैं। वह अत्यन्त शूर, क्रूर, लज्जारहित, बलशाली एवं रात्रि में गमन करने वाला होता है। उसके शरीर में सूजन व पीड़ा रहती है।

पिशाच पीड़ित का लक्षण

धूसरोऽतिपरुषः खरस्वरः शौचहीनचरितः प्रलापवान्।
भिन्नशून्यगृहवासलोलुपः स्यात्पिशाचपरिवारितो नरः॥ 125॥

भावार्थ : पिशाच ग्रह से पीड़ित मनुष्य का शरीर धूसर (धुंदला) व अति कठिन होता है, स्वर गर्दभ सदृश कर्कश होता है एवं उसका आचरण मलिन रहता है। सदा बड़बड़ करता रहता है। एकांत व सूने घर में रहने की अधिक इच्छा करता है।

नाग ग्रह पीड़ित का लक्षण

सर्पवत्सरति यो महीतले सृक्कमोष्ठमपि लेढि जिह्वया।
कुप्यतीह परिपीडितः पयःपायसेप्सुरुरगग्रहाकुलः॥ 126॥

भावार्थ : जो उरग ग्रह से पीड़ित है वह सर्प के समान भूतल में सरकता है। और मुख के दोनों

ओर के कोनों को एवं ओष्ठ को जीभ से चाटता है, कोई उसे कुछ कष्ट देवें तो उन पर खूब क्रोधित होता है। दूध व खीर को खाने की उसे बड़ी इच्छा रहती है।

ग्रहों के संचार व उपग्रह देने का काल

देवास्ते पौर्णमास्यामसुरपरिचरास्संध्ययोस्संचरंति।
प्रायोऽष्टम्यां विशेषादभिहितगुणगंधर्वभृत्यानुभृत्याः॥
यक्षा मंक्षु क्षिपंति प्रतिपाद पितृभूतानि कृष्णाख्यपक्षे।
रात्रौ रक्षांसि साक्षाद्भयकृतिदिनभूस्ते पिशाचा विशंति॥ 127॥
पंचम्यामुरगाश्चरंति नितरां तानुक्तसल्लक्षणै-।
र्ज्ञात्वा सत्यदयादमादिकगुणः सर्वज्ञभक्तस्स्वयम्॥
साध्यान्साधयतु स्वमंत्रबलवद्भैषज्ययोगैर्भिषक्।
क्रूराःकष्टतरा ग्रहा निगदिताः कृच्छास्तु बालग्रहाः॥ 128॥

भावार्थ : देवगण प्रायः पौर्णमासी के रोज, असुर व उन के परिवार दोनों संध्या के समय में, गंधर्व व उनके परिवार अष्टमी के दिन, यक्षगण प्रतिपदा के रोज पितृभूत कृष्णपक्ष में, राक्षस रात्रि में पिशाच भी रात्रि में एवं नागग्रह पंचमी के रोज भ्रमण करते हैं एवं मनुष्यों को कष्ट देते हैं। इन ग्रहों को पूर्वोक्त प्रकार के सर्व लक्षणों से अच्छी तरह जा कर सत्य, दया, दमादिगुणों से युक्त, सर्वज्ञ व उनके द्वारा प्रतिपादित धर्म में अत्यधिक श्रद्धालु वैद्य, उनमें से साध्य ग्रहों को उनके योग्य मंत्र या प्रभावशाली औषध आदि से दूर करें, ये ग्रह अत्यन्त क्रूर एवं कष्ट से जीते जाते हैं, इस प्रकार बालग्रह भी कष्ट साध्य कहा गया है।

शरीर में ग्रहों के प्रभुत्व

ग्रहामयात्यद्भुतदिव्यरूपा नानाविशेषाकृतिवेषभूताः।
मनुष्यदेहान्निविशंत्यचिंत्याः कोपात्स्वशक्त्याप्यधिकुर्वते ते॥ 129॥

भावार्थ : ग्रहामय को उत्पन्न करने वाले ग्रह, आश्चर्यकारक दिव्य रूप को धारण करने वाले अनेक प्रकार की विशिष्ट आकृति व वेष से संयुक्त एवं अचिंत्य होते हैं। अतएव ग्रहोत्पन्न रोग भी इसी प्रकार के होते हैं। वे क्रोध से मानव शरीर में प्रविष्ट होते हैं और आत्मशक्ति के बल से शरीर में अपना अधिकार जमा लेते हैं।

ग्रहामय चिकित्सा

तान्साधयेदुग्रतपोविशेषैर्ध्यानैस्समंत्रौषध - सिद्धयोगैः।
तेषामसंख्यातमहाग्रहाणां शांत्यर्थमिथ्यं कथयंति संतः॥ 130॥

भावार्थ : उन महाग्रहों की पीड़ा को उग्रतप, ध्यान, मंत्र, औषध या सिद्ध योग के द्वारा जीतनी चाहिए। असंख्यात प्रकार के महाग्रहों के उपद्रवों की शांति के लिए इसी प्रकार के उपायों को काम में लेना चाहिए ऐसा सज्जन पुरुष कहते हैं।

ग्रहामय मे मंत्रबलिदानादि

यमनियमदमोद्यत्सत्यशौचाधिवासो। भिषगधिकसुमंत्रैर्मंत्रितात्मा स्वमंत्रैः॥
अपि बहुविधभूषाशेषरत्नानुलेप-सृगमलवलिधूपैः साधयेत्तान् ग्रहाख्यान्॥ 131॥

भावार्थ : अनेक प्रकार के यमव्रत, नियमव्रत, सत्य, शौच आदि गुणों से युक्त वैद्य स्वयं अनेक मंत्रों से मंत्रित होकर, उन ग्रहों के योग्य मंत्रों से एवं अनेक प्रकार के आभूषण, रत्न, अनुलेपन, पुष्पमाला, पवित्र नैवेद्य धूप आदि से उन ग्रहों को जीतें।

ग्रहामयघ्न घृततैल

लशुनतगरहिंगूग्राजलोर्मीसगोलो - प्यमृतकटुकतुंबीबिंबनिवेंद्रपुष्पी॥
त्रिकटुकपटुयुक्ताशेषगंधैलकाक्षी(?)। सितगिरिवरकर्णीभूतकेश्यर्कमूलैः॥ 132॥
तालीतमालदलसालपलाशपारी। भद्रेङ्गुदीमधुकसारकरंजयुग्मैः॥
गंधाश्मतालकशिलासितर्षपाद्यै। व्याघ्र्यर्कसिंहवृक[1]-शल्यबिडालविड्भिः-॥ 133॥
पश्वश्वसोष्ट्रखरकुक्कुरोमचर्म-। दंष्ट्राविषाणशकृतां समभागयुक्तैः॥
अष्टप्रकारवरमूत्रसुपिष्टकल्कैः। क्वाथैर्विपक्वघृततैलमिह प्रयोज्यम्॥ 134॥

भावार्थ : लहसन, तगर, हींग, वच, समुद्रफेन, सफेद दूव (श्वेतदूर्वा) गिलोय, कड़वी तुंबी (कड़वी लौकी) बिंबफल, नीम, कलिहारी, सोंठ, मिरच, पीपल, सेंधानमक समस्त गंधद्रव्य, इलायची, श्वेतकिणिही वृक्ष, भूत केशतृण, अकौवा की जड़, तालीस पत्र तमालपत्र, साल, पलाश, धूप सरल, इंगुली, मुलैठी, छोटी करंज, बड़ी करंज, गंधक, हरताल, मैनशिल, सफेद सरसों, कटेली, अकौवा, लाल सैंजन (रक्तशींग्रु) राल, मैनफल वृक्ष, बिल्ली का मल, गाय घोड़ा, ऊंट, गधा, कुत्ता इनके रोम, चर्म, दांत, सींग व मल इन सबको समभाग लेकर आठ प्रकार[2] के (गाय, बकरा, भेड़, भैंस, घोड़ा, गधा, ऊंट, हाथी इनके)मूत्र में अच्छी तरह पीसकर कल्क तैयार करें और उपरोक्त औषधियों के क्वाथ भी बना लेवें। इन कल्क क्वाथ से सिद्ध घृत तैल को इस गृहामय में पान अभ्यंजन नस्यादि कार्यों में उपयोग करना चाहिए।

1. वृष इति पाठांतरं।
2. **गोऽजाविमहिषाश्वानां खरोष्ट्रकरिणां तथा।**
   मूत्राष्टकमिति ख्यातं सर्वशास्त्रेषु संमतम्॥

ग्रहामयघ्न घृत, स्नान धूप, लेप

अभ्यंजनस्यनयनांजनपानकेषु। सर्पिः पुराणमपि तत्परिपक्वमाहुः॥
स्नानं च तत्क्वथितभेषजसिद्धतोयैः। धूपं विलेपनमथ कृतचूर्णकल्कैः॥ 135॥

भावार्थ : इस ग्रहामय में उन्हीं औषधियों से पक्व पुराने घृत को अभ्यंग (मालिश) नस्य, नेत्रांजन, पानक आदि में उपयोग करना हितकर है एवं उन्हीं औषधियो ंसे सिद्ध पानी से रोगी को स्नान करावें। उन्हीं औषधियों के चूर्ण से धूपन प्रयोग करना हितकर है।

उपसंहार

इति कथितविशेषाशेषसद्भेषजैस्तत्। सदृशविरसबीभत्सातिदुर्गंधजातैः॥
विरचितबहुयोगैः धूपनस्यांजनाद्यै-। र्भिषगाखिलविकारान्मानसानाशु जेयात्॥ 136॥

भावार्थ : समस्त प्रकार के मानसिक (ग्रहगृहीत)विकारों को आयुर्वेद शास्त्र में कुशल वैद्य उपर्युक्त प्रकार के विशिष्ट समस्त औषधियों के प्रयोग एवं तत्सदृश गुण रखनेवाले रसरहित, देखने में घृणा उत्पन्न करने वाले, अत्यन्त दुर्गंधयुक्त औषधियों से तैयार किए हुए धूप, नस्य व अंजनादि अनेक प्रकार के योगों के प्रयोग से चिकित्सा कर जीतें।

अंत मंगल

इति जितवक्त्रनिर्गतसुशास्त्रमहांबुनिधेः। सकलपदार्थविस्तृततरंगकुलाकुलतः॥
उभयभवार्थसाधनतटद्वयभासुरतो। निसृतमिदं हि शीकरनिभं जगदेकहितम्॥ 137॥

भावार्थ : जिसमें संपूर्ण द्रव्य, तत्त्व व पदार्थ रूपी तरंग उठ रहे हैं, इहलोक-परलोक के लिए प्रयोजनीभूत साधनरूपी जिसके दो सुंदर तट हैं, ऐसे श्रीजिनेन्द्र के मुख से उत्पन्न शास्त्र समुद्र से निकली हुई बूँद के समान यह शास्त्र है। साथ में जगत् का एक मात्र हितसाधक है। [इसलिए इसका नाम कल्याणकारक है।]

इत्युग्रादित्याचार्यविरचितकल्याणकारके चिकित्साधिकारे क्षुद्ररोगचिकित्सिते बालग्रहभूततंत्राधिकारकेऽप्यष्टादशः परिच्छेदः।

इत्युमादित्याचार्यकृत कल्याणकारक ग्रन्थ के चिकित्साधिकार में विद्यावाचस्पतीत्युपाधिविभूषित **वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री** द्वारा लिखित **भावार्थदीपिका टीका** में क्षुद्ररोगाधिकार में बालग्रहभूततंत्रप्रकरण नामक **अठारहवां परिच्छेद** समाप्त हुआ।

अथ एकोनविंशः परिच्छेदः

अथ विषरोगाधिकारः

मंगलाचरण व प्रतिज्ञा

त्रिभुवनसद्गुरुं गुरुगुणोन्नतचारुमुनि – त्रिदशनरोरगार्चितपदांबुरुहं वरदं॥
शशिधवलं जिनेशमभिवंद्य विषापहरं। विषमविषाधिकारविषयैककथा क्रियते॥ 1॥

भावार्थ : तीन लोक के हितैषी गुरु, उत्तमोत्तम गुणों से युक्त मुनिगण, देव, मनुष्य, धरणेन्द्र आदि से पूजित चरण कमल जिनका, जो भव्यों की इच्छा को पूर्ति करने वाले हैं, चंद्र के समान उज्ज्वल हैं और विषय विष को अपहरण करने वाले हैं, ऐसे श्री जिनेन्द्र भगवंत को नमस्कार कर अब भयंकर विष सम्बन्धी प्रकरण का निरूपण किया जाता है।

राजा के रक्षणार्थ वैद्य

नृपतिरशेषमंत्रविषतंत्रविदं भिषजं। कुलजमलोलुपं कुशलमुत्तमधर्मधनं॥
चतुरुपधा विशुद्धमधिकं धनबंधुयुतं। विधिवदमुं विधाय परिरक्षितुमात्मतनुम्॥ 2॥

भावार्थ : जो राजा अपनी रक्षा करते हुए सुख से जीना चाहता है, वह अपने पास अपने शरीर के रक्षण करने के लिए समस्त मंत्र व विषतंत्र को जानने वाले, कुलीन, निर्लोभी, समस्त कार्य में कुशल उत्तम धर्म रूपी धन से संयुक्त, हर तरह से उत्तम व्रत नियमादिक से शुद्ध, अधिक धन व बंधुओं से युक्त वैद्य को योग्य[1] रीति से रखें।

वैद्य को पास रखने का फल

स च कुरुते स्वराज्यमधिकं सुखभाक्सुचिरं। सकलमहामहीवलयशत्रुनृपप्रलयः।
स्वपरसमस्तचक्ररिपुचक्रिकया जनितं। विविधविषोपसर्गमपहृत्य महात्मतया॥ 3॥

---

1. राजा के द्वारा पराजित शत्रुगण, अपने कुकृत्यों से राजा द्वारा दंडित व अपमानित मनुष्य किसी पर किसी कारण विशेष से राजा रुष्ट हो जावे अथवा ईर्ष्या-द्वेषादि से युक्त राजा के कुटुम्बी वर्ग, ऐसे ही अनेक प्रकार के मनुष्य अवसर पाकर राजा को विष प्रयोग से मार डालते हैं। कभी दुष्ट स्त्रियाँ अपने सौभाग्य की इच्छा से अर्थात् वशीकरण करने के लिए नाना प्रकार के विष युक्त दुर्योगों को प्रयुक्त करती हैं। इन विष बाधाओं से बचने के लिए विषतंत्र प्रवीण वैद्य को राजा को अपने पास रखना पड़ता है।

भावार्थ : वह समस्त भूमण्डल के राजाओं के लिए प्रलय के रूप में रहने वाला राजा अपने शत्रुमण्डल के द्वारा प्रयुक्त समस्त विषोपसर्ग को परास्त कर अपने प्रभाव से चिरकाल तक अपने राज्य को सुखमय बना देता है।

राजा के प्रति वैद्य का कर्तव्य

भिषगपि बुद्धिमान् विशदतद्विषलक्षणवित्। सुकृतमहान्सादिषु परीक्षितसर्वजनः।
सततमिहाप्रमादचरितः स्वयमन्यमनो-वचनकृतेंगितैः समभिवीक्ष्य चरेदचिरात्॥ 4॥

भावार्थ : विष प्रयोक्ता के लक्षण व विष लक्षण को विशद रूप से जानने वाले बुद्धिमान वैद्य को भी उचित है कि वह अच्छे दिग्देश आदि में शिल्प शास्त्रानुसार निर्मित, सर्वोपकरण सम्पन्न रसोई घर आदि में रसोईया व अन्य परिचारक जनों को अच्छी तरह परीक्षा करके रखें। स्वयं हमेशा प्रमादरहित होकर, विष प्रयोग करने वाले मनुष्य का मन, वचन, कार्यों की चेष्टा व आकृति आदिकों से उस को पहिचानें और प्रयुक्त विष का शीघ्र ही प्रतिकार कर के राजा की रक्षा करें।

विषयप्रयोक्ता की परीक्षा

हसति स जल्पति क्षितिमिहालिखति प्रचुरं। विगतमनाच्छिनत्ति तृणकाष्टमकारणतः।
भयचकितो विलोकयति पृष्टमिहात्मगतं। न लपति चोत्तरं विरसवर्णविहीनमुखम्॥ 5॥
इति विपरीतचेष्टितगणैरपरैश्च भिष-। ग्विषदमपोह्य सान्नमखिलं विषजुष्टमपि॥
जिनमुखनिर्गतागमविचारपराभिहितै-। रवितथलक्षणैः समवबुध्य यतेत चिरम्॥ 6॥

भावार्थ : विष प्रयोग करने वाला मनुष्य हँसता है, बड़बड़ करता है, जमीन को व्यर्थ ही खुरचता है, अव्यवस्थित चित्त होकर कारण के बिना ही तृण काष्ठ आदि को तोड़ता रहता है। भयभीत होकर अपने पीछे देखता है, कोई प्रश्न न करे तो भी उत्तर देता है। उसका मुख विरस व वर्णहीन हो जाता है, इन विपरीत व इसी प्रकार के अन्य विपरीत चेष्टा समूहों से विष प्रयोक्ता को पहिचानना चाहिए (अर्थात् उपरोक्त लक्षण विषप्रयोग करने वालों में पाये जाते हैं) इसी प्रकार विषयुक्त अन्न (भात) आदि सभी पदार्थों को जिनेन्द्र भगवान् के मुख से उत्पन्न हेत्वादि से अङ्कित परमागम में कहे गए अव्यभिचारी लक्षणों से (यह पदार्थ विषयुक्त है ऐसा) जानकर उस के प्रतिकार आदि में परिश्रम पूर्वक कार्य करें।

प्रतिज्ञा

उपगतसद्विषेषु कथयामि यथाक्रमतो। विविधविशेषभोजनगणेष्वपरेषु भृतं॥
विषकृतलक्षणानि तदनंतरमौषधमप्यखिलविषप्रभेदविषवेगविधिं च ततः॥ 7॥

भावार्थ : आचार्य प्रतिज्ञा करते हैं कि यहाँ से आगे क्रमशः नाना प्रकार के विशिष्ट भोजनद्रव्य

व इतर आसन, वस्त्र पुष्पमाला आदि[1] में विषप्रयोग करने पर उन द्रव्यों में जो विषजन्य लक्षण प्रकट होते हैं उनको, तत्पश्चात् उसके प्रतीकारार्थ औषध, तदनंतर सम्पूर्ण विषों के भेद, इसके भी बाद विषजन्य वेगों के स्वरूप को प्रतिपादन करेंगे।

विषयुक्त भोजन की परीक्षा

बलिकृतभोजनेन सह मक्षिकसंहतिभि-र्मरणमिह प्रयांति बहुवायसपद्धतयः॥
हुतभुजि तभ्दृशं नटनटायति दत्तमरं। शिखिगलनीलवर्णमतिदुस्सहधूमयुतं॥ 8॥

भावार्थ : भोजन द्रव्य प्रस्तुत होने पर उससे एक दो ग्रास बलि के रूप[2] में बाहर निकाल कर रख देना चाहिए। यदि वह विषसंयुक्त हो तो उस में मक्खियाँ आकर बैठ जावें, कौवा आदि प्राणि खा जावें तो वे शीघ्र मर जाते हैं। उस अन्न को अग्नि में डालने पर यदि 'नटनट' 'चटचट' शब्द करे, उससे मोर के गले के समान नीलवर्ण व दुःसह (सहने को अशय) धुँआ निकले (धुँआ शीघ्र शांत नहीं होकर ज्योति भिन्न-भिन्न होवें) तो समझना चाहिए कि वह अन्न विषयुक्त है। क्योंकि ये लक्षण विषयुक्त होने पर ही प्रकट होते हैं।

परोसे हुए अन्न की परीक्षाव हाथमुखगत विषयुक्त अन्न का लक्षण

विनिहितभोजनोर्ध्वगतबाष्पयुताक्षियुगं-भ्रमति स नासिकाहृदयपीडनमष्यधिकम्॥
करधृतमन्नमाशु नखशातनदाहकरं। मुखगतमश्मवच्च कुरुते रसनां सरुजाम्॥ 9॥

भावार्थ : विषयुक्त अन्न को थाली आदि में परोसा जावें, उससे उठी हुई भाप यदि लग जायें तो आँखों में भ्रांतता होती है। नाक व हृदय में अत्यधिक पीड़ा होती है। उस अन्न को (खाने को) हाथ से उठावें तो फौरन नाखून फटने अथवा गिरने जैसा मालूम होता है और हाथ में जलन पैदा होती है। विषयुक्त अन्न (प्रमाद आदि से खाने में आ जावें) मुँह पर पहुँचते ही जीभ पत्थर के समान कठोर व रसज्ञान शून्य हो जाती है और उसमें पीड़ा होती है।

आमाशय पक्वाशयगत विषयुक्त अन्न का लक्षण

हृदयगतं तु प्रसेकबहुमोहनदाहरुजं। वमनमहातिसारजडताधिकपूरणताम्॥
उदरगतं करोति विषमिंद्रियसंभ्रमतां। द्रवगतलक्षणानि कथयामि यथागमतः॥ 10॥

1. दांतोन, स्नानजल, उबटन, क्वाथ, छिड़कने के वस्तु, चंदन, कस्तूरी आदि लेपन द्रव्य, शय्या, कवच, आभूषण, खड़ाऊँ, आसन, घोड़े व हाथी के पीठ, नस्य, धूंवा (सिगरेट आदि) व अंजन द्रव्य में विष प्रयोग किया करते हैं।
2. आजकल भी बहुत से भोजन के पहले एक ग्रास अन्न को अलग रखते हैं। बहुत से जगह जीमने को बैठने के पहले बहुत से ग्रासों को मैदान व ऊँचे स्थानों में रखते हैं। जब तक कौवा आदि नहीं खावें, भोजन नहीं करते हैं। यदि पितरों के उद्देश्य से करें तो वह मिथ्यात्व नहीं है। इसलिए जैन धर्मावलम्बियों को भी यह विधेय विधान है। हेय नहीं। इससे ऐसा सिद्ध होता है।

भावार्थ : वह विषयुक्त अन्न हृदय (आमाशय) में जावें तो अधिक लार टपकता है। एवं मूर्च्छा, दाह, पीडा, वमन, अतिसार, जड़ता व आध्मान (अफराना) आदि विकार उत्पन्न होते हैं। यदि वह अन्न उदर (पक्वाशय) में चला जावें तो इंद्रियों में अनेक प्रकार से भ्रम उत्पन्न होते हैं। इंद्रियों में विकृति होती है। वे अपने-अपने कार्य करने में असमर्थ हो जाते है। आगे क्रमशः द्रव पदार्थों में डाले हुए विष के लक्षण का कथन करेंगे।

द्रवपदार्थगत विष लक्षण

विषयुतसद्रवेषु बहुवर्णविचित्रतरं। भवति सुलक्षणं विविधबुद्बुदफेनयुतम्॥
यदपि च मुद्गमाषतुवरीगणपक्वरसे। सुरुचिररेखया विरचितं बहुनीलिकया॥ 11॥

भावार्थ : द्रवपदार्थों (दूध पानी आदि) में विष का संसर्ग हो तो उनमें अनेक प्रकार के विचित्र वर्ण प्रकट होते हैं। तथा उस द्रव में बुलबुले व झाग पैदा होते है। मूंग, उड़द, तुवर आदि धान्य के द्वारा पकाये हुए रस में आदि विष का संसर्ग हो जाये हो उस में बहुत-सी नीलवर्ण की रेखायें दिखने लगती है।

मद्य तोयदधितक्रदुग्धगतविशिष्टविष लक्षण

विषमपि मद्यतोयमुद्गतकालिकया। विलुलितरेखया प्रकुरुते निजलक्षणतां॥
दधिगतमल्पपीतसहितं प्रभया सितया। सुरुचिरताम्रया पयसि तक्रगतं च तथा ॥12॥

भावार्थ : मद्य या जल में यदि विष का संसर्ग हुआ तो उसमें काले वर्ण की रेखायें दिखने लगती है। दही में विष रहा तो वह दही सफेद वर्ण के साथ जरा पीले वर्ण से भी युक्त हो जाता है। दूध और छाछ में यदि विष मिश्रित होवें तो उनमें लाल रंग की रेखायें पैदा होती है।

द्रवगत व शाकादिगतविषलक्षण

पुनरपि तद्द्रवेषु पतितं प्रतिबिंबमिह। द्वितयमथान्यदेव विकृतं न च पश्यचति वा॥
अशनविशेषशाकबहुसूपगणोऽत्र विषाद्विरसविकीर्णपर्युषितवच्च भवेदचिरात् ॥13॥

भावार्थ : विषयुक्त द्रवपदार्थों में पतित प्रतिबिम्ब एक के बजाय दो दिखने लगता है या अन्य विकृतरूप से दिखता है अथवा बिल्कुल दिखता ही नहीं। भोजन विशेष (भात, रोटी आदि) शाक, दाल वगैरह विषदूषित होने से शीघ्र ही विरस फैले हुए अथवा फटे जैसे व बासीके समान हो जाते हैं।

दंतकाष्ठ, अवलेख, मुखवास व लेपगत विष लक्षण

विषयुदंतकाष्ठमबिशीर्णविकूर्चयुतं। भवति ततो मुखश्वयथुरुग्रविपाकरुजः॥
तदिव तदावलेखमुखवासगणेऽपि नृणां। स्फुटितमसूरिकाप्रभृतिरप्यनुलेपनतः ॥14॥

भावार्थ : दतोन में विष का संसर्ग हो तो वह फटी छिदी या बिखरी हुई सी व कूची से रहित हो जाती है। ऐसे विष युक्त दतोन से दातून करने से मुँह में सूजन भयंकर पाक, (पकना) व पीड़ा होती

है। विषयुक्त अवलेख (जीभ आदि खुरचने की सलाई) व मुखवास (मुँह को सुगंधित करने का द्रव्य, सुगंधित दंतमंजन आदि) के उपयोग से पूर्ववत् मुख में सूजन, पाक व पीड़ा होती है। विषयुक्त लेपनद्रव्य (स्नो सेंट, चंदन आदि) के प्रलेपन से मुख फट जाता है या स्फोट (फफोले) मसूरिका आदि पिडकायें उत्पन्न होती है।

वस्त्रमाल्यदि गत विषलक्षण

बहिरखिलांगयोग्यवरवस्तुषु तद्वदिह। प्रकटकषायतोयवसनादिषु शोफरुजः॥
शिरसि सकेशशातबहुदुःखमिहास्रगतिर्विवरमुखेषु संभवंति माल्यविषेण नृणाम् ॥15॥

भावार्थ : सर्व अंगोपांग के (शृंगार आदि) काम में आने वाले, सुगंध कषाय जल, वस्त्र, आदि विषजुष्ट पदार्थों के व्यवहार से सर्वशीर में सूजन व पीड़ा होती है। विष युक्त माला को शिर में धारण करने से, सिर के बाल गिर जाते हैं, सिर में अत्यन्त पीड़ा होती है। रोमछिद्रों में से खून गिरने लगता है।

मुकुटपादुकागतविषलक्षण

मुकुटशिरोवलेखनगणेष्वपि माल्यमिव। प्रविदितलक्षणैः समुपलक्षयितव्यमिह॥
अवदरणातिशोफबहुपादगुरुत्वरुजा। विषयुतपादुकाद्यपकृताश्च भवेयुः॥ 16॥

भावार्थ : विषयुक्तमुकुट, शिरोऽवलेखन (कंघा आदि) आदि व्यवहार में आने पर माला के विष के सदृश लक्षण प्रकट होते हैं। विष युक्त पादुका (खडाऊ जूता आदि) के पहरने से पाद फट जाते हैं, सूजन हो जाती है, पाद भारी पीड़ा से संयुक्त व स्पर्शज्ञान शून्य हो जाते हैं।

वाहननस्यधूपगतविषलक्षण

गजतुरगोष्ट्रपृष्ठगतदुष्टविषेण तदा - ननकफसंस्रवश्च निजधातुरिहोरुयुगे ?॥
गुदवृषणध्वजेषु पिटकाश्वयथुप्रभवो। विवरमुखेषु नस्यवरधूपविषेऽस्रगतिः॥ 17॥

भावार्थ : हाथी, घोड़ा व ऊंट के पीठ पर विष प्रयोग करने से, उन सवारियों के मुँह से कफ का स्राव होता है (आँखें लाल होती हैं) और धातु स्राव होता है। उन पर जो सवारी करते हैं, उनके दोनों ऊरुमें गुदा अण्डकोष में फुन्सी व सूजन हो जाती है। विषयुक्त नस्य व धूम के उपयोग से स्रोतों (मुख नाक आदि) से रक्त बहता है और इंद्रिय विकृत होते हैं।

अंजनाभरणगत विष लक्षण

[1]विकृतिरथेंद्रियेषु परितापनमश्रुगति-र्विषबहुलांजनेन भवति प्रबलांध्यमपि॥
विषनिहतप्रभाणि न विभांत्यखिलाभरणान्यतिविदहन्त्यरुंष्यपि भवंति तदाश्रयतः॥ 18॥

1. इन्द्रियों में विकृति नस्य व धूम प्रयोग से होती है, क्योंकि अंजन के प्रयोग से केवल आँखों में विकार उत्पन्न होता है, अन्य इन्द्रियों में नहीं। ग्रंथांतर में भी लिखा है- ''नस्यधूमगते लिंगमिंद्रियाणां तु वैकृतम्।''

भावार्थ : विषयुक्त अंजन के उपयोग से आँख में दाह, अश्रुपात, व अंधपना भी आ जाता है। विष से दूषित आभरण उज्ज्वल रूप से दिखते नहीं (जैसे पहले चमकते थे सुंदर दिखते थे वैसे नहीं दिखते) और वैसे आभरणों को धारण करने से उन अवयवों में जलन होती है और छोटी-छोटी फुन्सी पैदा होती है।

विषमभिवीक्ष्य तक्षणविरागविलोचनता। भवति चकोरनाम[1]-विहगश्च तथा म्रियते॥
पुनरपि जीवनिजीवक इति क्षितिमुल्लिखति। पृषतगणोऽति रौति सहसैव मयूरवरः॥ 19॥

भावार्थ : विष युक्त भोजन द्रव्य आदि को देखने से चकोर पक्षी के आँख का रंग बदल जाता है। जीवन जीवक पक्षी मर जाते है। पृषत् (सामर) भूमि को खुरचने लगता है। मोर अकस्मात् शब्द करने लगता है।

विषचिकित्सा

इति विषसंप्रयुक्तबहुवस्तुषु तद्विषतां। प्रबलविदाहदरणश्वयथुप्रकरैः॥
विषमवगम्य नस्यनयनांजनपानयुतैः। विषमुपसंहरेद्वमनमत्र विरेकगणैः॥ 20॥

भावार्थ : प्रबल दाह, दरण (फट जाना) सूजन आदि उपद्रवों से उपरोक्त अनेक वस्तुओं में विष का संसर्ग था ऐसा जानकर उन पदार्थों के उपयोग से उत्पन्न विष विकारों को, उनके योग्य नस्य, नेत्रांजन, पानक, लेप आदिकों से एवं वमन व विरेचन से विष को बाहर निकाल कर उपशमन करना चाहिए।

क्षितिपतिरात्मदक्षिणकरे परिबंध्य विषं। क्षपयति मूषिका[2]जरुहामपि चान्न[3]गतं॥
हृदयमिहाभिरक्षितुमनास्सपिबेत्प्रथमं। घृतगुडमिश्रितातिहिमशिंबरसं सततम्॥ 21॥

भावार्थ : राजा अपने दाहिने हाथ में मूषिका[4] और अजरूहा[5] नामक औषध विशेष को बाँध

1. मृग पक्षियों से भी विष की परीक्षा की जाती है, इसलिए राजाओं को ऐसे प्राणियों को रसोई घर के निकट रखना चाहिए।
2. **मुद्रिकामिति** पाठांतरं। इस पाठ के अनुसार अनेक औषधियों से संस्कृत व विघ्नविनाशक रत्नोपरत्नों से संयुक्त अंगूठी को पहिनना चाहिए। श्लोक में ''परिवंध्य'' यह पद होने से एवं ग्रंथांतरों में भी ''मूषिका का पाठ होने से उसी को रखा गया है।
3. **चांतगतमिति** पाठांतरं।
4. यह रोमवाली काली चूहे की भांति होती है।
5. इसका कंद सफेद छोटी-छोटी फुन्सी के सदृश उठाव से युक्त होता है। उसको भेद करने पर सुरमा के सदृश काला दिखता है। ग्रंथांतर में कहा है -

   कदंः श्वेतः सपिडको भेदे चांजनसन्निभः। गंधलेपनपानैस्तु विषं जरयते नृणां।
   दष्टानां विषपीतानां ये चान्ये विषमोहिताः। विषं जरयते तेषां तस्मादजरुहा स्मृता।
   मूषिका लोमशा कृष्णा भवेत् सापि च तद्गुणा।

लेवे तो उस हाथ से अन्न आदि कोई भी विषयुक्त पदार्थ का स्पर्श करने पर वे निर्विष हो जाते हैं। विष से हृदय को रक्षण करने की इच्छा रखने वाला राजा प्रथम घी व गुड़ से मिश्रित अत्यन्त ठंडा शिम्बी धान्य का रस (यूष) हमेशा पीवें।

विषघ्न घृत

समधुकशर्करातिविषसहितेंद्रलता। त्रिकटुकचूर्णसंस्कृतघृतं प्रविलिह्य पुनः॥
नृपतिरशंकया स गरमप्याभिनीतमरं। सरसरसान्नपानमवगृह्य सुखी भवति॥ 22॥

भावार्थ : मुलैठी, शक्कर, अतीस, इंद्रलता, त्रिकटु इनके कषाय कल्क से संस्कृत घृत को विष पीड़ित को चटा देवें। उसके बाद अच्छे रससहित अन्नपान के साथ भोजन करावें, जिससे विष की पीड़ा दूर होती है।

विषभेद लक्षण वर्णन प्रतिज्ञा

अथ विषभेदलक्षणचिकित्सितमप्याखिलं। विविधविकल्पजालमुपसंहृतमागमतः॥
सुविदितवस्तुविस्तरमिहाल्पवचोविभवैः। कतिपयसत्पथैर्निगदितं प्रवदामि विदाम्॥ 23॥

भावार्थ : अब अनेक प्रकार के भेदों से युक्त सम्पूर्ण विष के भेद, लक्षण व चिकित्सा को आगम से संग्रह करके, जिसका अत्यन्त विस्तृत वर्णन होने पर भी संक्षिप्त रूप से जैसे पूर्वाचार्यों ने अनेक शुभ मार्गों से कथन किया है उसी प्रकार हम भी कथन करेंगे।

त्रिविधपदार्थ व पोषक लक्षण

त्रिविधमिहोदितं जगति वस्तुसमस्तमिदं। निजगुणयुक्तपोषकविघातक नोभयतः॥
दधिघृतदुग्धतक्रयवशालिमसूरगुडा-। द्यखिलमपापहेतुरिति पोषकमात्महितम्॥ 24॥

भावार्थ : इस लोक में जितने भी वस्तु हैं वे सब तीन भेद से विभक्त हैं। एक पोषक गुण से युक्त, दूसरा विघातक गुण से युक्त व तीसरा पोषक व विघातक दोनो गुणों से रहित। दही, घी, दूध, छाछ, जौ, शालि, मसूर, गुड़ आदि के सेवन पाप के कारण नहीं है और आत्महित को पोषण करने वाला है। अतएव ऐसे पदार्थ पोषक कहालते हैं।

विघात व अनुभयलक्षण

विषमधुमद्यमांसनिकराद्यतिपापकरं। भवभवघातको भवति तच्च विघातकरं॥
तृणबहुवृक्षगुल्मचयवीरुध एव नृणा-मनुभयकारिणो भुवि भवेयुरभक्षगणाः॥ 25॥

भावार्थ : विष, मधु, मद्य, माँस आदि पदार्थ मनुष्य को अत्यन्त पापार्जन कराने वाले हैं और भव-भव को बिगाड़ने वाले हैं। इसलिए उनको विघातक कहा है। घास, बहुत से वृक्ष, गुल्म, वीरुध वगैरह मनुष्यों को न विघातक है न पोषक है। परन्तु मनुष्यों के लिए लोक में ये अभक्ष्य माने गए हैं।

मद्यपान से अनर्थ

नयविनयाद्युपेतचरितोऽपिविनष्टमना। विचरति सर्वमालपति कार्यमकार्यमपि॥
स्वसृदुहितृषु मातृषु च कामवशाद्रमते। शुचिमशुचिं सदा हरति मद्यमदान्मनुजः॥ 26॥
अथ इह मद्यपानमतिपापविकारकरं। परुषतरामयैकनिलयं नरलाघवकृत्।
परिहृतमुत्तमैरखिलधर्मधनैः पुरुषै-। रुभयभवार्थघातकमनर्थनिमित्तमिति॥ 27॥

भावार्थ : मनुष्य नीति, विनय आदि सच्चरित्रों से युक्त होते हुए भी मद्य के मद से उसकी मानसिकविचारशक्ति नष्ट होकर वह इधर-उधर (पागलों के सदृश) फिजूल घूमता है। हेयाहेय विचार रहित होकर सर्व प्रकार के वचनों को बोलता है। बड़बड़ करता है। यह कार्य है यह अकार्य है इत्यादि भेदज्ञान उसके हृदय में न होने से अकार्य-कार्य को भी कर डालता है। स्वसृ (बहिन) पुत्री व माता के साथ में भी कामांध होकर भागता है। पवित्र और अपवित्र पदार्थों को विवेकशून्य होकर खा लेता है।

अतएव यह मद्यपान अत्यन्त पाप व विकार को उत्पन्न करने वाला है। एवं अनेक भयंकर रोगों के उत्पन्न होने के लिए एक मुख्य आधारभूत है। एवं यह मनुष्य को हलका बना देता है। इसलिए उत्तम धर्मात्मा पुरुषों ने उस मद्यपान को दोनों भव के कल्याण की सामग्रियों को घात करने का निमित्त व अत्यन्त अनर्थकारी समझकर उसे छोड़ दिया है। वह सर्वदा हेय है।

विष का तीन भेद

इति कथितेषु तेषु विषमेषु मयागमतः। पृथगवगृह्य लक्षणगुणैस्सह विधीयते॥
त्रिविधविकल्पितं वनजजंगमकृत्रिमतः। सकलमिहोपसंहृतचोभिरशेषहितं॥ 28॥

भावार्थ : इस प्रकार कथन किए हुए विषम विषों का आगम के अनुसार पृथक्-पृथक् रूप से लक्षण व गुणों के कथन पूर्वक निरूपण किया जायगा। वह विष वनज (स्थावर) जंगम व कृत्रिम भेद से तीन प्रकार से विभक्त है। उन सबको बहुत संक्षेप के साथ सबके हित की वांछा से कहेंगे।

दशविधस्थावर विष

स्थिरविषमत्र तद्दशविधं भवतीति मतं। सुविमलमूलपल्लवसुपुष्पफलप्रकरैः॥
त्वगपि च दुग्धनिर्यसनतद्रुमसारवरैरधिकसुधातुभिर्बहुविधोक्तसुकंदगणैः॥ 29॥

भावार्थ : वजनज (स्थावर) विष दस प्रकार के होते हैं। मूलग (जड़) विष, पत्रविष, पुष्पविष, फलविष, त्वग् (छाल) विष, दुग्धविष, वृक्षनिर्यास (गोंद) विष, रससारविष, धातुविष, कंदविष, इस प्रकार यह विष दस प्रकार का है, अर्थात् उपरोक्त मूल आदि (वनस्पति व पार्थिव) दश प्रकार के अवयवों में विष रहता है।

मूल पत्र फल पुष्प विष वर्णन

अथ कृतकारकाश्ववरमारकगुंजलता - प्रभृतिविषं भवेदमलमूलत एव सदा।
विषदलिका करंभसहितानि च पत्रविषं। कनकसतुंविकादिफलपत्रसुपुष्पविषं॥ 30॥

भावार्थ : कृतक[1], अरक, अश्वमार (कनेर) गुंजा (घुंघची) आदि के जड में विष रहता है। अतः इसे मूलविष कहते हैं। विषदलिकी (विषपत्रिका) करंभ आदि के पत्रों में विष रहता है। इसलिए वे पत्र विषय कहलाते हैं। कनक (धतूरा) तुम्बिका (कड़वी, लौकी) आदि के फल, पत्ते व फूल में विष रहता है। इसलिए फल विष आदि कहलाते हैं।

सारनिर्यासत्वक्धातुविष वर्णन

विषमिह सारनिर्यसनचर्म च [2]चिल्लतरो-र्दिनकरतिल्वकस्नुहिगणोऽधिक दुग्धविषं॥
जलहरितालगंधकशिलाद्युरुधातुविषं। पृथगथ वक्ष्यते तदनु कंदविषं विषमम्॥ 31॥

भावार्थ : चिल्ल वृक्ष के सारनिर्यास (गोंद) व छाल, सार निर्यास, त्वग्विष कहलाते हैं। अकौवा, लोध, थूहर की सब जाति ये दुग्धविष हैं, अर्थात् इनके दूध में विष हरता है। जल, हरताल, गंधक, मैनसिल, संखिया आदि ये धातुविषय हैं अर्थात् खान से निकलने वाले पार्थिव विष हैं। अब उपर्युक्त विषों से उत्पन्न पृथक् -पृथक् लक्षण कहकर पश्चात् कंदविष का वर्णन करेंगे।

मूलादिविषजन्य लक्षण

प्रलपनमोहवेष्टनमतीव च मूलविषा-च्छ्वसनविजृंभवेष्टनगुणा अपि पत्रविषात्॥
जठरगुरुत्वमोहवमनानि च पुष्पविषात्। फलविषतोऽरुचिर्वृषणशोफविदाहयुतम्॥ 32॥

भावार्थ : यदि मूलविष खाने में आ जाये, तो प्रलाप (बड़बड़ाना) मूर्च्छा, व उद्वेष्टन[3] हो जाता है। पत्रविष के उपयोग से श्वास, जंभाई उद्वेष्टन उत्पन्न होता है। पुष्पविष से पेट में भारीपन, मूर्च्छा, वमन हो जाता है। फलविष से अरुचि, अंडकोष में सूजन व दाह उत्पन्न होता है।

त्वक्सारनिर्यसन विषजन्य लक्षण

त्वगमलसारनिर्यसनवर्गविषैश्च तथा। शिरसि रुजाननातिपरुषांध्यकफोल्वणता॥
गुरुरसनातिफेनवमनातिविरेकयुतम्। भवति विशेषलक्षणमिहाखिलदुग्धविषे॥ 33॥

---

1. कृतक आदि जिनके दूसरे पर्याय शब्द टीका में न लिखकर वैसे ही उद्धृत किए गए हैं, ऐसे विषों के पर्याय आदि किसी कोष में भी नहीं मिलता। यह भी पता नहीं कि यह कहाँ मिल सकता है। इन्हें व्यवहार में क्या कहते हैं। इसीलिए बड़े-बड़े टीकाकारों ने भी लिखा है कि- मूलादिविषाणां यत्नपरैरपि ज्ञातुमशक्यत्वात् तत्र तानि हिमवत्प्रदेशे किरातशबरादिभ्यो ज्ञेयानि।
2. बिल्ल इति पाठांतरं।
3. गीले कपड़े से शरीर को ढकने जैसे विकार मालूम होना।

भावार्थ : त्वक् (छाल) सारनिर्यास (गोंद) विष से शिरोपीड़ा, मुख काठिन्य, अंधेपना, कफातिरेक होते हैं। सम्पूर्ण दूध सम्बन्धी विष से जीभ के भारी होना मुख से अत्यन्त फेन का वमन व अत्यन्त विरेचन आदि लक्षण प्रकट होते हैं।

धातुविषजन्य लक्षण

हृदयविदाहमोहमुखशोषणमत्र भवे-दधिकृतधातुजेषु निखिलेषु विषेषु नृणां॥
अथ कथितानि तानि विषमाणि विषाणि। पुरुषमकाल एवं सहसा क्षपयंति भृशं॥ 34॥

भावार्थ : धातुज सर्वविष के उपयोग से मनुष्यों में हृदयदाह, मूर्च्छा, मुखशोषण होता है। इस प्रकार पूर्वकथित समस्त भयंकर विष प्राणियों को उनके आयुष्य की पूर्ति हुए बिना ही अकाल में नाश करते हैं।

त्रयोदशविधकंदजविष व कालकूटलक्षण

कंदजानि विषमाणि विषाणि ज्ञापयामि निजलक्षणभेदैः।
कालकूटविषकर्कट[1]-कोद्यत् कर्दमाख्यवरसर्षपकेन॥ 35॥
वत्सनाभनिजमूलकयुक्तं पुण्डरीकसुमहाविषसम्भा।
मुस्तया सहितमप्यपरं स्यादन्य हालहलनामविषं च॥ 36॥
मृत्यरूपनिजलक्षणपालाकाख्यमन्यदपरं च तथा वै-।
राटकोग्रविषमप्यतिघोरं वीरशासनवशादवगम्य॥ 37॥
तत्रयोदशविधं विषमुक्तलक्षणैस्समधिगम्य चिकित्सेत् ।
स्पर्शहानिरतिवेपथुरुद्यत् कालकूटविषलक्षणमेतत् ॥38॥

भावार्थ : कंदज विष अत्यन्त भयंकर होते हैं, अब उनका लक्षण, भेद सहित वर्णन करेंगे। कालकूट, कर्कटक, सर्षपक, कर्दमक, वत्सनाभ, मूलक, पुण्डरीक, महाविष संभाविष (श्रृंगी विष) मुस्तक, हलाहल, पालक, वैराटक इस प्रकार कंदज विष तेरह प्रकार के होते हैं। यह महावीर भगवान् के शासन से जानकर कहा गया है। ये विष अत्यन्त उग्र व घोर है और मनुष्यों को साक्षात् मृत्यु के समान भयंकर है। (ये विष किसी प्रकार से उपयेाग में आ जाये तो) इन विषों के पृथक् -पृथक् लक्षणों से विष का निर्णय कर उनकी चिकित्सा करनी चाहिए। कालकूट विष के संयोग से शरीर का स्पर्शज्ञान शक्ति का नाश व अत्यन्त कम्प (काम्पना) ये लक्षण प्रकट होते हैं।

कर्कटक व कर्दमकविषजन्यलक्षण

उत्पतत्यटति चातिहसत्यन्यानशत्यधिककर्कटकेन।
कर्दमेन नयनद्वयपीत सातिसारपरितापनमुक्तम्॥ 39॥

1. मर्कटक-इति पाठांतरं।

भावार्थ : कर्कटक विष से दूषित मनुष्य उछलता है। इधर-उधर फिरता है। अत्यधिक हँसता है। कर्दमक विष से मनुष्य की दोनों आँखें पीली हो जाती है। और अतिसार व दाह होता है।

सर्षप वत्सनाभ विषजन्य लक्षण

सर्षपेण बहुवातविकाराध्मानशूलपिटकाः प्रभवः स्यात्।
पीतनेत्रमलमूत्रकरं तद्वत्सनाभमतिनिश्चलकंठम्॥ 40॥

भावार्थ : सर्षपक विष से अनेक प्रकार के वातविकार होते है और पेट का अफराना, शूल व पिटक (फुन्सी)उत्पन्न होते हैं तथा आँख, मल, मूत्र पीले हो जाते हैं। गर्दन का बिल्कुल स्तंभ होती है अर्थात् इधर-उधर हिल नहीं सकती है।

मूलकपुंडकविषजन्यलक्षण

मूलकेन वमनाधिकहिक्का गात्रमोक्षविषमेक्षणता स्यात्।
रक्तलोचनमहोदरता तत् पुण्डरीकविषमातिविषेण॥ 41॥

भावार्थ : मूलक विषसे अत्यन्त वमन, हिचकी, शरीर की शिथिलता व आँखों की विषमता हो जाती है। पुंडरीक विष से आँखें लाल हो जाती हैं। और उदर फूल (आध्मान)जाता है।

महाविषसांभाविषजन्यलक्षण

ग्रंथिजन्महृदयेप्यतिशूलं संभवेदिह महाविषदोषात्।
संभयात्र बहुसादनजंघोरूदराद्यधिकशोफविवृद्धिः॥42॥

भावार्थ : महाविष के दोष से ग्रंथि(गांठ)व हृदय मे अत्यन्त शूल उत्पन्न होता है। संभा (श्रृंगी) नामक विष से शरीर ढीला पड़ जाता है और जंघा (जांघ) उरू, उदर, आदि स्थानों में अत्यधिक शोफ उत्पन्न होता है।

स्तंभितातिगुरुकंपितगात्रो मुस्तया हततनुर्मनुजस्स्यात्।
भ्रामतः श्वसिति मुह्यति ना हालाहलेन विगताखिलचेष्टैः॥43॥

भावार्थ : मुस्तक विष से मनुष्य का शरीर स्तब्ध, भारी व कंप से युक्त होता है। हालाहल विष से मनुष्य एकदम भ्रम युक्त होते हुए व श्वास से युक्त और मूर्च्छित होता है। उसकी सर्व चेष्टायें बंद हो जाती हैं।

पालक वैराटविषजन्य लक्षण

दुर्बलात्मगलरुद्धमरुद्वाक्संगवानिह भवेदिति पाला-।
केन तद्वदतिदुः खतनुर्वैराटकेन हृतविह्वलदृष्टिः॥ 44॥

भावार्थ : पालक विष के योग से एकदम दुर्बल हो जाता है। उसका गला, श्वास व वचन

सबके सब रुक जाते हैं। एवं च वैराटक नामक विष से रोगी के शरीर में अत्यन्त पीड़ा होती है। एकदम उसकी दृष्टि विह्वल हो जाती है।

कंदजविष की विशेषता

प्रोक्तलक्षणविषाण्यातितीव्राण्युग्रवीर्यसहितान्यहितानि।
घ्नंति तानि दशभिस्स्वगुणैर्युक्तानि मर्त्यमाचिरादधिकानि ॥45॥

भावार्थ : उपर्युक्त प्रकार के लक्षणों से वर्णन किए गए तेरह प्रकार के कंदजविष अत्यन्त तीव्र व तीव्रवीर्ययुक्त होते हैं और मनुष्यों का अत्यन्त अहित करते हैं। ये कंदजविष तेरह प्रकार के स्वगुणों से संयुक्त होते हैं। अतएव (अन्य विषों की अपेक्षा) मनुष्यों को शीघ्र मार डालते हैं।

विष के दशगुण

रूक्षमुष्णमतितीक्ष्णमथाशुव्याप्यपाकिलघु चोग्रविकर्षि।
सूक्ष्ममेव विशदं विषमेतन्मारयद्दशगुणान्वितमाशु ॥46॥

भावार्थ : रूक्ष (रूखा) उष्ण (गरम) तीक्ष्ण (मिर्च आदि के सदृश) आशु (शीघ्र फैलाने वाला) व्यापक (व्यवायि पहले सब शरीर में व्याप्त होकर पश्चात् पके) अपाकि (जठराग्नि से आहार के सदृश पकने में अशक्य) लघु (हल्का) विकर्षि (विकाशि) (संधि बंधनों को ढीला करने के स्वभाव) सूक्ष्म (बारीक से बारीक छिद्रों में प्रवेश करने वाला गुण) विशद (पिच्छिलता से रहित) ये विष के दशगुण हैं। इन दश ही गुणों से संयुक्त जो भी विष मनुष्य को शीघ्र मार डालते हैं।

दशगुणों के कार्य

रूक्षतोऽनिलमिहोष्णतया तत् कोपयत्यपि च पित्तमथास्रम्।
सूक्ष्मतः सरति सर्वशरीरं तीक्ष्णतोऽवयवमर्मविभेदी ॥47॥

भावार्थ : विष के रूक्षगुण से वातोद्रेक होता है उष्ण गुण से पित्त व रक्त का उद्रेक होता है। सूक्ष्मगुणयुक्त विष सर्वशरीर में सूक्ष्म से सूक्ष्म अवयवों में जल्दी पसरता है। तीक्ष्णगुण से अवयव व मर्म का भेद होता है।

व्यापकादखिलदेहमिहाप्नोत्याशु कारकतयाशु निहंति।
तद्विकार्षिगुणतोऽधिकधातून् क्षोमयन्त्यपि विशेद्विशदत्वात् ॥48॥

भावार्थ : व्यापक (व्यवायि) गुण से वह सर्वदेह को शीघ्र व्याप्त होता है। आशु गुण से जल्दी मनुष्य का नाश होता है। विकर्षि (विकाशि) गुण से सर्व धातु क्षुभित होते है और विशद से सर्व धातुवों में वह प्रवेश करता है।

लंघनादिह निवर्तयितुं तन्नैव शक्यमतिपाकिगुणत्वात्।
क्लेशयत्यपि न शोधितमेतद्विश्वमाशु शमयेद्विषमुग्रम् ॥49॥

भावार्थ : वह विष लघुगुण के कारण उसे शरीर से निकालने के लिए कोई चिकित्सा समर्थ नहीं होती है। अविपाकि गुण से युक्त होने से यदि उसका शोधन शीघ्र न करें, तो वह अत्यधिक दुःख उत्पन्न करता है। यह सब तरह के विष अत्यन्त भयंकर है। इसलिए इनको योग्य उपायों के द्वारा उपशमन करना चाहिए।

दूषी विष लक्षण

शीर्णजीर्णमनलाशनिपातात्यातपातिहिमवृष्टि विघृष्टम्।
तद्विषं तरुणमुग्रविषघ्नैराहतं भवति दूषिविषाख्यम्॥ 50॥

भावार्थ : शीर्ण व जीर्ण (अत्यन्त पुराना)होने से, आग से जल जाने से बिजली गिर जाने से, अत्यधिक धूप में सूख जाने से, अतिहिम (बरफ) व वर्षा पड़ने से व विषनाशक औषधियों के संयोग से जिस विष का गुण नष्ट प्राय हो चुका हो अथवा (उपरोक्त कारण से दशगुणों में से कुछ गुण नाश हो चुका हो अथवा दशों गुण रहते हुए भी उनकी शक्ति अत्यन्त मंद हो गयी हो) जो तरुण (परिपक्व) हो उस विष को दूषीविष[1] कहते हैं।

दूषीविषजन्य लक्षण

छर्द्यरोचकतृषाज्वरदाह श्वासकासविषमज्वर शोफो-।
न्मादमन्यदतिसारमिदं दूषीविषं प्रकुरुते जठरंच॥ 51॥
कार्श्यमन्यदथशोषमिहान्यद्वृद्धिमन्यदधिकोद्धतनिद्रा-।
ध्यानमन्यदपि तत्कुरुते शुक्लक्षयं बहुविधोग्रविकारान्॥ 52॥

भावार्थ : दूषीविष के उपयेाग होकर जब वह प्रकोपावस्था को प्राप्त होता है तब वमन, अरोचकता, प्यास, ज्वर, दाह, श्वास, कास, विषमज्वर, सूजन, उन्माद (पागलपना) अतिसार व उदररोग (जलोदर आदि) को उत्पन्न करता है। अर्थात् दूषीविष के प्रकुपित होने पर ये लक्षण (उपद्रव) प्रकट होते हैं। प्रकुपित कोई दूषीविष शरीर को कृश कर देता है, कोई सुखा देता है, कोई अंत्रवृद्धि या अंडवृद्धि आदि को पैदा कर देता है। कोई तो अधिक निद्रा करता है। कोई पेट को फुला देता है, कोई शुक्रधातु का नाश करता है। यह दूषीविष इसी प्रकार के अनेक प्रकार के भयंकर रोगों को उत्पन्न करता है।

1. शरीर में रहा हुआ यह (कम शक्ति वाला) विष विपरीत देशकाल व अन्न पानों के संयोग से व दिन में सोना आदि विरुद्ध आचरणों से, प्रथम स्वयं बार-बार होकर पश्चात् धातुओं को दूषित करता है (अपने आप स्वतंत्र रूप से धातुओं को दूषण करने की शक्ति इसके अंदर नहीं रहती है)अतः इसे 'दूषीविष' कहा है।

स्थावरविष के सप्तवेग

प्रथमवेग लक्षण

स्थावरोग्रविषवेग इदानीमुच्यते प्रथमवेगविशेषे।
स्तब्धकृष्णरसना सभयं मूर्च्छा भवेध्दृदयरुग्भ्रमणं च॥ 53॥

भावार्थ : स्थावर विष के सात वेग होते हैं। अब उन वेगों के वर्णन करेंगे। विष के प्रथमवेग में मनुष्य की जीभ स्तब्ध (जकड़ जाना) व काली पड़ जाती है। भय के साथ मूर्च्छा हो जाती है। हृदय में पीड़ा व चक्कर आता है।

द्वितीय वेग लक्षण

वेपथुर्गलरुजातिविदाहस्वेदजृंभणतृषोदरशूलाः ।
ते द्वितीयविषवेगकृतास्स्युः सांत्रकूजनमपि प्रबलं च॥ 54॥

भावार्थ : विष के द्वितीय वेग में शरीर में कंप, गलपीड़ा, अतिदाह, पसीना, जंभाई, तृषा, उदरशूल आदि विकार उत्पन्न होते हैं एवं अंत्र में प्रबल शब्द (गुड़गुड़ाहट) भी होने लगता है।

तृतीय वेग लक्षण

आमशूलगलतालुविशोषोच्छूनपीत तिमिराक्षियुगं च।
ते तृतीयविषवेगविशेषात् संभवंत्यखिलकंदविषेषु॥ 55॥

भावार्थ : समस्त कंदज (स्थावर)विषों के तीसरे वेग में आमाशय में अत्यन्त शूल होता है (इस वेग में विष आमाशय में पहुँच जाता है) गला और तालू सूख जाते हैं। आँखें सूज जाती हैं और पीली या काली हो जाती है।

चतुर्थवेगलक्षण

सांत्रकूजनमथोदरशूला हिक्कया च शिरसोऽतिगुरुत्वम्।
तच्चतुर्थविषवेगविकाराः प्राणिनामतिविषप्रभवास्ते॥ 56॥

भावार्थ : उग्र विषों के भक्षण से जो चौथा वेग उत्पन्न होता है उसमें प्राणियों के अंत्र में गुड़गुड़ाहट शब्द, उदरशूल, हिचकी और शिर अत्यन्त भारी हो जाता है।

पंचम व षष्टवेगलक्षण

पर्वभेदकफसंस्रववैवर्ण्यं भवेदधिकपंचमवेगे।
सर्वदोषविषमोप्यतिसारः शूलमोहसहितः खलु षष्टे॥ 57॥

भावार्थ : विष के पांचवे वेग में संधियों में भिदने जैसी पीड़ा होती है, कफ का स्राव (गिरना) होता है। शरीर का वर्ण बदल जाता है और सर्व दोषों (वात पित्त कफों) का प्रकोप होता है। विष के

छटे वेग में बहुत दस्त लगते हैं। शूल होता है व वह मूर्च्छित हो जाता है।

सप्तमवेग लक्षण

स्कंधपृष्टचलनाधिकभङ्गाश्वासरोध इति सप्तवेगे।
तं निरीक्ष्य विषवेगविधिज्ञः शीघ्रमेव शमयेद्विषमुग्रम्॥ 58॥

भावार्थ : सातवें वेग में कंधे, पीठ, कमर टूटते हैं और श्वास रुक जाता है। उन सब विष वेगों को जाननेवाला वैद्य, उपरोक्त लक्षणों से विष का निर्णय कर के शीघ्र ही भयंकर विष का शमन करें।

विषचिकित्सा

प्रथमद्वितीयवेग चिकित्सा

वामयेत्प्रथमवेगविषार्तं शीततोयपरिषिक्तशरीरम्।
पाययेद्घृतयुतागदमेव शोधयेदुभयतो द्वितये च॥ 59॥

भावार्थ : विष के प्रथमवेग में विषदूषित रोगी को वमन कराकर शरीर पर ठण्डा जल छिड़कना अथवा ठण्डा पानी पिलाना चाहिए। पश्चात् घृत से युक्त अगद (विष नाशक औषधि) पिलावें। द्वितीय वेग में वमन कराकर विरेचन कराना चाहिए।

तृतीयचतुर्थवेग चिकित्सा

नस्यमंजनमथागदपानं तत्तृतीयविषवेगविशेषे।
सर्वमुक्तमगदं घृतहीनं योजयेत्कथितवेगचतुर्थे॥ 60॥

भावार्थ : विष के तृतीय वेग में नस्य, अंजन व अगद का पान कराना चाहिए। चतुर्थ विषवेग में समस्त अगद घृतहीन करके प्रयोग करना चाहिए।

पंचमषष्टवेग चिकित्सा

पंचमे मधुरभेषजनिर्यूषान्वितागदमयापि च षष्टे।
योजयेत्तदतिसारचिकित्सां नस्यमंजनमतिप्रबलं च ॥61॥

भावार्थ : विष के पंचमवेग में मधुर औषधियों से बने हुए क्वाथ के साथ अगद प्रयोग करना चाहिए। और छठे विषवेग में अतिसार रोग की चिकित्सा के सदृश चिकित्सा करें और प्रबल नस्य अंजन आदि का प्रयोग करें।

सप्तमवेग चिकित्सा

तीक्ष्णमंजनमथाप्यवपीडं कारयेच्छिरसि काकपदं वा।
सप्तमे विषकृताधिकवेगे निर्विषीकरणमन्यदशेषम् ॥63॥

भावार्थ : विष के सप्तमवेग में तीक्ष्ण अंजन व अवपीडननस्य का प्रयोग करना चाहिए। एवं

शिर में काकपद (कौवे के पाद के समान शस्त्र से चीरना चाहिए) का प्रयोग और भी विष दूर करने वाले समस्त प्रयोगों को करना चाहिए।

गरहारी घृत

सारिबाग्निककटुत्रिकपाठापाटलीककिणिहीसहरिद्रा-।
पीलुकामृतलतासशिरीषैः पाचितं घृतमरं गरहारी॥ 63॥

भावार्थ : सरिवा, चित्रक, त्रिकटु (सोंठ मिर्च, पीपल) पाठा, पाढल, चिरचिरा, हल्दी, पीलुवृक्ष, अमृतबेल, शिरीष इनके द्वारा पकाया हुआ घृत समस्त प्रकार के विषों को नाश करता है।

उग्रविषारी घृत

कुष्ठचंदनहरेणुहरिद्रादेवदारुबृहतीद्वयमंजिष्ठा -।
प्रियंगुसविडंगसुनीलीसारिवातगरपूतिकरंजैः ॥ 64॥
पक्वसर्पिरखिलोग्रविषारि तं निषेव्य जयतीह विषाणि।
पाननस्यनयनांजनलेपान्योजययेद्धृतवरेण नराणाम् ॥65॥

भावार्थ : कूठ, चंदन, रेणुका हलदी, देवदारु, छोटी बड़ी कटेहरी, मंजीठ, फूलप्रियंगु, वायविडंग, नीलीवृक्ष, सारिवा, तगर, दुर्गंध करंज, इनसे पका हुआ घृत समस्त उग्र विषों को नाश करने के लिए समर्थ है। (इसलिए इसका नाम उग्रविषारी रखा है) इसे सेवन करने वाला समस्त विषों को जीतता है। एवं विष पीड़ित मनुष्यों को इस उत्तम घृत से पान, नस्य, अंजन लेपनादि की योजना करनी चाहिए।

दूषीविषारिअगद

पिप्पलीमधुककुंकुमकुष्ठध्यामकस्तगरलोध्रसमांसी-।
चंदनोरुरुचकामृतवल्येलास्सुचूर्ण्य सितगव्यघृताभ्याम्॥66॥
मिश्रितौषधसमूहमिमं संभक्ष्य मंक्षु शमयत्यतिदूषी-।
दुर्विषं विषमदाहतृषातीव्रज्वरप्रभूतिसर्वविकारान् ॥67॥

भावार्थ : पीपल, मुलैठी, कुंकुम (केशर) कूठ, ध्यामक (गंधद्रव्य विशेष) तगर, लोध, जटामांसी, चंदन, सज्जीखार, गिलोय, छोटी इलायची, इनको अच्छी तरह चूर्णकर शक्कर व गाय के घृत के साथ मिलावें, उसे यदि खावें तो दूषीविष, विषमदाह, तृषा, तीव्रज्वर आदि समस्त दूषीविषजन्य विकार शांत होते हैं।

इति स्थावरविष वर्णन

अथ जंगमविषवर्णन

जंगमविष के षोडशभेद

जंगमाख्यविषमप्यतिघोरं प्रोच्यते तदनु षोडशभेदम् ।
दृष्टिनिश्वसिततीक्ष्णसुदंष्ट्रालालमूत्रमलशुक्रनखानि ॥68॥
वातपित्तगुदभागनिजास्थिस्पर्शदंश मुख[1]-शूकशवानि ।
षोडशप्रकटितानि विषाणि प्राणिनामसुहराण्यशुभानि ॥69॥

भावार्थ : अब अत्यन्त भयंकर जंगम (प्राणिसम्बन्धी) विष का वर्णन करेंगे । इस विष के (प्राणियों के शरीर में) सोलह अधिष्ठान (आधार स्थान) हैं। इसलिए इनके भेद भी सोलह हैं। दृष्टि (आँख) निश्वास, डाढ, लाल (लार) मूत्र, मल (विष्ठा) शुक्र (धातु) नख (नाखून) वात, पित्त, गुदाप्रदेश, अस्थि (हड्डी) स्पर्श, मुखसंदंश (मुख के पकड़) शूक (डंक या कांटे) शव (मृत शरीर) ये स्थावर विष के सोलह अधिष्ठान (आधार) हैं। अर्थात् उपरोक्त आधार में विष रहता है, ये विष प्राणियों के प्राणघात करने वाले हैं, अतएव अशुभ स्वरूप हैं।

दृष्टिनिश्वासदंष्ट्रविष

दृष्टिनिश्वसिततीव्रविषास्ते दिव्यरूपभुजगा भुवि जाता।
दंष्ट्रिणोऽश्वखरवानरदुष्टश्वानदाश्व(?)दशनोग्रविषाढ्याः ॥70॥

भावार्थ : जो दिव्य[2] सर्प होते हैं, इनके दृष्टि व निश्वास में तीव्रविष रहता है। जो भूमि में उत्पन्न होने वाले सामान्य सर्प हैं उन के दंष्ट्रा (डाढ) में विष होता है। घोड़ा, गधा, बंदर, दुष्ट (पागल) कुत्ता, बिल्ली आदि के दांतों में उग्रविष होता है।

दंष्ट्रनख विष

शिंशुमारमकरादिचतुष्पाद - प्रतीतबहुदेहिगणास्ते।
दंतपंक्तिनखतीव्रविषोग्राभेकवर्गगृहकोकिलकाश्च ॥71॥

भावार्थ : शिंशुमार(प्राणिविशेष) मगर आदि चार पैर वाले जानवर व कई जाति के मेंढ़क (विषैले) व छिपकली दांत व नाखून में विष संयुक्त होते हैं।

मलमूत्रदंष्ट्रशुक्रलाल विष

ये सरीसृपगणागणितास्ते मूत्रविड्दशनतीव्रविषाढ्याः।
मूषका बहुविधा विषशुक्रा वृश्चिकाश्च विषलालमलोग्राः ॥72॥

1. सित इति पाठांतरं।
2. ये सर्प देवलोक में होते हैं। ऐसे सर्पों का केवल अच्छी तरह देखने व श्वास छोड़ने मात्र से विष फैल जाता है और बहुत दूर तक उसका प्रभाव होता है।

भावार्थ : जो रेंगने वाले जीव हैं उनके मूत्र, मल व दांत में तीव्र विष रहता है। बहुत से प्रकार के चूहों को शुक्र (धातु) में विष रहता है। बिच्छुवों के लार व मल में विष रहता है।

स्पर्शमुखसंदंशवातगुदविष

ये विचित्रतनवो बहुपादाः स्पर्शदंशपवनात्मगुदोग्राः।
दंशतः कुणभवर्गजलूका मारयंति मुखतीव्रविषेण॥ 73॥

भावार्थ : जो प्राणी बहुत विचित्र शरीर वाले हैं जिनको बहुत से पाद है वे स्पर्श मुखसंदंश, वायु व गुदास्थान में विष सहित हैं। कणभ [प्राणि विशेष] जलौंक के मुखसंदंश में तीव्र विष रहता है।

अस्थि पित्त विष

कंटका बहुविषाहतदुष्टसर्पजाश्च वरकीबहुमत्स्या-।
स्थीनि तानि कथितानि विषाण्येषां च पित्तमपि तीव्रविषं स्यात्॥74॥

भावार्थ : कंटक (कांटे) विष से मरे हुए की हड्डी, दुष्टसर्प, वरकी आदि अनेक प्रकार की मछली, इन की हड्डी में विष होता है। अर्थात् ये अस्थिविष हैं। वरकी आदि मत्स्यों के पित्त भी तीव्र विषसंयुक्त है।

शूकशव विष

मक्षिकास्समशका भ्रमराद्याः शूकसंनिहिततीव्रविषास्ते।
यान्यचिंत्यबहुकीटशरीराण्येव तानि शवरूपविषाणि॥ 75॥

भावार्थ : मक्खी, मच्छर, भ्रमर आदि शूक (कड़ा विषैला बाल) विष से युक्त रहते हैं। और भी बहुत से प्रकार के अचिंत्य सूक्ष्म विषैले कीड़े रहते हैं [जो अनेक प्रकार के होते हैं] उनका मृत शरीर विषमय रहता है। उसे शवविष कहते हैं।

जंगम विष में दशगुण

जंगमेष्वपि विषेषु विशेषप्रोक्तलक्षणगुणा दशभेदाः।
संत्यधोऽखिलशरीरजदोषान् कोपयंत्यधिकसर्वविषाणि॥ 76॥

भावार्थ : स्थावर विषों के सदृश जंगम विष में भी, वे दस गुण होते हैं। जिनके लक्षण व गुण आदि का (स्थावर विषप्रकरण में) वर्णन कर चुके हैं। इसलिए सर्व जंगमविष शरीरस्थ सर्वदोष व धातुओं को प्रकुपित करता है।

पाँच प्रकार के सर्प

तत्र जंगमविषेष्वतितीव्रा सर्पजातिरिह पंचविधोऽसौः।
भोगिनोऽथ बहुमण्डलिनो राजीविराजितशरीरयुताश्च॥ 77॥

तत्र ये व्यतिकरप्रभवास्ते वैकरंजनिजनामविशेषाः।
निर्विषाः शुक्रशशिप्रतिमाभास्तोयतत्समयजाजगराद्याः॥ 78॥

भावार्थ : उन जंगम विषों में सर्पजाति का विष अत्यन्त भयंकर होता है। वह सर्प दर्वीकर, मंडली, राजीमंत, वैकरंज, निर्विष, इस प्रकार पाँच भेद से विभक्त है। जो फणवाले सर्प हैं, उन्हें दर्वीकर कहते हैं। जिस के शरीर पर अनेक प्रकार के मंडल (चकत्ते) होते हैं, वे मंडलीसर्प कहलाते हैं। जिन पर रेखायें (लकीर) रहती हैं, वे राजीमंत कहलाते हैं। अन्यजाति की सर्पिणी से किसी अन्य जाति के सर्प के संयोग से जो उत्पन्न होता हैं, उसे वैकरंज कहते हैं। जो विष से रहित व न्यूनविष संयुक्त है पानी व पानी के समय (वर्षात्) में उत्पन्न होते या रहते हैं, जिनके शरीर का वर्ण तोते के समान हरा व चंद्रमा के समान सफेद है, ऐसे सर्प का अजगर (जो अत्यधिक लम्बा-चौड़ा होता है मनुष्य आदिकों को निगल जाता है) आदि सर्प निर्विष कहलाते हैं।

सर्पविषचिकित्सा

दृष्टिनिश्वसिततीव्रविषाणां तत्प्रसाधनकरौषधवर्गैः।
का कथा विषमतीक्ष्णसुदंष्ट्राभिर्दशंति मनुजानुरगा ये॥ 79॥
तेषु दंशविषवेगविशेषात्मीयदोषकृतलक्षणलक्ष्यान्।
सच्चिकित्सितमिह प्रविधास्ये साध्यसाध्यविधिना प्रतिबद्धम्॥ 80॥

भावार्थ : दृष्टिविष व निश्वास विष वाले दिव्यसर्पों के विषशमनकारक औषधियों के सम्बध में क्या चर्चा की जाय! (अर्थात् उनके विष शमन करने वाले कोई औषध नहीं है और ऐसे सर्पों के प्रकोप उसी हालत में होते हैं जब अधर्म की पराकाष्ठा आदि से दुनिया में भयंकर आपत्ति का सान्निध्य हो) जो भौमसर्प अपने विषम व तीक्ष्ण डाढों से मनुष्यों को काट खाते हैं, उससे उत्पन्न विषवेग का स्वरूप व विकृत दोषजन्य लक्षण, उसके (विष के) योग्य चिकित्सा व साध्यासाध्यविचार, इन सब बातों को आगे वर्णन करेंगे।

सर्पदंश के कारण

पुत्ररक्षणपरा मदमत्ता ग्रासलोभवशतः पदघातात्।
स्पर्शतोऽपि भयतोऽपि[1] च सर्पास्ते दशंति बहुधाधिकरोषात्॥ 81॥

भावार्थ : वे सर्प अपने पुत्रों के रक्षण करने की इच्छा से, मदोन्मत होकर, आहार के लोभ से (अथवा काटने की इच्छा से) अधिक धक्का लगने से, स्पर्श से, क्रोध से, प्रायः मनुष्यों को काटते (डसते) हैं।

1. भयभीतविसर्पा इति पाठांतरं।

त्रिविधदंश व स्वर्पितलक्षण

दंशमत्र फणिनां त्रिविधं स्यात् स्वर्पितं रदितमुद्विहितं च।
स्वर्पितं सविषदंतपदैरेकद्विकत्रिकचतुर्भिरिह स्यात्॥ 82॥
तन्निमग्नदशनक्षतयुक्तं शोफवद्विषमतीव्रविषं स्यात्।
तद्विषं विषहरैरतिशीघ्रं नाशयेद्दशनकल्पमशेषम्॥ 83॥

भावार्थ : सर्पों का दंश तीन प्रकार का होता है। एक स्वर्पित, दूसरा रचित व तीसरा उद्विहित। सर्प जब अपने एक, दो, तीन या चार विषैले दांतों को लगाकर काट खाता है, उसे स्वर्पित कहते हैं। वह दांतों के घाव से युक्त वेदना शोफ के समान ही अत्यन्त तीव्र विषयुक्त होती है। उसे विषनाशक क्रिया को जानने वाले वैद्य शीघ्र दूर करें। दान्तों के घाव को भी दूर करें।

रचित (रदित) लक्षण

लोहितासितसितद्युतिराजीराजितं श्वयथुमच्च यदन्यत्।
तद्भवेद्रचितमल्पविषं ज्ञात्वा नरं विविषमाश्विह कुर्यात्॥ 84॥

भावार्थ : जो दंश लाल, काले व सफेद वर्ण युक्त लकीर (रेखा) से युक्त हो (जखम न हो) साथ में शोथ (सूजन) भी हो उसे रचित (रदित) नामक सर्प दंश समझना चाहिए। वह अल्पविष से युक्त होता है। उसे जानकर शीघ्र उस विष को दूर करना चाहिए।

उद्विहित (निर्विष) लक्षण

स्वस्थ एव मनुजोप्यहिदष्टः स्वच्छशोणितयुतक्षतयुक्तः।
यत्क्षतं श्वयथुना परिहीनं निर्विषं भवति तद्विहिताख्यम्॥ 85॥

भावार्थ : सर्प से डसा हुआ मनुष्य स्वस्थ ही हो (शरीर वचन आदि में किसी प्रकार की विकृति न आई हो) उसका रक्त भी दूषित न हो, कटा हुआ स्थान पर जखम (दांतों के चिह्न) मालूम हों, लेकिन उस जगह में सूजन न हो ऐसे सर्पदंश (सर्प का काटना) दांतों के चिह्नों (क्षत) से युक्त होते हुए भी निर्विष होता है। उसे उद्विहित (निर्विष) कहते हैं।

सर्पांगाभिहत लक्षण

भीरुकस्य मनुजस्य कदाचिज्जायते श्वयथुरप्यहिदेह-।
स्पर्शनात्तदभिघातनिमित्तात् क्षोभितानिलकृतो विविषोऽयम्॥ 86॥

भावार्थ : जो मनुष्य अत्यन्त डरपोक हो, उसे कदाचित् सर्प के शरीर के स्पर्श से (उसी के घबराहट से) कुछ चोट भी लग जाये तो इस भय के कारण से (या उसे यह भ्रम हो जावे कि मुझे सर्प डसा है) शरीर में वात प्रकुपित होकर सूजन उत्पन्न हो जाती है, सर्पांगाभिहत कहते हैं। यह निविंष होता है।

दर्वीकर सर्प लक्षण

छत्रलांगलशशांकसुचक्रस्वस्तिकांकुशधराः फणिनस्ते।
यांति शीघ्रमचिरात्कुपिता दर्वीकराः सपवनाः प्रभवंति॥ 87॥

भावार्थ : जिनके शिर पर छत्र, हल, चंद्र, चक्र (पहिये) स्वस्तिक व अंकुश का चिह्न हो, फण हो, जो शीघ्र चलने वाले व शीघ्र कुपित होते हों, जिनके शरीर व विष में वात का आधिक्य हो, उन्हें दर्वीकर सर्प कहते हैं।

मंडलीसर्पलक्षण

मण्डलैर्बहुविधैर्बहुवर्णैश्चित्रिता इव विभांत्यतिदीर्घाः।
मंदगामिन इहाग्निविषाढ्याः संभवंति भुवि मण्डलिनस्ते॥ 88॥

भावार्थ : अनेक प्रकार के वर्ण के मंडलों (चकत्तों) से जिनका शरीर चित्रित के सदृश मालूम होता हो एवं धीरे-धीरे चलने वाले हों, अत्यन्त उष्णविष से संयुक्त हों, अत्यधिक लम्बे (व मोठे) हों ऐसे सर्प जो भूमि में होते हैं, उन्हें मंडलीसर्प कहते हैं।

राजीमंतसर्पलक्षण

चित्रिता इव सुचित्रविराजीराजिता निजरुचे स्फुरिताभा।
वारुणाः कफकृता वरराजीमंत इत्यभिहिताः भुवि सर्पाः॥ 89॥

भावार्थ : जो चित्र-विचित्र (रंगबिरंगे) तिरछी, सीधी, रेखाओं (लकीरों) से चित्रित से प्रतीत होते हों, जिनका शरीर चमकता हो, कोई-कोई लालवर्ण वाले हों, जिनके शरीर व विष में कफ की अधिकता हो, उन्हें राजीमंत सर्प कहते हैं।

सर्पजविषों से दोषों का प्रकोप

भोगिनः पवनकोपकरास्ते पित्तमुक्तबहुमण्डलिनस्ते।
जीवराजितशरीरयुताश्लेष्माणमुग्रमधिकं जनयंति॥ 90॥

भावार्थ : दर्वीकर सर्प का विष वात प्रकोपकारक है। मंडली सर्प का विष पित्त को कुपित करने वाला है तो राजीमंतसर्प का विष कफ को क्षुभित कराता है।

वैकरंज के विष से दोष प्रकोप व दर्वीकर दष्टलक्षण

यद्वयव्यतिकरोद्भवसर्पास्ते द्विदोषगणकोपकरास्ते।
वातकोपजनिताखिलचिह्नास्संभवंति फणिदष्टविषेऽस्मिन्॥ 91॥

भावार्थ : दो जाति के सर्प के सम्बन्ध से उत्पन्न होने वाले वैकरंज नाम के सर्प का विष दो दोषों का प्रकोप करने वाला है। दर्वीकर सर्प से डसे हुए मनुष्य के शरीर में वात प्रकोप से होने वाले

सभी लक्षण प्रकट होते हैं।

मंडलीराजीमंतदष्ट लक्षण

पित्तजानि बहुमण्डलिदष्टे लक्षणानि कफजान्यपि राजी -।
मद्विषप्रकाटितानि विदित्वा शोधयेत्तदुचितौषधमंत्रैः॥ 92॥

भावार्थ : मंडली सर्प के काटने पर पित्तप्रकोप से उत्पन्न दाह आदि सभी लक्षण प्रकट होते हैं। राजीमंत सर्प के काटने पर कफ प्रकोप के लक्षण प्रकट होते हैं। उपरोक्त लक्षणों से यह जानकर कि इसे कौन-से सर्प ने काटा है, उनके उचित औषध व मंत्रों से उस विष को दूर करें।

दर्विकरविषज सप्तवेग का लक्षण

दर्वीकरोग्रविषवेगकृतान्विकारान् वक्ष्यामहे प्रवरलक्षणलक्षितास्तान्।
आदौ विषं रुधिरमाशु विदूष्य रक्तं कृष्णं करोति पिशितं च तथा द्वितीये॥ 93॥
चक्षुर्गुरुत्वमधिकं शिरसो रुजा च तद्वत्तृतीयविषवेगकृतो विकारः।
कोष्ठं प्रपद्य विषमाशु कफप्रसेकं कुर्याच्चतुर्थविषवेगविशेषितस्तु॥ 94॥
स्त्रोतः पिधाय कफ एव च पंचमेऽस्मिन् वेगे करोति कुपितः स्वयमुग्रहिक्का।
षष्टे विदाहहृदयग्रहमूर्च्छनानि प्राणैर्विमोक्षयति सप्तमवेगजातः॥95॥

भावार्थ : दर्वीकर सर्प के उग्रविष से जो विकार उत्पन्न होते हैं उनका उन के विशिष्ट लक्षणों के साथ वर्णन करेंगे। दर्वीकर (फणवाला) सर्प के काटने पर सब से पहले विष (प्रथम वेग में) रक्त को दूषित कर रक्त को काला कर देता है (जिससे शरीर काला पड़ जाता है और शरीर में चींटियों के चलने जैसा मालूम होता है) द्वितीय वेग में विष मांस को दूषित करता है (जिससे शरीर अत्यधिक काला पड़ जाता है शरीर पर सूजन गांठे हो जाती हैं) तीसरे वेग में (विष मेद को दूषित करता है जिससे) आँखों में अत्यधिक भारीपना व शिर में दर्द होता है। चौथे वेग में विष कोष्ठ (उदर) को प्राप्त हो कर कफ को गिराता है अर्थात् मुँह से कफ निकलने लगता है (और संधियों में पीड़ा होती है) पाँचवें वेग में विष के प्रभाव से प्रकुपित कफ स्रोतों को अवरोध कर के भयंकर हिचकी को उत्पन्न करता है। छठे वेग में अत्यन्त दाह (जलन) हृदय पीड़ा होती है और वह व्यक्ति मूर्च्छित हो जाता है। सातवें वेग में विष प्राण का नाश करता है अर्थात् उसे मार डालता है।

मंडलीसर्पविषजन्य सप्तवेगों के लक्षण

तद्वच्च मण्डलिविषेऽपि विषप्रदुष्टं रक्तं भवेत्प्रथमवेगत एव पीतम्।
मांस सपीतनयनाननपाण्डुरत्वमापादयेत्कटुकवक्त्रमपि द्वितीये॥ 96॥
तृष्णा तृतीयविषवेगकृता चतुर्थे तीव्रज्वरो विदितपंचमतो विदाहः।
स्यात्षष्टसप्तमविषाधिकवेगयोरप्युक्तक्रमात्स्मृतिविनाशयुतासुमोक्षः॥97॥

भावार्थ : मंडली सर्प के डसने पर, उस विष के प्रथमवेग में विष के द्वारा रक्त दूषित होकर पीला पड़ जाता है। द्वितीय वेग में विष माँस को दूषित करता है। जिससे आँख, मुख आदि सर्व शरीर पांडुर वा अत्यधिक काला हो जाता है। मुँह कड़वा भी होता है। तृतीयवेग में अधिक प्यास, चतुर्थवेग में तीव्र ज्वर व पाँचवें वेग में अत्यन्त दाह होता है। षष्ट वेग में हृदय पीड़ा व मूर्च्छा होती है। सप्तमवेग में प्राण का मोक्षण होता है।

राजीमंतसर्पविषजन्य सप्तवेगों का लक्षण

राजीमतामपि विषं प्रथमोरुवेगे। रक्तं प्रदूष्य कुरुतेऽरुणपिच्छिलाभं॥
मांसं द्वितीयविषवेगत एव पाण्डुं-लालासृतिं सुबहुलामपि तत्तृतीये॥ 98॥
मन्यास्थिरत्वशिरसोतिरुजां चतुर्थे। वाक्संगमाशु कुरुतेऽधिकपंचमेऽस्मिन्॥
वेगे विषं गलनिपातमपीह षष्टे। प्राणक्षयं बहुकफादपि सप्तमे तत्॥ 99॥

भावार्थ : राजीमंत सर्प के काटने पर उत्पन्न विष के प्रथमवेग में रक्त दूषित होकर वह लाल पिलपिले के समान हो जाता है। द्वितीय वेग में मांस को दूषित करता है और अत्यन्त सफेद हो जाता है। तृतीयविषवेग में लार अधिक रूप से बहने लगती है। चतुर्थवेग में मन्यास्तम्भ व शिर में अत्यधिक पीड़ा होती है। पंचमवेग में वचन बंद (बोलती बंद) हो जाता है। छठे वेग में उसका कंठ रुक जाता है। सातवें वेग में अत्यधिक कफ बढ़ने से प्राणक्षय हो जाता है।

दंश में विष रहने का काल व सप्तवेगकारण

पंचाशदुत्तरचतुश्शतसंख्ययात्तमात्रास्थितं विषमिहोग्रतयात्मदंशे।
धात्वंतरेष्वपि तथैव मरुद्विनीतं वेगांतराणि कुरुते स्वयमेव सप्त॥ 100॥

भावार्थ : विष अपने दंश (दंशस्थान-काटा हुआ जगह) में (ज्यादा से ज्यादा) चार सौ पचास 450 मात्रा[1] काल तक रहता है। शरीरगत रस रक्त आदि धातुओं को भेदन करते हुए, वायु की सहायता से जब वह विष एक धातु से दूसरे धातु तक पहुँचता[2] है तब एक वेग होता है। इसी तरह सात धातुओं में पहुँचने के कारण सात ही वेग होते हैं (आठ या छह नहीं)।

शस्त्राशनिप्रतिममात्मगुणोपपन्नं। वेगांतरेष्वनुपसृहृतमौषधाद्यै-॥
राश्वेव नाशयति विश्वजनं विषं तत्। तस्माद्भवीम्यगदतंत्रमथात्मशक्त्या॥ 101॥

भावार्थ : सर्पों के विष भी शस्त्र व बिजली के सदृश शीघ्र मारक गुण से संयुक्त है। ऐसे विष को उस के वेगों के मध्य-मध्य में ही यदि औषधि मंत्र आदि से शीघ्र दूर नहीं किया जावें अथवा शरीर

1. हाथ को घुटने के ऊपर से एक बार गोल घुमाकर एक चुटकी मारने तक जो समय लगता है, उसे एक मात्रा काल कहते हैं।
2. जैसे विष जब रस धातु में पहुँचता है, तब प्रथम वेग, रस से रक्त को पहुँचाता है तो दूसरे वेग होता है इत्यादि।

से नहीं निकाला जावें तो वह प्राणियों को शीघ्र मार डालता है। इसलिए अपनी शक्ति के अनुसार (इस विष के निवारणार्थ) अगद-तंत्र (विष नाशक उपाय)का वर्णन करेंगे।

सर्पदष्टचिकित्सा

सर्वैस्सर्पैरेव दष्टस्य शाखासूर्ध्वं बध्वा चांगुलीनां चतुष्के।
उत्कृत्यासृन्मोक्षयेद्दंशतोन्यत्रोत्कृत्याग्नौ संदहेच्चूषयेद्वा॥ 102॥

भावार्थ : सर्व प्रकार के सर्पों में से कोई भी सर्प हाथ या पांव में काटा हो तो उस काटे हुए जगह से चार अंगुल के ऊपर (कपड़ा, डोरी, वृक्ष के छाल आदि जो वखत में मिल जाये उन से) कसकर बाँध[1] लेना चाहिए। पश्चात् काटे हुए जगह को किसी शस्त्र से उखेर कर (मांस को उखाड़ कर) रक्त निकालना चाहिए (जिससे वह विष रक्त के साथ निकल जाता है)। यदि (हाथ पैर को छोड़कर) किसी स्थान में अन्यत्र काटा हो, जहाँ बाँध नहीं सकें वहाँ उखेर कर अग्नि से जला देवें अथवा मुख में मिट्टी आदि भर कर उस विष को चूस के निकाल देवें।

सर्पविष में मंत्र की प्रधानता

मंत्रैस्सर्वं निर्विषं स्याद्विषं तद्यद्वत्तद्वद्भेषजेर्नैव साध्यम्।
शीघ्रं मंत्रैर्जीवरक्षां विधाय प्राज्ञः पश्चाद्योजपेद्भेषजानि॥103॥

भावार्थ : जो विष औषधियों से साध्य नहीं होता है (नहीं उतरता है)ऐसे भी सर्व प्रकार के विष मंत्रों से साध्य होते हैं। इसलिए शीघ्र मंत्रों के प्रयोग से पहले जीवरक्षा कर तदनंतर बुद्धिमान् वैद्य औषधि योजना करें।

विषापकर्षणार्थ रक्तमोक्षण

दंशादूर्ध्वाधस्समस्ताः शिरास्ता विद्वानस्त्राद्बंधनाद्रक्तमोक्षम्।
कुर्यात्सर्वांगाश्रितोग्रे विषेऽस्मिन् तद्वद्धीमान् पंचपंचांगसंस्थाः॥ 104॥

भावार्थ : जहाँ सर्प ने काटा हो उस के नीचे व ऊपर (आसपास में) जितने शिरायें हैं, उनमें किसी एक को अच्छी तरह बाँधकर एवं अस्त्र से छेद कर रक्तमोक्षण करना चाहिए। (अर्थात् फस्त खोलना चाहिए।) यदि वह विष सर्वांग में व्याप्त हो तो पंचांग[2] में रहने वाली अर्थात् हाथ-पैर के अग्रभाग में रहने वाली या ललाट प्रदेश में रहने वाली शिराओं में से किसी को व्यध कर रक्तमोक्षण करें।

---

1. इस प्रकार बांधने से रक्तवाहिनियाँ संकुचित होकर नीचे का रक्त नीचे, ऊपर का ऊपर ही रह जाता है, जिससे विष सर्व शरीर में नहीं फैल पाता है, क्योंकि रक्त के द्वारा ही विष फैलता है।
2. दो हाथ, दो पैर, एक शिर, इन्हें पंचांग कहते हैं।

रक्तमोक्षण का फल

दुष्टे रक्ते निहृते तद्विषाख्यं शीघ्रं सर्वं निर्विषत्वं प्रयाति।
पश्चाच्छीतांभोभिषिक्तो विषार्तो दध्याज्यक्षीरैः पिबेदोषधानि॥105॥

भावार्थ : दुष्ट रक्त को निकालने पर वह सम्पूर्ण विष शीघ्र दूर हो जाता है। तदनंतर उस सर्पविष दूषित को ठण्डे पानी से स्नान कराना चाहिए। बाद में दही, घी व दूध के साथ औषधियों को पिलावें।

दर्वीकर सर्पों के सप्तवेगों में पृथक् पृथक् चिकित्सा

शस्त्रं प्राक् दर्वीकराणां तु वेगे रक्तस्रावस्तद्वितीयेऽगदानाम्।
पानं नस्यं तत्तृतीयेंऽजनं स्यात् सम्यग्वाम्यस्तच्चतुर्थेऽगदोपि॥ 106॥
पोक्ते वेगे पंचमे वापि षष्टे शीतैस्तोयैर्ध्वस्तगात्रं विषार्तम्।
शीतद्रव्यालेपनैः संविलिप्तम् तीक्ष्णैरूर्ध्वं शोधयेत्तं च धीमान्॥ 107॥
वेगेप्यस्मिन्सप्तमे चापि धीमान् तीक्ष्णं नस्यं चांजनं चोपयुज्य।
कुर्यान्मूर्ध्नाशुक्षतं काकपादाकारं सांद्रं चर्म तत्र प्रदध्यात्॥ 108॥

भावार्थ : दर्वीकर सर्पों के प्रथमवेग में शस्त्रप्रयोग कर रक्त निकालना चाहिए। द्वितीयवेग में अगदपान कराना चाहिए। तृतीय वेग में विषनाश, नस्य व अंजन का प्रयोग करना चाहिए। चतुर्थवेग में अच्छी तरह वमन कराना चाहिए। पूर्व कथित पंचम व षष्ट वेग में शीतल जल से स्नान (धारा छोड़ना) व शीतल औषधियों का लेप करके बुद्धिमान वैद्य तीक्ष्ण ऊर्ध्वशोधन (वमन) करावें। सातवें वेग में तीक्ष्ण नस्य व अंजन प्रयोग कर मस्तक के मध्यभाग में कौवे के पैर के आकार के शस्त्र से क्षत (जखम) कर के मोठे चर्म को उस के ऊपर रख देवें ।

मंडली व राजीमंतसर्पों के सप्तवेगों की पृथक्-पृथक् चिकित्सा

प्राग्वेगेऽस्मिन् मण्डलैर्मण्डितानां अस्त्राण्येवं नातिगाढं विदध्यात्।
सर्पिर्मिश्रं पाययित्वागदं तं शीघ्रं सम्यग्वामयेत्तद्वितीये॥109॥
तद्वद्वाम्यस्तत्तृतीये तु वेगे शेषेष्वन्यत्पूर्ववत्सर्वमेव।
राजीमद्भिर्दष्टवेगेऽपि पूर्वे सम्यक्शस्त्रेणातिगाढं विदार्य॥ 110॥
सांतर्दीपालाबुना तत्र दुष्टं रक्तं संशोध्यं भवेन्निर्विषार्थम्।
छर्दिं कृत्वा तद्वितीयेऽगदं वा तत्सिद्धं वा पाययेत्सद्यवागूम्॥ 111॥
शेषान् वेगानाशु दर्वीकराणां वेगेषूक्तैरौषधैस्साधयेत्तान्।
ऊर्ध्वाधस्संशोधनैस्तीव्रनस्यैः साक्षात्तीक्ष्णैरंजनाद्यैरशेषैः॥ 112॥

भावार्थ : मंडली सर्प के दंश से उत्पन्न विष के प्रथमवेग में अधिक गहरा शस्त्र का प्रयोग न करते हुए साधारण रूप से छेद कर रक्तमोक्षण करना चाहिए। द्वितीयवेग में घृतमिश्रित अगद पिलाकर पश्चात् शीघ्र ही वमन कराना चाहिए। तीसरे वेग में भी उसी प्रकार वमन कराना चाहिए। बाकी के चतुर्थ पंचम षष्ट व सप्तम वेग में दर्वीकर सर्प के वेगों में कथित सर्वचिकित्सा करनी चाहिए। राजीमंत सर्प के विष के प्रथमवेग में शस्त्र द्वारा अधिक गहरा दंश को विदारण (चीर) कर जिसके अंदर दीपक रखा हो ऐसी तुम्बी से विषदूषित रक्त को निकालना चाहिए जिससे वह निर्विष हो जाये। द्वितीयवेग में वमन कराकर अगदपान करावें अथवा उस अगद से सिद्ध श्रेष्ठ यवागू पिलावें। इसके बाकी के तृतीय आदि वेगों में दर्वीकर सर्प के विष के उन वेगों में कथित औषध, वमन, विरेचन, तीव्रनस्य व तीक्ष्णअंजनप्रयोग आदि सम्पूर्ण चिकित्सा विधि द्वारा चिकित्सा कर इस विष को जीतें।

दिग्ध विद्ध लक्षण

कृष्णास्रावं कृष्णवर्णं क्षतं या दाहोपेतं पूतिमांसं विशीर्णं।
जानीयात्तद्दिग्धविद्धं शराद्यैः क्रूरैर्दत्तं यद्विषं सव्रणेस्मिन्(?)॥ 113॥

भावार्थ : (शरादिक से वेधन करते ही) जब घाव से कृष्णरक्त का स्राव होता है, घाव भी कृष्णवर्ण का है, दाह सहित है दुर्गंध युक्त मांस टुकड़े-टुकड़े होकर गिरते हैं, ऐसे लक्षणों के पाये जाने पर समझना चाहिए कि यह दिग्धविद्ध (विषयुक्त शस्त्र से उत्पन्न) व्रण है।

विष युक्त व्रण लक्षण

कृष्णोपेतं मूर्च्छया चाभिभूतं मर्त्यं संतापज्वरोत्पीडितांगम्।
तं दृष्ट्वा विद्याद्विषं तत्र दत्तंकृष्णं मांसं शीर्यते यद्व्रणेऽस्मिन्॥ 114॥

भावार्थ : जो व्रण पीड़ित मनुष्य काला हो गया हो, मूर्च्छा से संयुक्त हो संताप व ज्वर से पीड़ित हो, जिस व्रण से काला माँस टुकड़ा होकर गिरता जाता हो तो समझना चाहिए उस व्रण में किसी ने विष का प्रयोग किया है। अर्थात् विषयुक्त व्रण के ये लक्षण हैं।

विष संयुक्त व्रण चिकित्सा

उत्क्लिन्नं तत्पूतिमांसं व्यपोह्य रक्तं संस्राव्यं जलूकाप्रपातैः।
शोध्यश्चायं स्याद्विषाढ्यव्रणार्तः शीतक्वाथैः क्षीरिणां सेचयेत्तम्॥ 115॥
शीतद्रव्यैस्सद्विषघ्नैर्सुपिष्टैर्वस्त्रं सांतर्दाय दिह्याद्रणं तत्।
कुर्यादेव कंटकोत्तीक्ष्णतो वा पित्तोभ्दूते चापि साक्षाद्विषेऽस्मिन्॥ 116॥

भावार्थ : विषयुक्त व्रण के क्लेदयुक्त (सड़ा हुआ) व दुर्गंध संयुक्त माँस को अलग कर, उसमें जौंक लगाकर दुष्ट रक्त को निकालना चाहिए। एवं विषैले व्रण पीड़ित मनुष्य का शोधन करके उसे शीत औषधों से सिद्ध वा क्षीरीवृक्षों से साधित काढ़े से सेवन करना चाहिए।

विषनाशक शीतद्रव्यों को (उन्हीं के कषाय व रस से) अच्छी तरह पीस कर उस पिठ्ठी को वस्त्र के साथ व्रण पर लेप करना चाहिए अर्थात् लेप लगाकर वस्त्र बांधे अथवा कपड़े में लगाकर उसे बाँधे। तीक्ष्ण कंटक से उत्पन्न व्रण व जिसमें पित्त की प्रबलता हो ऐसे विष में भी उसी प्रकार की (उपरोक्त) चिकित्सा करें।

सर्पविषारिअगद

मंजिष्ठामधुकात्रिवृत्सुर - तरुद्राक्षाहरिद्राद्वयं।
भार्ङ्गीव्योषविडंगहिंगुलवणैःसर्वं समं चूर्णितम्॥
आज्येनालुलितं विषाणनिहितं नस्यांजनालेपनै-।
र्हन्यात्सर्वविषाणि सर्परिपुवत्येषोऽगदःप्रस्तुतः॥117॥

भावार्थ : मजीठ, मुलैठी, निसोत, देवदारु, द्राक्षा, भारंगी, दारुहल्दी, त्रिकटु, (सोंठ, मिर्च, पीपल) वायविडंग, हिंगु, सैंधानमक, इन सबको समभाग में लेकर चूर्ण करें। तदनंतर उस चूर्ण को घृत के साथ अच्छी तरह मिलावें, फिर किसी सींग में रखें। इसका उपयोग नस्य, अंजन व लेपन में किया जाये तो सर्व सर्पविष का नाश होता है।

सर्वविषारि अगद

पाठाहिंगुफलत्रयं त्रिकटुकं वक्राजमोदाग्निकं।
सिंधूत्थं सविडं विडंगसहितं सौवर्चलं चूर्णितम्॥
सर्वं गव्यघृतेन मिश्रितमिदं शृंगे निधाय स्थितं।
सर्वाण्येव विषाणि नाशयति तत् सर्वात्मना योजितम्॥118॥

भावार्थ : पाढ, हींग, त्रिफला, त्रिकुटु, पित्तपापड़ा, अजवाईन, चित्रक, सैंधानमक, विड नमक, बायविडंग व काला नमक इन सबको अच्छी तरह चूर्ण कर गाय के घृत के साथ मिलावें एवं सींग में रखें। तदनंतर इसका उपयोग नस्य, अंजन, लेपन आदि सर्व कार्यों में करने से सर्व प्रकार के विष नाश को प्राप्त होते हैं।

द्वितीय सर्वविषारि अगद

स्थौणेयं सुरदारुचंदनयुगं शिग्रुद्वयं गुग्गुलुं।
तालीसं सकुटं नरं कुटजमुग्रार्काग्निसौवर्चल॥
कुष्ठं सत्कटुरोहिणीत्रिकटुकं संचूर्ण्य संस्थापितम्।
गोशृंगे समपंचगव्यसहितं सर्वं विषं साधयेत्॥119॥

भावार्थ : थुनिवार, देवदारु, रक्तचंदन, श्वेतचंदन, लाल सेंजिन, सफेद सेंजन, गुग्गुल, तालीस

पत्र, आलुवृक्ष, कुडा, अजवायन, अकौवा, चित्रक, कालानमक, कूठ, कुटकी, त्रिकटुक इन सबको अच्छी तरह चूर्ण कर पंचगव्य के साथ मिलाकर गाय के सींग में रखें। फिर इसका उपयोग करने पर सर्व प्रकार के विष दूर होते हैं।

तृतीयसर्वविषारि अगद

तालीसं बहुलं विडंगसहितं कुष्ठं विडं सैधवं।
भार्ङ्गी हिंगुमृगादनीसकिणिहिं पाठां पटोलां वचां॥
पुष्पाण्यर्ककरंजवज्रसुरसा भल्लातकांकोलजा -।
न्याचूर्ण्याजपयोघृतांबुसहितान्येतद्वरं निग्रहेत्॥ 120॥

भावार्थ : तालीस पत्र, बड़ी इलायची, वायविडंग, कूट, विडनोन, सेधालोण, भारंगी, हींग, इंद्रायण, चिरचिरा, पाढ, पटोलपत्र, बचा, अर्कपुष्प, भिलावे का फूल एवं अंकोल पुष्प इन सबको अच्छी तरह चूर्ण कर बकरी के दूध, घृत व मूत्र के साथ मिलाकर पूर्वोक्त प्रकार से उपयोग करें तो यह विष को नाश करता है।

संजीवन अगद

मंजिष्ठामधुशिग्रुशिग्रुरजनीलाक्षा - शिलालेंगुदी।
पृथ्वीकांसहरेणुकां समधृतां संचूर्ण्य सम्मिश्रितम्॥
सर्वैर्मूत्रगणैस्समस्तलवणैरालोड्य संस्थापितं।
शृंगे तन्मृतमप्यलं नरवरं संजीवनो जीवयेत्॥121॥

भावार्थ : मजीठ, मुलैठी, लाल सेंजिन, सफेद सेंजिन, हल्दी, लाख मैनसिल, हरताल, इंगुल, इलायची, रेणुका इन सब औषधियों को समभाग में लेकर अच्छी तरह चूर्ण करें। उस चूर्ण में आठ प्रकार के मूत्र व पाँच प्रकार के लवण को मिलाकर अच्छी तरह आलोड़न (मिलाना) कर शृंग में रखें। यदि उसका उपयोग करें तो बिल्कुल मरणोन्मुख-सा हुआ मनुष्य को भी जिलाता है। इसलिए इसका नाम संजीवन अगद है।

श्वेतादि अगद

श्वेतां[1] बूधरकर्णिकां सकिणिहीं श्लेष्मातकं कट्फलं।
व्याघ्रीमेघनिनादिकां बृहतिकामंकोलनीलीमपि॥
तिक्तालाबुसचालिनीफलरसेनालोड्य शृंगे स्थितं।
यस्मिन्वेश्मनि तत्र नैव फणिनः कीटाः कुतो वा ग्रहाः॥122॥

1. क. पुस्तके पाठोऽयं नोपलभ्यते।

भावार्थ : अपराजिता, बूधरकर्णिका, चिरचिरा, लिसोडा, कायफल, छोटी कटेहरी, पलाश, बडी कटेहरी, अंकोल, नील, इनको चूर्ण करके कड़वी तुम्बी व चालिनी के फल के रस में अच्छी तरह मिलाकर सींग में रखें। जिस घर में यह औषधि रहें, वहाँ सर्प कीट आदि विषजंतु कभी प्रवेश नहीं करते हैं। यहाँ तक कि कोई भी ग्रह भी प्रवेश नहीं कर पाते हैं।

मंडलि विषनाशक अगद

प्रोक्ता वातकफोत्थिताखिलविषप्रध्वंसिनः सर्वथा।
योगाः पित्तसमुद्भवेष्वपि विषेष्वत्यंतशीतान्विताः॥
वक्ष्यंतेऽपि सुगंधिकायवफलद्राक्षालवंगत्वचः।
श्यामासोमरसादवाकुरवका बिल्वाम्लिका दाडिमाः॥ 123॥
श्वेताश्मंतकतालपत्रमधुकं सत्कुंडलीचंदनं।
कुंदेंदीवरसिंधुवारक - कपित्थेंद्राह्वपुष्पीयुतां॥
सर्वक्षीरघृतप्लुताः समसिताः सर्वात्मना योजिताः।
क्षिप्रं ते शमयंति मण्डलविषं कर्मेव धर्मा दश॥ 124॥

भावार्थ : इस प्रकार वात व कफोद्रेक करने वाले समस्त विषों को नाश करने में सर्वथा समर्थ अनेक योग कहे गए हैं। अब पित्तोद्रक करने वाले विषों के नाशक शीत गुण वीर्य युक्त औषधियों के योग कहेंगे। सफेद सारिवा, जटामांसी, मुनक्का, लवंग दालचीनी, श्यामलता, (कालीसर) सोमलता, शल्लकी (शालईवृक्ष) दवा, लाल कटसरैया बेलफल, तिंतिडीक, अनार, अपराजिता, लिसोडा, मेथी, मुलैठी, गिलोय, चंदन, कुंदपुष्प, नीलकमल, संभालू, कैथ, कलिहारी इन सबको चूर्ण कर सर्व प्रकार (आठ प्रकार) के दूध व घी में भिगो के रखें। उसमें सब औषधियों के बराबर शक्कर मिलाकर उपयोग में लावें तो मंडली सर्पों के विष शीघ्र ही शमन होते हैं जिस प्रकार कि उत्तमक्षमादि दशधर्मों के धारण से कर्मों का उपशम होता है।

वाद्यादि से निर्विषीकरण

प्रोक्तैः ख्यातप्रयोगैरसदृशविषवेगप्रणाशैरकार्यै-।
रालिप्तान् वंशशंखप्रकटपटहभेरीमृदंगान् स्वनादैः॥
कुर्युस्ते निर्विषत्वं विषयुतमनुजानामृतानाशु दिग्धान्।
दृष्ट्वास्यं तारणान्यप्यनुदिन(?)मचिरस्पर्शनात्स्तंभवृक्षाः॥ 125॥

भावार्थ : भयंकर से भयंकर विषों को नाश करने में सर्वथा समर्थ, जो ऊपर औषधों के योग

कहे गए हैं, उनको बांसुरी, शंख, पटह, भेरी, मृदंग आदि वाद्य विशेषों पर लेपन करके उनके शब्द[1] से विष पीड़ित मनुष्यों के जो कि मृत प्रायः हो चुके हैं, विष को दूर करें अर्थात् निर्विष करें।

सर्प के काटे बिना विष की अप्रवृत्ति

सर्पाणामंगसंस्थं विषमधिकुरुते शीघ्रमागम्य दंष्ट्रा-।
ग्रेषु व्याप्तस्थितं स्यात् सुजनमिव सुखस्पर्शतःशुक्रवद्वा॥
तेषां दंष्ट्रा यतस्ताबडिशवदतिवक्रास्ततस्ते भुजंगाः।
मुंचत्युद्धत्य ताभ्यो विषमतिविषमं विश्वदोषप्रकोपम्॥ 126॥

भावार्थ : जिस प्रकार प्रियतमा के दर्शन स्पर्शनादिक से अथवा जिन के स्पर्श से सुख मालूम होता हो ऐसे पदार्थों के स्पर्श से, सर्वांग में व्याप्त होकर रहने वाला शुक्र, शुक्रवाहिनी शिराओं को प्राप्त हो जाता है, उसी प्रकार सर्प के सर्वांग में संस्थित विष, क्रोधायमान होने के समय शरीर से शीघ्र आकर डाढों के अग्रभाग को प्राप्त हो जाता है। उन सर्पों के डाढ वडिश अर्थात् मछली पकड़ने के कांटे के समान अत्यन्त वक्र होते हैं। इसलिए वे सर्प उन डाढों से काटकर समस्त दोष प्रकोपक व अत्यन्त विषम विष को उस घाव में छोड़ते हैं अर्थात् काटे विना सर्प विष नहीं छोड़ते हैं।

विषगुण

अत्युष्णं तीक्ष्णमुक्तं विषमतिविषतंत्रप्रवीणैः समस्तं।
तस्माच्छीतांबुभिस्तं विषयुतमनुजं सेचयेत्तद्विदित्वा॥
कीटानां शीतमेतत्कफवमनकृतं चाग्निसंस्वेदधूपै-।
रुष्णालेपोपनाहैरधिकविषहरेःसाधयेदाशु धीमान्॥127॥

भावार्थ : विष अत्यन्त उष्ण एवं तीक्ष्ण है ऐसा विषतंत्र में प्रवीण योगियों ने कहा है। इसलिए इन विषों से पीड़ित मनुष्य को ठण्डे पानी से स्नान कराना आदि शीतोपचार करना हितकर है। कीटों को विष शीत रहता है। इसलिए वह कफवृद्धि व वमन करने वाला है। उसमें अग्निस्वेद, धूप, लेप, उपनाह आदि विषहर प्रयोगों से शीघ्र चिकित्सा करनी चाहिए।

विष पीतलक्षण

मांसाद्रं तालकाभं सृजति मलमिहाध्माननिष्पीडितांगः।
फेनं वक्त्रादजस्रं न दहति हृदयं चाग्निरप्यातुरस्य॥

1. जब तमाम वायुमंडल विषदूषित हो जाता है, इसी कारण से तमाम मनुष्य विषग्रसित होकर अत्यन्त दुःख से संयुक्त हैं और प्रत्येक मनुष्य के पास जाकर औषध प्रयोग करने के लिए शक्य नहीं है, ऐसी हालत में दिव्य विषनाशक प्रयोगों को भेरी आदि वाद्यों में लेपकर जोर से बजाना चाहिए। तब उन वाद्यों के शब्द जहाँ तक सुनाई देते हैं, तहाँ तक के सर्व विष एकदम दूर हो जाते हैं।

तं दृष्ट्वा तेन पीतं विषमतिविषमं ज्ञेयमेभिः स्वरूपै-।
र्दष्टस्यासाध्यतां तां पृथगथ कथयाम्यर्जिताप्तोपदेशात्॥128॥

भावार्थ : जो अध्मान (पेट का फूलना) से युक्त होते हुए, कच्चा, मांस व हरताल के सदृश वर्ण वाले मल को बार-बार विसर्जन करता है, मुँह से हमेशा फेन (झाग) टपकता है, उसके (मरे हुए रोगी के) हृदय को अग्नि भी ठीक-ठीक जला[1] नहीं पाता है। इन लक्षणों से समझना चाहिए कि उस रोगी ने अत्यन्त विषम विष को पीया है। अब आप्तोपदेश के अनुसार सर्प के काटे हुए रोगी के पृथक् -पृथक् असाध्य लक्षणों को कहेंगे।

सर्पदष्ट के असाध्यलक्षण

वल्मीकेषूग्रदेवायतनपितृवनक्षीरवृक्षेषु संध्या -।
काले सच्चत्वरेषु प्रकटकुलिकवेलासु तद्वारुणोग्र-॥
ख्यातेष्वर्क्षेषु दष्टा श्वयथुरपि सुकृष्णातिरक्तश्च दंशे।
दंष्ट्राणां वापदानि स्वसितरुधिरयुक्तानि चत्वारि यस्मिन्॥129॥
क्षुत्तृड्पीडाभिभूताः स्थविरतरनराः क्षीणगात्राश्च बालाः।
पित्तात्यंतातपाग्निप्रहततनुयुता येऽत्यजीर्णामयार्ताः॥
येषां नासावसादो मुखमतिकुटिलं संधिभंगाश्च तीव्रो।
वाक्संगोऽतिस्थिरत्वं हनुगतमपि तान् वर्जयेत्सर्पदष्टान्॥130॥

भावार्थ : बामी, देवस्थान, श्मशान, क्षीरवृक्षों (पीपल वड़ आदि) के नीचे, इन स्थानों में, संध्या के समय में, चौराहे में (अथवा यज्ञार्थ संस्कृत भूप्रदेश) कुलिकोदयकाल में, दारुण व खराब ऐसे प्रसिद्ध भरणी, मघा आदि नक्षत्रों के उदय में, जिन्हें सर्प काटा हो जिन के दंश (कटा हुए जगह) में काला व अत्यन्त लाल सूजन हो, जिनके दंश में कुछ सफेद व रुधिरयुक्त चीर दंष्ट्रपद (दांत गढे के चिह्न) हो, भूख प्यास की पीड़ा से संयुक्त, अधिक वृद्ध, क्षीण शरीर वाले व बालक इनको काटा हो, जिनके शरीर में पित्त व उष्णताकी अत्यन्त अधिकता हो, जो अजीर्ण रोग से पीड़ित हों, जिनकी नाक मुड़ गयी हो, मुख टेढ़ा हो गया हो, संधिबंधन (हड्डियों के जोड़) एकदम शिथिल हो गया हो, रुक-रुक कर बोलता हो, जावडा स्थिर हो गया हो (हिले नहीं) ऐसे सर्प से काटे हुए मनुष्यों को असाध्य समझ कर छोड़ देवें।

सर्पदष्ट के असाध्यलक्षण

राज्यो नैवाहतेषु प्रकटतरलताभिः क्षतेनैव रक्तं।
शीतांभोभिर्निषिक्ते न भवति सततं रोमहर्षो नरस्य॥

1. क्योंकि अंत समय में विषसर्वांग से आकर हृदय में स्थित हो जाता है।

वर्तिर्वक्त्रादजस्र प्रसरति कफजा रक्तमूर्ध्वं तथाधः।
सुप्तिर्मुक्तं विदार्य प्रविदितविधिना वर्जयेत् सर्पदष्टान्॥131॥

भावार्थ : लता (कोड़ा, वेंत आदि) आदि से मारने पर जिनके शरीर में रेखा (मार का निशान) प्रकट न हों और शस्त्र आदि से जखम करने पर उससे रक्त नहीं निकले, ठंडे पानी (शरीर पर) छिड़कने पर भी रोमांच (रोंगटे खड़े) न हो, कफ से उत्पन्न बत्ती मुँह से हमेशा निकले, ऊपर (मुँह नाक, कान आदि) व नीचे (गुदा शिश्न) के मार्ग से रक्त निकलता रहे और निद्रा का नाश हो, ऐसे सर्पदष्ट रोगी को एक बार विधि प्रकार विदारण करके पश्चात् छोड़ देवें अर्थात् चिकित्सा न करें।

अस्मादूर्ध्वं द्विपादप्रबलतरचतुःपादषट्पादपाद-।
व्याकीर्णापादकीटप्रभव - बहुविषध्वंसनायौषधानि॥
दोषत्रैविध्यमार्गप्रविदितविधिना- साध्यसाध्यक्रमेण।
प्रव्यक्तं प्रोक्तमेतत्पुरुजिनमतमाश्रित्य वक्ष्यामि साक्षात्॥132॥

भावार्थ : अब यहाँ से आगे द्विपाद, चतुष्पाद, षट्पाद व अनेक पाद (पैर) वाले प्राणी व कीटों से उत्पन्न अनेक प्रकार के विषों को नाश करने के लिए तीन दोषों के अनुसार योग्य औषध का प्रतिपादन भगवान् आदिनाथ के मतानुसार आचार्यों ने स्पष्ट रूप से किया है उसी के अनुसार हम (उग्रादित्याचार्य) भी वर्णन करेंगे।

मर्त्याश्च श्वापदानां दशननखमुखैर्दारितोग्रक्षतेषु।
प्रोद्यत्तृष्णासृगुद्यच्छ्वयथुयुत - महावेदनाव्याकुलेषु॥
वात श्लेष्मोत्थतीव्रप्रबल - विषयुतेषूद्धतोन्मादयुक्तान्।
मर्त्यानन्यानथान्ये - परुषतररुषामानुषांस्ते दशंति॥133॥

भावार्थ : जिन मनुष्यों को किसी जंगली क्रूर जानवर ने काट खाया या नख प्रहार किया, जिससे बड़ा भारी घाव हो गया हो, जिसे तृष्णा का उद्रेक, तीव्र रक्तस्राव, शोफ आदिक महापीड़ायें होती हो, वात व कफ से उत्पन्न तीव्र विषवेदना हो रही हो ऐसे मनुष्य दूसरे उन्माद से युक्त मनुष्यों को बहुत भयंकर क्रोध के साथ काट खाते हैं।

हिंसक प्राणिजन्य विष का असाध्य लक्षण

व्यालैर्दष्टाःकदाचित्तदनुगुणयुताश्चारुचेष्टा यदि स्युः।
तानेवादर्शदीपातपजलगतबिंबान्प्रपश्यंति ये च॥
शब्दस्पर्शावलोकादधिकतरजलत्रासतो नित्रसंति।
प्रस्पष्टादृष्टदेहानपि परिहरतां दृष्टरिष्टान्विशिष्टान्॥134॥

भावार्थ : हिंसक प्राणियों से काटे हुए मनुष्यों की चेष्टा काटे हुए प्राणी के समान यदि होवें, दर्पण, दीप, धूप व जल में उन्हीं का रूप देखें अर्थात् दुष्ट प्राणियों के रूप दिखने लग जावें एवं जल त्रास रोग से पीड़ित होवें तो समझना चाहिए कि उनके ये अरिष्ट लक्षण हैं। इसलिए उनकी चिकित्सा न करें। यदि किसी को किसी भी प्राणी ने नहीं भी काटा हो, लेकिन जल त्रास से पीड़ित हो तो भी वह अरिष्ट समझना चाहिए। जल के शब्द स्पर्श दर्शन आदिक से जो डरने लगे उसे जलत्रास रोग जानना चाहिए।

मूषिकाविषलक्षण

शुक्रोग्रा मूषिकाख्या प्रकटबहुविधा यत्र तेषां तु शुक्रां।
स्पृष्टैर्दंतैर्नखैर्वाप्युपहतमनुजानां क्षते दुष्टरक्तम्॥
कुर्यादुत्कर्णिकातिश्वयथुपिटकिकामण्डल - ग्रंथिमूर्च्छा।
तृष्णा तीव्रज्वरादीन् त्रिविधविषमदोषोद्भवान्वेदनाढ्यान्॥ 135॥

भावार्थ : मूषिकाशुक्र[1] में उग्र विष रहता है अर्थात् मूषिक शुक्र विष वाले हैं। ऐसे मूषिकों के बहुभेद है। जहाँ इनके शुक्र गिरे, शुक्र संयुक्त पदार्थ का स्पर्श होवें, दांत नख के प्रहार से क्षत होवें तो उस स्थान का रक्तदूषित होकर उसी स्थान में कर्णिका[2] (किनारेदार चिह्न) भयंकर सूजन, फुन्सी, मंडल (चकत्ते) ग्रंथि (गांठ) एवं मूर्च्छा, अधिक प्यास, तीव्रज्वर आदि तीनों विषम दोषों से उत्पन्न होने वाली वेदनाओं को उत्पन्न करता है।

मूषिक विष चिकित्सा

ये दष्टामूषकाख्यैर्नृप - तरुमदनांकोलकोशातकीभिः।
समयग्वाम्या विरेच्या अपि बहुनिजदोषक्रमात्कुष्ठनीली॥
व्याघ्रीश्वेतापुनर्भूस्त्रिकटुक - बृहतीसिंधुवारार्कचूर्णं।
पेयं स्यात्तैःशिरीषांबुदरवकिणिही किंशुकक्षारतोयैः॥ 136॥

भावार्थ : जिनको मूषिक ने काटा है, उनको दोषों के उद्रेक को देखकर अमलतास, मैनफल, अंकोल, कड़वी तोरई, इन औषधियों से अच्छी तरह वमन व विरेचन कराना चाहिए। पश्चात् कूठ,

---

1. इससे यह नहीं समझना चाहिए कि मूषिकों के शुक्र को छोड़कर किसी भी अन्य अवयव में विष नहीं रहता है। क्योंकि आचार्य ने स्वयं **'दंतैर्नखे'** इन शब्दों से व्यक्त किया है कि नख, दंतादिक में भी विष रहता है। तंत्रांतर में भी लिखा है-
   शुक्रेणाथ पुरीषेण मूत्रेण च नखैस्तथा। दंष्ट्राभिर्वा मूषिकाणां विषं पंचविधं स्मृतं॥
   इससे यह तात्पर्य निकला कि मूषिकों के शुक्र में, अन्य अवयवों की अपेक्षा विष की प्रधानता है।
2. कर्णिका - कमलमध्यबीजकोशाकृति।

नीली, छोटी कटेहरी, सफेद पुनर्ववा, (सभालू) त्रिकटुक, बडी कटेली, निर्गुण्डी, अकौवा इन के चूर्ण को शिरीष, मेथा, रव, चिरचिरा, किंशुक (पलाश) इनके क्षारजल के साथ मिलाकर पिलाना चाहिए।

मूषिक विषघ्न घृत

प्रत्येकं प्रस्थभागैःदधिघृतपयसां क्वाथभागैश्चतुर्भिः।
वज्रार्कालर्कगोजीनृपतरुकुटज - व्याघ्रिकानक्तमालैः॥
कल्कैःकापित्थनीलीत्रिकटुकरजनीरोहिणीनां समांशैः।
पक्वं सर्पिर्विषघ्नं शमयति सहसा मूषकाणां विषं च॥ 137॥

भावार्थ : एक प्रस्थ (64 तोले) दही, एक प्रस्थ दूध, सेहुंड, अकौवा, सफेद आक, गोजिव्हा, अमलतास, कूडा, कटैली, करंज इन औषधियों से सिद्ध क्वाथ चार भाग अर्थात् चार प्रस्थ, कैथ, नील, सोंठ, मिरच, पीपल, हलदी, कुटकी इन समभाग औषधियों से निर्मित कल्क, इनसे सब एक प्रस्थ घृत को यथाविधि सिद्ध करें। इस घृत को पीने से शीघ्र ही मूषिकविष (चूहे के विष) शमन होता है।

कीटविष वर्णन

सर्पाणां मूत्ररेतः शवमलरुधिरांडास्रवोत्यंतकीटा-।
श्चान्ये संमूर्छिताद्या अनलपवनतोयोद्भवास्ते त्रिधोक्ता॥
तेषां दोषानुरूपैरुपशमनविधिः प्रोच्यतेऽसाध्यसाध्य।
व्याधीन्प्रत्यौषधाद्यैरखिलविषहरैरद्वितीयैरमोघैः॥ 138॥

भावार्थ : सर्पों के मल-मूत्र शव शुक्र व अंडे से उत्पन्न होने वाले, अत्यन्त विषैले कीड़े संसार में बहुत प्रकार के होते हैं। इसके अतिरिक्त स्थावर विषवृक्ष व तीक्ष्ण वस्तु समुदाय में संमूर्च्छन से उत्पन्न होने वाले भी अनेक विषैले कीड़े होते हैं। ये सभी प्रकार के कीट अग्निज, वायुज, जलज (पित्त, वायु, कफ प्रकृति वाले) इस प्रकार तीन भेदों से विभक्त हैं। उन सबके सम्बन्ध से होने वाले विषविकार की उपशमनविधि को अब दोषों के अनुक्रम से अनेक विषहर अमोघ औषधियों का योग व साध्यासाध्य विचार पूर्वक कहा जायगा।

कीटदष्ट लक्षण

लूताशेषोग्रकीटप्रभृतिभिरिह दष्टप्रदेशेषु तेषां।
नृणां तन्मंदमध्यादिकविषहतरक्तेषु तत्प्रोक्तदोषैः॥
जायंते मण्डलानि श्वयथुपिटकिका ग्रंथयस्तीव्रशोफाः।
दद्रुश्वित्राश्च कण्डूकिटिभकठिनसत्कर्णिकाद्युग्ररोगाः॥ 139॥

भावार्थ : मकड़ी आदि सम्पूर्ण विषैले कीड़ों द्वारा काटे हुए प्रदेशों में, उन विषों के मंद, मध्यम आदि प्रभाव से रक्त विकृत होने से दोषों का प्रकोप होता है जिससे अनेक प्रकार के मंडल (चकत्ते)

शोथयुक्त फुन्सी, ग्रंथि (गांठ) तीव्र सूजन, दाद, श्वित्रकुष्ठ, खुजली, किटिभ कुष्ठ, कठिन कर्णिका आदि भयंकर रोग उत्पन्न होते हैं।

कीटभक्षण जन्य विष चिकित्सा

अज्ञानात्कीटदेहानशनगुणयुतान् भक्षयित्वा मनुष्याः।
नानारोगाननेकप्रकट - तरमहोपद्रवानाप्नुवंति॥
तेषां दूषीविषघ्नैरभिहितवरभैषज्ययोगैः प्रशांतिं।
कुर्यादन्यान्यथार्थं निखिलविषहराण्यौषधानि ब्रवीमि॥ 140॥

भावार्थ : जो मनुष्य भोजन करते समय अज्ञान से भोजन में मिले हुए कीड़े के शरीर को खा जाते हैं, उससे अनेक प्रकार के घोर उपद्रवों से संयुक्त रोग उत्पन्न होते हैं। उसमें दूषीविष नाशार्थ जिन औषधियों का प्रयोग बतलाया है उनसे चिकित्सा करनी चाहिए। आगे और भी समस्त विषों को नाश करने वाले औषधियों को कहेंगे।

क्षारागद

अर्कांकोलाग्निकाश्वांतक - घननिचुलप्रग्रहाश्मंतकानां।
श्लेष्मातक्यामलक्यार्जुननृप - कटुकश्रीकपित्थस्नुहीनाम्॥
घोंटागोपापमार्गामृतसितबृहती कंटकारी शमीना-।
मास्फोतापाटलीसिंधुकतरुचिरिबिल्वारिमेदद्रुमाणाम्॥ 141॥
गोजीसर्जोरुभूर्जासनतरु तिलकप्लक्षसोमांघ्रिकाणां।
टुंटूकाशोककाश्मर्यमरतरु शिरीषोग्राशिग्रुद्वयानाम्॥
उष्णीकारंजकारुष्करवर - सरलोद्यत्पलाशद्वयानाम्॥
नक्ताह्वानां च भस्माखिलमिह विपचेत् षड्गुणैर्मूत्रभागैः॥ 142॥
तन्मूत्राशुद्धशुक्लाम्बर - परिगलितं क्षारकल्पेन पक्त्वा ।
तस्मिन् दद्यादिमानि त्रिकटुक - रजनीकुष्टमंजिष्ठकोग्रा-॥
वेगागारोत्थधूमे तगररुचक - हिंगूनि संचूर्ण्य वस्त्रैः।
श्लक्ष्णं चूर्णं च साक्षान्निखिलविषहरं सर्वथैतत्प्रयुक्तम्॥143॥

भावार्थ : आक, अंकोल, चित्रक, सफेद कनेर, (श्वेतकरवीर) नागरमोथा, हिज्जलवृक्ष, (समुद्रफल) प्रग्रह (किरमाला) अश्मंतक, लिसोडा, आंवला, अर्जुनवृक्ष, (कुहा) अमलतास, सोंठ, मिरच, पीपल, कैथ, थूहर, घोंटा, (श्रृगालकोलि-एक प्रकार का बेर) बोल, चिरचिरा, गिलोय, चंदन, बडी कटेली, छोटी कटेली, शमीवृक्ष अपराजिता (कोयल) पाढल, सम्हालू, करंज, अरिमेद (दुर्गंधयुक्त

खैर)गोजिव्हा, सर्जवृक्ष, (रालका वृक्ष) भोजपत्र वृक्ष, विजयसार, तिलकवृक्ष, (पुष्पवृक्षविशेष) अश्वत्थवृक्ष, सोनलता, अंघ्रिकवृक्ष, टुंटूक, अशोक, कंभारी, देवदारु, सिरस, बच शिग्रु, (सेंजन) मधुशिग्रु, उष्णीकरंज, भिलावा, सरलवृक्ष, (धूपसरल) दोनों प्रकार के पलाश, (सफेद लाल) कलिहारी, इन औषधों के मूल छाल पत्रादिक को जलाकर भस्म करें। इस भस्म को छह गुना गोमूत्र में अच्छी तरह मिलाकर साफ सफेद वस्त्र से छानकर क्षारविधि के अनुसार पकावें। पकते समय उसमें सोंठ, मिरच, पीपल, हलदी, कूट, मंजीठ, बच, बेग, गृहधूम, तगर, कालानमक, हींग इनको वस्त्रगालित चूर्ण कर के मिलावें। इस प्रकार सिद्ध क्षारागद को नस्य, अंजन, आलेपन आदि कार्यों में प्रयोग करने पर सर्वप्रकार के विषों को नाश करता है।

सर्वविषनाशक अगद

प्रोक्तेऽस्मिन् क्षारमूत्रं लवणकटुकगंधाखिलद्रव्यपुष्पा-।
ण्याशोष्याचूर्ण्य दत्वा घृतगुडसहितं स्थापितं गोविषाणे॥
तत्साक्षारत्स्थावरं जंगमविषमधिकं कृत्रिमं चापि सर्वं।
हन्यान्नस्यांजनालेपनबहुविधपानप्रयोगैः प्रयुक्तम्॥ 144॥

भावार्थ : अन्य अनेक प्रकार के क्षार, गोमूत्र, लवण, त्रिकटु सम्पूर्ण गंध द्रव्य व सर्व प्रकार के पुष्पों को सुखाकर चूर्ण करके घी गुड़ के साथ उपर्युक्त योग में मिलावें। पश्चात् उसे गाय के सींग में रखें। उस औषधि के नस्य अंजन, लेपन व पान आदि अनेक प्रकार से उपयोग करें तो स्थावर, जंगम व कृत्रिम समस्त विष दूर होते हैं।

विष रहित का लक्षण व उपचार

प्रोक्तैस्तीव्रविषापहैरतितरां सद्भेषजैर्निर्विषी-।
भूतं मर्त्यमवेक्ष्य शांततनुसंतापप्रसन्नेंद्रियम्॥
कांक्षामप्यशनं प्रतिस्मृतिमलं सत्स्याद्यनीली गुरु -।
न्यन्मूलैश्च ततोऽयपक्वमखिलं (?) दद्यात्स पेयादिकं॥ 145॥

भावार्थ : उपर्युक्त तीव्र विषनाशक औषधियों के प्रयोग से जिसका विष उतर गया हो इसी कारण से शरीर का संताप शीत हो गया हो, इंद्रिय प्रसन्न हो, भोजन की इच्छा होती हो, मल मूत्रादिक का विसर्जन बराबर होता हो (ये विषरहित का लक्षण है)ऐसे मनुष्य को योग्य पेयादिक देवें।

विष में पथ्यापथ्य आहार-विहार

निद्रां चापि दिवाव्यवायमधिकं व्यायाममत्यातपं।
क्रोधं तैलकुलुत्थसत्तिलसुरासौवीरतक्राम्लिकम्॥

त्यक्त्वा तीव्रविषेषु सर्वमशनं शीतक्रियासंयुतं।
योज्यं कीटविषेष्वशेषमहिमं संस्वेदनालेपनम्॥ 146॥

भावार्थ : सर्व प्रकार के विष से पीड़ित मनुष्य को दिन में निद्रा, मैथुन, अधिक व्यायाम, अधिक धूप का सेवन व क्रोध करना भी वर्ज्य है। एवं तेल, कुलथी, तिल, शराब, कांजी, छांछ, आम्लिका आदि (उष्ण) पदार्थों को छोड़कर तीव्रविष में समस्त शीत क्रियाओं से युक्त भोजन होना चाहिए अर्थात् उसे सभी शीतोपचार करें। परन्तु यदि कीट का विष हो तो उस में सर्व उष्ण भोजन व स्वेदन, लेपन आदि करना चाहिए। (क्योंकि कीट विष शीतोपचार से बढ़ता है)।

दुःसाध्य विष चिकित्सा

बहुविधविषकीटा - शेषलूतादिवर्गै-।
रुपहततनुमर्त्येषूग्रवेगेषु तेषाम्॥
क्षपयति निशितोद्यच्छस्त्रपातैर्विदार्य।
स्वहिविषमिव साध्यस्स्यान्महामंत्रतंत्रैः॥ 147॥

भावार्थ : अनेक प्रकार के विषैले कीड़े, मकड़ी आदि के काटने पर विष का वेग यदि भयंकर हो जाये तो वह मनुष्य को मार देता है। इसलिए उसको (विष जन्यव्रण को) शस्त्र से विदारण कर सर्प के विष के समान महामंत्र व तंत्रप्रयोग से साधन करना चाहिए।

अंतिम कथन

इति जिनवक्त्रनिर्गतसुशास्त्रमहांबुनिधेः। सकलपदार्थविस्तृततरंगकुलाकुलतः॥
उभयभवार्थसाधनतटद्वयभासुरतो। निसृतमिदं हि शीकरनिभं जगदेकहितम्॥ 148॥

भावार्थ : जिसमें संपूर्ण द्रव्य, तत्त्व व पदार्थरूपी तरंग उठ रहे हैं, इहलोक-परलोक के लिए प्रयोजनीभूत साधनरूपी जिसके दो सुंदर तट हैं, ऐसे श्रीजिनेन्द्र के मुख से उत्पन्न शास्त्रसमुद्र से निकली हुई बूँद के समान यह शास्त्र है। साथ में जगत् का एक मात्र हितसाधक है (इसलिए इसका नाम कल्याणकारक है)।

इत्युग्रदित्याचार्यविरचिते कल्याणकारके चिकित्साधिकारे
सर्वविषचिकित्सितं नाम एकोनविंशः परिच्छेदः।

इत्युग्रदित्याचार्यकृत कल्याणकारक ग्रन्थ के चिकित्साधिकार में विद्यावाचस्पतीत्युपाधिविभूषित वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री द्वारा लिखित भावार्थदीपिका टीका में समस्त विषचिकित्सा नामक उन्नीसवां परिच्छेद समाप्त हुआ।

अथ विंशः परिच्छेदः

मंगलाचरण

वीरजिनावसानवृषभादि - जिनानभिवंद्य।
घोरसंसारमहार्णवोत्तरणकारण - धर्मपथोपदेशकान्॥
सारतरान् समस्तविषमामयकारणलक्षणाश्रयै-।
र्भूरिचिकित्सितानि सहकर्मगणैः कथयाम्यशेषतः॥ 1॥

भावार्थ : घोर संसाररूपी महान् समुद्र को तारने के लिए कारणभूत, धर्म मार्ग का उपदेश देने वाले, श्रेष्ठ व पूज्य वृषभादि महावीर पर्यंत तीर्थंकरों की वंदना कर समस्त विषम रोगों के कारण, लक्षण, अधिष्ठान व (रोगों को जीतने के लिए) अनेक प्रकार के सम्पूर्ण चिकित्सा विधानों को, उनके सहायभूत छेदन-भेदन आदि कर्मों (क्रिया) के साथ-साथ इस प्रकरण में वर्णन करेंगे, ऐसी आचार्य प्रतिज्ञा करते हैं।

सप्त धातुओं की उत्पत्ति

आहृतसान्नपानरसतो रुधिरं, रुधिराच्च मांसम-।
स्मादपि मांसतो भवति मेद, इतोऽस्थि ततोऽपि॥
मज्जातःशुभशुक्रमित्यभिहिता, इह सप्तविधाश्चधातवः।
सोष्णसुशीतभूतवशतश्च विशेषितदोषसंभवाः॥ 2॥

भावार्थ : मनुष्य जो अन्नपानादिक का ग्रहण करता है वह (पचकर) रस रूप में परिणत होता है। उस रस से रुधिर, रुधिर (रक्त) से माँस, माँस से मेद, मेद से अस्थि, अस्थि से मज्जा, मज्जा से वीर्य (शुक्र) इस प्रकार सप्त धातुओं की उत्पत्ति होती है और वे सात धातु उष्ण व शीत स्वभाव वाले भूतों की सहायता से विशिष्ट वातादि दोषों से उत्पन्न होने वाले होते हैं। अर्थात् धातुओं की निष्पत्ति में भूत व दोष भी मुख्य सहायक कारण हैं।

रोग के कारण लक्षणाधिष्ठान

षड्विधकारणान्यनिलपित्तकफासृगशेषतोभिघा-।
तक्रमतोऽभिघातरहितानि पंच सुलक्षणान्यपि॥
त्वक्च्छिरोऽस्थिसंधि - धमनीजठरादिकर्मनिर्मल-।
स्नायुयुताष्टभेदनिजवासगणाः कथिता रुजामिह॥ 3॥

भावार्थ : रोगों के उत्पत्ति के लिए वात, पित्त, कफ, रक्त, सन्निपात (त्रिदोष) व अभिघात इस तरह छह प्रकार के कारण हैं। अभिघातजन्य रोग को छोड़कर बाकी के रोगों के पाँच प्रकार के (वात, पित्त, कफ रूप सन्निपातजन्य) लक्षण होते हैं। त्वक् (त्वचा) शिरा अस्थि (हड्डि) संधि (जोड़) धमनी, जठरादिक (अमाशय, पक्वाशय, यकृत, प्लीहा आदि)मर्म व स्नायु ये आठ प्रकार के रोगों के अधिष्ठान हैं, ऐसा महर्षियों ने कहा है।

साठ प्रकार के उपक्रम व चतुर्विधकर्म

सर्वचिकित्सितान्यपि च षष्टिविकल्पविकल्पिता-।
नि क्रमतो ब्रवीमि तनुशोषणलेपनतन्निषेचना-॥
भ्यंगशरीरतापन - निबंधनलेखनदारणांग वि-।
म्लाषननस्यपानकबल - ग्रहवेधनसीवनान्यपि॥4॥
स्नेहनभेदनैषणपदाहरणास्र - विमोक्षणांगसं-।
पीडनशोणितस्थितकषाय- सुकल्कघृतादितैलनि-॥
र्वापणमंत्रवर्तिवमनाति - विरेचनचूर्णसब्रणो।
ध्दूपरसक्रियासमवसादनसोद्धतसादनादपि॥ 5॥
छेदनसोपनाहमिथुनाज्य - विषघ्नशिरोविरेचनो।
त्पत्रसुदानदारुणमृदूकरणाग्नियुतातिकृष्णक॥
र्मोत्तरबस्ति - विषघ्नसुबृंहणोग्रसक्षारसित।
क्रिमिघ्नकरणान्नयुताधि - करक्षाणान्यपि॥ 6॥
तेषु कषायवर्तिघृततैलसुकल्ककरसक्रियाविचू-।
र्णनान्यपि सप्तधैव बहुशोधनरोपणतश्चतुर्दश-॥
षष्टिरुपक्रमास्तदिह कर्म चतुर्विधमग्रिशस्त्रस-।
क्षारमहौषधैरखिलरोगगणप्रशमाय भाषितं॥ 7॥

भावार्थ : उन रोगों[1] का समस्त चिकित्सा क्रम साठ प्रकार से विभक्त है जिनको अब क्रमशः कहेंगे। 1. शोषण (सुखना) 2. लेपन (लेप करना) 3. सेचन (तरडे देना) 4. अभ्यंग, (मलना) 5. तापन (तपाना-स्वेद) 6. बंधन (बांधना) 7. लेखन (खुरचना) 8. दारण (फाड देना) 9. विम्लापन (विलयन करना) 10. नस्य, 11. पान, 12. कबलग्रहण (मुख में औषध धारण करना) 13. व्यधन (वींधना) 14. सीवन (सीना) 15. स्नेहन (चिकना करना) 16. भेदन (चिरना) 17. एषण (ढूंढना)

1. 'रोग' यह सामान्य शब्द लिखने पर भी समझना चाहिए कि ये साठ उपक्रम व्रण रोगों को जीतने के लिए हैं। क्योंकि तंत्रांतर में ''व्रणस्य षष्टिरूपक्रमा भवंति'' ऐसा उल्लेख किया है।

18. आहारण (निकालना) 19. रक्तमोक्षण (खून निकालना) 20. पीडन (दबाना सूतना) 21. शोणितास्थापन (खून को रोकना) 22. कषाय (काढा) 23. कल्क (लुगदी) 24. घृत 25. तैल 26. निर्वापण (शांति करना) 27. यंत्र 28. वर्ति, 29. वमन 30. विरेचन, 31 चूर्णन (अवचूर्णन बुरखना) 32. धूपन (धूप देना) 33. रसक्रिया. 34. अवसादन (नीचे को बिठाना) 35. उत्सादन (ऊपर को उकसाना) 36. छेदन (फोड़ना) 37. उपनाह (पुलिटिश) 38. मिथुन (संधान=जोड़ना) 39. घृत. (घी का उपयोग) 40. शिरोविरेचन, 41. पत्रदान (पत्ते लगाना, पत्ते बांधना) 42. दारुण कर्म (कठोर करना) 43. मृदु कर्म (मृदु करना) 44. अग्निकर्म (दाग देना) 45. कृष्णकर्म (काला करना) उत्तर बस्ति 47. विषघ्न. 48. बृंहण कर्म (मांसादि बढाना) 49. क्षारकर्म, 50. सितकर्म (सफेद करना) 51. कृत्रिघ्न (कृमिनाशक – विधान) 52. आहार (आहारनियंत्रण) 53. रक्षाविधान, ये त्रेपन उपक्रम हुए। उपरोक्त कषाय, वर्ति, घृत, तैल, कल्क, रसक्रिया अवचूर्णन इन सात उपक्रमों के शोधन, रोपण, कार्यद्वय के भेद से (प्रत्येक के) दो भेद होते हैं अर्थात् एक- एक उपक्रम दो-दो कार्य करते हैं । इसलिए इन सात उपक्रमों के चौदह भेद होते हैं। ऊपर के 53 उपक्रमों में कषायदि अंतर्गत होने के कारण अथवा उनके उल्लेख उसमें हो जाने के कारण द्विविध (शोधन रोपण)14. अपेक्षाकृत भेद में से एकविध के उपक्रमों का उल्लेख अपने आप हो जाता है। और अपेक्षाकृत जो सात भेद अवशेष रह जाते हैं उन को 53 उपक्रमों में मिलाने से 60 उपक्रम हो जाते हैं । सम्पूर्ण रोगों को प्रशमन करने के लिए अग्निकर्म, शस्त्रकर्म, क्षारकर्म, औषधकर्म, इस प्रकार चतुर्विध कर्म कहा गया है।

स्नेहनादि कर्मकृत मर्त्यों को पथ्यापथ्य

स्नेहनतापनोक्तवमनातिविरेचन - सानुवासना-।
स्थापनरक्तमोक्षणशिरः परिशुद्धिकृतां नृणामयो-॥
ग्याम्यतिरोषमैथुनचिरासन - चंक्रमणस्थितिप्रया।
सोच्चवचःसशोकगुरुभोजनभक्षणवाहनान्यपि॥8॥
आतपशीततोयबहुवात - निषेवणतद्विवातिनि-।
द्राद्यखिलान्यसात्म्य - बहुदोषकराण्यपहृत्यमा॥
समेकं निजदोषसंशमन - भेषजसिद्धजलाद्यशेषमा।
हारमुदाहराम्यनुपमागम - चोदितमग्निवृद्धये॥ 9॥

भावार्थ : जिस रोगी को स्नेहन, तापन, स्वेदन विरेचन, अनुवासन, आस्थापन, रक्तमोक्षण, शिरो विरेचन का प्रयोग किया है उसे उचित है कि वह अतिरोष (क्रोध) मैथुन बहुत समय तक बैठा रहना, अधिक चलना फिरना, अधिक समय खड़े ही रहना, अत्यन्त श्रम करना, उच्च स्वर से बोलना, शोक करना, गुरुभोजन, वाहनारोहण, धूप, ठण्डा पानी व अधिक हवा खाना, दिन में सोना, आदि ऐसे कार्यों को जो असात्म्य, व अधिक दोषोत्पादक हैं, एक मास तक छोड़कर, अपने दोष के उपशमन के

योग्य औषध सिद्ध जल अदि समस्त आहार को, अग्निवृद्ध्यर्थ ग्रहण करना चाहिए जिसे आगम के अनुकूल वर्णन करेंगे।

अग्निवृद्धि कारक उपाय

अष्टमहाक्रियाभिरुदराग्नि - रिहाल्पतरो भवे-।
न्नृणामनलवर्धन - करैरमृतादिभिरावहेन्नरः॥
यत्नपरोऽग्निमणुभिस्तृणकाष्ठचयैः क्रमक्रमा।
दत्र यथा विरूक्षगणैः परिवृद्धितरं करिष्यति॥ 10॥

भावार्थ : आठ प्रकार की महाक्रियाओं (स्नेह, स्वेदन, वमन, विरेचन, अनुवासनबस्ति, आस्थापन बस्ति, रक्तमोक्षण, शिरोविरेचन) से मनुष्यों की उदराग्नि मंद हो जाती हैं। उसे अग्निवृद्धिकारक जलादि के प्रयोगों से वृद्धि करनी चाहिए। जिस प्रकार जरा से अग्निकण को भी प्रयत्न करने वाला सूक्ष्म व रूक्ष, घास, काष्ठ, फूंकनी आदि के सहायता से क्रमशः बढ़ा देता है।

अग्निवर्द्धनार्थ जलादि सेवा

उष्णजलं तथैव श्रृतशीतलमप्यनुरूपतो।
यवागूं सविलेप्यदूषवरधूप्यखलानकृतान्कृतानपि॥
स्वल्पघृतं घृताधिकसुभोजनमित्यथाखिलं।
नियोजयेत्त्रिद्वियुतैकभेदगणनादिवसेष्वनलत्रिकक्रमात्॥ 11॥

भावार्थ : स्नेहनादि प्रयोग से जिनकी अग्निमंद हो गयी हो, उनकी तीन प्रकार के अग्नि (मंदतर, मंदतम, मंद) के अनुसार क्रमशः तीन-2 दिन, दो-2 दिन, एक-2 दिन तक गरम जल, गरम करके ठंडा किया हुआ जल, यवागू, विलेपी, यूष, धूप्य, (?) घी हींग आदि से असंस्कृत खल व संस्कृत खल, अल्प घृत युक्तभोजन, अधिक घृत युक्त भोजन को एक के बाद एक इस प्रकार अग्निवृद्धि करने के लिए देते जावें।

भोजन के बारह भेद

शीत व उष्णलक्षण

दाहतृषातिसोष्णमद - मद्यहतानतिरक्तपित्तिनः।
स्त्रीव्यसनातिमूर्च्छनपरानपि शीतलभोजनैर्भृशम्॥
पीतघृतान्विरेचित - तनूननिलातिबलासरोगिणः।
क्लिन्नमलान्नरानधिकमुष्णतरैः समुपाचरेत्सदा॥ 12॥

भावार्थ : जो रोगी दाह, तृषा, गरमी, मद, मद्य, रक्तपित्त, स्त्री व्यसन (मैथुन) व मूर्च्छा से पीड़ित हैं, उन्हें शीतल भोजन के द्वारा उपचार करना चाहिए। जिन्होंने धृत (स्नेह)पीया हो, जिनको

विरेचन दिया हो, जो वात व कफ के विकार से पीड़ित हों एवं जिनका मल क्लेद युक्त हो रहा हो, उनको अत्यन्त उष्णभोजनों से उपचार करना चाहिए।

स्निग्ध, रूक्ष, भोजन

वातकृतामयानतिविरूक्षतनूनधिकव्यवायिनः।
क्लेशपरान्विशेषबहुभक्षणभोजनपानकादिभिः॥
स्नेहयुतैः कफः प्रबलतुंदिलमेहिमहातिमेदसो।
रूक्षतरैर्निरंतरमरं पुरुषानशनैः समाचरेत्॥ 13॥

भावार्थ : जो वातव्याधि से ग्रस्त है जिनका शरीर रूक्ष है, जो अधिक मैथुन सेवन करते हैं व अधिक परिश्रम करते हैं उनको अधिक स्नेह (घी, तैल आदि) संयुक्त अनेक प्रकार के भक्ष्य भोज्य पानक आदियों से उपचार करना चाहिए। कफाधिक्य से युक्त हो, तुंदिल हो (पेट बढ़ गया हो) विशिष्ट प्रमेही हो, मेदोवृद्धि से युक्त हो, उन्हें रूक्ष व कर्कश (कठिन) आहारों से उपचार करना चाहिए।

द्रव, शुष्क, एक काल, द्विकाल भोजन

तीव्रतृषातिशोषणविशुष्कतनूनपि दुर्बलान्द्रवै-।
र्मेहिमहोदराक्षिनिजकुक्षि - विकारयुतक्षताकुलो-॥
द्वारिनरान्नयेदिह विशुष्कतरैरनलाभिवृद्धये।
मंदसामाग्निकाल्लघुभिरेकवरद्विकभोजनैः क्रमात्॥ 14॥

भावार्थ : जो रोगी तीव्रतृषा से युक्त हो, जिसका मुख अत्यधिक सूख गया हो, जिसको शरीर शुष्क हो, दुर्बल हो, उन को द्रवपदार्थों से उपचार करना चाहिए। प्रमेही, महोदर, अक्षिरोग, कुक्षिरोग, क्षत व डकार से पीड़ित रोगी को शुष्क पदार्थों से उपचार करना चाहिए। मंदाग्नि में अग्निवृद्धि करने के लिए एक बार लघु भोजन कराना चाहिए। समाग्नि में दो बार भोजन कराना चाहिए।

औषधरोषिणामशनमौषधसाधितमेव दापये-।
दग्निविहीनरोगिषु च हीनतरं षड्ऋतुप्रचोदितं॥
दोषशमनार्थमुक्तमतिपुष्टिकरं बलवृष्यकारणं।
स्वस्थजनोचितं भवति वृत्तिकरं प्रतिपादितं जिनैः॥ 15॥

भावार्थ : जो औषधद्वेषी है (औषध खाने में हिचकिचाते हैं) उन्हें औषधियों से सिद्ध (या मिश्रित) भोजन देना चाहिए। जिनकी अग्नि एकदम कम हो गयी हो, उन्हें मात्राहीन (प्रमाण से कम)भोजन देना चाहिए। दोषों के शमन करने के लिए छहों ऋतुओं के योग्य (जिस ऋतु में जो-जो भोजन कहा है) भोजन देना चाहिए। (यही दोषशमन भोजन है) स्वस्थ पुरुषों के शरीर के रक्षणार्थ, पुष्टि, बल, वृष्यकारक (व समसर्वरसयुक्त) आहार देना चाहिए ऐसा भगवान् जिनेन्द्रदेव ने कहा है।

भैषज कर्मादि वर्णन प्रतिज्ञा

द्वादशभोजनक्रमविधिर्विहितो दशपंच चैवस-।
द्भेषजकर्मनिर्मितगुणान्दशभेषजकालसंख्यया॥
सर्वमिहाज्यतैलपरिपाकविकल्परसत्रिषष्टि भे-।
दानपि रिष्टमर्मसहितानुपसंहरणैर्ब्रवीम्यहम्॥ 16॥

भावार्थ : इस प्रकार बारह प्रकार के भोजन (शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष, द्रव, शुष्क, एककाल, द्विकाल, औषधयुक्त, मात्राहीन दोषशमन और वृष्यभोजन) व उसका विधान भी किया गया है। अब पंद्रह प्रकार के औषधकर्म व उन के गुण, दश औषध-काल, सम्पूर्ण घृततैलों के पाक का विकल्प (भेद) रस के त्रेसठ भेद, अरिष्टलक्षण, मर्मस्थान इन को संक्षेप से आगे आगमानुसार कहेंगे।

सम्पूर्ण औषधियों के पंद्रह कर्म

संशमनाग्निदीपनरसायनबृंहणलेखनोक्तसां -।
ग्राहिकवृष्यशोषकरणान्विततद्विलयमधोर्ध्वभा॥
गोभयभागशुद्धिसविरेकविषाणि विषौषधान्यपि।
प्राहुरशेषभेषजकृताखिलकर्मसमस्तवेदिनः॥ 17॥

भावार्थ : 1. संशमन, 2. अग्निदीपन, 3. रसायन, 4. बृंहण, 5. लेखन, 6. संग्रहण, 7. वृष्य, 8. शोषकरण, 9. विलयन, 10. अधःशोधन, 11. ऊर्ध्वशोधन, 12. उभयभागशोधन, 13. विरेचन, 14. विष, 15. विषौषध, ये सम्पूर्ण औषधियों के पंद्रह कर्म हैं ऐसा सर्वज्ञ भगवान् ने कहा है।

दशऔषधकाल

निर्भक्त, प्राग्भक्त, ऊर्ध्वभक्त व मध्यभक्तलक्षण

प्रातरिहौषधं बलवतामखिलामयनाशकारणं।
प्रागपि भक्ततो भवति शीघ्रविपाककरं सुखावहम्॥
ऊर्ध्वमथाशनादुपरि रोगगणानपि मध्यगं।
स्वमध्यगान्विनाशयति दत्तमिदं भिषजाधिजानता॥ 18॥

भावार्थ : 1. निर्भक्त, 2. प्राग्भक्त, 3. ऊर्ध्वभक्त, 4. मध्यभक्त, 5. अंतरा-भक्त, 6. सभक्त, 7. सामुद्ग, 8. मुहुर्मुहु, 9. ग्रास, 10. ग्रासांतर ये दस औषधकाल (औषध सेवन का समय) है। यहाँ से इसी का वर्णन आचार्य करते हैं। अन्नादिक का बिल्कुल सेवन न करके केवल औषध का ही उपयोग प्रातःकाल, [1]बलवान् मनुष्यों के लिए ही किया जाता है, उसे [2]निर्भक्त कहते हैं। इस प्रकार सेवन करने

1. इस प्रकार के औषध सेवन को बलवान् मनुष्य ही सहन कर सकते हैं। बालक, बूढ़े, स्त्री कोमल स्वभाव के मनुष्य ग्लानि को प्राप्त करते हैं।
2. ''तत्र निर्भक्तं केकलमेवैषधमुपयुज्यते''। इति ग्रंथांतरे।

से औषध अत्यन्त वीर्यवान् होता है। अतएव सर्वरोगों को नाश करने में समर्थ होता है। जो औषध भोजन के पहले उपयोग किया जावे उसे प्राग्भक्त कहते हैं। यह काल शीघ्र ही पचाने वाला व सुखकारक होता है। ऊर्ध्वभक्त[1] उसे कहते हैं जो भोजन के पश्चात् खाया पीया जावे, यह भोजन कर के पीछे खाया पीया हुआ औषध, शरीर के ऊर्ध्व भाग स्थित सर्वरोगों को दूर करता है। मध्यभक्त उसे कहते हैं जो भोजन के बीच में सेवन किया जावे। यह भोजन के मध्य में दिया हुआ औषध, शरीर के मध्यगत समस्त रोगों को नाश करता है। विज्ञ वैद्य को उचित है उपरोक्त प्रकार व्याधि आदि को विचार करते हुए औषध प्रयोग करें।

अंतरभक्त सभक्तलक्षण

अंतरभक्तमौषधमथाग्निकरं परिपीयते तथा।
मध्यगते दिनस्य नियतोभयकालसुभोजनांतरे॥
औषधरोषिबालकृशवृद्धजने सहसिद्धमौषधै-।
र्देयमिहाशनं तदुदितं स्वगुणैश्च सभक्तनामकं॥ 19॥

भावार्थ : अंतरभक्त उसे कहते हैं, जो सुबह-शाम के नियत भोजन के बीच ऐसे दिन के मध्य समय में सेवन किया जाता है। यह अंतराभक्त अग्नि को अत्यन्त दीपन करने वाला,(हृदय मन को शक्ति देने वाला पथ्य) होता है। जो औषधों से साधित (क्वाथ आदि से तैयार किया गया या भोजन के साथ पकाया हुआ) आहार का उपयोग किया जाता है, उसे सभक्त कहते हैं। इसे औषधद्वेषियों को (दवा से नफरत करने वालों को) व बालक, कृश, वृद्ध, स्त्रीजनों को देना चाहिए।

सामुद्गमुहुर्मुहुलक्षण

ऊर्ध्वमधःस्वदोषगणकोपवशादुपयुज्यते स्वसा-।
मुद्गविशेषभेषजमिहाशनतः प्रथमावसानयोः॥
श्वासविशेषबहुहिक्किषु तीव्रतरप्रतीतसो-।
द्गारिषु भेषजान्यसकृदत्र मुहुर्मुहुरित्युददीरितं॥ 20॥

भावार्थ : जो औषध भोजन के पहले व पीछे सेवन किया जावे, उसे सामुद्र कहते हैं। यह ऊपर व नीचे के भाग में प्रकुपित दोषों को शांत करता है। श्वास, तीव्रहिका, (हिचकी) तीव्र उद्गार (ढकार) आदि रोगों में जो औषध (भोजन करके या न करके) बार-बार उपयोग किया जाता है, उसे मुहुर्मुहु कहते हैं।

ग्रासग्रासांतर लक्षण

ग्रासगतं विचूर्णमबलाग्निषु दीपनबृंहणादिकं।
ग्रासगणांतरेषु वमनौषधधूमगणान् सकासनि-॥

1. इसे ग्रंथांतरों में 'अधोभक्त' के नाम से कहा है। लेकिन दोनों का अभिप्राय एक ही है।

श्वासिषु तत्प्रशांतिकरभेषजसाधितसिद्धयोगले-।
हानपि योजयेदिति दशौषधकालविचारणक्रमात्॥ 21॥

भावार्थ : ग्रास उसे कहते हैं, जो कवल के साथ, मिलाकर उपयोग करें। जिनके अग्नि दुर्बल हो जो क्षीणशुक्र व दुर्बल हों उन्हें दीपन, बृंहण, वाजीकरण औषधिसिद्ध चूर्ण को ग्रास के साथ उपयोग करना चाहिए, ग्रासांतर उसे कहते हैं जो ग्रासों (कवल) के बीच (दोनों ग्रासों के मध्य) में सेवन किया जावे। ग्रास श्वास पीड़ितों को, वमनौषध सिद्ध वमनकारक धूम व कालादिकों को शांत करने वाले औषधियों से अवलेहों को ग्रासांतर में प्रयोग करना चाहिए। इस प्रकार क्रमशः दस औषध काल का वर्णन हुआ।

स्नेहपाकादि वर्णन प्रतिज्ञा

स्नेहविपाकलक्षणमतः परमूर्जितमुच्यतेऽधुना-।
चार्यमतैः प्रमाणमपि कल्ककषायविचूर्णतैलस॥
र्पि:प्रकरावलेहनगणेष्वतियोगम - योगसाधुयो-।
गानिजलक्षणैरखिलशास्त्रफलं सकलं ब्रवीम्यहं॥ 22॥

भावार्थ : यहाँ से आगे स्नेहपाक (तैल पकाने) का लक्षण, कल्क, कषाय, चूर्ण, तैल, घृत, अवलेह इन के प्रमाण, अतियोग, अयोग व साधुयोग के लक्षण, सम्पूर्ण शास्त्र के फल आदि सभी विषय को पूर्वाचार्यों के मतानुसार इस प्रकरण में वर्णन करेंगे।

क्वाथ पाक विधि

द्रव्यगुणाच्चतुर्गुणजलं परिषिच्य विपक्व-।
मष्टभागमवशिष्टमपरैः श्रुतकीर्तिकुमारनंदिभिः॥
षोडशभागशेषितमनुक्तघृतादिषु वीरसेनसू-।
रिप्रमुखैः कषायपरिपाकविधिर्विहितः पुरातनैः॥ 23॥

भावार्थ : जहाँ घृत आदि के पाक में कषाय पाक का विधान नहीं लिखा हो, ऐसे स्थानों में औषध द्रव्य से चतुर्गुण (चौगुना) जल डाल कर पकावें। आठवां भाग शेष रहने पर उतार कर छान लेवें ऐसा श्रुतकीर्ति व कुमारनंदि मुनि कहते हैं। लेकिन पुरातन वीरसेन आदि मुनिपुंगव द्रव्य से चतुर्गुण जल डालकर, सोलहवाँ भाग शेष रखना चाहिए ऐसा कहते हैं।

स्नेहपाक विधि

द्रव्याच्चतुर्रागांभसि विपक्वकषायविशेष-।
पादशेषिततदर्धदुग्धसहिते च तदर्धघृते घृतस्य।
पादौषधकल्कयुक्तमखिलं परिपाच्य घृतावशेषितं।
तद्वरपूज्यपादकथितं तिलजादिविपाकलक्षणम्॥ 24॥

भावार्थ : औषधद्रव्य को चतुर्गुण जल में पकावें। उस कषाय को चौथाई हिस्से में ठहरावें, उससे अर्धभाग दूध, अर्धभाग घी (स्नेह) दूध व घी से (स्नेह) चौथाई भाग औषधकल्क। इन सब को एकत्र पकाकर घृत के अंश अवशेष रहने पर उतार लें। यह पूज्यपाद आचार्य के द्वारा कहा हुआ स्नेहपाक का लक्षण वा विधान है।

स्नेहपाक का त्रिविध भेद

प्रोक्तघृतादिषु प्रविहिताखिलपाकविधिर्विशेषिते-।
ष्वेषु समस्त सूरिमतभेदविकल्पकृतः प्रशस्यते॥
पाकमिह त्रिधा प्रकटयंति मृदुं वरचिक्कणं खरा-।
द्युज्वलचिक्कणं च निजनामगुणैरपि शास्त्रवेदिनः॥ 25॥

भावार्थ : उपर्युक्त प्रकार घृत आदि के पाक के विषय में जो आचार्यों के परस्पर मतभेद पाया जाता है, वे सर्व प्रकार के विभिन्न मत भी हमें मान्य हैं। स्नेह पाक तीन प्रकार से विभक्त है। एक मृदुपाक, दूसरा चिक्कणपाक, तीसरा खरचिक्कण पाक, इस प्रकार अपने नाम के अनुसार गुण रखने वाले तीन पाकों को शास्त्रज्ञों ने कहा है।

मृदु चिक्कण खरचिक्कण पाक लक्षण

स्नेहवरौषधाधिकविवेकगुणं मृदुपाकमादिशेत्।
स्नेहविविक्तकल्कबहुपिच्छिलतो भवतीह चिक्कणं॥
कल्कमिहांगुलिद्वय विमर्दनतः सहसैव वर्तुली-।
भूतमवेक्ष्य तं खरसुचिक्कणमाहुरतोतिदग्धता॥ 26॥

भावार्थ : स्नेह पकाते-पकाते जब तैल व उस में डाला हुआ औषध अलग-अलग (तैल अलग, औषध अलग, तैल औषध घुले नहीं) हो जावे, उसे मृदुपाक कहते हैं। जिस कल्क में तैल का अंश बिल्कुल न हो, लेकिन वह लिवलिवाहट से युक्त हो, ऐसे (मसलने) करने पर शीघ्र ही गोल वा बत्तीसा बन जावे, तो इस पाक को खरचिक्कण पाक कहते हैं, (दग्ध पाक निर्गुण होता है)।

स्नेह आदिकों के सेवन का प्रमाण

स्नेहपरिप्रमाणं षोडशिकाकुडुबं द्रवस्य चूर्णं।
बिडालपादसदृशं वरकल्कमिहाक्षमात्रकं॥
सेव्यमिदं वयोबलशरीरविकारविशेषतोतिही-।
नाधिकतां वदंति बहुसंशमनौषधसंग्रहे नृणाम्॥ 27॥

भावार्थ : जो रोगशमनार्थ संशमन औषधप्रयोग किया जाता है, उसमें स्नेह (घृततैल) चूर्ण व कल्क के सेवन का प्रमाण एक-एक तोला है। द्रव पदार्थ (क्वाथादि) का प्रमाण एक कुडब (16

तोला) है। लेकिन रोगी के वय, शक्ति, शरीर, विकार (रोग) की प्रबलता अप्रबलता, आदि के विशेषता से अर्थात् उसके अनुसार उक्त मात्रा से कमती या बढ़ती भी सेवन करा सकते हैं। ऐसा संशमन औषध संग्रह में मनुष्यों के लिए आचार्यप्रवरों ने कहा है।

रसों के त्रेसठ भेद

एकवरद्विकत्रिकचतुष्कस - पंचषट्कभेदभं -।
गैरखिलै रसास्त्रिकयुताधिक - षष्टिविकल्पकल्पिता॥
तानधिगम्य दोषरसभेदविदूर्जितपूर्वमध्यप-।
श्चादपि कर्मनिर्मलगुणो भिषगत्र नियुज्य साधयेत्॥ 28॥

भावार्थ : (अब रसों के त्रेसठ भेद कहते हैं) एक-एक रस, दो-दो रसों के संयोग, तीन-तीन रसों के संयोग, चार-चार रसों के संयोग, पाँच-पाँच रसों के संयोग व छहों रसों के संयोग से कुल रसों के त्रेसठ भेद होते हैं। दोषभेद रसभेद, पूर्वकर्म मध्यकर्म व पश्चात्कर्म को जानने वाला निर्मल गुण युक्त वैद्य, रसभेदों को अच्छी तरह जान कर, उन्हें दोषों के अनुसार प्रयोग कर के, रोगों को साधन करें ।

रसभेदों का खुलासा इस प्रकार हैं - एक-एक रस की अपेक्षा छह भेद होते हैं (क्योंकि रस छह ही हैं) जैसे -जैसे मधुर रस (मीठा) 2 अम्ल (खट्टा) रस, 3 लवण (नमकीन) रस, 4 कटुक (चरपरा) रस, 5 तिक्त (कड़वा) रस, 6 कषाय (कषैला) रस. दो 2 रसों के संयोग से 15 भेद होते हैं । 1 मधुराम्ल, 2 मधुरलवण, 3 मधुर तिक्त, 4 मधुरकटुक, 5 मधुरकषाय. इस प्रकार मधुर रस को अन्य रसों में मिलाने से 5 भेद हुए। 1 अम्ललवण, 2 अम्लकटुक, 3 अम्लतिक्त, 4 अम्लकषाय, इस प्रकार अम्लरस को अन्य रसों के साथ मिलाने से 4 भेद हुए । 1 लवणतिक्त, 2 लवणकटुक, 3 लवणकषाय इस तरह लवणरस अन्य रसों के साथ मिलाने से 3 भेद हुए । 1 कटुकतिक्त, 2 कटुककषाय, इस प्रकार कटुक को तिक्त से मिलाने से 2 भेद हुए। तिक्तकषाय इन दोनों के संयोग से एक भेद हुआ। इस प्रकार 15 भेद हुए। तीन 2 रसों के संयोग से 20 भेद होते हैं । वह इस प्रकार है। मधुर के साथ दो 2 रसों के संयोग करने से उत्पन्न दश भेद-1 मधुराम्ललवण, 2 मधुराम्लकटुक, 3 मधुराम्लतिक्त, 4 मधुराग्लकषाय, 5 मधुरलवण कटुक, 6 मधुरलवणतिक्त, 7 मधुरलवणकषाय, 8 मधुरकटुकतिक्त, 9 मधुरकटुककषाय, 10 मधुरतिक्त कषाय । अम्लरस के साथ मधुर व्यतिरिक्त अन्य रसों के संसर्ग से जन्य छह भेद । 1 अम्ललवण कटुक, 2 अम्ललवणतिक्त, 3 अम्ललवण कषाय, 4 अम्लकटुकषाय, 5 अम्लकटुतिक्त, 6 अम्लतिक्तकषाय। लवण रस के साथ संयोगजन्य तीन भेद। 1 लवणकटुकतिक्त, 2 लवणकटुकषाय, 3 लवणतिक्तकषाय। कटुकरस के साथ संयोगजन्य एक भेद 1 कटुतिक्तकषाय । इस प्रकार 20 भेद हुए । चार-चार रसों के संयोग से 15 भेद होते हैं। इसमें मधुर के साथ संयोगजन्य दश भेद अम्लरस के साथ संयोग से उत्पन्न भेद चार, लवण के साथ संसर्गजन्य भेद एक होता है। इस प्रकार पंद्रह हुए । इस का विवरण इस प्रकार है।

1.मधुराम्ललवणकटुक, 2.मधुराम्ललवणतिक्त, 3. मधुराम्ललवणकषाय, 4. मधुराम्ल-कटुककषाय, 5. मधुराम्लकटुकतिक्त, 6. मधुरलवणतिक्तकटुक, 7. मधुराम्लतिक्तकषाय, 8. मधुरलवण-कटुककषाय, 9. मधुरकटुतिक्तकषाय, 10. मधुरलवण तिक्तकषाय।

1. अम्ललवणकटुतिक्त, 2. अम्ललवणकटुकषाय, 3. अम्ललवणतिक्तकषाय, 4. अम्लकटुतिक्त कषाय । 1 लवणकटुतिक्तकषाय॥

पाँच रसों के संयोग से 6 भेद होते हैं। वह निम्नलिखितानुसार हैं -

1. मधुराम्ललवणकटुतिक्त, 2. मधुराम्ललवणकटुकषाय 3. मधुराम्ललवणतिक्त कषाय, 4. मधुराम्लकटुतिक्तकषाय, 5. मधुरलवणकटुतिक्तकषाय ।

इस प्रकार मधुरादि रस के संयोग से 5 भेद हुए। 1. अम्ललवणकटुतिक्तकषाय अम्लादि रसों के संयोग से, यह एक भेद हुआ।

छहों रसों को एक साथ मिलाने से एक भेद होता है यथा मधुराम्ललवणकटुतिक्त कषाय। इस प्रकार कुल रसों के त्रेसठ भेद का विवरण समझना चाहिए।

अयोगातियोगसुयोगलक्षण

सर्वमिहाखिलामयविरुद्ध-मयोगमतिप्रयोगमु-।
द्यद्वरभेषजैरतिनियुक्त - मशेषविकारविग्रहं ॥
सम्यगितःप्रयोगमुपदिष्ट - मुपक्रमभेदसाधनै-।
रायुरं विचार्य बहुरिष्टगणैरवबुध्य साधयेत्॥ 29॥

भावार्थ : जो औषधप्रयोग रोग के लिए हर तरह से विरुद्ध है, उसे अयोग कहते हैं। जो रोग के शक्ति की अपेक्षा (अविरुद्ध होते हुए भी) अधिक मात्रा से प्रयुक्त है, उसे अतियोग कहते हैं। जो योग रोग को नाश करने के लिए सर्व प्रकार से अनुकूल है अतएव रोग को पूर्णरूपेण नाश करने में समर्थ है उसे सम्यग्योग कहते हैं। वैद्य को उचित है कि अरिष्ट समूहों से रोगी के आयु को विचार कर, अर्थात् आयु का प्रमाण कितना है, इस बात को जानकर, अनेक भेद से विभक्त उपक्रम (प्रतीकार) रूपी साधनों से रोग को साधना चाहिए (चिकित्सा करनी चाहिए)।

रिष्टवर्णन प्रतिज्ञा

स्वस्थजनोद्भवान्यधिकृतातुर - जीवितनाशहेतुरि-।
ष्टान्यपि चारुवीरजिनवचोदितलक्षणलक्षितानि ता-॥
न्यत्र निरूपयाम्यखिल - कर्मरिपूनपहंतुमिच्छतां।
तत्त्वविदां नृणाममलमुक्तिवधूनिहिताभिकांक्षिणाम्॥ 30॥

भावार्थ : अब आचार्य कहते हैं कि जो भव्य तत्त्ववेत्ता सम्पूर्ण कर्म शत्रुओं को नाश कर

मुक्तिलक्ष्मी को वरना चाहते हैं, उनके लिए हम स्वस्थ मनुष्य में भी उत्पन्न रोगी के प्राण को नाश करने के लिए कारणभूत रिष्ट (मरणचिह्नों) का निरूपण श्री महावीर भगवंत के वचनानुसार लक्षण सहित करेंगे।

रिष्ट से मरण का निर्णय

मेघसमुन्नतैरधिकवृष्टिरिवेष्ट - विशिष्टरिष्टस-।
न्दर्शनतो नृणां मरणमप्यचिराद्भवतीति तान्यशे-॥
षागमपारगस्वमनसैव विचार्य निश्चितं वदेत्।
स्वप्नविकारचेष्टितविरुद्धविलक्षणतो विचक्षणः॥31॥

भावार्थ : समस्त शास्त्रों में प्रवीण वैद्य जैसे अत्यधिक बादलों के होने पर बरसात होना अनिवार्य कह सकते हैं, उसी प्रकार विशिष्ट मरणचिह्नों के प्रकट होने से मरण भी शीघ्र अवश्य होता है, ऐसा अपने मन में निश्चय कर कहें। विकृतस्वप्न, विरुद्धचेष्टा, व विरुद्धलक्षण, इनसे आयु का निर्णय कर सकता है एवं मरण का ज्ञान कर सकता है।

मरणसूचक स्वप्न

स्वप्नगतोऽतिकंटकतरूनधिरोहति चेद्भयाकुलो।
भीमगुहांतरेऽपि गिरिकूटतटात्पतति ह्यधोमुखः॥
यस्य शिरोगलोरसि तथोच्छ्रितवेणुगणप्रकार-।
तालादिसमुद्भवो भवति तज्जनमारणकारणावहम्॥32॥

भावार्थ : यदि रोगी स्वप्न में व्याकुल होकर अपने को तीव्र कंटक वृक्ष पर चढ़ते हुए देखता हो, कोई भयंकर गुफा में प्रवेश कर रहा हो, कोई पर्वत वगैरह से नीचे मुखकर गिरता हो एवं यदि रोगी के शिर, गल व हृदय में ऊँचे बाँस व उसी प्रकार के ऊँचे ताल (ताड़) आदि वृक्षों की उत्पत्ति मालूम पड़ती हो तो यह सब उसके मरण चिह्न हैं ऐसा समझना चाहिए अर्थात् ये लक्षण उसके होने वाले मरण को बतलाते हैं।

यानखरोष्ट्रगर्दभवराहमहा - महिषोग्ररूपस -।
व्यालमृगान् व्रजेत् समधिरुह्य दिशं त्वरितं च दक्षिणं।
तैलविलिप्तदेहमसिता वनिता ह्यथवातिरक्तमा-।
ल्यांबरधारिणी परिहसन्त्यसकृत्परिनृत्यतीव सन्॥33॥
प्रेतगणैस्सशल्यबहुभस्म - धरैरथवात्मभृत्यव-।
गैरतिरक्तकृष्णवसनावृत - लिंगिभिरंगनाभिर-॥

त्यंतविरूपिणीभिरवगृह्य नरो यदि नीयतेऽत्र।
कार्पासतिलोत्थकल्कखललोहचयानपि यः प्रपश्यति॥34॥

भावार्थ : जो स्वप्न में खच्चर, ऊंट, गधा, सूअर भैंस व भयंकर व्याघ्र (शेर) आदि क्रूर मृगों पर चढ़कर शीघ्र ही दक्षिण दिशा की ओर जाते हुए दृश्य को देख रहा हो, शरीर पर तेल लगाये हुए स्वयं को लाल वस्त्र व माला को धारण करने वाली काली स्त्री बार-बार परिहास करती हुई, नाचती हुई बांधकर ले जा रही हो, शल्य (कांटे) व भस्म को धारण करनेवाले प्रेतसमूह, अथवा अपने नौकर या अत्यन्त लाल वा काले कपड़े पहने हुए साधु, अत्यन्त विकृत रूप वाली स्त्री, यदि रोगी को पकड़कर कहीं ले जाते हुए दृश्य को देख रहा हो, जो रुई, तिल के कल्क, खल लोह समूहों को स्वप्न में देखता हो तो समझना चाहिए। यह सब उस रोगी के मरण के चिह्न हैं। ऐसे रोगी की चिकित्सा न करनी चाहिए।

विशिष्ट रोगों में विशिष्ट स्वप्न व निष्फल स्वप्न

शोणितपित्तपाण्डुकफमारुतरोगिषु रक्तपीतपाण्डु।
प्रकरारुणाभबहुवस्तुनिदर्शनतो मृतिस्तु तेषां॥
क्षयरोगिणामपि च वानरबंधुतया यथाप्रकृत्यात्म।
विचिंतितान्यखिलदर्शनकान्यफलानि बर्जयेत्॥ 35॥

भावार्थ : रक्त-पित्त से पीड़ित लाल, पाण्डुरोगी पीला, कफरोगी सफेद व वातरोग से पीड़ित लाल वर्ण के बहुत से पदार्थों को देखें और क्षयरोग से पीड़ित मनुष्य बंदर को मित्र के सदृश अथवा उसके साथ मित्रता करते हुए देखें तो इन का जरूर मरण होता है। जो स्वप्न रोगी के प्रकृति के अनुकूल हो, अभिन्न स्वभाव वाला हो एवं संस्कारगत हो (जो विषय व वस्तु बार-बार चिंतन किया हुआ हो वही स्वप्न में नजर आवें) ऐसे स्वप्न फल रहित होते हैं।

दुष्ट स्वप्नों के फल

स्वस्थजनोऽचिरादधिकरोगचयं समुपैति चातुरो।
मृत्युमुखं विशत्यसदृशासुरनिष्ठुररूपदुष्टदु-॥
स्वप्ननिदर्शनादरललाम - सुखाभ्युदयैकहेतुसु-।
स्वप्नगणान्ब्रवीम्युरुतरामयसंहतिभेदवेदिनम्॥36॥

भावार्थ : पूर्वोक्त प्रकार के असदृश व राक्षस जैसे भयंकर, दुष्ट स्वप्नों को यदि स्वस्थ मनुष्य देखें तो शीघ्र ही अनेक प्रकार के रोगों से ग्रस्त होता है। रोगी देखें तो शीघ्र मृत्यु मुख पर जाता है। अब विस्तृत रोग समूहों के भेद को जानने वालों के लिए अत्युकृष्ट सुख व अभ्युदय के हेतुभूत शुभ स्वप्नों को कहेंगे।

शुभ स्वप्न

पंचगुरून्गुरून्नरपतीन्वर - षोडशजैनसंभव-।
स्वप्नगणान्जिनेंद्रभवनानि मनोहरमित्रबांधवान्॥
नदीसमुद्रजलसंतरणोन्नत - शैलवाजिसद्वारणा-।
रोहणान्यपि च सौख्यकराण्यधिपश्यतां नृणाम्॥ 37॥

भावार्थ : जो रोगी स्वप्न में पंचपरमेष्ठी, अपने गुरु, राजा, जिनेन्द्र शासन में बतलाये हुए सोलह स्वप्न, जिनेन्द्रमंदिर, सुंदर मित्र, बांधव आदि को देखता हो एवं अपने को नदी, समुद्र को पार करते हुए, उन्नत पर्वत, सुंदर घोड़ा व हाथी पर चढ़ते हुए देखता हो, यह सब शुभ चिह्न हैं। रोगी के लिए सुखकर है।

अन्य प्रकार के अरिष्ट लक्षण

मर्म उपद्रवान्वितमहामयपीडितमुग्रमर्मरो-।
गव्यथितांगयष्टिमथवा तमतीतसमस्तवेदनम्॥
त्यक्तनिजस्वभाव - मसितद्विजतद्रसनोष्ठनिष्ठुरं।
स्तब्धनिमग्नरक्तविषमेक्षणमुद्गतलोचनं त्यजेत्॥ 38॥

भावार्थ : जो मर्म के उपद्रव से संयुक्त महामय पीड़ित है, भयंकर मर्मरोग से व्याकुलित है, जिसकी समस्त वेदनायें अपने आप अकस्मात् चिकित्सा के बिना शांत हो गयी हों, शरीर का वास्तविक स्वभाव एकदम बदल गया हो, दाँत काले पड़ गए हों जीभ व ओंठ काली व कठिन हो गयी हो, आँखें स्तब्ध (जकड़जाना) निमग्न (अंदर की ओर घुस जाना) लाल व विषम हो गई हों अथवा आँखें उभरी हुई हो, ऐसे रोगी की चिकित्सा न कर के छोड़ देना चाहिए। अर्थात् ये उस रोगी के मरणचिह्न हैं। इन चिह्नों के प्रकट होने पर रोगी का मरण अवश्य होता है।

पश्यति सर्वमेव विकृताकृतिमार्तविशेषशब्दजातिं।
विकृतिं श्रुणोति विकृतिं परिजिघ्रति गंधमन्यतः॥
सर्वरसानपि स्वयमपेतरसो विरसान्ब्रवीति यः।
स्पर्शमरं न वेत्ति विलपत्यबलस्तमपि त्यजेद्भिषक्॥ 39॥

भावार्थ : जो रोगी सर्वरूप को विकृतरूप से देखता है, आर्त नाद जैसे विकृत शब्द को सुनता है, गंध को भी विकृत रूप से सूंघता है, अपनी जिह्वा के रस रहित, विकार स्वाद (निस्वाद) अथवा विकृत रस वाली होने से सम्पूर्ण रसों को विरस कहता है, स्पर्शकों भी नहीं जानता एवं प्रलाप करता है, निर्बल है, ऐसे रोगी को वैद्य असाध्य समझकर छोड़ देवें।

आननसंभृतश्वयथुरंघ्रिगतः पुरुषं-हंति तंदघ्रिजोप्यनुतदाननगः प्रमदां-॥
गगुह्यगतस्तयोर्मृतिकरोर्धशरीरगतोप्यर्धतनोर्विशोषणकरः कुरुते मरणं॥40॥

भावार्थ : पुरुष के मुख में शोथ उत्पन्न होकर क्रमशः पाद में चला जावे तो और स्त्री के प्रथम पाद में उत्पन्न होकर मुख में आ जावें तो, मारक होता है। गुह्य भाग में उत्पन्न शोथ, एवं शरीर के अर्धभाग में स्थित होकर अर्धशरीर को सुखाने वाला शोथ स्त्री-पुरुष दोनों को मारक होता है।

यो विपरीतरूपरसगंधविवर्णमुखो। नेत्ररुजां बिना सृजति शीतलनेत्रजलम्॥
दाहनखद्विजाननसमुद्रतपुष्पसुग-। र्भातिसितासितैररुणितैरनिमित्तकृतैः॥41॥

भावार्थ : जो रोगी विपरीत रूप रस गंधादिकों का अनुभव करता हो, जिसका मुख विवर्ण (विपरीत वर्ण युक्त) हो गया हो, जिसके नेत्र से कोई नेत्ररोग के न होने पर भी शीतल पानी बह रहा हो, जिसके शरीर में अकस्मात् दाह और नाखून, दंत व मुखमण्डल में अकस्मात् सफेद, काले व लाल पुष्प, (गोलबिंदु) उत्पन्न हो गए हो, तो समझना चाहिए कि उस रोगी का मरण अत्यन्त सन्निकट है।

अन्यरिष्ट

यश्च दिवानिशं स्वपिति यश्च न च स्वपिति। स्पृष्टललाटकूटघटितोछ्रितभूरिशिरः॥
यश्च मलं बृहत्सृजति भुक्तिविहीनतनु-। र्यःप्रलपनात्पत्यपि सचेतन एव नरः॥42॥
यश्च समसतलोकमपि धूमहिमांबुवृतं। यश्च धरातलं लिखति तद्विवराकुलितं॥
यश्च रजोविकीर्णरवि पश्यति चात्मवपुः। यश्च रुजं न वेत्ति दहनादिकृतां मनुजः॥43॥
यश्च न पश्यति प्रविदितप्रतिबिंबमरं। यश्च निषेव्यते कनकमाक्षिकपद्धतिभिः॥
यश्च दिवाकरं निशिशशिद्युतिवन्ह्यनिलं। यश्च शरीरिणं समुपलक्षयति प्रकटम्॥44॥
यस्य ललाटपट्टमुपयंति च यूकगणा। यस्य शिरस्यकारणविकीर्णरजोनिचयः॥
यस्य निमग्नमेव हनुविलंबबृहद्वषणं॥ यस्य विनष्टहीनविकृतस्वरता च भवेत्॥45॥
यस्य सितं तदप्यसितवच्छुषिरं घनव-द्यस्य दिवा निशेव बृहदप्यतिसूक्ष्मतरं॥
यस्य मृदुस्तथा कठिनवद्भिममप्यहिमं। यस्य समस्तवस्तु विपरीतगुणं तु भवेत्॥46॥
तान्परिहृत्य दुष्टबहुरिष्टगणान् मनुजान्। साधु विचार्य चेष्टितनिजस्वभावगुणैः॥
व्याधिविशेषविद्विषगशेषभिषक्प्रवरः। साध्यतमामयान्सततमेव स साधयतु॥47॥

भावार्थ : जो रोगी दिन रात सोता हो, जो बिल्कुल नहीं सोता हो, जिसके ललाट प्रदेश में स्थित शिरायें उठी हुई नजर आती हों, जो भोजन न करने पर भी बहुत मल विसर्जन करता हो, मूर्छित न होने पर भी बड़बड़ करते हुए गिर पड़ता हो, सम्पूर्ण लोक को, धूंवा, ओस व पानी से व्याप्त देखता हो, महीतल को रेखा व रंध्रों (छिद्र सूराक) से व्याप्त देखता हो, अपने शरीर पर धूल बिखेर लेता हो,

(अथवा अपने शरीर को धूलि से व्याप्त देखता हो,) अग्नि से जलने व शस्त्रादिक से भिदने छिदने आदि से उत्पन्न वेदनाओं को बिलकुल नहीं जानता हो, दर्पणादिक में अपने प्रतिबिम्ब को नहीं देखता हो, जिस पर (स्नान से शरीर साफ होने के पश्चात् भी) कनकमाक्षिक (सुनैरी रंगवाली मक्खियाँ) समूह आ बैठता हो, रात्रि में सूर्य को, दिन में चंद्र के सदृश कांतियुक्त सूर्य को व न रहते हुए भी अग्नि व वायु को देखता हो, जो प्रेत राक्षस आदि प्राणियों को अच्छी तरह देखता हो, जिस के ललाट पर यूक (जूं) समूह आकर बैठ जाता हो, शिर बिना कारण रज से (धूल आदि) व्याप्त हो जाता हो, हनु गहरी मालूम पडती हो, नाक अल्प अथवा विकृत हो गयी हो, जिसको सफेद वस्तु भी काले दिखते हों, छिद्रसहित भी छिद्ररहित (ठोस) दिखते हों, दिन, रात्रि के समान दिखता हो, बड़ा भी सूक्ष्मरूप से दिखता हो, मृदु भी कठिन मालूम होता हो, ठण्डा भी गरम मालूम होता हो, अर्थात् जिसे समस्त पदार्थ विपरीत गुण से दिखते हों ऐसे मरण चिह्नों से युक्त मनुष्यों को उनके स्वभाव, चेष्टा, गुण आदियों से अच्छी तरह विचार कर के, उस रोगी को चिकित्सा में प्रवीण कुशल वैद्य साध्य रोगों को बहुत प्रयत्न के साथ साधन करें अर्थात् चिकित्सा करें।

रिष्टलक्षण का उपसंहार और मर्म वर्णन प्रतिज्ञा

प्रोक्तानेतानिष्टरिष्टान्मनुष्यान्। त्यक्त्वा धीमान् मर्मसंपीडितांश्च॥
ज्ञात्वा वैद्यः प्रारभेत्तच्चिकित्सां। यत्नाद्वक्ष्ये मर्मणां लक्षणानि॥ 48॥

भावार्थ : उपर्युक्त प्रकार के मरणचिह्नों से युक्त रोगियों को एवं मर्म पीड़ा से व्याप्त रोगियों को बुद्धिमान वैद्य छोड़कर बाकी के रोगियों की चिकित्सा करें। अब बहुत यत्न के साथ मर्मों का लक्षण कहेंगे।

शाखागत मर्मवर्णन

क्षिप्र व तलहृदय मर्म

पादांगुल्यंगुष्टमध्ये तु मर्म। क्षिप्रं नाम्नाक्षेपकेनात्र मृत्युः॥
तन्मध्यांगुल्यामानुपूर्व्यं तलस्य। प्राहुर्मध्ये दुःखमृत्युं हृदाख्यम्॥ 49॥

भावार्थ : पाद की अंगुली व अंगूठे के बीच में 'क्षिप्र' नाम का मर्मस्थान है। वहाँ भिदने से आक्षेपक वातव्याधि होकर मृत्यु होती है। मध्यमांगुली को लेकर पादतल के बीच में 'तलहृदय' नाम का मर्म स्थान है। वहाँ भिदने से पीड़ा होकर मृत्यु होती है।

कूर्च कूर्चशिरगुरफ मर्म

मध्यात्पादस्योभयत्रोपरिष्टात्। कूर्चो नाम्नात्र क्षते तद्भ्रमः स्यात्॥
गुल्फाधस्तात्कूर्चशीर्षोतिदुःखं। शोफो गुल्फे स्तब्धसुप्तिस्वरुक्च॥ 50॥

भावार्थ : पादतल दो मध्य (क्षिप्रमर्म) से ऊपर की ओर (पंजे की तरफ) दोनों तरफ 'कूर्च' नाम का मर्म है। वहाँ जखम होने पर पाद में भ्रमण वा कम्पन होता है। गुल्फ की संधि से नीचे (दोनों

बाजू) 'कूर्चशिर' नाम का मर्म है। वहाँ विधने से सूजन और पीड़ा होती है। पाद और जंघा की संधि में ''गुल्फ ''नाम का मर्म हैं। वहाँ चोट लगने से, स्तब्धता (जकड़ जाना) सुप्ति (स्पर्श ज्ञान का नाश)और पीड़ा होती है।

इंद्रवस्ति जानुमर्म

पार्ष्णिप्रत्यूर्धस्वजंघार्धभागे। रक्तस्रावादिंद्रवस्तौ मृतिस्स्यात्॥

जंघोर्वोः संधौ तु जानुन्यमोधं। खंजत्वं तत्र क्षते वेदना च॥ 51॥

भावार्थ : एडी को लेकर (एडी के बराबर) ऊपर की ओर पिंडली के मध्य भाग में 'इंद्रवस्ति' नाम का मर्म है। वहाँ चोट लगने वा बिधने से, रक्तस्राव होकर मरण होता है। पिंडली और उसकी जोड़ में 'जानु' (घुटना) नाम का मर्म स्थान है। वहाँ क्षत होने पर लंगड़ापन और पीड़ा होती है।

आणि व उर्वी मर्म

जानुन्यूर्ध्वं त्र्यंगुलादाणिरुक्च। स्थाब्ध्यं सक्त्थनः शोफवृद्धि क्षतेऽस्मिन्॥

ऊर्वोमध्ये स्यादिहोर्वीति मर्म। रक्तस्रावात्सक्थिनशोफक्षयश्च॥ 52॥

भावार्थ : जानु के ऊपर (दोनों तरफ) तीन अंगुल में आणि नामक मर्म है, जिसके क्षत होने पर पीड़ा साथल की स्तब्धता व शोफ की वृद्धि होती है। ऊरु(साथल) के बीच में ऊर्बी नामक मर्म है। वहाँ विंधने से रक्तस्राव होने के कारण, सथिल में सूजन होती है।

रोहिताक्ष मर्म

ऊर्व्योत्स्तूर्ध्वं वंक्षणस्याप्यधस्तादूरोर्मूले रोहिताक्षेऽपि तद्वत्।

पक्षाघातःसक्थिशोफोऽस्त्रपातो मृत्युर्वा स्यात्प्राणिनां वेदनाभिः॥ 53॥

भावार्थ : उर्वी मर्म के ऊपर वंक्षणसंधि के नीचे उस (साथल) के मूल में 'रोहिताक्ष' नाम का मर्म है। वहाँ क्षत होने पर रक्तस्राव होने से पक्षाघात, (लकुआ) व पैर में सूजन होती है। कभी-कभी अत्यन्त पीड़ा के साथ प्राणियों का मरण भी हो जाता है।

विटपमर्म

अण्डस्याधो वंक्षणस्यांतराले शुक्रध्वंसी स्याद्विटीपाख्यमर्म।

सक्थ्नैकस्मिन् तान्यथैकादशैव सक्थ्यन्यस्मिन् बाहुयुग्मेऽपि तद्वत्॥ 54॥

भावार्थ : अण्ड व वंक्षण संधि के बीच में ''विटप'' नाम का मर्म है। वहाँ क्षत होने पर शुक्रधातु का नाश होता है (इसीलिए नपुसंकत्व भी होता है) इस प्रकार एक टांग में ग्यारह मर्म स्थान हुए। इसी प्रकार दूसरी टांग में दोनों हाथों में ग्यारह-ग्यारह मर्म स्थान जानना चाहिए।

पादे गुल्फसुजानुसद्विटपनामान्येव वैशेषतो।

बाहौ तन्मणिबंधकूर्पर - लसत् कक्षाक्षसंधारणा-॥

ख्यानि स्युः कथिता उपद्रवगणाश्चात्रापि सर्वे चतु-।

श्चत्वारिंशदिहाखिलानि नियतं मर्माणि शाखास्वलं॥ 55॥

भावार्थ : ऊपर कहा गया है कि जो पाँवों के मर्म होते हैं, वे ही हाथ में होते हैं। लेकिन इन दोनों में परस्पर इतना विशेष है कि जो पैर में गुल्फ, जानु विटप मर्म हैं हाथों में उनके जगह क्रमशः मणिबंध, कूर्पर, कक्षधर नाम का मर्म जानना। अर्थात् गुल्फ के स्थान में 'मणिबंध' जानु के स्थान में 'कूर्पर' विटप के स्थान में 'कक्षधर' समझना चाहिए। इन मर्मों के बिधने से, वे लक्षण प्रकट होते हैं,जो गुल्फादिक में होते हैं। इस प्रकार शाखाओं (हाथ पैर) में 44 निश्चित मर्मों का वर्णन हुआ।

गुदबस्तिनाभि मर्म वर्णन

अथ प्रवक्षाम्युदरोरसस्थितानशेषमर्माणि विशेषलक्षणैः।

गुदे च बस्तौ वरनाभिमण्डले क्षते च सद्यो मरणं भवेन्नृणाम्॥ 56॥

भावार्थ : अब पेट व हृदय में रहने वाले सम्पूर्ण मर्मों को उनके विशेष लक्षण कथन पूर्वक कहेंगे ऐसी आचार्य प्रतिज्ञा करते हैं। अपानवायु व मल के निकलने के द्वारभूत बृहदंत्र से मिला हुआ जो गुद है वही 'गुद मर्म' है। कमर के भीतर जो मूत्राशय (मूत्र ठहरने का स्थान) है वही 'बस्ति मर्म' कहलाता है। आमाशय व पक्वाशय के बीच में शिराओं से उत्पन्न जो नाभिस्थान है, वह 'नाभिमर्म' कहलाता है। इन तीनों मर्म स्थानों के क्षत होने पर मनुष्यों का सद्य (उसी समय) ही मरण होता है।

हृदय, स्तनमूल, स्नरोहित मर्म लक्षण

उरस्यथामाशयमार्गसंस्थितं स्तनांतरे तद्धृदये हतःपुनः।

करोति सद्यो मरणं तथांगुलद्वयेप्यधस्तात्स्तनयोरिहापरे॥ 57॥

कफाधिकेन स्तनमूलमर्मणि कफःप्रकोपान्मरण भवेन्नृणाम्।

स्तनोपरि व्यगुलतस्तु मर्मणी सरक्तकोपात्स्तनरोहितौ तथा॥ 58॥

भावार्थ : छाती में दोनों स्तनों के बीच, आमाशय के ऊपर के द्वार में स्थित, जो हृदय है (जो रक्त संचालन के लिए मुख्य साधनभूत है) वह 'हृदय मर्म' कहलाता है। वहाँ क्षत होने पर उसी वखत मरण होता है। दोनों स्तनों (चूचियों) के नीचे दो अंगुलप्रदेश में 'स्तनमूल' नाम का मर्मस्थान है। वहाँ क्षत होवे तो कफप्रकोप से अर्थात् प्रकुपित कोष्ठ में कफ भर जाने से मृत्यु होती है। दोनों चूचियों के ऊपर दो अंगुल प्रदेश में ''स्तनरोहित'' नामक दो मर्म रहते हैं। वहाँ क्षत होवें तो रक्त प्रकुपित होकर (रक्त कोष्ठ में भर जाने से) मरण होता है।

कपाल, अपस्तम्भ मर्म लक्षण

अथांसकूटादुपरि स्वपार्श्वयोः कपालकाख्ये भवतस्तु मर्मणी।

तयोश्च मृत्यु स्रधिरेऽतिपूयतां गते पुनर्वातवहे तथापरे॥ 59॥

प्रधाननाड्यारुभयत्र वक्षसो मतेस्त्वपस्तंभविशेषमर्मणी।
ततश्च मृत्युर्भवतीह देहिनां स्ववातपूर्णोदरकासनिस्वनैः॥ 60॥

भावार्थ : अंसकूटों (कंधों के नीचे, पार्श्वों पंसवाडों) के ऊपर 'कपाल[1]' नाम के दो मर्म हैं। यहाँ क्षत होने पर, रक्त का पीप होकर मृत्यु होती है। छाती के दोनों तरफ वात बहने वाली दो नाड़ियाँ रहती हैं। उनमें 'अपस्तम्भ' नाम के दो मर्म रहते हैं। इसमें क्षत होने पर उदर में वात भर जाता है व कासश्वास से मृत्यु होती है।

कटीक तरुण

प्रोक्ता द्वादशमर्मलक्षणगुणाः कुक्षौ तथा वक्षसि।
प्रायः पृष्ठगतान्यपि प्रतिपदं वक्षामि मर्माण्यहम्।
वंशस्योभयतः कटीकतरुणे पृष्ठस्य मूले प्रति॥
श्रोण्यस्थ्याश्रितमर्मणीह कुरुतः शुक्रक्षयः क्लीबताम्॥ 61॥

भावार्थ : इस प्रकार कुक्षि व वक्षस्थान में बारह प्रकार के मर्मस्थान कहे गए हैं और पीठ में रहने वाले मर्मस्थानों को भी कहेंगे। पीठ के वंशास्थि के दोनों तरफ, पीठ के मूल में कमर के दोनों हड्डियों में 'कटीकतरुण' नामक दो मर्म रहते हैं। वहाँ क्षत होते तो शुक्र का नाश व नपुंसकता होती है।

कुकुंदर, नितम्ब, पार्श्व संधि मर्म लक्षण

पृष्ठस्योभयपार्श्वयोर्घनबहिर्भागे तथा मर्मणि।
वंशस्योभयतः कुकुंदर इति प्रख्यातसन्नामनि॥
तत्र स्यात्सततं नृणां क्षतमधः काये च शोफावहम्।
चेष्टाध्वंसपरे स्वकाशयनिजप्रच्छादने मर्मणी॥ 62॥
श्रोणीकांडयुगोपरीह नियतं बद्धौ नितंबौ ततः।
शोषःकार्श्यमधःशरीरनिहितावन्ये च मर्माण्यतः॥
श्रोणी पार्श्वयुगस्य मध्यनिलयौ संधी च पार्श्वादिका-।
वस्त्रापूर्णमहादेरेण मरणं प्राप्नोति मर्त्यः क्षते॥ 63॥

भावार्थ : पीठ के दोनों पार्श्वों (पंसवाडो) के बाहर के भाग में, वंशास्थि (पीठ के बांस की हड्डी) के दोनों बाजू 'कुकुंदर' नाम के दो मर्मस्थान हैं। उनमें चोट लग जाये तो शरीर के निचले भाग (कमर से नीचे) में सूजन अथवा चेष्टा नष्ट होकर मरण होता है। दोनों श्रोणीकांड (पूर्वोक्त कटीकतरुण) से ऊपर के आशय (स्थान) को ढकने वाले पंसवाडे से बंधे हुए 'नितम्ब' नामक दो मर्म हैं। इनमें चोट

1. इसे ग्रंथांतरों में 'अपलाप' भी कहते हैं।

लगने से, शरीर का निचला भाग सूख जाता है और दुर्बल होकर मरण होता है। श्रोणी व दोनों पसलीयों के बीच में 'पार्श्वसंधि' नामक दो मर्म स्थान हैं। उनमें चोट लगने से, उदर (कोठा) में रक्त भरकर मृत्यु होती है।

बृहती, असंफलक मर्म लक्षण

वंशस्योभयभागतस्तनयुगस्या - मूलतोप्यार्जवं।
पृष्ठेऽस्मिन् बृहतीद्वयाभिहित - मर्मण्यत्र रक्तस्रुते॥
मृत्युः पृष्टतलोपरि त्रिकगते मर्मण्यथासाटके (?)।
स्यातां तत्फलके क्षतेऽपि करयोः स्वापातिशोषो नृणाम्॥64॥

भावार्थ : दोनों स्तनों के मूलभाग से लेकर सीधा, पीठ में पृष्ठवंश (पीठ के बांस) के दोनों भाग तक, 'बृहती' नाम के दो मर्मस्थान हैं। वहाँ अभिघात होने से रक्तस्राव होकर मृत्यु होती है। पीठ के ऊपर के भाग में (पीठ के बांस के दोनों तरफ) त्रिकस्थान से बंधे हुए 'असंफलक' नाम के दो मर्म हैं। वहाँ जखम होने पर हाथ सूख जाते हैं अथवा सुन्न पड़ जाते हैं।

क्रकन्या अंसमर्म लक्षण

ग्रीवांसद्वयमध्यभागनियतौ स्यातां क्रकन्यांसकौ।
तत्र स्तब्धशिरोंसबाहुनिजपृष्टे स्यान्नरो वीक्षते॥
तान्येतानि चतुर्दश प्रतिपदं पृष्ठे च मर्माण्यनु-।
व्याख्यातान्यत ऊर्ध्वजतृ विहिताशेषाणि वक्ष्यामहे॥65॥

भावार्थ : ग्रीवा व अंस (कांधे) के बीच में 'क्रकन्यांसक' नाम के दो मर्मस्थान होते हैं। जिनमें आघात होने से शिर, अंस, बाहु व पीठ के स्थान स्तब्ध (जकड़ जाना) होते हैं। इस प्रकार पीठ में रहने वाले चौदह प्रकार के मर्म स्थान कहे गए हैं। अब हंसली की हड्डी के ऊपर रहने वाले सर्व मर्मस्थानों को कहेंगे।

ऊर्ध्वजत्रु गत मर्म वर्णन

कंठे नाडीमुभयत इतो व्यत्ययान्नीलमन्ये।
द्वे द्वे स्यातामधिकतरमर्मण्यमी मूकतो वा॥
वैस्वर्यं वा विरस रसनाभावतो मृत्युरन्या।
श्चाष्टौ ग्रीवाशिरामातृका मृत्युरूपाः॥66॥

भावार्थ : कंठ नाड़ी के दोनों पार्श्वों में चार धमनी रहती हैं। उनमें एक बाजू में एक 'नीला' एक 'मन्या' इसी तरह दूसरी बाजू में भी एक 'नीला', एक 'मन्या' नाम के चार मर्म स्थान हैं। उनमें चोट लगने से गूंगापना, स्वर विकार, जीभ विकृत रसवाली (रस ज्ञान की शून्यता) होकर मृत्यु होती

है। ग्रीवा (गला) के दोनों तरफ, चार-चार शिरायें रहती हैं। उनमें 'मातृका' नामक आठ मर्म रहते हैं। उनमें चोट लगने से उसी समय मरण होता है।

कृकटिका विधुर मर्म लक्षण

ग्रीवासंधावपि च शीर्षत्वकृन्मर्मणी द्वे।
स्यातां मृत्योर्निलयनिजरूपे कृकाटांभिधाने॥
कर्णस्याधो विधुर इति मर्मण्यथा कर्णसंधौ।
बाधिर्यं स्यादुपहतवती प्रोक्त तत्पृष्टभागे॥ 67॥

भावार्थ : कंठ और शिर की संधि में मस्तक के बराबर रहने वाले दो मर्म स्थान होते हैं, जो साक्षात् मृत्यु के समान होते हैं। उनका नाम 'कृकाटिका' हैं। (इनमें चोट लगने से शिरकम्पने लगता है) कान के नीचे पीछे के भाग में कान की संधि में 'विधुर' नाम के दो मर्म हैं। वहाँ चोट लगने से बहरापन हो जाता है।

फण अपांग मर्म लक्षण

घ्राणंस्यांतर्गतमुभयतः स्रोतसो मार्गसंस्थे।
मर्मण्यतेऽप्यभिहतफणे तत्र गंधप्रणाशः॥
अक्ष्णोर्बाह्ये प्रतिदिनकटाक्षेऽप्यपांगाभिधाने।
मर्मण्यांध्ये जनयत इतस्तत्र घातान्नराणां॥ 68॥

भावार्थ : नाक के अंदर दोनों बाजू, छिद्र के (सूराक) मार्ग में रहने वाले अर्थात् छिदमार्ग से प्रतिबद्ध, 'फण' नामक दो मर्म रहते हैं। वहाँ आघात पहुँचने से गंधग्रहण शक्ति का नाश होता है। आँखों के बाहर के भाग में (भ्रुकुटी पुच्छ से नीचे को)' अपांग' नाम के दो मर्म हैं। वहाँ चोट लगने से अंधापन हो जाता है।

शंख, आवर्त, उत्क्षेपक, स्थपनी सीमंत मर्म लक्षण

भ्रूपुच्छोपर्यनुगतललाटानुकर्णे तु शंखौ-।
ताभ्यां सद्यो मरणमथ मर्मभ्रुवोरूर्ध्वभागे॥
आवर्ताख्यावमलनयनध्वंसिनौ दृष्ट्युपघ्ना-।
व्युत्क्षेपावप्युपरि च तयोरेव केशांतजातौ॥ 69॥
जीवेत्तत्र क्षतवति सशल्येऽथवा पाकपाता-।
भ्रूमध्ये तत्तदिव विदितं स्यात् स्थपन्येकमर्म॥
पंचान्ये च प्रविदितमहासंधयश्चोत्तमांगे।
सीमंताख्यो मरणमपि दुश्चित्तनाशोन्मदैश्च॥ 70॥

भावार्थ : भ्रू पुच्छ के ऊपर ललाट व कर्ण के बीच में शंखनामक दो मर्म स्थान हैं। जिन पर आघात होने से सद्य ही मरण होता है। भ्रू के ऊपर के भाग में आवर्त नामक दो मर्मस्थान हैं। जिन पर आघात होने से दोनों आँखें नष्ट हो जाती हैं। शंखमर्मों के ऊपर की सीमा में 'उत्क्षेपक' नामक दो मर्मस्थान है। इनमें शल्य (तीर) आदि लगे तो जब तक उनमें शल्य घुसा रहें तब तक मनुष्य जीता है। अथवा स्वयं पककर वह शल्य अपने आप ही गिर जावे तो भी जीता है। लेकिन वह शल्य खींच कर निकाल दिया जावे तो उसी समय मृत्यु होती है। दोनों भ्रुओं के बीच में 'स्थपनी' नाम का मर्म है। उसमें आघात होने से, उत्क्षेपक मर्म जैसी घटना होती है। शिर में पाँच महासंधियाँ (जोड़) हैं। वे पाँच ही संधि 'सीमंत' नाम से 5 मर्म कहलाते हैं। वहाँ आघात पहुँचने से चित्तविभ्रम व पागलपना होकर, मृत्यु भी हो जाती है।

शृंगाटक अधिमर्म लक्षण

जिह्वाघ्राणश्रवणनयनं स्वस्वसंतर्पणीनां।
मध्ये चत्वार्यमलिनशिराणां च शृंगाटकानि॥
सद्यो मृत्यून्यधिकृतशिरासंधिबंधैकसंधौ।
केशावर्तावधिपतिरिति क्षिप्रमृत्युः प्रदिष्टः॥ 71॥

भावार्थ : जीभ, नाक, कान, आँख इन को तर्पण (तृप्त) करने वाली चार प्रकार की निर्मल शिराओं के चार सन्निपात (मिलाप) रहते हैं। वे शिरासन्निपात 'शृंगाटक' नाम के मर्म हैं। वे चार हैं। इनमें आघात पहुँचने से उसी समय मृत्यु होती है। मस्तक में (मस्तक के अंदर ऊपर के भाग में) जो शिरा और संधि का मिलाप है और जहाँ केशों के आवर्त (भंवर) है। वहीं 'अधिपति' नामक मर्मस्थान है। वहाँ अभिघात होने से शीघ्र ही मरण होता है।

सम्पूर्ण मर्मों के पाँच भेद

सप्ताधिकत्रिंशदिहोत्तमांगे मर्माणि कंठप्रभृतीष्वशेषा-।
ण्युक्तानि पंच प्रकराण्यथास्थिस्नायूरु संध्युग्रशिरास्स्वमांसैः॥ 72॥

भावार्थ : इस प्रकार कंठ को आदि लेकर मस्तक पर्यंत सैंतीस मर्मस्थान कहे गए हैं एवं वे मर्मस्थान, अस्थि, स्नायु, संधि, शिरा व माँस के भेद से पाँच प्रकार से यथा-अस्थिमर्म, स्नायुमर्म, संधिमर्म, शिरामर्म व मांसमर्म विभक्त हैं।

कटीकतरुणान्वितांसफलके तथा शंखका।
नितंबसहितानि तान्यमलिनास्थिमर्माण्यलं॥
सकक्षधरकूर्चकूर्च - शिरसाक्रकन्यांसका-।
सबस्तिविधुरैरपि सुविटपं तथोत्क्षेपकाः॥ 73॥

क्षिप्रेऽऽण्यपि स्नायुमर्माण्यशेषाण्युक्तान्यूर्ध्वं संधिमर्माणि वक्ष्ये।
जानुन्येवं कूर्परे गुल्फसीमंतावर्ताख्याश्चाधिपेनाप्यथान्ये॥ 74॥
क्रकाटिकाभ्यां मणिबंधकौ तथा कुकुंदुरे मर्ममयोरुसंधयः।
अपालकाख्यस्थपनीफणस्तनप्रधानमूलान्यपिनीलमन्यका॥ 75॥
शृंगाटकाषांगसिराधिमातृकाश्चोर्वी बृहत्यूर्जितपार्श्वसंधयः।
हृन्नाभ्यपस्तंभकलोहिताक्षकाःप्राहुश्शिरामर्मविशेषवेदिनः॥ 76॥
तलहृदयेंद्रबस्तिगुदना - मयुतस्तनरोहितान्यपि।
प्रकटितमांसमर्मगण इत्यखिलं प्रतिपादितं जिनैः॥
बहुविधमर्माविद्भिषगशेष - विपक्षगरोगलक्षणैः।
समुचितमाचरेत्तदपि पंचविध फलमत्र मर्मणाम्॥ 77॥

भावार्थ : कटीकतरुण, अंसफलक, शंख, नितम्ब नाम के जो मर्मस्थान हैं, वे अस्थिगत मर्मस्थान हैं अर्थात् अस्थिमर्म हैं। कक्षधर, कूर्च, कूर्चशिर, क्रकन्यांसक, बस्ति, विधुर, विटप, उत्क्षेपक, क्षिप्र व आणि नाम के जो मर्म कहे गए हैं, वे स्नायुमर्म कहलाते हैं। जानु, कूर्प, गुल्फ, सीमंत, आवर्त, अधिपति, कृकाटिका, मणिबंध कुकुंदर इतने मर्म संधिमर्म कहलाते हैं। अपालक (अपलाप) स्थपनी, फण, स्तनमूल, नीला, मन्या, शृंगाटक, अपांग, मातृका, उर्वी, बृहती, पार्श्वसंधि, हृदय, नाभि, अपस्तम्भक, लोहिताक्ष ये शिरामर्म हैं ऐसा सर्वज्ञ भगवान् ने कहा है। तलहृदय, इंद्रबस्ति, गुदा, स्तनरोहित ये मांसमर्म हैं अनेक प्रकार के मर्मों के मर्म जानने वाला वैद्य, सम्पूर्ण विपरीत व अविपरीतगत लक्षणों से रोग का निश्चय कर उचित चिकित्सा करें। इन मर्मों के फल भी पाँच प्रकार के हैं। अतएव फिर (द्वितीय प्रकार) से इन सभी मर्मों के 1. सद्यप्राणहर, 2. कालांतर प्राणहर, 3. विशल्यघ्न, (शल्य निकलते ही प्राणघात करने वाले) 4. वैकल्यकर, 5. रुजाकर इस तरह पाँच भेद होते हैं।

सद्य प्राणहर व कालांतर प्राणहर मर्म

प्रोद्यत्कंठ - शिरागुदोहृदयबस्त्युक्तोरु नाभ्यां सदा।
सद्यः प्राणहराणि तान्यधिपतिः शंखौ च शृंगाटकैः॥
वक्षो मर्मतलेंद्रबस्तिसहितं क्षिप्राणि सीमंतकैः।
पार्श्वे संधियुगं बृहत्यपि तथा घ्नंत्येव कालांतरात्॥ 78॥

भावार्थ : 8 कंठ की शिरा, 1 गुदा, 1 हृदय, 1 बस्ति, 1 नाभि, 1 अधिपति, 2 शंख, 4 शृंगाटक, ये 19 मर्म सद्यः प्राणहर हैं। अर्थात् इनमें आघात पहुँचने पर तत्काल मृत्यु होती है। 8 वक्षस्थल (छाती) के मर्म, 4 तलहृदय, 4 इंद्रबस्ति, 4 क्षिप्र, 5 सीमंत, 2 पार्श्वसंधि, 2 बृहती, ये 29 मर्म कालांतर

प्राणघातक हैं (इनमें आघात पहुँचने से, कुछ समय के बाद मरण होता है)।

विशल्यघ्न वैकल्यकर व रुजाकर मर्म

उत्क्षेपः स्थपनी च मर्म सुविशल्यघ्नान्यतः प्राणिनां।
जानूर्वी विटपोक्तकक्षधरकूर्चापांगनीला क्रक-॥
न्यांसावर्त कुकुंदुरांसफलकोद्यल्लोहिताक्षाणिभि-।
र्मन्याभ्यां सफणे नितंबविधुरे तत्कूर्पराभ्यां सह॥ 79॥
क्रकाटिकाभ्यां तरुणे च मर्मणी भवंति वैकल्यकरणि कारणैः।
सकूर्चशीर्षामणिबंधगुल्फकौ रुजाकराण्यष्टविधानि देहिनाम्॥ 80॥

भावार्थ : 1 उत्क्षेपक 1 स्थपनी, ये मर्म विशल्यघ्न हैं। अर्थात् घुसा हुआ शल्य निकलते ही प्राण का घात कर देते हैं। 2 जानु, 4 उर्वी, 2 विटप, 2 कक्षघर 4 कूर्च, 2 अपांग, 2 नीला, 2 क्रकन्यांसक (अंस) 2 आवर्त, 2 कुकुंदर, 2 अंसफलक, 4 लोहिताक्ष, 4 आणि, 2 मन्या, 2 फण, 2 नितम्ब, 2 विधुर, 2 कूर्पर, 2 कृकाटिक, 2 कटीकतरुण, ये 48 मर्म, वैकल्यकर हैं। अर्थात् इन में चोट लगने से अंगों की विकलता होती है। 4 हाथ पैरों के कूर्चशिर, 2 मणिबंध, 2 गुल्फ ये आठ मर्म रुजाकर हैं, अर्थात् इनमें आघात पहुँचने से मनुष्यों को अत्यन्त पीड़ा अथवा कष्ट होता है।

मर्मों की संख्या

सद्यः प्राणहराणि तान्यसुभृतामेकोनसद्विंशतिः।
कालात्स्त्रिंशदिहैकहीनविधिना त्रीण्येव शल्योद्धरात्॥
चत्वारिंशदिहाष्टकोत्तरयुतं वैकल्यमस्यावहे -।
दष्टावेव रुजाकराणि सततं मर्माणि संख्यानतः॥ 81॥

भावार्थ : इस प्रकार उन्नीस मर्म सद्यः प्राण हरने वाले हैं। उनतीस मर्म, कालांतर में प्राणघात करने वाले हैं। तीन मर्म विशल्यघ्न हैं। अड़तालीस मर्म वैकल्यकारक हैं। आठ मर्म रुजाकर हैं। इस प्रकार कुल 107 मर्म स्थानों का कथन किया गया है।

पक्षान्मर्माभिघातक्षतयुतमनुजा वेदनाभिर्म्रियंते।
सद्वैद्यप्रोक्तयुक्ताचरणविविधभैषज्यवर्गैः कदाचित्॥
जीवंतोप्यंगहीना बधिरचलशिरस्कन्धमूकोन्मदभ्रा-।
न्तोव्द्वत्ताक्षा भवंति स्वरविकलतया मन्मना गद्गदाश्च॥ 82॥

भावार्थ : मर्मस्थानों में आघात पहुँचने से उत्पन्न जख्म से पीड़ित मनुष्य, उसको प्रबल वेदना से, प्रायः एक पक्ष (पंद्रह दिन) के अंदर मर जाते हैं। कदाचित् उत्तम वैद्य के द्वारा कहे गए, योग्य आचरणों को बराबर पालन करने से व नाना प्रकार के औषधों के प्रयोग से बच भी जाये, तो भी वह

अंगहीन, बहरा, कांपते हुए शिर व कंधों से युक्त, मूक, पागल, भ्रांत, ऊर्ध्व नेत्र वाला, स्वरहीन अथवा मनमन, गद्गद स्वर वाला होकर जीता है।

मर्म वर्णन का उपसंहार

मर्मांगुष्ठसमप्रमाणमखिलैरुग्रामयैर्वा क्षतै-।
रन्ते विद्धमिहापि मध्यमहतं पार्श्वाभिसंघट्टितम्॥
तत्तत्स्थानविशेषतः प्रकुरुते स्वात्मानुरूपं फलं।
तद्ब्रुयाद्भिषगत्र मोहमपनीयाप्तोपदिष्टागमात्॥ 83॥

भावार्थ : मर्मों के प्रमाण अंगुष्ट (अंगुल) के बराबर है अर्थात् कुछ मर्म एक[1] अंगुल प्रमाण है कुछ दो, कुछ तीन। सम्पूर्ण भयंकर रोग व कोई चोट से, मर्मों का अंत प्रदेश मध्यप्रदेश या पार्श्वप्रदेश पीड़ित हो, तो उन-उन विशिष्ट स्थानों के अनुकूल फल (परिणाम) भी होता है। जैसे सद्यःप्राणहर मर्म के अंत प्रदेश बिंध जाये, तो वह (तत्काल प्राणनाश करने वाला भी) कालांतर में मारता है। कालांतर में मारक मर्म का अंतप्रदेश बिंधजाय, तो विकलताकारक हो जाता है। सद्वैद्य को उचित है कि आप्त के द्वारा उपदिष्ट आगमों के आधार से अज्ञान को दूर कर विद्ध मर्मों के स्थानानुकूल जो फल है, उनको देखकर कह दें।

उग्रदित्याचार्य का गुरु परिचय

श्रीनंद्याचार्यादशेषागमज्ञाद्ज्ञात्वा दोषान् दोषजानुग्ररोगान्।
तद्भैषज्यप्रक्रमं चापि सर्वं प्राणावादादेवदुध्दृत्य नीतम्॥ 84॥

भावार्थ : सम्पूर्ण आयुर्वेद शास्त्र को जानने वाले, **श्रीनंदि** आचार्य की कृपा से प्राणावादपूर्व[2] शास्त्र से उद्धृत किए गए इस अष्टांग संयुक्त आयुर्वेद शास्त्र को और उसमें कथन किए गए त्रिदोष स्वरूप, त्रिदोषजन्य भयंकर रोग व उनको नाश करने वाले औषध व प्रतिकार विधि इत्यादि सर्व विषयों को (सम्पूर्ण आयुर्वेद शास्त्र को जानने वाले श्रीनंदि नाम के आचार्य की कृपा से) जानकर प्रतिपादन किया है। मुख्याभिप्राय इतना है कि उग्रादित्याचार्य के गुरु **श्रीनंद्याचार्य** थे।

---

1. ऊर्वी, कूर्चीशिर, विटप और कक्षधर ये मर्म एक-एक अंगुल प्रमाण के हैं। स्तनमूल, मणिबंध, गुल्फ ये मर्म दो अंगुल प्रमाण वाले हैं। जानु और कर्पूर तीन-तीन अंगुल प्रमाण वाले हैं। हृदय बस्ति, कूर्च, गुदा, नाभि और शिर के चार मर्म, शृंगाटक और कपाल के पाँच मर्म, एवं गले के दश मर्म, 8 मातृका, दो नीला, दो मन्या ये सब चार-चार अंगुल प्रमाण के हैं। इनको छोड़कर के जो मर्मस्थान बच जाते हैं वे सब अद्धांगुल प्रमाण के हैं।
2. द्वादशांग शास्त्र में जो दृष्टिवाद नाम का जो बारहवाँ अंग है, उसके पाँच भेदों मे से एक भेद पूर्व (पूर्वगत) है। उसके भी चौदह भेद हैं। इन भेदों में जो प्राणावाद पूर्वशास्त्र है, उसमें विस्तार के साथ अष्टांगायुर्वेद का कथन किया है। यही आयुर्वेद शास्त्र का मूलशास्त्र अथवा मूलवेद है। उसी के अनुसार ही सभी आचार्यों ने आयुर्वेद शास्त्र का निर्माण किया है।

अष्टांगों के प्रतिपादन पृथक्-पृथक् आचार्यों के शुभनाम

शालाक्यं पूज्यपादप्रकटितमधिकं शल्यतंत्रं च पात्र-।
स्वामिप्रोक्तं विषोग्रग्रहशमनविधिः सिद्धसेनैः प्रसिद्धैः॥
काये या सा चिकित्सा दशरथगुरुभिर्मेघनादैः शिशूनां।
वैद्यं वृष्यं च दिव्यामृतमपि कथितं सिंहनादैर्मुनीन्द्रैः[1]॥85॥

भावार्थ : श्री पूज्यपाद आचार्य ने शालाक्यतंत्र, पात्रकेसरी स्वामी ने शल्यतंत्र, प्रसिद्ध आचार्य सिद्धसेन भगवान् ने अगदतंत्र व भूतविद्या (ग्रहरोगशमनविधान) दशरथ मुनीश्वर ने कायचिकित्सा, मेघनादाचार्य ने कौमारभृत्य और सिंहनाद मुनींद्र ने वाजीकरणतंत्र व दिव्यरसायनतंत्र को बड़े विस्तार के साथ प्रतिपादन किया है। 1. शल्यतंत्र 2. शालाक्यतंत्र 3.अगदतंत्र 4.भूतविद्या 5. कायचिकित्सा 6. कौमारभृत्य 7. वाजीकरणतंत्र व 8. रसायनतंत्र, ये आयुर्वेद के आठ अंग हैं। इन आठों अंगों को उपरोक्त आचार्यों ने अपने-अपने ग्रन्थों में विशेष रीति से वर्णन किया है, यह पिंडार्थ है।

अष्टांग के प्रतिपादक स्वामी समंतभद्र

अष्टांगमप्यखिलमत्र समंतभद्रैः प्रोक्तं सविस्तरवचोविभवैर्विशेषात्।
संक्षेपतो निगदितं तदिहात्मशक्त्या कल्याणकारकमशेषपदार्थयुक्तम्॥86॥

भावार्थ : प्रातःस्मरणीय भगवान् **समंतभद्राचार्य** ने तो, पूर्वोक्त आठों अंगों को पूर्ण रूप से, बड़े विस्तार के साथ प्रतिपादन किया है अर्थात् आंठों अंगों को विस्तार के साथ प्रतिपादन करने वाले एक महान् ग्रन्थ की रचना की है। उन आठों अंगों को इस कल्याणकारक नाम के ग्रन्थ में अपने शक्ति के अनुसार, संक्षेप से हम (उग्रादित्याचार्य) ने प्रतिपादन किया है।

ग्रन्थ निर्माण का स्थान

वेंगीषत्रिकलिंगदेशजननप्रस्तुत्य सानूत्कट।
प्रोद्यद्वृक्षलताविताननिरते सिद्धैस्सविद्याधरैः॥
सर्वैर्मंदरकन्दरोपमगुहा चैत्यालयालंकृते।
रम्ये रामगिरौ मया विरचितं शास्त्रं हितं प्राणिनाम्॥87॥

भावार्थ : कलिंग देश में उत्पन्न सुंदर सानु (पर्वत के एक सम भू-भाग प्रदेश) मनोहर वृक्ष व लताविताने से सुशोभित, विद्याओं से सिद्ध विद्याधरों से संयुक्त, मंदराचल (मेरुपर्वत) के सुंदर गुफाओं के समान रहने वाले, मनोहर गुफा व चैत्यालयों (मंदिर) से अलंकृत, रमणीक रामगिरि में प्राणियों के हितकारक, इस शास्त्र की हमने (उग्रदित्याचार्य) रचना की है।

1. सिंहासेनै इति क. पुस्तके।

ग्रन्थकर्ता का उद्देश्य

न चात्मयशसे विनोदननिमित्ततो वापि स-।
त्कवित्वनिजगर्वतो न च जनानुरागाशया-॥
त्कृतं प्रथितशास्त्रमेतदुरुजैनसिद्धान्तमि-।
त्यहर्निशमनुस्मराम्यखिलकर्मनिर्मूलनम्॥ 88॥

भावार्थ : हमने कीर्ति की लोलुपता से वा विनोद के लिए अथवा अपने कवित्व के गर्व से, या हमारे ऊपर मनुष्यों के प्रेम हो, इस आशय से, इस प्रसिद्ध ग्रन्थ की रचना नहीं की है। लेकिन् यह समस्तकर्मों को नाश करने वाला महान् जैन सिद्धान्त है, ऐसा स्मरण करते हुए इसकी रचना की है।

मुनियों को आयुर्वेद शास्त्र की आवश्यकता

आरोग्यशास्त्रमधिगम्य मुनिर्विपश्चित्।
स्वास्थ्यं स साधयति सिद्धसुखैकहेतुम्॥
अन्यस्स्वदोषकृत - रोगनिपीडितांगो।
बध्नाति कर्म निजदुष्परिणामभेदात्॥ 89॥

भावार्थ : जो विद्वान् मुनि आरोग्य शास्त्र को अच्छी तरह जानकर उसी प्रकार आहार-विहार रखते हुए स्वास्थ्य रक्षा कर लेता है, वह सिद्धसुख के मार्ग को प्राप्त कर लेता है। जो स्वास्थ्य विधान को न जानकर, अपने आरोग्य की रक्षा नहीं कर पाता है वह अनेक दोषों से उत्पन्न रोगों से पीड़ित होकर अनेक प्रकार के दुष्परिणामों से कर्मबंध कर लेता है।

आरोग्य की आवश्यकता

न धर्मस्य कर्ता न चार्थस्य हर्ता न कामस्य भोक्ता न मोक्षस्य पाता।
नरो बुद्धिमान् धीरसत्वोऽपि रोगी यतस्तद्विनाशाद्भवेन्नैव मर्त्यः॥ 90॥

भावार्थ : मनुष्य बुद्धिमान, दृढ़ मनस्क होने पर भी यदि रोगी हो तो वह न धर्म कर सकता है न धन कमा सकता है और न मोक्षसाधन कर सकता है। अर्थात् रोगी धर्मार्थकाममोक्ष रूपी चतुःपुरुषार्थ को साधन नहीं कर सकता। जो पुरुषार्थ को प्राप्त नहीं कर पाता है, वह मनुष्यभव में जन्म लेने पर भी, मनुष्य कहलाने योग्य नहीं है। क्योंकि मनुष्य भव की सफलता, पुरुषार्थ प्राप्त करने से ही होती है।

इत्युग्रादित्यचार्यवर्यप्रणीतं शास्त्रं शस्त्रं कर्मणां मर्मभेदी।
ज्ञात्वा मर्त्यैस्सर्वकर्मप्रवीणैः लभ्यंतैके धर्मकामार्थमोक्षाः॥ 91॥

भावार्थ : इस प्रकार उग्रदित्याचार्यवर्य के द्वारा प्रतिपादित यह शास्त्र जो कर्मों के मर्मभेदन करने के लिए शस्त्र के समान है। इसे सर्वकर्मों में प्रवीण कोई-कोई मनुष्य जानकर, धर्म, अर्थ, काम

मोक्ष को प्राप्त कर लेते हैं। अर्थात् इस शस्त्र में प्रवीण होकर इसके अनुसार अपने आरोग्य को रक्षण करके, पुरुषार्थों को प्राप्त करना चाहिए।

शुभ कामना

सद्द्रव्योद्भासमानस्फुटतरमहितस्सेव्यमानो विशिष्टैः।
वीर्यैराराजितैरूर्जितनिजचरितो जैनमार्गोपमानः॥
आयुर्वेदस्सलोकव्रतविधिरखिलप्राणिनिः श्रेयसार्थं।
स्थेयादाचंद्रतारं जिनपतिविहिताशेषतत्त्वार्थसारम्॥ 92॥

भावार्थ : जो द्रव्यों के स्वरूप को स्पष्ट रूप से बतलाने वाला है, भले प्रकार से पूजनीय है, उज्ज्वल वीर्यवान् महापुरुष भी जिसको सेवन (मनन अभ्यास धारण आदि रूप से) करते हैं जिसका चरित (कथन) जैनधर्म के अनुसार निर्मल है, दोषरहित है, ऐसे आयुर्वेद नामक व्रतविधान लोक के समस्त प्राणियों के अभ्युदय के लिए जब तक इस पृथ्वी में सूर्य, चंद्र व तारा रहें, तब तक स्थिर रहें। यह साक्षात् जिनेन्द्र भगवंत के द्वारा कथित समस्त तत्त्वार्थ का सार है।

शुभकामना

भूयाद्धात्री समस्ता चिरतरमतुलात्युत्सवोद्भासमाना।
जीयाद्धर्मो जिनस्य प्रविमलविलसद्भव्यसत्वैकधाम॥
पायाद्राजाधिराजस्सकलवसुमतीं जैनमार्गानुरक्तः।
स्थयाज्जैनेंद्रवैद्यं शुभकरमखिलप्राणिनां मान्यमेतत्॥ 93॥

भावार्थ : आचार्य शुभकामना करते हैं कि यह भूमण्डल चिरकाल तक अतुल आनंद व उत्सव मनाते रहें। भव्य प्राणियों के आश्रयभूत श्री पवित्र प्रकाशमान जिनधर्म जयशील होकर जीते रहें। राजा अधिराजा लोग इस पृथ्वी को जैनमार्ग में अनुरागी होकर पालन करते रहें। इसी प्रकार प्राणियों को हित करने वाला मान्य यह जैन वैद्यक ग्रन्थ इस भूमण्डल में स्थिर रहे।

अंतिम कथन

इति जिनवक्त्रनिर्गतसुशास्त्रमहांबुनिधेः। सकलपदार्थविस्तृततरंगकुलाकुलतः॥
उभयभवार्थसाधनतटद्वयभासुरतो। निसृतमिंद हि शीकरनिभं जगदेकहितम्॥ 94॥

भावार्थ : जिसमें संपूर्ण द्रव्य, तत्त्व व पदार्थरूपी तरंग उठ रहे हैं, इहलोक-परलोक के लिए प्रयोजनीभूत साधन रूपी जिसके दो सुंदर तट हैं, ऐसे श्रीजिनेन्द्र के मुख से उत्पन्न शास्त्रसमुद्र से निकली हुई बूँद के समान यह शास्त्र है। साथ में जगत् का एक मात्र हितसाधक है (इसलिए इसका नाम कल्याणकारक है)।

इत्युग्रदित्याचार्यविरचिते कल्याणकारके चिकित्साधिकारे शास्त्रसंग्रहतंत्रयुक्तिरिति नाम विंशः परिच्छेदः।

इत्युग्रदित्याचार्यकृत कल्याणकारक ग्रन्थ के चिकित्साधिकार में विद्यावाचस्पतीत्युपाधिविभूषित **वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री** द्वारा लिखित **भावार्थदीपिका टीका** में शास्त्रसंग्रहतंत्रयुक्ति नामक **बीसवां परिच्छेद** समाप्त हुआ।

अथैकविंशः परिच्छेदः

उत्तरतंत्र

मंगलाचरण

श्रीमद्वीरजिनेंद्रमिंद्रमहितं वंद्यं मुनींद्रैस्सदा।
नत्वा तत्त्वविदां मनोहरतरं सारं परं प्राणिनां॥
प्राणायुर्बलवीर्यविक्रमकरं कल्याणसत्कारकं।
स्यात्तंत्रोत्तरमुत्तमं प्रतिपदं वक्ष्ये निरूद्धोत्तरम्॥ 2॥

भावार्थ : इंद्रों से पूजित व मुनीन्द्रों से वंदित श्रीवीर जिनेन्द्र को सदा नमस्कार कर तत्त्व ज्ञानियों के लिए मनोहर व सर्व प्राणियों के सार स्वरूप व उनके प्राण, आयु, बल व वीर्य को बढ़ाने वाले (कल्याणकारक) सबको कल्याण करने वाले उत्तम उत्तरतंत्र का प्रतिपादन करेंगे।

लघुता प्रदर्शन

उक्तानुक्तपदार्थ शेषमखिलं संगृह्य सर्वात्मना।
वक्तुं सर्वविदा प्रणीतमधिकं को वा समर्थः पुमान्॥
इत्येवं सुविचार्य वर्जितमपि प्रारब्धशास्त्रं बुधैः।
पारं सत्पुरुषः प्रयात्यरमतो वक्ष्यामि संक्षेपतः॥ 2॥

भावार्थ : सर्वज्ञ द्वारा प्रतिपादित लोक के उक्त व अनुक्त समस्त पदार्थों को सर्वतोभाव से संग्रह कर प्रतिपादन करने के लिए, कौन मनुष्य समर्थ है ? इस प्रकार अच्छी तरह विचार कर छोड़े हुए शास्त्र को भी पुनः प्रारंभ कर विद्वानों की सहायता से सत्पुरुष पार हो जाते हैं। इसलिए यहाँ भी हम विद्वानों की सहायता (अन्य आचार्य प्रतिपादित शास्त्र के आधार)से उसको संक्षेप से निरूपण करेंगे।

शास्त्र की परंपरा

स्थानं रामगिरिर्गिरीन्द्रसदृशः सर्वार्थसिद्धिप्रदं।
श्रीनंदिप्रभवोऽखिलागमविधिः शिक्षाप्रदः सर्वदा॥
प्राणावाय - निरूपितार्थमखिलं सर्वज्ञसंभाषितं।
सामग्रीगुणता हि सिद्धिमधुना शास्त्रं स्वयं नान्यथा॥ 3॥

भावार्थ : आचार्य कहते हैं कि इस ग्रन्थ की हमने मंदराचल के समान समस्त प्रयोजन की सिद्धि कर देने में समर्थ रामगिरि पर बैठकर रचना की है और यह **श्रीनंदि** आचार्यजी के सदा शिक्षाप्रद उपदेशों से उत्पन्न है एवं सर्वज्ञ के द्वारा प्रतिपादित प्राणावाय नामक शास्त्र में निरूपित सर्व तत्त्व है। इन सब सामग्रियों की सहायता से इस कार्य में हमें सफलता हुई। अन्यथा नहीं हो सकती थी। इस श्लोक का सार यह है कि प्रथमतः सर्वज्ञ भगवान् द्वारा प्रतिपादित इस आयुर्वेदशास्त्र को गणधरों ने द्वादशाङ्ग शास्त्र के अंगभूत प्राणावाय पूर्वगत शास्त्र में ग्रंथित किया है अर्थात् इसका वर्णन किया। आचार्य परम्परागत इस प्राणावाय वेद के मर्मज्ञ श्री श्रीनंदि आचार्य से हमने अध्ययन किया। उसको इस ग्रंथ रूप में निर्माण करने के लिए मनोहर रामगिरि नामक पर्वत भी मिल गया। इन्हीं की सहायता से हमें ग्रन्थ बनाने में सफलता मिली। ये सामग्री न होती तो उसमें हम सफल नहीं हो सकते थे। अर्थात् इसको पूर्व आचार्य परम्परा के अनुसार ही निर्माण किया है, अपने स्वकपोलकल्पना से नहीं।

शास्त्रेऽस्मिन्यदशास्त्रवस्तुविषया ये ते गृहीतं तत-।
स्तेषां तेषु विशेषतोऽर्थकथनं श्रोतव्यमेवान्यथा॥
शास्त्रस्यातिमहत्वमर्थवशतः श्रोतुर्मनोमोहनं।
व्याख्यातुं च भवेदशेषवचनस्यादर्थतः संकरः॥4॥

भावार्थ : इस शास्त्र में वस्तुओं के विवेचन करने के लिए पद शास्त्र का प्रयोग किया है। उन्हीं के अनुसार उनका यथार्थ व विशेष अर्थ करना चाहिए। क्योंकि शास्त्र का महत्त्व उसके उस अर्थ से है जो श्रोताओं के मन को मोहित करता हो और वह व्याख्या करने योग्य हो। अन्यतः अर्थ में संकर हो जायेगा।

तस्माद्वैद्यमुदाहरामि नियतं बह्वर्थमर्थावहं।
वैद्यं नाम चिकित्सितं न तु पुनः विद्योद्भवार्थांतरम्॥
व्याख्यानादवगम्यतेऽर्थकथनं संदेहवद्वस्तु तत्।
सामान्येषु विशेषितस्स्थितमतः पद्मं यथा पंकजम्॥5॥

भावार्थ : इसलिए बहुत अर्थों को जानने वाला वैद्य ही इस कार्य के लिए नियत है ऐसा महर्षिगण कहते हैं। विद्या के बल से चिकित्सा करने वाले का ही नाम वैद्य है। विद्या के बल से और कुछ काम करने वालों को वैद्य नहीं कहते हैं। अपितु विद्या के बल से रोग मुक्त करने वाला वैद्य कहलाता है। संदेह के समान वस्तु का वह अर्थकथन व्याख्यान से ही जाना जाता है। सामान्य में विशेष रहता है, जैसे पद्म कहने से उसमें पंकज आदि समस्त विशेष अंतर्भूत हो जाते हैं।

चतुर्विधकर्म

वैद्यं कर्म चतुर्विधं व्यभिहितं क्षाराग्निशस्त्रौषधै-।
स्तत्रैकेन सुकर्मणा सुविहितेनाप्यामयस्साध्यते॥

द्वाभ्यां कश्चिदिह त्रिभिर्गुरुतरः कश्चिच्चतुर्भिस्सदा।
साध्यासाध्यविदत्र साधनतमं ज्ञात्वा भिषक्साधयेत्॥ 6॥

भावार्थ : चिकित्साप्रयोग में क्षारकर्म, अग्निकर्म, शस्त्रकर्म व औषधकर्म इस प्रकार चार भेद से विभक्त हैं। यदि उनमें किसी एक क्रिया को भी प्रयोग अच्छी तरह किया जाये तो भी रोग साध्य होता है अर्थात् ठीक होता है। किसी-किसी रोग के लिए दो क्रियाओं का उपयोग करना पड़ता है। किन्हीं-किन्हीं कठिन रोगों के लिए तीन व और भी कठिन हो तो चारों कर्मों के प्रयोग की आवश्यकता होती है। रोग की साध्य-असाध्य आदि दशाओं को जानने वाला वैद्य, साध्यरोगों का चिकित्सा से साधन करें।

चतुर्विध कर्म जन्य आपत्ति

तेषामेव सुकर्मणां सुविहितानामप्युपेक्षा क्रिया।
स्वज्ञानादथवातुरस्य विषमाचाराद्भिषग्मोहतः॥
योगायोगगुणातियोगविषमव्यापारनैपुण्यवै-।
कल्यादत्र भवंति संततमहासंतापकृद्व्यापदः॥ 7॥

भावार्थ : उपरोक्त चतुर्विध कर्मों के प्रयोग अच्छी तरह से करने पर भी यदि पश्चात् कर्म अथवा पथ्य आहार विहार सेवन आदि कराने में अज्ञान (प्रमाद) से उपेक्षा करें व रोगी के विषम आचरण से, वैद्य के अज्ञान से, योग, अयोग, अतियोगों के लक्षण न जानने से व अतियोग जैसे विषम कार्य अर्थात् अवस्था उपस्थित हो जावें तो उस हालत में प्रतीकार करने की निपुणता न रहने से, हमेशा महान् संताप को उत्पन्न करने वाली अनेक आपत्तियाँ उपस्थित हो जाती हैं।

प्रतिज्ञा

तासां चारुचिकित्सितं विविधसूत्कृष्टप्रयोगान्रसा-।
च्छिष्टान् शिष्टजनप्रियान् रसमहाबंधप्रबंधानतः॥
कल्पान्कल्पकुलोपमानपि[1] मनस्संकल्पसिद्धिप्रदा-।
नल्पैः श्लोकगणैर्ब्रवीमि नितरामायुष्करान् शंप्रदान्॥ 8॥

भावार्थ : अब यहाँ से आगे, उन आपत्तियों (रोगों) की श्रेष्ठचिकित्सा व शिष्टजनों को प्रियभूत, रसों के महान् बंधन (संग्रह)से संयुक्त, सरस नाना प्रकार के उत्कृष्ट प्रयोग और कल्पकुल के समान रहने वाले, इष्टार्थ को साधन करने वाले, आयुष्य को स्थिर रखने व बढ़ाने वाले सुखदायक अनेक औषध कल्पों को थोड़े श्लोकों द्वारा वर्णन करेंगे।

1. कुजोपमानपि इति पाठांतरं।

अथ क्षाराधिकारः

क्षार का प्रधानत्व व निरुक्ति

याथासंख्यविधानतः कृतमहाकर्मोद्भवव्यापदं।
वक्ष्ये चारुचिकित्सितं प्रथमतः क्षाराधिकारः स्मृतः॥
शस्त्रेषूग्रमहोपशस्त्रनिचये क्षारप्रधानं तथा।
दत्तस्तत्क्षणनात्ततः क्षरणतः क्षारोऽयमित्यादृतः॥ 9॥

भावार्थ : पूर्वोक्त क्षार आदि चार महान् कर्मों के प्रयोग बराबर न होने के कारण, जो महान् व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं, उनको और उनकी योग्यचिकित्सा को भी क्रमशः वर्णन करेंगे। सबसे पहले क्षारकर्म का वर्णन किया जायेगा। भयंकर शस्त्र व उपशस्त्रकर्मों से भी क्षारकर्म प्रधान है। प्रयुक्त क्षार, त्वक्[1] मांस आदिकों की हिंसा करता है अर्थात नष्टभ्रष्ट करता है, इसलिए अथवा दुष्ट मांस आदिकों को अलग कर देता है अर्थात् गिराता है। इसलिए भी इसे क्षार कहा है अर्थात् यह क्षार शब्द की निरुक्ति है।

क्षार का भेद

क्षारोयं प्रतिसारणात्मविषयः पानीय इत्येव वा।
क्षारस्य द्विविधो विपाकवशतः स्वल्पद्रवोऽतिद्रवः॥
क्षारस्यापि विनष्टवीर्यसमये क्षारोदकैरप्यति-।
क्षारद्रव्यगणैश्च तद्बृहनतः शक्तिः समाप्याययेत्॥ 10॥

भावार्थ : क्षार के प्रतिसारणीय क्षार (शरीर के बाह्य प्रदेशों में लगाने वा टपकाने योग्य) पानीय क्षार (पीने योग्य) इस प्रकार दो भेद हैं। क्षार के पाक की अपेक्षा से, स्वल्पद्रव, अतिद्रव इस प्रकार पुनः दो भेद होते हैं। अल्प शक्ति वाले औषधियों से साधित हो जाने से, क्षार की शक्ति जब नष्ट (कम) हो जाती है तो उसे क्षारजल में डालकर पकाने से, अथवा क्षारऔषध समूहों के साथ जलाने से वह वीर्यवान् होता है। इसलिए हीनशक्ति वाले क्षार को, उक्त क्रिया से वीर्य का आधान करना चाहिए।

क्षार का सम्यग्दग्ध लक्षण व पश्चात् क्रिया

व्याधौ क्षारनिपातने क्षणमतः कृष्णत्वमालोक्य तत्।
क्षारं क्षीरघृताम्लयष्टिमधुकैः सौवीरकैः क्षालयेत्॥
पश्चात्क्षारनिवर्तनादनुदिनं शीतान्नपानादिभिः।
शीतैरप्यनुलेपनैः प्रशमयेत्तं क्षारसाध्यातुरम्॥ 11॥

1. क्षणनात्क्षारः क्षरणांद्वा क्षारः॥ क्षणनात् त्वक्मांसादिहिंसनात्॥ क्षरणात् दुष्टत्वङ्मांसादिचालनात् शातनादित्यर्थः॥

भावार्थ : त्वक् मांसादिगत वातरोग में क्षार के पातन करने पर उसी क्षण में यदि वह काला पड़ गया (क्षार पातन करने पर काला पड़ जाना यह सम्यग्दग्ध का लक्षण है) तो उस क्षार को दूध, घी, अम्ल, मुलैठी इनसे संयुक्त कांजी से धोना चाहिए। इस प्रकार क्षार को धोकर निकालने के पश्चात् हमेशा क्षार साध्य रोगी को शीत अन्नपानादिकों से व शीतद्रव्यों के लेपन से उपचार करना चाहिए।

क्षार गुण व क्षार वर्ज्य रोगी

श्लक्ष्णः शुक्लतरातिपिच्छिलसुखग्राह्योऽल्परुग्व्यापकः।
क्षारस्स्याद्गुणवाननेन सततं क्षारेण वर्ज्या इमे॥
क्षीणोरः क्षतरक्तपित्तबहुमूर्च्छासक्ततीव्रज्वरान्त-।
श्शल्योष्मनिपीडिता शिशुमदक्लांतातिवृद्धा अपि॥ 12॥
गर्भिण्योप्यतिभिन्नकोष्टविकटक्लीबस्तृषादुर्भया-।
क्रांतोप्युद्धतसाश्मरीपदगणश्वासातिशोषः पुमान्॥
मर्मस्नायुसिरातिकोमलनखीस्थ्यक्ष्याल्पमांसप्रदः।
सस्रोतस्वपि मर्मरोगसहितेष्वाहारविद्वेषिषु॥ 13॥
सीवन्यामुदरेषु संधिषु गले नाभौ तथा मेहने।
हृच्छूले च विवर्जयेन्निशितसक्षारं महाक्षारवित्॥
क्षारोऽयं विषशस्त्रसर्पदहनज्वालाशनिप्रख्यया।
स्यादज्ञानिनियोजितः सुभिषजा हन्यान्नियुक्तो गदान्॥ 14॥

भावार्थ : यह क्षार, चिकना, साधारण सफेद, पिच्छिल (पिलपिला) सुख से ग्रहण योग्य, थोड़ी-सी पीड़ा करने वाला, व्यापक आदि सभी गुणों से संयुक्त है। दुर्बल उरःक्षत, रक्तपित्त, अधिक मूर्च्छा, तीव्र ज्वर से पीडित, अंतःशल्य से युक्त, अत्यन्त उष्ण से पीड़ित, बालक, मद से संयुक्त, अतिवृद्ध, गर्भिणी, अतिसार पीड़ित, नपुंसक, अधिक प्यास व दुष्टभय से आक्रांत, अश्मरी, श्वास, क्षय से पीड़ित, ऐसे मनुष्यों पर क्षार कर्म नहीं करना चाहिए अर्थात् ये क्षारकर्म के अयोग्य हैं। मर्म, स्नायु, सिरा, नख, तरुणास्थि, आँख, अल्प मांसयुक्त प्रदेश, स्रोत, इन स्थानों में मर्मरोग से संयुक्त व आहार से द्वेष करने वालों में, सीवनी, उदर, संधि (हड्डियों के जोड़) गला, नाभि, शिश्नेन्द्रिय, इन स्थानों में व हृदयशूल से पीड़ितों में भी क्षारकर्म को जानने वाला वैद्य, तीक्ष्ण क्षारकर्म नहीं करें। अज्ञानी वैद्य के द्वारा प्रयुक्त क्षार, विष शस्त्र, सर्प, अग्नि, बिजली के समान शीघ्र प्राणों का घात करता है। विवेकी वैद्य द्वारा प्रयुक्त क्षारकर्म, अनेक रोगों का नाश करता है।

क्षार का श्रेष्ठत्व, प्रतिसारणीय व पानीय क्षार प्रयोग

क्षारः छेद्यविभेद्यलेख्यकरणाद्दोषत्रयघ्नौषध-।
व्यापारादधिकं प्रयोगवशतः शस्त्रानुशस्त्रेष्वपि॥

तत्र स्यात्प्रतिसारणीय विहितः कुष्ठेऽखिलानर्बुदे-।
नाड्यां न्यच्छभगंदरक्रिमिविषे बाह्ये तु योज्यात्सदा॥ 15॥
सप्तस्वप्यधिजिह्विकोपयुतजिह्वायां च दंतोद्भवे।
वैदर्भे बहुमेदसाप्युपहते ओष्ठप्रकोपे तथा॥
योज्यस्सयादिह रोहिणीषु तिसृषु क्षारो गरेषूर्जितः।
पानीयोप्युदरेषु गुल्मनिचये स्यादग्निसंज्ञेष्वपि॥ 16॥
अश्मर्यामपि शर्करासु विविधग्रंथिष्वथार्शस्वपि।
स्वांतस्तीव्रविषक्रिमिष्वपि तथा श्वासेषु कासेष्वपि॥
प्रोद्यद्भासिषु चाप्यजीर्णिषु मतः क्षारोयमस्मादपि।
क्षारादग्निरतीव तीक्ष्णगुणवत्तद्दग्धनिर्मूलनात्॥ 17॥

भावार्थ : क्षार, छेदन, भेदन, लेखनकर्म करता है। त्रिदोषघ्न औषधियों से, साधित होने से तीनों दोषों को नाश करता है। जिसमें शस्त्रादिक का प्रयोग नहीं होता है ऐसी विशिष्ट व्याधि में क्षारकर्म प्रयुक्त होता है (जैसे क्षार पान कर्म में प्रयुक्त होता है लेकिन शस्त्र नहीं) इसलिए शस्त्र, अनुशस्त्रों से क्षार श्रेष्ठ है। प्रतिसारणीय क्षार (जो पहले कहा गया है) को, कुष्ठ, सम्पूर्ण अर्बुद, नाड़ी व्रण, न्यच्छ, भगंदर, बाह्यक्रिमि व बाह्यविष, सात प्रकार के मुखरोग, अधिजिह्वा, उपजिह्वा, दंत, वैदर्भ, मेदरोग, ओष्ठप्रकोप, तीन प्रकार के रोहिणी, इन रोगों में प्रयोग करना चाहिए। गर (कृत्रिमविष) उदररोग, गुल्मरोग, अग्निमांद्य, अश्मरी, शर्करा, नाना प्रकार के ग्रंथिरोग, अर्श, अंतर्गत तीव्र विषरोग व कृमिरोग, श्वासकास, भयंकर अजीर्ण, इन रोगों में पानीय क्षार (पीने योग्य क्षार) प्रयुक्त होता है।

अथाग्निकर्मवर्णन

क्षारकर्म से अग्निकर्म का श्रेष्ठत्व, अग्निकर्म से वर्ज्यस्थान व दहनोपकरण

क्षारैरप्यतिभेषजैर्निशितसच्छस्त्रैरशक्यास्तु ये।
रोगास्तानपि साधयेदथ सिरास्नाय्वस्थिसंधिष्वपि॥
नैवाग्निः प्रतिसेव्यते दहनसत्कर्मोपयोग्यानपि।
द्रव्याण्यस्थिसमस्तलोहशरकांडस्नेहपिण्डादयः॥ 18॥

भावार्थ : पूर्वोक्त क्षार से अग्नि अत्यधिक तीक्ष्ण गुण संयुक्त है। अग्नि से जलाये हुए कोई भी रोग समूल नाश होते हैं (पुनः उगते भी नहीं है) और जो रोग क्षार, औषधि व शस्त्रकर्म से भी साध्य

नहीं होते हैं, वे भी अग्निकर्म से साध्य होते हैं। इसलिए क्षारकर्म से अग्निकर्म श्रेष्ठ[1] है। स्नायु, अस्थि व संधि में अग्निकर्म का प्रयोग नहीं करना[2] चाहिए। चाहे वह रोगी भले ही अग्निकर्म के योग्य हो। हड्डी, संपूर्ण लोह, शर, शलाका, घृत, तैल, गुड़, गोमय आदि दहन के उपकरण हैं।

अग्नि कर्म वर्ज्य काल व उनका भेद

ग्रीष्मे सच्छरदि त्यजेद्दहनसत्कर्मात्र तत्प्रत्यनी-।
कं कृत्वात्ययिकामयेति विधिवच्छीतद्रवाहारिणः॥
सर्वेष्वप्यृतुषु प्रयोगवशतः कुर्वीत दाहक्रियां।
तद्दग्धं द्विविधं भिषग्विनिहितं त्वङ्मांसदग्धक्रमात्॥ 19॥

भावार्थ : ग्रीष्म व शरदऋतु में अग्निकर्म नहीं करना चाहिए। यदि व्याधि अत्यधिक (आशु प्राणनाश करने वाला) हो और अग्निकर्म से ही साध्य होने वाला हो तो, ऋतुओं के विपरीत विधान (शीताच्छादन, शीतभोजन, शीतस्थान, शीतद्रव पान आदि विधान) करके अग्निकर्म करें, अतः यह मथितार्थ निकला कि प्रसंगवश सभी ऋतुओं में अग्निकर्म करना चाहिए। वह दग्धकर्म, त्वग्दग्ध मांसदग्ध इस प्रकार दो भेद से विभक्त हैं।

त्वग्दग्ध, मांस दग्ध लक्षण

त्वग्दग्धेषु विवर्णतातिविविधस्फोटोद्भवश्चर्मसं-।
कोचश्चातिविदाहता प्रचुरदुर्गंधातितीव्रोष्मता॥
मांसेप्यल्परुगल्पशोफ - सहितश्यामत्वसंकोचता।
शुष्कत्वव्रणता भवेदिति मतं संक्षेपसल्लक्षणैः॥ 20॥

भावार्थ : त्वचा में अग्निकर्म का प्रयोग करने पर उसमें विवर्णता, अनेक प्रकार फफोले उठना, चर्म का सिकुड़ना, अतिदाह, अत्यधिक दुर्गंध, अति तीव्र उष्णता, ये लक्षण प्रकट होते हैं अर्थात् यह त्वग्दग्ध का लक्षण है। मांस में दग्धक्रिया करने पर अल्पशोफ और व्रण का कालापना, सिकुड़ना, सूख

1. **क्षारदग्निर्गरीयान् क्रियासु व्याख्यातः। तद्दग्धानां रोगाणामपुनर्भावाद्भैषज शस्त्रक्षारैरसाध्यानां तत्साध्यत्वाच्च॥ इति ग्रन्थांतरं॥**
2. ग्रन्थांतरों में **''इह तु सिरास्नायुसंध्यास्थिप्वपि न प्रतिषिद्धोऽग्निः''** यह कथन होने से शंका हो सकती है कि यहाँ आचार्य ने कैसा विपरीत प्रतिपादन किया। इसका उत्तर इतना ही है कि, वह ग्रंथान्तर का कथन भी, एक विशेषापेक्षा को लिए हुए है। जब रोग अग्निकर्म को छोड़कर साध्य हो ही नहीं सकता यदि अग्नि कर्म न करें तो रोगी का प्राण नाश होता है। केवल ऐसी हालत में अग्निकर्म करना चाहिए, यह उसका मतलब है। इससे अपने आप सिद्ध होता है कि सर्व साधारण तौर पर स्नाय्वादि स्थानों में अग्निकर्म का निषेध है। इसी अभिप्राय से यहाँ भी निषेध किया है।

   अथवा ग्रंथांतर में उन्होंने अपना मत व्यक्त किया है। सम्भव है उनसे उग्रदित्याचार्य का मत भिन्न हो।

जाना, ये लक्षण प्रकट होते हैं। अर्थात् यह मांसदग्ध का लक्षण है।

दहन योग्य स्थान, दहन साध्य रोग व दहन पश्चात् कर्म

भ्रूशंखेषु दहेच्छिरोरुजि तथाधीमंथके वर्त्मरो-।
गेष्वप्यार्द्रदुकूल संवृतमथाह्यारोमकूपाद्धृशम्॥
वायावुग्रतरे व्रणेषु कठिनप्रोद्भूतमांसेषु च।
ग्रन्थावर्बुदचर्मकीलतिलकालाख्यापचेष्वप्यलं॥ 21॥
नाड्याच्छिन्नसिरासु संधिषु तथा छिन्नेषु रक्तप्रवृ-।
त्तौ सत्यां दहनक्रिया प्रकटिता नष्टाष्टकर्मारिभिः।
सम्यग्दग्धमवेक्ष्य साधुनिपुणः कुर्याद्घृताभ्यंजनं।
शीताहारविहारभेषजविधिं विद्वान् विदध्यात्सदा॥ 22॥

भावार्थ : शिरोरोग व अधिमंथ रोग में भ्रूप्रदेश व शंखप्रदेश में जलाना चाहिए। वर्त्मरोग में गीले कपड़े से आँख को ढककर वर्त्मस्थ रोमकूपों से लेकर दहन करें। अर्थात् रोमकूपों को जलाना चाहिए। त्वचा, मांस, सिरा आदि स्थानों में वात प्रकुपित होने पर भयंकर, कठोर, व जिसमें मांस बढ़ गया हो ऐसे व्रण में, ग्रंथि, अर्बुद, चर्मकील, तिल कालक, अपची, नाड़ी व्रण इन रोगों में छेदित सिरा, संधि में, रक्त प्रवृत्ति में, अग्नि कर्म का प्रयोग करना चाहिए ऐसा आठ कर्म रूपी शत्रुओं को नाश करने वाले भगवान् जिनेन्द्र देव ने कहा है। सम्यग्दग्ध के लक्षण को देखकर, विद्वान् चतुर वैद्य, दग्धव्रण में घी लगावें और रोगी को शीत आहार, शीतविहार व शीत औषधि का प्रयोग करें।

अग्नि कर्म के अयोग्य मनुष्य

वर्ज्या वन्हिविधानतः प्रकृतिपित्तश्चातिभिन्नोदरः।
क्षीणोंतःपरिपूर्णशोणितयुतः श्रांतस्सशल्यश्च यः॥
[1]अस्वेद्याश्च नरा बहुव्रणगणैः संपीडितश्चान्यथा।
दग्धस्यापि चिकित्सतं प्रतिपदं वक्ष्यामि सल्लक्षणैः॥ 23॥

भावार्थ : पित्त प्रकृति वाले, भिन्नकोष्ठ, कृश, अंतःशोणितयुक्त, थके हुए, शल्य युक्त, अनेक व्रणसमूहों से पीड़ित और जो स्वेदन कर्म के लिए अयोग्य हैं, ऐसे मनुष्य भी अग्निकर्म करने योग्य नहीं हैं। इसलिए उन पर अग्निकर्म का प्रयोग नहीं करना चाहिए। यहाँ से आगे वैद्य के न रहते हुए, प्रमाद से अकस्मात् जले हुए के लक्षण व चिकित्सा को प्रतिपादन करेंगे।

1. अव्यध्या इति पाठांतरं।

अन्यथा दग्ध के चतुर्भेद

स्पृष्टं चैव समं च दग्धमथवा दुर्दग्धमत्यंतद-।
ग्धं चेत्तत्र चतुर्विधं ह्यभिहितं तेषां यथानुक्रमात्॥
वक्ष्ये लक्षणमप्यनूनवरभैषज्य - क्रियां चातुर।
स्याहारादिविधानमप्यनुमतं मान्यैजिनेन्द्रस्सदा॥ 24॥

भावार्थ : उस अन्यथा दग्ध के स्पृष्ट, सम्यग्दग्ध, दुर्दग्ध व अत्यन्तदग्ध इस प्रकार चार भेद कहे गए हैं। इनके क्रमशः लक्षण, श्रेष्ठ चिकित्सा व रोगी के आहार आदि विधान को भी मान्य जिनेन्द्र के मतानुसार कहेंगे।

[1]स्पृष्ट, सम्यग्दग्ध, दुर्दग्ध, अतिदग्धका लक्षण

यच्चात्यंतविवर्णमूष्मबहुलं तच्चाग्निसंस्पृष्टमि-।
त्यन्यद्यत्तिलवर्णमुष्णमधिकं नैवातिगाढं स्थितं॥
तत्सम्यक्समदग्धमप्यभिहितं स्फोटोद्भवस्तीव्रसं-।
तापात् दुःखतरं चिरप्रशमनं दुर्दग्धतालक्षणम्॥ 25॥
मूर्च्छा वातितृषा च संधिविगुरुत्वं चांगसंशोषणं।
मांसानामवलंबनं निजसिरास्नाय्वस्थिसंपीडनं॥
कालात्सक्रिमिरेव रोहति चिरारूढोऽतिदुर्वर्णता।
स्यादत्यंतविदग्धलक्षणमिदं वक्ष्ये चिकित्सामपि॥ 26॥

भावार्थ : जो अत्यन्त विवर्ण युक्त हो, अधिक उष्णता से युक्त हो, उसे स्पृष्टदग्ध कहते हैं। जो दग्ध तिल के वर्ण के समान काला हो, अधिक उष्णता से युक्त हो एवं अतिगाढ़ (अधिक गहराई) रूप से जला नहीं हो, वह समदग्ध है। वह ठीक है। जिसमें अनेक फफोले उत्पन्न हो गए हों, जो तीव्रसंताप को उत्पन्न करता हो, दुःख के देने वाला हो और बहुत देर से उपशम होने वाला हो, उसे दुर्दग्ध कहते हैं। जिसमें मूर्च्छा, अतितृषा, संधिगुरुत्व, अंगशोषण, मांसावलंबन (उस व्रण में मांस का लटकना) सिरा स्नायु व अस्थि में पीड़ा व कुछ समय के बाद (व्रण में) कृमियों की उत्पत्ति हो, दग्धव्रण, चिरकाल से भरता हो, भर जाने पर भी दुर्वर्ण (विपरीतवर्ण) रहें, उसे अतिदग्ध कहते हैं। अब इन दग्धव्रणों की चिकित्सा का वर्णन करेंगे।

दग्धव्रण चिकित्सा

स्निग्धं रूक्षमपि प्रपद्य दहनश्शीघ्रं दहत्यद्भुतं।
तत्रैवाधिकवेदनाविविधविस्फोटादयः स्युस्सदा॥

1. इसे ग्रंथांतर में 'प्लुष्ट' शब्द से उल्लेख किया है।

ज्ञात्वा स्पृष्टमिहाग्निना तु सहसा तेनैव संतापनं।
सोष्णैरुष्णगुणौषधैरिह मुहुः सम्यक्प्रदेहः शुभः ॥ 27 ॥

भावार्थ : अग्नि, स्निग्ध (घृततैलादि) रूक्ष, (काष्ठ, पाषाण, लोह आदि) द्रव्यों को प्राप्त कर, शीघ्र ही भयंकर रूप से जलाता है और उस दग्धस्थान में अत्यधिक वेदना व नाना प्रकार के स्फोट (फफोले) आदि उत्पन्न होते हैं। अग्नि के द्वारा जो स्पृष्ट दग्ध कहा है, उसे जानकर शीघ्र ही उसी अग्नि से तपाना चाहिए अर्थात् स्वेदन करना चाहिए एवं उष्ण व उष्ण गुण युक्त औषधियों से बार-बार लेप करना हितकर है।

सम्यग्दग्ध चिकित्सा

सम्यग्दग्धमिहाज्यलिप्तमसकृत् सच्चंदनैः क्षीरवृ-।
क्षत्वग्भिः सतिलैः सयष्टिमधुकैः शाल्यक्षतैः क्षीरसं-॥
पिष्टैरिक्षुरसेन वा घृतयुतैः छिन्नोद्भवांभोजव -।
गैः वा गैरिकया तुगासहितया वा लेपयेदादरात्॥ 28 ॥

भावार्थ : सम्यग्दग्ध में बार-बार घी लेपन करके चंदन, अश्वत्थादि दूधिया वृक्षों के छाल, तिल, मुलैठी, धान, चावल इनको दूध वा ईख के रस के साथ पीसकर, अथवा घी मिलाकर, लेपन करना चाहिए। अथवा गिलोय, कमल-पुष्पवर्ग (सफेद कमल, नीलकमल, लालकमल आदि) इनको अथवा गेरु, वंशलोचन इनको उपरोक्त द्रवों से पीसकर आदरपूर्वक लेप लगावें।

दुर्दग्ध चिकित्सा

दुर्दग्धेपि सुखोष्णदुग्धपरिषेकैराज्यसंम्रक्षणैः।
शीतैरप्यनुलेपनैरुपचरेत् स्फोटानपि स्फोटयेत्॥
स्फोटान्सस्फुटितानतो घृतयुतैः शीतौषधैः शीतलैः।
पत्रैर्वा परिसंवृतानपि भिषक्कुर्यात्सुशीतादृतिम्॥ 29॥

भावार्थ : दुर्दग्ध में भी मंदोष्ण दूध के सेचन से, घृत के लेपन से एवं शीतद्रव्यों के लेपन से उपचार करना चाहिए। फफोलों को भी फोड़ना चाहिए। फूटे हुए फोडों पर शीतल औषधियों के साथ घी मिलाकर लगावें और शीतल गुण युक्त वृक्ष के शीतल पत्तों से उनको ढकें। साथ में रोगी को शीतल अन्नपानादि देवें।

अतिदग्ध चिकित्सा

ज्ञात्वा शीतलसंविधानमधिकं कृत्वातिदग्धे भिष-।
ग्मांसान्यप्यवलंबितानपहरेत्स्नाय्वादिकान्यप्यलम्॥
दुष्टादुष्टमपोह्यमेवमखिलं क्षीरेण वा क्षालयेत्।
पत्रैर्वा वृणुयाद्व्रणं वनरुहैः कुर्याद्व्रणोक्तक्रियाम्॥ 30॥

भावार्थ : अतिदग्ध को भी कुशल वैद्य जानकर अधिक शीतल चिकित्सा करें एवं नीचे झूलते हुए मांसों को, स्नायु आदिकों को भी दूर करें। दुष्ट-अदुष्ट सर्व स्नायु आदिकों को अलग निकालकर अर्थात् साफ कर के उस व्रण को दूध से धोना चाहिए। बाद में उस व्रण को वृक्ष के पत्तों से ढकना चाहिए एवं उस पर व्रणोक्त सर्व चिकित्सा करनी चाहिए।

रोपणक्रिया

तद्दग्धव्रणरोपणेऽपि सुकृते चूर्णप्रयोगार्हके।
काले क्षाममपेयुषैरमलिनैः शाल्यक्षतैर्लाक्षया॥
क्षीर क्षारसतिंदुकाम्रबकुलप्रोत्तुंगजंबूकदं-।
बत्वग्भिश्च सुचूर्णिताभिरसकृत् संचूर्णयेन्निर्णयम्॥ 31॥

भावार्थ : उस दग्धव्रण के रोपणक्रिया करने पर चूर्णप्रयोग करने के योग्य काल जब आवें, क्षामरहित निर्मल चावल, लाख, क्षीरीवृक्ष, व क्षारवृक्ष की छाल और तैंदू, आम्र, वकुल, जंबू, कदंब, इन वृक्षों की छाल को अच्छी तरह चूर्ण कर बुरखना चाहिए।

सवर्णकरण विधान

श्वित्रेषूक्तविचित्र - वर्णकरणानेकौषधालेपनं।
कुर्यात्स्निग्धमनोज्ञशीतल - तरस्वाहारमाहारयेत्॥
प्रोक्तं चाग्निविधानमेतदखिलं वक्ष्यामि शस्त्रक्रियां।
शस्त्राणामनुशस्त्रशस्त्रविधिना शस्त्रं द्विधा चोदितम्॥ 32॥

भावार्थ : इस दग्धव्रण के भर जाने पर उसे श्वित्रकुष्ठ (सफेद कोढ़) में कहे गए सवर्ण करने वाले अनेक प्रयोगों से सवर्ण करना चाहिए अर्थात् त्वचा के विकृत वर्ण को दूर करना चाहिए। उस रोगी को स्निग्ध, मनोहर व शीतल आहार को खिलाना चाहिए। अभी तक अग्निकर्म का वर्णन किया। आगे शस्त्रकर्म का वर्णन शास्त्रानुसार करेंगे। वह शस्त्रकर्म अनुशस्त्र व शस्त्र के भेद से दो प्रकार से विभक्त है।

अनुशस्त्र वर्णन

तत्रादावनुशस्त्रभेदमखिलं वक्ष्यामि संक्षेपतः।
क्षाराग्निस्फटिकोरसारनखकाचत्वग्जलूकादिभिः॥
तेष्वप्यौषधभीरुराजवनिताबालातिवृद्धादिकान्।
द्रव्यप्रायगुणा महासुखकरी प्रोक्ता जलूकाक्रिया॥ 33॥

भावार्थ : सबसे पहले अनुशस्त्र के समस्त भेदों को संक्षेप से कहेंगे। क्षार, अग्नि, स्फटिक, त्वक्सार (बांस) नख, काच, त्वचा व जलौंक (जौंक) ये सब अनुशस्त्र हैं। जो शस्त्रकर्म से डरते हैं

ऐसे राजा, स्त्री, अतिबाल व वृद्धों के प्रति इनका उपयोग करना चाहिए। इनमें जलौंक का प्रयोग जो शस्त्रसदृश गुण को रखता है महासुखकारी है।

रक्तस्राव के उपाय

वातेनाप्यतिपित्तदुष्टमथवा सश्लेष्मणा शोणितं।
शृंगेणात्र जलौंकसा सदहनेनालाबुना निर्हरेत्॥
इत्येवं क्रमतो ब्रुवंति नितरां सर्वाणि सर्वैरतः।
केचित्तत्र जलौकसां विधिमहं वक्ष्यामि सल्लक्षणैः॥ 34॥

भावार्थ : वात, पित्त व कफ से रक्त दूषित होने पर क्रमशः शृंग, (सींग लगाकर) जलौंका (जोंक) व अग्नियुक्त[1] तुम्बी से रक्त निकालना चाहिए ऐसा कोई कहते हैं। अर्थात् वातदूषित रक्त को सींग से, पित्त दूषित को जौंक लगाकर, कफ दूषित को तुम्बी लगाकर निकालना चाहिए। कोई तो ऐसा कहते हैं ऐसे क्रम की कोई आवश्यकता नहीं है। लेकिन किसी भी दोष से दूषित हो तो किसी उपयुक्त शृंग आदि से निकालना चाहिए अर्थात् सब में सब का उपयोग करें। अब जौंक से रक्त निकालने की विधि को व उसके लक्षण को प्रतिपादन करेंगे।

जलौकस शब्द निरुक्ति व उसके भेद

तासामेव जलौकसां[2] जलमलं (?) स्यादायुरित्येव वा ।
प्रोक्ता तत्र जलायुका[3] इति तथा सम्यग्जलूका अपि ॥
शब्दज्ञैस्तु पृषोदरादिविधिना तद्द्वादशैवात्र षट्- ।
कष्टा दुष्टविषाः स्वदेहविविषास्तल्लक्षणं लक्ष्यताम् ॥ 35 ॥

भावार्थ : जिन का जल ही ओंक (घर) है। इसलिए जोंकों को ''जलौकस'' कहते हैं। जिन का जल ही आयु है इसलिए ''जलायुका'' कहते हैं एवं इन्हें जलूका भी कहते हैं। ये जोंक वाचक शब्द पृषोदरादि गण से साधित होते हैं। ऐसा व्याकरण शास्त्रज्ञों का मत है। जोंक बारह प्रकार के होते हैं। उनमें छह तो सविष होते हैं। ये अत्यन्त कष्ट देने वाले होते हैं; बाकी के छह निर्विष होते हैं। कृष्णा, कर्बुर अलगर्दा, इंद्रायु, सामुद्रिका, गोचंदना ये छह विषयुक्त जोंकों के भेद हैं। कपिला, पिङ्गला, शङ्खुमुखी, मूषिका, पुंडरीकमुखी, सावरिका ये छह निर्विष जोंकों के भेद हैं। आगे इनका लक्षण कथन किया जायेगा, जिस पर पाठक दृष्टिपात करें।

---

1. इसका यह मतलब है कि तुम्बी से रक्त निकालने के लिए तुम्बी के अंदर दीपक रखना पड़ता है, अन्यथा उससे रक्त नहीं निकल पाता।
2 जलमासामोक इति जलौकसः।
3 जलमासामायुरिति जलायुकाः।

सविष जलौंकों के लक्षण

कृष्णाकर्बुर लक्षण

या तत्रांजनपुंजमेचकनिभा स्थूलोत्तमांगान्विता।
कृष्णाख्या तु जलायुका च सविषा वर्ज्या जलूकार्तिभिः॥
निम्नोत्तुंगनिजायतोदरयुता वर्म्याख्यमत्स्योपमा।
श्यामा कर्बुरनामिका विषमयी निंद्या मुनींद्रैस्सदा॥ 36॥

भावार्थ : जो जलूका अंजन (काजल) के पुंज के समान काले वर्ण की हो, जिसका मस्तक स्थूल हो, उसे 'कृष्णा' नामक जलूका कहते हैं। जो निम्नोन्नत लंबे पेट से युक्त हो और वर्मि[1] नामक मछली के सामन हो, श्यामवर्ण से युक्त हो उसे 'कर्बुर' नामक जलौंक कहते हैं। ये दोनों जौंक विषयुक्त हैं। इसलिए ये जौंक लगाकर रक्त निकालने के कार्य में वर्जित हैं व निंद्य हैं ऐसा मुनीन्द्रों का मत है।

अलगर्दा, इंद्रायुधा, सामुद्रिका लक्षण

रोमव्याप्तमहातिकृष्णवदना नाम्नालगर्दापि सा।
सांध्या शक्रधनुः प्रभेव रचिता रेखाभिरिंद्रायुधा॥
वर्ज्या तीव्रविषापरेषदसिता पीता च भासा तथा।
पुष्पैश्चित्रविधैर्विचित्रितवपुः कष्टा हि सामुद्रिका॥ 37॥

भावार्थ : जिसके शरीर में रोम भरा हुआ है व जिसका मुख बड़ा व अत्यन्त काला है, उसे 'अलगर्दा' नामक जलूक कहते हैं। जो संध्या समय के इंद्रधनुष्य की प्रभा के समान अनेक वर्ण की रेखाओं से युक्त शरीर वाला है वह 'इंद्रायुधा' नामक जलूक है। जो किंचित् काले व पीले वर्ण से संयुक्त है, जिसके शरीर नाना प्रकार के पुष्पों के समान चित्रों से विचित्रित है, यह 'सामुद्रिका' नामक जौंक है। ये दोनों जौंक तीव्र विष संयुक्त होने से प्राणियों को कष्टदायक होते हैं। इसलिए ये भी जलौंका प्रयोग में त्याज्य हैं।

गोचंदना लक्षण व सविष जूलूकादष्ट लक्षण

गो शृंगद्वयवत्तथा वृषणवद्धार्याप्यधोभागतः।
स्विन्ना स्थूलमुखी विषेण विषमा गोचंदनानामिका॥
ताभिर्दष्टपदातिशोफसहिताः स्फोटास्सदाहज्वर-।
च्छर्दिर्मूर्च्छनमंगसादनमदालक्ष्माणि लक्ष्याण्यलं॥ 38॥

भावार्थ : जिसके अधोभाग में गाय के सींग के समान व वृषण के समान दो प्रकार की आकृति है अर्थात् दो भाग मालूम होते हैं, जो सदा गीली रहती है और स्थूल मुखवाली है एवं भयंकर विष से

1. यह मछली सर्प के आकारवाली है।

युक्त है, उसे 'गोचंदना' कहते हैं। इन विषमय जलूकाओं के काटने पर, मनुष्य के शरीर में अत्यन्त सूजन, फफोले, दाह, ज्वर, वमन, मूर्च्छा, अंगसादन व मद ये लक्षण प्रकट होते हैं।

सविष जलौंकदष्ट चिकित्सा

तासां सर्पविषोपमं विषमिति ज्ञात्वा भिषग्भेषजं।
प्रोक्तं यद्विषतंत्रमंत्रविषये तद्योजयेदूर्जितम्॥
पानाहारविधावशेषमगदं प्रख्यातकीटोत्कट-।
प्रोद्वुष्टोग्रविषघ्नमन्यदखिलं नस्यप्रलेपादिषु॥ 39॥

भावार्थ : उन विषमय जलौकों का विष सर्प के समान ही भयंकर है, ऐसा समझकर कुशल वैद्य विषमंत्रतंत्राधिकार में बतलाये गए विषघ्न, अगद, मंत्र आदि विषनाशक उपायों को उपयोग करें। पान व आहार में भी सम्पूर्ण अगद का प्रयोग करें एवं प्रसिद्ध कीटों के भयंकर विष को नाश करने वाले जो कुछ भी प्रयोग बतलाये गए हैं, उन सबको नस्य, आलेप, अंजन आदि कार्यों में उपयोग करें।

निर्विष जलौकों के लक्षण

कपिला लक्षण

इत्येवं सविषा मया निगदिता सम्यग्जलूकास्ततः।
संक्षेपादविषाश्च षट्स्वपि तथा वक्ष्यामि सल्लक्षणैः॥
लाक्षासद्रसपिष्ट - हिंगुलविलिप्तेवात्मपार्श्वोदरैः।
वक्त्रे या कपिला स्वयं च कपिला नाम्ना तु मुद्गोपमा[1]॥ 40॥

भावार्थ : इस प्रकार विषमय जलूकाओं का वर्णन किया गया। अब निर्विष जलूकाओं के जो छह भेद हैं उनको उनके लक्षण कथन पूर्वक कहेंगे। जिसके दोनों पार्श्व व उदर लाख के रस से पिसे हुए हिंगुल से लिप्त जैसे लाल मालूम होते हैं, जिसका मुख भूरे (कपिल) वर्ण का है, और मूंग के वर्ण के समान जिसके पीठ का वर्ण है वह 'कपिला' नामक जलूक है।

पिंगलामूषिकाशङ्कुमुखी लक्षण

आरक्तातिसुवृत्तपिंगलतनुः पिंगानना पिंगला।
या घंटाकृतिमूषिकाप्रभवपुर्गंधा च सा मूषिका॥
या शीघ्रं पिबतीह शीघ्रगमना दीर्घातितीक्ष्णानना।
सा स्याच्छङ्कुमुखी यकृन्निभतनुर्वर्णेन गंधेन च॥ 41॥

भावार्थ : जो गोल आकार से युक्त होकर लाल व पिंगल वर्ण के शरीर व भूरे (पिङ्गल) वर्ण के मुख को धारण करता है उसे 'पिंगला' नामक जलौंक कहते हैं। जो घंटा के आकार में रहता है और

1. पृष्ठे स्निग्धमुद्रवर्णा कपिला (ग्रन्थांतरे)

जिसके शरीर का वर्ण व गंध चूहे के समान है, उसे 'मूषिका' नामक जलौंक कहा है। जो रक्त वगैरह को जल्दी-जल्दी पीता है व जल्दी ही चलता है जिसका मुख दीर्घ व तीक्ष्ण है, उसे 'शंङ्कुमुखी' जलौंक कहते हैं। इसके शरीर का वर्ण व गंध, यकृत् (जिगर)के गंधवर्ण के समान है।

पुंडरीकमुखी सावरिका लक्षण

या रक्तांबुजसन्निभोदरमुखी मुद्गोपमा पृष्ठतः।
सैव स्यादिह पुण्डरीकवदना नाम्ना स्वरूपेण च॥
या अष्टादशभिस्तथांगुलिभिरित्येवायता संमिता।
श्यामा सावरिकेति विश्रुतगुणा सा स्यात्तिरश्चामिह॥ 42॥

भावार्थ : जिसका उदर व मुख लाल कमल के समान है, पीठ मूंग के समान वर्णयुक्त है, उसे नाम व स्वरूप से 'पुण्डरीकमुखी' कहा है। जो अठारह अंगुलप्रमाण लम्बी है, काली है, जिसके गुण विश्व में प्रसिद्ध हैं, ऐसी जलूका को 'सावरिका' कहते हैं। इसका उपयोग, हाथी, घोड़ा आदि तिर्यंच प्राणियों के रक्त निकालने में किया जाता है। ये मनुष्यों के उपयोग में नहीं आते।

जौकों के रहने का स्थान

तासां सन्मलये सपाण्डुविषये सह्याचलादित्यके।
कावेरीतरलांतरालनिचये वंगीकलिंगत्रये॥
पौंड्रेंद्रेऽपि विशेषतः प्रचुरता तत्रातिकायाशनाः।
पायिन्यस्त्वरितेन निर्विषजलूकास्स्युः ततस्ताः हरेत्॥ 43॥

भावार्थ : मलय देश, पांड्यदेश, सह्याचल, आदित्यचल के तट, कावेरी नदी के बीच, वंग देश, त्रिकलिंग देश अथवा तीन प्रकार के कलिंग देश, पुंड्रदेश और इंद्रदेश में विशेषकर ये जोंक अधिक प्रमाण में रहते हैं। वहाँ के जोंक स्थूल शरीर वाले, अधिक खाने वाले व शीघ्र ही पीने वाले और निर्विष होते है। इसलिए इन देशों से उन का संग्रह करना चाहिए।

जौंक पालन विधि

हृत्वा ताः परिपोषयेन्नवघटे न्यस्य प्रशस्तोदकै-।
रापूर्णे तु सशैवले सरसिजव्यामिश्रपङ्कांकिते॥
शीते शीतलकामृणालसहिते दत्वा जलाद्याहृतिं।
नित्यं सप्तदिनांतरे घटमतस्संक्रामयन् संततम्॥ 44॥

भावार्थ : उन जलौंकों को यत्नपूर्वक पकड़कर एक नये घड़े में सरोवर के स्वच्छ पानी, शीतल सेवाल[1], कमल, कमलपत्र[2], उसी तालाब के कीचड़ व कमलनाल[3] को डालकर उसमें उन जोंकों को

1. यह उनको लाने के लिए, 2-3 ये उनको सोने के लिए।

डाल दें। प्रतिदिन पानी व आहार देवें एवं सात-सात दिन में एक बार उस घड़े को बदलते रहना चाहिए। इस प्रकार उन जोंकों का पोषण करना चाहिए।

जलौंक प्रयोग

यस्स्यादस्रविमोक्षसाध्यविविधव्याध्यातुरस्तं भिषक्।
संवीक्ष्योपनिवेश्य शीतसमये शीतद्रवाहारिणः॥
तस्यांग परिरूक्ष्य यत्र च रुजा मृद्गोमयैश्चूर्णितैः।
पिष्टैर्वातिहिमांबुधौ तमसकृत् पश्चाज्जलूका अपि॥ 45॥
वाम्या सद्रजनीसुसर्षपवचाकल्केः क्रमात्सांबुभिः।
धौताः शुद्धजलैश्च मुद्गकृतकल्कांबुप्रतिक्रीडिताः॥
पश्चादार्द्रसुसूक्ष्मवस्त्रशकलेनागृह्य संग्राहये-।
द्रोगास्तन्नवनीतलेपितपदे शस्त्रक्षते वा पुनः॥ 46॥

भावार्थ : जो रोगी रक्तमोक्षण से साध्य होने वाले विविध रोग से पीड़ित हो, उसे अच्छी तरह देखकर शीतकाल (हिमवंत व शरद्ऋतु) में शीतगुण युक्त आहार को खिलाकर बैठाल देवें। जहाँ से रक्त निकालना हो उस जगह में यदि व्रण न हो तो, मिट्टी व गोबर के चूर्ण, अथवा किसी रूक्ष पिट्ठी से, उस स्थान को रगड़कर रूक्षण (खरदरा) करके ठंडे पानी से बार-बार धोवें। उन जोंकों के मुख में हल्दी, बच, इनके कल्क लगाकर, वमन कराकर पानी से अच्छी तरह धोवें। पश्चात् एक बर्तन में, जिसमें मूंग की पिट्ठी से मिला हुआ शुद्ध पानी भरा हो, उसमें क्रीड़नार्थ छोड़ देवें। जब वे फुर्ती के साथ इधर-उधर दौड़ने लगे तो उनका श्रम दूर हो गया है ऐसा जानकर उन्हें गीले बारीक कपड़े के टुकड़े से पकड़कर, रोगयुक्त स्थान को पकड़वा देवें। यदि वे न पकड़े तो उस स्थान में मक्खन लगाकर अथवा किसी शस्त्र से क्षतकर पुनः पकड़वा देवें।

रक्त चूसने के बाद करने की क्रिया

विस्रावैर्विहरेदसृक्सदहनैः तुंबीफलैः सद्विषा-।
णैर्वा चूषणको विदावरजलूका स्यात्स्वयंग्राहिका॥
पीत्वा तां पतितां च शोणितमतः संकुडिकेना (?) शुसं-।
लिप्तं सैंधवतैललेपितमुखीमापीडयेद्वामयेत्॥ 47॥

भावार्थ : दुष्ट रक्त को, अग्नियुक्त तुम्बीफल व शृंग से निकालना चाहिए। रक्त को चूसने में समर्थ जोंक को लगाने से वे स्वयं रक्त को चूस लेते हैं (इनको लगाकर भी रक्त स्रावण करना चाहिए) जब वे खून पीकर, नीचे गिर जाते हैं, तब उनके शरीर को चावल के चूर्ण से, लेपन करें और सैंधानमक व तैल को मिलाकर, उनके मुख में लगाकर, पूंछ की तरफ से मुख की ओर धीरे-धीरे दबाते हुए वमन

करावें।

शुद्धरक्ताहरण में प्रतिक्रिया

वांतां तां कथितांबपूरितघटे विन्यस्य संपोषयेत्।
ज्ञात्वा शोणितभेदमप्यतिगतिं संस्थापयेदौषधैः।
दंशे यत्र रुजा भवेदतितरां कण्डूश्च शुद्धप्रदे-।
शस्था स्यादिति तां विचार्य लवणैरामोक्षयेत्तत्क्षणात्॥ 48॥

भावार्थ : वमन कराने के बाद उसको पूर्वकथित जल से भरे हुए घड़े में रख कर पोषण करना चाहिए एवं इधर रक्तभेद को जानकर यदि तीव्रवेग से उसका स्राव हो रहा हो, तो उसे औषधियों से बंद कर देना चाहिए। जोंक के रक्त पीते समय दंश (कटा हुआ स्थान) में यदि अत्यन्त पीड़ा व खुजली चले तो समझना चाहिए कि वे शुद्ध रक्त को खींच रहे हैं। जब यह निश्चय हो तो उसी समय उसके मुंह में सैंधानमक लगा कर उनको छुड़ाना चाहिए।

शोणितस्तम्भन विधि

पश्चाच्छीतजलैर्मुहुर्मुहुरिह प्रक्षाल्य रोगं क्षरेत्।
क्षीरेणैव घृतेन वा चिरतरं सम्यङ्निषिच्य क्रमात्॥
रक्तस्यातिमहाप्रवृत्तिविषये लाक्षाक्षमाषाढकै-।
श्चूर्णैः क्षौममयीभिरप्यतितरं शुष्कैस्तु संस्तंभयेत्॥ 49॥

भावार्थ : तदनंतर उस पीड़ा के स्थान को ठण्डे जल से बार-बार धोना चाहिए जिस से रोगक्षरण हो जावे एवं क्रमशः चिरकाल तक अच्छी तरह उस पर दूध घृत का सेचन करना चाहिए। रक्त का स्राव अधिक होता हो तो लाख बहेड़ा, उड़द व अरहर इनके अतिशुष्कचूर्ण को जिसमें रेशमीवस्त्र का भस्म अधिक प्रमाण में मिला है उस पर डालकर रक्तस्तंभन करना चाहिए।

शोणितस्तम्भनापर विधि

लोध्रैश्शुद्धतरैसुगोमयमयैर्गोधूम - धात्रीफलैः।
शंखैः शुक्तिगणारिमेदतरुसंपूर्तेस्तथा ग्रंथिभिः॥
सर्ज्जैरर्जुनभूर्जपादप- दवत्वग्भिश्च चूर्णीकृतै-।
राचूर्ण्य व्रणमाशु बंधनबलैस्संस्तंभयेच्छोणितं॥ 50॥

भावार्थ : लोध्र, शुद्धगोमय, गेहूं, आमला, शंख, शुक्ति, अरिमेद (दुर्गंध युक्त खैर) इन वृक्षों की ग्रंथि, सर्ज्जे वृक्ष, अर्जुन वृक्ष, भूर्जवृक्ष व उनकी छाल, इन सबको चूर्ण करें। उस व्रण पर उक्त चूर्ण को डालकर और व्रण को बांधकर रक्त का स्तम्भन करें।

अयोग्यजलायुका लक्षण

याः स्थूलाः शिशवः कृशाः क्षतहताः क्लिष्टा कनिष्ठात्मिका।
याश्चाल्पाशनतत्पराः परवशा याश्चातिनिद्रालसाः।
याश्चाक्षेत्रसमुद्भवा विषयुता याश्चातिदुर्ग्राहिका-।
स्तास्सर्वाश्च जलायुका न च भिषक् संपोषयेत्पोषणैः॥ 51॥

भावार्थ : जो जलूका अत्यन्त कृश हैं, अत्यन्त स्थूल हैं, बिल्कुल बाल हैं, आघात से युक्त हैं, क्लिष्ट हैं, नीचजात्युत्पन्न हैं, अत्यन्त कम आहार लेती हैं, परवश हैं, अत्यन्त निद्रा व आलस्य से युक्त हैं, जो नीचक्षेत्र में उत्पन्न हैं, विषयुक्त हैं, जिनको पकड़ने में अत्यन्त कष्ट होता है, ऐसे लक्षणों से युक्त जलूकाओं को वैद्य लाकर पालन पोषण न करें अर्थात् जलूका प्रयोग के लिए ये अयोग्य हैं।

शस्त्रकर्म वर्णन

इत्येवं ह्यनुशस्त्रशास्त्रमधिकं सम्यग्विनिर्देशतः।
शस्त्राणामपि शास्त्रसंग्रहमतो वक्ष्यामि संक्षेपतः॥
शस्त्राण्यत्र विचित्रचित्रितगुणान्यस्रायसां शास्त्रवित्।
कर्मज्ञः कथितोस्त्रकर्मकुशलैः कर्मारकैः कारयेत्॥ 52॥

भावार्थ : इस प्रकार अभी तक अनुशस्त्र के शास्त्र को कथन कर अब शस्त्रों के शास्त्र को संक्षेप से कहेंगे। शस्त्रों में विचित्र अनेक प्रकार के गुण होते हैं। उन शस्त्र व लोह के शास्त्रज्ञ व शस्त्रकर्मज्ञ वैद्य को उचित है कि शस्त्रों को बनाने में कुशल कारीगरों से शस्त्रकर्मोचित शस्त्रों को निर्माण करावें।

अष्टविधशस्त्र कर्मों में आने वाले शस्त्र विभाग

छेद्ये स्यादतिवृद्धिपत्रमुदितं लेख्यं च संयोजयेत्।
भेद्यं चोत्पलपत्रमत्र विदितं वेध्यो कुठार्यस्थिषु॥
मांसे व्रीहिमुखेन वेधनमतो विस्रावणे पत्रिका-।
शस्त्रं शस्तमथैषणी च सततं शल्यैषणी भाषितम्॥ 53॥

भावार्थ : छेदन व लेखनक्रिया में वृद्धिपत्र नाम का शस्त्र, भेदनकर्म में उत्पलपत्र शस्त्र, हड्डी में वेधनार्थ कुठारिका शस्त्र, माँस में वेधन करने के लिए व्रीहि-मुखनामक शस्त्र, विस्रावणकर्म में पत्रिकाशस्त्र एवं शल्य को ढूंढ़ने (एषणीकर्म) में एषणीशस्त्र का उपयोग प्रशस्त कहा है।

शल्याहरण विधि

आहार्येषु विचार्य यंत्रितनरस्याहारयेच्छल्यमा-।
लोक्यं कंकमुखादिभिस्त्वविदितं शल्यं समाज्ञापय॥

हस्त्यश्वोष्ट्ररथादिवाहन - गणानारोप्य संवाहये-।
च्छीघ्रं यत्र रुजा भवेदतितरां तत्रैव शल्यं हरेत्॥ 54॥

भावार्थ : आहरण योग्य अवस्था में, मनुष्य को यंत्रित करते हुए देख कर, कंकमुखादि शस्त्रों से शल्य आदि का आहरण करना चाहिए। अविदित शल्य को (शल्य किस तरह है यह मालूम न हो) इस प्रकार जानना चाहिए। उस मनुष्य को हाथी, घोड़ा, ऊंट, रथ आदि वाहनों पर बैठा कर शीघ्र सवारी कराना चाहिए। चलते समय जहाँ अत्यन्त पीड़ा हो, वहीं पर शल्य है ऐसा समझना चाहिए। बाद में उसे निकालना चाहिए।

सीवन, संधान, उत्पीड़न, रोपण

सूची वा सुविचार्य सीवनविधौ ऋज्वीं सवक्रां तया।
सीवेदूरुशिरः प्रतीतजठरे संभूय भूरिव्रणे।
संधानौषधसाधितैर्घृतवरैस्संलिप्य सन्धाय सं-।
पीड्योत्पीडनभेषजैरपि बहिः संरोपणैः रोपयेत्॥ 55॥

भावार्थ : सीवनकर्म उपस्थित होने पर सीधी वा टेढ़ी सुई से सीना चाहिए। ऊरुशिर व जठर में बहुत व्रण हो जाने पर, संधानकारक (जोड़ने वाले) औषधियों से, साधित श्रेष्ठघृत से लेपन कर, संधान (जोड़ना) करके एवं पीड़न औषधियों से पीड़न करके और रोपन औषधियों से रोपण (भरना) करना चाहिए।

शस्त्रकर्म विधि

छेद्यादिष्वपि चाष्टकर्मसु यदा यत्कर्मकर्तुर्भिषक्।
वांछन् भेषजयंत्रशस्त्रगृहशीतोष्णोदकाग्न्यदिकान्॥
स्निग्धान्सत्परिचारकानपि तदा संयोज्य संपूर्णतां।
ज्ञात्वा योग्यमपीह भोजनमपि प्राग्भोजयेदातुरम्॥ 56॥

भावार्थ : छेद्य-भेद्य आदि अष्ट प्रकार के शस्त्रकर्मों में कोई भी कर्म करने के लिए जब वैद्य को मौका आवे सबसे पहले उसके योग्य औषधि, शस्त्र, यंत्र गृह (operation room) ठण्डा व गरम पानी, अग्नि आदि सामग्री व प्रेमस्नेह सहित मृदुस्वभावी परिचारकों को सब एकत्रित कर लेना चाहिए एवं सर्व सामग्री पूर्णरूपेण एकत्रित होने पर, रोगी को योग्य भोजन कराना चाहिए।

अर्श विदारण

तत्राभुक्तवतां मुखामयगणैर्मूढोरु गर्भोदरेऽ-।
श्मर्यामप्यतियत्नतो भिषगिह प्रख्यातशस्त्रक्रियां॥
कुर्यादाशु तथाश्मरीमिहगुदद्वाराद्बहिर्वामतः।
छित्वार्शं विधियंत्रितस्य शबरैः संहारयेद्वारिभिः॥ 57॥

भावार्थ : मुखरोग, मूढ़गर्भ, उदररोग व अश्मरी रोग से पीड़ित रोगी पर शस्त्रकर्म करना हो तो उसे भोजन खिलाये बिना ही बहुत यत्न के साथ करना चाहिए। अश्मरी पर शस्त्रक्रिया जल्दी करें। अर्शरोग में रोगी को विधि प्रकार यंत्रित करके गुदाद्वार के बाहर बायें तरफ शस्त्र से विदारण कर अर्श का नाश करें एवं उस पर जल का सेचन करें।

शिराव्यध विधि

स्निग्धस्विन्नमिहातुरं सुविहितं योग्यक्रियायंत्रितम्।
ज्ञात्वा तस्य सिरां तदा तदुचितं शस्त्रं गृहीत्वा स्फुटम्॥
विध्वासृक्परिमोक्ष [1]येदतितरां धारानिपातक्रमात्।
अल्पं यत्रमपोह्य बंधनबलात्संस्तंभयेच्छोणितम्॥ 58॥

भावार्थ : पहले शिराव्यध से रक्त निकालने योग्य रोगी को, अच्छी तरह स्नेहन, स्वेदन कराकर, योग्य रीति से यंत्रित कर (बाँधकर) उसकी व्यधन योग्य शिरा का ज्ञान कर अर्थात् शिरा को अच्छी तरह देख कर व हाथ से पकड़कर, पश्चात् उचित शस्त्र को लेकर स्फुटरूप से व्यधन करके दुष्ट रक्त को अच्छी तरह निकालना चाहिए। अच्छी तरह व्यधन होने से, रक्त धारापूर्वक बहता है। रक्त निकलते-निकलते जब शरीर में दुष्टरक्त थोड़ा अवशेष रह जाये तो यंत्रण को हटाकर शिरा को बाँध कर, रक्त को रोक देवें।

अधिक रक्तस्राव से हानि

दोषैर्दुष्टमपीह शोणितमलं नैवातिसंशोधये-।
च्छेषं संशमनैः जयेदतितरां रक्तं सिरानिर्गतम्॥
कुर्याद्वातरुजं क्षयश्वसनसत्कासाद्यहिक्कादिकान्।
पाण्डून्मादशिरोभितापमचिरान्मृत्युं समापादयेत्॥ 59॥

भावार्थ : दोषों से दूषितरक्त को भी अत्यधिक प्रमाण में नहीं निकालना चाहिए। क्योंकि यदि शिरा द्वारा अत्यधिक रक्त निकाल दिया जाये तो बात व्याधि, क्षय, श्वास, खांसी, हिचकी, पांडुरोग, उन्माद (पागलपना) शिर में संताप आदि रोग उत्पन्न होते हैं एवं उससे शीघ्र मरण भी हो जाता है। शरीरस्थ शेष दूषित रक्त को संशमन औषधियों द्वारा शमन करना चाहिए।

रक्त की अति प्रवृत्ति होने पर उपाय

रक्तेऽतिप्रसृतक्षणे ह्युपशमं कृत्वा तु गव्यं तदा।
क्षीरं तच्छृतशीतलं प्रतिदिनं तत्पाययेदातुरम्॥
ज्ञात्वोपद्रवकानपि प्रशमयन्नल्पं हि तं शीतल-।
द्रव्यैस्सिद्धमिहोष्णशीतशमनं संदीपनं भोजयेत्॥ 60॥

1. वापयेत् इति पाठांतरं।

भावार्थ : रक्त का अधिक स्राव होने पर शीघ्र ही उपशमन विधि (रक्त को रोक) करके उस रोगी को, उस समय व प्रतिदिन, गरम करके ठंडे किए हुए गाय के दूध को पिलाना चाहिए। यदि कोई उपद्रव (पूर्वोक्त रोग से कोई रोग) उपस्थित हों तो, उसका निश्चय कर उपशमन विधान से शमन करते हुए, उसे अल्प शीतल द्रव्यों से सिद्ध, उष्ण व शीत को शमन करने वाले और अग्निदीपक, आहार को खिलाना चाहिए।

शुद्धरक्त का लक्षण व अशुद्ध रक्त के निकालने का फल

रक्तं जीव इति प्रसन्नमुदितं देहस्य मूलं सदा-।
धारं सोज्वलवर्णपुष्टिजननं शिष्टो भिषग्रक्षयेत्॥
दुष्टं सत्क्रमवेदिनात्वपहृतं कुर्यात्प्रशांतिं रुजा-।
मारोग्यं लघुतां तनोश्च मनसः सौम्यं दृढ़ात्मेंद्रियम्॥ 61॥

भावार्थ : शुद्ध रक्त शरीर का जीव ही है ऐसा तज्ज्ञ ऋषियों ने कहा है। वह शरीर स्थिति का मूल है। उसका सदा आधारभूत है एवं उज्ज्वल वर्ण व पुष्टिकारक है। सज्जन वैद्य, ऐसे रक्त की हमेशा रक्षा करें। शिराव्यध आदि से रक्त निकालने के विधान को जानने वाला विज्ञ वैद्य द्वारा, दूषित रक्त ठीक तरह से निकाला जाये तो रोग की शांति होती है। शरीर में आरोग्य, लघुता (हल्कापन) उत्पन्न होती है। मन में शांति का संचार होता है। आत्मा और इन्द्रिय मजबूत होते हैं।

वातादि से दुष्ट व शुद्ध शोणित का लक्षण

वातेनात्यसितं सफेनमरुणं स्वच्छं सुशीघ्रागमं।
दुष्टं स्याद्रुधिरं स्वपित्तकुपितं नीलातिपीतासितम्॥
विस्रं नेष्टमशेषकीटमशकैस्तन्मक्षिकाभिस्सदा।
श्लेष्मोद्रेककलंकितं तु बहलं चात्यंतमापिच्छिलम्॥ 62॥
मांसाभासमपि क्षणादतिचिरादागच्छति श्लेष्मणा।
शीतं गैरिकसप्रभं च सहजं स्यादिंद्रगोपोपमम्॥
तच्चात्यंतमसंहतं ह्यविरलं वैवर्णहीनं सदा।
दृष्ट्वा जीवमयं च शोणितमलं संरक्षयेदक्षयम्॥ 63॥

भावार्थ : वात से दूषित रक्त अतिकृष्ण, फेन (झाग) युक्त, स्वच्छ शीघ्र बाहर आने वाला (शीघ्र बहने वाला) होता है। पित्त से दूषित रक्त, नीला, अत्यन्त पीला अथवा काला, दुर्गंधयुक्त, (आमगंधि) होता है एवं वह सर्वप्रकार के कीट, मशक व मक्खियों के लिए अनिष्ट होता है (जिससे कीट आदि, उस रक्त पर बैठते नहीं, पीते नहीं) कफ से दूषित शोणित, गाढ़ा, पिच्छिल, मांसपेशी के सदृश वर्ण वाला बहुत देर से स्राव होने वाला शीत और गेरु (गेरु के पानी) के सदृश वर्ण वाला अर्थात्

सफेद मिला हुआ लाल वर्ण का होता है। प्रकृतिस्थ रक्त, इंद्रगोप के समान लाल, न अधिक गाढ़ा न पतला व विवर्ण रहित होता है। ऐसे जीवमय रक्त (जीवशोणित) को देखकर हमेशा रक्षण करना चाहिए अर्थात् क्षय नहीं होने देना चाहिए।

शिराव्यध का अवस्था विशेष

विस्राव्यं नैव शीते न च चटुलकठोरातपे नातितप्ते-।
नास्विन्ने स्निग्धरूक्षे न च बहुविरसाहारमाहारिते वा॥
नाभुक्ते भुक्तमंतं द्रवतरमशनं स्वल्पमत्यंतशीतं।
शीतं तोयं च पीतं रुधिरमपहरेत्तस्य तं तद्विदित्वा॥64॥

भावार्थ : अत्यधिक शीत व उष्ण काल में, रोगी भयंकर धूप से तप्तायमान हो रहा हो, जिस पर स्वेदनकर्म नहीं किया हो अथवा अधिक पसीना निकाला गया हो जो अधिक स्निग्ध व अधिक रुक्ष से युक्त हो, जिसने बहुत विरस आहार को भोजन कर लिया हो एवं जिसने बिल्कुल भोजन ही नहीं किया हो ऐसी हालतों में शिराव्यध कर के रक्तस्रावण नहीं कराना चाहिए। जिसने द्रवतर पदार्थों को भोजन में लिया हो एवं अत्यन्त शीत व थोड़ा भोजन किया हो, साथ ही ठण्डे जल को पीया हो, ऐसे मनुष्य को जानकर रक्तस्रावण कराना चाहिए, अर्थात् शिराव्यध करना चाहिए।

शिराव्यध के अयोग्य व्यक्ति

वर्ज्यास्तेऽसृक्प्रमोक्षैः श्वसनकसनशोषज्वराध्वश्रमार्ताः।
क्षीणाः रूक्षाः क्षतांगाः स्थविरशिशुक्षयव्याकुलाः शुद्धदेहाः॥
स्त्रीव्यापारोपवासैः क्षपिततनुलताक्षेपकैः पक्षघातैः।
गर्भिण्यः क्षीणरेतो गरयुतमनुजा अत्यये स्रावयेत्तान्॥ 65॥

भावार्थ : जो मनुष्य श्वास, कास, शोष, ज्वर और मार्गश्रम से युक्त हैं एवं शरीर से क्षीण हैं, रूक्ष हैं, जखम से युक्त अंग वाले हैं, अत्यन्त बूढ़े हैं, बालक हैं व क्षय रोग से पीड़ित हैं, वमन विरेचनादि से जिनके शरीर को शुद्ध किया गया है,अति मैथुन व उपवास से जिनका शरीर क्षीण वा खराब हो गया है, आक्षेपक व पक्षाघात व्याधि से पीड़ित है, गर्भिणी हैं, जिनका शुक्र धातु क्षीण हो गया है जो कृत्रिम विष से पीड़ित हैं, ऐसे मनुष्यों को शिराव्यध कर के रक्त नहीं निकालना चाहिए। अर्थात् उपरोक्त मनुष्य शिराव्यध के अयोग्य हैं। उपरोक्त शिराव्यधन के अयोग्य मनुष्य भी यदि शिराव्यध से साध्य होने वाले कोई प्राणनाशक व्याधि से पीडित हों, तो उनका उस अवस्था में रक्त निकालना चाहिए।

अंतिम कथन

इति जिनवक्त्रनिर्गतसुशास्त्रमहांबुनिधेः। सकलपदार्थविस्तृततरंगकुलाकुलतः॥
उभयभवार्थसाधनतटद्वयभासुरतो। निसृतमिदं हि शीकरनिभं जगदेकहितम्॥66॥

भावार्थ : जिसमें संपूर्ण द्रव्य, तत्त्व व पदार्थरूपी तरंग उठ रहे हैं, इह लोक परलोक के लिए प्रयोजनीभूत साधनरूपी जिसके दो सुंदर तट हैं, ऐसे श्रीजिनेन्द्र के मुख से उत्पन्न शास्त्रसमुद्र से निकली हुई बूँद के समान यह शास्त्र है। साथ में जगत् का एक मात्र हितसाधक है (इसलिए इसका नाम कल्याणकारक है)।

इत्युग्रादित्याचार्यविरचिते कल्याणकारके उत्तरतंत्राधिकारेकर्मचिकित्सितं नाम प्रथम आदित एकविंशोऽध्यायः।

इत्युग्रादित्याचार्यकृत कल्याणकारक ग्रन्थ के चिकित्साधिकार में विद्यावाचस्पतीत्युपाधिविभूषित **वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री** द्वारा लिखित **भावार्थदीपिका टीका** में कर्मचिकित्साधिकार नामक उत्तरतंत्र में प्रथम व आदि से **इक्कीसवां परिच्छेद** समाप्त हुआ।

अथ द्वाविंशः परिच्छेदः

मंगलाचरण व प्रतिज्ञा

जिनेश्वरं विश्वजनार्चितं विभुं प्रणम्य सर्वौषधकर्मनिर्मित-।

प्रतीतदुर्व्यापदभेदभेषजप्रधानसिद्धान्तविधिर्विधास्यते॥ 1॥

भावार्थ : लोक के समस्त जनों के द्वारा पूजित विभु, ऐसे श्री जिनेन्द्र भगवान् को नमस्कार कर, स्नेहन स्वेदन वमनादि कर्मों के प्रयोग ठीक-ठीक यथावत् न होने से जो प्रसिद्ध व दुष्ट आपत्तियाँ (रोग) उत्पन्न होती हैं, उनको उनके भेद और प्रतीकार विधान के साथ शास्त्रोक्त मार्ग से इस प्रकरण में प्रतिपादन करेंगे।

स्नेहनादि कर्म यथावत् न होने से रोगों की उत्पत्ति

अथाज्यपानाद्यखिलौषधक्रियाक्रमेषु रोगाः प्रभवंति देहिनाम्।

भिषग्विशेषाहितमोहतोऽपि वा तथातुरानात्मतया[1]-पचारतः॥2॥

भावार्थ : स्नेहनस्वेदनादि सम्पूर्ण कर्मों के प्रयोगकाल में वैद्य के अज्ञान से प्रयुक्त क्रिया के प्रयोग यथावत् न होने के कारण, अथवा अक्रम प्रवृत्त होने के कारण अथवा रोगी के असंयम व अपथ्य आहार-विहार के कारण मनुष्यों के शरीर में अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं।

घृतपान का योग, अयोगादि के फल

घृतस्य पानं पुरुषस्य सर्वदा रसायनं साधुनियोजितं भवेत्।

तदेव दोषावहकारणं नृणामयोगतो वाप्यथवातियोगतः॥ 3॥

भावार्थ : यदि घृत पान का योग सम्यक् हो जाये, तो वह रसायन हो जाता है। लेकिन उसका अयोग वा अतियोग होवें तो वही, मनुष्यों के शरीर में अनेक दोषों (रोग) की उत्पत्ति में कारण बन जाता है।

---

1. ग्रंथ में यहाँ पर 'अनात्मया' यही पाठ है, उसके अनुसार ही अनात्मव्यवहार अर्थात् असंयम यह अर्थ लिखा गया है। परंतु यहाँ पर 'आतुराज्ञानतया' यह पाठ अधिक अच्छा मालूम होता है अर्थात् रोगी को औषध सेवन पथ्य प्रयोगादि में अज्ञान (प्रमाद) होने से भी अनेक रोग उत्पन्न होते हैं।

घृत के अजीर्ण जन्य रोग व उसकी चिकित्सा

घृतेप्यजीर्णे प्रभवंत्यरोचकज्वरप्रमेहोन्मदकुष्ठमूर्च्छनाः।

अतः पिबेदुष्णजलं ससैंधवं सुखांभसा वाप्यथ वामयेद्भिषक् ॥ 4 ॥

भावार्थ : पिया हुआ घृत यदि जीर्ण न हुआ तो वह अरोचक, ज्वर, प्रमेह, उन्माद, कुष्ट और मूर्च्छा को उत्पन्न करता है। उस अवस्था में उष्णजल में सैंधानमक मिलाकर उसे पिलाना चाहिए या सुखोष्णजल से उस रोगी को वमन कराना चाहिए।

जीर्ण घृत का लक्षण

यदा शरीरं लघुचान्नकांक्षिणं मनोवचो मूत्रपुरीषमारुतः।

प्रवृत्तिरुद्गारविशुद्धिरिंद्रियप्रसन्नता ह्युज्वलजीर्णलक्षणम् ॥ 5 ॥

भावार्थ : घृत पान करने पर जब शरीर हल्का हो, अन्न की इच्छा उत्पन्न हो, मन प्रसन्न हो, वचन, मूत्र, मल, वायु की प्रवृत्ति ठीक तरह से हो, डकार में अजीर्णांश व्यक्त न हो (साफ डकार आती हो) इंद्रियों में प्रसन्नता व्यक्त हो, तब वह घृत जीर्ण हुआ ऐसा समझना चाहिए।

घृत जीर्ण होने पर आहार

ततश्च कुस्तुंबुरुनिंबसाधितं पिबेद्यवागूमथवानुदोषतः।

कुलत्थमुद्गाढकयूषसत्खलैर्लघूष्णमन्नं वितरेद्यथोचितम् ॥ 6 ॥

भावार्थ : पिया हुआ घृत पच जाने पर धनिया व निंब से सिद्ध यवागू पिलाना चाहिए। अथवा दोष के अनुसार औषधसाधित यवागू अथवा कुलथी, मूंग, अरहर का यूष व योग्य खल के साथ लघु व उष्ण अन्न को यथा योग्य खिलाना चाहिए।

स्नेह पान विधि व मर्यादा

स्वयं नरस्नेहनतत्परो घृतं तिलोद्भवं वा क्रमवर्द्धितं पिबेत्।

त्रिपंचसप्ताहमिह प्रयत्नतः ततस्तु सात्म्यं प्रभवेन्निषेवितम् ॥ 7 ॥

भावार्थ : स्नेहनक्रिया में तत्पर मनुष्य अपने शरीर को स्निग्ध (चिकना) बनाने के लिए घी अथवा तिल के तेल को क्रमशः प्रमाण बढ़ाते हुए, तीन दिन, पाँच दिन या सात दिन तक पीवें। इसके बाद सेवन करें तो वह सात्म्य (प्रकृति के अनुकूल) हो जाता है। इसलिए सात दिन के बाद न पीवें।

वातादि दोषों में घृत पानविधि

पिबेद्घृतं शर्करया च पैत्तिके ससैंधवं सोष्णजलं च वातिके।

कटुत्रिकक्षारयुतं कफात्मिके क्रमेण रोगे प्रभवंति तद्विदः ॥ 8 ॥

भावार्थ : पित्त दोषोत्पन्न रोगों में घृत को शक्कर के साथ मिला कर पीना चाहिए। वातज रोगों में सैंधानमक व गरम पानी के साथ पीना चाहिए। कफज रोगों में त्रिकटु व क्षार मिला कर पीना चाहिए ऐसा तज्ज्ञ लोगों का मत है।

अच्छपान के योग्य रोगी व गुण

नरो यदि क्लेशपरो बलाधिकः स्थिरस्स्वयं स्नेहपरोऽतिशीतले।

पिबेदृतौ केवलमेव तद्घृतं सदाच्छपानं हि हितं हितैषिणाम्॥ 9॥

भावार्थ : जो मनुष्य बलवान् है, स्थिर है, परन्तु दुःख से युक्त हैं, यदि वह स्नेहन क्रिया करना चाहता है तो शीत ऋतु (हेमंत शिशिर) में वह केवल (अकेला) घृत को ही पीवें। यह बात ध्यान में रहे कि अच्छ (अकेला ही शक्कर आदि न मिला कर) घृत के पीने में ही उसको हित है अर्थात् वह विशेष गुणदायक होता है।

घृतपान की मात्रा

कियत्प्रमाणं परिमाणमेति तद्धृतं तु पीतं दिवसस्य मध्यतः।

मदक्लमग्लानिविदाहमूर्च्छनात्यरोचकाभावत एव शोभनम्॥ 10॥

भावार्थ : पीये हुए घृत की जितनी मात्रा (प्रमाण) मध्याह्नकाल (दोपहर) तक मद, क्लम, ग्लानि, दाह, मूर्च्छा व अरुचि को उत्पन्न न करते हुए अच्छी तरह पच जावे, उतना ही घृत पीने का प्रशस्त प्रमाण समझना चाहिए। (यह प्रमाण मध्यम दोष वालों को श्रेष्ठ माना है)।

सभक्तघृतपान

मृदुं शिशु स्थूलमतीवदुर्बलं पिपासुमाज्यद्विषमत्यरोचकम्।

सुदाहदेहं सुविधानतादृशं सभक्तमेवात्र घृतं प्रपाययेत्॥ 11॥

भावार्थ : बालक, मृदु प्रकृति वाले, स्थूल, अत्यन्त दुर्बल, प्यासे, घी पीने में नफरत करने वाले, अरोचकता से युक्त, दाह सहित देह वाले एवं इन सदृश रोगियों को भोजन के साथ ही घृत पिलाना चाहिए अर्थात् अकेला घी न पिलाकर, भोजन (भात, रोटी आदि) में मिलाकर देना चाहिए।

सद्य स्नेहन प्रयोग

सपिप्पलीसैंधवमस्तुकान्वितं घृतं पिबेद्रौक्ष्यनिवारणं परम्।

सशर्कराज्यं पयसैव वा सुखम् पयो यवागूमथवाल्पतण्डुलाम्॥ 12॥

सितासिताज्यैः परिदुह्य दोहनं प्रपाय रौक्ष्यात्परिमुच्यते नरः।

कुलत्थकोलाम्लपयोदधिद्रवैः विपक्वमप्याशु घृतं घृतोत्तमम्॥ 13॥

भावार्थ : पीपल, सैंधानमक, दही का तोड़, इनको एक साथ घृत में मिलाकर पीने से शीघ्र ही रूक्ष का नाश होता है। अर्थात् सद्य ही स्नेहन होता है। शक्कर मिले हुए घी को दूध के साथ पीने से एवं दूध से साधित यवागू जिसमें थोड़ा चावल पड़ा है, उस घृत में मिलाकर पान करने पर सद्य ही स्नेहन होता है। शक्कर मिले हुए घृत को एक दोहनी में डालकर, उसमें उस समय दुहे (निकाला) हुए गाय के दूध (धारोष्ण गोदुग्ध) को मिलाकर रूक्ष मनुष्य पीवें, तो तत्काल ही उस का रूक्षत्व नष्ट हो कर स्नेहन हो जाता है। इसी प्रकार कुलथी वेर इनके क्वाथ व दूध दही, इनसे साधित उत्तम घृत को पीने से भी शीघ्र स्नेहन होता है।

स्नेहन योग्य रोगी

नृपेषु[1] वृद्धेष्वबलाबलेषु च प्रभूततापाग्निषु चाल्पदोषिषु।
भिषग्विदध्यादिह संप्रकीर्तितान् क्षणादपि स्नेहनयोगसत्तमान्॥ 14॥

भावार्थ : जो राजा हैं, वृद्ध हैं, स्त्री हैं, दुर्बल हैं, अधिकसंताप, मृदु अग्नि व अल्पदोषों से संयुक्त हैं, उनके प्रति, पूर्वोक्त स्नेहन करने वाले उत्तमयोगों को वैद्य (स्नेहन करने के लिए) उपयोग में लावें।

रूक्ष मनुष्य का लक्षण

पुरीषमत्यंतनिरूक्षितं घनं निरेति कृच्छ्रान्न च भुक्तमप्यलम्।
विपाकमायाति विदह्यते ह्युरो विवर्णगात्रेऽनिलपूरितोदरः॥ 15॥
सुदुर्बलस्स्यादतिदुर्बलाग्निमान्विरूक्षितांगो भवतीह मानवः।
ततः परं स्निग्धतनोस्सुलक्षणम् ब्रवीमि संक्षेपत एव तण्छृणु॥ 16॥

भावार्थ : रूक्ष मनुष्य का मल अत्यन्त रूक्षित व घन (घट्ट) हो कर बहुत मुश्किल से बाहर आता है। खाया हुआ आहार अच्छी तरह नहीं पचता है। छाती में दाह होता है। शरीर विकृत वर्ण युक्त होता है, उदर में पवन भरा रहता है। वह दुर्बल होता है, उसकी अग्नि अत्यन्त मंद होती है। अर्थात् ये रूक्ष शरीर वाले के लक्षण हैं। इसके अनंतर सम्यक् स्निग्ध (चिकना) शरीर के लक्षणों को संक्षेप में कहेंगे। उस को सुनो।

सम्यग्स्निग्ध के लक्षण

अवश्यसस्नेहमलप्रवर्तनं घृतेतिविद्वेष इहांगसादनम्।
भवेच्च सुनिग्धविशेषलक्षणम् तथाधिकस्नेहनलक्षणं ब्रुवे॥ 17॥

1. वृषेषु इति पाठांतरं। इसका अर्थ जो धर्मात्मा हैं अर्थात् शांत स्वभाव वाले हैं, ऐसा होगा परंतु प्रकरण में नृपेषु यह पाठ संगत मालूम होता है।

भावार्थ : अवश्य ही स्नेह युक्त मल का विसर्जन होना, घृतपान व खाने में द्वेष व अंगों में ग्लानि होना, यह सम्यक् स्निग्ध के लक्षण हैं। अब अधिक स्निग्ध का लक्षण कहेंगे।

अति स्निग्ध के लक्षण

गुदे विदाहोऽतिमलप्रवृत्तिरप्यरोचकैर्ह्याननत कफोद्गमः।
प्रवाहिकात्यंगविदाहमोहनं भवेदतिस्निग्धनरस्य लक्षणम्॥ 18॥

भावार्थ : गुद स्थान में दाह, अत्यधिक मल विसर्जन, (अतिसार) अरोचकता, मुख से कफ का निकलना, प्रवाहिका, अंगदाह व मूर्च्छा होना, यह अतिस्निग्ध के लक्षण हैं।

अतिस्निग्ध की चिकित्सा

सनागरं सोष्णजलं पिबेदसौ समुद्गयूषौदनमाशु दापयेत्।
सहाजमोदाग्निकसैंधवान्वितामलां यवागूमथवा प्रयोजयेत् ॥ 19॥

भावार्थ : उस अति स्निग्ध शरीर वाले रोगी को उससे उत्पन्न कष्ट को निवारण करने के लिए सौंठ को गरम पानी में मिला कर पिलावें एवं मूंग के यूष (दाल) के साथ शीघ्र भात खिलाना चाहिए। अथवा अजमोद, चित्रक व सैंधानमक से मिश्रित यवागू देनी चाहिए।

घृत (स्नेह) पान में पथ्य

घृतं मनोहारि रसायनं नृणामिति प्रयत्नादिह तत्पिबंति ये।
सदैव तेषामहिमोदकं हितम् हिता यवागूरहिमाल्पतण्डुला॥ 20॥

भावार्थ : मनुष्यों के लिए घृत रसायन है। ऐसे मनोहर घृत को जो लोग प्रयत्नपूर्वक पीते हैं, उनको हमेशा गरम पानी का पीना हितकर होता है एवं थोड़े चावलों से बनाई हुई, गरम (उष्ण) यवागू भी हितकर है अर्थात् ये दोनों उनके लिए पथ्य हैं।

स्वेदविधि वर्णन प्रतिज्ञा

स्नेहोद्भवामयगणानुपशम्य यत्नात्।
स्वेदोद्भवामययुतं विधिरुच्यतेऽतः॥
स्वेदो नृणां हिततमो भुवि सर्वथेति।
संयोजयत्यपि च तत्र भवंति रोगाः॥ 21॥

भावार्थ : स्नेह के अतियोग आदि से उत्पन्न रोगों को उपशमन करने वाली चिकित्सा को प्रयत्न पूर्वक कह कर, यहाँ से आगे स्वेदविधि व उसके बराबर प्रयुक्त न होने से उत्पन्न रोग व उनकी चिकित्सा का वर्णन करेंगे। लोक में रोगाक्रान्त मानवों के लिए, स्वेद प्रायः सर्वथा हितकर है। परन्तु उसकी योजना यदि यथावत् न हो सकी तो उससे भी बहुत से रोग उत्पन्न होते हैं।

स्वेद का योग व अतियोग का फल

सम्यक्प्रयोगवशतो बहवो हि रोगाः शाम्यंति योग इह चाप्यतियोगतो वा।

नानाविधामयगणा प्रभवंति तस्मात् स्वेदावधारणमरं प्रतिवैद्यतेऽत्र ॥ 22 ॥

भावार्थ : स्वेदन प्रयोग को यदि ठीक तरह से उपयोग किया जाये तो अनेक रोग उससे नष्ट होते हैं या शमन होते हैं। इसे ही योग कहते हैं। यदि उसका अतियोग हो जाये तो अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं। इसलिए स्वदेन योग की योग्य विधि को अब कहेंगे।

स्वेद का भेद व ताप, उष्म स्वेद लक्षण

तापोष्मबंधनमहाद्रवभेदतस्तु स्वेदश्चतुर्विध इति प्रतिप्रादितोऽसौ।

वस्त्राग्निपाणितलतापनमेव तापः सोष्णेष्टकोपलकुधान्यगणैस्तथोष्मा ॥ 23 ॥

भावार्थ : वह स्वेद, 1. तापस्वेद, 2. उष्णस्वेद, 3. बंधनस्वेद (उपनाहस्वेद), 4. द्रव-स्वेद, इस प्रकार चार भेद से विभक्त है। वस्त्र हथैली इत्यादि को गरम कर (लेटे हुए मनुष्य के अंग को) सेकने को या अंगार से सेंकने को 'तापस्वेद' कहते हैं। ईंट, पत्थर, कुधान्य इत्यादि को गरम करके उस पर कांजी आदि द्रव छिड़ककर, गीले कपड़े से ढके हुए रोगी के शरीर को सेकने को उष्मस्वेद[1] कहते हैं।

बंधन, द्रव, स्वेदन लक्षण

उष्णौषधैरपि विपाचितपायसाद्यैः पत्रांबरावरणकैरिह बंधनाख्यः।

सौवीरकांबुघृततैलपयोभिरुष्णैः स्वेदो भवेदतितरां द्रवनामधेयः ॥ 24 ॥

भावार्थ : उष्ण औषधियों के द्वारा पकाये हुए पायस (पुल्टिश बाँधने योग्य) को पत्ते, कपड़े आदि से ढककर बाँधने को बंधन (उपनहन) स्वेद कहते हैं। कांजी, पानी, घृत, तेल व दूध को गरम कर कड़ाही आदि बड़े पात्र में भरकर उस में रोगी को बिठाल स्नान कराकर स्वेद लाने की विधि को 'द्रवस्वेद' कहते हैं।

चतुर्विध स्वेद का उपयोग

आद्यौ कफप्रशमनावनिलप्रणाशौ बंधद्रवप्रतपनं बहुरक्तपित्त-।

व्यामिश्रिते मरुति चापि कफे हितं तत् सस्नेहदेहहितकृद्वृहतीह रूक्षम् ॥ 25 ॥

भावार्थ : आदि के ताप व उष्म नाम के दो स्वेद विशेषतः कफ को नाश वा उपशमन करने वाले हैं। बंधन स्वेद (उपनाह स्वेद) वातनाशक है। द्रवस्वेद, रक्तपित्त मिश्रित, वात वा कफ में हित

1. दूध, दही, कांजी या वायुनाशक औषधों के क्वाथ को घड़े में भरकर, उसे गरम करके उसकी बाफ से जो सेंका जाता है, इसे भी उष्मवेद कहते हैं।

कर है। स्नेहाभ्यक्त शरीर में ही यह स्वेद हितकर होता है अर्थात् तैल आदि चिकने पदार्थों से मालिश करके ही स्वेदन क्रिया करनी चाहिए। वही हितकर भी है। यदि रूक्षशरीर पर स्वेदकर्म प्रयुक्त करें तो वह शरीर को जलाता है।

स्वेद का गुण व सुस्वेद का लक्षण

वातादयस्सततमेव हि धातुसंस्थाः स्नेहप्रयोगवशतः स्वत एव लीनाः।
स्वेदैर्द्रवत्वमुपगम्य यथाक्रमेण स्वस्था भवंत्युदरगास्स्वनिवासनिष्ठाः ॥ 26 ॥

भावार्थ : जो सतत ही धातुओं में रहते हैं एवं स्नेहन प्रयोग द्वारा अपने आप ही स्वस्थान से ऊर्ध्व, अध व तिर्यग्गामी होकर मार्गों में लीन हो गए हैं, वे वातादि दोष योग्य स्वेदन क्रिया द्वारा द्रवता को प्राप्त कर, क्रमशः उदर में पहुँच जाते हैं। (और वमन विरेचन आदि के द्वारा उदर से बाहर निकल कर) स्वस्थ हो जाते हैं और यथास्थान को प्राप्त करते हैं।

स्वेद गुण

स्वेदैरिहाग्निरभिवृद्धिमुपैति नित्यं स्वेदः कफानिलमहामयनाशहेतुः।
प्रस्वेदमाशु जनयत्यतिरूक्षदेहे शीतर्थितामपि च साधुनियोजितोऽसौ ॥27 ॥

भावार्थ : स्वेदनप्रयोग से शरीर में सदा अग्नि की वृद्धि होती है। स्वेदन योग कफ व वातजन्य महारोगों को नाश करने के लिए कारण हैं। अर्थात् नाश करता है। योग्य प्रकार से प्रयुक्त यह स्वेदन योग से (स्वेदनकर्म का सुयोग होने पर) शीघ्र ही शरीर में अच्छी तरह पसीना आता है और रोगी को शीत पदार्थों के सेवन आदि की इच्छा उत्पन्न होती है।

स्वेद के अतियोग का लक्षण

स्वेदःप्रकोपयति पित्तमसृक्च साक्षाद्विस्फोटनभ्रममदज्वरदाहमूर्च्छाः।
क्षिप्रं समावहति तीव्रतरः प्रयुक्तः तत्रातिशीतलविधिं विदधीत धीमान् ॥ 28 ॥

भावार्थ : स्वेदन प्रयोग तीव्र हो जाये (अधिक पसीना निकाल दिया जाये) तो वह पित्त व रक्त का प्रकोप करता है एवं शरीर में शीघ्र स्फोट (फफोले) भ्रम, मद, ज्वर, दाह व मूर्च्छा उत्पन्न करता है। उसमें कुशल वैद्य अत्यन्त शीतक्रिया का प्रयोग करें।

स्वेद का गुण

[1]पानातिपातमददाहपरीतदेहं शीतांबुबिंदुभिरजस्रमिहार्दितांगम्।
उष्णांबुना स्नपितमुज्वलितोदराग्निम् संभोजयेदगुरुमग्निकरं द्रवान्नम् ॥ 29 ॥

1. दो तीन प्रतियों में भी यही पाठ मिलता है। परंतु यह प्रकरण से कुछ विसंगत मालूम होता है। यहाँ पर स्वेदकर्म का प्रकरण है, इसीलिए यहाँ पर प्राणातिपात यह पाठ अधिक संगत मालूम होता है। अर्थात् स्वेदकर्म में अतियोग से उत्पन्न ऊपर के श्लोक में कथित रोगों की प्राणातिपात अवस्था में क्या करें। इसका इस श्लोक में विधान किया होगा। संभव है कि लेखक के हस्तदोष से यह पाठ भेद हो गया हो।

– संपादक

भावार्थ : जो मद्य के अधिक पान से व्याकुलित है, मद व दाह से व्याप्त है, शीत जलबिंदुओं से हमेशा जिसका शरीर पीड़ित है, ऐसे रोगी को गरम पानी से स्नान कराकर, उसकी बढ़ी हुई अग्नि को देखकर, लघु, अग्निदीपक व द्रवप्राय अन्न को खिलाना चाहिए।

वमन विरेचन विधि वर्णन प्रतिज्ञा

स्वेदक्रियामभिविधाय यथाक्रमेण संशोधनोद्भवमहामयसच्चिकित्सा।

सम्यग्विधानविधिनात्र विधास्यते तत्संबंधिभेषजनिबधंनसिद्धयोगैः ॥ 30 ॥

भावार्थ : स्वेदनक्रिया को यथाक्रम से कहकर अब संशोधन (वमन, विरेचन) के अतियोग व मिथ्यायोग से उत्पन्न महान् रोग, उनकी चिकित्सा और वमन विरेचन के सम्यग्योग की विधि को इनमें प्रयुक्त होने वाले औषधियों के सिद्ध योगों के साथ निरूपण करेंगे।

दोषों के बृंहण आदि चिकित्सा

क्षीणास्तु दोषाः परिबृंहणीयाः सम्यक्प्रशम्याश्चलिताश्च सर्वे।

स्वस्थाः सुरक्ष्याः सततं प्रवृद्धाः सद्यो विशोध्या इति सिद्धसेनैः ॥ 31 ॥

भावार्थ : क्षीण (घटे हुए) वातादि दोषों को बढ़ाना चाहिए। कुपित दोषों को शमन करना चाहिए। स्वस्थ (यथावत् स्थित) दोषों को अच्छी तरह से रक्षण करना चाहिए। अतिवृद्ध (बढ़े हुए) दोषों को तत्काल ही शोधनकर शरीर से निकाल देना चाहिए, ऐसा श्री सिद्धसेन यति का मत है।

संशोधन में वमन व विरेचन की प्रधानता

संशोधने तद्वमनं विरेकः सम्यक्प्रसिद्धाविति साधुसिद्धैः।

सिद्धान्तमार्गाभिहितौ तयोस्तद्वक्ष्यामहे यद्वमनं विशेषात् ॥ 32 ॥

भावार्थ : दोषों के संशोधन कार्य में वमन और विरेचन अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। अर्थात् दोषों को शरीर से निकालने के लिए वमन व विरेचन बहुत ही अच्छे उपाय वा साधन हैं, ऐसा सिद्धान्तशास्त्र में महर्षियों ने कहा है। इन दोनों में प्रथमतः वमन विधि को विशेष रूप से प्रतिपादन करेंगे।

वमन में भोजन विधि

श्वोऽहं यथावद्वमनं करिष्यामीत्थं विचिंत्यैव तथापराण्हे।

संभोजयेदातुरमाशु धीमान् संभोजनीयानपि संप्रवक्ष्ये ॥ 33 ॥

भावार्थ : कुशल वैद्य को उचित है कि यदि उसने दूसरे दिन रोगी के लिए वमन प्रयोग करने का निश्चय किया हो तो पहले दिन शाम को रोगी को अच्छी तरह (अभिष्यंदी व द्रवप्राय आहार से) शीघ्र भोजन कराना चाहिए। किनको अच्छी तरह भोजन कराना चाहिए यह भी आगे कहेंगे।

संभोजनीय अथवा वाम्यरोगी

ये तूत्कटोद्यद्बहुदोषदुष्टास्तीक्ष्णाग्नयः सत्वबलप्रधानाः।

ये ते महाव्याधिगृहीतदेहाः संभोजनीया भुवनप्रवीणैः॥ 34॥

भावार्थ : जो रोगी अत्यन्त उद्रिक्त बहुत दोषों से दूषित हों, जो तीक्ष्ण अग्नि से युक्त हों, जो बलवान् हों, जो महाव्याधि से पीड़ित हों, ऐसे रोगियों को कुशल वैद्य अच्छी तरह भोजन करावें अर्थात् ऐसे रोगी वमन कराने योग्य होते हैं।

वमन का काल व औषध

तत्रापरेद्युः प्रविभज्यकाले साधारणे प्रातरवेक्ष्य मात्राम्।

कल्कैः कषायैरपि चूर्णयोगैः स्नेहादिभिर्वा खलु वामयेत्तान्॥ 35॥

भावार्थ : वैद्य साधारण[1]काल (अधिक शीत व उष्णता से रहित ऐसे प्रावृट् शरद् व वसंतऋतु)में, (वमनार्थ दिए हुए भोजन को) दूसरे दिन प्रातः काल में, वमनकारक औषधियों के कल्क, कषाय, चूर्ण, स्नेह, इत्यादिकों को योग्य प्रमाण में सेवन कराकर वमन योग्य रोगियों को वमन कराना चाहिए।

वमन विरेचन के औषध का स्वरूप

दुर्गंधदुर्दर्शनदुस्स्वरूपैर्बीभत्ससात्म्येतर भेषजैश्च।

संयुक्तयोगान्वमने प्रयुक्तो वैरेचनानत्र मनोहरैस्तु॥ 36॥

भावार्थ : वमन कर्म में दुर्गंध, देखने में असह्य, दुःस्वरूप, बीभत्स (ग्लानिकारक) व अननुकूल (प्रकृति के विरुद्ध) ऐसे स्वरूप युक्त औषधियों का प्रयोग करना चाहिए। विरेचन में तो, वमनौषध के विपरीत स्वरूप युक्त मनोहर सुंदर औषधियों का ही प्रयोग करना चाहिए।

बालकादिक के लिए वमन प्रयोग

बालातिवृद्धौषधभीरु नारी दौर्बल्ययुक्तानपि सद्रवैस्तैः।

क्षीरादिभिर्भेषजमंगलाढ्यम् तान्पाययित्वा परिता पयेत्तान्[1]॥ 37॥

भावार्थ : जो बालक हैं, अतिवृद्ध हैं, औषध लेने में डरने वाले हैं, स्त्रियाँ हैं एवं अत्यन्त दुर्बल हैं, उनको दूध, यवागू, छाछ आदि योग्य द्रवद्रव्यों के साथ मंगलमय, औषध को मिला कर पिलाना चाहिए, पश्चात् (अग्नि से हाथ को तपाकर) उनके शरीर को सेकना चाहिए (और वमन की राह देखनी चाहिए)।

1. यह काल ही वमन के योग्य है।
2. वामयेदिति पाठांतरं।

वमन विधि

हृल्लासलालासृतिमाशु धीमानालोक्य पीठोपरि सन्निविष्टः।

गन्धर्वहस्तोत्पलपत्रवृन्तैर्वेगोद्भवार्थं प्रमृशेत्स्वकण्ठम्॥ 38॥

भावार्थ : जब उस रोगी को (जिसने वमनार्थ औषध पीया है) उवकाई आने लगे, मुँह से लार गिरने लगे, उसे बुद्धिमान वैद्य देख कर, शीघ्र ही (घुटने के बराबर ऊँचा) एक आसन पर बैठाल देवें और वमन के वेग उत्पन्न होने के लिए, एरंडी के पत्ते की डंडी, कमलनाल इनमें से किसी एक से रोगी के कंठ को स्पर्श करना चाहिए अर्थात् गले के अंदर डाल कर गुदगुदी करना चाहिए।

सम्यग्वमन के लक्षण

सोऽयं प्रवृत्तौषधसद्बलासे पित्तेऽनुयाते हृदयोरुकोष्ठे।

शुद्धे लघौ कायमनोविकारे सम्यक्स्थिते श्लेष्मणि सुष्टुवांतः॥39॥

भावार्थ : पूर्वोक्त प्रकार, वमन के औषधि का प्रयोग करने पर, यदि वमन के साथ क्रमशः पीया हुआ औषध, कफ व पित्त निकले, हृदय व उरु कोष्ठ शुद्ध हो जावे शरीर व मनोविकार लघु होवें एवं कफ का निकलना अच्छी तरह बंद हो जावें तो समझना चाहिए कि अच्छी तरह से वमन हो गया है।

वमन पश्चात् कर्म

सनस्यगण्डूषविलोचनांजनद्रवैर्विशोध्याशु शिरोबलासम्।

उष्णांबुभिर्धौतमिहापराण्हे तं भोजयेद्यूषगणैर्यथावत्॥40॥

भावार्थ : इस प्रकार वमन होने पर शीघ्र ही, नस्य, गंडूष, नेत्रांजन (सुरमा) व द्रव आदि के द्वारा शिरोगत कफ का विशोधन करके, उसे गरम पानी से स्नान कराकर, सायंकाल में योग्य यूषों (दाल) से भोजन कराना चाहिए।

वमन का गुण

एवं संशमने कृते कफकृता रोगा विनश्यंति ते।

तन्मूलेऽपहृते कफे जलजसंघाता यथा ह्यंभसि।

याते सेतुविभेदनेन नियतं तद्योगविद्वामये-।

द्वाम्यप्राप्तिनिषेधशास्त्रमखिलं ज्ञात्वा भिषग्भेषजैः॥41॥

भावार्थ : इस प्रकार वमन विधि के द्वारा कफ का नाश होने पर कफकृत अनेक रोग नष्ट होते हैं। जिस प्रकार जल के बंध वगैरह टूटने पर जल का नाश होता है। जल के नाश से वहाँ पर रहने वाला कमल भी नष्ट होता है। क्योंकि वह जल के आधार पर रहता है, मूल आधार का नाश होनेपर वह उत्तर

आधेय नहीं रह सकता है। इसी प्रकार मूल कफ के नाश होने पर तज्जनित रोग भी नष्ट होते हैं। इसलिए योग को जानने वाला विद्वान् वैद्य को उचित है कि वह वमन के योग्य व अयोग्य इत्यादि वमन के समस्त शास्त्रों को जानकर और तत्सम्बन्धी योग्य औषधियों से रोगी को वमन कराना चाहिए।

वमन के बाद विरेचन विधान

वांतस्यैव विरेचनं गुणकरं ज्ञात्वेति संशोधये-।
दूर्ध्वं शुद्धतरस्य शोधनमधः कुर्याद्विषग्नान्यथा।
श्लेष्माधः परिगम्य कुक्षिमखिलं व्याप्याग्निमाच्छादये-।
च्छन्नाग्निं सहसैव रोगनिचयः प्राप्नोति मर्त्यं सदा॥ 42॥

भावार्थ : जिसको वमन कराया गया है, उसी को विरेचन देना विशेष गुणकारी होता है, ऐसा जानकर प्रथमतः ऊर्ध्व संशोधन (वमन) कराना चाहिए। जब इससे शरीर शुद्ध हो जाये, तब अधःशोधन (विरेचन) का प्रयोग करना चाहिए। यदि वमन न कराकर विरेचन दे देवें तो कफ नीचे जाकर सर्व कुक्षिप्रदेश में व्याप्त होकर अग्नि को अच्छादित करता है (ढकता है)। जिसका अग्नि इस प्रकार कफ से आच्छादित होता है उस मनुष्य को शीघ्र ही अनेक प्रकार से रोगसमूह आ घेर लेते हैं।

विरेचन के प्रथम दिन भोजन पान

स्निग्धस्विन्नसुवांतमातुरमरं श्वोऽहं विरेकौषधैः।
सम्यक्तं सुविरेचयाम्यलमिति प्रागेव पूर्वाण्हतः॥
सस्नेहं लघुचोष्णमल्पमशनं संभोजयेदाम्लसं-।
सिद्धोष्णोदकपानमप्यनुगतं दद्यान्मलद्रावकम्॥43॥

भावार्थ : जिसको अच्छी तरह से स्नेहन, स्वेदन व वमन कराया हो ऐसे रोगी को दूसरे दिन यदि वैद्य विरेचन के द्वारा अधःशोधन करना चाहता हो तो पहले दिन प्रातःकाल रोगी को स्निग्ध, लघु, उष्ण व अल्पभोजन द्रव्य के द्वारा भोजन कराना चाहिए एवं पीछे आम्ल औषधियों से सिद्ध मलद्रावक गरम पानी को पिलाना चाहिए अर्थात् अनुपान देना चाहिए।

विरेचक औषधदान विधि

अन्येद्युस्सुविचार्य जीर्णमशनं सूर्ये च निर्लोहिते।
दद्यादौषधमग्निमल्प - परुषव्याधिक्रमालोचनैः॥
कोष्ठः स्यात्त्रिविधो मृदुः कठिन इत्यन्योपि मध्यस्तथा।
पित्तेनातिमरुत्कफेन निखिलैर्दोषैः समैर्मध्यमः॥ 44॥

भावार्थ : दूसरे दिन सूर्योदय के पहले, पहले दिन का अन्न जीर्ण हुआ या नहीं इत्यादि बातों को अच्छी तरह विचार कर साथ में रोगी के अग्निबल व मृदु कठिन आदि व्याधि को क्रम से देखना चाहिए। मृदु कोष्ठ, क्रूर कोष्ठ व मध्यम कोष्ठ के भेद से तीन प्रकार का है। पित्त की अधिकता से मृदु कोष्ठ होता है। वात-कफ की अधिकता से कठिन कोष्ठ होता है। तीनों दोषों के सम रहने से मध्यम कोष्ठ होता है।

विविध कोष्ठों में औषध योजना

मृद्वी स्यादिह सन्मृदावतितरां क्रूरे च तीक्ष्णा मता।
मध्याख्येऽपि तथैव साधुनिपुणैर्मध्या तु मात्रा कृता॥
अप्राप्तं बलतो मलंगमयुतं नेच्छेत्सपित्तौषधम्।
प्राप्तं वापि न वारयेदतितरां वेगं विघातावहम्॥ 45॥

भावार्थ : मृदु कोष्ठ वाले को मृदु मात्रा देनी चाहिए। क्रूर कोष्ठ वाले को तीक्ष्ण (तेज) मात्रा देनी चाहिए। मध्यम कोष्ठ वाले को मध्यम मात्रा देनी चाहिए, ऐसा आयुर्वेद शास्त्र में निपुण पुरुषों ने मात्रा की कल्पना की है। विरेचन के लिए औषध लिए हुए रोगी को दस्त उपस्थित होवे तो उसे नहीं रोकना चाहिए। यदि वेग नहीं भी आवे तो भी प्रवाहण नहीं करना चाहिए।

सम्यग्विरिक्त के लक्षण व पेयपान

यास्यंति क्रमतो मरुज्जलमला पित्तौषधोद्यत्कफाः।
यातेष्वेषु ततोऽनिलानुगमने सम्यग्विरिक्तो भवेत्॥
सोयं शुद्धतनुः श्रमक्लमयुतो लघ्वी तनुं चोद्वहन्।
संतुष्टोऽतिपिपासुरग्निबलवान् क्षीणो यवागूं पिबेत्॥ 46॥

भावार्थ : विरेचक औषधि का सेवन करने पर क्रमशः वात, जल (मूत्र) मल, पित्त, औषध और कफ निकलते हैं। इस प्रकार शरीरस्थ दोष निकल जावे, वायु का अनुलोमन हो जावे तो समझना चाहिए कि अच्छी तरह से विरेचन हो गया है। इस प्रकार जिसका शरीर अच्छी तरह से शुद्ध हो गया है वह श्रम व ग्लानि से युक्त होता है। उसका शरीर हल्का हो जाता है। मन संतुष्ट होता है। प्यास लगती है। अत्यन्त कृश होता है। उसकी अग्निवृद्धि होती है। ये लक्षण प्रकट होवे तो उसे उसी दिन यवागू पिलानी चाहिए।

यवागू पान का निषेध

मंदाग्निर्बलवान्तृषाविरहितो दोषाधिको दुर्विरि-।
क्तो वा तद्दिवसे न चैव निपुणः शक्त्या च युक्त्या पिबेत्॥

वांतस्यापि विरेचितस्य च गुणाः प्रागेव संकीर्तिता।

स्तेषां दोषगुणान्निषेधविधिना बुद्धा विदध्याद्बुधः ॥ 47 ॥

भावार्थ : यदि विरिक्त रोगी को अग्निमंद हो गया हो, बलवान, तृषा रहित हो, अधिक दोषों से युक्त हो, अच्छी तरह विरेचन न हुआ हो तो ऐसी अवस्था में उसे उस दिन यवागू वगैरह पेय पीने को नहीं देना चाहिए। अच्छी तरह वमन हुए मनुष्य व विरेचित मनुष्य का गुण पहले ही कह चुके हैं। विरेचन के सब दोषों का निषेध व गुणों की विधि अच्छी तरह जानकर विद्वान् वैद्य रोगी के लिए उपचार करें।

संशोधन भैषज के गुण

यस्संशोधनभेषजं तदधिकं तैक्ष्णोष्णसौक्ष्म्यात्मकं।

साक्षात्सारतमं विकाशिगुणयुक्श्चोर्ध्वं ह्यधश्शोधय-॥

त्यूर्ध्वं यात्यविपक्वमेव वमनं सम्यग्गुणोद्रेकतः।

पीतं तच्च विपच्यमानमसकृद्यायादधोभागितम्॥ 48 ॥

भावार्थ : जो संशोधन (वमन संशोधन) करने वाला औषध है, वह अत्यन्त तीक्ष्ण, उष्ण, सार (सर) व विकासी गुण युक्त होता है। वे अपने विशिष्ट स्वभाव व गुणों के द्वारा ऊर्ध्व शोधन (वमन) व अधःशोधन (विरेचन) करते हैं। (वमनौषध व विरेचनौषध ये दोनों गुणों में सम होते हुए परस्पर विरुद्ध दो कामों को किस प्रकार करते हैं ? इसका इतना ही उत्तर है कि विरेचनौषध तीक्ष्ण आदि गुणों के द्वारा ही विरेचन करता है। वमन का औषध तो अपने प्रभाव के द्वारा वमन करता है) वमनौषध अपने गुणों के उत्कर्ष से अविपक्व (कच्चा) दोषों को लेकर ऊपर जाता है। विरेचन का औषध पक्व दोषों को लेकर नीचे के भाग (गुदा) में जाता है।

विरेचन के प्रकीर्ण विषय

मंदाग्नेरतितीक्ष्णभेषजमिति स्निग्धस्य कोष्ठे मृदौ।

दत्तं शीघ्रमिति प्रयातमखिलान् दोषान्न संशोधयेत्॥

प्रातः पीतमिहौषधे परिणतं मध्यान्हतः शोधनं।

निश्शेषानतिशोधयेदिति मतं जैनागमे शास्वते॥ 49 ॥

भावार्थ : जिसका अग्निमंद हो (क्रूर कोष्ठ भी हो) स्नेहन करके उसे तीक्ष्ण औषध का प्रयोग करना चाहिए। जिसका कोष्ठ मृदु हो, (अग्नि भी दीप्त हो) उसे यदि तीक्ष्ण विरेचन देवे तो वह शीघ्र दस्त लाकर सम्पूर्ण दोषों को शोधन नहीं कर पाता है। प्रातःकाल पीया हुआ औषध, मध्याह्न काल (दोपहर) तक पचकर सम्पूर्ण दोषों को शोधन कर दें (निकाल दें) तो वह उत्तम माना जाता है। ऐसा

शाश्वत जिनागम का मत है।

दुर्बल आदिकों के विरेचन विधान

अत्यांतोच्छ्रितसंचलानतिमहादोषान् हरेदल्पशः।
क्षीणस्यापि पुनः पुनः प्रचलितामल्पान्प्रशम्याचरेत्॥
दोषान् पक्वतरं चलानिह हरेत् सर्वस्य सर्वात्मना।
ते चाशु क्षपयंति दोषनिचयान्निशेषतोऽनिर्हृताः॥ 50॥

भावार्थ : क्षीण मानव के शरीर में दोष अत्यन्त उद्रिक्त हो व चलित हों तो उनको थोड़ा-थोड़ा व बार-बार निकालना चाहिए। यदि चलित दोष अल्प हों तो उन्हें शमन करना चाहिए। दोष पक्व हों, चलित भी हों तो उन सम्पूर्ण दोषों को सर्वतोभाव से निकाल देना चाहिए (चाहे वह रोगी दुर्बल हो या सबल हो)। यदि ऐसे दोषों को पूर्णरूपेण नहीं निकाला जावें तो वे शीघ्र ही शरीर को नष्ट करते हैं।

अतिस्निग्ध को स्निग्ध रेचन का निषेध

यःस्निग्धोऽतिपिबेद्विरेचनघृतं स्थानच्युताः संचलाः।
दोषाः स्नेहवशात्पुनर्नियमिताः स्वस्था भवंति स्थिराः॥
तस्मात्स्निग्धतरं विरूक्ष्य नितरां सुस्नेहतः शोधये-।
दुद्धूतस्वनिबंधनाच्छिथिलिताः सर्वेऽपि सौख्यावहाः॥ 51॥

भावार्थ : जो अधिक स्नेह पीया हुआ हो वह यदि विरेचन घृत (स्निग्ध विरेचन) पीवें तो उसका (अति स्नेह के द्वारा) स्वस्थान से च्युत व चलायमान हुए दोष इस स्नेह के कारण फिर नियमित, स्वस्थ व स्थिर हो जाते हैं। इसलिए जो अधिक स्नेह (घृत तैलादि चिकना पदार्थ) पिया हो, उसे अच्छी तरह रूक्षित करके, स्नेहन से विरेचन करा देना चाहिए (?) क्योंकि दोषोद्रेक के कारणों को ही शिथिल करना अधिक सुखकारी होता है।

संशोधन सम्बन्धी ज्ञातव्य बातें

एवं कोष्ठविशेषविद्विदितसत्कोष्ठस्य संशोधनं।
दद्याद्दोषहरं तथाह्यविदितस्यालोक्य सौम्यं मृदु॥
यद्यद्दृष्टगुणं यदेव सुखकृद्यच्चाल्पमात्रं महा-।
वीर्यं यच्च मनोहरं यदपि निर्व्यापच्च तद्भेषजम्॥ 52॥

भावार्थ : इस प्रकार कोष्ठविशेषों के स्वरूप को जानने वाला वैद्य जिसके कोष्ठ को अच्छी तरह जान लिया है, उसके दोषों को हरण करने वाले संशोधन का प्रयोग करें एवं जिसके कोष्ठ का

स्वभाव मालूम नहीं है तो उसे सौम्य व मृदु संशोधन औषधि का प्रयोग करें। जिस संशोधन औषधि का गुण (अनेक बार प्रयोग करके) प्रत्यक्ष देखा गया हो, (अजमाया हुआ हो) जो सुखकारक हो (जिस को सुखपूर्वक खा, पीस के-खाने पीने में तकलीफ न हो) जिसकी मात्रा-प्रमाण अल्प हो, जो महान् वीर्यवान व मनोहर हो, जिसके सेवन से आपत्ति व कष्ट कम होते हों ऐसे औषध अत्यन्त श्रेष्ठ हैं (ऐसे ही औषधियों को राजा व तत्समपुरुषों पर प्रयोग करना चाहिए) अर्थात् ऐसे औषध राजाओं के लिए योग्य होते हैं।

संशोधन में पंद्रह प्रकार की व्यापत्ति

प्रोक्ते सद्वमने विरेचनविधौ पंचादशः व्यापदः।
स्युस्तासामिह लक्षणं प्रतिविधानं च प्रवक्ष्यामहे॥
ऊर्ध्वाधोगमनं विरेकवमनव्यापच्च शेषौषधै-।
स्तज्जीर्णौषधतोऽल्पहरणं वातातिशूलोद्भवः॥53॥
जीवादानमयोगामित्यतितरां योगः परिस्राव इ-।
त्यन्या या परिवर्तिका हृदयंसंचारे विबंधस्तथा॥
यच्चाध्मानमतिप्रवाहणमिति व्यापच्च तासां यथा-।
संख्यं लक्षणतच्चिकित्सितमतो वक्ष्यामि संक्षेपतः॥54॥

भावार्थ : वमन, विरेचन के वर्णन प्रकरण में पहले (वैद्य रोगी व परिचारक के प्रमाद अज्ञान आदि के कारण वमन विरेचन के प्रयोग में किसी प्रकार की त्रुटि होने पर) पंद्रह प्रकार की व्यापत्तियाँ उत्पन्न होती हैं, ऐसा कहा है। अब उनके लक्षण व चिकित्सा को कहेंगे। उनमें मुख्यतया पहली व्यापत्ति वमन का नीचे चला जाना, विरेचन का ऊपर आ जाना है। यह इन दोनों की पृथक् -पृथक् व्यापत्ति हैं। (आगे की व्यापत्तियाँ वमन विरेचन इन दोनों के सामान्य हैं अर्थात् जो व्यापत्ति वमन की है, वही विरेचन की भी है।) दूसरी व्यापत्ति औषधियों का शेष रह जाना, 3.औषध का पच जाना, 4. अल्पप्रमाण में दोषों का निकलना, 5. अधिक प्रमाण में दोषों का निकल जाना, 6. वातजशूल उत्पन्न होना, 7. जीवादान (जीवनीय रक्त आदि निकलना), 8. अयोग, 9. अतियोग, 10. परिस्राव, 11. परिवर्तिका, 12. हृदय संचार (हृदयोपसरण), 13. विबंध, 14. आध्मान, 15. अतिप्रवाह (प्रवाहिका), ये पंद्रह व्यापत्तियाँ हैं। यहाँ से आगे इन व्यापत्तियों के, क्रमशः पृथक्-पृथक् लक्षण व चिकित्सा को संक्षेप से कहेंगे।

विरेचनक ऊर्ध्वगमन व उसकी चिकित्सा

यस्यावांतनरस्य चोल्वणकफस्यामांतकस्यातिदु-।
र्गंधाहृद्यमतिप्रभूतमथवा दत्तं विरेकौषधम्॥

ऊर्ध्वं गच्छति दोषवृद्धिरथवाप्यत्युग्ररोगोद्भतिं।

ते वांत परिशोधयेदतितरां तीक्ष्णैर्विरेकौषधैः॥ 55॥

भावार्थ : जिनको वमन नहीं कराया हो, कफ का उद्रेक व आम से संयुक्त हो तो ऐसे मनुष्यों को विरेचन औषध प्रयोग किया जाये तो वह ऊपर जाता है अर्थात् वमन हो जाता है। अथवा विरेचनौषध, अत्यन्त दुर्गंध युक्त व हृदय को अप्रिय हो अथवा औषध प्रमाण में अधिक पिलाया गया हो तो भी वमन हो जाता है। वह ऊपर गया हुआ विरेचन, शरीर में दोषों की वृद्धि करता है, अथवा भयंकर रोगों को उत्पन्न करता है। ऐसा होने पर उसे वमन कराकर अत्यन्त तीक्ष्ण विरेचन औषधियों से फिर से विरेचन कराना चाहिए।

वमन का अधोगमन व उसकी चिकित्सा

यस्यात्यंतबुभुक्षितस्य मृदुकोष्ठस्यातितीक्ष्णानल-

स्यात्यंते वमनौषधं स्थितिमतोपेतं ह्यधो गच्छति॥

तत्रानिष्टफलप्रसिद्धमधिकं दोषोल्वणं ते पुनः।

सुस्नेहोग्रतरौषधैरतितरां भूयस्तथा वामयेत्॥ 56॥

भावार्थ : अधिक क्षुधा से पीड़ित मृदुकोष्ठ व तीक्ष्णाग्नि वाले मनुष्य को खिलाया हुआ वमनौषध पेट में रहकर अर्थात् पचकर नीचे की ओर चला जाता है। इसका अनिष्ट फल प्रसिद्ध है अर्थात् इच्छित कार्य नहीं होता है एवं अधिक दोषों का उद्रेक होता है। ऐसे मनुष्य को अच्छी तरह से स्नेहन कर अत्यन्त उग्र वमनौषधियों से वमन कराना चाहिए।

आमदोष से अर्धपीत औषध पर योजना

आमांशस्य तथामवद्विरसबीभत्सप्रभूते तथा।

कृत्वा तत्प्रतिपक्षभेषजमलं संशोधयेदादरात्॥

एवं चार्धमुपैति चेदतितरां मृष्टेष्टसद्भेषजै-।

रिष्टैरिक्षुरसान्वितैः सुरभिभिः भक्ष्यैस्तु संयोजयेत्॥ 57॥

भावार्थ : आमदोष, आमवत् औषध की विरसता, बीभत्सदर्शन, रुचि आदि कारणों से पूर्ण औषध न पिया जा सके तो उस पर यह योजना करनी चाहिए। सबसे पहले उस रोगों को आमदोष नाशक प्रयोग कर चिकित्सा करें एवं बाद में संशोधन (वमन व विरेचन) प्रयोग करें। साथ ही रुचिकर, इष्ट व सुगंधि भक्ष्य पदार्थों के साथ अथवा ईख के रस के साथ औषध की योजना कर उसकी बीभत्सता नष्ट करें।

विषम औषध प्रतिकार

ऊर्ध्वांधो विषमौषधं परिगतं किंचिव्व्यवस्थापयन्।
शेषान्दोषगणान्विनेतुमसमर्थस्सन्महादोषकृत् ॥
मूर्च्छां छर्दिमरोचकं तृषमथोद्गाराविषुद्धिं रुजां।
हृल्लासं कुरुते ततोऽहिमजलैरुग्रान्वितैर्वामयेत्॥ 58॥

भावार्थ : ऊर्ध्व शोधन व अधोशोधन के लिए प्रयुक्त विषम औषधि यदि सर्व दोषों को अपहरण कर गुणों की व्यवस्थापन करने के लिए असमर्थ हो जाये तो वह अनेक महादोषों को उत्पन्न करती है। मूर्च्छा, वमन, अरोचक, तृषा, उद्गार, अशुद्धिता पीड़ा, उपस्थित वमनत्व (वमन होने की तैयारी, जी मचलना) आदि रोग उत्पन्न होते हैं। उनको उग्रा (वचा) से युक्त गरम जल से वमन कराना चाहिए।

सावशेष औषध व जीर्ण औषध का लक्षण व उसकी चिकित्सा

यत्स्यादौषधशेषमप्यातितरां तत्पाचनैः पाचये-।
दल्पं चाल्पबलस्य च प्रचलिताशेषोरुदोषस्य च॥
तत्रासम्यगधोविरेचित - नरस्योष्णैर्जलैर्वामयेत्।
तीक्ष्णाग्नेरपि भक्तवत्परिणतं तच्चाशु संशोधयेत्॥ 59॥

भावार्थ : पेट में औषध शेष रह जावे, दोष भी अल्प हो, रोगी अल्प बल वाला हो तो उसे पाचन क्रिया द्वारा पचाना चाहिए। यदि अवशेष औषधवाले का दोष अधिक हो, प्रचलित (प्रधावित) हो, (रोगी भी बलवान हो) विरेचन भी बराबर न हुआ हो तो उसे गरम पानी से वमन कराना चाहिए। तीक्ष्ण अग्नि वाले मनुष्य के (थोड़ा व स्वल्प गुण करने वाला औषध भोजन के सदृश पच जाता है, इससे उद्रिक्त दोषों को समय पर नहीं निकाले तो अनेक रोगों को उत्पन्न करता है व बल का नाश करता है) ऐसे जीर्ण औषध को, शीघ्र शोधन करना चाहिए।

अल्पदोषेहरण, वातजशूल का लक्षण एवं उसकी चिकित्सा

अल्पं चाल्पगुणं च भेषजमरं पीतं न निश्शेषतो।
दोषं तद्वंमनं हरेच्छिरसि रुग्व्याधिप्रवृद्धिस्ततः॥
हृल्लासश्च भवेदिहातिबलिनं तं वामयेदप्यधः।
शुद्धादुद्धतगौरवं मरुदुरोरोगाद्रुदे वेदना॥ 60॥

ते चाप्याशु विरेचयेन्मृदुतरं तीव्रौषधिश्योधनैः।
स्नेहादिक्रिययाविहीनमनुजस्यात्यंतरूक्षौषधम्॥
स्त्रीव्यापररतस्य शीतलमरं दत्तं मरुत्कोपनं।
कुर्यात्तत्कुरुतेऽतिशूलमथवा विभ्रांतमूर्च्छादिकम्॥61॥

भावार्थ : अल्प गुण वाले औषध को थोड़े प्रमाण में पीने से जो वमन होता है वह सम्पूर्ण दोषों को नहीं निकाल पाता है। जिससे शिर में पीड़ा व व्याधि की वृद्धि होती है। फिर जी मचल जाता है। ऐसा होने पर बलवान् रोगी को अच्छी तरह वमन कराना चाहिए। इसी प्रकार विरेचन भी संपूर्ण दोषों को निकालने में समर्थ न हुआ तो उस से दोषों का उद्रेक हो कर शिर में भारीपन, वातजरोग, उरोरोग व गुदा में वेदना (कर्तनवत् पीड़ा) उत्पन्न होती है। ऐसी हालत में यदि रोगी मृदु शरीर वाला हो तो तीक्ष्णशोधन औषधियों द्वारा विरेचन कराना चाहिए। स्नेहन, स्वेदन से रहित व मैथुन में आसक्त मनुष्य को (वमन विरेचन कारक) रूक्ष व शीतल औषध दे दें तो वह वायु को प्रकुपित करता है। वह कुपित वात (पसवाड़े पीठ कमर ग्रीवा मर्म स्थान आदि स्थानों में) तीव्रशूल एवं भ्रम मूर्च्छा आदि उपद्रवों को उत्पन्न करता है। ऐसी हालत में उसे शीघ्र ही तैलाभ्यंग (तैल का मालिश) करके (धान्य से) स्वेदन करें एवं मुलैठी के कषाय (काढ़ा) व कल्क से सिद्ध तैल से अनुवासन बस्ति देनी चाहिए।

अयोग का लक्षण व उसकी चिकित्सा

तैलाभ्यक्तशरीरमाशु तमपि प्रस्विद्य यष्टीकषा-।
यैः कल्कैश्च विपक्व तैलमनुवासस्य प्रयुक्तं भिषक्॥
स्नेहस्वेदविहीनरूक्षिततनो रूक्षौषधं वाल्पवीं-।
र्यं वात्यल्पमथापि वाभ्यवहतं नोर्ध्वं तथाधो व्रजेत्॥62॥
तच्च क्लिश्य इहोग्रदोषनिचयांस्तैस्सार्धमापादये-।
दाध्मानं हृदयग्रहं तृषमथो दाहं च सन्मूर्च्छतां॥
तं संस्नेह्य च वामयेदपि तथाधस्स्नेह्य संशोधयेत्।
दुर्वांतस्य समुद्धताखिलमहादोषाः शरीरोद्गताः॥63॥
कुर्वंति श्वयथुं ज्वरं पिटकिकां कण्डूसकुष्ठानिग्नमां-।
ग्यं यत्ताडनभेदनानि च ततो निश्शेषतः शोधयेत्॥
दुश्शुद्धेऽतिविरेचने स्थितिमति प्रागप्रवृत्ते तथा।
चोष्णं चाशु पिबेज्जलं सुविहितं संशोधनार्थं परम्॥64॥

पीत्वोष्णोदक्रमाशु पाणितलतापैःपृष्ठपार्श्वोदर-।
स्विन्ने सद्रवतां प्रपद्य नितरां धावन्ति दोषाःक्षणात्।
याते स्वल्पतरेऽपि दोषनिचये जीर्णे च सद्भेषजे।
तत्रायोगविशेष[1]निष्प्रतिपदं(?)कुर्याच्च तद्भेषजम्॥65॥
ज्ञात्वाल्पं गतदोषमातुरबलं शेषं तथान्हस्तदा।
मात्रां तत्र यथाक्रमादवितथां दद्यात्पुनःशोधने॥
एवं चेन्न च गच्छति प्रतिदिनं संस्कृत्य देहक्रिया-।
मास्थाप्याप्यनुवास्य वाप्यतिहितं कुर्याद्विरेकक्रियाम्॥66॥

भावार्थ : जिसका शरीर स्नेहन व स्वेदन से संस्कृत न हो, रूक्ष भी हो, उसे रूक्ष अल्पवीर्य वाले, अत्यल्प (प्रमाण में बहुत ही कम) औषधि का सेवन करावे तो वह न ऊपर ही जाता है न नीचे ही। अर्थात् उससे न वमन होता है न विरेचन। (इसे अयोग कहते हैं।) और वह दोषों के समूह को उत्क्लेशित करके, साथ में आध्मान (अफराना) हृदय ग्रह, प्यास, दाह व मूर्च्छा को उत्पन्न करता है। ऐसा होने पर (उग्र औषधियों से) फिर पूर्ण रीति से वमन कराना चाहिए। विरेचनौषधि का सेवन करने पर, दस्त बराबर न लगे, अथवा दस्त बिल्कुल ही न लगे, औषध पेट में रह जावे तो शीघ्र ही, विरेचन होने के लिए गरम पानी पिलाना चाहिए। गरम पानी पिलाकर शीघ्र ही हथैली तपाकर उससे पीठ को, दोनों पार्श्व (पसवाड़े) उदर को सेकना चाहिए। इस प्रकार स्वेदन करने पर क्षण काल से दोष, द्रवता को प्राप्त होकर बाहर दौड़ते हैं (निकलते हैं) अर्थात् दस्त लगता है। यदि स्वल्प ही दोष बाहर निकलकर (थोड़े ही दस्त होकर) (बीच में) औषध पच जावें तो उस अयोग विशेष के प्रतीकारभूत (निम्नलिखित क्रम से) औषध की योजना करें। पहले यह जानकर कि शरीर से दोष थोड़ा गया हुआ है(दोष बहुत बाकी रह गया है) रोगी सबल है और दिन भी बहुत बाकी है (सूर्यास्तमान होने को बहुत देर है) ऐसी हालत में अव्यर्थ औषध की मात्रा को खिलाकर विरेचन करावें। इतने करने पर भी जिनको विरेचन न होता हो तो स्नेहन स्वेदन से शरीर को प्रतिदिन संस्कृत कर और अस्थापन व अनुवासन बस्ति का प्रयोग करके अत्यन्त हितभूत विरेचन देना चाहिए।

दुर्विरेच्य मनुष्य

वेगाघातपराः क्षितीश्वरनरा भृत्यांगना लज्जया।
लोभाच्चापि वणिग्जनाः विषयिणश्चान्येपि नात्मार्थिनः॥

1. वियोग इति पाठांतरं।

ये चात्यंतविरूक्षितास्सत्ततविष्टं भास्तथाप्यामयाः।
दुश्शोध्यास्तु भवेयुरेत इति तान् सुस्नेह्य संशोधयेत्॥ 67॥

भावार्थ : राजा के पास में रहने वाले मनुष्य, सेवक वर्ग, (ये लोग भय से) स्त्रियाँ लज्जा से, वैश्य (बनिया) लोभ से, विषय लोलुपी मनुष्य, (विषय सेवन की आसक्ति से) उसी प्रकार अपने आत्महित को नहीं चाहने वाले लोग, मल के वेग को रोका करते हैं। ऐसे मनुष्य तथा जो अत्यन्त रूक्षता से (रूखापने से) संयुक्त हैं, हमेशा विबंध (दस्त का साफ न होना) से पीड़ित हैं एवं उसी प्रकार के अन्य रोगों से व्याप्त हैं, वे भी दुर्विरेच्य होते हैं अर्थात् इनको विरेचक औषधि देने पर बहुत ही मुश्किल से जुलाब होता है (क्योंकि इनके शरीर में वात बहुत बढ़ा हुआ होता है) ऐसे मनुष्यों को अच्छी तरह स्नेहन व स्वेदन करके विरेचन कराना चाहिए।

अतियोग का लक्षण व उसकी चिकित्सा

स्निग्धस्विन्ननरस्य चातिमृदुकोष्ठस्यातितीक्ष्णौषधं।
दत्तं स्यादतियोकृद्वमनतः पित्तातिवृत्तिर्भवेत्॥
विस्रंभेतिबलक्षयोप्यनिलसंक्षोभश्च तत्कारणा-।
त्तं शीतांबुनिषिक्तमिक्षु[1]-रससंशीतौषधैश्शोधयेत्॥ 68॥
स्यादत्यंतविरेचनातिविधिना श्लेष्मप्रवृत्तिस्ततो।
रक्तस्यापि बलक्षयो ह्यानिलसंक्षोभश्च संजायते॥
तं चाप्याशु निषिच्य शीतलजलैश्शीतैश्च यष्टीकषा-॥
यैस्संछर्दनमाचरेदतिहिमक्षीराज्यकास्थापनम्॥ 69॥
क्षीराज्येन तथानुवासनमिह प्रख्यातमायोजये-।
दन्यच्चाप्यतिसारवद्विधियुतं सद्भेषजाहारकम्॥
तस्यास्मिन्वमनातियोगविषये ऽसृक्ष्ठीवतिछर्दय।
त्यौद्धत्याक्षियुगस्य चापि रसनानाशोऽपि निस्सर्पणम्॥70॥
हिक्कोद्गारतृषाविसंज्ञहनुसंस्तंभं तथोपद्रवा-।
स्तेषां चापि चिकित्सितं प्रतिविधास्येहं यथानुक्रमात्॥

1. इंदुकरसंशीतौषधैः इति पाठांतरं, इस पाठ से चाँदनी (चन्द्रकिरण) में उसे रोगी को बैठालना व शीतौषध प्रयोग करना, यह अर्थ होगा।

– सम्पादक

तत्रासृग्गमनेऽतिशोणितविधिं कुर्याच्च जिह्वोद्गमे।
जिह्वां सैंधवसत्कटुत्रिकरजैर्घृष्टां तु संपीडयेत् ॥ 71 ॥
अंतश्चेद्रसना प्रविश्यति तथा चाम्लान्यथान्ये पुरः।
खादेयुः स्वयमाम्लवर्गमसकृत् संभक्षयेदक्षयम् ॥
व्यावृत्ते नयने घृतेन ललिते संपीडयेल्लीलया।
सुस्तब्धे च हनावनूनकफवातघ्नौषधैस्स्वेदयेत् ॥ 72 ॥
हिक्कोद्गारतृषादिषु प्रतिविधिं कुर्याद्विसंज्ञेपि तत्।
कर्णे वेणुनिनादमाशुमधुरं संश्रावयेत्संश्रुतिम् ॥
वैरेकातिविधौ सचंद्रकमतिस्वच्छं जलं संस्रवे-।
त्मांसान् धौतजलोपमं तदनु तत् पश्चाच्च सच्छोणितं ॥ 73 ॥
पश्चात्तद्गुदसर्पणांगचलन - प्रच्छर्दनोपद्रवा-।
स्तेषां चाभिहितक्रमात्प्रतिविधिं कुर्याद्विषग्भेषजैः ॥
तन्निस्सर्पितमुष्णतैलपरिषिक्तं तद्गुदं पीडयेत्।
वातव्याधिचिकित्सितं च सततं कृत्वाचरेद्भेषजम् ॥ 74 ॥

जीवशोणित लक्षण

जिह्वालंबनिकामुपद्रवगणे सम्यक्चिकित्सा मया।
संप्रोक्ता खलु जीवशोणितमतः संलक्ष्यतां लक्षणैः ॥
यच्चोष्णोदकधौतमप्यतितरां नैवापसंसज्यते।
स्वापद्भक्षयतीह शोणितमिदं चान्यत्र पित्तान्वितं ॥ 75 ॥

भावार्थ : अत्यन्त स्नेहन स्वेदन किए हुए, अत्यन्त मृदुकोष्ठ वाले मनुष्य को, (वमन विरेचनार्थ) अत्यन्त तीक्ष्ण औषधि का सेवन करावें तो उसका अतियोग होता है (अत्यधिक वमन विरेचन होता है) वमन के अतियोग से पित्त अधिक निकलता है। थकावट आती है व बल का नाश होता है एवं वात का प्रकोपन होता है। इसलिए उस मनुष्य को शीत जल से स्नान कराकर, इक्षुरस व (चंद्रकिरण के समान) शीतगुण संयुक्त औषधियों से विरेचन कराना चाहिए। प्रमाण से अत्यधिक विरेचन होने पर अर्थात् विरेचन का अतियोग होने से अधिक कफ निकलता है, पश्चात् रक्त भी निकलने लगता है, बल का नाश व वात का प्रकोप होता है। ऐसे मनुष्य को शीघ्र ही शीतल जल से

स्नान कराकर, अथवा तरेडा देकर, ठंडे दूध व घी से आस्थापन बस्ति और इन्हीं से प्रसिद्ध अनुवासन बस्ति भी देवें। इसी प्रकार इसे अतिसार की चिकित्सा में कही गई औषध व आहार के विधान से उपचार करें। पूर्वकथित वमन के अतियोग और भी उग्ररूप धारण करने पर, थूक में रक्त आने लगता है। रक्त का वमन होता है। दोनों आँखें बाहर आती हैं। (उभरी हुई होती हैं)जीभ की रस ग्रहण शक्ति का विनाश होता है और वह बाहर निकल आती है एवं हिचकी, डकार, प्यास, मूर्च्छा, हनुस्तम्भ, (ठोडी अकड़ना) आदि उपद्रव होते हैं। इनकी योग्य चिकित्सा को अब क्रमशः कहेंगे । रक्तष्टीबन व वमन होने पर रक्त की अतिप्रवृति में जो चिकित्सा कही गई है, उसी के अनुसार चिकित्सा करें। जीभ के बाहर निकल आने पर, सैंधानमक, सोंठ, मिरच, पीपल इनके चूर्ण से जीभ को घिस=रगड़कर (मलकर) उसे पीडन करें अर्थात् अंदर प्रवेश कर दें। जीभ के अंदर प्रवेश होने पर, अन्य मनुष्य उसके सामने दिखा-दिखा कर खट्टे निंबू आदि चीजों को खावें एवं उसे भी अम्लवर्ग में कहे हुए खट्टे पदार्थों को खिलावें। इस प्रकार की चिकित्सा से जीभ ठीक होती है। आँखें बाहर आने पर, उन्हें घी लगाकर, बड़ी कुशलता के साथ पीडन करें अर्थात् मल दें। हनुस्तम्भ होने पर कफवातनाशक, श्रेष्ठ औषधियों से ठोडी स्वेदन करें अर्थात् सेके। हिचकी, डकार, प्यास आदि उपद्रवों में, उन-उन की जो चिकित्सा विधि कही है, उन्हीं को करें। बेहोशी होने पर, बांसुरी आदि के मनोहर शब्दों(संगीत) को कान में सुनावें।

विरेचन का अतियोग अत्यधिक बढ़ जाने पर, चंद्रिका से (मोर के पंखे के समान सुनहरी नील आदि वर्ण) संयुक्त स्वच्छ जल निकलता है। तदनंतर मांस को धोये हुए पानी के सदृश स्वरूप वाला पानी, तत्पश्चात् जीवशोणित (जीवनदायक) रक्त निकलता है। इसके भी अनंतर गुदभ्रंश (गुदा का बाहर निकल आना) अंगों में कम्प (अंगोपांग को काम्पना) होता है। इसी प्रकार वमन के अतियोग में कहे हुए उपद्रव भी इसमें होते हैं। ऐसा होने पर बुद्धिमान वैद्य पूर्वकथित चिकित्साविधि (अधिक रक्तस्राव होने पर जो चिकित्सा कही है उसी चिकित्सा विधि) से योग्य औषधियों द्वारा प्रतीकार करें। बाहर आये हुए गुदा को, गरम तैल लगाकर (अथवा तैल लगाकर सेक करके)अंदर प्रवेश करा दें (क्षुद्ररोग में कहे हुए गुदभ्रंश की चिकित्सा को यहाँ प्रयोग करें) शरीर काम्पने पर हमेशा वातव्याधि में कथित चिकित्साविधि का प्रयोग करें। जीभ बाहर निकल आना आदि उपद्रवों में अच्छी प्रकार की चिकित्सा करें (पहले वमनातियोग चिकित्सा प्रकरण में कह चुके हैं)। अब जीवशोणित का लक्षण कहेंगे।

जीवशोणित लक्षण- रक्त को कपड़े के टुकड़े पर लगाकर फिर गरम पानी से धोने पर यदि उसका रंग कपड़े से नहीं छूटे और उसे सत्तू आदि में मिलाकर खाने के लिए कुत्ते को डालने पर यदि कुत्ता खावे तो समझना चाहिए कि वह जीवशोणित है। इससे विपरीत लक्षण दिखने पर समझना चाहिए कि वह जीवशोणित नहीं है, बल्कि वह रक्तपित्त है।

जीवादान, आध्मान, परिकर्तिका लक्षण व उनकी चिकित्सा

जीवादानमसृक्प्रवृत्तिरिति तं ज्ञात्वातिशीतक्रियां।
शीतान्येव च भेषजानि सततं संधानकान्याचरेत्॥
यच्चाजीर्णवशान्मरुत्प्रबलतो रौक्ष्यं च पीतौषधं।
तच्चाध्मापयतीह वातमलमूत्रात्यंतसंरोधकृत्॥ 76॥
यस्मिन्बस्तिगुदेऽतितोदमपि तं स्नेह्यातिसंस्वेदयन्।
नाना ह्यौषधवर्तिमग्निकरसद्बस्तिं च संयोजयेत्॥
क्षीणेनाल्पतराग्निनाति - मृदुकोष्ठेनातिरूक्षौषधं।
पीते पित्तयुतानिलं च सहसा सन्दूष्य संपादयेत्॥ 77॥
अत्युग्रां परिकर्तिकामपि ततः संतापसंवर्तनं।
कुक्षौ मूत्रपुरीषरोधनमतो भक्तारुचिर्जायते॥
तंतैलाज्ययुतेन यष्ठिमधुकक्षीरेण चास्थापयेत्।
क्षीराज्यैरस्नुवासयेदनुदिनं क्षीरेण संभोजयेत्॥ 78॥

भावार्थ : संशोधनऔषधि को सेवन कराने पर यदि जीवनदायक रक्त निकल आवें तो उसे जीवनदान कहते हैं। ऐसा होने पर उसे शीतचिकित्सा करें एवं रक्त को स्तम्भन करनेवाले शीतऔषधियों का प्रयोग करें। **आध्मान** अर्थात् जिसको अजीर्ण हो गया हो (खाया हुआ भोजन नहीं पचा हो) और कोष्ठ में वायु अधिक हो उस हालत में यदि संशोधनार्थ रूक्ष औषध पीवें तो वह आध्मान (पेट अफरा जाना) को उत्पन्न करता है, जिससे अधोवायु, मल-मूत्र रुक जाते हैं। बस्ति (मूत्राशय)व गुदाभाग में सुई चुभने जैसी भयंकर पीड़ा होती है। ऐसा होने पर उसे स्नेहन, स्वेदन करके नाना प्रकार की औषधियों से निर्मित वर्ति (बत्ति) और अग्निवृद्धिकारक श्रेष्ठ बस्तिकी योजना करें। **परिकर्तिका**- दुर्बल मनुष्य, जिसकी अग्नि मंद हो और कोष्ठ भी मृदु हो, शोधनार्थ रूक्ष औषध पीवें तो वह पित्त से संयुक्त वात (पित्त वात)को शीघ्र ही दूषित करके अत्यन्त भयंकर परिकर्तिका (कैंची से कतरने जैसी पीड़ा)को उत्पन्न करता है, जिससे कुक्षि में (पीड़ा के कारण) संताप होता है। मल -मूत्र रुक जाते हैं एवं भोजन में अरुचि होती है। ऐसा होने पर उसे तैल, घी, मुलैठी इनसे मिश्रित दूध से आस्थापन बस्ति देवे, घी दूध से अनुवासन बस्ति का प्रयोग करें एवं दूध के साथ भोजन करावें।

परिस्राव लक्षण

रूक्षक्रूरतरोदरस्य बहुदोषस्याल्पमंदौषधं।
दत्तं दोषहराय नालमतएवोत्क्लिश्य दोषास्ततः॥
दौर्बल्यारुचिगात्रसादनमहाविष्ठंभमापाद्य सं-।
स्रावः पित्तकफौ च संततमरं संस्रावयेन्नीरुजः॥79॥

भावार्थ : जिस का उदर रूक्ष व क्रूर (क्रूर कोष्ठ) हो और वह अधिक दोषों से व्याप्त हो, ऐसे मनुष्य को (प्रमाण में) अल्प व मृदु औषधी का प्रयोग कर दें तो, वह सम्पूर्ण दोषों को निकालने के लिए समर्थ नहीं होती है। अतएव वह दोषों को उत्क्लेशित करके, दुर्बलता, अरुचि, शरीर में थकावट व विष्टम्भ (साफ दस्त न आना) को उत्पन्न करते हुए, वेदना के साथ हमेशा (बहुत दिन तक) पित्तकफ को स्रावित कराता (बाहर निकालता) रहता है अर्थात् कफ पित्त मिश्रित थोड़े-थोड़े बहुत दिन तक दस्त लाता है। इसे संस्राव अथवा परिस्राव कहते हैं।

परिस्रावव्यापत्ति चिकित्सा

तं च स्रावविकारमत्र शमयेत्सांग्राहिकैर्भेषजैः।
प्रोक्तैरप्यथ वक्ष्यमाणविषयैस्संस्थापनास्थापनैः॥
क्षीरेण प्रचुराजमोदशतपुष्पाचूर्णितेनाज्यसं-।
मिश्रेणोष्णविशेषशाल्यशनमत्यल्पं समास्वादयेत्॥80॥

भावार्थ : इस परिस्राव रोग को, पूर्वोक्त सांग्राहिक[1] औषधों से (दस्त को बंद करने वाले औषध जायफल आदि) एवं आगे कहे जाने वाले, दस्त को बंद करने वाले आस्थापन बस्तियों से उपचार करें तथा अजवायन, सोंफ के चूर्ण व घृतमिश्रित व उष्णगुणयुक्त चावल के भात को दूध के साथ थोड़ा खिलावें।

प्रवाहिका लक्षण

स्निग्धो वातिनिरूक्षितश्च पुरुषः पीत्वात्र संशोधनं।
योऽप्राप्तं तु मलं बलाद्गमयति प्राप्तं च संधारयेत्॥
तस्यांतस्सुविदाहशूल - बहुलश्वेतातिरक्तासिता।
श्लेष्मा गच्छति सा प्रकारसहिता साक्षाद्भवेद्वाहिका॥81॥

1. सांग्राहिक - कफ पित्तस्रावस्तंभक, ऐसा भी अर्थ होता है।

भावार्थ : अत्यन्त स्निग्ध, अथवा रूक्षित (रूखापने से युक्त) मनुष्य, विरेचन का औषध पीकर, मल बाहर न आते हुए देख उसे बाहर लाने के लिए बलात्कार पूर्वक कोशिश करता है अर्थात् प्रवाहण करता है, अथवा बाहर निकलते हुए मल के वेग को रोक लेता है तो, उसके पेट से, दाह व शूल संयुक्त, सफेद, लाल वा काले रंग का कफ बाहर (बार-बार) निकलने लगता है। इसे प्रवाहिका से युक्त वाहिका अर्थात् प्रवाहिका कहते हैं।

प्रवाहिका, हृदयोपसरण व विबंध की चिकित्सा

तामास्रावविकारभेषजगणैरास्थाप्य संशोध्य त-।
त्पश्चादग्निकरौषधैरहिमपानीयं तु संपाययेत्॥
ऊर्ध्वाधश्च प्रवृत्तभेषजगतिं यो वात्र संस्तंभये-।
दज्ञानाद्हृदयोपसंसरणतां कृत्वात्र दोषास्तथा॥ 82॥
हृत्पीडां जनयन्त्यतश्च मनुजो जिह्वां सदंतामरं।
खादंस्ताम्यति चोर्ध्वदृष्टिरथवा मूर्च्छत्यतिक्षामतः॥
तं चाभ्यज्य सुखोष्णधान्यशयने संस्वेद्य यष्ठीकषा-।
यैः संसिद्धातिलोद्भवेन नितरामत्रानुसंवासयेत्॥ 83॥
तं तीक्ष्णातिशिरोविरेचनगणैस्संशोध्य यष्ठीकषा-।
योन्मिश्रैरपि तण्डुलांबुभिररं तं छर्दयेदातुरम्॥
ज्ञात्वा दोषसमुच्छ्रयं तदनु तं सद्वस्तिभिः साधये-।
द्यः संशुद्धतनुः सुशीतलतरं पानादिकं सेवते॥ 84॥
स्त्रोतस्वस्य विलीनदोषनिकरः संघातमापद्यते।
वर्चो मूत्रमरुन्निरोधनकरो बध्नात्यथाग्निस्वयं॥
आटोपज्वर - दाहशूलबहुमूर्च्छाद्यामयास्स्युस्तत-।
स्तं छर्द्या सनिरूहयेदपि तथा तं चानुसंवासयेत्॥ 85॥

भावार्थ : उस प्रवाहिका से पीड़ित मनुष्य को, परिस्राव व्यापत्ति में कथित औषध समूह से आस्थापन बस्ति देवें और संशोधन (विरेचन) करें। उसके बाद अग्निवर्धक औषधियों के साथ गरम पानी को पिलाना चाहिए अथवा अग्निकारक औषधिसिद्ध जल को पिलावें । हृदयोपसरण लक्षण= जो मनुष्य वमन विरेचन के औषध को सेवन कर उससे आते हुए वेग-वमन या विरेचन को अज्ञान से रोक लेता है, तो उनके दोष, हृदय के तरफ गमन कर, हृदय में पीड़ा को उत्पन्न करते हैं और जिससे मनुष्य जीभ को काटता है, दांतों को किटकिटाता है, संताप युक्त होता हुआ ऊपर की ओर आँखें फाड़ देता

है। अत्यन्त कृश होकर मूर्च्छित हो जाता है। इसे हृदयोपसरण व्यापत्ति कहते हैं। इसकी चिकित्सा=ऐसा होने पर उसे धान्य से स्वेदित करके मुलैठी के क्वाथ (काढ़े) से साधित तिलके तैल से अनुवासनबस्ति देनी चाहिए। तथा शिरोविरेचन गणोक्त तीष्ण औषधियों से शिरोविरेचन कराकर, मुलैठी के क्वाथ, काढ़े) से मिश्रित चावल के धोवन से वमन कराना चाहिए। इतना करने पर भी यदि उस रोगी में दोषों के उद्रेक (उठाव) मालूम पड़े तो तत्पश्चात् श्रेष्ठ बस्तियों के प्रयोग से उपचार कर दोषों को जीतें। **विबंध का लक्षण**= वमन विरेचनकारक औषधि के सेवन से, शरीर संशुद्ध (वमन अथवा विरेचन) हो रहा हो, उस हालत में, अत्यन्त[1] शीतलपान, हवा आदि को सेवन करता हो तो, उसके स्रोतों में दोषसमूह विलीन होकर संघात (गाढ़ापने) को प्राप्त होता है और वह मल-मूत्र, वात को निरोधन करते (रोकते) हुए, वमन विरेचन की प्रवृत्ति को रोक[2] देता है। तथा अग्नि भी स्वयं मंद हो जाती है। इससे पेट में गुड़गुड़ाहट, ज्वर, दाह शूल मूर्च्छा आदि अनेक रोग उत्पन्न होते हैं (इसे विबंध कहते हैं)। **विबंध की चिकित्सा**=ऐसा होने पर, उस रोगी को, वमन कराकर निरूहबस्ति (आस्थापन बस्ति) देनी चाहिए एवं अनुवासनवस्ति भी देनी चाहिए।

कुछ व्यापत्तियों का नामांतर

विरेचने या परिकर्तिरुक्ता गलाक्षतिः सा वमने प्रदिष्टा।
अधः परिस्रावणमूर्ध्वभागे कफप्रसेको भवतीति दृष्टः॥ 86॥
प्रवाहिकाधः स्वयमेव चोर्ध्वं भवेत्तथोद्गार इतीह शुष्कः।
इति क्रमात्पंचंदश प्रणीताः सहौषधैर्व्यापद एव साक्षात्॥ 87॥

भावार्थ : विरेचन की व्यापत्ति में जो गुदा में परिकर्तिका[3] कही है उसी के स्थान में, वमन में गलक्षति (कंठ में छीलने जैसी पीड़ा होना) होती है। विरेचन में जो अधःपरिस्राव होता है, उसके जगह वमन में कफप्रसेक (कफ का चूना) होता है। इसी प्रकार विरेचन की प्रवाहिका के जगह वमन में शुष्कउद्गार होता है। इस प्रकार क्रमशः वमन विरेचन के पंद्रह प्रकार की व्यापत्तियों का वर्णन उनके योग्य औषध व चिकित्सा के साथ-साथ कर दिया गया है।

1. यस्तूर्ध्वमधो वा प्रवृत्तदोषः शीतागारममुदकमनिलमन्यद्वा सेवेत। इति ग्रंथांतरे कथितत्वात्।
2. विबर्ध्यते वमनविरेचनयोः प्रवृत्तिं निवारयंतीत्यर्थः। (सुश्रुत)
3. इसका तात्पर्य यह है कि वमन और विरेचन के अतियोग के कारण एक-एक के पंद्रह-पंद्रह प्रकार की व्यापत्ति होती है, ऐसा पहले कहा है। लेकिन परिकर्तिका नामक जो व्यापत्ति विरेचन के ठीक- ठीक न होने पर ही होती है, यह वमन में नहीं हो सकती है। इसी प्रकार परिस्राव आदि भी वमन में नहीं हो सकती। अदि उनको वमन व्यापत्ति में से हटा देते तो वमन की पंद्रह व्यापतियों की पूर्ति नहीं होती। इसलिए इनके अतिरिक्त वमन में कोई विशिष्ट व्यापत्ति जो कि विरेचन में नहीं होती हो होनी चाहिए। इसी को आचार्य ने इस श्लोक से स्पष्ट किया है कि परिकर्तिका के स्थान मे गलक्षति होती है आदि।

बस्ति के गुण और दोष

अथात्र सद्बरितविधानसद्विधौ भवंत्यचिंत्या बहवो महागुणाः।

तथैव दुर्वैद्यकृते तु दुर्विधौ भवंत्यचिंत्या बहवोऽपि दुर्गुणाः॥88॥

भावार्थ : बस्तिप्रयोग को यदि शास्त्रोक्त विधिपूर्वक यथावत् किया जाये तो अचिंत्य व बहुत से उत्तम गुण होते हैं। यदि अज्ञानी वैद्य ने विधि को न जानकर यद्वा तद्वा किया तो उससे अनेक अचिंत्य दोष भी उपस्थित होते हैं।

बस्तिव्यापच्चिकित्सा वर्णन प्रतिज्ञा

विधिर्निषेधश्च पुरैव भाषितावतःपरं बस्तिविपच्चिकित्सितम्।

प्रवक्ष्यते दक्षमनोहरौषधैः स्वनेत्रबस्तिप्रणिधान भेदतः॥ 89॥

भावार्थ : किस रोग के लिए बस्तिकर्म हितकर है और किसमें उसका प्रयोग नहीं करना चाहिए इत्यादि प्रकार से बस्तिकर्म का विधि निषेध पहले से कहा जा चुका है। अब यहाँ से आगे नेत्र (पिचकारी) दोष, बस्तिदोष, प्रणिधान (पिचकारी के अंदर प्रवेश करने का) दोष, इत्यादि दोषों से उत्पन्न, बस्तिक्रिया की व्यापत्ति और उन व्यापत्तियों की योग्य चिकित्सा का वर्णन, उन व्यापत्तियों को जीतने में समर्थ व मनोहर औषधों के साथ-साथ किया जायेगा।

बस्तिप्रणिधान में चलितादिव्यापच्चिकित्सा

अथेह नेत्रं चलितं विवर्तितस्तथैव तिर्यग्विहितं गुदक्षतम्।

करोति तत्र व्रणवच्चिकित्सितं विधाय संस्वेदनमाचरेद्भिषक्॥90॥

भावार्थ : बस्ति (पिचकारी) को अंदर प्रवेश करते समय वह हिल जावे व विवर्तित हो जावे (मुड़ जावे) अथवा तिरछा चला जावे तो वह गुदा में जखम करती है। ऐसा होने पर व्रणोक्तचिकित्सा विधान से चिकित्सा करके वैद्य स्वेदन करे अर्थात् गुदभाग को सेकें।

ऊर्ध्वैक्षिप्त व्यापच्चिकित्सा

तथोर्ध्वमुत्क्षिप्त इहानिलान्वितं सफेनिलं चौषधमुद्वमत्क्षणात्।

भिन्नत्ति तद्वेक्षणमाशु तापितं, निरूहयेदप्यनुवासयेत्ततः॥ 91॥

भावार्थ : यदि पिचकारी, ऊपर की ओर झुक जावे तो, वह वात व फेन (झाग) युक्त औषध को क्षण काल से ऊपर की ओर वमन करते हुए, वंक्षण (राड) को भेदन करता है। ऐसा होने पर शीघ्र ही तपाकर (स्वेदन कर) निरूह (आस्थापन) बस्ति और अनुवामन बस्तिका प्रयोग क्रमशः करें।

अवसन्नव्यापच्चिकित्सा

इहावसन्ने त्वधिकं ह्यधोमुखं। पतद्रवं चाशु दहत्यथाशयम्।

पयः पयोवृक्षकषायष्टिकै-। र्निरूहयेदप्यनुवासयेद्घृतम्॥ 92॥

भावार्थ : नेत्र प्रयोग करते समय नीचे की ओर झुक जावे तो द्रवपदार्थ अधिक अधोमुख (नीचे ओर झुककर) होकर गिरते हुए शीघ्र ही आशय को जलाता है। ऐसा होने पर दूध, दूधिया वृक्षों के काढ़ा व मुलैठी से आस्थापन बस्ति देवें और घी से अनुवासन बस्ति भी देवें।

नेत्रदोषज व्यापत्ति व उसकी चिकित्सा

तथैव तिर्यक्प्रणिधानदोषतो। द्रवं न गच्छेदृजुसंप्रयोजयेत्।

अतीव च स्थूलमिहातिकर्कशं। रुजाकरं स्यादभिघातकृत्ततः॥ 93॥

सुभिन्ननेत्रेऽप्यनुसंन्नकर्णिके। द्रवं स्रवेत्तच्च विवर्जयेद्भिषक्।

प्रवेशनाद्यत्प्रतिदीर्घिका सती। गुदे क्षते स्रावयतीह शोणितम्॥ 94॥

अतिप्रवृत्तेऽसृजि शोणिताधिका-। प्रवृत्तिनिर्वृत्तिविधिर्विधीयते।

सुसूक्ष्मदुश्चिद्रयुतेन पीडितं। द्रवं न गच्छेदपि तद्विवर्जयेत् ॥95॥

भावार्थ : इसी प्रकार पिचकारी को तिरछा प्रयोग करने के दोष से द्रव अंदर नहीं जाता है। उस अवस्था में उसे सीधा कर प्रयोग करना चाहिए। यदि नेत्र (पिचकारी) बहुत मोटा हो, कर्कश (खरदरा) हो (और टेढ़ा हो) तो उसके प्रयोग से गुदा में चोट लगकर जखम व पीड़ा होती है। पिचकारी फटी हुई हो, जिसकी कर्णिका पास में हो (और नली बहुत पतली हो) तो पिचकारी में रहने वाला द्रव अंदर प्रवेश न करके बाहर वापस आ जाता है। इसलिए ऐसी पिचकारियों को बस्तिकर्म में वैद्य छोड़ देवें। जिस पिचकारी में कर्णिका बहुत दूर हो, उसके प्रवेश कराने पर वह दूर तक जाकर गुदा (मर्म) में जखम करके रक्त का स्राव करती है। इस प्रकार रक्त की अतिप्रवृत्ति होने पर रक्त की अतिप्रवृत्ति में उसको रोकने के लिए जो चिकित्सा बतलायी गई उससे उपचार करना चाहिए। अत्यन्त सूक्ष्म (बारीक) छिद्र (सूराक) अथवा खराब छिद्र से संयुक्त पिचकारी अंदर प्रवेश कराने पर उसके द्रव बराबर अंदर नहीं जाता है। इसलिए ऐसी पिचकारी को भी छोड़ दें।

अतीव दैर्घ्येप्यतिदीर्घदोषत-। स्तथाल्पके चाल्पनिपीडितोपमः।

अतः परं बस्तिविकारलक्षणं। प्रवक्ष्यते तत्परिवर्जयेदपि॥ 96॥

भावार्थ : पिचकारी बहुत लम्बी होने पर बस्ति की कर्णिका दूर होने से जो व्यापत्ति होती है, वही इसमें भी होती है। नेत्र (पिचकारी) छोटा होवे तो धीरे दबाने से जो दोष होता है, वही इसमें भी

होता है। इसके बाद बस्ति के विकार का स्वरूप कहेंगे। ऐसी बस्तियों को बस्तिकर्म में प्रयोग नहीं करना चाहिए।

बस्तिदोषजव्यापत्ति व उसकी चिकित्सा

तथैव बस्तौ बहलेंऽतरंगिके। दृढेन चांधो भवतीति वर्जयेत्(?)।
सुदुर्बलः पीडित एव भिद्यते। प्रवृत्यतिछिद्रयुते द्रवं द्रुतम्॥ 97॥
अथाल्पबस्तावतिहीनत द्रवं। भवत्यतस्तान्परिवर्जयीद्भषक्।

पीडनदोषजन्य व्यापत्ति व उसकी चिकित्सा

तथातिनिष्पीडनतो द्रवद्रुतं। मुखे च नासापुटयोः प्रवर्तते ॥ 98॥
तथा गृहीत्वाशु विधिर्विधीयतां। विरेचयत्तीक्ष्णतरैर्विरेचनैः।
सुशीतलाम्भः परिषेचयेत्तथा। ततोऽतियत्नाद्भवमानयेदधः॥ 99॥
अथाल्पपीडादपवर्तते द्रवं। पुनः पुनः पीडनतोऽनिलान्वितम्।
करोति चाध्मानमतीववेदनां। ततोऽनिलघ्नं कुरुबस्तिमुत्तमम्॥ 100॥
चिरेण निष्पीडितमामयोदयं। करोति तत्क्लेशमथातुरं द्रवम्।
यथोक्तसद्भेषजसिद्धसाधनै-। रुपाचरेदाशु सुशांतये सदा॥ 101॥

भावार्थ : बस्ति बहुत मोटी हो और बहुत फैली हुई हो तो दुर्बद्ध के समान दोष होता है (औषध ठीक-ठीक नहीं पहुँचता) यदि बस्ति दुर्बल हो तो दबाते ही फट जाती है। बस्ति छिद्रयुक्त हो, द्रव जहाँ पहुँचना चाहिए वहाँ न पहुँच कर शीघ्र बाहर आ जाता है। बस्ति अल्प (छोटी) होवे तो उसके अंदर द्रव कम समाने से, वह अल्पगुणकारक होता है। इसलिए ऐसी बस्तिकर्म में छोड़ देना चाहिए। पीडनदोषजन्य व्यापत्ति व उसकी चिकित्सा=नेत्रबस्ति (पिचकारी) को जोर से दबाने से द्रव (शीघ्र अमाशय में पहुँचकर) मुख व नाक के मार्ग से निकलने (बाहर आने) लगता है। ऐसा होने पर शीघ्र ही उसे रोकने के लिए (गले को मलना और हिलाना आदि)योग्य चिकित्सा करें एवं तीक्ष्ण विरेचन औषधियों से शिरोविरेचन व कायविरेचन करावें। शीतल पानी से तरेडा देवें। इत्यादि उपायों से प्रयत्नपूर्वक ऊर्ध्व प्रवृत्तद्रव को नीचे ले आवें। बस्ति को बहुत ही धीरे दबाने से द्रव अंदर (पक्वाशय में) न जाकर बाहर आ जाता है। बार-बार-दबाने से पेट में वायु जाकर अफरा और अत्यन्त पीड़ा (दर्द)को उत्पन्न करती है। ऐसा होने पर वातनाशक उत्तम बस्ति का प्रयोग करना चाहिए। बहुत देर करके दबाने से अर्थात् ठहर-ठहर करके दबाने से रोगों की उत्पत्ति अथवा वृद्धि होती है और रोगी को वह द्रव कष्ट पहुँचाता है। इसलिए रोगशांति के लिए हमेशा शास्त्र में कथित योग्य औषध और सिद्ध साधनों द्वारा उपचार करना चाहिए।

औषधदोषज व्यापत्ति और उसकी चिकित्सा

प्रयोजितस्नेहगणोऽल्पमात्रिका। भवेदकिंचित्कर एव संततम्।

तथैव मात्राधिकतामुपागता। प्रवाहिकामावहतीति तत्क्षणात्॥ 102॥

प्रवाहिकायामपि तत्क्रियाक्रमः। सुशीतलं चोष्णतरं च भेषजम्।

करोति वातप्रबलं च पैत्तिकं। गुदोपतापं लवणाधिकं द्रवम्॥ 103॥

अथात्र संशोधनबस्तिरुत्तमं विरेचनं च क्रियतेऽत्र निश्चितैः।

भावार्थ : जिस बस्ति में अल्प प्रमाण में तैलादिक का प्रयोग किया हो उससे कोई उपयोग नहीं होता है। इसी प्रकार औषध जरुरत से ज्यादा प्रमाण में प्रयुक्त हो तो वह भी शीघ्र प्रवाहिका रोग को उत्पन्न करता है। प्रवाहिका उत्पन्न होने पर उसकी जो चिकित्सा कही गई है उसी का प्रयोग करें। यदि बस्ति में अति शीतल औषधि का प्रयोग करें तो बात उद्रेक होकर उदर में वातज व्याधियों (विबंध आघ्मान आदि) को उत्पन्न करता है। यदि अत्यन्त उष्ण औषधि का प्रयोग किया जाये तो पैत्तिक व्याधियों (दाह अतिसार आदि) को उत्पन्न करता है। अधिक नमक मिले हुए द्रव की बस्ति देवें तो गुदा में जलन पैदा करता है। ऐसा हो जाने पर तो अर्थात् वातज रोगों की उत्पत्ति हो तो उत्तम संशोधन बस्ति का प्रयोग करें। पित्तजव्याधि में विरेचन का प्रयोग करें।

शय्यादोषजन्य व्यापत्ति व उसकी चिकित्सा

अथोऽवशीर्षेप्यतिपीडिते क्रिया प्यथोत्तरस्यादपि वर्णितं बुधैः (?)॥104॥

अथोच्छ्रिते चापि शिरस्यतष्टिवः (?) करोति बस्ति घृततैलपूरितम्।

पीतश्च सस्नेहमिहातिमेहय-त्यतश्च तत्रोत्तरबस्तिरौषधम्॥ 105॥

भावार्थ : बस्तिकर्म के समय नीचा शिर करके सोने से अति पीड़ित के समान दोष होते है और उसी के समान इसकी चिकित्सा करनी चाहिए।

भावार्थ : शिर ऊँचा करके सोने से घी और तैल से बस्ति भर जाती है और जिससे पीला व स्निग्ध मूत्र आता है। ऐसा होने पर उत्तरबस्ति का प्रयोग करना चाहिए।

इहाधिकान्कुब्जशरीरयोजितान्। विशल्यतो वंक्षणमेव वान्यतः॥

तथैव संकुंचितदेहसक्थिके-। प्यतोर्ध्वमुत्क्रम्य न चागमिष्यति॥ 106॥

तयोश्च बस्तिं विदधीत यत्नतो। विनिर्गमायागमतत्त्वविद्भिषक्॥

तले च तद्वक्षिणपार्श्वशायिनः। कृतोप्यकिंचित्कर एव सांप्रतम्॥ 107॥

भावार्थ : शरीर और दोनों साथल को संकुचित (सिकुड़) कर बस्ति देने से औषध ऊपर जाता

है और इसलिए वह बराबर वापस नहीं आता है। इन दोनों व्यापत्तियो में द्रव को बाहर निकालने के लिए, आगम के तत्त्व को जानने वाला वैद्य, प्रयत्नपूर्वक फिर बस्तिका प्रयोग करें। समतल में, दाहिने करवट से लेटे हुए मनुष्य को बस्ति देने से वह कुछ भी कार्यकारी नहीं होता है।

अयोगादि वर्णन प्रतिज्ञा

अथाप्ययोगादिविधिप्रतिक्रिया प्रवक्ष्यते लक्षणतश्चिकित्सितैः।

इहोत्तरे चोत्तरसंकथाकथेत्यथ ब्रवीम्युक्तमनुक्तमप्यलम्॥ 108॥

भावार्थ : अब अयोगादिकों के विधि, (कारण) उनके लक्षण व चिकित्सा का वर्णन करेंगे। इस उत्तरतंत्र में उत्तर के (बाकी के) सभी बातों के कथन करने की जरुरत है जिनका कि कथन पूर्व में नहीं किया हो या अस्पष्टरूप से किया हो। अतएव अयोगादि की विधि इत्यादिकों के कथन के पश्चात् उक्त (कहा हुआ) व अनुक्त (नहीं कहा हुआ) विषय को भी स्पष्टतया कथन करेंगे।

अयोग, आध्मान लक्षण व चिकित्सा

सुशीतलो वाल्पतरौषधोपि वा तथाल्पमात्रापि करोत्ययोगताम्।

तथा नभो गच्छति बस्तिरुद्धतं भवत्यथाध्मानमतीववेदना॥ 109॥

सुतीक्ष्णबस्तिं वितरेद्यथोचितं विरेचनं चात्र विधीयते बुधैः।

अजीर्णकालेऽत्यशने मलाधिके प्रभूतबस्तिर्हिमशीतलोपि वा॥ 110॥

अथेह दत्तं च करोति वेदनामतीव चाध्मानमतोऽत्र दीयते।

तथानिलघ्नोऽग्निकरोतिऽतिशोधनो। प्रधानबस्तिर्वरबस्तिशास्त्रतः॥ 111॥

भावार्थ : अत्यन्त शीतल अथवा अल्प गुण शक्ति युक्त व कम प्रमाण के औषधियों से प्रयुक्त बस्ति से अयोग होता है अर्थात् शीतल आदि औषधों को बस्ति में प्रयोग किया जाये तो वह ऊपर चला जाता है (बाहर नहीं आता है) जिससे भयंकर आध्मान (अफरा) व अत्यन्त वेदना होती है, इसे अयोग कहते हैं। यह अयोग होने पर तीक्ष्ण बस्तिका प्रयोग करें एवं यथोचित (जैसा उचित हो वैसा) विरेचन भी देवे। आध्मान का कारण लक्षण व चिकित्सा–अजीर्ण होने पर अत्यधिक भोजन करने पर एवं शरीर में दोष बहुत होने पर, अधिक प्रमाण में बस्ति का प्रयोग करें, अथवा शीतल बस्ति का प्रयोग करें तो (हृदय, पसवाड़ा, पीठ आदि स्थानों में) भयंकर शूल व आध्मान (अफरा) उत्पन्न होता है, इसे आध्मान कहते हैं। ऐसी अवस्था में बस्ति शास्त्र में कथित वातनाशक, अग्निदीपक और संशोधन प्रधान बस्ति (निरूह) का प्रयोग करें।

परिकर्तिका लक्षण व चिकित्सा

अतीव रूक्षेष्यतितीक्ष्णभेषजे-। ष्यतीव चोष्णे लवणेऽधिकेऽपि वा॥
करोति बस्तिः पवनं सपित्तकं। ततोऽस्य गात्रे परिकर्तिका भवेत् ॥ 112॥
यतस्समग्रं गुदनाभिबस्तिकं। विकृष्यते तत्परिकर्तिका मता॥
ततोऽत्र यष्टीमधुपिच्छिलौषधै-। र्निरूहयेदप्यनुवासयेदतः॥ 113॥

भावार्थ : अत्यन्त रूक्ष, तीक्ष्ण, अत्यन्त उष्ण व अत्यधिक लवण से युक्त औषधियों द्वारा किया हुआ बस्तिप्रयोग उष्णपित्त से युक्त वायु को प्रकुपित करके परिकर्तिका को उत्पन्न करता है। जिसमें संपूर्ण गुदा, नाभि, बस्ति (मूत्राशय) प्रदेशों को खींचने या काटने जैसी पीड़ा होती है, उसे परिकर्तिका कहते हैं। ऐसी अवस्था में मुलैठी व अधिक पिच्छिल औषधियों द्वारा, आस्थापन व अनुवासन बस्ति का प्रयोग करना चाहिए।

पारिस्राव का लक्षण

तथातितीक्ष्णाम्लपटुप्रयोगतो। भवेत्परिस्रावमहामयो नृणाम्।
स चापि दौर्बल्यमिहांगसादनं। विधाय संस्रावयतीह पैत्तिकम्॥ 114॥

भावार्थ : अत्यन्त तीक्ष्ण आम्ल औषधियों के द्वारा प्रयुक्त बस्ति से मनुष्यों को परिस्राव नामक महारोग उत्पन्न होता है। जिसमें शरीर में अत्यन्त अशक्तपना व थकावट होकर पित्त स्राव होने लगता है।

प्रवाहिका लक्षण

सुतीक्ष्णगस्तेरनुवासतोपि वा। प्रवाहिका स्यादतियोगमापदः।
प्रवाहमाणस्य विदाहशूलवत्। सरक्तकृषातिकफागमो भवेत्॥ 115॥

भावार्थ : अत्यन्त तीक्ष्ण आस्थापन बस्ति वा अनुवासन बस्ति के प्रयोग से उनका अतियोग होकर, प्रवाहिका उत्पन्न होती है जिसमें प्रवाहण (दस्त लाने के लिए जोर लगाना) करते हुए मनुष्य के गुदामार्ग से दाह व शूल के साथ-साथ लाल (अथवा रक्तमिश्रित) व काले रंग से युक्त अधिक कफ निकलता है।

इन दोनों की चिकित्सा

ततस्तु सर्पिर्मधुरौषधद्रवै-। र्निरूहयेदप्यनुवासयेत्ततः॥
सुपिच्छलैः शीतलभेषजान्वितैः। घृतैः सुतैलैः पयसैव भोजयेत्॥ 116॥

भावार्थ : इन दोनों रोगों के उत्पन्न होने पर, पहले घी व मधुर औषधियों के काढ़े से, निरूह बस्ति का प्रयोग करके पश्चात् पिच्छिल व शीतल औषधियों से संयुक्त घी या तैल से अनुवासनबस्ति देवें एवं उसे दूध ही के साथ भोजन करावें।

हृदयोपसरण लक्षण

समारुते तीक्ष्णतरातिपीडितः करोति बस्तिर्हृदयोपसर्पणम्।

तदेव मूर्च्छोन्मददाहगौरवप्रसेकनानाविधवेदनावहम्॥ 117॥

भावार्थ : वातोद्रेक[1] से युक्त रोगी को अत्यन्त तीक्ष्ण औषधियों से संयुक्त बस्ति को जोर से दबाकर अंदर प्रवेश करा दें, तो उससे हृदयोपसरण (हृदयोपसर्पण) होता है। अर्थात् बस्ति के द्वारा प्रकुपित दोष हृदय के तरफ जाकर उसे आक्रमण करते हैं (इसे हृदयोपसर्पण कहते हैं) जिससे उसी समय मूर्च्छा, उन्माद (पागलपना) दाह, शरीर का भारीपन, लार गिरना आदि नाना प्रकार के उपद्रव होते हैं।

हृदयोपसरण चिकित्सा

त्रिदोषभैषज्य - गणैर्विशोधनैर्निरूहयेच्चाप्यनुवासयेत्ततः।

अंगग्रहअतियोगलक्षण व चिकित्सा

अथानिलात्मा प्रकृतेर्विरूक्षितः सुदुःखशय्याधिगतस्य वा पुनः॥ 118॥

कृताल्पवीर्यौषधबस्तिरुद्धतः करोति चांगग्रहणं सुदुर्ग्रहम्।

तथांगसादांगविजृंभवपथु - प्रतीतवाताधिकवेदनाश्रयान्॥ 119॥

अतोऽत्र वातामयसच्चिकित्सितं विधेयमत्युद्धतवातभेषजैः।

अथाल्पदोषस्य मृदूदरस्य वा तथैव सुस्विन्नतनोश्च देहिनः॥ 120॥

सुतीक्ष्णबस्तिस्सहसा नियोजितः करोति साक्षादतियोगमद्भुतम्।

तमत्र यष्टीमधुकैः पयोघृतैः विधाय बस्तिं शमयेद्यथासुखम्॥ 121॥

भावार्थ : हृदयोपसरणचिकित्सा–हृदयोपसर्पण के उपस्थित होने पर, त्रिदोषनाशक व शोधन औषधियों द्वारा निरूह बस्ति देकर पश्चात् अनुवासन बस्ति का प्रयोग कर देना चाहिए। **अंगहण लक्षण** - जिनका शरीर अधिक वात से व्याप्त हो तथा रूक्ष प्रकृति का हो, (शरीर अधिक रूक्ष हो) एवं बस्तिकर्म के लिए जैसा सोना चाहिए वैसा न सोकर यद्वा तद्वा सोये हों, ऐसे मनुष्यों के लिए यदि अल्पवीर्य वाले औषधियों से संयुक्त बस्ति का प्रयोग किया जाये, तो वह दुःसाध्य अंगग्रह (अंगों का अकड़ना) को उत्पन्न करता है, जिसमें अंगों में थकाव, जंभाही, कम्प (अंगों के कांपना) एवं वात के उद्रेक होने पर जो लक्षण प्रकट होते हैं, वे भी लक्षण प्रकट होते हैं। **उसकी चिकित्सा** - ऐसा होने पर, वात को नाश करने वाले विशिष्ट औषधों द्वारा, वातव्याधि में कथित चिकित्सा क्रमानुसार चिकित्सा

1. इस विषय को ग्रंथांतर में इस प्रकार प्रतिपादन किया है कि तीक्ष्ण निरूह बस्ति देने से तथा वातयुक्त में अनुवासन बस्ति देने से हृदयोपसरण होता है।

करें। **अतियोग का लक्षण** – जिसके शरीर में दोष अल्प हो, उदर (कोष्ठ) भी मृदु हो, एवं जिसके शरीर से अच्छी तरह से पसीना निकाला गया हो अर्थात् अधिक स्वेदन किया गया हो ऐसे मनुष्यों को यदि सहसा अत्यन्त तीक्ष्ण व अधिक प्रमाण में बस्ति का प्रयोग करें। तो वह भयंकर अतियोग को उत्पन्न करता है। ऐसी अवस्था में मुलैठी, दूध, घी इनसे यथा सुख (जैसे सुख हो) बस्ति देकर अतियोग को शमन करें।

जीवादान व उसकी चिकित्सा

इहातियोगेऽप्यतिजीवशोणितं। प्रवर्तते यत्खलु जीवपूर्वकम्।
तदेवमादानमुदाहृतं जिनैर्विरेचनोक्तं सचिकित्सितं भवेत्॥ 122॥

भावार्थ : पूर्वोक्त अतियोग के बढ़ जाने पर जीवशोणित (जीवन के प्राणभूत रक्त) की अधिक प्रवृत्ति होती हैं। इसे ही जिनेन्द्र भगवान् ने जीवादान कहा है। इस अवस्था में विरेचन के अतियोग में प्रतिपादित चिकित्सा विधि के अनुसार चिकित्सा करें।

बस्तिव्यापद्वर्णन का उपसंहार

इत्येवं विविधविकल्पबस्तिकार्य - व्यापत्सु प्रतिपदमादराच्चिकित्सा।
व्याख्याता तदनु यथाक्रमेण। बस्तिव्यापारं कथितमपीह संविधास्ये॥ 123॥

भावार्थ : इस प्रकार अनेक प्रकार के भेदों से विभक्त बस्तिकर्म में होने वाली व्यापत्तियों को एवं उनकी चिकित्साओं को भी आदर पूर्वक निरूपण किया है। इसके अनन्तर बस्तिविधि का वर्णन पहले कर चुकने पर भी फिर से इसी विषय का (कुछ विशेष रूप से) क्रमशः प्रतिपादन किया जायगा।

अनुबस्तिविधि

शास्त्रज्ञः कृतवति सद्विरेचनेऽस्मिन्। सप्ताहर्जनितबलाय चाहृताय॥
स्त्रेहाख्यं कथितसमस्तबस्तिकार्यं। तं कुर्यात्पुरुषवयो बलानुरूपम्॥ 124॥

भावार्थ : जब श्रेष्ठ विरेचन देकर सात दिन बीत जावें, रोगी के शरीर में बल भी आ जावे तो उसे पथ्य भोजन कराकर अनुवासन के योग्य रोगी के आयु, बल इत्यादि के अनुसार पूर्व कथित स्नेह नामक बस्ति (अनुवासन बस्ति) का प्रयोग पूर्ण रूप से आयुर्वेद शास्त्रज्ञ वैद्य करें।

अनुवासन बस्ति की मात्रा व खाली पेट में बस्ति का निषेध

या मात्रा प्रथितनिरूहसद्रवेषु। स्नेहानामपि च तदर्धमुक्तमार्यैः।
नाभुक्तं नरमनुवासयेच्च रिक्ते। कोष्ठे तदुपरि निपात्य दोषकृत्स्यात्॥ 125॥
तस्मात्तं तदुचितमाशु भोजयित्वा। सार्द्रोद्यत्करमनुवासयेद्यथावत्॥
अज्ञानादधिकविदग्धभक्तयुक्तं। साक्षात्तज्ज्वरयति तत्तदेव योज्यम्॥ 126॥

भावार्थ : निरूहबस्ति के लिए द्रव का जो प्रमाण बतलाया गया है, उससे अर्धप्रमाण स्नेह बस्ति (अनुवासन) की मात्रा है। जिसने भोजन नहीं किया हो, उसे कभी भी (खाली पेट में) अनुवासन बस्ति का प्रयोग नहीं करना चाहिए। यदि खाली पेट में बस्ति का प्रयोग कर देवें तो वह ऊपर की तरफ जाकर दोष उत्पन्न करता है। इसलिए रोगी को शीघ्र योग्य पथ्यभोजन कराकर, जब हाथ गीला ही होवे तभी अनुवासनबस्ति का यथावत् प्रयोग करना चाहिए। यदि अज्ञान से विदग्ध आहार खाये हुए रोगी को बस्तिका प्रयोग कर दें तो वह ज्वर को उत्पन्न करता है। इसलिए योग्य आहार खिलाकर बस्ति का प्रयोग करें।

स्निग्धाहारी को अनुवासनबस्ति का निषेध

सुस्निग्धं बहुतरमन्नमाहृतस्य। प्रख्यातं भिषगनुवासयेन्न चैव॥
मूर्च्छा तृड्मदपरितापहेतुरुक्तः। स्नेहोयं द्विविधानतो नियुक्तः॥ 127॥

भावार्थ : जिसने अति स्निग्ध अन्न को, खा लिया हो उसे वैद्य अनुवासन बस्तिका प्रयोग कभी न करें। क्योंकि दोनों तरफ (मुख, गुदामार्ग से) से प्रयोग किया हुआ स्नेह, मूर्च्छा, प्यास, मद व संताप के लिए कारण होता है अर्थात् उससे मूर्च्छा आदि उपद्रव उत्पन्न होते हैं।

भोजनविधि

आहारक्रममवलोक्य रोगमत्ता। क्षीरेणाप्यधिकखलैस्सुयोगवर्गैः।
पादानं विदितयथोचितान्नतस्तं। संभोज्यातुरमनुवासयेद्यथावत्॥128॥

भावार्थ : रोगी के आहार क्रम को देखकर, दूध, खल व उसी प्रकार के खाद्य पदार्थों से जितना वह हमेशा भोजन करता है, उससे (उचित मात्रा से)चौथाई हिस्सा कम भोजन कराकर शास्त्रोक्त विधि से अनुवासन बस्ति का प्रयोग करना चाहिए।

अशुद्ध शरीर को अनुवासन का निषेध

देयं स्यान्न तदनुवासनं नरस्या-। शुद्धस्य प्रबलमलैर्निरूद्धमार्गे-।
ण व्याप्नोत्यधिगततैलवीर्यमूर्ध्वं। तस्मात्तत्प्रथमतरं विशोधयेत्तम्॥ 129॥

भावार्थ : अशुद्ध शरीर वाले मनुष्य का अनुवासन बस्ति का प्रयोग नहीं करना चाहिए। यदि उसे प्रयोग कर दें तो प्रबल मलों से मार्ग अवरुद्ध (रुक जाना) हो जाने के कारण, प्रयुक्त तैल का वीर्य ऊपर फैल जाता है। इसलिए अनुवासन बस्ति देने के पहले उसके शरीर को अवश्य शुद्ध कर लेना चाहिए।

अनुवासन की संख्या

रूक्षं तं प्रबलमहोद्धतोरुदोषं। द्विस्त्रिर्वाप्यधिकमथानुवास्य मर्त्यम्॥
स्निग्धांगः स्वयमपि चिंत्य दोषमार्गात्। पश्चात्तं तदनु निरूहयेद्यथावत्॥ 130॥

भावार्थ : जिसका शरीर रूक्ष हो, शरीर में दोष प्रबलता से कुपित हो रहे हों, ऐसे मनुष्य को उसके दोषों पर ध्यान देते हुये दो तीन अथवा इससे अधिक अनुवासन बस्ति देना चाहिए। जब शरीर (अनुवासन से) स्निग्ध हो जावे तो अपने आप बलाबल को विचार कर पश्चात् शास्त्रोक्त विधि के अनुसार निरूहबस्ति का प्रयोग करना चाहिए।

रात्रि-दिन बस्ति का प्रयोग

तं चाति प्रबलमलैरशुद्धदेहं। ज्ञात्वेह प्रकटमरुत्प्रपीडितांगम्।
रात्रावप्यहनि सदानुवासयेद्य-। द्वोषाणां प्रशमनमेव सर्वथेष्टम्॥ 131॥

भावार्थ : जिसका शरीर प्रबल मल से अशुद्ध हो और प्रबल वात से पीड़ित हो तो उसे दोषों का शमन करने में सर्वथा उपयुक्त ऐसे अनुवासन बस्तिका प्रयोग रात दिन हमेशा करना चाहिए।

अनुवासनबस्ति की विधि

स्वभ्यक्तं सुखसलिलैरिहाभिषिक्तं। शास्त्रोक्तक्रमविहितं तु भोजयित्वा॥
सिंधूत्थोज्वलशतपुष्पचूर्णयुक्तम्। संयुक्त्या विधिविहितानुवासनं तत्॥ 132॥
स्नेहोद्यत्प्रणिहितबस्तियुक्तमर्त्यं। ह्युत्तानोच्चलितसुखप्रसारितांगम्॥
वीर्यातिप्रसरणकारणं करांघ्रि-॥ स्फिग्देशान्करतलताडनानि युक्तान्॥ 133॥
त्रीन्वारं शयनमिहोत्क्षिपेत्क्षिपेच्च। स्नेहस्य प्रसरणसंचलार्थमित्थम्॥
ब्रूयात्तं क्षणशतमात्रकं तु पश्चात्। तिष्ठेति त्वमिह सुदक्षिणोरुपार्श्वे॥ 134॥
इत्येवं सुविहितसत्क्रियानियुक्तः। न्यस्तांगस्त्वमिह सुखं मलप्रवृत्यै॥
तिष्ठेति प्रतिपदमातुरं यथावत्। तं ब्रूयान्मलगमने यथा कथंचित्॥ 135॥

भावार्थ : अनुवासन करने योग्य मनुष्य को सबसे पहले ठीक-ठीक स्नेहाभ्यंग कराके गरम पानी से स्नान कराना चाहिए (जिससे पसीना निकल आवें)पश्चात् शास्त्रोक्त क्रम से भोजन कराकर, सैंधानमक व सोंफ के चूर्ण से युक्त, अनुवासन बस्ति का प्रयोग विधि प्रकार युक्ति से करना चाहिए। स्नेहबस्ति के प्रयोग करने क पश्चात् उस मनुष्य को (जिसको स्नेहबस्ति=अनुवासन बस्ति का प्रयोग किया है)(जितने समय में सौ गिने उतने समय तक) सुख पूर्वक अंगों को पसार कर चित सुलावें। ऐसा करने से बस्तिगत स्नेह का प्रभाव सब शरीर में पहुँच जाता है। इसके पश्चात् हाथ व पैर के तलवे और स्फिग (चूतड़) प्रदेश में (धीरे-धीरे) हाथ से थप्पड़[1] मारें। शय्या (पलंग, व्रेंच आदि) को तीन बार ऊपर की ओर उठावें। स्नेह के प्रसरण व चलन के लिए तुम सौ क्षण तक दक्षिण पार्श्व के बल से रहो

1. यह इसीलिए किया जाता है कि प्रयुक्त स्नेह शीघ्र बाहर नहीं आने पावें।

ऐसा रोगी से कहना चाहिए। इस प्रकार जिस को अच्छी तरह से अनुवासन बस्ति का प्रयोग किया गया है उससे कहना चाहिए कि सुखपूर्वक मल की प्रवृत्ति (बाहर आना)के लिए तुम पग के बल से, जैसा मल बाहर आने में सुभीता हो बैठो। अर्थात् उसे उकरू बैठालना चाहिए।

बस्ति के गुण

एवं दत्तः सुबस्तिः प्रथमतरमिह स्नेहयेद्वंक्षणे त-।
द्वरितः सम्यग्द्वितीयः सकलतनुगतं वातमुध्दूय तिष्ठेत्॥
तेजोवर्णं बलं चावहति विधियुतं सत्तृतीयश्चतुर्थः।
साक्षात्सम्यग्रसं तं रुधिरमिह महापंचमोऽयं प्रयुक्तः॥ 136॥
षष्टस्तु स्नेहबस्तिर्पिशितमिहरसान् स्नेहयेत्सप्तमोऽसौ।
साक्षादित्यष्टमोऽयं नवम इह महानस्थिमज्जानमुद्य-॥
च्छुक्रोद्भूतान्विकारान् शमयति दशमो ह्येवमेव प्रकरा-।
द्वद्याद्वत्तं निरूहं तदनु नवदशाष्टौ तथा स्नेहबस्तिः॥ 137॥

भावार्थ : विधिप्रकार प्रयुक्त प्रथम बस्ति वंक्षण (राङ) को स्निग्ध करती है। द्वितीय बस्ति सर्व शरीरगत वातरोग को नाश करती है। तीसरी बस्ति शरीर में तेज, वर्ण व बल को उत्पन्न करती है। चौथी बस्ति रस को स्निग्ध करती है। पाँचवी, रक्त को स्निग्ध करती है। छटवी बस्ति मांस को स्निग्ध करती है। सातवीं बस्ति रसों (मेद)को स्निग्ध करती है। आठवीं व नवमीं बस्ति, अस्थि (हड्डी)व मज्जा में स्नेहन करती है। दशवीं बस्ति, शुक्र में उत्पन्न विकारों को शमन करती है। इसी प्रकार से, निरूह बस्ति प्रयुक्त मनुष्य को, नौ अथवा अठारह अनुवासन बस्तियों का प्रयोग कर देना चाहिए।

तीन सौ चौबीस बस्ति के गुण

एवं सुस्नेहबस्तित्रिशतमपि चतुर्विंशति चोपयुक्तान्।
मर्त्योऽमर्त्यस्वरूपो भवति निजगुणैस्तु द्वितीयोऽद्वितीयः॥
कामस्साक्षादपूर्वः सकलतनुभृतां हृन्मनोनेत्रहारी।
जीवेद्दिव्यात्मदेहः प्रबलबलयुतो वत्सराणां सहस्रम्॥138॥

भावार्थ : इस प्रकार शास्त्रोक्त विधि से तीन सौ चौबीस स्नेहन बस्तियों के प्रयोग करने से वह मनुष्य अपने गुणों से साक्षात् द्वितीय देव के समान बन जाता है। संपूर्ण प्राणियों के हृदय, मन व नेत्र को आकर्षित करने वाले देह को धारणकर वह साक्षात् अपूर्व कामदेव के समान होता है। इतना ही नहीं वह दिव्य देह व विशिष्ट बल से युक्त होकर हजारों वर्ष जीवेगा अर्थात् दीर्घायुषी होगा।

सम्यगनुवासित के लक्षण व स्नेह बस्ति के उपद्रव

स्नेहं प्रत्येति यश्च प्रबलमरुदुपेतः पुरीषान्वितः सन्।
सोऽयं सम्यग्विशेषद्धिधि विहितमहास्नेह बस्ति प्रयुक्तः॥
स्नेहः स्वल्पं स्वयं हि प्रकटबलमहादोषवर्गाभिभूतो।
नैवागच्छन्स्थितोऽसौ भवति विविधदोषावहद्वोषभेदात्॥139॥

भावार्थ : शास्त्रोक्त विधि के अनुसार सम्यक् प्रकार से स्नेहबस्ति (अनुवासनबस्ति) प्रयुक्त होवे तो स्नेह, प्रबलवात व मल से युक्त होकर बाहर आ जाता है। (यदि कोष्ठ में वातादि दोष प्रबल हो ऐसे मनुष्य को) अल्पशक्ति के स्नेह को अल्पप्रमाण में प्रयोग किया जाये तो वह प्रबल वातादि दोषों से तिरस्कृत (व्याप्त) होते हुए, बाहर न आकर ही ठहर जाता है। इस प्रकार रहा हुआ स्नेह नाना प्रकार के दोषों को उत्पन्न करता है।

वातादि दोषों से अभिभूत स्नेह के उपद्रव

वाते वक्त्रं कषायं भवति विषमरूक्षज्वरो वेदनाढ्यः।
पित्तेनास्यं कटुः स्यात्तदपि च बहुपित्तज्वरः पीतभावः॥
श्लेष्मण्येवं मुखं संभवति मधुरमुत्क्लेदशीतज्वरोऽपि।
श्लेष्मः छर्दिप्रसेकस्तत इह हितकृद्वोषभेदान्निरूहः॥140॥

भावार्थ : अनुवासन बस्ति के द्वारा प्रयुक्त स्नेह यदि वात से अभिभूत (पराजित)(वायु के अधीन) होवे तो मुख कषैला होता है। शरीर रूक्ष होता है। विषमज्वर उत्पन्न होता है एवं वातोद्रेक की अन्य वेदनायें भी प्रकट होती हैं। पित्त से अभिभूत होवे तो, मुख कडुआ, पित्तज्वर की उत्पत्ति व शरीर, मल-मूत्रादिक पीले हो जाते हैं। स्नेह, कफ से अभिभूत होने पर मुख मीठा, उत्क्लेद, शीतज्वर, कफ का वमन व प्रसेक (लार टपकना)होता है। ऐसा हो जाने पर दोषों के अनुसार (तत्तद्वोषनाशक) हितकारक निरूहबस्ति का प्रयोग करें।

अन्नाभिभूत स्नेह के उपद्रव

संपूर्णाहारयुक्ते सुविहितहितकृत् स्नेहबस्तिप्रयुक्तो।
प्रत्येत्यन्नातिमिश्रस्तत इह हृदयोत्पीडनं श्वासकासौ॥
वैस्वर्यारोचकावप्यनिलगतिनिरोधो गुरुत्वं च कुक्षौ।
भूयात् कृत्वोपवासं तदनुविधियुतं दीपनं च प्रकुर्यात्॥ 141॥

भावार्थ : भर पेट भोजन किए हुए रोगी को हितकारक स्नेहबस्ति को शास्त्रोक्त विधि से प्रयोग

करने पर भी, वह अन्न से अभिभूत (अन्न के आधीन) होकर बाहर नहीं आता है, जिससे हृदय में पीड़ा, श्वासकास, वैस्वर्य (स्वर का विकृत हो जाना) अरुचि, वायु का अवरोध, व उदर में भारीपना उत्पन्न होता है। यह उपद्रव उपस्थित होने पर, रोगी को लंघन कराकर पश्चात् विधि प्रकार दीपन का प्रयोग करना चाहिए।

अशुद्धकोष्ठ के मल मिश्रित स्नेह के उपद्रव

अत्यन्ताशुद्धकोष्ठे विधिविहितकृतः स्नेह बस्तिः पुरीषो-।
न्मिश्रो नैवागामिष्यन्मलनिलयगुरुत्वातिशूलांगसादा-॥
ध्मानं कृत्वातिदुःखं जनयति नितरां तत्र तीक्ष्णौषधैर्वा-।
स्थाप्युग्रं चानुवासं वितरतु विधिवत्तत्सुखार्थं हितार्थम्॥ 142॥

भावार्थ : जिसके कोष्ठ अत्यन्त अशुद्ध है(विरेचन व निरूह बस्ति द्वारा कोष्ठ का शोधन नहीं किया गया हो) ऐसे मनुष्य को शास्त्रोक्त विधि से प्रयुक्त हितकारक भी स्नेहबस्ति मल से मिश्रित होकर, बाहर न निकलती है और वह पक्वाशय मे गुरुत्व (भारीपन)व शूल अंगों में थकावट व अफरा को उत्पन्न करके अत्यन्त दुःख देती है। ऐसा होने पर रोगी के सुख व हित के लिए विधि प्रकार तीक्ष्ण औषधियों से, तीक्ष्ण आस्थापन व अनुवासन बस्ति का प्रयोग करें।

ऊर्ध्वगत स्नेह के उपद्रव

वेगेनोत्पीडितासावधिकतरमिह स्नेह उत्पद्यतोर्ध्वं।
व्याप्तं श्वासोरुकासारुचिवमथुशिरोगौरवात्यंतनिद्राः॥
संपाद्य स्नेहगंधं मुखमखिलतनोश्चेंद्रियाणां प्रलेपं।
कुर्यादार्योऽतिपीडाक्रममिह विधिनास्थापयेत्तं विदित्वा॥ 143॥

भावार्थ : स्नेह बस्ति के प्रयोग करते समय, अधिक वेग से पिचकारी को दवावें तो, स्नेह अधिक ऊपर चला जाता है जिससे श्वास, कास, अरुचि, अधिक थूंक आना, शिरोगौरव (शिर का भारीपना) और अधिक निद्रा ये विकार उत्पन्न होते हैं। मुख, स्नेह के गंध से युक्त होता है(मुख की तरफ से स्नेह की बास आने लगती है) शरीर और इंद्रियों में उपलेप होता है। ऐसा होने पर, जो पीड़ा (रोग) उत्पन्न हुई है, उसे जानकर उसके अनुकूल आस्थापनबस्ति का प्रयोग विधि प्रकार करें।

असंस्कृतशरीरी को प्रयुक्त स्नेह का उपद्रव

निर्वीर्यो वाल्पमात्रेऽप्यतिमृदुरिह संयोजितः स्नेहबस्ति-।
र्न प्रत्यागच्छतीह प्रकटविदितसंस्कारहीनात्मदेहं॥
स्नेहः स्थित्वोदरे गौरवमुखविरसाध्मानशूलावहः स्यात्।
तत्राप्यास्थापनं तद्धिततनुमनुवासस्य वासावसाने॥ 144॥

भावार्थ : स्वेदन विरेचनादिक से जिसके शरीर का संस्कार नहीं किया गया हो, उसे शक्तिरहित, अल्पमात्र व मृदु, स्नेहबस्ति का प्रयोग करें तो वह फिर बाहर नहीं आता है। तेल पेट में ही रहकर पेट में भारीपना, मुख में विरसता, पेट का अफराना, शूल आदि विकारों को उत्पन्न करता है। ऐसी अवस्था में अनुवासन बस्ति का प्रयोग करके पश्चात् आस्थापन बस्ति देवें।

अल्पाहारी को प्रयुक्त स्नेह का उपद्रव

स्वल्पाहारेऽल्पमात्रःसुविहितहितवत् स्नेहबस्तिर्न चैवं।
तत्कालादागमिष्यत्क्लमविरस - शिरोगौरवात्यंगसादान्॥
कृत्वा दुःखप्रदः स्यादिति भिषगधिकास्थापनं तत्र कुर्या-।
दार्यो वीर्योरुवीर्योषधवृतमखिलाकार्यकार्यैकवेदी॥ 145॥

भावार्थ : स्वल्प भोजन किए हुए रागी को, अल्पमात्रा में स्नेहबस्ति का प्रयोग करें, चाहे वह हितकारक हो, व विधि प्रकार भी प्रयुक्त हो तो भी वह तत्काल बाहर न आकर ग्लानि, मुख में विरसता, शिर का भारीपना, अंगों में अधिक थकावट आदि विकारों को उत्पन्न कर के अत्यन्त दुःख देता है। ऐसी अवस्था में कार्य अकार्य को जानने वाला बुद्धिमान् वैद्य, अत्यन्त वीर्यवान् औषधियों से संयुक्त आस्थापनबस्ति का प्रयोग करें।

स्नेह का शीघ्र आना और न आना

अत्युष्णो वातितीक्ष्णस्सजलमरुदुपेतः प्रयुक्तोऽतिमात्रो।
स्नेहस्सद्योऽतिवेगं स्रवति फलमतो नास्ति चेति प्रकुर्यात्
सम्यग्भूयोऽनुवासं तदनुगतमहोरात्रतस्सन्निवृत्तो।
बस्तिर्विस्तारकं वा अशनमिव भवेज्जीर्णवानल्पवीर्यः॥ 146॥

भावार्थ : अत्यन्त उष्ण व तीक्ष्ण, जलवात से युक्त स्नेहन बस्ति को अधिक मात्रा में प्रयोग किया जाये तो बहुत जल्दी द्रव बाहर आ जाता है। उससे कोई प्रयोजन नहीं होता है। उस अवस्था में बार-बार अच्छी तरह से अनुवासन बस्ति का प्रयोग करना चाहिए। बस्ति के द्वारा प्रयुक्त स्नेह यदि एक दिन रात में भी (24 घंटे में) बाहर आ जावे तो भी वह दोषकारक नहीं होता है। बल्कि बस्ति के गुण को करता है। लेकिन वह पेट में ही भोजन के सदृश पच जावे तो अल्पगुण को करता है(उससे अधिक फायदा नहीं होता है)।

स्नेह बस्ति का उपसंहार

इत्यनेकविधदोषगणाढयस्सच्चिकित्सितयुतः कथितोऽयम्।
स्नेहबस्तिरत ऊर्ध्वमुदारो वक्ष्यते निगदितोऽपि निरूहः॥ 147॥

भावार्थ : इस प्रकार स्नेहबस्ति (अनुवासनबस्ति)के अनेक प्रकार के उपद्रव और उनकी चिकित्साओं का निरूपण किया गया। इसके आगे, जिसका कि कथन पहले किया गया है, ऐसे निरूहबस्ति के विषय में फिर भी विस्तृत रूप से प्रतिपादन करेंगे।

निरूहबस्ति प्रयोग विधि

स्नेहबस्तिमथवापि निरूहं कर्तुमुद्यतमनाः सहसैवा-।
भ्यक्ततप्ततनुमातुरमुत्सृष्टात्ममूत्रमलमाशु विधाय॥ 148॥
प्रोक्तलक्षणनिवातगृहे मध्येऽच्छभूमिशयने त्वथ मध्या-।
न्हे यथोक्तविधिनात्र निरूहं योजयेदधिकृतक्रमवेदी॥ 149॥

भावार्थ : स्नेहबस्ति अथवा निरूहबस्ति का प्रयोग जिस समय करने के लिए वैद्य उद्यत हो उस समय शीघ्र ही रोगी को अभ्यंग (तैल आदि स्नेह का मालिश)व स्वेदन कराकर, मल-मूत्र का विसर्जन करावें। पश्चात् इस रोगी को वातरहित मकान के बीच जिस के सुलक्षणों का पहले कह चुके हैं, स्वच्छ भूमि के तलपर शयन कराकर मध्याह्न के समय विधिपूर्वक निरूहबस्ति का प्रयोग, बस्तिविधान को जानने वाला वैद्य करें।

सुनिरूढ लक्षण

यस्य च द्रवपुरीषसुपित्त श्लेष्मवायुगतिरत्र सुदृष्टा।
वेदनाप्रशमनं लघुता चेत्येष एव हि भवेत्सुनिरूहे॥ 150॥

भावार्थ : निरूहबस्ति का प्रयोग करने पर जिसके प्रयोग किया हुआ द्रव, मल, पित्त, कफ व वायु क्रमशः बाहर निकल आवे, रोग की उपशांति हो, शरीर भी हल्का हो तो समझना चाहिए कि निरूह बस्ति का प्रयोग ठीक-ठीक हो गया है। अर्थात् ये सुनिरूढ के लक्षण हैं।

सम्यगनुवासन व निरूह के लक्षण

व्याधिनिग्रह[1] मलातिविशुद्धिं स्वेंद्रियात्ममनसामापि तुष्टिम्।
स्नेहबस्तिषु निरूहगणेष्वप्येतदेव हि सुलक्षणमुक्तम्॥ 151॥

भावार्थ : जिस व्याधि के नाशार्थ बस्ति का प्रयोग किया है, उस व्याधि का नाश व मल का शोधन, इंद्रिय, आत्मा व मन में प्रसन्नता का अविर्भाव, ये सम्यगनुवासन व सम्यग्निरूह के लक्षण हैं।

1. 'व्याधितानिह' इति पाठांतरं।

वातघ्न निरूह बस्ति

तत्र वातहरभेषजकल्कक्वाथतैल - घृतसैंधवयुक्ताः।

साम्लिकाः प्रकुपितानिलकाये बस्तयस्सुखकरास्तु सुखोष्णाः॥ 152॥

भावार्थ : यदि रोगी को वात का उद्रेक होकर उससे अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न हो जाये तो उस अवस्था में वातहर औषधियों के कल्क क्वाथ, तैल, घृत व सैंधानमक व आम्लवर्ग औषधि, इनसे युक्त सुखोष्ण (कुछ गरम)(निरूह बस्ति का प्रयोग करना सुखकारक होता है)। इसलिए वातोद्रेकजन्य रोगों में ऐसे बस्ति का प्रयोग करना चाहिए।

पित्तघ्न निरूहबस्ति

क्षीरवृक्षकमलोत्पलकाकोल्यादिनिक्वथित - तोयसुशीताः।

बस्तयः कुपितपित्तहितास्ते शर्कराघृतपयः परिमिश्राः॥ 153॥

भावार्थ : पित्तप्रकोप से उत्पन्न विकारों में दूधिया वृक्ष, कमल, नीलकमल एवं काकोल्यादिगण[1] से तैयार किए हुए क्वाथ में शक्कर, घी व दूध को मिलाकर बस्ति देवें तो हितकर होता है।

कफघ्न निरूहबस्ति

राजवृक्षकुटजत्रिकटोग्राक्षारतोयसहितास्तु समूत्राः।

बस्तयः प्रकुपितोरुकफघ्ना स्सैंधवादिलवणास्तु सुखोष्णाः॥ 154॥

भावार्थ : अमलतास, कूड़ा, सोंठ, मिरच, पीपल, बच, इनके क्वाथ व कल्क में क्षारजल, गोमूत्र व सैंधवादि लवणगण को मिलाकर कुछ गरम-गरम बस्ति देवें तो यह प्रकुपित भयंकर कफ को नाश करती है।

शोधन बस्ति

शोधनद्रवसुशोधनकल्कस्नेहसैंधवयुतापि च ताः स्युः।

बस्तयः प्रथितशोधनंसज्ञाश्शोधनार्थमधिकं विहितास्ते॥ 155॥

भावार्थ : शोधन औषधियों से निर्मित द्रव एवं शोधन औषधियों से तैयार किया गया कल्क, तैल, सैंधानमक, इन सबको मिलाकर तैयार की गयी बस्तियों को शोधनबस्ति कहते हैं। ये बस्तियाँ शरीर का शोधन (शुद्धि)करने के लिए उपयुक्त है।

1. **काकोल्यादिगण** - काकोली, क्षीरकाकोली, जीवक, ऋषभक,ऋद्धि, वृद्धि, मेदा, गिलोय, मुगवन, पद्माख, वंशलोचन, काकडाशिंगी, पुंडरिया, जीवंती, मुलहठी, दाख।

लेखन बस्ति

क्षारमूत्रसहिताः त्रिफलाक्काथोत्कटाः कटुकभेषजमिश्राः।

ऊषकादिलवणैरपि युक्ता बस्तयस्तनुविलेखनकाः स्युः॥ 156॥

भावार्थ : त्रिफला के क्वाथ में कटु औषधि व क्षारगोमूत्र उषकादिगणोक्त औषधियों के कल्क, लवणवर्ग इनको डालकर जो बस्ति तैयार की जाती है, उसे लेखनबस्ति कहते हैं। क्योंकि यह बस्ति शरीर के दोषों को खरोंचकर निकालती है।

बृंहण बस्ति

अश्वगंधवरवज्रलतामापाद्य शेषमधुरौषधयुक्ताः।

बस्तयः प्रकटबृंहणसंज्ञाः माहिषोरुदधिदुग्धघृताढ्याः॥ 157॥

भावार्थ : असगंध (शतवरी) वज्रलता आदि बृंहण औषधियों के क्वाथ में मधुर औषधियों के कल्क को मिलाकर भैंस का दही, दूध व घी सहित जो बस्ति दी जाती है, उन्हें बृंहणबस्ति कहते हैं। जिनसे शरीर के धातु व उपधातुओं की वृद्धि होती है।

शमन बस्ति

क्षीरवृक्षमधुरौषधशीत - द्रव्यतोयवरकल्कसमेताः।

बस्तयः प्रशमनैकविशेषाः शर्करेक्षुरसदुग्धघृताक्ताः॥ 158॥

भावार्थ : दूधिया वृक्ष, मधुर औषध वर्ग व शीतल गुण युक्त औषध इनके क्वाथ में इन्हीं औषधियों के कल्क व शक्कर, ईख का रस, दूध, घी मिलाकर तैयार की हुई बस्ति प्रशमनबस्ति कहलाती है, जो शरीरगत दोषों को उपशम करती है।

बाजीकरण बस्ति

उच्चटेक्षुरकगोक्षुरयष्टीमाषगुप्तफल - कल्ककषायैः।

संयुता घृतसिताधिकदुग्धैर्बस्तयः प्रवरवृष्यकरास्ते॥ 159॥

भावार्थ : उटंगन के बीज, तालमखाना, गोखरू, ज्येष्ठमध, माष (उड़द) कौंच के बीज इनके कषाय में इन्हीं के कल्क, घी, शक्कर व दूध को मिलाकर तैयार की हुई बस्ति वृष्यबस्ति कहलाती है, जो पुरुषों को परम बलदायक (वाजीकरणकर्ता) है।

पिच्छिल बस्ति

शेलुशाल्मलिविदारिबदर्यैरावती - प्रभृतिपिच्छिलवर्गैः।

पक्वतोयघृतदुग्धसुकल्कैर्बस्तयो विहितपिच्छिलसंज्ञाः॥ 160॥

भावार्थ : लिसोडा, सेमल, विदारीकंद, बेर, नागबला आदिक पिच्छिल औषधि वर्ग, इनसे पकाया हुआ जल (क्वाथ) घी, दूध व कल्कों से तैयार की हुई बस्तियों को पिच्छिलबस्ति कहते हैं।

संग्रहण बस्ति

सत्प्रियंगुघनवारिसमंगापिष्टकाकृतकषायसुकल्कैः ।

छागदुग्धयुत्तबस्तिगणास्सांग्राहिकास्सततमेव निरुक्ताः ॥161॥

भावार्थ : प्रियंगु, मोथा, सुगंध वाला, मंजीठ, पिष्टका इनके कषाय व कल्क के साथ बकरी के दूध को मिलाकर तैयार किया हुआ बस्ति सांग्राहिक बस्ति कहलाता है, जो कि मल को रोकता है।

वंध्यात्वनाशक बस्ति

यद्वलाशतविपक्वसुतैलंस्नेहबस्तिरनपत्य - नराणाम्।

योषितां च विहितस्तु सुपुत्रानुत्तमानतितरां विदधाति॥ 162॥

भावार्थ : खरैटी के क्वाथ, कल्क से सौ बार[1] (शतपाकविधान से)पकाये हुए तैल से (बला तैल से) संतानरहित स्त्री पुरुषों को (जिनको के स्नेहन, स्वेदन वमन विरेचन से संस्कृत किया है)स्नेह बस्ति का प्रयोग करें, तो उनको अत्यन्त उत्तम, अनेक पुत्र उत्पन्न होते हैं।

गुडतैलिकबस्ति

भूपतिप्रवरभूपसमान - द्रव्यतस्स्थविरबालमृदूनाम्।

योषितां विषमदोषहरार्थं वक्ष्यतेऽत्र गुडतैलविधानम्॥163॥

भावार्थ : राजा, राजा के समान रहने वाले बड़े आदमी, अत्यन्त वृद्ध, बालक सुकुमार व स्त्रियाँ जिनको कि अपने स्वभाव से उपरोक्त बस्तिकर्म सहन नहीं हो सकता है, उनके अत्यन्त भयंकर दोषों को निकालने के लिए अब गुड़ तैल का विधान कहेंगे, जिससे सरलतया उपरोक्त बस्तिकर्म सदृश ही चिकित्सा होगी।

गुडतैलिक बस्ति में विशेषता

अन्नपानशयनासनभोगे नास्ति तस्य परिहारविधानम्।

यत्र चेच्छति तदैव विधेयम् गौडतैलिकमिदं फलवच्च॥164॥

भावार्थ : इस गुड़ तैलिक बस्ति के प्रयोग काल में अन्न, पान, शयन, आसन, मैथुन इत्यादिक के बारे में किसी प्रकार की परहेज करने की जरुरत नहीं है अर्थात् सब तरह के आहार, विहार को सेवन करते हुए भी बस्तिग्रहण कर सकता है। उसी प्रकार इसे जिस देश में जब चाहे प्रयोग कर सकते हैं (इसे

1. इसका विधान पहले कह चुके हैं।

किसी भी देशकाल में भी प्रयोग कर सकते हैं) एवं इसका फल भी अधिक है।

गुडतैलिक बस्ति

गौडतैलिकमितीह गुडं तैलं समं भवति यत्र निरूहे।

चित्रबीजतरुमूलकषायैः संयुतो विषमदोषहरस्स्यात्॥ 165॥

भावार्थ : जिस निरूह बस्ति में गुड और तैल समान प्रमाण में डाला जाता है उसे गुडतैलिक कहते हैं। इसको (गुड़, तैल को) एरंडी के जड़ के कषाय[1] के साथ मिलाकर प्रयोग करने से सर्व विषम दोष दूर हो जाते हैं।

युक्तरथ बस्ति

तद्गुडं तिलजमेव समानं तत्कषायसहितं जटिला[2] च।

पिप्पलीमदनसैंधवयुक्तं बस्तिरेष वसुयुक्तरथाख्यः॥ 166॥

भावार्थ : गुड़, तिल का तैल समान भाग लेकर इसमें एरंडी के जड़ का काढ़ा मिलायें। इसमें वच, पीपल, मेनफल व सैंधानमक इनके कल्क मिलाकर बस्ति देवें इस बस्ति को वसुयुक्तरथ (युक्त रथ)बस्ति कहते हैं।

शूलघ्न बस्ति

देवदारुशतपुष्पसुरास्ना हिंगुसैंधवगुडं तिलजं च।

चित्रबीजतरुमूलकषायैर्बस्तिरुग्रतरशूलकुलघ्नम्॥ 167॥

भावार्थ : देवदारु, सौंफ, रास्ना, हींग, सैंधानमक, इनके कल्क, गुड़, तिल व एरंडी के जड़ का काढ़ा, इन सबको मिलाकर बस्ति देने से भयंकर शूल नाश होता है। इसे शूलघ्न[3] बस्ति कहते हैं।

सिद्धबस्ति

कोलसद्यवकुलत्थरसाढ्यः पिप्पलीमधुकसैंधवयुक्तः।

जीर्णसद्गुडतिलोद्भवमिश्रः सिद्धबस्तिरिति सिद्धफलोऽयम्॥ 168॥

भावार्थ : बेर, जौ, कुलथी इनके काढ़े में पीपल, मुलैठी व सैंधानमक के कल्क और पुरानी गुड़ व तिल्ली का तैल मिलाकर बस्ति देवें। इसे सिद्धबस्ति कहते हैं। यह बस्ति अव्यर्थ फलदायक है।

---

1. गुड़ और तैल इन दोनों के बराबर कषाय लेना चाहिए।
2. 'तिलजं' इति पाठांतरं।
3. इसे अन्य ग्रंथों में 'दोषहरबस्ति' कहा है।

गुड़तैलिक बस्ति के उपसंहार

इति पुराणगुडैस्सतिलोद्भवैस्समधृतैः कथितद्रवसंयुतैः।

सुविहितं कुरु बस्तिमनेकदा विविधदोषहरं विविधौषधैः॥ 169॥

भावार्थ : समान भाग में लिए गए गुड़ व तैल, पूर्वोक्त द्रव (एरंडी का काढ़ा) व नाना प्रकार के औषध (गुड़ तैलिक) इनसे मिला हुआ (अथवा इनसे सिद्ध) बस्ति को जो कि, नाना प्रकार के दोषों को नाश करने वाला है, विधि प्रकार अनेक बार देना चाहिए।

कथितबस्तिगणानिह बस्तिषु प्रवरयानगणेष्वपि केषुचित्।

कुरुत निष्परिहारतया नरा। नरवरेषु निरंतरमादरात् ॥ 170॥

भावार्थ : इस प्रकार कहे[1] हुए उन गुड़तैलिक बस्तियों को, बस्ति के योग्य, कोई-कोई वाहन व नर पुंगवों के प्रति, बिना परिहार के हमेशा आदर पूर्वक वैद्य प्रयोग करें।

इत्येवं गुडतिलसंभवाख्ययोगः स्निग्धांगेष्वतिमृदुकोष्ठसुप्रधाने-।

ष्वत्यंतं मृदुषु तथाल्पदोषवर्गेष्वत्यर्थं सुखिषु च सर्वथा नियोज्यः॥ 171॥

भावार्थ : इस प्रकार गुड़ तैलिक नामक बस्ति उन्हीं रोगियों के प्रति प्रयोग करें, जिनका शरीर स्निग्ध हो, जो मृदु कोष्ठ वाले हों, राजा हों, अत्यन्त कोमल हों, अल्पदोष से युक्त हों एवं अधिक सुखी हों ऐसे लोगों के लिए यह गुड़ तैल योग अत्यन्त उपयोगी है।

इति जिनवक्त्रनिर्गतसुशास्त्रमहांबुनिधेः। सकलपदार्थविस्तृततरंगकुलाकुलतः।

उभयभवार्थसाधनतटद्वयभासुरतो। निसृतमिदं हि शीकारनिभं जगदेकहितम्॥ 172॥

भावार्थ : जिसमें संपूर्ण द्रव्य, तत्त्व व पदार्थरूपी तरंग उठ रहे हैं, इहलोक-परलोक के लिए प्रयोजनीभूत साधनरूपी जिसके दो सुंदर तट हैं, ऐसे श्रीजिनेन्द्र के मुख से उत्पन्न शास्त्रसमुद्र से निकली हुई बूँद के समान यह शास्त्र है। साथ में जगत् का एक मात्र हित साधक है (इसलिए ही इसका नाम कल्याणकारक है)।

इत्युग्रादित्याचार्यविरचिते कल्याणकारके

भेषजकर्मोपद्रवनाम द्वितीयोध्यायः आदितो द्वाविंशः परिच्छेदः।

इत्युग्रादित्याचार्यकृत कल्याणकारक ग्रन्थ के चिकित्साधिकार में विद्यावाचस्पतीत्युपधिविभूषित **वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री** द्वारा लिखित **भावार्थदीपिका** टीका में भेषजकर्मोपवद्रचिकित्साधिकार नामक उत्तरतंत्र में तृतीय व आदि से बाईसवां परिच्छेद समाप्त।

1. पहले गुडतैलिक बस्ति से लेकर जो भी बस्ति के प्रयोग का वर्णन है, वे सभी गुडतैलिक के ही भेद हैं। क्योंकि उन सबमें गुड तैल पड़ते हैं।

अथ त्रयोविंशः परिच्छेदः

मंगलाचरण व प्रतिज्ञा

श्रीमज्जिनेन्द्रमभिवंद्य सुरेन्द्रवंद्य वक्ष्यामहे कथितमुत्तरबस्तिमुद्वृत् ।
तल्लक्षणप्रतिविधानविशेषमानाच्छुक्रार्तवं प्रकटदोषनिबर्हणार्थम्॥ 1॥

भावार्थ : देवेंद्र के द्वारा वंदनीय श्री भगवज्जिनेन्द्र देव की वंदना कर शुक्र और आर्तव के दोषों को दूर करने कि लिए, [1]उत्तर बस्ति का वर्णन, उसके (नेत्रबस्ति) लक्षण, प्रयोग, विधि व प्रयोग करने योग्य द्रव का परिमाण के साथ-साथ कथन करेंगे।

नेत्रबस्ति का स्वरूप

यन्मालतीकुसुमवृंतनिदर्शनेन प्रोक्तं सुनेत्रमथ बस्तिरपि प्रणीतः।
संक्षेपतः पुरुषयोषिदशेषदोषशुक्रार्तवप्रतिविधानविधिं प्रवक्ष्ये॥ 2॥

भावार्थ : चमेली पुष्प की डंठल के समान नेत्रबस्ति (पिचकारी) की आकृति बताई गई है। उसके द्वारा स्त्री-पुरुषों के शुक्र (वीर्य) रज सम्बन्धी दोषों की चिकित्सा की विधि को संक्षेप से कहेंगे।

उत्तरबस्ति प्रयोग विधि

सुस्निग्धमातुरमिहोष्णजलाभिषिक्त-मुत्सृष्टमूत्रमलमुत्कटिकासनस्थम्॥
स्वाजानुदध्नफलकोपरि सोपधाने। पीत्वा घृतेन पयसा सहितां यवागूम्॥ 3॥
कृत्वोष्णतैलपरिलिप्तसुबस्तिदेश - माकृष्य मेहनमपीह समं च तस्य॥
नेत्रे प्रवेश्य शनकैर्घृतलिप्तमुग्र-द्वस्तिं प्रपीडय सुखं क्रमतो विदित्वा॥ 4॥

भावार्थ : उत्तरबस्ति देने योग्य रोगी को स्नेहन व गरम पानी से स्नान (स्वेदन) करा कर घी दूध से युक्त यवागू को पिला कर मल मूत्र का त्याग कराना चाहिए। पश्चात् घुटने के बराबर ऊँचे आसन पर जिस पर तकिया भी रखा गया है] उखरू बैठाल कर, बस्ति (मूत्राशय) के ऊपर के प्रदेश को गरम तैल से मालिश करें एवं शिश्नेन्द्रिय को खींचकर घी से लिप्त पिचकारी को, शिश्न के अंदर प्रवेश करावें और धीरे-धीरे क्रमशः सुख पूर्वक (रोगी को किसी प्रकार का कष्ट नहीं हो वैसा)

---

1 पुरुषों के इन्द्रिय व स्त्रियों के मूत्रमार्ग व गर्भाशय में जो बस्ति का प्रयोग किया जाता है, उसे उत्तरबस्ति कहते हैं। यह निरूहबस्ति के उत्तर = अनंतर प्रयुक्त होता है, इसलिए उसे 'उत्तर बस्ति' यह नाम पड़ा है। कहा भी है **''निरूहादुत्तरो यस्मात् तस्मादुत्तरसंज्ञकः''**

पिचकारी को दबावे।

उत्तरबस्ति के द्रव का प्रमाण

स्नेहप्रकुंचमित एव भवेन्नृणां च। स्त्रीणां तदर्धमथमस्य तदर्धमुक्तम्॥
कन्याजनस्य परिमाणमिह द्वयोस्या-दन्य द्रवं प्रसृततद्विगुणप्रमाणम्॥ 5॥

भावार्थ : उत्तर बस्ति का स्नैहिक और नैरूहिक इस प्रकार दो भेद हैं। स्नैहिक उत्तर बस्ति के स्नेह का प्रमाण पुरुषों के लिए एक पल (चार तोले) स्त्रियों के लिए, आधा पल (दो तोले) कन्याओं (जिनको बारह वर्ष की उमर न हुई हो) के लिए चौथाई पल (एक तोला) जानना चाहिए। नैरूहिक उत्तरबस्ति के द्रव (क्वाथ-काढ़ा) का प्रमाण, स्त्री पुरुष व कन्याओं के लिए एक प्रसृत[1] है। यदि स्त्रियों के गर्भाशय के विशुद्धि के लिए (गर्भाशय में) उत्तर बस्ति का प्रयोग करना हो उसका स्नेह और क्वाथ का प्रमाण लेना चाहिए प्रमाण पूर्वोक्त प्रमाण से द्विगुण जानना चाहिए। अर्थात् स्नेह एक पल, क्वाथ का दो प्रसृत।

उत्तर बस्ति प्रयोग के पश्चात् क्रिया

एवं प्रमाणविहितद्रवसंप्रवेशं ज्ञात्वा शनैरपहरेदथ नेत्रनालीम्।
प्रत्यागतं च सुनिरीक्ष्य तथापराण्हे तंभोजयेत्पयसि यूषगणैरिहान्नम्॥ 6॥

भावार्थ : इस प्रकार उपर्युक्त प्रमाण से द्रव का प्रवेश करा कर धीरे पिचकारी की नली को बाहर निकालना चाहिए। तदनंतर द्रव के बाहर आने के बाद सायंकाल में (शाम) उसे दूध व यूष गणों के साथ अन्न का भोजन कराना चाहिए।

बस्ति का प्रमाण

इत्युक्तसद्रवयुतोत्तरबस्तिसंज्ञान्बस्तित्रिकानपि तथा चतुरोपि दद्यात्।
शुक्रार्तवप्रवरभूरिविकारशांत्यै बीजद्वयप्रवररोगगणान्ब्रवीमि ॥ 7॥

भावार्थ : उपर्युक्त प्रमाण के द्रवों से युक्त उत्तरबस्ति को रजो वीर्य सम्बन्धी प्रबल-विकारों की शांति के लिए तीन या चार बार प्रयोग करें जैसे रोग का बलाबल हो। अब रजोवीर्य सम्बन्धी रोगों का प्रतिपादन करेंगे।

वातादि दोष दूषित रजोवीर्य के (रोग) लक्षण

वातादिदोषनिहतं खलु शुक्ररक्तं। ज्ञेयं स्वदोपकृतलक्षणवेदनाभिः॥
गंधस्वरूपकुणपं बहुरक्तदोषात्। ग्रंथिप्रभूतबहुलं कफवातजातम् ॥ 8॥

1. यद्यपि, प्रसृत का अर्थ दो पल है (पलांभ्या प्रसृतिर्ज्ञेयः प्रसृतश्च निगद्यते) लेकिन यहाँ इस अर्थ का ग्रहण नहीं करना चाहिए। परन्तु इतना ही समझ लेना चाहिए कि रोगियों के हाथ वा अंगुलियों को मूल से लेकर, हथैली भर में जितना द्रव समावे वह प्रसृत है। ग्रंथांतरों में कहा भी है -''**स्नेहस्य प्रसृतं चात्र स्वांगुलीमूलसीम्मतं**''

पूयो भवत्यतितरां बहलं सपूति। प्रोत्पित्तशोणितविकारकृतं तु बीजम्॥
स्यात्सन्निपातजनितं तु पुरीषगंधं। क्षीणं क्षयादथ भवेद्बहुमैथुनाच्च॥ 9॥

भावार्थ : वातादि दोषों से दूषित वीर्य व रज में उन्हीं वातादि दोषों के लक्षण व वेदना प्रकट होते हैं। इसलिए वातादिक से दूषित रजोवीर्य को वातादि दोषों के लक्षण व वेदनाओं से पहचानना चाहिए कि यह वातदूषित है या पित्तदूषित है आदि। रक्त से दूषित रजो वीर्य कुणप गंध (मुर्दे के सी वास) से युक्त होते हैं। कफवात से दूषित रजोवीर्य में बहुत-सी गांठे हो जाती हैं। पित्तरक्त के विकार से, रजोवीर्य दुर्गंध व (देखने में) पीप के सदृश हो जाते हैं। सन्निपात से रजोवीर्य मल के गंध के तुल्य, गंध से युक्त होते हैं। अतिमैथुन से रजोवीर्य का क्षय होता है, जिससे रजोवीर्य क्षीण जो कहलाते हैं।

साध्यासाध्य विचार और वातादिदोषजन्य वीर्यरोग की चिकित्सा

तेषु त्रिदोषजनिताः खलु बीजरोगाः। साध्यास्तथा कुणपपूयसमस्तकृच्छ्राः॥
साक्षादसाध्यतर एव पुरीषगंधः।स्नेहादिभिस्त्रिविधदोषकृतास्सुसाध्याः॥ 10॥

भावार्थ : उपर्युक्त रजोवीर्यगत रोगों में पृथक्-पृथक् वात, पित्त व कफ से उत्पन्न विकार (रोग) साध्य होते हैं। कुणपगंधि, पूयतुल्य, पूति, ग्रंथिभूत ये सब कष्ट साध्य हैं। पुरीषगंधि रजोवीर्य विकार असाध्य हैं। वातादि पृथक्-पृथक् दोषजन्य रजोवीर्य विकार को स्नेहन स्वेदन आदि कर्मों द्वारा जीतना चाहिए।

रजोवीर्य के विकार में उत्तरबस्ति का प्रधानत्व व कुणप गंधि वीर्य चिकित्सा

अत्रोत्तरप्रकटबस्तिविधानमेव शुक्रार्तवप्रवरदोषनिवारणं स्यात्।
सर्पिः पिबेत् प्रवरसारतरं प्रसिद्धं शुद्धस्स्वयं कुणपविग्रथिते तु शुल्के॥ 11॥

भावार्थ : वीर्य व रजसम्बन्धी दोषों के निवारण के लिए उत्तरबस्ति का ही प्रयोग करना उचित है। क्योंकि उन रोगों को दूर करने में यह विशेषतया समर्थ है। कुणपगंध से युक्त शुक्र में वमन विरेचनादिक से विशुद्ध होकर, इस रोग को जीतने वाला सारभूत प्रसिद्ध घृत (शाल सारादि साधित व इसी प्रकार के अन्य घृत) को पीना चाहिए।

ग्रंथिभूत व पूयभिवीर्य चिकित्सा

ग्रंथिप्रभूतघनपिच्छिलपाण्डुराभे शुक्रे पलाशखदिरार्जुनभस्मसिद्धम् ।
सर्पिःपिबेदधिकपूयनिभस्वबीजे हिंतालतालवटपाटलसाधितं यत् ॥12॥

भावार्थ : जो वीर्य, बहुत-सी ग्रंथियों (गांठ)से युक्त हो, व घट्ट पिच्छिल (पिलपिले) पांडुवर्ण से युक्त हो, उस में पलाश (ढाक) खैर, व अर्जुन (कोह) इनके भस्म से सिद्ध घृत को पीना चाहिए। पूयनिभ (पीप के समान रहने वाले) वीर्य रोग में हिंताल (ताड भेद) ताड, बड़ व पाडल, इनसे सिद्ध घृत को पीना चाहिए।

विड्गंधि व क्षीण शुक्र की चिकित्सा

क्विड्गन्धिनि त्रिकटुकत्रिफलाग्निमंथाभोजांबुदप्रवरसिद्धघृतं तु पेयम्।
रेतःक्षये कथितवृष्यमहाप्रयोगैः संवर्द्धयेद्रसरसायनसंविधानैः॥ 13॥

भावार्थ : पुरीषगंध से संयुक्त वीर्य रोग में त्रिकटु, त्रिफला, अगेथु, कमल पुष्प, नागरमोथा, इन औषधियों से सिद्ध उत्तम घृत को पिलाना चाहिए। क्षीण शुक्र में पूर्व कथित महान् वृष्य प्रयोग और रसायन के सेवन से शुक्र को बढ़ाना चाहिए।

शुक्र व आर्तव विकार की चिकित्सा

एतेषु पंचसु च शुक्रमयामयेषु स्नेहादिकं विधिमहोत्तरबस्तियुक्तम्।
कुर्यात्तथार्तवविकारगणेषु चैव तच्छुद्धये विविधशो[1]धनसत्कषायान्॥ 14॥
कल्कान् पिबेच्च तिलतैल युतान्यथावत् पथ्यान्यथाचमनधूपनलेषनानि।
संशोधनानि विदधीत विधानमार्गाद्योन्यामथार्तवविकारविनाशकानि॥ 15॥

भावार्थ : शुक्र के इन पाँचों महान् रोगों को जीतने के लिए स्नेहन, वमन, विरेचन, निरूहबस्ति व अनुवासन का प्रयोग करके उत्तरबस्ति का प्रयोग करना चाहिए। इसी प्रकार रजो सम्बन्धी रोगों में भी उसको शुद्धि करने लिए स्नेहन आदि लेकर उत्तरबस्ति तक की विधियों का उपयोग करें एवं नाना प्रकार के शोधन औषधियों के कषाय व तिल के तैल से युक्त योग्य औषधियों के कल्क को विधि प्रकार पीवें तथा रजो विकार नाशक व पथ्यभूत आचमन (औषधियों के कषाय से योनि को धोना) धूप, लेप, शोधनक्रिया का शास्त्रोक्त विधि से प्रयोग योनिप्रदेश में करें।

पित्तादि दोषजन्यार्तवरोग चिकित्सा

दुर्गंधपूयनिभमज्जसमार्तवेषु देवद्रुमाम्रसरलागरुचंदनानाम्।
क्वाथं पिबेत्कफमरुद्ग्रथिताप्रभूतग्रंथ्यार्तवे कुटजसत्कटुकत्रयाणाम्॥ 16॥

भावार्थ : दुर्गंधयुक्त, व पीप व मज्जा के सदृश आर्तव में देवदारुवृक्ष, आम्र सरलवृक्ष, अगरु, चंदन इनके क्वाथ को पीवें। कफ व वात विकार से उत्पन्न ग्रंथिभूत (गांठ से युक्त) रजो रोग मे कुडा व त्रिकटु के क्वाथ को पीवें।

शुद्धशुक्र का लक्षण

एवं भवेदतितरामिह बीजशुद्धिस्निग्धं सुगंधि मधुरं स्फटिकोपलाभं।
क्षौद्रोपमं तिलजसन्निभमेव शुक्रं शुद्धं भवत्यधिकमग्र्यसुपुत्रहेतुः॥ 17॥

भावार्थ : उपर्युक्त विधि से वीर्य का शोधन करें जो वीर्यशुद्धि हो जाती है। जो वीर्य अत्यन्त स्निग्ध, सुगंध, मधुर, स्फटिक शिला के समान, मधु व सफेदतिल के तैल के समान हैं, उसे शुद्ध शुक्र समझना चाहिए अर्थात् शुद्ध शुक्र के ये लक्षण हैं। ऐसे शुद्ध वीर्य से ही उत्तम संतान की उत्पत्ति होती है।

शुद्धार्तव का लक्षण

शुद्धार्तवं मणिशिलाद्रवहंसपादिपंङ्केपमं शशशरीरजरक्तवच्च।
लाक्षारसप्रतिममुज्वलकुंकुमाभं प्रक्षालितं न च विरज्यत तत्सुबीजम् ॥18॥

भावार्थ : जो रज (आर्तव) मैनशिला का द्रव, हंसपादि के पंक, खरगोश के रक्त, लाख का रस व श्रेष्ठ कुंकुम के समान (लाल) होता है एवं वस्त्र पर लगे हुए को धोने पर छूट जावें, कपड़े को न रंगे उसे शुद्ध आर्तव समझना चाहिए अर्थात् ये शुद्ध आर्तव के लक्षण हैं (ऐसे ही आर्तव से संतान की उत्पत्ति होती है)।

स्त्री पुरुष व नपुंसक की उत्पत्ति

शुद्धार्तवप्रबलतः कुरुतेऽत्र कन्यां शुक्रस्य चाप्यधिकतो विदधाति पुत्रम्।
तत्साम्यमाशु जनयेद्धि नपुंसकत्वं कर्मप्रधानपरिणामविशेषतस्तत्॥ 19॥

भावार्थ : शुद्ध रज की अधिकता से शुद्धार्तव से युक्त स्त्री के शुद्ध शुक्र युक्त पुरुष के संयोग से गर्भाशय में गर्भ ठहर जाये तो कन्या की उत्पत्ति होती है। यदि वीर्य का आधिक्य हो तो पुत्र की उत्पत्ति होती है। दोनों की समानता हो नपुंसक का जन्म होता है। लेकिन ये सब, अपने-अपने पूर्वोपार्जित प्रधानभूत कर्मफल के अनुसार होते हैं अर्थात् स्त्री पुं-नपुंसक होने में मुख्य कारण कर्म हैं।

गर्भादान विधि

शुद्धार्तवामधिकशुद्धतरात्मशुक्र ब्रह्मव्रतस्स्वयमिहाधिकमासमात्रम्।
स्नातश्चतुर्थदिवसप्रभृति प्रयत्नाद्यायान्नरः स्वकथितेषु[1] हि पुत्रकामः॥20॥

भावार्थ : जिसका शुक्र शुद्ध है, जिसने स्वयं एक महिने पर्यंत ब्रह्मचर्य धारण किया है, ऐसे पुरुष शुद्धार्तव वाली स्त्री के साथ (जिसने एक मास तक ब्रह्मचर्य धारण कर रखा हो) चतुर्थ स्नान से लेकर (रजस्वला के आदि के तीन दिन छोड़कर और आदि से दस या बारह दिन तक संतानोत्पादन के निमित्त) प्रयत्न पूर्वक (स्त्री को प्रेम भरी वचनों से संतुष्ट करना आदि काम शास्त्रानुसार) संगम करें। यदि वह पुत्रोत्पादन की इच्छा रखता हो तो, जिन दिनों में गमन करने से पुत्र की उत्पत्ति कहा है ऐसी युग्म रात्रियों (चौथी, छठवीं, आठवीं, दसवीं रात्रि) में स्त्री सेवन करें। पुत्री (लड़की) उत्पन्न करना चाहता हो अयुग्म रात्रियों (पाँचवीं, सातवीं, नौवीं रात्रि में स्त्री सेवन करें।

ऋतुकाल व सद्योगृहीत गर्भ लक्षण

दृष्टार्तवं दशदिनं प्रवदंति तद्ज्ञाः साक्षाददृष्टमपि षोडशरात्रमाहुः।
सद्यो गृहीतवरगर्भसुलक्षणत्वं ग्लानिश्रमक्लमतृषोदरसंचलस्स्यात्॥ 21॥

भावार्थ : आर्तव (रज) दर्शन से लेकर गर्भादान विषय के विशेष जानकारों ने दस दिन पर्यंत के (रात्रि) काल को ऋतुकाल कहा है। किसी का मत है (रात्रि) कि रजोदर्शन न होने पर भी ऋतुकाल

1. मधि (मथि) तेषु इति पाठांतरं।

हो सकता है। कोई तो रजोदर्शन से लेकर सोलह रात्रि के काल को ऋतुकाल[1] कहते हैं। जिस स्त्री को जिस समय गर्भ ठहर गया हो उसी समय उसमें ग्लानि, थकावट, क्लेश, प्यास, उदरचलन, ये लक्षण प्रकट होते हैं। (जिससे यह जाना जा सकता है कि अभी गर्भ ठहर गया)।

गर्भिणी चर्या

गर्भान्वितां मधुरशीतलभेषजाढ्यम् मासद्वयं प्रतिदिनं नवनीतयुक्तम्।
शाल्योदनं सततमभ्यवहारयेत्तां गव्येन साधुपयसाथ तृतीयमासे॥ 22॥
दध्नैव सम्यगसकृच्च चतुर्थमासे पूज्येन गव्यपयसा खलु पंचमेऽस्मिन्।
षष्ठे चतुर्थ इव मास्यथ सप्तमासे केशोद्भवश्च परिभोजय तां पयोन्नम्॥ 23॥
यष्ट्यंबुजांबुवरनिंबकदंबजंबूरंभाकषाय - दधिदुग्धविपक्वसर्पिः।
मात्रां पिबेत्प्रतिदिनं तनुतापशांत्यै मासेऽष्टमे प्रतिविधानमिहोच्यतेऽतः॥ 24॥

भावार्थ : गर्भिणी को प्रथम द्वितीय मास में मधुर और शीतल औषधि (शाक फल, धान्य, दूध आदि) व मक्खन से युक्त भात को प्रतिदिन खिलाना चाहिए एवं तीसरे मास में उत्तम गाय के दूध के साथ चावल का भोजन कराना चाहिए। चौथे महीने में दही के साथ कई बार भोजन कराना चाहिए एवं पाँचवें महीने में उत्तम गाय के दूध के साथ भोजन कराना चाहिए। छठे महिने में चौथे महीने के समान दही के साथ भोजन कराना चाहिए। सातवें महीने में गर्भस्थ बालक को केश की उत्पत्ति होती है। गर्भिणी को दूध के साथ अन्न का भोजन कराना चाहिए एवं मुलैठी कमलपुष्प, नेत्रवाला, नीम, केला, कदंबवृक्ष की छाल, जामुन के कषाय व दही, दूध से पके हुए घृत की मात्रा (खुराक) को प्रतिदिन शरीर के ताप को शांत होने के लिए पिलाना चाहिए। आठवें महीने में करने योग्य क्रियावों को अब कहेंगे।

आस्थापयेदथ बलाविहितेन तैलेनाज्यान्वितेन दधिदुग्धविमिश्रितेन।
तैलेन चाष्टमधुरौषधसाधितेन (पक्वं) दत्तंहितं भवति चाप्यनुवासनं तु॥ 25॥
तेनैव बस्तिमथ चोत्तरबस्तिमुद्यत्तैलेन संप्रति कुरु प्रमदाहिताय।
निश्शेषदोषशमनं नवमेऽपि मासेऽप्येतवं कृते विधिवदत्र सुखं प्रसूते॥ 26॥

भावार्थ : आठवें महीने में खरैटी से साधित तैल (बला तैल) में घी दही व दूध को मिलाकर आस्थापन बस्तिका प्रयोग करना चाहिए एवं आठ प्रकार के मधुर औषधियों से शुद्ध तैल से आस्थापन अनुवासन प्रयोग करना हितकर है। आस्थापन बस्ति देकर अनुवासन बस्ति देना चाहिए एवं उसी तैल

1 गर्भग्रहण या उसके योग्य काल को ऋतुकाल कहते हैं।
जब तक ऋतुमती, यह संज्ञा है तब तक ही स्त्रीसेवन करे आगे यहीं। आगे के मैथुन से गर्भधारण नहीं होता हैं इसलिए उसे निंद्य कहा गया है।

से उत्तरबस्तिका प्रयोग करना चाहिए, जिससे गर्भिणी को हित होता है। इसी प्रकार नव में महीने में भी समस्त दोषों के शमनकारक आहार औषधादिकों का उपयोग करना चाहिए। इस प्रकार विधि पूर्वक नौ महिने तक गर्भिणी का उपचार करने पर वह सुखपूर्वक प्रसव करती है।

निकट प्रसवा के लक्षण और प्रसव विधि

कट्यां स्वपृष्ठनिलयेऽप्यतिवेदना स्याच्छलेष्मा च मूत्रसहितः प्रसरत्यतीव।
सद्यःप्रसूत इति तैरवगम्य तैलेनाभ्यज्य सोष्णजलसंपरिषेचितां ताम्॥ 27॥
स्वप्यात्तथा समुपसृत्य निरूप्य चालीं प्राप्तां प्रवाहनपरां प्रमदां प्रकुर्यात्।
यत्नाच्छनैः क्रमत एव ततश्च गाढं साक्षादपायमपह्यत्य सुखं प्रसूते॥ 28॥

भावार्थ : जब स्त्री के प्रसव के लिए अत्यन्त निकट समय आ गया हो उस समय उस के कटिप्रदेश में व पीठ पर अत्यन्त वेदना होती है और मूत्र के साथ अत्यधिक कफ का (कफ और मूत्र दोनों अधिक निकलते हैं) निर्गमन होता है। इन लक्षणों से शीघ्र ही वह प्रसव करेगी, ऐसा समझकर उसे तैल से अभ्यंग कर उष्ण जल से स्नान करावे। तदनंतर उस स्त्री को सुख शय्या (बिछौना) पर दोनों पैरों को सिकुड़ाते हुए चित सुलावें और शीघ्र ही ज्यादा उम्र वाली (बुड्डी) व बच्चा जनवाने में कुशल दाई को खबर देकर बुलाकर प्रसूति कार्य में लगाना चाहिए। दाई भी जब प्रसव निकट हो तो पहले धीरे-धीरे एकदम समय निकट आने पर (पतनोन्मुख होने पर) जोर से प्रवाहण कराते हुए बहुत ही यत्न के साथ प्रसूति करावें। ऐसा करने से वह सम्पूर्ण अपायों से रहित होकर सुख पूर्वक प्रसव करती है।

जन्मोत्तर विधि

जातस्य चांबुकसुसैंधवसर्पिषा तां संशोध्य नाभिनियतामति[1] शुद्धितांगां।
अष्टांगुलीमृदुतरायतसूत्रबद्धां छित्वा गले नियमितां कुरुतैलालिप्तां॥ 29॥

भावार्थ : बच्चा जन्म लेते ही उस के शरीर पर लगी हुई जरायु को साफ करें तथा सैंधानमक और घी-से मुख को शुद्ध करे (थोड़ा घी और सैंधानमक को मिलाकर अंगुली से चटा देवें, जिससे गले में रहा हुआ कफ साफ होता है) पश्चात् नाभि में लगे हुए नाल (नाभिनाड़ी) को साफ कर और आठ अंगुल प्रमाण छोड़कर वहाँ (जहाँ आठ अंगुल पूरा होते हैं) मुलायम डोरी से बाँधे और वहीं से काट देवें। अनंतर नाल पर तैल (कूठ के तैल) लगाकर उसे बच्चे के गले में बांधे।

अनंतर विधि

पश्चाद्यथा विहितमत्र सुसंहितायां तत्सर्वमेव कुरु बालकपोषणार्थम्।
तां पाययेत्प्रसविनीमतितैललिप्तां स्नेहान्विताम्लवरसोष्णतरां यवागूम्॥ 30॥

1. नालि इति पाठांतरं।

भावार्थ : तदनंतर इसी संहिता में बालक के पोषण के लिए जो-जो विधि बतलाई गयी है, उन सबको करें एवं प्रसूता माता को तेल का मालिश कर स्नेह व आम्ल से युक्त उष्ण यवागू पिलाना चाहिए।

अपरापतन के उपाय

हस्तेन तामपहरेदपरां च सक्ताम् तां पाययेदधिकलांगलकीसुकल्कैः।
संलिप्य पादतलनाभ्युदरप्रदेशं संधूप्य योनिमथवा फणिचर्मतैलैः॥ 31॥

भावार्थ : यदि अपरा[1] (झोल नाल) नहीं गिरे तो उसे हाथ से निकाल लेवें अथवा उसे कलिहारी के कल्क को पिलाना चाहिए। अथवा कलिहारी के कल्क को पादतल (पैर के तलवे) नाभि उदर इन स्थानों में लेप करें। अथवा सर्प की कांचली व तैल मिलाकर इससे योनिमुख को धूप देवें। (इस प्रकार के प्रयोग करने से शीघ्र ही अपरा गिर जाती है)।

सूतिकोपचार

एवं कृता सुखवती सुखसंप्रसूता स्यात्सूतिकेति परिणेति ततः प्रयत्नात्।
अभ्यंगयोनिबहुतर्पणपानकादीन् मासं कुरु प्रबलवातनिवारणार्थम्॥ 32॥

भावार्थ : इस प्रकार की विधियों के करने पर सुख पूर्वक अपरा गिर जाती है। बच्चा और अपरा बाहर आने पर उस स्त्री को सूतिका यह संज्ञा हो जाती है। तदनंतर उस सूतिका स्त्री के प्रबल वातदोष के निवारण के लिए तेल का मालिश, योनितर्पण, पानक आदि वातनाशक प्रयोग एक महीने तक करें।

मार्कल (मक्कल) शूल और उसकी चिकित्सा

तद्दुष्टशोणितनिमित्तमपीह शूलं सम्यग्जयेदधिकमार्कलसंज्ञितं तु।
तद्वस्तिभिर्विधिवदुत्तरबस्तिना च प्रख्यातभेषजगणैरनिलापनुद्भिः॥33॥

भावार्थ : प्रसूता स्त्री के दूषित रक्त का स्राव बराबर न होने पर भयंकर शूल उत्पन्न होता है जिसे मार्कल (मक्कल) शूल कहते हैं। उसे पूर्वोक्त श्रेष्ठ, आस्थापन, अनुवासन बस्ति के या उत्तरबस्ति के प्रयोग से एवं वातहर प्रसिद्ध औषधिवर्ग से चिकित्सा करके जीतना चाहिए।

उत्तरबस्ति का विशेष गुण

तद्दुष्णशोणितमसृग्दरमुग्रमूत्र-। कृच्छ्राभिघातबहुदोषसुबस्तिरोगान्॥
योन्यामयानखिलशुक्रगतान्विकारान्। मर्मोद्रितान् जयति बस्तिरिहोत्तराख्यः॥34॥

भावार्थ : उपर्युक्त दूषितरक्त जन्य रोग, रक्तप्रदर, भयंकर मूत्रकृच्छ और मूत्राघात, बहुदोषों से उत्पन्न होने वाले बस्तिगत रोग, योनिरोग, शुक्रगत सम्पूर्ण रोग मर्मरोग, इन सबको उत्तरबस्ति जीतता

1. यदि अपरा नहीं गिरे तो पेट में अफरा और आनाह (पेट फूलना) उत्पन्न होता है।

है। अर्थात् उत्तरबस्ति के प्रयोग से ये सब रोग ठीक या शांत हो जाते हैं।

धूम, कवलग्रह, नस्यविधिवर्णनप्रतिज्ञा और धूम भेद

अत्रैव धूमकबलामलनस्ययोगव्यापच्चिकित्सितमलं प्रविधास्यते तत्।
धूमो भवेदतितरामिह पंचभेदः स्नेहप्रयोगवमनातिविरेककासैः[1]॥ 35॥

भावार्थ : अब यहाँ से आगे, धूमपान, कवलग्रह, नस्य इनकी विधि व इनका प्रयोग यथावत् न होने से उत्पन्न आपत्तियाँ और उनकी चिकित्सा विधि का वर्णन करेंगे। धूम, स्नेहन, प्रायोगिक, वमन, विरेचन व कासघ्न के भेद से पाँच प्रकार का है।

स्नेहनधूम लक्षण

अष्टांगुलायतशरं परिवेष्ठ्य [2]वस्त्रेणालेपयेदमलगुग्गुलसर्जनाम्ना।
स्नेहान्वितेन बहुरूक्षतरः शरीरे स स्नेहिको भवति धूम इति प्रयुक्तः॥ 36॥

भावार्थ : आठ अंगुल लम्बी शर (तुली) लेकर उसपर (क्षौम सण या रेशमी) वस्त्र लपेटें। उसके ऊपर निर्मल गुग्गुल, राल, स्नेह, (घृत या तैल) इनको अच्छी तरह मिलाकर लेप कर दें (पीछे इसे अच्छी तरह सुखाकर अंदर से शर निकाल लेवें तो धूमपान की बत्ती तैयार हो जाती है इस बत्ती को धूमपान की नली में रखकर, उस पर आग लगाकर) जिनके शरीर रूक्ष हो इनके इस धूम का सेवन करावें इसे स्नेहिक या स्नेहनधूम कहते हैं।

प्रायोगिकवैरेचनिक कासघ्नधूमलक्षण

एलालवंगगजपुष्पतमालपत्रैः प्रायोगिके वमनकैरपि वामननीये।
वैरेचने तु बहुधोक्तशिरोविरेकैः कासघ्नके प्रकटकासहरौषधैस्तु॥ 37॥

भावार्थ : इसी प्रकार इलायची, लवंग, नागकेशर, तमालपत्र, इन प्रयोगिक औषधियों से पूर्वोक्त क्रम से बत्ती तैयार कर इस से धूम सेवन करावें, इसे प्रायोगिक धूम कहते हैं। वामक औषधियों से सिद्ध बत्ती के द्वारा जो धूम सेवन किया जाता है, उसे वामक धूम कहते हैं। विरेचन द्रव्यों से बत्ती बनाकर जो धूम सेवन कराया जाता है, उसे विरेचनधूम कहते हैं। कासनाशक औषधियों से बत्ती तैयार कर जो धूम सेवन कराया जाता है, उसे कासघ्न धूम कहते हैं।

धूमपान की नली की लम्बाई

प्रायोगिके भवति नेत्रमिहाष्टचत्वारिंशत्तथांगुलमितं घृततैलमिश्रे।
द्वात्रिंशदेव जिननाथसुसंख्यया तं वैरेचनेन्यतरयोः खलु षोडशैव॥ 38॥

भावार्थ : प्रायोगिक धूम के लिए, धूमपान की नली 48 अड़तालीस अंगुल लम्बी, स्नेहन धूम

1 नस्यौरिति पाठांतरं।
2 सूत्रेण इति पाठांतरं।

के लिए नली 32 बत्तीस अंगुल लम्बी और विरेचन व कासघ्न धूम के लिए 16 सोलह अंगुल लम्बी होनी चाहिए ऐसा जिनेन्द्र शासन में निश्चित संख्या बतलायी गयी है।

धूमनली के छिद्र प्रमाण व धूमपान विधि

छिद्रं भवेदधिकमाषनिपाति तेषां स्नेहान्वितं हर मुखेन च नासिकायाम्।
प्रायोगिकं तमिव नासिकया विरेकमन्यं तथा मुखत एव हरेद्यथावत्॥ 39॥

भावार्थ : उपरोक्त धूमपान की नलियों का छिद्र (सूराक) उड़द[1] के दाने का बराबर होना चाहिए। स्नेहनधूम को मुख और नाक से खींचना चाहिए अर्थात् पीना चाहिए। प्रायोगिक[2] धूम को मुख व नाक से खींचना चाहिए। विरेचन धूम को नाक से व वामक व कासघ्न धूम को मुख से ही खींचना चाहिए।

धूम निर्गमन विधि

यो नासिकापुटगृहीतमहातिधूमस्तं छर्दयेन्मुखत एव मुखाद्गृहीतं।
अप्याननेन विसृजेरूिपरीततस्तु नेच्छंति जैनमतशास्त्रविशेषणज्ञाः॥40॥

भावार्थ : जिस धूम को नासिक द्वारा ग्रहण किया हो, उसे मुख से बाहर उगलना चाहिए और जिसे मुख से ग्रहण किया है, उसे मुख से उगलना चाहिए। इससे विपरीत विधि को जैन शास्त्र के जानकार महर्षिगण स्वीकार नहीं करते।

धूमपान के अयोग्य मनुष्य

मूर्च्छामदभ्रमविदाहतृषोष्णारक्त - पित्तश्रमोग्रविषशोकभयप्रतप्ताः।
पाण्डुप्रमेहतिमिरोर्ध्वमरुन्महोदरोत्पीडिताः स्थविरबालविरिक्तदेहाः॥ 41॥
आस्थापिताः क्षतयुता ह्युरसि क्षता ये गर्भान्विताश्च सहसा द्रवपानयुक्ताः।
रूक्षास्तथा पिशितभोजनभाजना ये ये श्लेष्महीनमनुजाःखलु धूमवर्ज्याः॥42॥

भावार्थ : जो मूर्च्छा, मद भ्रम, दाह, तृषा, उष्णता, रक्तपित्त, श्रम भयंकर विष बाधा, शोक और भय से संतप्त (युक्त) हों, पाण्डु, प्रमेह, तिमिर, ऊर्ध्ववात व महोदर से पीड़ित हों, जो अत्यन्त वृद्ध या बालक हों, जिसने विरेचन लिया हो, जिसे आस्थापन प्रयोग किया हो, क्षत (जखम) से युक्त हो, उरःक्षत युक्त हो, गर्भिणी हो, एकदम द्रवपान किया हुआ हो, माँस भोजन किया हो एवं कफरहित हो, ऐसे मनुष्यों के प्रति धूम प्रयोग नहीं करना चाहिए।

1. यह प्रमाण आगे के भाग का है। जड़ में छिद्र अंगूठे जितना मोटा होना चाहिए।
2. किसी का मत है कि इस धूम को नाक से ही खींचना चाहिए।

धूमसेवक का काल

स्नातेन चान्नमपि भुक्तवतातिसुत्वा बुद्धेन मैथुनगतेन मलं विसृज्य।
क्षुत्वाथ वांतमनुजेन च दंतशुद्धौ प्रायोगिकः प्रतिदिनं मनुजैर्नियोज्यः ॥ 43 ॥

भावार्थ : जिसने स्नान किया हो, अन्न का भोजन किया हो, सोकर उठा हो, मैथुन सेवन किया हो, मल विसर्जन किया हो, छींका हो, वमन किया हो और जो दंतशुद्धि किया हो ऐसे, समय में मनुष्य को प्रतिदिन प्रायोगिक धूम का सेवन करना चाहिए।

अष्टासु चाप्यवसरेषु हि दोषकोपः साक्षाद्भवेदिति च तन्प्रशमैकहैतुः।
धूमो निषेव्य इति जैनमते निरुक्तो वाक्यश्च तेन विषदाहरुजाप्रशांति ॥ 44 ॥

भावार्थ : उपर्युक्त आठ अवसरों में दोषों का प्रकोप हुआ करता है। इसलिए उन दोषों को शांत करने के लिए धूम का सेवन करना चाहिए इस प्रकार जैन मत में कहा है।

धूमसेवन का गुण

तेनेन्द्रियाणि विमलानि मनःप्रसादो, दार्ढ्यं सदा दशनकेशचयेषु च स्यात्।
श्वासातिकासवमथुस्वरभेदनिद्रा-काचप्रलापकफसंस्त्रवनाशनं स्यात् ॥ 45 ॥

भावार्थ : उस धूपन प्रयोग से इंद्रियों में निर्मलता आती है, मन में प्रसन्नता होती है, दंत व केशसमूह में दृढ़ता आती है। श्वास, कास, छींक, वमन, स्वरभंग, निद्रा रोग, काच (?) प्रलाप, कफ स्राव ये रोग दूर होते हैं।

तंद्रा प्रतिश्यायनमत्र शिरोगुरुत्वं, दुर्गंधमाननगतं मुखजातरोगान्।
धूमो विनाशयति सम्यगिह प्रयुक्तो, योगातियोगविपरीतविधिप्रवीणैः ॥ 46 ॥

भावार्थ : आलस्य, जुखाम, शिर के भारीपना, मुखदुर्गंध व मुखगत अनेक रोगों को योग अतियोग व अयोग को जानने वाले वैद्यों के द्वारा विधिपूर्वक प्रयुक्त धूम अवश्य नाश करता है।

योगायोगातियोग

योगो भवत्यधिकरोगविनाशहेतुः साक्षादयोग इति रोगसमृद्धिकृत्स्यात्।
योग्यौषधैरतिविधानमिहातियोगः सर्वौषधप्रकटकर्मसु संविचिंत्यः ॥ 47 ॥

भावार्थ : जो धूम प्रबल रोग की शांति के लिए कारणभूत है अर्थात् जिसके सेवन से रोग की ठीक-ठीक शांति हो जाती है, उसे योग या सम्यग्योग कहते हैं। जिसके प्रयोग से रोग बढ़ जाता है, उसे अयोग[1] और योग्य औषधियों से अधिक प्रमाण में धूम का प्रयोग करना उसे अतियोग कहते हैं। इन योग, अयोग, अतियोगों को प्रत्येक औषधिकर्म में विचार करना चाहिए।

1. कोई तो जिससे रोग शमन नहीं होता है, उसे अयोग कहते हैं।

धूम के अतियोगजन्य उपद्रव

धूमे भवत्यतितरामतियोगकाले कर्णध्वनिः शिरसि दुःखमिहात्मदृष्टे।
दौर्बल्यमप्युरुचितं च विदाहतृष्णा संतर्पयेच्छिरसि नस्यघृतैर्जयेत्तम्॥ 48॥

भावार्थ : धूम के अत्यधिक अयोग होने पर कर्ण में शब्द का श्रवण होते ही रहना, शिरोवेदना, दृष्टिदुर्बलता, अरुचि, दाह व तृषा उत्पन्न होती है। उसे शिरोतर्पण, नस्य व घृतों के प्रयोग से जीतना चाहिए।

धूमपान के काल

प्रायोगिकस्य परिमाणमिहास्त्रपातः शेषेषु दोषनिसृतेरवधिर्विधेयः।
पीत्वागदं तिलसुतण्डलजां यवागूं धूमं पिबेद्वमनभेषजसंप्रसिद्धम्॥ 49॥

भावार्थ : आँखों में आँसू आने तक प्रायोगिक धूम का प्रयोग करना चाहिए यही उसका प्रमाण है। बाकी के धूमों का प्रयोग दोषों के निकलने तक करना चाहिए। वमन औषधियों से सिद्ध वामनीय धूम को अगद, तिल व चावल से सिद्ध यवागू को पीकर पीना चाहिए।

गंडूष व कवलग्रहवर्णन

धूमं विधाय विधिवन्मुखशोधनार्थं गण्डूषयोगकबलग्रहणं विधास्ये।
गण्डूषमित्याभिहितं द्रवधारणं तच्छुष्कौषधैरपि भवेत्कबलग्रहाख्यः॥ 50॥

भावार्थ : विधिपूर्वक धूम प्रयोग का वर्णन करके अब मुख की शुद्धि के लिए गण्डूष (कुरला) प्रयोग व कबल ग्रहण का वर्णन करेंगे। मुख में द्रवधारण करने को गण्डूष कहते हैं। कबलग्रहण में शुष्क औषधियों का भी धारण होता है।

गंडूष धारण विधि

सिद्धार्थकत्रिकटुकत्रिफलाहरिद्रा-कल्कं विलोड्य लवणाम्लसुखोष्णतोयैः।
सुस्विन्नकंठनिजकर्णललाटदेशस्तं धारयेद्द्रवमतः परिकीर्तयेत्सः॥ 51॥

भावार्थ : सबसे पहिले रोगी के कंठ, कर्ण व ललाट प्रदेश में स्वेदन प्रयोग करना चाहिए। बाद में सफेद सरसों, त्रिकटु, त्रिफला व हल्दी को अच्छी तरह पीसकर (कल्क तैयार करके) उसे लवण, आम्ल व मंदोष्ण पानी में घोल लेवें और उस द्रव को मुख में धारण करना चाहिए। उसे कब तक धारण करना चाहिए ? इसे आगे कहेंगे।

गंडूषधारण का काल

यावत्कफेन परिवेष्टितमौषधं स्यात्तावन्मुखे च परिपूर्णमचाल्यमेतत्।
यावद्विलोचनपरिप्लवनं स्वनासास्रावं भवेदतितरां विसृजेत्तदा तत्॥ 52॥

भावार्थ : जब तक मुख में स्थित औषधि कफ से नहीं भर जाये, तब तक मुख को बिल्कुल

हिलाना नहीं चाहिए और जब नेत्र भींग जाये (नेत्र में पानी भर जाये) एवं नासिका से स्राव होने लग जाये, तब औषधि को बाहर उगलना चाहिए।

गंडूषधारण की विशेष विधि

अन्यद्विगृह्य पुनरप्यनुसंक्रमेण संचारयेदथ च तद्विसृजेद्यथावत्।
दोषे गते गतवतीह शिरोगुरुत्वे वैस्वर्यमाननगतं सुविधास्य यत्नात्॥ 53॥
अन्यं न वार्यमधिकं गलशोषहेतुस्तृष्णाद्युपद्रवनिमित्तमिति प्रगल्भैः।
धार्या भवंति निजदोषविशेषभेदात् क्षाराम्लतैलघृतमूत्रकषायवर्गाः॥ 54॥

भावार्थ : पूर्वोक्त प्रकार से पुनः उस द्रव को लेकर मुख में धारण करना चाहिए। पुनः विधि प्रकार बाहर छोड़ना चाहिए। दोष निकल जावे, शिर का भारीपना ठीक हो जावे, स्वरभंग व अन्य मुखगत रोग शांत हो जावे, तब तक यत्नपूर्वक इस प्रयोग को करे। इस प्रकार रोग शांत हो जाने पर फिर दूसरे द्रव को अधिक धारण न करे। अन्यथा गलशोषण, तृषा आदिक उपद्रव होते है, ऐसा विद्वज्जनों ने कहा है एवं दोषभेद के अनुसार क्षार, आम्ल, तैल, घृत, मूत्र व कषाय वर्ग औषधियों के द्रव को धारण करना चाहिए।

गंडूष के द्रव का प्रमाण और कवलविधि

गंडूषसद्रवगतं परिमाणमत्र प्रोक्तं मुखार्धमिति नान्यदतोस्ति किंचित्।
पूर्णे मुखे भवति तद्द्रवमत्र चाल्यं हीनं न दोषहरमत्र भवेदशेषम्॥ 55॥

भावार्थ : गंडूष के द्रव का प्रमाण मुख की अर्ध मात्रा (मुँह के आधे में जितना समावें उतना) में बतलाया है। यदि द्रव से मुख को पूर्ण भर दिया जाये अथवा मुँह भर द्रव धारण किया जाये तो, उसे मुख के अंदर इधर-उधर न चला सकने के कारण वह संपूर्ण दोषों को हरण करने में समर्थ नहीं होता है।

तस्मान्मुखार्धपरिमाणयुतं द्रवं तं निश्शेषदोषहरणाय विधेयमेवं।
शुष्कौषधैश्चकबलं विधिवद्विधाय संचर्व्यतां हरणमिच्छदशेषदोषम्॥ 56॥

भावार्थ : इस कारण से सम्पूर्ण दोषों को हरण करने के लिए मुख के अर्ध प्रमाण द्रव धारण करना चाहिए एवं सर्वदोषों को हरण करने की इच्छा से, शुष्क (सूखे) औषधियों से शास्त्रोक्त विधि से कवल धारण कर के उसे चबावें।

नस्य वर्णन प्रतिज्ञा व नस्य के दो भेद

एवं विधाय विधिवत्कबलग्रहाख्यं नस्यं ब्रवीमि कथितं खलु संहितायाम्।
नस्यं चतुर्विधमपि द्विविधं यथावत् यत्स्नेहनार्थमपरं तु शिरोविरेकम्॥ 57॥

भावार्थ : इस प्रकार विधिपूर्वक गण्डूष व कबल ग्रहण को निरूपण कर अब आयुर्वेद संहिता

में प्रतिपादित नस्य प्रयोग का कथन करेंगे। यद्यपि नस्य चार प्रकार का है। फिर भी मूलतः स्नेहन नस्य व शिरोविरेचन नस्य के भेद से दो प्रकार है।

स्नेहन नस्य का उपयोग

यत्स्नेहनार्थमुदितं गलरक्तमूर्धास्कंधोरसां बलकरं वरद्यष्टिकृत्स्यात्।
वाताभिघातशिरसि स्वरदंतकेशश्मश्रुप्रशातखरदारुणके विधेयम्॥ 58॥

भावार्थ : स्नेहन नस्य कंठ रक्त मस्तक कंधा और छाती को बल देने वाला है, आँखों में तेजी लाने वाला है। वात से अभिघातित (पीड़ित) शिर (शिरो रोग) में, चलदंत, केश (बाल) व मूँछ गिरने में, कठिन दारुण नामक रोग में इस स्नेहन नस्य का प्रयोग करना चाहिए।

स्नेहन नस्य का उपयोग

कर्णामयेषु तिमिरे स्वरभेदवक्त्रशोषेऽप्यकालपलिते वयबोधनेऽपि।
पित्तानिलप्रभववक्त्रगतामयेषु सुस्नेहनाख्यामधिकं हितकृन्नराणाम्॥ 59॥

भावार्थ : कान के रोगों में, तिमिर रोग में, स्वरभंग में, मुखशोष में केश पकने में, आयु बढ़ाने में एवं पित्त व वात विकार से उत्पन्न समस्त मुखगत रोगों में, इस स्नेहन नस्य का उपयोग करना चाहिए, जो कि मनुष्यों को अत्यन्त हितकारी है।

विरेचननस्य का उपयोग का काल

यत्स्याच्छिरोगतविरेचनमूर्ध्वजत्रुश्लेष्मोद्भवेषु बहुरोगचयेषु योज्यम्।
नस्यं द्वयं विधिमभुक्तवतां प्रकुर्याद्व्याभ्रे स्वाकालविषये करतापनाद्यैः॥ 60॥

भावार्थ : विरेचन नस्य को ऊर्ध्वजत्रुगत, हंसला के हड्डी के ऊपर के (गला, नाक, आँख आदि स्थानगत) नाना प्रकार के कफजन्य रोग समूहों में प्रयोग करना चाहिए। इन दोनों नस्यों को भोजन नहीं किए हुए रोगी पर जिस दिन आकाश बादलों से आच्छादित न हो और दोषानुसार नस्य का जो काल[1] बतलाया गया है उस समय, हाथ से तपाना इत्यादि क्रियाओं के साथ-साथ प्रयोग करना चाहिए।

स्नेहननस्य की विधि व मात्रा

सुस्विन्नगंडगलकर्णललाटदेशे किंचिद्विलंबित यथानिहितोत्तमांगे।
उन्नामिताग्रयुतसद्विवरद्वयेऽस्मिन्नासापुटे विधिवदत्र सुखोष्णबिंदून्॥ 61॥
स्नेहस्य चाष्टगणना विहितानि दद्यात् प्रत्येकशोऽत्र विहिता प्रथमा तु मात्रा।
अन्या ततो द्विगुणिता द्विगुणक्रमेण मात्रत्रयं त्रिविधचारुपुटेषु दद्यात्॥ 62॥

भावार्थ : कपोल, गला, कान, ललाटदेश (माथे के अग्रभाग) को (हाथ को तपा कर) स्नेदन करे और मस्तक को इस प्रकार रखें कि मस्तक नीचे की ओर झुका हुआ और नाक के दोनों छेद ऊपर

1. जो अन्न का काल है वही नस्य का काल है।

की ओर हो, इस प्रकार रखकर एक-एक नाक के छेदों में सुखोष्ण (सुहाता हुआ कुछ गरम) तैल के आठ-आठ बिन्दुओं को विधि प्रकार (रुई आदि से लेकर) छोड़ें। यह सोलह बिन्दु[1] स्नेहन नस्य की प्रथम मात्रा है। द्वितीय मात्रा इससे द्विगुण है। तृतीय मात्रा इससे भी द्विगुण है। इस प्रकार तीन प्रकार की तीन मात्राओं को (दोषों के बलाबल को देखते हुए आवश्यकतानुसार) नाक के छेदों में डालें।

प्रतिमर्शनस्य

सुस्नेहनार्थमुपदिष्टमिदं हि नस्यं प्रोक्तं तथा प्रततसत्प्रतिमर्शनं च।
तत्र प्रतीतनवकालविशेषणेषु कार्यं यथाविहिततत्प्रतिमर्शनं तु॥ 63॥

भावार्थ : उपर्युक्त नस्य, स्नेहन करने के लिए कहा गया है। इसी स्नेहन नस्य का एक दूसरा[2] भेद है, जिसका नाम प्रतिमर्शनस्य है। इस प्रतिमर्शनस्यप्रयोग के नौ[3] काल हैं। इन्हीं नौ कालों में विधि के अनुसार प्रतिमर्श नस्य का प्रयोग करना चाहिए।

प्रतिमर्शनस्य के नौ काल व उस के फल

प्रातस्समुत्थितनरेण कृतेऽवमर्शे सम्यग्व्यपोहति निशोपचितं मलं यत्।
नासागताननगतं प्रबलां च निद्रामावासनिर्गमनकालनिषेवितं तु॥ 64॥
वातातपप्रबलधूमरजोऽतिबाधां नासागतं हरति शीतमिहांबुपानात् (?)।
प्रक्षालितात्मदशनेन नियोजितोऽयं दंतेषु दाढर्थमधिकास्यसुगंधिता च॥65॥
कुर्याद्भुजामपहरत्यधिकां दिवातिसुप्तोत्थितेन च कृतं प्रतिमर्शनं तु।
निद्रावशेषमथ तच्छिरसो गुरुत्वं संहृत्य दोषमपि तं सुखिनं करोतिं॥ 66॥

भावार्थ : प्रातःकाल में उठते ही इस प्रतिमर्श नस्य का प्रयोग करें तो रात्रि के समय नासिक व मुख में संचित सर्व मल दूर होते हैं एवं अत्यधिक प्रबल निद्रा भी दूर हो जाती है। घर से बाहर निकलते समय प्रतिमर्श का सेवन करें तो नाक सम्बन्धी वात, धूप, धूम व धूलि की बाधा दूर होती है। दंतधावन (दाँतौन) करने के बाद इसका प्रयोग करें तो दांत मजबूत हो जाते हैं। मुख सुगंध युक्त होता है एवं (दाँत व मुख सम्बन्धी) भयंकर पीड़ायें नाश होती हैं। दिन में सोकर उठने के बाद इस प्रतिमर्श का प्रयोग करें तो निद्रावशेष, शिरोगुरुत्व एवं अन्य अनेक दोषों को नाश कर उस मनुष्य को

1. तर्जनी अंगुली के दो पर्व तक स्नेह में डुबो देवें। उससे जितने स्नेह का मोटा बिंदु गिरे, उसे एक बिंदु जानना चाहिए।
2. स्नेहन नस्य के दो भेद हैं, एक मर्श और दूसरा प्रतिमर्श, इसे अवमर्श भी कहते हैं। इस श्लोक के पहले के श्लोकों में जिस स्नेहन नस्य का वर्णन है, वह मर्शनस्य है। क्योंकि ग्रंथांतरों में भी ऐसा ही कहा है।
3. 1. प्रातःकाल उठकर, 2. घर से बाहर निकलते समय, 3. दंतधावन के बाद, 4. दिन में सोकर उठने के पश्चात्, 5. मार्ग चलने के बाद, 6. मूत्र त्यागने के बाद, 7. वमन के अंत, 8. भोजनांत, 9. सायंकाल, ये प्रतिमर्श के नौ काल हैं।

सुखी करता है।

पंथश्रमाकुलनरेण नियोजितस्तु पंथश्रमं व्यपथ इत्यखिलांगदुःखम्।
नित्यं सुमूत्रितवताप्यभिषेचितोऽयं सद्यः प्रसादयति नीरदमंगसंस्थम्॥67॥

भावार्थ : रास्ता चलकर जो मनुष्य थक गया हो उसके प्रति भी प्रतिमर्श का प्रयोग करें तो संपूर्ण मार्गश्रम दूर होता है एवं शरीर की वेदना दूर होती है। रोज मूत्र त्यागने के बाद इसका प्रयोग करें तो शरीर में स्थित नीरद (मल) को सद्य ही प्रसन्न (दूर) करता है।

वांते नरेऽपि गललग्नबलासमाशु निश्शेषतो व्यपहरत्यभिषेचितस्तु।
भक्ताभिकांक्षणमपि प्रकरोति साक्षाच्छ्रोतोविशुद्धिमिह भुक्तवतावमर्शः॥68॥

भावार्थ : वमन कराने के बाद प्रतिमर्श का प्रयोग करे तो वह कंठ में लगे हुए कफ को शीघ्र ही पूर्णरूप से दूर करता है एवं भोजन की इच्छा को भी उत्पन्न करता है। भोजन के अंत में इस नस्य का सेवन करे तो स्रोतों की विशुद्धि होती है।

प्रतिमर्श का प्रमाण

सायं निषेवितामिदं सततं नराणां निद्रासुखं निशि करोति सुखप्रबोधम्।
प्रोक्त प्रमाणमपि तत्प्रतिमर्शनस्य नासागतस्य च घृतस्य मुखे प्रवेशः॥69॥

भावार्थ : सायंकाल में यदि इसका सेवन करें तो उन मनुष्यों को रात्रिभर सुख निद्रा आती है एवं सुख पूर्वक नींद भी खुलती है। स्नेह (घृत) नाक में डालने पर मुख में आ जाय वही प्रतिमर्श नस्य का प्रमाण जानना चाहिए।

प्रतिमर्श नस्य का गुण

अस्माद्भवेदिति च सत्प्रतिमर्शनात्तु वक्त्रं सुगंधि निजदंतसुकेशदार्ढ्यं।
रोगा स्वकर्णनयनाननानासिकोत्था नश्युस्तथोर्ध्वगलजत्रुगताश्च सर्वे॥70॥

भावार्थ : इस प्रतिमर्शन प्रयोग से मुख में सुगंधि, दंत व केश में दृढ़ता होती है एवं कर्ण, आँख, मुख, नाक में उत्पन्न तथा गला और जत्रु के ऊपर के प्रदेश में उत्पन्न समस्त रोग दूर होते हैं।

शिरोविरेचन (विरेचन नस्य) का वर्णन

एवं मया निगदितं प्रतिमर्शनं तं वक्ष्याम्यतः परमरं शिरसो विरेकम्।
नासागतं वदति नस्यामिति प्रसिद्धम् रूक्षौषधैरपि तथैव शिरोविरेकम्॥71॥

भावार्थ : इस प्रकार हमने प्रतिमर्श नस्य का निरूपण किया, अब आगे शिरोविरेचन का प्रतिपादन अच्छी तरह करेंगे। नासागत औषधक्रिया (औषध को नाक करने वाला क्रिया विशेष) को नस्य कहते हैं, यह लोक में प्रसिद्ध है। शिरोविरेचन नस्य का प्रयोग रूक्ष औषधियों द्वारा भी होता है।

शिरो विरेचन द्रव की मात्रा

वैरेचनद्रवकृतं परिमाणमेतत् संयोजयेद्धि चतुरश्चतुरश्च बिंदन्।
एवं कृता भवति सप्रथमातु मात्रा मात्रा ततो द्विगुणितद्विगुणक्रमेण॥ 72॥

भावार्थ : शिरोविरेचन द्रव को एक-एक नाक के छेदों में चार-चार बिन्दु डालना चाहिए। यह विरेचन द्रव की पहली (अत्यन्त लघु) मात्रा[1] है। इस मात्रा से द्विगुण मध्यम मात्रा, इससे भी द्विगुण उत्तम मात्रा है। इस प्रकार शिरोविरेचन के द्रव का प्रमाण जानना।

मात्रा के विषय में विशेष कथन

तिस्त्रो भवंति नियतास्त्रिपुटेषु मात्रा, उत्क्लेदशोधनसुसंशमनेषु योज्यः।
दोषोच्छ्रयेण विदधीत भिषक्[2] च मात्रां, मात्रा भवेदिह यतः खलु दोषशुद्धिः॥ 73॥

भावार्थ : उत्क्लेद, शोधन, संशमन इन तीन प्रकार के कार्यों में तीन प्रकार की नियत मात्रा होती है। इन को उत्क्लेदनादि कर्मों में प्रयोग करना चाहिए। दोषों के उद्रेक के अनुसार भिषक् मात्रा की कल्पना करें। क्योंकि मात्रा ही दोष शुद्धिकारक होती है। अर्थात् औषधि को योग्य प्रमाण में प्रयोग करने पर ही बराबर दोषों की शुद्धि होती है, अन्यथा नहीं।

शिरोविरेचन के सम्यग्योग का लक्षण

श्रोत्रौ गलोष्ठनयनाननतालुनासा - शुद्धिर्विशुद्धिरपि तद्वलवत्कफस्य।
सम्यकृते शिरसि चापि विरेचनेऽस्मिन्, योगस्य योगविधितत्प्रतिषेधविद्धिः॥ 74॥

भावार्थ : शिरोविरेचन के प्रयोग करने पर यदि अच्छी तरह विरेचन हो जावे अर्थात् सम्यग्योग हो जावें तो कर्ण, गला, ओठ, आँख, मुँह, तालु, नाक इनकी और प्रबल कफ की अच्छी तरह विशुद्धि हो जाती है। इस प्रकार, शिरोविरेचन के योगातियोग आदि को जानने वाले विद्वान् वैद्य सम्यग्योग का प्रयोग करें।

---

1. इस शिरो विरेचन द्रव के प्रमाण में कई मत हैं। कोई तो जघन्य मात्रा चार बिन्दु मध्यम मात्रा छह बिन्दु व उत्तम मात्रा आठ बिन्दु ऐसा कहते हैं। और कई जघन्य चार बिन्दु और आगे मध्यम, उत्तम मात्रा जघन्य से द्विगुण 2 त्रिगुण 2 चतुर्गुण भी कहते हैं। इसलिए इसका मुख्य तात्पर्य इतना ही है कि जघन्य मात्रा से आगे के मात्राओं को दोषबल पुरुषबल आदि को देखते हुए कल्पना कर लेनी चाहिए। जघन्य मात्रा 4 बिन्दु है, यह सर्वसम्मत है। इस विषय में अन्य ग्रन्थ में इस प्रकार कहा है-

   चतुरश्चतुरो बिन्दूनैककस्मिन् समाचरेत्।
   एषा लघ्वी मता मात्रा तथा शीघ्रं विरेचयेत्॥
   अध्यर्धो द्विगुणां वाऽपि त्रिगुणां वा चतुर्गुणां।
   यथाव्याधि विदित्वा तु मात्रां समवचारयेत्॥

2. करोति इति पाठांतरं।

प्रधमन नस्य का यंत्र

छागस्तनद्वयनिभायतनास्य नाड़ी युग्मान्वितांगुलचतुष्कमितां च धूम-।
साम्याकृतिं विधिवरं सुषिरद्वयात्तं यंत्रं विधाय विविधवद्धरपीननस्यः (?) ॥ 75 ॥

भावार्थ : बकरी के दोनों स्तनों के सदृश आकार वाली दो नाड़ियों से युक्त, चार अंगुल लम्बा, धूम नलिका के समान आकार वाला दोनों तरफ छेद से युक्त ऐसा एक यंत्र तैयार करके उसके द्वारा प्रधमन[1] नस्य का प्रयोग करना चाहिए।

योगातियोगादि विचार

योगत्रयं विधिवदत्र यथैव धूमे, प्रोक्तं तथैव रसनस्य विधौ च सर्वं।
धूमातियोगदुरुपद्रवसच्चिकित्सां, नस्यातियोगविषयेऽपि च तां प्रकुर्यात् ॥ 76 ॥

भावार्थ : धूम प्रयोग में सम्यग्योग, हीनयोग व अतियोग के जो लक्षण कहे गए हैं, वही लक्षण विरेचन रस व नस्य के सम्यग्योग, हीनयोग, अतियोग के भी जानना। धूम के अतियोग से उत्पन्न उपद्रवों की जो चिकित्सा बतलाई गई है, उसे नस्य के अतियोग में भी उपयोग करना चाहिए।

व्रणशोथ वर्णन

एवं नस्यविधिर्विशेषविहितः सर्वामयेष्वौषधा-।
न्यप्यामेति विदग्धसाधु - परिपक्ववक्रमाद्योजयेत् ॥
इत्यत्युत्तमसंहितावितिहिता तत्रापि शोफक्रिया-।
मुक्तामत्र सविस्तरणे कथयाम्यल्पाक्षरैर्लक्षिताम् ॥ 77 ॥

भावार्थ : इस प्रकार नस्यविधि को विस्तार के साथ निरूपण किया। समस्त रोगों में औषधियों का प्रयोग, रोग की आम पक्व विदग्ध अवस्थाओं के अनुसार करना चाहिए। ऐसा अत्युत्तम आयुर्वेद संहिता में कहा है। अब आयुर्वेद संहिता में जिसके सम्बन्ध में विस्तार के साथ कथन किया गया है, ऐसे शोफ व उसकी चिकित्सा विधि का यहाँ थोड़े अक्षरों में अर्थात् संक्षेप में कथन करेंगे।

व्रणशोथ का स्वरूप व भेद

ये चानेकविधामया स्युरधिंक शोफाकृतिर्व्यंजना-।
स्तेभ्यो भिन्नविशेषलक्षणयुतस्त्वङ्मांससम्बन्धजः ॥
शोफस्स्याद्विषमः समः पृथुतरो वाल्पः ससंघातवान्।
वाताद्यैः रुधिरेण चापि निखिलैरागंतुकेनापदा ॥ 78 ॥

1. अवपीड़न और प्रधमन, नस्य ये विरेचन नस्य के ही भेद हैं। शिरोविरेचक औषधियों के रस निकाल कर नाक में छोड़ना यह अवपीड़न नस्य है और इन्हीं औषधियों के चूर्ण को फूंक के दारा नाक में प्रवेश कराने को प्रधमन कहते हैं।

भावार्थ : नाना प्रकार के ग्रंथि, विद्रधि आदि रोग जो शोथ के आकृति के होते हैं, उनसे भिन्न और विशिष्ट लक्षणों से संयुक्त त्वचा, मांस के सम्बन्ध से उत्पन्न एक शोफ (शोथ=सूजन) नामक रोग है, जो विषम सम, बड़ा, छोटा व संघात स्वरूप वाला है। इसकी उत्पत्ति वात, पित्त, कफ, सन्निपात रक्त एवं आगंतुक कारण से होती है, इसलिए इसके भेद भी छह हैं।

शोथों के लक्षण

तेभ्यो दोषविशेषलक्षणगुणादोषोद्भवा शोफकाः।
पित्तोद्भूतवदत्र रक्तजनितः शोफातिकृष्णस्तथा॥
रक्तात्पित्तसमुद्भवोपमगुणोप्यागंतुजो लोहित-।
स्तेषामामविदग्धपक्ववविलसत् सल्लक्षणं वक्ष्यतं॥ 79॥

भावार्थ : वात, पित्त, व कफ से उत्पन्न होने वाले शोथों में वातादि दोषों के ही लक्षण व गुण प्रकट होते हैं या पाये जाते हैं एवं सन्निपातज शोथ में तीनों दोषों के लक्षण प्रकट होते हैं। रक्तजन्य शोथ में पित्तज शोथ के समान लक्षण प्रकट होते हैं और वह अत्यन्त काला होता है। आगंतुज शोथ में पित्त व रक्तज शोथ के समान लक्षण होते हैं, वह लाल होता है। अब आगे इन शोथों के आम, विदग्ध व पक्व अवस्था के लक्षणों को कहेंगे।

शोथ की आमावस्था के लक्षण

दोषाणां प्रबलात्प्रति प्रतिदिनं दुर्योगयोगात्स्वयं।
बाह्याभ्यंतरसत्क्रियाविरहितत्त्वाद्वा प्रशांतिं गतः॥
योऽसौ स्यात्कठिनोऽल्परुक्स्थिरतरत्वक्साम्यवर्णान्विते।
मंदोष्माल्पतरोऽति[1]-शीतनितरामामाख्यशोफस्स्मृतः॥ 80॥

भावार्थ : व्रणशोथ में वातादि दोषों के प्राबल्य अत्यधिक (शोथ में कुपित दोषों का प्रभाव ज्यादा) हो, शोथ की शांति के लिए प्रयुक्त योग (चिकित्सा) की विपरीतता हो अर्थात् सम्यग्योग न हो या उसके शमनार्थ बाह्य व आभ्यंतर किसी प्रकार की चिकित्सा नहीं की गयी हो तो वह शोथ शमन न होकर पाकाभिमुख (पकने लगता है) होता है। [ऐसे शोथ की आमावस्था, विदग्धावस्था, पक्वावस्था इस प्रकार तीन अवस्थायें होती हैं, उनमें आमशोथ का लक्षण निम्नलिखित प्रकार है] जो शोथ, कठिन, अल्पपीड़ायुक्त, स्थिर (जैसे के तैसा) त्वचा (स्वस्थ त्वचा) के समान वर्ण से युक्त (उसका रंग नहीं बदला हो) एवं कम गरम हो तथा शोथ थोड़ा हो और शीत हो तो समझना चाहिए कि यह आमशोथ है अर्थात् ये आम शोथ के लक्षण हैं।

1. अधिकोऽपि इति पाठांतरं।

विदग्धशोथ लक्षण

यश्चानेकविधोऽतिरुग्बहुतरोष्मात्याकुलः सत्वरो।
यश्च स्यादधिको विवर्णविकटः प्राध्मातबस्तिस्समः॥
स्थाने चंक्रमणासने च शयने दुःखप्रदो वृश्चिका-।
विद्धस्येव भवेत्तृषात्यरुचिकृच्छ्राभो विदग्धः स्मृतः॥ 81॥

भावार्थ : जिसमें अनेक प्रकार की अत्यधिक पीड़ा होती हो, जो बहुत ही उष्णता से आकुलित हो, बहुत ही विवर्ण हो गया हो, फूले हुए बस्ति (मशक) के समान तना हुआ हो, खड़े रहने में, चलने-फिरने में, बैठने में, सोने में दुःख देता हो, जिसमें बिच्छू काटे हुए के समान वेदना होती हो, जिसके होते हुए तृषा व अरुचि अधिक होती हो और भयंकर हो तो उसे विदग्ध शोथ समझना चाहिए अर्थात् ये विदग्ध शोथ के लक्षण हैं।

पक्व शोथ लक्षण

यश्च स्यादुपशांतरुङ्मृदुतरो निर्लोहितोऽल्पस्स्वयं।
कण्डूत्वक्परिपोटतोदवलिनिम्नाद्यैः सतां लक्षितः॥
अंगुल्याः परिपीडिते च लुलितं भूयो धृतौ वारिव-।
द्यः शीतो निरुपद्रवो रुचिकरः पक्वः स शोफः स्मृतः॥ 82॥

भावार्थ : जिसमें पीड़ा की शांति हो गई है, मृदु है, लाल नहीं है, (सफेद है) सूजन कम हो गया है, खुजली चलती है, त्वचा कटने लगती है, सूई चुभने जैसी पीड़ा होती है, बली पड़ती है, (तनाव व नाश होता है) देखने में गहरी मालूम होती है, अंगुली से दबाने पर जल से भरे हुए मशक के समान अंदर पीप इधर-उधर जाती है, छूने में शीत है, उपद्रवों से रहित है, जिसके होते हुए अन्न में रुचि उत्पन्न होती है (अरुचि नष्ट होती है) उसे पक्व शोथ समझना चाहिए।

कफ जन्य शोथ के विशिष्ट पक्व लक्षण

गंभीरानुगते बलासजनिते रोगे सुपक्वे क्वचि-।
न्मुह्येत्पक् वसमस्तलक्षणमदृष्ट्वाऽपक्व एवेत्यलम्॥
वैद्यो यत्र पुनश्च शीतलतरस्त्वक्साम्यवर्णान्वितः।
शोफस्तत्र विनीय मोहमखिलं हित्वाशु संशोधयेत्॥ 83॥

भावार्थ : गम्भीर (गहरी) गति वाला कफजन्य शोथ अच्छी तरह पक जाने पर भी, सम्पूर्ण पक्व लक्षण न दिखने के कारण, कहीं-कहीं उसे अपक्व समझकर वैद्य मोह को प्राप्त होता है। अर्थात् विदारण कर शोधन नहीं करता है। इसलिए ऐसे शोथ में, शीतलस्पर्श व स्वस्थ त्वचा के समान वर्ण देखकर अपने सम्पूर्ण अज्ञान को त्याग कर शीघ्र ही उसे शोधन करना चाहिए।

शोथोपशमन विधि

आमं दोषविशेषभेषजगणालेपैः प्रशांति नये-।
द्वुष्टैः पाचनकैर्विदग्धमधिकं संपाचयेद्वंधनैः॥
पक्वं पीडनकैस्सुपीडितमलं संभिद्य संशोधये-।
द्वध्वा बधनमप्यतीव शिथिलो गाढस्समश्चोच्यते॥ 84॥

भावार्थ : आम शोथ को दोषों को प्रशमन करने वाले औषधियों से लेपन कर उपशांत करना चाहिए। विदग्ध शोथ को क्रूर पाचन औषधियों के पुल्टिश बाँधकर पकाना चाहिए। पक्व शोथ को पीडन औषधियों द्वारा पीड़ित कर और भेदन (भिद) कर एकदम ढीला, कस के या मध्यम (न ज्यादा ढीला न अधिक कस के) रीति से, (जिसकी जहाँ जरूरत हो) बंधन (पट्टी) बाँधकर संशोधन करना चाहिए। इन शिथिल आदि बंधन विधानों को अब कहेंगे।

बंधन विधि

संधिष्वक्षिषु बंधनं शिथिलमित्युक्तं समं चानने।
शाखाकर्णगले समेद्वृषणे पृष्ठोरुपार्श्वोरसि॥
गाढं स्फिक्छिरसोरुवंक्षजघने कुक्षौ सकक्षे तथा।
योज्यं भेषजकर्मनिर्मितभिषग् भैषज्यविद्याविदन्॥ 85॥

भावार्थ : शरीर के संधि स्थानों में, नेत्रों में सदा शिथिल बंधन ही बाँधना चाहिए। मुख, हाथ, पैर, कान, गला, शिश्नेन्द्रिय, अंडकोष, पीठ, दोनों पार्श्व (फसली) और छाती इन स्थानों में समबंधन (मध्यम रीति से) करना चाहिए। चूतड़, शिर राङ्जघन स्थान, कुक्षि) (कख) कक्ष इन स्थानों में गाढ़ (कस के) बंधन करना चाहिए। भेषज कर्म में निपुण वैद्य)भैषज्य विद्या को जानते हुए अर्थात् ध्यान में रखकर उपरोक्त प्रकार बंधन क्रिया करें।

अज्ञवैद्य निंदा

यश्चात्माज्ञतयाममाशु विदधात्यत्यंतपक्वोयमि-।
त्यज्ञानादतिपक्वमाममिति यश्चोपेक्षते लक्षणैः॥
तौ चाज्ञानपुरस्सरौ परिहरेद्विद्वान्महापातकौ।
यो जानाति विदग्धपक्व विधिवत्सोऽयं भिषग्वल्लभः॥ 86॥

भावार्थ : जो अपनी अज्ञानता से, आम (कच्चा) शोथ (फोड़े) को अत्यन्त पक्व समझकर चीर देता है अथवा जो अत्यन्त पक्व शोथ को अपक्व (आम) समझ कर उपेक्षा कर देता है, ऐसे दोनों प्रकार के वैद्य अज्ञानी हैं और महापापी हैं। ऐसे वैद्यों को विद्वान् रोगी छोड़ देवें अर्थात् उनसे अपना इलाज न करावें। जो शोथ के आम, विदग्ध, पक्व, अवस्थाओं को अच्छी तरह जानता है, वही वैद्यों

के स्वामी या वैद्यों में श्रेष्ठ हैं।

एवं कर्मचतुष्टयप्रतिविधिं सम्यग्विधायाधुना।
सर्वेषामतिदुःखकारण - जरारोगप्रशांतिप्रदैः॥
केशान्काशशशांकशंख सदृशान्नीलालिमालोपमा-।
न्कर्तुं सत्यतमोरुभेषजगणैरालक्ष्यते सत्क्रिया॥ 87॥

भावार्थ : इस तरह चार प्रकार के कर्म व उनके (अतियोगादि होने पर उत्पन्न आपत्तियों के) प्रतिविधान (चिकित्सा) को अच्छी तरह वर्णन करके अब काशतृण, चंद्र व शंख के सदृश रहने वाले सफेद केशों (बालों) को, नील, अलिमाला (भ्रमरपंक्ति) के सदृश काले करने के लिए श्रेष्ठ चिकित्सा का, सर्व प्राणियों को दुःख देने वाले जरा (बुढ़ापा) रोग को उपमशन करने वाले, सत्यभूत (अव्यर्थ) औषधियों के कथन के साथ-साथ निरूपण करेंगे।

पलितनाशक लेप

आम्रास्थ्यंतरसारचूर्णसदृशं लोहस्य चूर्णं तयो-।
स्तुल्यं स्यात्त्रिफलाविचूर्णमतुलं नीलांजनस्यापि च॥
एतच्चूर्ण चतुष्टयं त्रिफलया पक्वोदकैः षड्गुणै-।
स्तैलेन द्विगुणेन मर्दितमिदं लोहस्य पात्रे स्थितम्॥ 88॥
धान्ये मासचतुष्टयं सुविहिते चोध्दृत्य तत्पूजयि-।
त्वालिम्पेत्त्रिफलांबुधौतसितसंकेशांच् छशांकोपमान्॥
तत्कुर्यात्क्षणतोऽभ्रवभ्द्रमरसंकेशानशेषान् मुखे।
विन्मस्यामललोहकांतकृतसद्वत्तं तु संधारयेत्॥ 89 ॥

भावार्थ : आम की गुठली के मिंगी का चूर्ण व लोहे के चूर्ण को सम भाग लेवें। इन दोनों के बराबर त्रिफला चूर्ण और नीलांजन (तूतिया वा सुग्मा) चूर्ण लेवें। इन चारों चूर्णों को (सर्व चूर्ण के साथ) एकत्र कर इस में छह गुना त्रिफला का काढ़ा और दुगुना तिल का तेल मिलाकर अच्छी तरह मर्दन (घोट) कर लोहे के पात्र में भर दें और उसे धान्य की राशि में चार महीने तक रखें अर्थात् गाढ़ दें। पश्चात् उसे निकाल कर भगवान् की भक्ति भाव से पूजा करके बालों पर लेप[1] करें एवं बाद में त्रिफला के काढ़े से धो डालें। वे चंद्र के समान रहने वाले सफेद बाल भी क्षण मात्र से ही मेघ (बादल) व भ्रमर के समान काले हो जाते हैं। इसी योग को शुद्ध कांतलोह के भस्म के साथ तैयार करके खावे और साथ सदाचरण का पालन करें।

1. रात्रि के समय लेप कर व सुबह धो डाले।

केश कृष्णीकरण पर लेप

मृद्वस्थीनि फलानि चूततरुसंभूतानि संगृह्य सं।
[1]चूर्ण्यायस्कृतकोलजैः पलशतं तैलाढके न्यस्य तै-॥
रत्रैव त्रिफलाकषायमपि च द्रोणं घटं संस्कृते।
षण्मासं वरधान्यकूपनिहितं चोक्तक्रमाल्लेपयेत्॥ 90॥

भावार्थ : मृदु गुठलियों से युक्त आम के फल, (कच्चा आम-क्यारी) लोह चूर्ण, बेर, इनको समभाग लेकर चूर्ण करें। इस प्रकार तैयार किए हुए सौ पल चूर्ण को, एक आढ़क तिल के तैल व एक द्रोण त्रिफला के काढ़े में अच्छी तरह से मिलाकर एक (घी व तेल से) संस्कृत (मिट्टी के) घड़े में भरे और इस घड़े को छह महीने तक धान्य राशि में गढ़ दें। उसे छह महिने के बाद निकालकर पूर्वोक्त क्रम से लेप करें तो सफेद बाल काले हो जाते हैं।

केशकृष्णीकरण तृतीय विधि

भृंगायस्त्रिफलाशनैः कृतमिदं चूर्णं हितं लोहित-।
एवं च त्रिफलांभसा त्रिगुणितेनालोड्य संस्थापितम्॥
प्रातस्तज्जलनस्यपानविधिना संमर्द्य संलेपनैः।
केशाः काशसमाः भ्रमद्भ्रमरसंकाशा भवेयुः क्षणात्॥ 91॥

भावार्थ : भांगरा, लोहचूर्ण, त्रिफला, इनको समभाग लेकर चूर्ण करें और इसे तिगुना त्रिफला के कषाय में घोलकर (घड़े में भरकर धान्य राशि में) रखें, इस प्रकार साधित औषधि के द्रव का प्रातःकाल उठकर नस्य लंबें, पीवे, केशों पर मर्दन व लेप करे तो, काश के समान रहने वाले सफेद बाल क्षण कल में भौरों के समान काले हो जाते हैं।

केश कृष्णीकरण तैल

पिण्डीतत्रिफलामृतांबुरु - हसक्षीरद्रुमत्वङ् मह।
नीलीनीलसरोजरक्तकुमुदांघ्रिक्वाथ[2] संसिद्धके॥
तैले लोहरजस्सयष्टिमधुकं नीलांजनं चूर्णितं।
दत्वा खल्वतले प्रमर्दितमिदं केशैककाष्ण्यावहम्॥ 92॥

भावार्थ : मैनफल, त्रिफला, गिलोय, कमल, क्षीरवृक्षों की छाल, महानील नीलकमल व रक्तकमल के जड़, इनसे सिद्ध तैल में लोहचूर्ण को मिलाकर खरल में डाल कर खूब घोटें। फिर उसे पूर्वोक्त विधि प्रकार उपयोग में लावें तो केश अत्यन्त काले होते हैं।

1. कीर्त्या इति पाठांतरं।
2. अथवा आंघ्रिक्वाथ इस शब्द का अर्थ चतुर्थांशक्वाथ भी हो सकता है।

कल्कं सत्त्रिफलाकृतं प्रथमतस्संलिम्प्य[1]केशान् सितान्।
धौतांस्तत्त्रिफलांबुना पुनरपि प्रमृक्षयेत्क्षौद्रस-॥
द्धूतैस्तंडुलजै सुकुंदकयुतैस्तत्तण्डुलाम्बुद्रवैः।
पिष्टैर्लोहरजस्समैरसितसत्केशा भवंति स्फुटम्॥ 93॥

भावार्थ : सफेद बालों पर पहले त्रिफला के कल्क को लेप करके त्रिफला के काढ़े से धो डालें। पश्चात् लोहचूर्ण को इसके बराबर, चम्पा, वायविडंग कुंदुरु इनके रस व चावल के धोवन से अच्छी तरह पीस कर बालों पर लगाने से सफेद बाल काले हो जाते हैं।

केश कृष्णीकरण हरीतक्यादि लेप

तैलोद्भृष्टहरीतकी समधृतं कांसस्य चूर्णं स्वयं।
भृष्टं लोहरजस्तयो समधृतं नीलांजनं तत्समम्॥
भृंगी सन्मदयंतिकासहभवासैरीयनीलीनिशा-।
कल्कैस्तत्सदृशैस्सुमर्दितमिदं तैलेन खल्वोपले॥ 94॥
लोहे पात्रवरे घने सुनिहित धान्योरुकूपस्थितम्।
षण्मासं ह्यथवा त्रिमासमपि तन्मासद्वयं मासकम्॥
एकं तच्च समुद्धतं समुचितैस्सत्पूजनैः पूजितं।
लिम्पेत्सांप्रतमेतदंजननिभान् केशान् प्रकुर्यात्सितान्॥ 95॥

भावार्थ : तैल से भूना हुआ हरड़, और कांस के चूर्ण ये दोनों समभाग, इन दोनों के बराबर लोहचूर्ण, इतना ही नीलांजन (तूतिया) इन सबको एकमेक कर मिलावें। भांगरा, मल्लिका (मोतिया) सहचर (पीलीकटसरैया) कटसरैया, नील, हल्दी इनके कल्क को उपरोक्त चूर्ण के बराबर लेकर उसमें मिलावें। पश्चात् इसमें तैल मिलाकर खरल में अच्छी तरह मर्दन करें एवं उसे अच्छे (मजबूत) लोहे के बर्तन में डालकर छह महिना, तीन महिना या एक महिना पर्यंत धान्य राशि में रखें। फिर उसे निकाल कर उचित पूजा विधि व द्रव्य से पूजन करके सफेद बालों पर लेपन करें तो तत्काल ही केश कज्जल के समान काले होते हैं।

केशकृष्णीकरण श्यामादि तेल

श्यामासैरेयकाणां सहचरियुतसत्कृष्णपिण्डीतकानाम्।
पुष्पाण्यत्रापि पत्राण्यधिकतरमहानीलिकानीलिकानाम्॥
तन्वीं चाम्रार्जुनानां निचुलबदरसत्क्षीरिणां च द्रुमाणां।
संशोष्याचूर्ण्य चूर्णं समधृतमखिलं लोहचूर्णेन सार्धम्॥ 96॥

1. लिह्य इति पाठांतरं।

प्रोक्तैश्चूर्णैस्समानं सरसिजवरसत्स्थानपंकं समस्तं।
नीलीभृंगासमानां स्वरसविलुलितं त्रैफलेनाम्भसा च॥
लोहे कुंभे निधाय स्थितमथ दशरात्रं ततस्तैः कषायैः।
कल्कैस्तावद्विपच्यं तिलजमलिनिभा यावदा श्वेतकेशाः॥97॥
एतत्तैलं यथावन्निहितमतिघने लोहकुंभे तु मांस।
तलिंपेच्छवेतकेशानलिकुलविलसन्नीलनीलांजनाभान्॥
कुर्यात्सद्यस्समस्तान् अतिललितलसल्लोहकांतोरुवृंतान्।
वक्त्रे विन्यस्य यत्नादधिकतरमरं रंजयेत्तत्कपालम् ॥98॥

भावार्थ : फूल प्रियंगू (?) कटसरैया पीली कटसरैया, काला मेनफल, इनके फूल, महानील और नील के पत्र, शालपर्णी, आम की गुठली की मिंगी, अर्जुन की छाल, समुद्रफल, बैर, क्षीरी वृक्षों की छाल और लोह चूर्ण इन सबको समभाग लेकर चूर्ण करें। इन सब चूर्णों के बराबर कमल स्थान (जहाँ कमल रहता है उस स्थान) के कीचड़ को लेकर (उसमें) मिलावें और इसे, नील व भांगरा इन दोनों के समभाग स्वरस व त्रिफला के क्वाथ (काढ़ा) से मर्दन कर एकमेक करके लोहे के घड़े में भरकर (मुँह बंद करके) दस रात रखें। इस प्रकार तैयार किया हुआ (इस) कल्क व नीली, भांगरा, त्रिफला इनके क्वाथ से तिल के तैल को तब तक पकावें जब तक उस तैल के लगाने से सफेद बाल काले[1] न हों। इस प्रकार साधित तैल को एक मजबूत लोहे के घड़े में भरकर एक महिने तक रखें पश्चात् उसे निकाल कर सफेद बालों पर लगावें और यत्नपूर्वक इसका नस्य लेवे तो संपूर्ण बाल भ्रमर पंक्ति व नीलांजन के सदृश काले हो जाते हैं और उनके जड़ मनोहर चुंबक लोह के समान मजबूत हो जाते हैं। जिसके वजह से कपाल भी रंजायमान होता है।

नीलीभृंगरसं फलत्रयरसं प्रत्येकमेकं तथा।
तैलं प्रस्थमितं प्रगृह्य निखिलं संलोड्य संस्थापितम्।
सारस्यासनवृक्षजस्य शकलीभूतस्य शूर्पं घटे।
भल्लातक्रियया ह्यधो निपतितं दग्ध्वा हरेदासवम्॥99॥
ताम्रायोंऽजनघोषचूर्णमखिलं प्रस्थं प्रगृह्यायसे।
पात्रे न्यस्य तथा समेन सहसा सम्मर्दयेन्निर्द्रवम्॥

1. तैल पकाते समय उस तैल को हाथ में लेकर सफेद बाल या बगल के पंखा ले उस पर लगाकर देखें। यदि वह काला न हुआ तो फिर उक्त क्वाथ व कल्क डाल कर पकावें। इस प्रकार जब तक बाल काला न हो तब तक बार-बार क्वाथ कल्क डाल कर पकाना चाहिए।

त तैः प्रोक्तरसैः पुनस्सममितैः अग्नौ मृदौ पाचितं।
धान्ये मासचतुष्टयं सुनिहितं चोद्धृत्य संपूजयेत्॥ 100॥
केशान्काशसमान्फलत्रयलसत्कल्केन लिप्तान्पुनः।
धौतांस्तत्त्रिफलोदकेन सहसा समृक्षयेदौषधम्॥
वक्त्रे[1] न्यस्य सुकातवृत्तमसकृत्संचारयेत्संततं।
साक्षादंजनपुंजमेचकनिभः संजायते मूर्धजः॥ 101॥

भावार्थ : नील, भांगरे के रस, त्रिफला के क्वाथ (काढ़ा) से प्रत्येक एक-एक प्रस्थ (64 तोले)और तिल का तैल एक प्रस्थ लेकर सब मिलाकर रखें। विजयसार वृक्ष के सार (वृक्ष के बाहर की छाल को छोड़कर अंदर का जो मजबूत भाग होता है वह) के टुकड़ों को दो द्रोण प्रमाण लेकर, घड़े में भरे और भिलावे के तैल निकालने की विधि से, अग्नि से जलाकर अंधःपातन करके उसका आसव निकालें। फिर, ताम्र, लोह, नीलांजन, (सुरमा) कांसा, इनके (समभाग विभक्त) एक प्रस्थ चूर्ण को लोह के पात्र में डालकर द्रव पदार्थ के बिना ही अच्छी तरह घोटना चाहिए। घोटने के बाद उसे उपर्युक्त रसों के साथ जो उसे बराबर हो मृदु अग्नि में पका कर धान्य राशि में चार महिने तक रखें। पश्चात् उसे निकाल कर पूजन करें। अनंतर काश के समान सफेद बालों पर त्रिफला के कल्क लेपन कर त्रिफला के काढ़े से ही धो डालें। बाद उपर्युक्त औषधि को शीघ्र ही केशों पर लगावें। जिससे केश कज्जल की राशि के समान काले व चमकीले हो जाते हैं।

महा अक्ष तैल

काश्मर्या बीजपूरप्रकटतरकपित्थाम्रजंबूद्रुमाणां।
शैलेयस्यापि पुष्पाण्यमृतहटमहानीलिकामोदयंती॥
नीलीपत्राणि नीलांजनतुवरककासीसपिण्डीतबीजम्।
वर्षाभूसारिवा याऽसिततिलयुतयष्ट्याह्वका काणकाली॥ 102॥
पद्मं नीलोत्पलाख्यं मुकुलकुवलयं तत्र संभूतपङ्कं ।
वर्षाशं कल्कितान्तानसनखदिरसारोदकैस्त्रैफलैश्च॥
एतत्सर्वं दशाहं निहितमिहमहालोहकुंभे ततस्तैः।
कल्कैः प्रोक्तैः कषायैर्दशभिरतितरां चोदैकरक्षैतलम्॥ 103॥
स्यादत्रैवाढकं तन्मृदुपचनविधौ लोहपात्रे विपक्वं।
तत्तैलं भैषजैरादृढतरविलसल्लोहपात्रे न्यसेद्वा।

1. दो चरणों का अर्थ ठीक नहीं लगता है।

तैलेनैतेन यत्नान्नियतपरिजनः शुद्धदेहो निवाते॥
गेहे स्थित्वा तु नस्यं वलिपलितजराक्रांतदेहं प्रकुर्यात्॥ 104॥
कृत्वा तैलवरेण नस्यमसकृन्मासं यथोक्त बुधै-।
र्मर्त्यः स्यात्कमलाननः प्रियतमो वृद्धोऽपि सद्यौवनः॥
तेनेदं महदक्षतैलममलं दद्यात् प्रियेभ्यो जने-।
भ्यःसंपत्तिसुखावहं शुभकरं तत्कर्तुरर्थागमम्॥ 105॥

भावार्थ : कम्भारी बिजौरा निंबू, कैथ, आम, जामुन, शैलेय (भूरि छरीला गंध द्रव्य विशेष) इनके फूल, गिलोय, हट (शिवार) महानील, वनमल्लिका, नील के पत्ते, नीलांजन (तूतिया या सुरमा) तुबरक, कसीस, मेनफल का बीज, पुनर्नवा, सारिवा, काले तिल, मुलैठी, काणकाली, सफेद कमल, नीलकमल, मोलसिरी, लालकमल और कमल रहने के स्थान की कीचड़, इन सबको एक-एक तोला लेकर उसमें विजयसार, खैर का सार भाग, त्रिफला इनके क्वाथ मिलाकर कल्क तैयार करें और उसे एक लोहे के घड़े में डालकर दस दिन तक रखें।

पश्चात् इस उपरोक्त कल्क व उपर्युक्त (विजयसार कत्था त्रिफला के) क्वाथ व पानी से, एक आढ़क बहेड़े के तैल को मृदु, अग्नि के द्वारा पकाकर सिद्ध होने पर एक मजबूत लोह के पात्र (घड़ा) में रखें। बाद जिसके शरीर पलित (सफेद बाल से युक्त) झुरां व बुढ़ापे से आक्रांत है, ऐसे मनुष्य के (शरीर) को वमन विरेचनादिक से शुद्धकर, उसको नियत बंधुओं के साथ, हवा रहित मकान में प्रवेश कराकर इस तैल से बहुत यत्न के साथ नस्य देना चाहिए। इस नस्य प्रयोग को बार-बार एक मास तक करने पर नासिकागत समस्त रोग दूर होते हैं और उस मनुष्य का मुख कमल के समान सुंदर बन जाता है। वह सबको प्रिय लगने लगता है, उतना ही नहीं वृद्ध भी जवान के समान हो जाता है। इसलिए यह संपत्तिक सुखदायक शुभकर व निर्मल है और इसे तैयार करने वाले को अर्थ (द्रव्य) की प्राप्ति होती है। इस महान् अक्ष तैल को (तैयार कर) अपने प्रियजनों को देना चाहिए।

वयस्तम्भक नस्य

शिरीषकोरण्टकभृंगनीलीरसैः पुटं त्रिस्त्रिरनुक्रमेण।
सदक्षशुंभत्तिलकंगुकारिण्यमूनि बीजान्यथ भावयित्वा॥ 106॥
पृथग्रजोभावममूनि नीत्वा विपक्व तोयेन ततो समेन।
विमर्द्य लब्धं तु सुतैलमेषां सदा वयस्तम्भमपीह नस्यम्॥ 107॥

भावार्थ : बहेड़ा, सफेद तिल, कंगुका (फूल प्रियंगु) अरि (खदिर भेद) इनके बीजों को अलग-अलग, सिरस के छाल, कोरंट, भांगरा व नील के रस से क्रमशः तीन-तीन भावना देनी चाहिए। पश्चात् उस भावित बीजों के चूर्णों को समभाग लेकर उबले हुए पानी के साथ मर्दन करके उससे तैल

निकाल लेवें। इन तैलों के नस्य लेने से मनुष्य सदा जैसे के तैसे जवान बना रहता है।

उपसंहार

इत्येवं कृतसूत्रमार्गविधिना कृष्णप्रयोगो मया।
सिद्धो सिद्धजनोपदिष्टविषयः सिद्धान्तसंतानतः॥
तान्योगान्परिपाल्य साधुगुणसम्पन्नाय मित्राय सं-।
दद्याद्यौवनकारणान्करुणया वक्षाम्यतोऽर्थावहम्॥ 108॥

भावार्थ : इस प्रकार सिद्धजनों (पूज्य आचार्य आदि मुनिगण) के द्वारा उपदिष्ट स्वानुभव सिद्ध या अवश्य फलदायक केशों को काले करने वाले प्रयोगों को सिद्धान्त परम्परा से लेकर आगमोक्त विधि के साथ हमने प्रतिपादन किया। यौवन के कारणभूत इन प्रयोगों को अच्छी तरह समझकर (और विधि के अनुसार निर्माण कर) दया से प्रेरित हो अच्छे गुणों से युक्त मित्रों को देना चाहिए अर्थात् प्रयोग करना चाहिए। यहाँ से आगे अर्थ कारक विषय का प्रतिपादन करेंगे।

अंतिम कथन

इति जिनवक्त्रनिर्गतसुशास्त्रमहांबुनिधेः। सकलपदार्थविस्तृततरंगकुलाकुलतः॥
उभयभवार्थसाधनतटद्वयभासुरतो। निसृतमिदं हि शीकरनिभं जगदेकहितम्॥ 109॥

भावार्थ : जिसमें सम्पूर्ण द्रव्य, तत्त्व व पदार्थरूपी तरंग उठ रहे हैं, इहलोक-परलोक के लिए प्रयोजनीभूत साधन रूपी जिसके दो सुंदर तट हैं, ऐसे श्रीजिनेन्द्र मुख से उत्पन्न शास्त्र समुद्र से निकली हुई बूँद के समान यह शास्त्र है। साथ में जगत् का एक मात्र हितसाधक है (इसलिए ही उसका नाम कल्याणकारक है)।

इत्युग्रादित्याचार्यविरचितकल्याणकारकोत्तरे चिकित्साधिकारे
सर्वौषधकर्मव्यापच्चिकित्सितं नाम तृतीयोऽध्यायः आदितस्त्रयोविंशः परिच्छेदः॥

इत्युग्रादित्याचार्यकृत कल्याणकारक ग्रन्थ के चिकित्साधिकार में विद्यावाचस्पतीत्युपधिविभूषित **वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री** द्वारा लिखित **भावार्थदीपिका** टीका में
सर्वौषधकर्मोपवद्रचिकित्साधिकार नामक उत्तरतंत्र में तृतीय व आदि से तेईसवां परिच्छेद समाप्त।

अथ चतुर्विंशः परिच्छेदः

मंगलाचरण

प्रणम्य जिनवल्लभं त्रिभुवनेश्वरं विश्रुतं, प्रधानधनहीनतोद्धतसुदर्पदर्पापहम्।

चिकित्सितमुदाहृतं निरवशेषमीशं नृणां, शरीरपरिरक्षणार्थमधिकार्थसार्थावहम्॥ 1॥

भावार्थ : तीन लोक के अधिपति, प्रसिद्ध, प्रधान ऐश्वर्य (सम्यक्त्व) से रहित मनुष्यों के अभिमान को दूर करने वाले, संपूर्ण चिकित्सा शास्त्रों के प्रतिपादक, सर्व भव्य प्राणियों के स्वामी, ऐसे श्री जिनेश्वर को नमस्कार कर मनुष्यों के शरीर रक्षण करने के लिए कारणभूत व अधिक अर्थ समूह संयुक्त या उत्पन्न करने वाले प्रकृत प्रकरण को प्रतिपादन करेंगे।

रसवर्णन प्रतिज्ञा

शरीरपरिरक्षणादिह नृणां भवत्यायुषः, प्रवृद्धिरधिकोद्धतेन्द्रियबलं नृणां वर्द्धते।

निरथर्कमथेतरस्याखिलमर्थहीनस्य चेत्यतः परमलं रसस्य परिकर्म वक्ष्यामहे॥ 2॥

भावार्थ : शरीर के अच्छी तरह रक्षण करने से आयुष्य की वृद्धि होती है। आयुष्य व शरीर की वृद्धि से इन्द्रियों में शक्ति की वृद्धि होती है। आयुष्य व शरीर बल जिनके पास नहीं है, उनके संपूर्ण ऐश्वर्यादिक व्यर्थ हैं। यदि ये दोनों हैं तो अन्य ऐश्वर्यादिक न हों तो भी मनुष्य सुखी होता है। इसलिए अब रस बनाने की विधि कहेंगे जिससे शरीर के रसों की वृद्धि होती है।

रस के त्रिविध संस्कार

रसो हि रसराज इत्यभिहितः स्वयं लोहसं-क्रमक्रमविशेषतोऽर्थनिवहमावहत्यप्यलम्।

रसस्य परिमूर्च्छनं मरणमुद्धृतोद्बंधनं, त्रिधेति विधिरुच्यते त्रिविधमेव वै तत्फलम्॥ 3॥

भावार्थ : रस (पारद=पारा) को रसराज भी कहते हैं। यह रस लोहों के संक्रमण क्रिया विशेष से अर्थात् अभ्रक आदि लोहों से जारण आदि क्रिया विशेष के करने से बहुत अर्थ को उत्पन्न करता है। इस रस की (मुख्यतः) मूर्च्छन, मारण (भस्म करण) बंधन, इस प्रकार तीन तरह की क्रिया (संस्कार) कही गई है, जिनके तीन प्रकार के भिन्न-भिन्न फल होते हैं।

त्रिविध संस्कार के भिन्न-भिन्न फल

रसस्तु खलु मूर्च्छितो हरति दुष्टरोगान्स्वयं मृतस्तु धनधान्यभोगकर इष्यतेऽवश्यतः।

यथोक्तपरिमार्गबंधमिह सिद्ध इत्युच्यते, ततस्त्वतुलखेचरत्वमजरामरत्वं भवेत्॥ 4॥

भावार्थ : मूर्च्छित पारा अनेक दुष्ट रोगों को नाश करता है। मृत (भस्म किया हुआ) रस धन धान्य की समृद्धि करके भोगोपभोग को उत्पन्न करता है। यथोक्त विधि से बंधन किया हुआ रस (बद्धरस) जो कि सिद्ध रस कहलाता है, उससे अप्रतिम खेचरत्व (आकाश में गमन करने की शक्ति) व अजरामरत्व प्राप्त होता है।

मूर्च्छन व मारण

पुराणगुडमर्दितो रसवरं स्वयं मूर्च्छयेत्कपित्थफलसद्रसैर्म्रियत एव गोबंधनैः।

पलाशनिजबीज तद्रससुचिक्कणैर्जीरकैः, रसस्य सहसा वधो भवति वा कुचीबीजकैः ॥5॥

भावार्थ : रस को पुराने गुड़ से मर्दित कर मूर्च्छित करना चाहिए अर्थात् ऐसा करने से रस मूर्छित होता है। कैथ के फल के रस से रस का मरण (भस्म) होता है। गोबंधन से, पलाश बीज के चिक्कण रस से, जीरे से एवं कुची बीज से रस शीघ्र ही भस्म होता है।

मृतरस सेवन विधि

पिबेन्मृतरसं तु दोषपरिमाणमेवातुरो, विपक्वपयसा गुडेन सहितेन नित्यं नरः।

कनत्कनकघृष्टमिष्टवनितापयो नस्यमप्यनंतरमथांगनाकरविमर्दनं योजयेत् ॥6॥

भावार्थ : दोषों के प्रमाण (बलाबल) के अनुसार मृतरस को सुवर्ण से घिसकर अच्छी तरह पके हुए दूध में गुड़ के साथ रोज रोगी सेवन करें। तदनंतर स्त्री दुग्ध का नस्य देना चाहिए। बाद में स्त्रियों के हाथ से शरीर का मर्दन कराना चाहिए।

अनेन विधिना शरीरमखिलं रसः क्रामति, प्रयोगवशतो रसक्रमण एव विज्ञायते।

सुवर्णपरिघर्षणादधिकवीर्यनीरोगता, रसायनविधानमप्यनुदिनं नियोज्यं सदा॥ 7॥

भावार्थ : इस प्रकार की विधि से रस का सेवन करने पर वह रस शरीर के सर्व अवयवों में व्याप्त हो जाता है। प्रयोग करने की कुशलता से रस का सर्व शरीर व्याप्त होना भी मालूम होता है। सुवर्ण के घर्षण करने से अधिक वीर्य की प्राप्ति (शक्ति) व निरोगता होती है। इसके साथ रसायन विधान की भी प्रतिदिन योजना करनी चाहिए।

बद्धरस का गुण

रसः खलु रसायनं भवति बद्ध एव स्फुटं, न चापरसपूरिलोहगणसंस्कृतो भक्ष्यते।

ततस्तु खलु रोगकुष्टगणसंभवस्सर्वथेत्यनिंद्यरसबंधनं प्रकटमत्र संबंध्यते ॥8॥

भावार्थ : विधिपूर्वक बंधन किया हुआ रस (बद्ध रस) रसायन होता है। इससे दूसरे रसयुक्त लोहगणों के द्वारा संस्कृत (बद्ध) रसों को नहीं खाना चाहिए ऐसे रसों को यदि खावें, तो कुष्ठ आदि अनेक रोग समूह उत्पन्न होते हैं। इसलिए बिल्कुल दोषरहित रसबंधन विधान को यहाँ कहेंगे।

रसबंधन विधि

अशेषपरिकर्मविश्रुतसमस्तपाठादिकक्रमैर्गुरुपरः सदैव जिननाथमभ्यर्चयन्।
प्रधानपरिचारकोपकरणार्थसंपत्तिमान्, रसेन्द्रपरिबंधनं प्रतिविधातुमत्रोत्सहे॥ 9॥

भावार्थ : रसबंधन विधि के शास्त्र को जानने वाले वैद्य प्रधान परिचारक, रसबंधन के लिए आवश्यक समस्त उपकरण, अर्थ (द्रव्य) सम्पत्ति व गुरुभक्ति से युक्त होकर हमेशा जिनेश्वर की पूजा करते हुए रसबंधन करने के लिए आरम्भ करें।

रसशाला निर्माण विधि

अथ प्रथममुत्तरायणदिने तु पक्षे शुचौ, स्वचंद्रबलयुक्तलग्नकरणे मुहूर्ते शुभे।
प्रशस्तदिशि वास्तुलक्षणगुणेक्षितावासमप्यनिंद्यरसबंधनार्थमतिगुप्तमुद्धावयेत्॥ 10॥

भावार्थ : श्रेष्ठ रस बंधन करने के लिए सर्वप्रथम उत्तरायण के शुक्लपक्ष में लग्न, चन्द्रबल से युक्त श्रेष्ठ करण, इत्यादि शुभ लक्षणों से लक्षित (युक्त)शुभ मुहूर्त में प्रशस्त दिशा में, एक ऐसा मकान (रसशाला) निर्माण करना चाहिए जो वास्तुशास्त्र में कथित गुणों से युक्त और अत्यन्त गुप्त हो।

रससंस्कार विधि

जिनेन्द्रमधिदेवतामनुविधाय यक्षेश्वरं, विधाय वरदांबिकामपि तदाम्रकूष्माण्डिनीं।
समर्च्य निखिलार्चनैस्तनुविसर्गमार्गं जपेच्चतुर्गुणितषट्क मिटगुरुपंचसन्मंत्रकम्॥ 11॥
कृतांजलिरथ प्रणम्य भुवनत्रयैकाधिपानशेष जिनवल्लभाननुदिनं समारंभयेत्।
प्रधानतमसिद्धभक्तिकृतपूर्वदीक्षामिमां, नवग्रहयुतां प्रगृह्य रससिद्धये बुद्धिमान्॥ 12॥

भावार्थ : रससिद्धि के लिए सबसे पहले (पूर्वोक्त रसशाला में) श्री जिनेन्द्र भगवान्, अधिदेवता (मुख्य-मुख्य देवताएँ) यक्षेश्वर (यक्षों के स्वामी=गोमुख आदि यक्ष) वर प्रदान करने वाली अम्बिका व कूष्मांडिनी यक्षी इनको, इनकी सम्पूर्ण अर्चनविधि से अर्चन (पूजा) कर कायोत्सर्ग पूर्वक पंचनमस्कार (णमोकार मंत्र) को 24 बार जप करना चाहिए। तदनंतर हाथ जोड़कर तीनों लोकों के स्वामी, समस्त जिनेश्वर अर्थात् चौबीस तीर्थंकरों को नमस्कार करके, प्रधानभूत सिद्धभक्ति को भक्ति से पठन करना चाहिए और नवग्रहों से युक्त (नवग्रहों के अर्चन करके) इस पूर्व दीक्षा को धारण कर हमेशा बुद्धिमान् वैद्य रस संस्कार करने के लिए आरम्भ करें।

रसेन्द्रमथ शोधयेत्सुरुचिरेष्टकेणान्वितं, स्तनोद्भवरसेन सम्यगवमर्द्य खल्वोपले।
सुधौतमुरुकांजिकाविपुलपात्रदोलागतं, पचेत्त्रिकटुकांजिकालवणवर्गहिंगूर्जितम्॥ 13॥
एवं दिनत्रयमखण्डितवन्हिकुण्डे, स्विन्नस्सुखोष्णतरकांजिकया सुधौतः।
शुद्धो रसो भवति राक्षस एव साक्षात्, सर्वं चरत्यपि च जीर्णयतीह लोहम्॥ 14॥

भावार्थ : पारा में ईंट के चूर्ण व दूध मिलाकर खरल में अच्छी तरह घोटें। घोटने के बाद उसे कांजी से धोवें, इससे पारे की शुद्धि होती है। इस प्रकार शुद्ध पारद को सोंठ, मिरच, पीपल, कांजी, लवणवर्ग, हींग इनमें मिलाकर पोटली बांधें। बाद में उसे कांजी से भरे हुए बड़े पात्र में, दोलायंत्र के द्वारा पकावें। (एवं स्वेदन करें) इस प्रकार बराबर तीन दिन तक स्वेदन करना चाहिए। स्वेदित करने के बाद उसे गुनगुने कांजी से धोना चाहिए। ऐसा करने से पारा अत्यन्त शुद्ध होता है एवं साक्षात् राक्षस के समान सम्पूर्ण धातुओं को खाता है और पचाता है। (अर्थात् पारे में सोना आदि धातुओं को डालने पर एकदम वे उसमें मिल जाते हैं और पारे का वजन भी नहीं बढ़ता। फिर उससे सोना आदिकों को अलग भी नहीं कर सकते)।

तं वीक्ष्य भास्करनिभप्रभया परीतं, सिद्धान्प्रणम्य सुरसं परिपूज्य यत्नात्।
दद्यात्तथाधिकृतबीजमिहातिरक्तम्, सरंजितं फलरसायनपादशांऽशम्॥ 15॥
गर्भद्रुतेः[1] क्रमत एव हि जीर्णयित्वा, सूक्ष्मांबरद्विगुणितावयवसृतं तं।
क्षारत्रयैः त्रिकटुकैर्लवैणस्तथाम्लैः, संभावितैर्विडवरैरधरोत्तरस्यैः॥ 16॥
रम्भापलाशकमलोद्भवपत्रवर्गैर्वद्धं चतुर्गुणितजीरकया च दोलां।
संस्वेदयेद्विपुलभाजनकांजिकायां, रात्रौ तथा प्रतिदिनं विदधीत विद्वान॥ 17॥

भावार्थ : वह रस सूर्य के समान उज्ज्वल कांति से युक्त होता है। ऐसे रस को देखकर सिद्धों को नमस्कार करके यत्न के साथ उस रस की पूजा करें और उस फलभूत रसायन में चौथाई हिस्सा योग्य अत्यन्त लाल बीज[2] (सुवर्ण) को डालना चाहिए। पश्चात् उसे गर्भद्रुति[3] के क्रम से जीर्ण करके (मिलाकर) एक पतले कपड़े को दुहरा कर उससे इस रस को छानें, तदनंतर छने हुए इस रस के ऊपर व नीचे क्षारत्रय, त्रिकटु, लवणवर्ग, अम्लवर्ग इनसे भावित विड[4] को रखें (उसके बीच में रस रख दें) और उसे केला, पलाश, कमल इनके पत्तियों से बाँध कर पोटली करें। इस पोटली को कांजी से भरे

1 धृति इति पाठांतरं।

2 कोई एक धातु पकते समय उसमें दूसरा धातु डालने से वह उस डाले हुए धातु के रंग से युक्त हो जाये, तो इसे बीज कहते हैं। कहा भी हैं – **निर्वापणायिशेषेण तत्तद्वर्णे भवेद्यदा। मृदुलं चित्रसंस्कारं तद्बीजमिति कथ्यते॥** शुद्धा सोना-चाँदी को बीज कहते हैं – **शुद्धं स्वर्णं च रूप्यं च बीजमित्यभिधीयते॥**

3 किसी भी पदार्थ को पारा में ग्रास कराना जो उसे पारा के गर्भ (अंदर) में ही रस रूप बनाना पड़ता है, उसे गर्भद्रति कहते हैं। कहा भी है – **ग्रासस्य द्रावणं गर्भे गर्भद्रुतिरुदाहता॥**

4 पारा के द्वारा ग्रास किए हुए किसी भी धातु को जीर्ण करने के लिए क्षार, अम्लपदार्थ गंधक, गोमूत्र, लवण आदि पदार्थों का जो संयोग किया जाता है, उन पदार्थों को विड कहते हैं। कहा भी है –

क्षारैरम्लैश्च गंधाद्यैर्मूत्रैश्च पटुभिस्तथा।
रसग्रासस्यं जीर्णार्थे तद्विडं परिकीर्तितं॥

हुए एक बड़े पात्र में जिसमें चतुर्गुण जीरा डाला गया है दोलायंत्र के द्वारा पकाकर स्वेदन करना चाहिए। अर्थात् बाफ देना चाहिए। विद्वान् वैद्य को उचित है कि इस क्रिया को प्रति नित्य रात में ही करें।

बीजाभ्रतीक्ष्णवरमाक्षिकधातुसत्व-संस्कारमत्र कथयामि यथाक्रमेण।

संक्षेपतः कनककृद्रसबंधनार्थं, योगिप्रधानपरमागमतः प्रगृह्य॥ 18॥

भावार्थ : अब यहाँ से आगे योगियों के द्वारा प्रतिपादित परमागम शास्त्र के आधार से सुवर्णकारक रसबंधन करने के लिए क्रमशः सुवर्ण, अभ्रक, तीक्ष्णलोह मक्षिकधातु व इनके सत्वों के क्रमशः संस्कार कहेंगे।

ताम्रं सुबीजसदृशं परिगृह्य ताम्रं, पत्रीकृतं द्विगुणमाक्षिककल्कलिप्तं।
अभ्यंतरे स्थिरसुबीजवरं प्रकृत्य, बाह्ये कुरुप्रबलगंधककल्कलेपम्॥ 19॥
सद्वृत्तमुत्तमगुणं प्रविधाय वज्र - मूषागतं वदनमस्य पिधाय धीमान्।
[1]सम्यग्धमेत्खदिरसद्भ्रमरैस्तत[2]स्तं, निर्भेद्य शुद्धगुलिकामवलोक्य यत्नात्॥ 20॥
भूयस्तथैव बहुशः परिरंजयेत्तां, पूर्वप्रणीतगुलिकामथ भिद्य सूक्ष्मां[3]।
चूर्णीकृतां रसवरे स च देयमादौ, मध्येऽवसानसमयेऽपि यथाक्रमेण॥ 21॥

भावार्थ : उत्तम बीज (सुवर्ण) के बराबर ताम्र (ताम्बा) लेकर उसका पत्र तैयार करके, उस पर उससे द्विगुण सुवर्णमाक्षिक के कल्क से लेप करें। पश्चात् उस ताम्रपत्र के अंदर के भाग में बीज को रखें और (ताम्रपत्र के) बाहर के भाग में गंधक के कल्क से खूब (गाढ़ा) लेप करें। फिर उस (ताम्रपत्र) को गोलाकर के रूप में मोड़कर गोली के समान बनावें और उसे वज्रमूषा के अंदर रखकर उसके मुख को बंद करके खैर के कोलसे से अच्छी तरह धमाना चाहिए। इसके बाद उस वज्रमूषा को फोड़कर देखने पर उसके अंदर एक गोल आकार की गोली देखने को मिलेगी। उस गोली को पुनः बहुत बार यत्नपूर्वक उक्त क्रम से संस्कार करके रंजन करना चाहिए। इस प्रकार कई बार संस्कार करके आखिर में उस गोली को फोड़कर बारीक चूर्ण करके इसे क्रमशः आदि, मध्य व अंत में डालते हुए पारा में मिलाना चाहिए। अर्थात् इसको क्रमशः थोड़ा-थोड़ा डालते हुए पारा का जारण करना चाहिए।

रस प्रयोग विधि

हेमाभ्रकं पटलिकं पटुवज्रकाख्यं, संपेषयेल्लवणटङ्कणकोषणेन।
सार्धं पुनर्नवरसेन निबंधवेणी-नाद्यान्निधाय विपचेद्वरकांजिकायाम्॥ 22॥

1. 'दहेत्' इति पाठांतरं।
2. 'रदभ्रं' इति पाठांतरं।
3. रूक्षां इतिं पाठातरं।

नाले प्रचोद्य सकलद्रवतां गतां तद्विज्ञाय खल्वदृषदी प्रणिधाय धीमान्।
सौवर्णचूर्णसहितां परिमर्द्य सम्यक्संयोजयेद्रसवरेण सहैकवारम् ॥ 23॥
द्वंद्वोरुमेढकविधानत एव सम्यक्संमर्द्य सोष्णवरकांजिकया सुधौतं।
सूक्ष्मांबरद्विगुणितावयवसृतं तं-संस्वेदयेत्कथितचारुबिडैश्च सार्धम्॥ 24॥

भावार्थ : पीला अभ्रक, पटलिक, पटुवज्रक उनमें सैंधानमक, टङ्कणक्षार, सौंठ, मिरच व पीपल मिलाकर पुनर्नवा (विषखपरा) के रस से अच्छी तरह घोटना चाहिए। फिर इसको एक पोटली बनाकर उसे कांजी में (दोलायंत्र द्वारा) पकावें। जब वह अच्छी तरह पक जावे, तो उसे एक मूषा में डालकर और मूषा को अग्नि पर रखकर फूंकनी से खूब फूंको। इसे फूंकते-फूंकते जब मूषा में रखा हुआ पदार्थ द्रवरूप (पतला)हो जाये तो पश्चात् उस द्रव को पत्थर के खरल में डालकर उसमें सोने का चूर्ण मिलाकर अच्छी तरह मर्दन करें। इसके बाद इसमें उत्तम पारा डालकर एक ही बार अच्छी तरह मिलावें। फिर इसे द्वंदमेढक[1] विधान से भले प्रकार घोटकर गरम कांजी से धोकर पतले दोहरे कपड़े से छान लें और शास्त्र में कहे हुए श्रेष्ठ विड के साथ स्वेदन करें अर्थात् बाफ देवें।

तीक्ष्णं निचूर्ण्य वरमाक्षिकधातुचूर्ण-व्यामिश्रमुष्णवरकांजिकया सुधौतं।
उत्क्वाथ्य साधु बहुशः परिशोधयेच्च, गोमूत्रतक्रतिलजंद्विरेजेन्द्रतोयैः[2] ॥ 25॥
एतत्कनत्कनकचूर्णयुतं सुतीक्ष्णं, माक्षीकचूर्णमपि षड्गुणमत्र दद्यात्।
भास्वद्रसेंद्रवरभोजनमल्पमल्पं, गर्भद्रुति[3]क्रमत एव सुजीर्णयेच्च॥ 26॥
मध्ये सुवर्णवरमाक्षिकधातुचूर्णं, दद्यात्समं रसवरस्य सुवर्णमेव।
पश्चान्महाग्निपरि विद्धमतीव[4] शुद्धं, बीजोत्तरं तदपि जीर्णय पादमर्धम्॥ 27॥
तं स्वच्छपिच्छिलरसं पटुशुद्धमुद्यन्मूषागतं सुविहितान्यसुभाजनस्थम्।
भूमौ निधाय पिहितं तु वितस्तिमात्रं, तस्योपरि प्रतिदिनं विदधीत चाग्निम्॥ 28॥
मासं निरंतरमिहाग्निनिभावितं तं, चोध्दत्य पूजितमशेषसुपूजनाग्रैः।
संशुद्धताम्रवरतारदलं प्रलिंपेन्मेघेरुनादरसमर्दितसद्रसेंद्रम्॥ 29॥

1. यहाँ पर द्वंदमेढक विधान का अर्थ समझ में नहीं आया, शायद द्विलोह मेलक विधान हो सकता है, वैद्य विचार करें।
2. द्विरद इति पाठांतरं।
3. प्रति इति पाठांतरं।
4. बद्ध इति पाठांतरं।

भावार्थ : तीक्ष्ण लोह को चूर्ण करके उसमें उतना ही सुवर्ण माक्षिक का चूर्ण मिलाकर उसे गरम कांजी से अच्छी तरह धोवें और कई बार कांजी के साथ अच्छी तरह पकावें। उसके बाद उसे गोमूत्र तक्र (छाछ) तिल का तैल, द्विरज, इन्द्र (इन्द्रजौ) इनके क्वाथ से शुद्ध करना चाहिए। अर्थात् उसको गरम करके उक्त द्रव में बुझाते जावें। (इस प्रकार करने से उसकी शुद्धि होती है) इस प्रकार शोधित तीक्ष्ण लोह के चूर्ण में (उतना ही) उत्तम सुवर्ण चूर्ण और छह गुना सुवर्णमाक्षिक चूर्ण मिलावें। पारा के भोजन (ग्रास)भूत इस तीक्ष्ण चूर्ण को थोड़ा-थोड़ा पारा में डालते हुए गर्भद्रुति के क्रम से जीर्ण करना चाहिए। इस प्रकार जीर्ण करते समय बीच में पारा के समान सुवर्णमाक्षिक चूर्ण और उतना ही सुवर्ण चूर्ण डालकर पश्चात् तीव्र अग्नि से जलावें। पश्चात् उसमें शुद्ध बीज को चतुर्थांश या अर्धांश डालकर जीर्ण करें। इस प्रकार के संस्कार से वह स्वच्छ व पिलपिले रूप का रस बन जाता है। उसे शुद्ध करके (धोकर) मूषा में रखें। उस मूषा को किसी अन्य योग्य पात्र में रख कर संधि बंधन करें। फिर उसे एक वालिश्त (12 अंगुल) प्रमाण गहरा गड्ढा खोदकर उसमें रखें और उस पर मिट्टी डालकर बंद करके ऊपर प्रतिदिन आग जलावें। इस प्रकार एक महिने तक बराबर आग जलाकर बाद में उससे निकाल कर उस संस्कृत रसेन्द्र (पारा)की सम्पूर्ण सामग्री व विधि से पूजा करनी चाहिए। पश्चात् उसे मेघनाद के रस से घोंटकर उससे शुद्ध ताम्बा व चाँदी के पत्र का लेपन करें। (इस प्रयोग से सोना बन सकता है)।

रस प्रयोग फल

यदि रसस्समसारनियोजितो भवति तद्दृशमांश स वेदकः।

त्रिगुणसारवरः शतवेदको दशशतं रससारयुतो रसः॥30॥

भावार्थ : रस के समान प्रमाण में लोणी का ग्रहण करें तो उसका दशमांश में फल का अनुभव होता है। यदि रस की अपेक्षा लोणी त्रिगुण प्रमाण में हो तो सौ गुना अधिक लाभ का अनुभव होगा एवं लोणी के रस के साथ रस का उपयोग करें तो हजार गुना अधिक लाभ पहुँचता है।

रसबृंहणविधि

अथ रसं परिबृंहयते ध्रुवं सततमग्निसहं कुरु सर्वथा।

प्रकटतापनवासनकासनैर्जिनमतक्रमतो हि यथक्रमात्॥ 31॥

भावार्थ : उस रस को सदा तापन, कासन व वासनक्रिया के द्वारा अग्निकर्म का प्रयोग करना चाहिए जिससे वह रस बहुत समृद्ध होता है।

लवणतालकमेघसुमृत्तिका - तुषमषीशरवारणसद्रसैः।

अतिविपेष्य घनांतरितान्तरामपि विधाय सुगोस्तनमूषिकाम्॥32॥

बहिरिहांतरमभ्रककल्क - संप्रतिविलेपितगोस्तनमूषिकां।

निहितचारुरसं घन संप्रति पिहितमग्निमुखे बहुवासयेत्॥ 33॥

मषितुषोत्ककरीष - करीषकैस्तुषकरीषयुतभ्रमरैरणु-।

भ्रमरकैश्च करीषयुतैर्महा - भ्रमरकैरपि रूक्षितवन्हिना ॥ 34 ॥

इति यथा क्रमतोऽग्निसहं रसं प्रकटसारणया परिबृंहितैः।

विहितसारणतैलयुतैः रसैः क्षिप समं कनकद्रवतां गतम् ॥ 35 ॥

अपि च सारितसद्गुलिकां पुरः क्रमत एव चतुर्गुणसारता।

गुलिक एव च सारणमार्गतो बिदितचारुभिदैरपि जीर्णयेत् ॥ 36॥

स खलु सिद्धरसस्समसारितः पुनरपीह चतुर्गुणसारतः।

क्रमयुतैरतिमर्दनपाचनैर्भवति तत्प्रतिसारितनामकः ॥ 37॥

अयमपि प्रतिसारित सद्रसस्सयगुणोत्तमहेतुसुसारितः।

विदितसिद्धरसे तु चतुर्गुणे क्रमविजीर्णरसो ह्यनुसारितः॥ 38॥

भावार्थ : रस बृंहण विधि में सबसे पहले सैंधानमक, हरताल, मुलतानी मिट्टी, धान्य का भूसा इनके रसों के साथ अच्छी तरह पीसकर गाढ़ा करें व उसमें दाख व मूसाकानी को मिलावें।

बाद में बाहर और अंदर से अभ्रक कल्क से लिप्त दाख व मूसाकानी से युक्त उस रस को एक पात्र में डालकर एवं ढककर अग्निमुख में रखना चाहिए।

ताड़, भूसा, कण्डे, तुषभ्रमर, करीषभ्रमर, अण्डभ्रमर, महाकरीषभ्रमर इन लकड़ियों के रूक्ष अग्नि से अग्नि प्रयोग करना चाहिए। तदनंतर सारणा संस्कार करना चाहिए। सारणा के लिए योग्य तैल के साथ समान प्रमाण में सुवर्ण द्रव को भी डालना चाहिए। फिर सारणा संस्कार कर गोली तैयार करनी चाहिए। क्रम से फिर उसे चतुर्गुण रूप से सारण करना चाहिए एवं शास्त्रोक्त क्रम से उस गोली को फोड़कर जीर्ण करना चाहिए। इस प्रकार अच्छी तरह सारित सिद्ध रस को क्रम-क्रम से मर्दन, पाचनादिक क्रियाओं के साथ चतुर्गुण सारण करने से वह प्रतिसारित नामक रस होता है।

उस प्रतिसारित रस को भी पुनः चतुर्गुण सिद्ध रस में सारण कर जीर्ण करें तो वह और भी उत्तम गुण विशिष्ट हो जाता है, उसे अुनसारित रस कहते हैं।

सारणाफल

प्रथमसारणया शतरंजिका दशशतं प्रतिसारणया रसः।

शतसहस्रमरं प्रतिरंजयेत्यधिकरंजनयाप्यनुसारितः॥ 39॥

भावार्थ : सिद्ध रस के ऊपर सारणा संस्कार पहले-पहले करने पर सौ गुणा अधिक शक्तिमान

हो जाता है। उस सारणा पर पुनः प्रतिसारण संस्कार करने पर हजार गुणा अधिक फल होता है एवं अनुसारण संस्कार से लाख गुणा अधिक फल होता है।

मणिभिरप्यतिरंजितसद्रसः। स्पृशति भेदति वेधकरः परः।

तदधिकं परिकर्मविधानमाश्वखिलमत्र यथाक्रमतो ब्रुवे॥ 40॥

भावार्थ : रस के ऊपर रत्नों का संस्कार करें तो भी वह अत्यन्त गुण विशिष्ट हो जाता है। उस के स्पर्शन से रत्नादिक फूटते हैं। उस रत्न संस्कार के विधान अब विधि प्रकार शीघ्र कहेंगे।

स्तनरसेन विषाणमुराग्रजं। परिविमर्द्य सुकल्क्वविलेपनैः॥

कठिनवज्रमपि स्फुटति स्फुटं। स्फुटविपाकवशान्मणयोऽथ किम्॥41॥

भावार्थ : मेढासिंगी व कपूरकचरी को स्तन दुग्ध के साथ मर्दन कर अच्छे कल्कों का लेपन करने पर कठिन वज्र भी फूटता है। बाकी अन्य रत्नों के विषय में तो क्या कहना?

रस संस्कार फल

स्वेदात्तीव्ररसो भवत्यतितरं संमर्दनान्निर्मलो।

स्याल्लोहाद्बलवान्सुजीर्णतर - सश्शुद्धातिबद्धस्सदा॥

गर्भद्रावणयैकतामुपगतः संरंजनाद्रंजकः।

सम्यक्सारणया प्रयोगवशतो व्याप्नोति संक्रामति॥ 42॥

भावार्थ : रस को स्वेदन संस्कार करने से उसमें तीव्रता आती है। मर्दन करने से वह मलरहित होता है। धातुओं के संस्कार से वह बलवान् होता है। जीर्ण संस्कार से वह शुद्ध होता है। बंधन प्रयोग करने से सिद्ध होता है। गर्भद्रावण संस्कार से वह एकमेक होकर मिल जाता है। रंजन प्रयोग से वह भी रंजित होता है। सारण प्रयोग से अच्छी तरह शरीर में व्याप्त होता है।

सिद्धरस माहात्म्य

एवं प्रोक्तमहाष्टकर्मभिरलं बद्धो रसो जीववत्।

ख्यातस्तत्परिकर्ममुक्तसमये शुद्धस्स्वयं सिद्धवत्॥

ज्ञात्वा जीवसमानतामपि रसे देवोपमस्सर्वदा।

संचित्योप्यणिमादिभिःप्रकटितैरुद्यद्गुणौघैस्सदा॥43॥

भावार्थ : इस प्रकार पारदरस को सिद्ध करने के आठ महासंस्कार कहे गए। इनके प्रयोग से वह रस सिद्धों के समान शुद्ध होता है एवं स्वयं वह रस जीव के समान ही होता है अर्थात् उसमें प्रबल शक्ति आती है। इतना ही नहीं उसे अणिमादि ऐश्वर्यों से युक्त साक्षात् देव के समान ही समझना चाहिए। अर्थात् वह रस अनेक प्रकार से सातिशय फल युक्त होता है।

पारद स्तंभन

सर्पाक्षीशरवारिणी सहचरी पाठा सकाकादनी।
तेषां पंचरसे पलायति सदा प्रोद्यद्गतिस्तंभिकाः॥
ताः स्युष्कल्ककषायतैलयुतसंस्वेदैस्सदा पारद-।
स्तिष्ठत्यग्निमुखे सहस्रधमनैर्धौतोऽपि शस्त्रादिभिः॥ 44॥

भावार्थ : सरहटीगण्डनी, सरपता, पीली कटसरैया, पाठा व काकादिनी इन के रस में वह पारद इधर-उधर न जाकर अच्छी तरह स्तंभित होता है। उनके कल्क व कषाय से युक्त तेल से संस्वेदन प्रयोग करने पर पारद अत्यन्त तीक्ष्ण अग्नि में भी बराबर स्थिर होकर ठहरता है।

रस संक्रमण

कांता मेघनिनादिकाश्रवणिकातांबूलसंक्षीरिणी-।
त्येताः पंचरसस्य लोहनिचयैः संक्रामिकास्सर्वदा॥
तासां सद्रसकल्कमिश्रितपयस्तैस्संप्रतापात्स्वयं।
संतः पत्रदलप्रलेपवशतो व्याप्नोति बिंबेष्वपि॥ 45॥

भावार्थ : मोथा, पलाश, गोरखमुण्डी, तांबूल व दूधिया वृक्ष इन पाँच वृक्षों के रस सदा धातु भेदों के संक्रामक है। इनके साथ कल्क मिलाकर पारा मिलावें और पत्ते में लेपनकर दर्पण में लगावें तो अपने आप व्याप्त होता है।

पारद प्रयोजन

मत्स्याक्षीगिरिकर्णिका शिखिशिखाजंघारुहाक्षीरिणी-।
त्येता निर्मुखतोभ्रसूतकसमो योगं प्रकुर्वंति ताः॥
आरामोद्भवशीतशीतलिकिकाप्येका तथा वृश्चिका-।
द्येतत्त्वद्भुमभ्रकं रसवरस्याहारमाहारयेत्॥ 46॥

भावार्थ : मछेछी, सफेद किणिही, शिखी, कलिहारी, जंघावृक्ष, दूधिया वृक्ष इनके रस के साथ अभ्रक व पारे को मिलाकर उपयोग करना अनेक रोगों में हितकर है। तथा आराम शीतला व बिधुवा घास के साथ अभ्रक का प्रयोग करें तो पारद को भी अच्छी तरह जीर्ण कर देता है।

सिद्धरस माहात्म्य

इत्येवं घनचूर्णमुज्वलरसं हेम्ना च संयोजितं।
वन्हौ निश्चलतामुपेतमधिकं संवासनात्यासनैः॥

तं संमूर्च्छितमेव वामृतमलं संभक्ष्य मंक्ष्वक्षयं।
वीर्यं रोगविहीनतामतिबलं प्राप्नोति मर्त्यः स्वयम्॥ 47॥

भावार्थ : इस प्रकार अच्छी तरह सिद्ध रस को सुवर्णभस्म के साथ संयोजित करने से, आस्थापन व अनुवासन के प्रयोग से वह्नि में भी निश्चलता को प्राप्त होता है। ऐसे संमूर्छित अमृत को भक्षण करने से यह मनुष्य शीघ्र ही अक्षय शक्ति व रोग हीनता व शरीरदार्ढ्य आदि को प्राप्त करता है।

बद्धं सिद्धरसे पलद्वयमलं संगृह्य लोभे शुभे।
पात्रे न्यस्य पलं घृतं त्रिफलया सिद्धस्य तोयस्य च॥
दत्वाति प्रणिधाय पक्वमतिमृद्वग्निप्रयोगाद्धरी-।
तक्या द्वे च नियुज्य पूज्यतमवीर्याज्यावशेषीकृतम्॥ 48॥
पीत्वा तद्धृतमुत्तमं प्रतिदिनं मर्त्योऽतिमत्तद्विषे-।
न्द्रोद्यद्वीर्यबलप्रतापसहितः साक्षाद्भवेत्तत्क्षणात्॥
तत्रैकं पलमाहृतं रसवरस्यात्युग्ररोगापहं।
स्यादेकं पलमुज्वलत्कनकबद्धं तस्य नस्यावहम् ॥ 49॥

भावार्थ : बंधन संस्कार से सिद्ध रस को एक पल प्रमाण लेकर एक अच्छे लोहे के पात्र में डालें। उसमें एक पल प्रमाण त्रिफला जल से सिद्ध घृत को मिलावें। फिर उसे मृदु अग्नि के द्वारा पकाकर उसमें दो हरीतकी मिलावें। जिससे वह शुद्ध घृत तैयार होता है।

उस घृत को प्रतिदिन पीने पर तत्क्षण यह मनुष्य मदोन्मत्त हाथी के समान बलवान् व तेजोयुक्त हो जाता है। उसके साथ एक पल प्रमाण रस का सेवन करें तो भयंकर से भयंकर रोग भी दूर होते हैं। उस घृत के साथ एक पल प्रमाण सुवर्णभस्म को मिलाकर नस्य प्रयोग भी कर सकते हैं।

सिद्धघृतामृत

अथ घृतपलमेकं द्वे रसस्यादये द्वे, पयसि पलचतुष्कं पाचितं लोहपात्रे।
मृदुतरतुषवन्हौ क्षीरजीर्णावशेषं, घृतममृतसमानं देवतानां च पूज्यम्॥ 50॥

भावार्थ : एक पलप्रमाण घृत, दो पल प्रमाण रस, चार पल प्रमाण दूध इनको लोहे के पात्र में डालकर भूसे की मृदु अग्नि से पकावें। जब वह दूध सब के सब जीर्ण होकर केवल घृत ही घृत रहता है वह अमृत के समान हो जाता है एवं वह देवताओं को भी पूज्य है।

रसग्रहण विधि

व्योमव्याप्तसुतीक्ष्णमाक्षिकसमग्रासं गृहीत्वा स्फुटं।
वन्हौ निश्चलतां गतं रसवरं भूमौ निधायादरात्॥

तस्मात्स्तोकरसं प्रगृह्य कनकं पादं प्रदायाहृतं।

दीपेनाश्विह जीर्णयेदिति मया दीपक्रिया वक्ष्यते॥ 51॥

भावार्थ : जो रस सिद्ध हो चुका है, जिसे अग्नि में रखकर उसकी निश्चलता से परीक्षा कर चुके हैं उसको आकाश में व्याप्त सूक्ष्म मक्खियों के जितने प्रमाण में लेकर जमीन पर रखें, फिर उससे थोड़ा-सा रस लेकर उसमें पाव हिस्सा सुवर्णभस्म मिलावें, उसको सेवन करें। जिसके ऊपर दीपन प्रयोग करने पर वह गृहीत रस जल्दी जीर्ण होता है। इसलिए अब दीपन प्रयोग कहा जाता है।

दीपन योग

दीपांस्तावदलक्तकानि पटलान्याहृत्य रक्तोज्वलान्।

वगैर्गन्धकसद्विषैस्तनर - सेनामर्दनैर्लेपयेत॥

तत्रास्थाप्य रसं गृहीतकनकं बध्वा च सूक्ष्मांबरो-।

त्खण्डैः पुट्टलिकां करंजतिलजैरादीपयेद्दीपिकाम्॥ 52॥

भावार्थ : सबसे पहले दीपों के पात्र पर लाख के रस, गंधक वर्ग व विष वर्ग उनको स्तन दुग्ध के साथ मर्दन कर लेपन करना चाहिए। फिर उस पात्र में कनक भस्म मिश्रित रस को रखकर एक पतले कपड़े से उसे बाँधकर फिर उस दीप को कंजा व तिल तैल से दीपित करना चाहिए।

तत्र प्रलेपनविधावतिरंजकः स्यात्। उच्छिष्टनामकरसः कृतकल्ककोवा॥

योऽयं भवेदधिकवेदकशक्तियुक्तो। लोहैस्सहैव परिवर्तयतीह बद्धः॥ 53॥

भावार्थ : इस प्रकार की प्रलेपन क्रिया से वह रस अत्यन्त उज्ज्वल होता है और अधिक शक्ति का अनुभव कराता है एवं रस व कल्कों में वह उत्कृष्ट रहता है। इतना ही नहीं सिद्धरस शरीर की प्रत्येक धातुओं का परिवर्तन करा देता है।

रस संक्रमणौषध

एवं बद्धविशुद्धसिद्धरसराजस्येह संक्रामणं।

वक्ष्ये माक्षिककाकविट्कनलिका कर्णामलं माहिषं॥

स्त्रीक्षीरक्षतजं नरस्य वटपी प्रख्यातपारापती।

शृंगीटंकणचूर्णमिश्रितमधूच्छिष्टेन संक्रामति॥ 54॥

भावार्थ : इस तरह विधि प्रकार सिद्ध, विशुद्ध, सिद्ध रसराज का वर्णन किया गया है। अब उस रसराज के संक्रमण का वर्णन करेंगे अर्थात् जिन औषधियों से उसका संक्रमण होता है, उनका उल्लेख करेंगे। सोनामखी, काकविट्, नली (सुगंध द्रव्य विशेष) भैंस का कर्णामल, स्त्रीदुग्ध, पारावतीवृक्ष,

मेढ़ा सिंगी, ठंकण (सुहागा) चूर्ण इनसे मिश्रित मोम से उस रसराज का संक्रमण होता है।

इत्येवं दीपिकांतामवितथविलसद्योनिशास्त्रप्रबद्धा।
व्याख्याता सत्क्रियेयं सकलतनुरुजाशांतये शांतचितैः॥
उग्रादित्यैर्मुनींद्रैरनवरतमहा - दानशीलैस्सुशीलैः।
कृत्वा युक्त्यात्र दत्वा पुनरिप च धनं दातुकामैरकामैः॥55॥

भावार्थ : इस प्रकार शांतचित्त को धारण करने वाले, इस ग्रन्थ के निर्माण के द्वारा युक्ति से धन का दान देकर अनवरत दान प्रवृत्ति के अभिलाषी अपितु तत्फल के निष्कामी महादानशील, सुशील उग्रदित्याचार्य मुनिनाथ ने योनि चिकित्सा को प्रारम्भ कर दीपनक्रिया पर्यंत चिकित्साक्रम को प्रतिपादन किया।

अंतिम कथन

इति जिनवक्त्रनिर्गतसुशास्त्रमहाबुनिधेः। सकलपदार्थविस्तृततरंगकुलाकुलतः॥
उभयभवार्थसाधनतटद्वयभासुरतो। निसृतमिदं हि शीकरनिभं जगदेकहितम्॥56॥

भावार्थ : जिसमें संपूर्ण द्रव्य, तत्त्व व पदार्थरूपी तरंगे उठ रही हैं, इहलोक-परलोक के लिए प्रयोजनीभूत साधन रूपी जिसके दो सुंदर तट हैं, ऐसे श्रीजिनेन्द्र मुख से उत्पन्न शास्त्रसमुद्र से निकली हुई बूँद के समान यह शास्त्र है। साथ में जगत् का एक मात्र हितसाधक है (इसलिए ही इसका नाम कल्याणकारक है)।

इत्युग्राहित्याचार्यविरचितकल्याणकारकोत्तरेचिकित्साधिकारे
रसरसायनसिद्धाधिकारो नाम चतुर्थोऽध्यायः आदितश्चतुर्विंशतितमः परिच्छेदः॥

इत्युग्रादित्याचार्यकृत कल्याणकारक ग्रन्थ के चिकित्साधिकार में विद्यावाचस्पतीत्युपाधिविभूषित **वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री** द्वारा लिखित **भावार्थ दीपिका** टीका में रस रसायन सिद्धाधिकार नामक उत्तरतंत्र में चौथा व आदि से चौबीसवाँ परिच्छेद समाप्त।

अथ पंचविंशतितमः परिच्छेदः

मंगलाचरण

प्रणिपत्य जिनेन्द्रमिंद्रसन्मुनिवृंदारकवृंदवंदितम्।

तनुभृत्तनुतापनोदिनःकथयाम्यल्पविकल्पकल्पकान्॥ 1॥

भावार्थ : मुनिनाथ, गणधर, देवेन्द्र आदियों के द्वारा पूज्य श्री जिनेन्द्र को नमस्कार कर प्राणियों के शरीर ताप को दूर करने वाले कल्पों के कुछ विकल्पों (भेद) को कहेंगे ऐसी आचार्य प्रतिज्ञा करते हैं।

प्रतिज्ञा

प्रथमं ह्यभयाविकल्पकं मनुजानामभयप्रदायकम्।

विधिवत्कथयाम्यतः परं परमोद्योगरतो नृणामहम्॥ 2॥

भावार्थ : सबसे पहले हम बहुत प्रयत्न पूर्वक हरीतकी कल्प को शास्त्रोक्त विधिपूर्वक कहेंगे जो मनुष्यों को अभय प्रदान करने वाला है।

हरीतकी प्रशंसा

अभया ह्यभया शुभप्रदा सततााभ्यासवशाद्रसायनम्।

लवणैर्विनिहंत्यथानिलं घृतयुक्ता खलु पित्तमद्भुतम्॥ 3॥

भावार्थ : अभया (हरड़) सचमुच में अभया ही है, सुख देने वाली है। सतत् अभ्यास रखें तो वह रसों की वृद्धि के लिए रसायन के समान ही है। उसका उपयोग सैंधानमक आदि लवणवर्ग के साथ करें तो वातकोप को नाश करती है। घृत के साथ उपयोग करें तो तीव्र पित्तकोप को दूर करती है।

हरीतकी उपयोग भेद

कफमुल्लिखतीह नागरैर्गदयुक्ताखिलदोषरोगनुत्।

सितया सितयात्युपद्रवानभया ह्यात्मवता निषेविता॥ 4॥

भावार्थ : सोंठ के साथ अभया का सेवन करें तो कफ को दूर करती है। कूठ के साथ उपयोग करें तो संपूर्ण दोषों का नाश करती है। यदि उसका उपयोग शक्कर के साथ करें तो रोगगत उपद्रवों को दूर करती है।

हरीतक्यामलक भेद

अभयानलमित्युदीरितं विमलं ह्यामलकं फलोत्तमं।

हिमवच्छिशिरं शरीरिणामभयात्युष्णगुणा तु भेदतः ॥ 5 ॥

भावार्थ : अभया अग्निवर्द्धक कही गई है। आमलक (आमला) फल-फलों में उत्तम व निर्मल है। आमला हिम के सामन अत्यन्त शीत है और अभया अति उष्ण है। यही इन दोनों पदार्थों का गुण की अपेक्षा भेद हैं।

त्रिफला गुण

अभयेति विभीतको गुणैरुभयं वेति सुभाषितं जिनैः।

त्रिफलेति यथार्थनामिका फलतीह त्रिफलान् त्रिवर्गजान्॥ 6 ॥

भावार्थ : अभया के समान ही बहेड़ा भी गुण से युक्त है ऐसा श्री जिननाथ ने कहा है। इसलिए हरड़ बहेड़ा व आमला ये तीनों त्रिफला कहलाते हैं और त्रिदोष वर्ग से उत्पन्न दोषों को दूर करते हैं। इसलिए इनका त्रिफला यह नाम सार्थक है।

त्रिफला प्रशंसा

त्रिफला मनुजामृतं भुवि त्रिफला सर्वरुजापहारिणी।

त्रिफला वयसश्च धारिणी त्रिफला देहदृढत्वकारिणी॥ 7 ॥

त्रिफला त्रिफलेति भाषिता विबुधैरद्भुतबुद्धिकारिणी।

मलशुद्धिकृदुद्धताग्निकृत्स्खलितानां प्रवयो वहत्यलम्॥ 8 ॥

भावार्थ : त्रिफला मनुष्यों को इस भूलोक में अमृत के समान है, वह सर्व रोगों को नाश करने वाली है। त्रिफला मनुष्यों को जवान बनाये रखने वाली है और शरीर में दृढ़ता उत्पन्न करती है।

त्रिफला तीन फलों से युक्त है ऐसा विद्वानों ने कहा है। वह अद्भुत बुद्धि उत्पन्न करती है, मलशोधन करती है, और अग्नि दीपन करती है। इतना ही नहीं वृद्ध होकर शक्ति से स्खलितों को भी शक्ति प्रदान करती है।

त्रिफलायसमाक्षिकमागधिका सविडंगसुभृंगरजश्च समम् ।

त्रिगुणं च भवेदपि वालुवकं पयसेदमृतं पिब कुष्ठहरम् ॥ 9 ॥

भावार्थ : त्रिफला को यदि लोहभस्म, सोनामाखी, पीपल, वायविडंग, भ्रंगरा के चूर्ण के साथ उपयोग करें तो तीन गुण को प्रकट करता है और इनको ही दूध के साथ उपयोग करें तो यह कुष्ठ रोग को भी दूर करने वाला अमृत है।

त्रिफलां पिब गव्यघृतेन युतां त्रिफलां सितया सहितामथवा।

त्रिफलां ललितातिबलालुलितां त्रिफिलां क्वथितां तु शिलाजतुना॥ 10॥

भावार्थ : त्रिफला को गोधृत के साथ पीना चाहिए, त्रिफला को शक्कर के साथ में पीना चाहिए अथवा त्रिफला को अतिबला के साथ सेवन करना चाहिए और त्रिफला को शिलाजीत के साथ कषाय कर पीना चाहिए।

इति योगविकल्पयुतां त्रिफलां सततं खलु यां निपिबेन्मनुजः।

स्थिरबुद्धिबलेन्द्रियवीर्ययुतश्चिरमायुररं परमं लभते ॥ 11॥

भावार्थ : इस प्रकार अनेक विकल्प के योगों से युक्त त्रिफला रसायन को सतत् पीने से यह मनुष्य स्थैर्य, बुद्धि, बल, इंद्रिय नैर्मल्य, वीर्य आदि से युक्त होता है और दीर्घ आयुष्य को प्राप्त करता है।

शिलाजतु योग

एवं शिलाजतु शिलोद्भवकल्कलोह-कांतातिनीलघनमप्यतिसूक्ष्मचूर्णम्।

कृत्वैकमेकमिहसत्त्रिफलाकषायैः संभावितं तनुभृतां सकलाभयघ्नम्॥ 12॥

भावार्थ : इसी प्रकार शिलाजीत, पत्थर का फूल, इनका कल्क, लोहभस्म, नागरमोथा, अतिनील, बड़ी इलायची इनको अलग-अलग अच्छी तरह चूर्ण कर प्रत्येक को त्रिफला कषाय से भावना देवें। फिर उसका सेवन करें तो सर्व प्रकार के रोगों का वह नाश करता है।

शिलोद्भव कल्प

अथ शिलोद्भवमप्यतियत्नतः खदिरसारयुतं परिपाचितम्।

त्रिफलया च विपक्वमिदं पिबन् हरति कुष्ठगणानतिनिष्ठुरान्॥ 13॥

भावार्थ : पत्थर के फूल को खदिरसार के साथ अच्छी तरह बहुत यत्नपर्वूक पकावें, फिर उसे त्रिफला के साथ पकावें। उस उसको सेवन करने से भयंकर से भयंकर कुष्ठ रोग भी दूर होते हैं।

शिलाजतुकल्प

यदि शिलाजतुनापि शिलोदकं पिव सदैव शिलोद्भववल्कलैः।

अपि च निंबकुनिंबसुवृक्षकैर्निखिलकुष्ठविनाशकरं परम्॥ 14॥

भावार्थ : पत्थर के फूल के कल्क, निंब व कुनिंब की छाल के साथ व शिलाजीत के साथ शिलाजल को पीवें तो सर्व प्रकार के कुष्ठ नष्ट होते हैं।

क्षयनाशक कल्प

अपि शिलोद्भववल्कलकल्ककक्वथितगव्यपयः परिमिश्रितैः।

मगधजान्वितसत्सितयान्वितः क्षयगदः क्षपयेत्क्षणमात्रतः॥ 15॥

भावार्थ : पत्थर के फूल व शिलावल्क के कल्क के साथ क्वथित गोदुग्ध के साथ पीपल व शक्कर को मिलाकर सेवन करने से अतिशीघ्र क्षयरोग दूर होता है।

बलवर्धक पायस

अपि शिलोत्थसुवल्कलचूर्णमिश्रितपयः परिपाचितपायसम्।

सततमेव मिषेव्य सुदुर्बलोऽप्यतिबलो भवति प्रतिमासतः॥ 16॥

भावार्थ : शिलावल्क के चूर्ण के साथ दूध का मिश्रण कर उससे पकाये हुए खीर का सतत् सेवन करें, तो एक महिने में अत्यन्त दुर्बल भी अत्यन्त बलवान होता है।

शिलावल्कलांजनकल्प

अपि शिलामलवल्कलचूर्णसंयुतमलक्तकसत्पटलं स्फुटम्।

घृतवरेण कृतांजनमंजसा कुरुत एतदनिंद्यदृशो दृशा॥ 17॥

भावार्थ : शुद्ध शिलावल्कल के चूर्ण के साथ लाख के पटल को मिलाकर घी के साथ अंजन तैयार करें तो वह अंजन सदा आँखों के लिए उपयोगी है।

कृशकर व वर्धनकल्प

इह शिलोद्भववल्कलमंबुना पिब फलत्रिकचूर्णविमिश्रितम् ।

कृशकरं परमं प्रतिपादितं घृतसितापयसा परिबृंहणम् ॥ 18 ॥

भावार्थ : शिलावल्कल के कषाय के साथ त्रिफला चूर्ण को मिलाकर पीवें तो कृशकर है। वहीं घृत, शक्कर व दूध के साथ सेवन करें तो रसों का वर्द्धक है।

उपलवल्कलकल्कनिषेवणादाखिलरोगगणः प्रलयं व्रजेत्।

त्रिफलया सह शर्करया घृतैर्मगधजान्वितचारुविडंगजैः॥ 19॥

भावार्थ : शिला की छाल के कल्क को त्रिफला, शक्कर, घृत, पीपल व वायविडंग के साथ सेवन करें तो सर्व रोग को वह नाश करता है।

शिलाजतुकल्प

इति यथोपलवल्कलकल्कसंविहितकल्पमनल्पमुदाहृतम्।

विदितचारुशिलाजतुकल्पमप्यधिकमल्पविकल्पयुतं ब्रुवे॥ 20॥

भावार्थ : अभी तक शिलावल्कल (छाला) के कल्क को विस्तार के साथ प्रतिपादन किया। अब शिलाजीत के कल्प को अधिक प्रकार का होने पर भी अल्प विकल्पों के साथ कहेंगे।

शिलाजीत की उत्पत्ति

अथ वक्ष्याम्यद्रिजातप्रवरजतुविधिः संभवादिस्वभावै-।
रिह शैला ग्रीष्मकाले जलदनलसमर्कांशुसंतप्तदेहाः॥
निजशृंगैस्तुंगकूटैः कठिनतरसमुद्भिन्नसन्नद्धगण्डैः।
मदधारामुत्सृजंति त्रिजगदतिशयं सज्जते प्राज्यवीर्यम्॥ 21॥

भावार्थ : अब शिलाजीत के कल्प को उसकी उत्पत्ति स्वभाव आदिकों के कथन केसाथ-साथ प्रतिपादन करेंगे। ग्रीष्म ऋतु में अत्यन्त प्रकाशमान (तेजयुक्त) अग्नि के समान रहने वाले सूर्य किरणों से पर्वत अत्यन्त तप्त होकर वे अपने शिर रूपी ऊँची-ऊँची चोटी के अत्यन्त कठिन व फटे हुए आजू बाजू के प्रदेश रूपी गंडस्थल से (कपोल) युक्त पर्वत के शिखर में रहने वाले कठिन पत्थरों से, मदोन्मत्त हाथी के जिस प्रकार मद जल बहता है, उसी प्रकार लाख के रस के समान लाल रस चुबते हैं। यही रस, तीन लोक में अतिशय कारक व उत्कृष्ट वीर्य वाला शिलाजीत कहलाता है। अथवा यही तीन लोक को अतिशय बल व वीर्यशाली बनाता है।

शिलाजतु योग

त्रपुसीसायस्सुताम्रप्रवररजतसत्कांचनानां च योनिं।
नियतासंख्याक्रमेणोत्तरमधिकतरं सेव्यमेतद्यथावत्॥
त्रिफलांबुक्षीरसर्पिस्सहितमिह महाश्लेष्मापित्तानिलोत्थैः।
गिरिनिर्यासोः रसेन्द्रः कनककृदखिलव्याधिहद्भेषजं च॥ 22॥

भावार्थ : रांगा, सीस, लोह, ताम्र, चाँदी, सोना ये छह धातु शिलाजीत के योनि[1] हैं। इन नियत उत्तरोत्तर धातुओं से उत्पन्न शिलाजतु एक से एक अधिक गुणवाला है।

ऐसे शिलाजीत को यथाविधि सेवन करना चाहिए। शिलाजीत त्रिफला का काढ़ा, दूध, घी इनके साथ मिलाकर महान् कफ, पित्त, वातजन्य विकार में सेवन करें। सर्व रसों में श्रेष्ठ यह शिलाजीत कनक (सोने से युक्त) सहित है और सम्पूर्ण व्याधियों को नाश करने वाला श्रेष्ठ औषध है।

कृष्ण शिलाजतु कल्प

ऊषाप्येषा विशेषा जतुवदिहभवेत्पंचवर्णा सुवर्णा।
व्यापारे पारदीयोपमरसवरषट्सर्वलोहानुवेधी॥

1. पर्वतस्य पत्थरों में रांगा आदि धातुओं का कुछ न कुछ अंश अवश्य रहता है। जब पत्थर तप जाता है तो ये धातु पिघलकर शिलाजीत के रूप में होते हैं। इसीलिए इन धातुओं को शिलाजीत की योनि के नाम से कहा है।

तामूषां टडकगुंजाघृतगुलमधुसंमर्दितं शुद्धमाव-।

र्त्यावेदादत्यनूनं जनयति कनकं तत्क्षणादेव साक्षात्॥ 23॥

भावार्थ : कृष्ण (काला) शिलाजीत नामक शिलाजीत का एक भेद है, उसे उषा कहते हैं, वह लाख के समान द्रव व चमकीला रहता है। उसमें पंचवर्ण स्पष्ट दिखते हैं। उसे पारद कर्म में उपयोग करते हैं। यह छह धातुओं को द्रव करने वाला है। इस प्रकार के काले शिलाजीत के सथ टंकणक्षार, गुंजा, घृत, मधु और गुड़ को मिश्रित कर एवं मर्दितकर अग्नि में रखकर फूंकने से कुछ समय में ही उससे सुवर्ण निकलता है।

वाभ्येषाकल्प

वाम्येषामविषां विचार्य विषवित् संभाक्षितां पक्षिभिः।

संभक्ष्याक्षयतां व्रजेद्विलुलितां क्षीराज्यसच्छर्कराम्॥

भुक्त्वात्राप्यशनं घृतेन पयसा शाकाम्लपत्रादिसं-।

वर्ज्या निर्जितशत्रुरूर्जितगुणो वीर्याधिकस्स्यान्नरः॥ 24॥

भावार्थ : विष को जानने वाला वैद्य पक्षियों के द्वारा खाये[1] हुए, निर्विष ऐसा वाम्येषा (कवच बीज वा तालमखाना) को विचार पूर्वक (सविष है या निविष ?) ग्रहण कर दूध घी, शक्कर के साथ मिलाकर सेवन करावें। इसको सेवन काल में घी दूध के साथ भात खाने को देवें और शाक अम्ल, पत्रशाक आदि खाने को न दें क्योंकि ये वर्जित है। इस विधि से उसे सेवन करने से मनुष्य अक्षयत्व को प्राप्त होता है अर्थात् जब तक आयुष्य है तब तक उसका शरीर जवान जैसा हृष्ट-पुष्ट बना रहता है। उसके शरीर में इतनी शक्ति उत्पन्न होती है, जिससे वह सब शत्रुओं को जीत सकता है। उसी प्रकार उसमें उत्तमोत्तम गुण और वीर्य उत्पन्न होते हैं।

पाषाणभेद कल्प

नानावृक्षफलोपमाकृतियुताः पाषाणभेदास्स्वयं।

ज्ञात्वा तानपि तत्फलांबुबहुशः पक्वान् सुचूर्णीकृतान॥

कृता क्षीरघृतेक्षुजातसहितान् जीर्णे पयस्सर्पिषा।

भुक्त्वान्नं वरशालिजं निजगुणैर्मर्त्योऽमरस्स्यादरम्॥ 25॥

भावार्थ : अनेक वृक्षों के फलों के आकार में रहने वाले पाषाण भेदों को (पखान भेद) अच्छी तरह जानकर उनको उन्हीं के फलों के क्वाथ से कई बार पकाकर अच्छी तरह चूर्ण करें और उसे दूध,

1. इससे यह जाना जाता है कि वह सविष या निर्विष है? क्योंकि सविष को पक्षियाँ नहीं खाती हैं।

घी, शक्कर या गुड़ के साथ खावें उसके जीर्ण होने पर दूध घृत के साथ उत्तम चावल के भात को खावें। इसके सेवन से मनुष्य अपने गुण व शरीर से साक्षात् देव के समान बन जाता है।

भल्लातपाषाण कल्प

प्रख्यातोत्तमकोलिपाक - नगराद्गव्यूतिमात्रत्रये।
पूर्वस्यां दिशि कृष्णमेकमधिकं भल्लातपाषाणकम्॥
तत्पाषाणनिजाभिधानविहितग्रामोपि तत्पार्श्वत-।
स्तैश्चान्यैरवगम्य सर्वममलं पाषाणचूर्णं हरेत्॥ 26॥
तच्चूर्णाढकमाढकं घृतवरं भल्लाततैलाढकं।
शुद्धं चापि गुडाढकं बहुबलैस्संसिद्धभल्लातकां-॥
घ्रिक्वाथैश्च चतुर्भिराढकमितैः पक्व तथा द्रोणम-।
प्येतच्छुद्धतनुर्विशुद्ध चरितस्सिद्धालये पूजयेत्॥ 27॥
द्रोणं तद्वरभेषजं प्रतिदिनं मात्रां विदित्वा क्रमात्।
लीढ्वा भेषजजीर्णतामपि तथा प्रोक्तोरुवेश्मस्थितः॥
शालीनां प्रवरौदनं घृतपयोमिश्रं समश्नन्नरः।
स्नानाभ्यंगविलेपनादिकृतसंस्कारे भवेत्सर्वदा॥ 28॥

भावार्थ : प्रख्यात कोलिपाक नगर से तीन कोस पूर्व दिशा में भल्लातकपाषाण नामक एक विशिष्ट काला पाषाण (पत्थर) मौजूद है। उसी के आस-पास भल्लातपाषाण नामक ग्राम भी है। इन बातों से व अन्य चिह्नों से उसे पहचान कर निर्मल पाषाण चूर्ण को एकत्रित करें। आढक प्रमाण वह भल्लात पाषाण चूर्ण, आढक प्रमाण उत्तम गोघृत, आढक[1] प्रमाण भल्लातक, (मिलावा) तैल और आढक प्रमाण शुद्ध गुड़ इनको चार आढक विधि प्रकार तैयार किए हुए भल्लातक मूल[2] के कषाय से यथा विधि सिद्ध करेंअर्थात् अवलेह बनावें। इस प्रकार साधित एक द्रोण इस प्रमाण औषधि को शुद्ध शरीर व शुद्ध संयम वाला सिद्ध मंदिर में पूजा करें। इस द्रोण प्रमाण उत्तम औषधि को प्रति नित्य क्रम से कुछ नियत प्रमाण में चाटना चाहिए और औषधि के जीर्ण होने पर पूर्वोक्त प्रकार के योग्य मकान में रहते हुए घृत व दूध से मिश्रित शाल्यन्नका भोजन करना चाहिए एवं हमेशा स्नान अभ्यंग (मालिश) लेपन आदि से शरीर का संस्कार भी करते रहना चाहिए। यह ध्यान रहे कि स्नान, अभ्यंग लेपन आदि

1. चार सेर का एक आढक, चौंसठ तोले का एक सेर, चार आढक का एक द्रोण।
2. पाव हिस्सा पानी रहे उस प्रकार सिद्ध कषाय, यह भी अंघ्रिक्वाथ का अर्थ हो सकता है।

संस्कार जिसके ऊपर किए गए हों, उसे ही इस कल्प का सेवन कराना चाहिए।

भल्लातपाषाणकल्प के विशेष गुण

तद्द्रोणं कथितौषधं सुचरितश्शुद्धात्मदेहस्स्वयं।
लीढ्वा गुढनिवातवेश्मानि सुखं शय्यातले संवसन्॥
नित्यं सत्यतमव्रतः प्रतिदिनं जैनेन्द्रमंत्राक्षरो।
दीघायुर्बलवान् जयत्यतितरां रोगेंद्रवृंदं नरः॥ 29॥

भावार्थ : सदाचारी, शुद्धात्मा (कषायरहित) व शुद्ध शरीर वाला (वमनादि पंचकर्मों से शुद्ध) गुप्त व वात रहित मकान में सुख शय्या पर प्रतिनित्य सत्य, ब्रह्मचर्यादि व्रत पूर्वक, जिनेन्द्रदेव के मंत्रों को उच्चारण करते रहते हुए उपरोक्त औषधि को एक द्रोण प्रमाण सेवन करें तो वह दीर्घायु व बलवान होता है एवं वह बड़े से बड़े-बड़े रोगराजों को भी जीतता है।

द्वितीयभल्लातपाषाण कल्प

भल्लातोलचूर्णमप्यभिहितं गोक्षीरपिष्टं पुटै।
र्दग्धं गोमयवन्हिना त्रिभिरिह प्राक्छुद्धितः सर्वदा॥
क्षीराज्येक्षुविकारमिश्रितमलं पीत्वात्र सद्भेषजै-॥
र्जीर्णे चारुरसायनाहृतियुतः साक्षाद्भवेद्देववत्॥ 30॥

भावार्थ : भल्लात पाषाण चूर्ण को गाय के दूध के साथ घोटकर कंडों की अग्नि से तीन पुट देना चाहिए। फिर वमन विरेचन आदि से जिसका शरीर शुद्ध हुआ है ऐसा मनुष्य उस पुटित चूर्ण को दूध घी इक्षुविकार (मिश्री या शक्कर) व अन्य उत्तम औषध मिलाकर पीवें या सेवन करें उसके जीर्ण होने पर रसायन गुणयुक्त भोजन (दूध भात) करें, तो वह साक्षात् देव के समान बन जाता है।

खर्परीकल्प

प्रोक्तं यद्विषयं फलत्रययुतं प्रख्यातसत्खर्परी-।
पानीयं प्रपिबन् विपक्वमसकृच्छुद्धात्मदेहः पुरा॥
षण्मासादतिदुर्बलोऽपि बलवान् स्थूलस्तथा मध्यमः।
स्यादन्नं वरशालिजं घृतपयोमिश्रं सदाप्याहरेत्॥ 31॥

भावार्थ : प्रथम मनुष्य, वमनादिक से व कषाय आदि के निग्रह से अपने शरीर व आत्मा की शुद्धि करके पश्चात् वह पूर्वोक्त त्रिफला रसायन के साथ श्रेष्ठ खर्परी (उपधातुविशेष) को पानी के साथ पकाकर उस पानी (क्वाथ) को कई बार बराबर छह महिने तक पीवें, तो अत्यन्त दुर्बल मनुष्य

भी बलवान् हो जाता है और अत्यन्त स्थूल (मोटा) भी मध्यम (जितना चाहिए उतना) होता है। इसके सेवन काल में, घी दूध के साथ उत्तम चावल के भात को सदा खाना चाहिए।

खर्परी कल्प के विशेष गुण

अब्दं तद्विहितक्रमादनुदिनं पीत्वा तु तेनैव से-।
स्नातः स्निग्धतनुर्विधानविहितावासो यथोक्ताहृतिः॥
मर्त्येंद्रस्सुरसन्निभो बलयुतस्साक्षादनंगोपमो।
जीवेद्वर्षसहस्रबंधुरतरो भूत्वातिगः सर्वदा॥ 32॥

भावार्थ : उपर्युक्त खर्परी कल्प को एक वर्ष पर्यंत पूर्वोक्त क्रम से प्रतिनित्य सेवन करें एवं उसके सेवन काल में उसी के जल से स्नान करें, शरीर को चिकना करें (तैल मालिश करते रहें) पूर्वोक्त प्रकार के मकान में निवास करें एवं आहार (घी दूध से युक्त भात) का सेवन करें तो वह मनुष्य, चक्रवर्ती व देव के समान बलवान व कामदेव के समान सबको अतिक्रमण करने वाला, अत्यन्त मनोहर तरुण रूप के धारी होकर हजार वर्ष तक जीता है।

वज्रकल्प

वज्राण्यप्यथ वज्रलोहमखिलं वज्रोरुबंधीफलं।
प्रोद्यद्वज्रकपालमप्यतितरं वज्राख्यपाषाणकम्॥
यद्यल्लब्धमतः प्रगृह्य विधिना दग्ध्वा तु भस्त्राग्निना।
सम्यक्पाटलवीरवृक्षकृतसद्भस्माम्भसि प्रक्षिपेत्॥ 33॥
तान्यत्युष्णकुलत्थपक्वसलिले सप्ताभिषेकान्क्रमात्।
कृत्वैवं पुनराधिके पयसि च प्रक्षिप्य यत्नाद्बुधः॥
चूर्णीकृत्य सिताज्यमिश्रममलं ज्ञात्वात्र मात्रां स्वयं।
लीढ्वाहारनिवासवित्स जयति प्रख्यातरोगान्नरः॥ 34॥

भावार्थ : वज्र अनेक प्रकार के होते हैं। वज्र, वज्रलोह, वज्रबंध फल, वज्रकपाल और वज्रपाषाण इस प्रकार के वज्रभेदों में से जो-जो प्राप्त हो सकें संग्रह कर, विधिपूर्वक झोंकनी की तेज आग से जलावें। जब वह लाल हो जावे तो उसे पाटल व अर्जुन वृक्ष की लकडी के भस्म के पानी में डाले अर्थात् [1]बुझावें। बाद में कुलथी के अत्युष्ण क्वाथ से सात बार[2]धोवें। पुनः बहुत यत्नपूर्वक दूध

1. यह क्रिया सात बार करें।
2. आग से जलाकर दूध में बुझावें। यह भी सात बार करें।

में उसे[3] डालें। बाद में उस चूर्ण को घी व शक्कर के साथ मिलाकर, योग्य मात्रा में चाटें और इसके सेवन काल में पूर्वोक्त प्रकार के आहार (दूध, घी के साथ चावल के भात) का सेवन व मकान में निवास करें। इससे मनुष्य प्रसिद्ध-प्रसिद्ध रोगों को जीतता है।

वज्रकल्प का विशेष गुण

षण्मासानुपयुज्य वज्रमयसद्भैषज्यमाज्यान्वितं।
जीर्णेस्मिन्वरभैषजैर्घृतपयोमिश्रान्नमप्याहृतम्॥
जीवेद्वर्षसहस्रमंबरचरैः भूत्वातिगर्वः सदा।
प्रोद्यद्यौवनदर्पदर्पितबलः सद्वज्रकायो नरः॥ 35॥

भावार्थ : उपर्युक्त वज्रन्य औषधियों से युक्त वज्र रसायन को घी मिलाकर छह महीने पर्यंत बराबर सेवन करें और प्रतिनित्य उसके जीर्ण होने पर व अन्य उत्तम औषधियों के साथ घृतदुग्ध मिश्रित अन्न का भोजन करें, तो वह मनुष्य वज्र के समान मजबूत शरीर को धारण करता है एवं यौवन के मद से युक्त बल को धारण करके विद्याधरों के साथ भी गर्व करते हुए हजारों वर्ष जीता है।

मृत्तिकाकल्प

या चैवं भुवि मृत्तिका प्रतिदिनं संभक्ष्यते पक्षिभि-।
स्तां क्षीरेण घृतेन चेक्षुरससंयुक्तेन संभक्षयेत्॥
अक्षुण्णं बलमप्यवार्यमधिकं वीर्यं च नीरोगतां।
वांछन्नब्दसहस्रमायुरनवद्यात्मीयवेषो नरः॥ 34॥

भावार्थ : जिस मट्टी को लोक में प्रतिदिन पक्षी खाते हैं (उसको संग्रह कर) घृत, दूध इक्षुरस के साथ मिलाकर, उसे निर्दोष वेष को धारण करते हुए मनुष्य खावें तो वह कभी किसी के द्वारा नाश नहीं होने वाले बल, अप्रतिहतवीर्य और आरोग्य को प्राप्त करता है और हजारों वर्ष की आयु को भी प्राप्त करता है।

गोशृंग्यादि कल्प

गोशृंगीगिरिशृंगजामपि गृहीत्वाशोष्य संचूर्णितां।
गव्यक्षीरघृतैर्विपाच्य गुडसंमिश्रैः प्रभक्ष्य क्रमात्॥

1. यद्यपि 'अभिषेक' का अर्थ धोना या जलधारा डालना है। इसलिए टीका में भी यही लिखा है लेकिन यह प्रकरण शुद्धि का होने के कारण धोने की अपेक्षा, गरम करके बुझाना यह अर्थ करना अच्छा है। उसे क्वाथ में डुबाने से, धोने जैसा हो जाता है। अतः बुझाने का अर्थ भी अभिषेक शब्द से निकल सकता है।

पश्चात् क्षीरघृताशनोऽक्षयबलं प्राप्नोति मर्त्यस्स्वयं।

निर्वीर्योऽप्यतिवीर्यमूर्जितगुणः साक्षाद्भवेन्निश्चयः॥ 37॥

भावार्थ : गोशृंगी (बबूल) व गिरिशृंगजा (शिलाजीत) को लेकर अच्छी तरह सुखाकर चूर्ण करें। फिर उस चूर्ण को गोक्षीर गोघृत व गुड़ मिलाकर यथाविधि पकावें अर्थात् अवलेह तैयार करें। फिर उसे क्रम से खावें। बाद में दूध व घृत से युक्त अन्न का भोजन करें। इससे मनुष्य अक्षय बल को प्राप्त करता है। वीर्यरहित होने पर भी अत्यन्त वीर्य को प्राप्त करता है एवं निश्चय ही उत्तमोत्तम गुणों से युक्त होता है।

एरण्डादिकल्प

एरण्डामृतहस्तिकर्णिविलसद्वीरांघ्रिपैः पाचितं।

भक्ष्यान् प्रोक्तविधानतः प्रतिदिनं सभक्ष्य मंक्ष्वक्षयं॥

वीर्यं प्राज्यबलं विलासविलसत् सद्यौवनं प्राप्य तत्।

पश्चादायुरवाप्यति त्रिशतमब्दानां निरूद्धामयः॥ 38॥

भावार्थ : एरण्ड की जड़, गिलोय, गजकर्णी, भिलावा, इनके द्वारा साधित भक्ष्यों (पाक अवलेह आदि) को पूर्वोक्त विधान से प्रतिदिन भक्षण करें तो शीघ्र ही अक्षय वीर्य, विशिष्ट शक्ति, मनोहर यौवन को प्राप्त कर सम्पूर्ण रोगों से रहित होकर तीन सौ वर्ष की आयु को भी प्राप्त करता है।

नाग्यादि कल्प

नागी [1]सत्खरकर्णिका कुटजभूनिम्बोरुनिम्बासमू-।

लं संचूर्ण्य घृतेन मिश्रितमिदं लीढ्वा सदा निर्मलः॥

रोगेन्द्रानखिलानुपद्रवयुतान् जित्वा विषाण्यप्यशे-।

षाण्यत्यद्भुतयौवनस्थितवयो जीवेत्सहस्रं नरः॥ 39॥

भावार्थ : नागी (वंध्याकर्कोटक) खरकर्णिका (तालमखाना) कूडा चिरायता, महानिम्ब (वकायन) इनको इनके जड़ के साथ चूर्ण करके घृत के साथ मिलाकर चाटने से अनेक उपद्रवों से युक्त बड़े-बड़े रोग, उग्रविषों को भी जीतकर अद्भुत यौवन सहित हजार वर्ष जीता है।

क्षारकल्प

अत्रैवातत सत्क्रियाश्च विधिना सम्यग्विधास्ये मनाक्।

क्षारैः सत्त्रिफलासुचित्रकगणैः श्वेताश्वगंधामृता-॥

1. स्वरकर्णिका इति पाठांतरं।

वर्षाभूः प्रमुखैर्विशेषविहितैस्सद्भेषजैर्भाषितं।

प्रोद्यद्व्यावधिविनाशनैरसदृशैर्दृष्टैस्ससम्यक्फलैः ॥ 40 ॥

भावार्थ : यहाँ से आगे क्षार, त्रिफला, चित्रकगण, सफेद असंगध, गिलोय, पुनर्नवा आदि विशिष्ट व श्रेष्ठ औषधि जो कि भयंकर रोगों को नाश करने में समर्थ हैं, असदृश हैं, जिनके फल भी प्रत्यक्ष देखे गए हैं उनके द्वारा कहे गए श्रेष्ठ क्रिया विशेषों को अर्थात् इन औषधियों के कल्पों को प्रतिपादन करेंगे।

क्षारकल्प विधान

क्षारैरिक्षुरकेक्षुतालितिल - जापामार्ग - निर्गुंडिका।

रंभार्काम्बुजचित्रचित्रक - तिलख्यातोरुमृष्टोद्भवैः ॥

पक्वैर्भस्मचतुर्गुणांभसि ततः पादावशेषीकृतैः।

तत्पादामलसद्गुडैः परिपचेन्नातिद्रवं फाणितम् ॥ 41 ॥

तस्मिन्सत्त्रिकटुत्रिजातकघनान् सेचूर्ण्य पादांशतो।

दत्वा मिश्रितमेतदुक्तकृतसंस्कारे घटे स्थापितं ॥

सद्धान्ये कलशं निधाय पिहितं मासोद्धृतं तं नरः।

संभक्ष्याक्षयरोगवल्लभगणान् जित्वा चिरं जीवति ॥ 42 ॥

भावार्थ : तालमखाना, ईख, मूसली, तिलजा (तिलवासिनी शाली-तिल जिसके अंदर रहता है, वह धान, चिरचिरा, सम्हालू, वेला, आक, कमल, एरण्डवृक्ष, चीता तिल, इन प्रसिद्ध औषधियों को जलाकर भस्म करके उसे (भस्म से) चौगुना पानी में घोलकर छानें। फिर उस क्षार जल को मंदाग्नि से पकाकर जब चौथाई पानी शेष रहे तो उसमें (उस पानी से) चौथाई गुड़ मिलावें। फिर इतनी देर तक पकावें कि वह फाणित[1] के समान न अधिक गाढ़ा हो और न पतला हो। पश्चात् उसमें सोंठ, मिरच, पीपल, दालचीनी, इलायची, तेजपात, नागरमोथा, इनको समभाग लेकर सूक्ष्म चूर्ण करके चतुर्थांश प्रमाण में मिलावें। इस प्रकार सिद्ध औषधि को पूर्वोक्त क्रम से संस्कृत घड़े में भरकर, मुख को बंद कर धान्य राशि में गाढ़ दें। एक महिने के बाद उसे निकाल कर विधि प्रकार सेवन करें, तो असाध्य बड़े-बड़े रोगों को भी जीतकर चिरकाल तक जीता है।

1. **इक्षोः रसस्तु यः पक्वः किंचिद्गाढो वहुद्रवः।**
   स एवेक्षुविकारेषु ख्यातः फाणितसंज्ञया ॥
   ईख का रस को इतना पकावें कि वह थोड़ा गाढ़ा हो ज्यादा पतला हो, इसे फाणित कहते हैं।

चित्रककल्प

शुद्धं चित्रकमूलमुक्तविधिना निष्क्वाथ्य तस्मिन्कषा-।
ये दग्ध्वा सहसा क्षिपेदमलिना सच्छकर्रा शंखना-॥
भीरप्याशु विगाल्य फाणितयुतं शीतीकृतं सर्वग-।
न्धद्रव्यैरपि मिश्रितं सुविहितं सम्यग्घटे संस्कृते॥ 43॥
तद्धान्ये निहितं समुद्धदृतमतो मासात्सुगंधं सुरू-।
पं सुस्वादु समस्तरोगानिवहप्रध्वंसिसौख्यास्पदं॥
एवं चित्रकसद्रसायनवरं पीत्वा नरस्संततं।
यक्ष्माणं क्षपयेदनूनबलमत्यर्शांसि सर्वान्गदान्॥ 44॥

भावार्थ : शुद्ध[1] किए हुए चित्रक के मूल को क्वाथ विधि से पकाकर काढ़ा तैयार करके उस में शीघ्र ही निर्मल श्रेष्ठ शर्करा व शंखनाभि को जलाकर डालें और शीघ्र ही उसे छानकर के उसमें फाणित मिलावें। वह ठंडा हो जाने पर सम्पूर्ण गंध द्रव्यों के कल्क मिलाकर, उसे संस्कृत घड़े में भरकर धान्यराशि में गाढ़ दें और एक महीने के बाद निकाल दें। इस प्रकार सिद्ध सुगंध, सुरूप, सुरुचि, सर्वरोग समूह को नाश करने वाले व सौख्यदायक इस चित्रक रसायन को विधि प्रकार हमेशा सेवन करें तो विशिष्ट बलशाली राजयक्ष्मा (क्षय) भयंकर बवासीर एवं सम्पूर्ण रोग भी नाश हो जाते हैं।

त्रिफलादि कल्प

एवं सत्त्रिफलासुचित्रकगणाद्युक्तोरुसद्भेषजा-।
न्युक्तान्युक्तकषायपाकविधिना कृत्वा निषेव्यातुरः॥
जीवेद्वर्षशतत्रयं निखिलरोगैकप्रमाथी स्वयं।
निर्वीर्योऽप्यतिवीर्यधैर्यसहितः साक्षादनंगोपमः॥ 45॥

भावार्थ : इसी प्रकार पूर्वोक्त (40 वें श्लोक में कहे गए) त्रिफला, चित्रक, गणोक्त आदि औषधियों को उक्त कषायपाक विधान से पकाकर (फाणित या शक्कर, गंधद्रव्य आदि मिलाकर चित्रक कल्प के समान सिद्ध करके) रोगी सेवन करें तो वह मनुष्य तीन सौ वर्ष पर्यंत सम्पूर्ण रोगों से रहित होकर बलहीन होने पर भी अत्यन्त बलशाली होते हुए, अत्यन्त धैर्यशाली व कामदेव के समान सुंदर रूप को धारण कर सुख से जीता है।

1. चित्रक के जड़ को चूने के पानी में डालकर रखने से शुद्ध हो जाता है।

कल्प का उपसंहार

इत्येवं विविधविकल्पकल्पयोगं शास्त्रोक्तक्रमविधिना निषेव्य मर्त्यः।

प्राप्नोति प्रकटबलं प्रतापमायुर्वीर्यं चाप्रतिहततां निरामयत्वम्॥46॥

भावार्थ : इस प्रकार अनेक भेदों से विभक्त कल्पों के योगों को शास्त्रोक्त विधि से सेवन करें तो वह मनुष्य विशिष्ट बल, तेज, आयु, वीर्य, अजेयत्व व निरोगता को प्राप्त करता है।

प्रत्यक्षप्रकटफलप्रसिद्धयोगान् सिद्धान्तोध्दृतनिजबुद्धिभिः प्रणीतान्।

बुध्वैवं विधिवदिह प्रयुज्य यत्नाद्वुर्वार्याखिलरिपवो भवंति मर्त्याः॥47॥

भावार्थ : जिनके फल प्रत्यक्ष में प्रकट हैं अर्थात् अनुभूत हैं, जो दुनिया में भी प्रसिद्धि को प्राप्त हुए हैं और सिद्धान्त के पारगामी आचार्यों द्वारा प्रतिपादित हैं, ऐसे पूर्वोक्त औषध योगों को जानकर विधि व यत्न पूर्वक जो मनुष्य उपयोग (सेवन) करते हैं, वे सम्पूर्ण बैरियों को दुर्जेय होते हैं अर्थात् विशिष्ट बलशाली होने से उन्हें कोई भी बैरी जीत नहीं सकते।

इति तद्धितं रसरसायनकं परमौषधान्यलं।

शास्त्रविहितविधिनात्र नरास्समुपेत्य नित्य सुखिनो भवंति ते॥

अथ चोक्तयुक्ताविधिनात्र सदसद्वास्तुवंदिना सत्यमिति।

किमुत संकथनीयमशेषमस्ति सततं निषेव्यताम्॥ 48॥

भावार्थ : उपर्युक्त, मनुष्यों को हितकारक रस, रसायन व विशिष्ट औषधियों को प्रतिनित्य शास्त्रोक्त विधि से सेवन करें तो मनुष्य नित्य सुखी हो जाते हैं। (इन औषधियों के गुणों की प्रमाणता के लिए) पूर्वोक्त कथन सब सत्य ही है असत्य नहीं है, यह कहने की क्या आवश्यकता है? असली व नकली वस्तुओं को जानने वाले बुद्धिमान् मनुष्य इन सब रसायन आदिकों को पूर्वोक्त विधि के अनुसार हमेशा (विचारपूर्वक) सेवन करें और देखो कि वे कैसे प्रभाव करते हैं? तात्पर्य यह है कि पूर्वोक्त योगों के बारे में यह गुण करता है कि नहीं ऐसी शंका करने की जरूरत नहीं है। निःशंक होकर सेवन करें। गुण अवश्य दिखेगा।

नगरी यथा नगरमात्मपरिकरसमस्तसाधनैः।

रक्षति च रिपुभयात्तनूनां तनुमुक्तभेषजगणैस्तथामयात्॥

इदमौषधाचरणमत्र सुकृतीजनयोग्यमन्यथा।

धर्मसुखनिलयदेहगणः प्रलयं प्रयाति बहुदोषदूषितः॥49॥

भावार्थ : जिस प्रकार नगर के अधिपति (राजा) अपनी सेना शस्त्र-अस्त्र अदि समस्त साधनों से नगर को शत्रुओं के भय से रक्षा करता है, उसी प्रकार शरीर के स्वामी (मनुष्य) औषध समूह रूपी

साधनों द्वारा रोग रूपी शत्रुओं के भय से शरीर की रक्षा करें। यदि वह पुण्यात्मा मनुष्यों के योग्य यहाँ पर (इस संहिता में) कहे हुए औषध व आचरण का सेवन न करके अन्यथा प्रवृत्ति करे तो धर्म व सुख के लिए आश्रयभूत यह शरीर अत्यन्त कुपित दोषों से दूषित होकर नष्ट हो जायेगा।

इत्येवं विविधौषधान्यलं, सत्वमतो मनुजा निषेव्य सं-।

प्राप्नुवंति स्फुटमेव सर्वथा मुत्रिकं चतुषकसत्फलोदयम्॥ 50॥

भावार्थ : इस प्रकार पूर्व प्रतिपादित नाना प्रकार के औषधियों को बुद्धिमान मनुष्य यथाविधि सेवन कर इस भव में तीन पुरुषार्थों को तो पाते ही हैं, लेकिन परभव में भी धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष को निश्चय से प्राप्त करते हैं। तात्पर्य यह है औषधि के सेवन से शरीर आरोग्य युक्त व दृढ़ हो जाता है। उस स्वस्थ शरीर को पाकर वह यदि अच्छी तरह धर्म सेवन करें तो अवश्य ही परभव में पुरुषार्थ मिलेंगे अन्यथा नहीं।

ग्रन्थकर्ता की प्रशस्ति

श्रीविष्णुराजपरमेश्वरमौलिमाला-संलालितांघ्रियुगलः सकलागमज्ञः।

आलापनीयगुणसोन्नत सन्मुनींद्रः श्रीनंदिनंदितगुरुर्गुरुरूर्जिताऽहम्॥ 51॥

भावार्थ : महाराजा श्री विष्णुराजा के मुकुट की माला से जिनके चरण युगल सुशोभित है अर्थात् जिनके चरण कमल में विष्णुराज नमस्कार करता है, जो सम्पूर्ण आगम के ज्ञाता हैं, प्रशंसनीय गुणों के धारी यशस्वी श्रेष्ठ मुनियों के स्वामी हैं अर्थात् आचार्य हैं, ऐसे श्रीनंदि नाम से प्रसिद्ध जो महामुनि हुए हैं वे मेरे (उग्रादित्याचार्य के) परम गुरु हैं। उन्हीं से मेरा उद्धार हुआ है।

तस्याज्ञया विविधभेषजदानसिध्यै, सद्वैद्यवत्सलतपः परिपूरणार्थम्।

शास्त्रं कृतं जिनमतोध्दृतमेतदुद्यत् कल्याणकारकमिति प्रथितं धरायाम्॥ 52॥

भावार्थ : उनकी (गुरु की) आज्ञा से नाना प्रकार के औषध दान की सिद्धि के लिए एवं सज्जन वैद्यों के साथ वात्सल्य प्रदर्शन रूपी तप की पूर्ति के लिए जिन मत से उद्धृत और लोक में कल्याणकारक के नाम से प्रसिद्ध इस शास्त्र को मैंने बनाया।

इत्येतदुत्तरमनुत्तरमुत्तमज्ञैः विस्तीर्णवस्तुयुतमस्तसमस्तदोषं।

प्राग्भाषितं जिनवरैरधुना मुनींद्रोग्रादित्यपण्डितमहागुरुभिः प्रणीतम्॥ 53॥

भावार्थ : इस प्रकार प्रतिपादित यह उत्तरतंत्र अत्यन्त उत्तम हैं। अनेक पदार्थों के विस्तृत कथन के साथ युक्त है। संपूर्ण दोषों से रहित है। पहले सर्वज्ञ जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा प्रतिपादित है। (उसी के आधार से) अब मुनीन्द्र उग्रादित्याचार्य नाम के विद्वान् महागुरु के द्वारा प्रणीत है।

सर्वार्धाधिकमागधीयविलसद्भाषाविशेषोज्ज्वलात्।
प्राणावायमहागमादवितथं संगृह्य संक्षेपतः॥
उग्रादित्यगुरुर्गुरुर्गुरुगुणैरुद्भासि सौख्यास्पदं।
शास्त्रं संस्कृतभाषया रचितवानित्येष भेदस्तयोः॥ 54॥

भावार्थ : सर्व अर्थ को प्रतिपादन करने वाली सर्वार्ध मागधी भाषा में अत्यन्त सुंदर जो है, प्राणावाय नामक महाशास्त्र (अंग) उससे यथावत् संक्षेप रूप से संग्रह कर उग्रादित्य गुरु ने उत्तम गुणों से युक्त सुख के स्थानभूत इस शास्त्र को संस्कृत भाषा में रचना की है। इन दोनों में इतना ही अंतर है।

सालंकारं सुशब्दं श्रवणसुखमय प्रार्थितं स्वार्थविद्भिः।
प्राणायुस्सत्ववीर्यप्रकटबलकरं प्राणिनां स्वस्थहेतुम्॥
निधयुद्भूतं विचारक्षममिति कुशलाः शास्त्रमेतद्यथावत्।
कल्याणाख्यं जिनेन्द्रैर्विरचितमधिगम्याशु सौख्यं लभंते॥ 55॥

भावार्थ : यह कल्याणकारक नामक शास्त्र अनेक अलंकारों से युक्त है, सुंदर शब्दों से ग्रंथित है, सुनने के लिए सुखमय है (श्रुति कटु नहीं है) कुछ स्वार्थ को जानने वालों (आत्मज्ञानी)की प्रार्थना से निर्मापित है, प्राणियों के प्राण, आयु, सत्त्व, वीर्य बल को उत्पन्न करने वाला और स्वास्थ्य के कारणभूत है। पूर्व के गणधरादि महाऋषियों द्वारा प्रतिपादित महान् शास्त्र रूपी निधि से उत्पन्न है। विचार को सहने वाला अर्थात् प्रशस्त युक्तियों से युक्त है। जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा प्रतिपादित है ऐसे इस शास्त्र को बुद्धिमान् मनुष्य प्राप्त करके उसके अनुकूल प्रवृत्ति करें तो शीघ्र ही सौख्य को पाते हैं।

अध्यर्धद्विसहस्रकैरपि तथाशीतित्रयैस्सोत्तरे-।
र्वृत्तैस्संचरितैरिहाधिक - महावृत्तैर्जिनेंद्रोद्गितैः॥
प्रोक्तं शास्त्रमिदं प्रमाणनयनिक्षेपैर्विचार्यार्थव-
ज्जीयात्तद्रविचंद्रतारकमलं सौख्यास्पदं प्राणिनाम्॥ 56॥

भावार्थ : श्री जिनेन्द्र भगवंत के द्वारा प्रतिपादित भिन्न-भिन्न महान् वृत्तों (छंदस्) के द्वारा प्रमाण नय व निक्षेपों का विचार कर सार्थक रूप से दो हजार पाँच सौ तेरासी महावृत्तों से निर्मित, सर्व प्राणियों को सुख प्रदान करने वाला यह शास्त्र जब तक इस लोक में सूर्य, चंद्र व नक्षत्र रहें तब तक बराबर अटल रहे।

अंतिम कथन

इति जिनवक्त्रनिर्गतसुशास्त्रमहांबुनिधेः। सकलपदार्थविस्तृतरंगकुलाकुलतः॥

उभयभवार्थसाधनतटद्वयभासुरतो। निसृतमिदं हि शीकरनिभं जगदेकहितम्॥ 57॥

भावार्थ : जिसमें संपूर्ण द्रव्य, तत्त्व व पदार्थ रूपी तरंग उठ रहे हैं, इहलोक-परलोक के लिए प्रयोजनीभूत साधन रूपी जिसके दो सुंदर तट हैं, ऐसे श्री जिनेन्द्रमुख से उत्पन्न शास्त्र समुद्र से निकली हुई बूँद के समान यह शास्त्र है। साथ में जगत् का एक मात्र हितसाधक है (इसलिए ही इसका नाम कल्याणकारक है)।

इत्युग्रादित्याचार्यविरचितकल्याणकारकोत्तरतंत्रे नानाविकल्पकल्पनासिद्धये कल्पाधिकारः पंचमोऽध्यायः आदितः पंचविंशतितमः परिच्छेदः।

इत्युग्राहित्याचार्यकृत कल्याणकारक ग्रन्थ के चिकित्साधिकार में कल्पसिद्धाधिकार नामक उत्तरतंत्र में पाँचवां व आदि से **पच्चीसवाँ परिच्छेद** समाप्त ।

अथ परिशिष्टरिष्टाध्यायः

मंगलाचरण व प्रतिज्ञा

अरिष्टनेमिं परमेष्ठिनं जिनं प्रणम्य भक्त्या प्रविनष्टकल्मषं।
विशिष्टसंदिष्टसुरिष्टलक्षणं प्रवक्ष्यते स्वस्थजनेषु भाषितम्॥ 1॥

भावार्थ : जन्मजरामरणरहित, परमेष्ठी, सर्वकर्मों से रहित श्री नेमिनाथ तीर्थंकर को भक्ति से नमस्कार कर स्वस्थ मनुष्यों में पाये जाने वाले एवं (पूर्वाचार्यों द्वारा) विशेष रूप से प्रतिपादित रिष्ट (मरणसूचक चिह्न) लक्षणों का निरूपण किया जायेगा।

रिष्टवर्णनोद्देश

रहस्यमेतत्परमागमागतं महामुनीनां परमार्थवेदिनां।
निगद्यते रिष्टमिदं सुभावनापरात्मनामेव न मोहितात्मनाम्॥ 2॥

भावार्थ : यह रहस्य परमार्थ तत्त्व को जानने वाले गणधर आदि तपोधनों के द्वारा निर्मित परमागम की परम्परा से आया हुआ है और इन रिष्टों को प्रतिपादन सदा शुभ भावना में तत्पर सज्जनों के लिए किया गया है। न कि सांसारिक मोह में पड़े हुए प्राणियों के लिए। क्योंकि उनके लिए न रिष्टों का दर्शन ही हो सकता है और न उपयोग ही हो सकता है।

मृतिर्मृतेर्लक्षणमायुषक्षयं मृतेरुपायाद्गारले कथंचन।
विमोहितानां मरणं महद्भयं ब्रवीमि चेत्तद्यतःकस्य नो भवेत्॥ 3॥

भावार्थ : आयु के नाश होकर इस आत्मा के गत्यंतर की जो प्राप्ति होती है, उसे मरण कहते हैं। विषादिक में भी मरण के कारण विद्यमान होने से वह भी किसी अंश में मरण ही कहलाते हैं। मोहनीय कर्म से पीड़ित पुरुषों को मरण का भय अत्यधिक मालूम होता है। इसलिए आगे उसी बात को कहेंगे जिससे उसका भय न हो।

वृद्धों में सदा मरणभय

अथ प्रयत्नादिह रिष्टलक्षणं सुभावितानां प्रवदे महात्मनां।
कटंकटीभूतयोधिकेष्वपि प्रतीतमृत्योर्भयमेव सर्वदा॥ 4॥

भावार्थ : अब आगे संसार की स्थिति को अच्छी तरह विचार करने वाले महात्माओं के लिए बहुत प्रयत्न पूर्वक मरणसूचक चिह्नों को कहेंगे। जो अत्यधिक वृद्ध हुए हैं उनको मरण का भय सदा रहता है।

मृत्यु को व्यक्त करने का निषेध

जरारुजामृत्युभयेन भाविता भवांतरेष्वप्रतिबुद्धदेहिनः।
यतश्चं ते बिभ्यति मृत्युभीतितस्ततो न तेषां मरणं वदेदिह ॥ 5 ॥

भावार्थ : जो लोग बुढ़ापा रोग, मरण इनके भय से युक्त हैं और जो भवांतरों के विषय में कुछ भी जानकार नहीं हैं अर्थात् संसार के स्वरूप को नहीं समझते हैं, ऐसे व्यक्तियों को (इनमें व्यक्त मरण चिह्नों से इसका अमुक समय में मरण हो जायेगा, यह निश्चय से मालूम पड़ने पर भी) कभी भी मरण वार्ता को नहीं करना चाहिए। क्योंकि वे लोग अपने मरण विषय को सुनकर अत्यन्त भयभीत हो जाते हैं। (जिससे अनेक रोग होकर मरण के अवधि के पहले ही मरने का भय रहता है, इतना ही नहीं यदि अत्यधिक डरपोक हो तो तत्काल भी प्राणत्याग कर सकते हैं)।

मृत्यु को व्यक्त करने का विधान

चतुर्गतिष्वप्यनुबद्धदुखिता विभीतचित्ताः खलु सारवस्तु ते।
समस्तसौख्यास्पदमुक्तिकांक्षिणस्सुखेन श्रुण्वंतु निगद्यतेऽधुना ॥ 6 ॥

भावार्थ : जो चतुर्गति भ्रमण स्वरूप इस संसार के दुःखों से भयभीत होकर सारभूत श्रेष्ठ व समस्त सौख्य के लिए स्थानभूत मोक्ष को प्राप्त करना चाहते हैं, उनके लिए तो मरण वार्ता को अवश्य कहना ही चाहिए और वे भी अपने मरणसमय के चिह्नों को खुशी से सुनें। अब आगे उसी अरिष्ट लक्षण को प्रतिपादन करेंगे।

रिष्ट लक्षण

यदेव सर्वं विपरीतलक्षणं स्वपूर्वशीतप्रकृतिस्वभावतः।
तदेव रिष्टं प्रतिपादितं जिनैरतःपरं स्पष्टतरं प्रवक्ष्यते ॥ 7 ॥

भावार्थ : शरीर के वास्तविक प्रकृति व स्वभाव से बिल्कुल विपरीत जो भी लक्षण प्रकट होते हैं, उन्हें जिनेन्द्र भगवान् ने रिष्ट कहा है। इसी रिष्ट का लक्षण विस्तार के साथ यहाँ से आगे प्रतिपादन करेंगे।

द्विवार्षिक मरण लक्षण

यदेव चंद्रार्कसुमण्डलं महीत्रिखण्डमाखण्डलकार्मुकच्छवि।
प्रभाति सच्छिद्रसमेतमेव वा स जीवतीत्थं खलु वत्सरद्वयं ॥ 8 ॥

भावार्थ : जब मनुष्य को चंद्रमंडल, सूर्यमंडल पृथ्वी के तीनों खंड, इंद्रधनुष्य की प्रभा के समान पाँच रंग से युक्त दिखते हों। अथवा ये छिद्रयुक्त दिखते हों, तो समझाना चाहिए कि वह दो वर्ष तक ही जीता है अर्थात् वह दो वर्ष में मरेगा।

वार्षिक मृत्यु लक्षण

यदर्द्धचंद्रेपि च मण्डलप्रभां ध्रुवं च तारामथवाप्यरुन्धतीम्।
मरुत्पथं चंद्रकरं दिवातपं न चैव पश्येन्नहि सोऽपि वत्सरात्॥ 9॥

भावार्थ : जो मनुष्य अर्द्धचंद्र में मण्डलाकार को देखता हो और जिसको ध्रुवतारा, अरुधंती तारा, आकाश, चंद्रकिरण व दिन में धूप नहीं दिखते हों, वह एक वर्ष से अधिक जी नहीं सकता।

एकादश मासिक मरण लक्षण

स्फुरत्प्रभासुरमिंदुमण्डलं निरस्ततेजोनिकरं दिवाकरं।
य एव पश्यन्मनुजः कदाचन प्रयाति चैकादशमासतो दिवम्॥ 10॥

भावार्थ : जो मनुष्य चंद्रमण्डल को अधिक तीव्र प्रकाश युक्त व सूर्य मण्डल को तेजो रहित अनुभव करता हो या देखता हो वह ग्यारह महीने में स्वर्ग को जाता है अर्थात् मरण को प्राप्त करता है।

दशमासिक मरण लक्षण

प्रपश्यति छर्दिकफात्ममूत्रसत्पुरीषरेतस्सुरचापसत्प्रभं।
सुवर्णताराच्छविसुप्त एव वा प्रबुद्ध एवं दशमान्स जीवति॥ 11॥

भावार्थ : स्वप्न में या जागृत अवस्था में जो मनुष्य अपना वमन, कफ, मूत्र, मल व वीर्य को इंद्रधनुष, सुवर्ण अथवा नक्षत्र के वर्ण में देखता हो वह दस मास तक जीता है।

नवमासिक मरण लक्षण

सुवर्णवृक्षं सुरलोकमागतं मृतान्पिशाचानथ वांबरे पुरे।
प्रद्दश्य जीवेन्नवमासमद्भुतान् प्रलंबमानानधिकान्नतान्नरान्॥ 12॥

भावार्थ : जो मनुष्य स्वर्ग से आये हुए सुवर्ण वृक्ष को देखता हो और भयंकर रूप में लटकते हुए शरीर वाले व अत्यधिक मुढ़े (नत) हुए मनुष्यों को देखता हो एवं आकाश में मृत मनुष्यों को या पिशाचों को देखता हो, वह नौ महीने तक ही जीता है।

अष्ट मासिक मरण लक्षण

अकारणात्स्थूलतरो नरोऽचिरादकारणादेव कृशःस्वयं भवेत्।
अकारणाद्वा प्रकृतिर्विकारिणी सजीवतीहाष्टविशिष्टमासकान्॥ 13॥

भावार्थ : जो मनुष्य कारण के बिना ही अतिशीघ्र अधिक स्थूल हो जावे और कारण के बिना ही स्वयं अत्यन्त कृश हो जावे और जिसकी प्रकृति कारण के बिना ही एकदम विकृत हो जावे तो वह मनुष्य आठ महीने तक ही जीता है।

सप्त मासिक मरण लक्षण

यदग्रतो वाप्यथवापि पृष्टतः पदं सखण्डत्वमुपौति कर्दमे।
सपांशुलेपः स्वयमाद्र एव वा स सप्तमासान्नपरं स जीवति॥ 14॥

भावार्थ : जिस मनुष्य का पैर कीचड़ में रखने पर उस पाद का चिह्न आगे से या पीछे से आधा कटा हुआ-सा हो जावें, पूर्ण पाद का चिह्न न आवे और पैर में लगा हुआ कीचड़ अपने आप ही (किसी विशिष्ट कारण के बिना ही) गीला ही रहे तो वह सात महीने के बाद नहीं जीता है।

षाण्मासिक मरणलक्षण

उलूककाकोद्धतगृध्रकौशिकाविशिष्टकं गोग्रसुपिंगलादयः।
शिरस्यतिक्राम्य वसंति चेद्बलात् स षट्सु मासेषु विनश्यति ध्रुवम्॥ 15॥

भावार्थ : उल्लू, कौआ, उदण्ड गृध्र, कौशिक, कंगु, पिंगल आदि पक्षी जिसके शिर को उलांघकर गए हों या जबरदस्ती शिर पर आकर बैठते हों वह छह महीने में अवश्य मरण को प्राप्त करता है।

पंच मासिक मरण लक्षण

स पांशुतोयेन सुपांशुनाप्यरं शिरस्यसाक्षादवमृद्यते स्वयं।
सधूमनीहारमिहाभिवीक्ष्यते नरो विनश्यत्यथ पंचमासतः॥ 16॥

भावार्थ : धूल से मिला हुआ पानी अथवा केवल धूल से अप्रत्यक्ष रूप से अपने मस्तक को मर्दन कर लेता है अर्थात् अकस्मात् उसे मालूम हुए बिना ही शिर में लगा हुआ मिलता है अथवा उसे अपना मस्तक धुँओं व हिम से व्याप्त हुआ-सा मालूम होता है तो वह पाँच महीने में मरता है।

चतुर्थ मासिक मरण लक्षण

यदभ्रहीनेऽपि वियत्यनूनसद्विलोलविद्युत्प्रभया प्रपश्यति।
यमस्य दिग्भागगतं निरंतरं प्रयात्यसौ मासचतुष्टयाद्दिवम्॥ 17॥

भावार्थ : जो मनुष्य सदा दक्षिण दिशा के आकाश में मेघ का अस्तित्त्व न होने पर भी बिजली की प्रभा के साथ, प्रचंड व चंचल आकाश को देखता है वह मनुष्य चार महीने में अवश्य स्वर्ग को चला जाता है।

त्रैमासिक मरण लक्षण

यदा न पश्यत्यवलोक्य चात्मनस्तनुं प्रसुप्ते महिषोष्ट्रगर्द्दभान्।
प्रवातुरारुह्य दिवा च वायसैर्मृतोऽपि मासत्रयमेव जीवति॥ 18॥

भावार्थ : जिसे देखने पर अपना शरीर भी नहीं दिखता हो, स्वप्न में सवारी करने की इच्छा से भैंस, ऊंट, गधा, इन पर चढ़कर सवारी करते हुए नजर आवे तथा दिन में कौवों के साथ मरा हुआ

मालूम होवे तो वह तीन महिना पर्यंत ही जीयेगा।

द्विमासिक मरण चिह्न

सुरेन्द्रचापं जलमध्यसंस्थितं प्रदृश्य साक्षात् क्षणमात्रतश्चलं।

विचार्य मासद्वयजीवितःस्वयं परित्यजेदात्मपरिग्रहं बुधः॥ 19॥

भावार्थ : जिस मनुष्य को जल के बीच में साक्षात् इंद्रधनुष दीखकर क्षण भर में विलय हो गया है ऐसा प्रतीत हो तो वह बुद्धिमान् मनुष्य अपना जीवन दो महीने का अवशेष जानकर सर्व परिग्रहों का परित्याग करें।

मासिक मरण चिह्न

यदालकादर्शनचंद्रभास्करप्रदीप्ततेजस्सुनरो न पश्यति।

समक्षमात्रं प्रतिबिंबमन्यथा विलोकयेद्वा स च मासमात्रतः॥ 20॥

भावार्थ : जो मनुष्य अलका (कुटिल केशे) व चंद्र-सूर्य के तेज प्रकाश को भी नहीं देखता हो (जिसे नहीं दिखता हो) एवं समक्ष में उनके प्रतिबिंब को अन्यथा रूप से देखता हो तो समझना चाहिए कि उसका निवास केवल एक महीने का है।

पाक्षिक मरण चिह्न

यदा परस्मिन्निह दृष्टिमण्डले स्वयं स्वरूपं न च पश्यति स्फुटं।

प्रदीप्तगंधं च न वेत्ति यस्तत त्रिपंचरात्रेषु नरां न विद्यते॥ 21॥

भावार्थ : जिस समय जिस मनुष्य का रूप दूसरों के दृष्टिमण्डल में अच्छी तरह नहीं दिखता हो एवं जिसे तेज वास का भी अनुभव नहीं होता हो, वह तीन बार पांच दिन से अर्थात् 15 दिन से अधिक नहीं जी सकता है।

द्वादश रात्रिक मरण चिह्न

यदा शरीरं शवगंधतां वदेदकारणादेव वदंति वेदना।

प्रबुद्ध वा स्वप्नतयैव यो नरैः स जीवति द्वादशरात्रमेव वा॥ 22॥

भावार्थ : जब जो मनुष्य अपने शरीर में, मुर्दे के वास का अनुभव करता हो, कारण के बिना ही शरीर में पीड़ा बतलाता हो जागते हुए भी स्वप्न से युक्त के समान मनुष्यों को दिख पड़ता हो तब से वह बारह दिन तक ही जीयेगा।

सप्त रात्रिक मरण चिह्न

यदात्यचिह्नोत्यबलोऽसितो भवेद्यदारविंदं समवक्त्रमण्डलम्।

यदा कपोले बलकेन्द्रगोपकस्स एव जीवेदिह सप्तरात्रिकं॥ 23॥

भावार्थ : जब शरीर अकस्मात् ही निर्बल व काला पड़ जाता हो, सर्व साधारण के समान रहने

वाला (सामान्य रूप युक्त) मुख मंडल (अकस्मात्) कमल के समान गोल व मनोहर हो जावे, कपोल में इंद्रगोप के समान चिह्न दिखाई दे तो समझना चाहिए कि वह सात दिन तक ही जीयेगा।

त्रैरात्रिक मरण चिह्न

तुदं शरीरे प्रतिपीड्यत्यप्यनूनमर्माणि च मारुतो यदा।
तथोग्रदुर्वश्चिकविद्धन्नरस्सदैव दुःखी त्रिदिनं स जीवति॥ 24॥

भावार्थ : वात के प्रकोप से जब शरीर में सुई चुभन जैसी (भयंकर) पीड़ा हो, मर्मस्थानों में भी अत्यन्त पीड़ा हो, भयंकर व दुष्ट बिच्छू से कटे हुए मनुष्य के समान अत्यधिक वेदना (दर्द) से प्रतिक्षण व्याकुलित हो तो समझना चाहिए कि वह तीन दिन ही जीता है।

द्विरात्रिक मरण चिह्न

जलैस्सुशीतैर्हिमशीतलोपमैः प्रसिच्यतो यस्य न रोमहर्षः।
न वेत्ति यस्सर्वशरीरसत्क्रियां नरो न जीवेद्द्विदिनात्परं सः॥ 25॥

भावार्थ : बरफ के समान अत्यन्त ठण्डे जल से सेवन करने पर भी जिसे रोमांच नहीं होता है और जो अपने शरीर की सर्व क्रियाओं का अनुभव नहीं करता हो, वह दो दिन से अधिक जी नहीं सकता है।

एक रात्रिक मरण चिह्न

श्रुणोति योप्येव समुद्रघोषमप्यपांगगं ज्योतिरातिप्रयत्नतः।
यथा न पश्येदथवा न नासिका नरश्च जीवेद्दिवसं न चापरम्॥ 26॥

भावार्थ : जिसे [1]समुद्रघोष नहीं सुनाई देता हो, अत्यन्त प्रयत्न करने पर भी आँख के कोये की ज्योति व नाक का अग्रभाग भी नहीं दिखता हो, वह एक ही दिन जीता है। इससे अधिक नहीं।

त्रैवार्षिक आदि मरण चिह्न

पादं जंघां स्वजानूरुकटिकुक्षिगलांस्त्वलं।
हास्तबाह्यंसवक्षोऽगं शिरश्च क्रमतो यदा॥ 27॥
न पश्येदात्मनच्छायां क्रमान्त्रिद्येकवत्सरं ।
मासान्दश तथा सप्तचतुरेकान्स जीवति॥ 28॥
तथा पक्षाष्टसत्त्रीणि दिनान्येकाधिकान्यपि।
जीवेदिति नरो मत्वा त्यजेदात्मपरिग्रहम्॥ 29॥

भावार्थ : जिस मनुष्य को अपना पाद नहीं दिखें तो वह तीन वर्ष, जंघा नहीं दीखे तो दो वर्ष, जानु (घुटना) नहीं दिखे तो एक वर्ष, उरु(साथल) नहीं दिख पड़े तो दस महीने, कटिप्रदेश नहीं दिखे

1. कान के छिद्रों को अंगुलियों से ढकने पर जो एक जाति का शब्द सुनाई देता है, उसे समुद्रघोष कहते हैं।

तो सात महिने कुक्षि (कूख) नहीं दिखे तो चार महिने और गर्दन नहीं दिखे तो एक महीना तक ही जीता है। उसी प्रकार हाथ नहीं दिखे तो पंद्रह दिन, बाहु (भुजा) न दिखे तो आठ दिन, अंस (खंदे-भुजा की जोड़) नहीं दिखें तो तीन दिन, वक्षस्थल (छाती) शिर और अपनी छाया नहीं दिखे तो दो दिन तक जीता है, ऐसा समझ कर बुद्धिमान् मनुष्य परिग्रह का त्याग कर दें अर्थात् दीक्षा धारण करें।

नवान्हिकादि मरण चिह्न

भ्रूयुग्मं नववासरं श्रवणयोः घोषं च सप्तान्हिकं।
नासा पंचदिनादिभिर्नयनयोर्ज्योतिर्दिनानां त्रयं॥
जिह्वमेकदिनं विकारति रसह्यहारातो बुद्धिमां।
स्त्यवक्त्वा देहमिदं त्यजेत विधिवत् संसारभीरु :पुमान्॥ 30॥

भावार्थ : दोनों भ्रूणों के विकृत होने पर मनुष्य नौ दिन, कान में समुद्र घोष सदृश आवाज आने पर सात दिन, नाक में विकृति होने पर पाँच या चार दिन, आँखों की ज्योति में विकार होने पर तीन दिन और रसनेन्द्रिय विकृत होने पर एक दिन जी सकता है। इसको अच्छी तरह समझ कर संसार से भीनेवाला बुद्धिमान् मनुष्य को उचित है कि वह शास्त्रोक्त विधि प्रकार देह से मोह को छोड़कर शरीर का परित्याग करें। अर्थात् सल्लेखना धारण करें।

मरण का विशेष लक्षण

दृग्भ्रांतिस्तिमिरं दृशस्फुरणता स्वेदश्च वक्त्रे भृशं।
स्थैर्यं जीवसिरासु पादकरयोरत्यंतरोमोद्गमं॥
साक्षाद्धरिमलप्रवृत्तिरपि तत्तीव्रज्वरः श्वाससं-।
रोधश्च प्रभवेन्नरस्य सहसा मृत्युरुसल्लक्षणम्॥ 31॥

भावार्थ : मनुष्य की दृष्टि में भ्रांति होना, आँखों में अंधेरी आना, आँखों में स्फुरण व आँसू का अधिक रूप से बहना, मुख में विशेष पसीना आना, जीव सिराओ (जीवनधारक रक्तवाहिनी रसवाहिनी आदि नाड़ियों) में स्थिरता उत्पन्न होना अर्थात् हलन-चलन बंद हो जाना, पाद व हाथ पर अत्यधिक रूप से रोम का उत्पन्न होना, मल की अधिक प्रवृत्ति होना, तीव्र[1] ज्वर से पीड़ित होना, श्वास का रूक जाना, ये लक्षण अकस्मात् प्रकट हो जावें तो समझना चाहिए कि उस मनुष्य का मरण जल्दी होने वाला है।

रिष्ट प्रकट होने पर मुमुक्षु आत्मा का कर्तव्य

एवं साक्षादृष्टरिष्टो विशिष्टस्त्यत्वा सर्व वस्तुजालं कलत्रं।
गत्वोदीचीं तां दिशं वा प्रतीचीं ज्ञात्वा सभयग्रम्यदेशं विशालम्॥ 32॥

1. 106 डिग्री से ऊपर ज्वर का होना।

निर्जंतुके निर्मलभूमिभागे निराकुल निस्पृहतानिमित्ते।
तीर्थे जिनानामथवालये वा मनोहरे पद्मवने वने वा॥ 33॥
विचार्य पूर्वोत्तरसद्दिशां[1] तां भूमौ शिलायां शिकतासु वापि।
विधाय तत्क्षेत्रपतेस्सुपूजामभ्यर्चयेज्जैनपदारविंदम्॥ 34॥
एवं समभ्यर्च्य जिनेन्द्रवृंदं नत्वा सुदृष्टिः प्रविनष्टभीतिः।
ध्यायेदथ ध्यानमपीह धर्म्यं संशुक्लमात्मीयबलानुरूपम्॥ 35॥
एवं नमस्कारपदान्यनूनं विचिंतयेज्जैनगुणैकसंपत्।
ममापि भूयादिति मुक्तिहेतून् समाधिमिच्छन्मनुजेषु मान्यः॥ 36॥

भावार्थ : उपर्युक्त प्रकार के लक्षणों से युक्त रिष्टों को प्रत्यक्ष देखने पर विवेकी पुरुष को उचित है कि वह अपने वास्तु, वाहन, पुत्र, मित्र, कलत्र, बंधुजन आदि समस्त परिग्रहों को छोड़कर उत्तर या पूर्व दिशा में स्थित किसी विशाल व रम्य प्रदेश की ओर जावे। जहाँ के भूप्रदेश जीवों से रहित, पवित्र संसार से निःस्पृहता को उत्पन्न करने के लिए निमित्तभूत एवं निराकुल हो, ऐसे तीर्थस्थान, सुंदर जिनमंदिर, बगीचा या जंगल में जाकर वहाँ पर पूर्व या उत्तर दिशा में, निर्मलभूमि, शिला या वालू पर बैठकर सबसे पहले उस क्षेत्र के अधिपति (क्षेत्रपाल) की पूजा करें। पश्चात् श्रीजिनेन्द्र भगवान् के चरण कमलों को भक्तिभाव से पूजन करें। इस प्रकार चौबीस तीर्थंकरों की पूजा करके और उन्हें नमस्कार कर वह भय से रहित सम्यग्दृष्टि मनुष्य, अपनी शक्ति को अनुसार धर्म्यध्यान व शुक्लध्यान को ध्यावें। वह मनुष्यों में श्रेष्ठ समाधि मरण को चाहता हुआ, ध्यानावस्था में जिनेन्द्रदेव के विशिष्ट गुणरूपी सम्पति मुझे प्राप्त हो या मुझमें प्रकट हो, इत्यादि दिव्य विचार या भाव से पंचपरमेष्ठियों के दिव्य मंत्र (पंचनमस्कार)का एकाग्रचित्त से चिंतन करें। (समय निकट आने पर सल्लेखना धारण करके फिर ध्यानारूढ़ होवे)।

रिष्ट वर्णन का उपसंहार

उग्रादित्यमुनीद्रवाक्प्रकटितं स्वस्थेषु रिष्टं विदि।
त्वातत्सन्मुनयो मनस्यनुदिनं संधार्य धैर्यादिकान्॥
संसारस्य निरूपितानपि जराजन्मोरुमृत्युक्रमान्।
देहस्याध्रुवतां विचिंत्य तपसा ज्येष्ठा भवेयुस्सदा॥

भावार्थ : इस प्रकार महामुनि उग्रादित्याचार्य के वचन के द्वारा प्रकटित स्वस्थ पुरुषों में पाये जाने वाले मरणसूचक चिह्नों को अच्छी तरह समझकर (यदि वे चिह्न अपने-अपने शरीर में प्रकट हों तो) मुनिपुंगव, मन में धैर्य स्थैर्य आदिकों को धारण करते हुए एवं संसार का विरूपपना जन्म जरा

1. सत्प्रयावा इति पाठांतरं।

(बुढ़ापा) मरण इनके क्रम या स्वरूप और शरीर की अस्थिरता आदि बातों को चिंतन करते हुए, हमेशा मोक्षदायकतप में अग्रसर होवें।

अंतिम कथन

इति जिनवक्त्रनिर्गतसुशास्त्रमहांबुनिधेः। सकलपदार्थविस्तृततरंगकुलाकुलतः॥

उभयवार्थसाधनतटद्वयभासुरतो। निसृत्तमिदं हि शीकरनिभं जगदेकहितम्॥ 38॥

भावार्थ : जिसमें संपूर्ण द्रव्य, तत्त्व व पदार्थ रूपी तरंग उठ रहे हैं, इहलोक-परलोक के लिए प्रयोजनीभूत साधन रूपी जिसके दो सुंदर तट हैं। ऐसे श्रीजिनेन्द्र मुख से उत्पन्न शास्त्रसमुद्र से निकली हुई बूँद के समान यह शास्त्र है। साथ में जगत् का एक मात्र हितसाधक है (इसलिए ही इसका नाम कल्याणकारक है)।

इत्युग्रादित्याचार्यकृतकल्याकारणके महासंहितायामुत्तरोत्तरे (भागे) स्वस्थारिष्टानिष्टदं महारहस्यं महामुनीनां भावनार्थमुपदिष्टपरिशिष्टरिष्टाध्यायः॥

इत्युग्रादित्याचार्यकृत कल्याणकार महासंहिता के उत्तर मंत्र के उत्तर भाग में विद्यावाचस्पतीत्यपाधि विभूषित **वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री** द्वारा लिखित **भावार्थदीपिका** टीका में स्वस्थो में अनिष्ट अरिष्टसूचक, महा मुनियों को भावना करने के लिए उपदिष्ट, परम रहस्य को वर्णन करनेवाला **परिशिष्टरिष्टाध्याय** समाप्त।

अथ हिताहिताध्यायः

इह तावदाद्यं वैद्यं आर्हतमेवेति निश्चीयते। यथा चोक्तं–

आर्हतं वैद्यमाद्यं स्याद्यतस्तत्पूर्वपक्षतः।
हिताहिताय विज्ञेयं स्याद्वादस्थितिसाधनम्॥

इह तावद्धिताहिताध्याये स्वपक्षस्थापने कर्तुमुद्यतः स्याद्वादवादिनामुपरि पूर्वपक्षमेवमुद्घोषयत्याचार्यः। हिताहितानि तु यद्वायोः पथ्यं तत्पित्तस्यापथ्यमित्यनेन हेतुना न किंचिद् द्रव्यमेकांततो हिताहितं वास्तीति कृत्वा केचिदाचार्या ब्रुवंति। तन्न सम्यगिह खलु द्रव्याणि स्वभावतस्संयोगश्चैकांतहितान्येकांतहितानि च भवंति। एकान्तहितानि सजातिसात्म्यत्वात् सलिलघृतदुग्धौदनप्रभृतीनि। एकान्तहितानि तु दहनपचंनमारणादिष्वपि प्रवृत्तान्यग्निक्षारविषाणि। संयोगतश्चपराणि विषसदृशान्येव भवंति। हिताहितानि तु यद्वायोः पथ्यं तत्पित्तस्यापथ्यं वायोश्चासिद्धमित्यतस्तु न सम्यगित्येकांतवादिना प्रतिपादितं तत्तु न सम्यक्कथितमिति चेदेकांतशब्दः सर्वथावाची वर्तते न कथंचिद्वाची। सर्वथाशब्दस्यायमर्थः। सर्वत्र सर्वदा सर्वप्रकारैर्हितानि द्रव्याणि हितान्यैव भवंति चेत्, नवज्वरातिसारकुष्ठ भगंदराति साराक्षिरोगप्रव्रणादि निपीडितशरीरिणामपि सर्वथात्यंतहितान्येव भवेतीत्येवमिदानीं प्रणीतैरेतैरप्यातुरैरात्म हितार्थिभिः सततमुपभोक्त व्यानि स्युस्तथा क्षाराग्निशस्त्रविषाण्यतिनिपुणवैद्य गणैस्तत्तत्साध्य व्याधिषु प्रयुक्तानि प्रत्यक्षतस्तत्क्षणादेव प्रवृद्धव्याध्युपशमनं कृत्वातुरमतिसुखिनमाशु विधायात्यंतहितान्येव भवतीत्येवं सर्वाणि वस्तूनि हितान्येवेति तत्सिद्धं भवति॥ तथत्वोक्तं :– विषमपि विषांतकं भवत्याहेयं नहि स्पृशंतं मारयति विषं स्वशक्तिमते तदपि मंत्र[1]गदोपयुक्तं स्थावर[2]मतेनेतरं मनुजं।

तथा विषोदरचिकित्सायां। परुषविषमविषनिषेवणमप्यौषधमित्युक्तं। यथाः–काकोदन्यश्व मारकगुंजा–मूलकल्कं दापयेत्। इक्षुखंडानि वा कृष्णसर्पेण दंशयित्वा भक्षयेत्। मूलजं कंदजं वा विषमासेवेत। तेनागदो भवतीति विषमपि विषोदरिणा निषेवितमविषात्मकमेवामृतमिति वातिसुखाय कल्प्यते। विषस्य विषमौषधमिति वचनात्। तथोक्तं चरके विषचिकित्सायां।

जंगमं स्यादधोभागमूर्ध्वभागं तु मूलजं।
तस्याद्वंष्ट्रिविषं मौलं हंति मौलं च दंतिष्ट्रजम्।

---

1. मंत्र नत्रागदापयुक्तं इति क पुस्तके।
2. स्थावरमरनेतरं मनुजा इति क पुस्तके।

तथा चाग्निरप्यग्निविषौषधत्वेनोपदृष्टः।

खे कृशाग्निप्रतनं कार्यमुष्णं च भेषजम्।इति

दहेद्वंशमथोत्कृत्य यत्र बंधो न शक्यते।

आचूषणच्छेददाहाः सर्वत्रैव च पूजिताः।

तथा चैवमतिनिशितक्रूरशस्त्राण्यपि प्रयुक्तानि स्रावणविधावतिसुखकराणि भवेयुरित्त्पेवमुक्तं च।

लाघवं वेदनाशांतिर्व्याधेर्वेगपरिक्षयः।

सम्यग्विनिसृते लिंगं प्रसादो मनस्तथा।

सुश्रुत अ.14 श्लो.33

इत्येवमग्निक्षारशस्त्रविषाणि हिताहितान्येव सर्वथेति प्रतिपादयतः स्ववचन विरोधदोषोऽप्यतिप्रसज्येत। तथास्तीति चेत् चिकित्सा तु पुनस्सर्वप्राणिनां सर्वव्याधिप्रशमनविषक्षारास्त्राग्निभिः चतुर्भिस्तथा प्रवर्तते कर्मभिर्निर्वर्त्यते। तथा चोक्तम्।

कर्मणा कश्चिदेकेन द्वाभ्यां कश्चित्त्रिभिस्तथा।

विकारस्साध्यते कश्चिच्चतुर्भिरपि कर्मभिः॥

योगतश्च पराणि विषसदृशान्येव भवंत्येवं प्रतिपादितं, तदप्रसिद्धविरुद्धानैकांतिकं वर्तते। केषांचिन्मनुष्याणां सर्वभक्षिणामध्यशनशीलानां पित्तममांसयुतगुडमुद्गमूलकषायदुग्धदधिमधुघृत शीतोष्णनवपुराणाति-जीर्णाततरुणाति रूक्षातिस्निग्धातितरमयुक्तबहुभक्षणभोजनपानकाद्यनेकविधविरुद्धा-विरुकदंब क्राकाकरं बह्वाहारनिषेविणां भिक्षाशिनां भिक्षूणामति बलायरू-तुष्टि पुष्टि जननत्वाद्विरूद्वान्यप्य विरूद्धान्येवोपलक्षयितव्यानि भवंति तथा विरूद्धाविरूद्ध द्रव्यद्धक्षैत्रकालभावतः सर्वाणि विरुद्धा विरुद्धान्येव भवंति। तत् स्याद्वादवादिवैद्यशास्त्राचार्यः सुश्रुतोऽप्येवमाह।

सात्म्यतोऽल्पतया वाऽपि तीक्ष्णाग्नेतरुणस्य च।

स्निग्धव्यायामबलिनां विरुद्धं वितथं भवेत्॥

तस्माद्वस्तूनामनेकांताम्मकत्वादार्ईतमेव वैद्यमिति निश्चीयते। तथा चैवमाह, केषांचिदेकांतवादिनां पृथग्दर्शिनां द्रव्यरसवीर्यविपाकस्त्रिधा विपाको द्रव्यस्य स्वाद्वाम्लकटुकात्मकः प्रत्येकमन्यवादिनां मतमत्यंतं दूषणास्पदं वर्तते इति। किंतु द्रव्यं, रसवीर्यस्निग्धं तीक्ष्णं पिच्छिलं रूक्षमुष्णं शीतं वैशद्यं मृदुत्वं च वीर्यविपाकेभ्यो भिन्नं वा स्यादभिन्नं वा। यदि भिन्नं स्यात् गोविषाणवत् पृथग्दृश्येतेति। यद्यभिन्नमेकमेव स्यादिंद्रशक्रपुरंदरवत्।

द्रव्यरसवीर्यविपाकशब्दाः पर्यायशब्दास्युस्तस्माद्द्रव्यरसवीर्यविपाकात्मकं वस्तुतत्त्वत्तेषां कथंचि-द्देदाभेदस्वरूपनिरूपणक्रमेण बहुवक्तप्यमस्तीति प्रपंचमुपसंहृत्य दृष्टेप्रमाणाभ्यामविरुद्धात्मद्रव्यक्षेत्रकालभाव

चतुष्टयसन्निधानादस्तित्त्वनास्तित्त्वनित्यत्वानित्यत्वैकत्वानेकत्वबवक्त व्यावक्तव्याद्यात्मकसापेक्षस्वभावद्रव्यरस वीर्यविपाकस्वरूपनिरूपणतः स्याद्वादमेवावलंबनं कृत्वा वैद्यशस्त्राचार्यः सुश्रुतोऽप्येवमाह।

पृथक्त्वदर्शिनामेष वादिनां वादसंग्रहः।
चतुर्णामपि सामग्यमिच्छंत्यत्र विपश्चितः।
तद्द्रव्यमात्मना किंचित् किंचिद्वीर्येण संयुतम्।
किंचिद्रसविपाकाभ्यां दोषं इति करोति वा।
पाको नास्ति विना वीर्याद्वीर्यं नास्ति विना रसात्।
रसो नास्ति विना द्रव्याद्द्रव्यं श्रेष्ठतमं स्मृतम्।
जन्म तु द्रव्यगुण (रस) योरन्योन्यापेक्षिकं स्मृतम्।
अन्योन्यापेक्षिकं जन्म यथा स्याद्वेहदेहिनोः।
वीर्यसंज्ञा गुणा येऽष्टौ तेऽपि द्रव्याश्रयाः स्मृताः।
रसेषु न भवन्त्येते निर्गुणास्तु गुणाः स्मृताः।
[1]द्रव्याद्द्रव्यं तु यस्माच्च विधौ वीर्यं तु षड्साः।
द्रव्यं श्रेष्ठमतो ज्ञेयं शेषा भावास्तदाश्रयाः।

इत्येवमाद्यनेकश्लोकसमूहस्य सकाशे पदेशकाशेषविशेषद्रव्यगुणात्मकवस्तुस्वरूप निरूपणं स्याद्वादवाद मेवश्रित्य स्वशास्त्रं स्वयमभिमतस्याद्वादस्थितिरेव तावत्। नानाचार्यः।

तस्माज्जिनेंद्रप्रणीतप्रमाणर्तं उक्तं तस्तात्तदभिमतदुर्मतैकांतवादं परित्यज्य विवक्षितस्वरूपानेकधर्मा-विष्ठितानेकवस्तुतत्त्वप्रतिपादनपरं प्राणावायमहागमांभोनिधेरंभोनिधेर्लक्ष्मीरिव सकललोकहिता द्वैद्यानवद्य-विद्यानिर्गतेतिविद्याद्वैधैरप्यद्यापि सद्योमुदितहृदयैरत्यादराद्गृह्यते।

ततो जिनपतिमुखकमलविनिर्गतपरमागमत्वादतिकरुणात्मकत्सर्वजीवदयापरात्वादिति केचिज्जलूकाव साधने कदंबकात्रिवणष्टि दशांगुलशारिका नामजलूकासह्यपदास्वस्थेति तिर्यग्यमनुष्य संसाराणां चिकित्सा विधायित्वात्तथा वैद्येनाप्येवंविधेन सुमनसा कल्याणाभिव्यवहारेण बंधुभूतेन भूतानां सहायवतो विशिखानुचकितद्योतिवैद्याचार निरूपणचिकित्साधाचानेपि सत्यधर्मपरेण प्रमोदकारुण्येपि क्षमालक्षण प्रज्ञाज्ञानविज्ञानाद्य नेकगुणगणोपेतेन वैद्येन पुरुषविशेषापेक्षाक्षत यथार्हत्प्रतिपत्तिक्रियायां चिकित्सा विधीयते इति तत्कथं क्रियते इति चेत्।

1. द्रव्ये द्रव्याणि यस्माद्वि विपच्यंते न षड्रसाः॥ इति मुद्रितसुश्रुतसंहिताम्॥

दया च सर्वभूतेषु मुदिता व्रतधारिषु।
कारुण्यं क्लिश्यमानेषु चोपेक्षा निर्दये शठे॥

इति प्रवचनभाषितत्त्वादेवमेतस्मिन्वैद्यशास्त्रे बहुजीवबंधनिमित्तमधुमद्यमांसादिकश्मलाहार निषेवण–मशेषदोषप्रकोपनमातिपापहेतुकमखिलव्याधिप्रवृद्धिनिमित्तं पशुपतिवृहस्पतिगौतमा ग्निवेश्यहस्तचारि–वाद्वलिराजपुत्र–गार्ग्यभार्गवभारध्वजपालकाप्य विशालकौशिकपुत्रवदर्भ्यनरनारद कुंभदत्तविभांडकहिरण्या क्षकपाराशरकौंडिन्का–थायिनतित्तिरतैतिल्यमांडव्यशि बिशिबाबहुपत्रारिमेदकाश्यपयज्ञबल्कमृगशर्मशाबायन ब्रम्ह प्रजापत्यश्विनिसुरेन्द्रधन्वतरि–प्रभृतिभिराप्तरैशेषमहामुनिगणैरम्यैरति निंद्यमभक्ष्यमतिदुस्सहदुर्गति हेतुरितिदूरादेव निराकृतमिदानीमपि सर्वदा सवैरेव समयिभिः सत्पुरुषैरन्यैरति कुशलवैद्यैश्च परित्यक्तं कथमुपयुज्यते। अथवैतैरपि ब्रह्मादिभिराप्तैरशेषमुनिगणैश्च तन्मधुमद्यमांसादिकं भक्ष्यते इति चेत् कथं ते भवंत्याप्ता मुनयश्च। यदि ते न भक्षयंती तिचेत् कथं स्वयमभक्षयंतो दुर्द्धरनरकपतनजनकमतिनिष्करुणमन्येषां पिशितभक्षणं प्रतिपादयंति इत्यतिमहाश्चर्यमेतत्तथापिपादयन्त्येवेति चेदनाप्ता भवंत्यनागमश्च स्याद्वैद्यं शास्त्रं। तथा चोक्तम्।

आगमो ह्याप्तवचनमाप्तं दोषक्षये विदुः। क्षीणदोषोऽनृतं वाक्यं न ब्रूयाद्वोषसंभवम्॥

तथाचैवमुक्ता ह्याप्तगुणाः।

ज्ञानमप्रहतं तस्य वैराग्यं च जगत्पतेः।
सदैश्वर्यं च धर्मश्च सहसिद्धं चतुष्टयं॥ इति
तथा चैवं सनातनधर्माणामप्युक्तं स्वरूपम्।
अहिंसासत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं विमुक्तता।
सनातनस्य धर्मस्य मूलमेते दुरासदाः॥
धर्माचार्येश्चरमते इति चरणेप्युक्तम्।
रजस्तमोभ्यां निमुक्तास्तपोज्ञानबलेन ये।
येषां त्रिकालममलज्ञानमव्याहतं सदा॥

कपिलमुनिवाक्यमेतत्।

आप्ताः शिष्टविबुद्धास्ते तेषां वाक्यमसंशयम्।
सत्यं वक्ष्यंति ते कस्मान्नीरुजोऽतमसोऽनृतम्॥

एवं वैद्यशास्त्रं तु पुनराप्तोपदिष्टमेव आगममिव। अतींद्रियपदार्थविषयत्वात्, वैद्यशास्त्रमदृष्टं प्रमाणमिति वचनात्। तथा चैवं शास्त्रं प्रमाणं पुरुषप्रमाणात्। तेऽपि प्रमाणं प्रवदंत्येतद्। आचार्य आह पुनर्द्वितीयो धर्मस्तथा निर्धार्यते इति प्रमाणं। तस्माद्वैद्यं नामात्मकर्मकृतमहाव्याधिनिर्मूलकरणप्रायश्चित्त निमित्तमनुष्ठितं धर्मशास्त्रमेतत्। तथा चैवम्।

बाह्याभ्यंतरक्रियाविशेषविशुद्धात्मनामुपशमप्रधानोपवासैस्समैथुनविरामरसपरित्यागखलयूषयवागूष्णोदक-कटुकतिक्तकषायाम्लक्षाराक्षमात्रनिषेवणमनोवाक्कायनिरोधस्नेहच्छेदनादि क्रियामहाकायक्लेशयुतव्रतचर्यादि धर्मोपदेशात्। उक्तं हि स्निग्धस्विन्नवांतविरिक्तानुवासितास्थापितशिरोविरिक्तशिराविद्धर्मनुष्यैः परिहर्तव्यानि क्रोधायासशोकमैथुनदिवास्वप्नवैभाषणयानारोहणचिरास्थानचंक्रमणशीतवातातपविरुद्धाधयशनात्म्याजीर्णान्यपि लप्यते। वासमेकं विस्तरमुपरिष्टाद्वक्ष्याम इति वचनात्।

तथा कृत्याविषादिरक्षःक्रोधं धमादुध्वंसते जानपदा इति महोपसर्गनिवारणार्थं शांति प्रायश्चितमंगल-जाप्योपहारदयादानपरैर्भवितव्यमिति वचनात्। तथा चरकेऽप्यहिंसा प्राणिनां प्राणसंवर्द्धना नामेति वचनात्। पैतामहेष्येवमुक्तम्।

[1]काले व्यायामःसर्पिषश्चैव पानं मोक्षवेनान्मरणं च स्थितानां।

भोज्यमात्रावपि शलास्वप्नसेवा भूतेष्वद्रोहश्चायुषो गुप्ति रग्या॥

तथा चैवं,

सर्वाः क्रियास्सुखार्था, जीवानां न च सुखं बिना धर्मात्।

इति सुखकामैः प्राज्ञैः पुरैव धर्मो भवति कार्यः॥ इति प्राज्ञभाषितत्त्वात्॥

एवं हि शास्त्रोपोदूघाताच्छ्यते॥

अवंतिषु तथोपेंद्रपृषद्वान्नाम भूपतिः।

विनयं समतिक्रम्य गोश्चकार वृथा वधम्॥

ततोऽविनयदुर्भूत एतस्मिन्विहते तथा।

विवस्वांश्च सुखे दिव्येभिर्भूतैस्समवाह्यतः॥

उच्चचार ततोऽन्वक्षं सुक्रूरोऽवगमानुषे।

इतः प्रभृति भूतानि हव्यन्तेऽक्षसुखादिति॥

इमं हि क्रूरकर्माणमात्यजन्तोऽन्वहं नरः।

आर्य्य प्राप्स्यन्ति दोषत्वं दोषजं चात्मनः क्षयम्॥

ततो रोगाः प्रजायंते जन्तूनां दोषसंभवाः।

उपसर्गाश्च वर्धंते नानाव्यंजनवेदनाः॥

ततस्तु भगवान्वृद्धो दिवोदासो महायशाः।

चिन्तयामास प्राणानां शान्त्यर्थं शास्त्रमुत्तमम्॥

1. यह श्लोक अनेक प्रतियों को देखने पर भी अत्यधिक अशुद्ध ही मिला है।

एवं शांतिकर्म कुर्वन्क्वचिद्भूतवेतालकृत्यादिकं समुत्थापयतीत्येवं वधनिमित्तजातानां रोगाणां कथं वधजनितं मांसं प्रशमनकरं, तत्समानत्वात्। तस्य कृतकर्मजातानां जंतूनां व्याधीनां च स्वयमतिपाप निष्ठुरवधहेतुकं मांसं कथं तदुपशमनार्थं योयुज्यते। तथा चरकेप्युक्तम्–

कर्मजस्तु[1] भवेज्जंतुः[2] कर्मजास्तस्य चामयाः।

न ह्यते कर्मणा जन्म व्याधीनां[3] पुरुषस्य च॥ इति

तन्मांसं पापजन्यव्याधेः प्रतीकारं न भवत्येवेति निमित्तेनाप्युक्तम्॥

पापजत्वात्त्रिदोषत्वान्मलधातुनिबंधनात्।

आमयानां सतानत्वान्मांसं न प्रतिकारकम्॥

तथा चरकेऽप्युक्तम्।

सर्वदा[4] सर्वभावानां सामान्यं वृद्धिकारणम्।

ह्रासहेतुर्विशेषास्तु प्रकृतेरुभयस्य च॥

इत्येवं सामान्यविशेषात्मकविधिप्रतिषेधयुक्तं। तस्ताद्वैद्यशास्त्रमारोग्यानिमित्तमनुष्ठीयते। तच्चारोग्यं धर्मार्थ–काममोक्षसाधनं भवति। नहि शक्यं रोगवतां धर्मादीनि प्रसाधयितुमिति। उक्तं हि–

न धर्मं चिकीर्षेत् न वित्तं चिकीर्षेत् न भोगान्बुभुक्षेत् न मोक्षे इयासीत्।

अनारोग्ययुक्तः सुधीरोपि मर्त्यश्चतुवर्गसिद्धिस्तथारोग्यशास्त्रम्॥

चतुष्कस्य प्रणाशे नृनाशः। तथा चैवं समधात्वाद्यारोग्यरुचिशक्तिबलानि लक्षणं तस्य साधनमस्य हितमितफल मस्य चतुष्टयावाप्तिमानेवमेतस्मिन् वैद्यशास्त्रे धर्मार्थमोक्षस धनपरे सर्वज्ञभाषितेऽनेक लोकहितकरसर्व–धर्मशास्त्र प्राणावाये विद्यमानेपि तत्परित्यज्य तत्प्रतिपक्षकाराविरतिकठिन कठोरैर्निष्ठुर–हृदयैश्च वानरोरगादि–भक्षकविश्वासमित्र गौतमकाश्यपपुत्रादिपरिव्राजकैरसर्वभक्षिभिरन्यैरपि दुरात्माभिरि–दानीतनवैद्यशास्त्राणां प्रणेतृभिः पांड्यचरकभिक्षुतास प्रभृतिमांसलोलुपैरत्यंतविशुद्धान्नपान विधिविधौषध–धान्यवैदलकंदमूल–फलपत्रशाकवर्गाधिकारे विशुद्धद्रवद्द्रव्य विधौ च विगत मलकलंकोदक संपूर्ण महातटाकसेतौ चांडालमातंगप्रभृतिभिर्दुर्जनैः सज्जनप्रवेशनिवारणार्थ गोशृंगस्थापन मिव कनिष्ठनिष्ठुर दुष्टजनैस्सर्वज्ञप्रणीत–प्राणावायमहागमनिर्गतसद्धर्मवैद्यशास्त्र तस्करैस्तैर्धर्मचिह्ननिगूहनार्थ पूर्वापर विरुद्धदोषदुष्टतिकुटिलैः पिशिताशनलंपटैश्चटुलतरलमधुमद्यमांसनिषेवणमविशिष्टजनोपदिष्टं कष्टं

1. चरक सूत्र स्थान अ. 25 श्लोक 18
2. मतो
3. रोगाणां इति मुद्रित पुस्तके
4. चरक सूत्र स्थान अ. 1 श्लोक 44

पश्चात्तममेव निश्चीयते। तत्कथं पूर्वापरविरोधदुष्टमिति चेदुच्यते।

वैद्यशास्त्रस्यादावेव पूर्वाचार्यैर्मूलतंत्रकर्तृभिः परमर्षिभिः पात्रापात्रविवेकज्ञैः कर्तव्याकर्तव्यनिवह-निश्चित्सेयं योग्यानामेव कर्तव्येति विधिप्रतिषेधात्मकं शास्त्रमुक्तं। द्विजसाधुबांधवाभ्युपगतजनानां चात्मबांध-वानामिवात्मभेषजैः प्रतिकर्तव्यम्। एवं साधु भवति। व्याधशाकुनिकपतितपापकर्मकृतां च न प्रतिकर्तव्यम्। एवं विद्या प्रकाशते, मित्रयशोर्थधर्मकामाश्चज्ञवंतीत्येवं पूर्वमुक्तं, पश्चान्मांसादिनिषवेणं कथं स्वयमेवाचार्याः प्रतिपादयंतीति पूर्वापरविरुद्धमेतत्। तस्मादन्यैरेव दुश्चरितैः पश्चात्कृतमिति निश्चेतव्यं।

अथवा वैद्यशास्त्रे तावन्मांसोपयोग एव न घटते। कथमिति चेदन्नभेषजरसायनेभ्यो भिन्नत्वात्। कथं? ब्रह्मादिरपि लोकस्याहारस्थित्युत्पत्तिहेतुरित्युक्तत्वात्। न च ब्रह्मादीनां मांसमाहारार्थं जग्विरित्यन्नक्रमो युक्तश्च क्षीरपाः क्षीरान्नदा अन्नदाश्चेति ततः परमान्नदा इति वचनात्। तथा महापाठे शिशूनामन्नदानमाहारविधौ प्रथममषण्मासिकं लघ्वन्नपयसा भोजयेदिति वचनात्। मांसमन्नं न भवत्येव, पयसात्यंतविरोधित्वात्। तथाचोक्तम्।

मांसमत्स्यगुडमाषमोदकैः कुष्ठमावहति सेवितं पयः।
शाकजांबवसुरासवैश्च तन्मारयत्यबुधमाशु सर्पवत्॥

अथवा अलौकिकमविशिष्टमह्यं शास्त्रवर्जितं मांसक्षीरं न सममश्नीयात्। कोहि नाम नरस्सुखीति। अपि चैवं ब्रह्मोद्यं लोकस्याहारविधानमेवमुक्तं। सर्वप्राणिनामाहारविधानमेवमुक्तं हि।

कुयोनिजानां मधुमद्यमांसकदन्नमन्नं च तथा परेषां।
कल्याणकं चक्रधरस्य भोज्यं, स्वर्गेऽमृतं भोगमहिस्थितानां॥
पितृसंतर्पणार्थमपि न भवत्येव मांसे। कथं?
सायुज्यमायाति परेण पुंसा योगस्थितास्तेपि ततः प्रबुद्धाः।
केचिद्विवं दिव्यमनुष्यभावं न तत्र मांसादिकदन्नभुक्तिः॥ इति॥

तथा मांसं भेषजमपि न भवत्येव, द्रव्यसंग्रहविज्ञानीयाध्याये मांसस्वापाठात्।

अथवा प्रकीर्णकौषधैष्वपि मांसमौषधं न भवत्येव। तत्र द्विविधमौषधमित्युक्तम् संशमनसंशोधन क्रमेण। न तावत्संशोधनं च भवत्यूर्ध्वभागाधोभोगोभयतस्संशोधनशक्त्यभावात्। संशमनमपि मांसं न भवति, स्पृष्टरसाभावात्। स्पृष्टरसं हि द्रव्यं संशमनाय कल्प्यते। यथा मधुर्राललवणाः वातघ्नाः, मधुरतिक्त कषायाः पित्तघ्नाः, कटुतिक्तकषायाः श्लेष्मघ्नाः। अथवा मांसं लवणं नास्ति, लवणसंयोगभक्षणात्। आम्लरसोपि नास्ति आम्लसंपाचनात्। तथैव संभारसंस्कारार्हत्वात् कटुतिक्तकषायरसाश्च न संभवेत्येव। तथा मासं मधुरमपि न भवति, मधुरस्य लवणेनात्यंतविरोधित्वात् अथवा महापाठे मांसपाकोप्यभिहितः-

स्नेहगोरसधान्याम्लफ लाम्लकटुकैस्सह ।

स्विन्नं मांसं च सर्पिष्कं बल्यं रोचनबृंहणम्।।

इति द्रव्यसंयोगादेव मांसस्य बलकरणत्वं चेत्तदान्येषामपि द्रव्याणां संस्कारविशेषाद्बलवृष्यरुचिकरत्वं दृष्टमिष्टं चेति मांसमेव शोभनं भवतीत्येवं तन्न। तथा लवणघृतसंभारोदनविरहितस्य मांसस्य परिदूषणमपि श्रूयते।

शुद्धं मांसं स्त्रियो वृद्धा बालार्कस्तरुणं दधि ।

प्रत्यूषे मैथुनं निद्रा सद्यः प्राणहराणि षट्॥ इति

अथवा सर्वाण्यौषधानि सक्षीराणि वीर्यवंत्यन्यत्र मधुसर्पिःपिप्पलिविडंगेभ्य इत्यत्र सार्द्रवा नीरसातिवक्तव्ये सक्षीरवचनं मांसनिराकरणार्थमेव स्यात् तथा :-

प्रशस्तदेशसंभूतं प्रशस्ते काल उद्धृतं।

अल्पमात्रं मनस्कांतं गंधवर्णरसान्वितं॥

दोषघ्नमग्लानिकरमधिकाधिविपत्तिषु।

समीक्ष्य दत्तं काले च भेषजं फलमुच्यते॥

इत्येवमादिलक्षणविरहितत्त्वात् कालमात्रादिनियमाभावात्।

द्रवं कुडुबमादद्यात् स्नेहं षोडशिकान्वितं।

चूर्णं बिडालपदकं कल्कमक्षजसम्मितम्॥

इति वचनात् मांसमौषधं न भवतीत्येवं तत्प्रमाणापाठात्। सर्वौषधस्य कालोप्यूहितः। यथा तत्र, प्रातर्भक्तं, प्राग्भक्तं, ऊर्ध्वभक्तं, मध्यभक्तं, अंतरभक्तं, सभक्तं, समुद्गं, मुहुर्मुहुर्ग्रासे ग्रासांतरे चेति दशौषधकालेष्वेषूत्तर-तरस्मिन्काले विशेषं मांसं भक्षयितव्यमिति कालाभावादौषधं नोपपद्यत इत्येवमुक्तं च ।

द्रव्याणामपि संग्रहे तदुचितं क्षेत्रादिकाले तथा।

द्रव्योपार्जनतत्पुराधिकमहासद्गेधिकानुग्रहे ॥

ते सर्वे च विशेषभेषजगणास्संत्यत्र किंचित्क्वचि-

न्मांसं नास्ति न शब्दतोपि घटते स्यादौषधं तत्कथम्॥

तथा मांसं रसायनमपि न भवत्येव,रसायनाध्किारे तस्यापाठात्। क्षीरविरोधित्वात्, मांसस्य तस्मिन् जीर्णे पयःसर्पिरोदन इत्याहारविधनाञ्च। अथवा बहुन्मांसाशिनो दृष्ट्वा कालपरिणामाद्वैद्याश्च स्वयं

पिशितभक्षका स्संतः(तैः)स्वशास्त्रेऽन्नपानविधौ शाक वर्गाधिकारे मूलतंत्रबाह्यं मांसं कृतमिति उक्तं च।

आंगेप्याभयसत्क्रियासु च चतुष्कर्मप्रयोगेपुत-

द्दोषाणामपि संचयादिषु तथा भैषज्यकर्मस्वपि।

रोगोपक्रमषष्ठिभेदविविधे वीर्यस्य भेदे प्रती-

कारं नास्ति समस्तमांसकथनं शाकेषु तत्कथ्यते?॥

इत्यशेषांगबाह्यमन्नमौषधं तथा रसायनमपि न भवतीत्येवं निरंतरं शास्त्रेषु निराकृतमप्यंतिलोलुपाः स्वयमज्ञानिनोपि सत्कृत्य मांसं भक्षयितु मभिलपंतस्संतः केचिदेवं भाषं ते ''मांसं मांसेन वर्द्धते इति''। अथ्वा साधूक्तं मांसे भक्षिते सति मांसं वर्द्धते इति संबंधादर्थवत्स्यात्। अपि च पूर्वोक्तमेवार्थवदिति वक्तव्यं विचार्यते। किं त मांस भक्षणानंतरं मांसस्वरूपेणैव मांसमभिवर्द्धयत्याहोस्विद्रसादिक्रमेणेवेति विकल्पद्वयं। नहि मांसं मांसस्वरूपेण मांसाभिवृद्धिं करोति। कुतः? कुड्यमृत्पिंडयोकरव मांसशरीरयो-रन्योन्याभिवर्द्धनसंबंधाभावात्। अपसिद्धांतत्त्वाच्च। तस्माद्रसादिक्रमेणैव शरीराभिवृद्धिर्निर्दिष्टा। तथा भैषज्यसाधनं चोक्तं। पांचभौतिकस्य चतुर्विधस्याहारस्य षड्सोपेतस्य अष्टविधवीर्यस्य द्विविधवीर्यस्य वाऽनेकगुणोपयुक्तस्य सम्यक्परिणतस्य पयस्तेजोगुणभूतस्य सारः परमसूक्ष्मः स रस इत्युच्यते। क्षारपाणिनाप्युक्तम्। रसो भूत्वा द्वैधी भवति स्तन्यं शोणितं च। शोणितं भूत्वा द्वैधी भवति रजो मांसं च। मांसं च भूत्वा द्वैधी भवति, सिरा मेदश्च। मेदो भूत्वा द्वैधी भवति स्नाय्वस्थि च। अस्थि भूत्वा द्वैधी भवति वसा मज्जा च। मज्जा भूत्वा द्वैधी भवति, मज्जा चैव शुक्रं च। शुक्राद्गर्भस्संभवति इति। तथा चोक्तम्।

रसाद्रक्तं ततो मांसं मांसान्मेदः प्रवर्तते।

मेदसोस्थि ततो मज्जा तस्याश्शुक्रं ततः प्रजा॥ इति॥

एवं धातूपधातुनिष्पत्तिरापैरुपदिष्टा विशिष्टैस्तत्त्वदृष्टिभिवैद्यैरन्यैश्चाप्यतिकुशलैः रसवेदिभिरिति। अथवा मांसभक्षकाणामेव शरीरेषु मांसाभिवृद्धिरितरेषां न भवव्येव, तन्न घटामटाटयते। कथमिति चेत्तदभक्षिणामृषीणा पुरुषविशेषाणां स्त्रीणां वापि तच्चास्त्रिाणामतिस्निग्ध-स्थूलशरीराणि दृश्यंते। तथा चैतेप्यत्यंतबलवंतो पुत्रवंतश्च। तथा क्वचित पिशिताशिनोप्यतिकृशाः क्लीवाः। दुर्बलाग्नयो व्याधिग्रस्तांगाः क्षीणाः क्षयिणश्च निष्पुत्राश्चोपलक्ष्यंते, इत्यनैकांतिकमेतत्। तथा चान्ये तिर्यग्जात-योप्यरण्यचरा मधुमद्यमांस विरहिताहारा यूथपतयो गजगवयमहिषवृषभपृषतमेषहरिणरुरुचमर-वराहादयःस्थलजलकुलगिरितरुवन चरास्तृणगुल्मलतांघ्रिपाहारिणः स्थिरोपचितशरीरबलविलास-वीर्यविक्रमवृष्ययुष्यसत्वसंपन्ना बहुपुत्रकलत्रसंपूर्णा बहुव्यवायिनस्सतत-कामिनश्चोपलक्ष्यंते। तथा केचित्-केवलमतिपिशिताशिनास्सिंह व्याघ्रतरक्षुद्विपिमार्जारप्रभृतयो ह्यवृष्या निष्पुत्रास्संवत्सरकामिनश्चेत्येवं निमिनाप्युक्तम्।

मांसादः श्वापदः सर्वे वत्सरांतरकामिनः।

अवृष्यास्ततएव स्युरभक्ष्यपिशिताशिनः॥

इति मांसभक्षिणां मृगादीनामपि वृष्यहानिः संजाता।

अत्र केचित्पुनश्छागमृगवराहादीनामतिस्त्रीव्यसनामलोक्य तद्भक्षकाणामपि तद्वदतिवृष्यं भवतीत्येवं मन्य-मानास्संतोष, ते तस्ताद्भक्षयंतीत्येवं तदपहास्यतामुपयांति। कथमिति चेत्, न कदाचिदपि छागैश्छागो भक्षितो, मृगैर्वा मृगो, वराहो वा वराहैरित्येतपहास्यकारणं। न तु पुनश्छागादयश्छागादीन् भक्षयित्वाति-वृष्या भवंतीति दृष्टमिष्टं च। त एते पुनच्छागमृगवराहादयो विविधतरुतृणगुल्मवीरुल्लताविताना्द्यौषध-निषेवणोपशांत- व्याधयस्संतुष्टबुद्धंयस्सन्नद्धशुद्धधातवः प्रवृद्धोद्यतवृष्यास्सबहुपुत्राश्चोपलक्ष्यंते। तत एव तृणाशिनां शकृन्मूत्र-क्षीराण्यौषधत्वेनोपादीयंते। न तु पुनः पिशिताशिनामिति। तथा चोक्तम्-

अजाविगोमहिष्यश्व गजखरोष्ट्राणां सूत्राण्यष्टौ कर्मण्यानि भवंति! तथा चैवम्।

आजमौष्ट्रं तथा गव्यमाविकं माहिषं च यत्।

अश्वानां च करीणां च मृग्याश्चैव पयस्मृतम्॥

इत्यष्टप्रकारक्षीरमूत्राण्यौषधत्वेनोपादीयंते, न तु पिशिताशिनाम्। तथा चोक्तम्।

पिशितमभक्ष्यमेव पिशिताशिमृगेषु तदूष्यतेऽत्र त-।

त्पिशितपयः शमृज्जलमलं परिहृत्य, तृणाशिनां पयो॥

जलमुपसंख्ययाष्टविधमेव यथार्हमहौषधेष्वति-।

प्रथितसमस्तशास्त्रकथनं कथयत्यधिकं तृणादिषु॥

इत्नेकहेतुदृष्टांतसंतानक्रमेण पूर्वापरविरोधदोषदुष्टमतिकष्टं कनिष्ठं वीभत्सं पूतिकृमिसंभवं मूलतंत्र व्याघातकं मांसमिति निराकृतं, तदिदानींतनवैद्याः पूर्वापरविरोधदुष्टं परित्यक्तुमशक्ताः। कनिष्ठैरंतराल वर्तिभिरन्यैरेव मांसाधिकारः कृत इति स्वयं जानन्तोऽप्यज्ञानमहांधकारावगुंठित हृदयमिथ्यादृष्टयो दुष्टजना विशिष्टवर्जितं मधुमद्यमांसमनवरतं भक्षयितुमभिलषंते। दोषप्रच्छादनार्थमन्येषां सतां लौकिकानां हृदयरंजननिमित्तं तत्संतोष-जननं संततमेवमुद्घोषयंति। न हि सुविहितबहुसम्मतवैद्यशास्त्रे मांसाधिकारो मांसभक्षधार्थमारभ्यते, किंतु स्थावरजंगममार्थिवादिद्रव्याणां रस वीर्यविपाकविशेषशक्तिरीदृशी इत्येवं सविस्तरमत्र निरूप्यत इति न दोषः। तदेतत्समस्तं पिशितभक्षणावरणकारणोक्तवचनकदंबकं मिथ्याजालकलंकितमवलोक्यते। कथं? स्ववचन-विरोधित्वात्। तथा चैवं प्रव्यक्तकंठमुक्तं हि मांसं स्वयं भक्षयित्वा वैद्यःपश्चादन्येषां वक्तुं गुणदोषान्विचारयेदिति। तथा चोक्तम्।

धान्येषु मांसेषु फलेषु कंद-शाकेषु चानुक्तिजलप्रमाणात्।

आस्वाद्यतैर्भूत्तगणैः प्रसह्य तदादिशेद्द्रव्यमनल्पलुब्धः॥(?)

क्ष्मांजाग्निं क्ष्मालुतेजः खराट्वग्न्यानिलानिलैः।

द्वयोयोल्वणैः क्रमाद्भूतैर्मधुरादिरसोद्भवः ॥(?)

मांसाशिनां च मांसादीन्भक्षयेद्विधिवन्नरः ।

विशुद्धमनसस्तस्य मांसं मांसेन वर्धते ॥

तथा चरकेऽप्युक्तम् ।

आनूपोदकमांसानां मेध्यानाममुषयोजयेत् ।

जलेशयानां मांसानि प्रसहानां भृशानि च ॥

भक्षयेन्मदिरां सीधु मधुं चानुपिबेन्नरः ।

तथा चरके शोषचिकित्सायाम् । शोषव्याधिगृहीतानां सर्वसंदेहवर्तिनाम् सर्वसन्यासयोग्यानां, तत्परलोक-निरपेक्षाणामधोगतिनेतृकमनंतसंसारतरणात्प्रतिपक्षपक्षावलंबनकांक्षया साक्षात् भिक्षूणां मांसमभिभक्षयितुं क्रमं चेत्येवमाह ।

शोषिणे बर्हिणं दद्यात् बर्हिशब्देन चापरान् ।

गृद्धानुलूकांश्चाषांश्च विधिना सुप्रकल्पितान् ॥

काकांस्तित्तिरिशब्देन वर्मिशब्देन चोरगान् ।

भृष्टान्मत्स्यांत्रशब्देन दद्याद्भंडूपदान्यपि ॥

लोपाकान् स्थूलनकुलान् विदलांश्चोपकल्पितान् ।

श्रृगालशाबांश्च भिषक् शशशब्देन दापयेत् ॥

सिंहानृक्षांस्तरक्षूश्च व्याघ्रनेवंविधांस्तथा ।

मांसादान्मृगशब्देन दद्यान्मांसाभिवृद्धये ॥

मांसानि यान्यानभ्यासादनिष्टानि प्रयोजयेत् ।

तेषूपधा सुखं भोक्तुं शक्यंते तानि वै तथा ॥

जानञ्जुगुप्सन्नैवाद्यात् जग्धं वा पुनरुल्लिखेत् ।

तस्माच्छद्मोपसिद्धानि मांसान्येतानि दापयेत् ॥

इत्यनेकप्रकारैश्शास्त्रांतरेषु मधुमद्यमांसनिषेणं निरंतरमुक्तं कथमिदायितुं शक्यते ।

तथा चैवमेके भाषंते-तरुगुल्मलतादीनां कंदमूलफलनत्रपुष्पौद्यौषधान्यपि शरीररत्वान्मांसान्येव भतंतीति । एवं चेत् साधुभिरुक्तैः -

मांसजीवशरीरं जीवशरीरं भवेन्न वा मांसम्।

यद्वन्निंवो वृक्षो वृक्षस्तु भवेन्न वा निंबः॥

इति व्याप्यव्यापकस्वभावत्वाद्वस्तुनः व्यापकस्य यत्र भाव व्याप्यस्य तत्रैव भाव इति व्याप्तिः। ततो व्याप्तत्वात् मांसं मांसमेव तथात्मवीर्यादयोपीव शिंशपा वृक्ष एव स्यात् वृक्षो निंबादयो यथा। इत्येतस्ताद्वेतोः मांसं जीवशरीरं जीवशरीरं च मांसं न स्यादित्यादि शुद्धाशुद्धायोग्यायोग्यभोग्या भोग्य भक्ष्याभक्ष्यपेयापेयगम्या-गम्यागम्यादयो लोकव्यापाराः सिद्धा भवंतीत्युक्तम्।

नाम्ना नारीति सामान्यं भगिनीभार्ययोरिह।

एका सेव्या न सेव्यैका, तथा चौदनमांसयोः॥ इति॥

तथा च पूर्वाचार्याणां लौकिकसामयिकाद्यशेषविशेषज्ञमनुष्याणां प्राप्तिपरिहारलक्षणोपेतकर्तव्य सिद्धिरेवं प्रसिद्धा। ततोन्यथा सम्मतं चेति, तत्कथमि ते चेन्नानाविधिना धान्यवैदलादिमूलफ लनत्रपुष्पाद्यशेषस्थावर-द्रव्याणि देवतार्चनयोग्यानि ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यादिविशिष्टोपभोग्यानि विधिरूपास्पृश्यरजः शुक्लसंभूतदोष-धातुमलमूत्रशरीर विशुद्धान्यविरुद्धानि विगतपापानि निर्दोषाणि निरुपद्रवाणि निर्मलानि निरुपमानि सुगंधीनि सुरूपाणि सुक्षैत्रजान्येवंविधान्यपि भेषजानि मांसानीति प्रतिपादयेत्। सत्यधर्मपरो वैद्यस्तत्कारे तद्विपि च स्यात् (?)। एवमुक्तक्रमेण स्थावरद्रव्याणि मांसन्येव प्रतिपादयतो वैद्यस्य प्रत्यक्षविरोधस्ववचन-विरोधागम-विरोधलोकविरोधाद्यशेषविरोधदोषपाषाण वृष्टिर-निष्टोत्पातवृष्टिकरव तस्य मस्तके निशित-निस्त्रिंशधारेव पतति। तद्भयान्नैवं मांसमित्युच्यते। किंतु जीवशरीरव्याघातनिमित्तत्वात्स्थावरात्मकभेषजान्यपि पापनिमित्तान्येव कथं योयुज्यंते इति चेत्। सुष्ठूक्तं जीवघातनिमित्तंतात्पापहेतुरिति कः संदेहं वदेत्। अहिंसालक्षणो धर्मः प्राणिनामवध इति वचनात्। अत्र पुनः धर्माधर्म विकल्पश्चतुर्विधो भवति, पापं पापनिमित्तं, पापं धर्म निमित्तं, धर्मः पाप निमित्तः धर्मो धर्मनिमित्तमित्यन्योन्यानुबंधित्वात्। कामकृताकामकृतविकल्पाल्लौकिलोकोत्तरिक धर्मद्वैविध्याच्च लोकव्यापारदेवतायतनकरणदेवर्षिब्राह्मण-पूजानिमित्तकृतं पापं धर्माभिवृद्धये(भवति) तथा चोक्तम्।

पूज्यं जिनं त्वार्चयतो जनस्य सावद्यलेशो बहुपुण्यराशौ।

दोषाय नालं कणिका विषस्य न दूषिका शीतशिवांबुराशौ॥ इति॥

तथा चैवंद्विजसाधुमुनिगणविशिष्टेष्टजनचिकित्सार्थं सकरुणमर्चयित्वानीतमौषधं पुण्याय। एवं पैतामहेऽप्युक्तम्।

अर्चायित्वांघ्रिपान्मूल-मुत्तराशागतं हरेत्।

पूर्वदक्षिणपाश्चात्यपत्रपुष्पफ लानि च॥

एवं सकरुणमौषद्यानयनवचनमौषधं प्राण्यनुग्रहार्थं, निर्मूलतो न विनाशथेदित्यर्थः अथवा तृणगुल्म

लतावृक्षद्य शेषप्राणिपशुब्राह्मणशिरच्छेदनादिसंभूतपापादीनामसमानत्वादसदृशप्राय-श्चित्तोपदेशात्। तथा प्रायश्चित्तस्यैतल्लक्षणमुच्यते।

''प्राय इत्युच्यते लोश्चित्तं तस्य मनो भवेत्।
तच्चित्त ग्राहको धर्मः प्रायश्चित्तमिति स्मृतम्॥''

उक्तं चः

अनुतापेन विख्याज्याद्धितमाद्धतचर्यया।
पादमर्धत्रयं सर्वमपहन्यादिति स्मृतम्॥
एकभुक्तं तथा नक्तं तथाप्यायाचितेन च।
एकरात्रोपवासश्च पादकृच्छं प्रकीर्तितम्॥(1)

अथवा च तस्य मिथ्या भवतु मे दुष्कृतमिति वचनादपि प्रशम्यंत्यल्पपापानीति सिद्धांत-वचनात्। अथवा गंधपणेषु गंधिकोपदिष्टानि नानाद्वीपांतरगतानि नानाविधरसवीर्यविपाक प्रधानानि सुप्रासुकानि, सुरुपाणि, सुमृष्टानि, सुगंधीन्यशेषगुणगणाकीर्णानि, संपूर्णन्यभिनवान्यखिलामलभेषजानि संतर्पणानि, तैस्साधुजनानां चिकित्सा कर्तव्येति। तदलाभेष्वेवमुच्छिन्नभिन्नशकलाभकाच्चित्तकाभिन्न सकलचित्ताल्प प्रदेशवहुप्रदेशप्रत्येक साधारण शरीरक्रमेण भेषजान्यपापानि सुविचार्य गृहीत्वा साधूनां साधुरेव चिकित्सां कुर्यादिति कल्पव्यवहारेडप्युक्तं। उच्छिन्नभिन्नसकलं च भिन्नसकलं चित्तं अल्पप्रदेशं वहुप्रदेशमिति, तस्मात्साधूनां साधुरेव चिकित्सकस्स्यात्तथा चोक्तम्।

सजोग निठठेह रितीपिनिच्छये साधुगणेसाधु (?) इति साधुचिकित्सालाभे श्रावकः स्यात्तदलाभे मिथ्यादृष्टिरपि, तदलाभे दुष्टमिथ्यादृष्टिनापि वैद्येन सन्मानदान वि स्रंभातिशयमंत्रोषधविधादानक्रियया संतोष्य साधूनां चिकित्सा कारयितव्या, सर्वथा परिरक्षणीयास्सर्वसाधवस्तेषां सुखमेव चिंतनीयम् कर्मक्षयार्थमिति।

तथा चरकेणाप्युक्तम् रोगभिषग्विषयाध्यायेः-

कर्मसिद्धिमर्थसिद्धिं यशोलाभं प्रेत्य च स्वर्गमिच्छता त्वया, गोब्राह्मणमादौ कृत्वा सर्वप्राणभृतां हितं सर्वर्था श्रितम् इति। इमं वस्तु स्थावरं जंगमं चेति। तत्र स्थावर दूव्यवर्ग.....[?] जंगमस्तु पुनर्देहिवर्गः। दूव्यवर्गयोराहार्याहारकमुपकार्योपकारकसाध्य साधनरक्ष्यरक्षण भक्ष्य भक्षणकादि विकल्पात्मकत्वात्। तयोर्मक्ष्यं स्थावरद्रव्यं वर्तते। भक्षणकाले हि वर्ग इति तत्वविकल्प विज्ञान बाह्यमूढमिथ्यादृष्टिवैद्यास्सर्वभक्षकास्संवृत्ता इति। तथा चोक्तम्॥

गुणादियुक्तद्रव्येषु शरीरेष्वपि तान्विदुः।
स्थानवृदिधक्षयास्तस्माद्देहानां द्रव्यहेतुकाः॥

इतीव्थं सर्वथा देहिपरिरक्षणार्थमेंव स्थावरद्रव्याण्यौषद्यत्वेनोपादीयंते। तदा जंगमेष्वपि क्षीरघृतदधितक्रप्रभृतीनि तत्प्राणिनां पोषणस्पर्शनवत्सस्तनपानादिसुखनिमित्त संभूतान्याहार भेषजविकल्पनार्थमुपकल्प्यंते। तस्मादभक्ष्यो देहिवर्गो इत्येव सिद्धो नः सिद्धातः। तथा चोक्तम्।

मासं तावदिहाहृतिर्न भवति, प्रख्यात सद्रभेषजं।

नैवात्युत्तम सदूसायनमपि प्रोक्तं कथं ब्रह्मणा॥

सर्वज्ञेन दयालुना तनुभृतामत्यर्थ मेतत्कृतं।

तस्मात्तन्मधुमद्यमांससहितं पश्चात्कृतं लंपटैः॥

एवादिदानींतनवैद्या दुर्गृहीतदुर्विद्यावलेपाद्यहंकारदुर्विदग्धाः परमार्थवस्तुतत्वं सविस्तरं कथमपि न गृण्हंतीत्येवमुक्तं च।

अज्ञस्सुखमाराध्यस्सुखतरमाराध्यते विशेषज्ञः।

ज्ञानलवदुर्विदग्धं ब्रह्मापि नरं न रंजयति।।

एवं

ग्रंथ अध्ययन फल

यो वा वेत्ति जिनेंद्र भाषितमिदं कल्याणसत्कारकम्।

सम्यक्त्वोत्तरमष्टसत्प्रकरणं (?) संपत्करं सर्वदा॥

सोऽयं सर्वजनस्तुतः सकलभूनाथार्चितांघ्रिद्वयः।

साक्षादक्षयमोक्षभाग्भवति सद्धर्मार्थकामाधिकान्॥

इतिहास संदर्भ

ख्यातः श्रीनृपतुंगबल्लभमहाराजाधिराजस्थितः।

प्रोद्यद्रभूरि सभांतरे बहुविधप्रख्यात विद्वज्जने॥

मांसशिप्रकरेंदूताखिलभिषग्विद्याविदामग्रतो।

मांसे निष्फलतां निरूप्य नितरां जैनेंद्रवैद्यस्थितम्॥

इत्यशेषविशेषविशिष्ट दुष्ट पिशिताशिवैद्य शास्त्रेषु मांसनिराकरणार्थमुग्रादित्याचार्यैर्नृपतुंगवल्लभेंद्र सभायामुद्रघोषितं प्रकरणम्।

आरोग्यशास्त्रमधिगम्य मुनिर्विपश्चित्।
स्वास्थ्यं स साधयति सिद्रधसुखैकहेतुम्॥
अन्यः स्वदोषकृतरोग निपीडितांगो।
वहनापि कर्म निजदुस्परिणाम भेदात्।।
भाषितमुग्रा दिव्यैर्गुणैरुदारैस्समग्रमुग्रादिव्यं।
भाषितनमितजयंतं। समग्रमुग्रादिव्यम
इत्युग्रादित्याचार्य विरचित कल्याणकारके हिताहिताध्यायः।
इति कल्याणकारकं समाप्तम्।
श्रीमत्परमगंभीर स्याद्वादामोघलांछनम्।
जीयाम्त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम्।
इति भद्रं।

हिताहिताध्याय का भावानुवाद

यहाँ पर सबसे पहले इस बात का निश्चय करते हैं कि आयुर्वेद में सबसे प्रथम स्थान आर्हत् आयुर्वेद के लिए ही मिल सकता है। कहा भी है –

आर्हत् वैद्य (आयुर्वेद)ही प्रथम है। क्योंकि स्याद्वाद की स्थिति के लिए वह साधन है और पूर्वपक्ष से हिताहित की प्रवृत्ति निवृत्ति के लिए उपयुक्त है।

यहाँ पर अपने पक्ष को स्थापन करने में प्रवृत्त आचार्य पहले स्याद्वादवादियों के प्रति पूर्वपक्ष को समर्थन करते हैं। बाद में उसका निरसन करेंगे।

लोक में पदार्थों का गुणधर्म अनेकांतात्मक है। जो बात के लिए हितकर है वह पित्त के लिए अहितकर है। अतएव द्रव्य हिताहितात्मक है। इस हेतु से दुनिया में कोई भी द्रव्य एकान्तदृष्टि से हित या अहित रूप नहीं है इस प्रकार कोई जैनाचार्य कहते हैं। यह ठीक नहीं है। क्योंकि लोक में द्रव्य अपने स्वभाव व संयोग से एकान्त हित व अहित के रूप में देखे जाते हैं। एकान्त हितकर तो रोग के लिए प्रयोजनीभूत जल, घृत, दूध व अन्न आदि हैं। एकान्त अहित जलाने, पचाने, मारने आदि में प्रवृत्त अग्नि, क्षार, विष आदि हैं। पदार्थों के संयोग से अन्य भी पदार्थ विष सदृश होते हैं। वे भी एकान्त से अहितकारक हैं।

(प्र) द्रव्य हिताहितात्मक हैं। जो वात के लिए हितकर हैं वह पित्त के लिए अहितकर हैं, यह जो कहा गया है वह ठीक नहीं है, ऐसा कहोगे तो हम सवाल करते हैं कि एकान्त शब्द का क्या अर्थ है। उत्तर में एकान्तवादी कहता है कि एकान्त शब्द सर्वथावाची है। कथंचित् वाची (किसी तरह अन्य रूप भी हो सकेगा) नहीं है। सर्वथा शब्द का खुलासा इस प्रकार है। सर्वत्र सर्वदा सर्वप्रकारों से हित द्रव्य हितकारक ही होते हैं, अन्यथा नहीं हो सकते। ऐसा कहोगे तो ठीक नहीं है। क्योंकि यदि हितकारक द्रव्य एकान्त से हितकारक ही होंगे तो जो हितद्रव्य हैं। उनका उपयोग नवज्वर, अतिसार, कुष्ठ, भगंदर, नेत्ररोग, व्रण आदि भयंकर रोगों में भी हितकारक ही सिद्ध होगा। फिर अब उपर्युक्त हो चाहे अनुपयुक्त उनका उपयोग करना ही पड़ेगा। इसी प्रकार क्षार, अग्नि व विष सदृश पदार्थ किसी-किसी रोग को तात्कालिक उपशम करते हुए प्रत्यक्ष देखे जाने पर सभी रोगों के लिए अत्यन्त हितावह ठहर जायेंगे। क्योंकि क्षार, अग्नि, विष आदि से भी अनेक रोग तत्क्षण साध्य देखे जाते हैं। कहा भी है-विष भी विषांतक अर्थात् विष को नाश करने वाला होता है। इसलिए वह सर्वथा त्याज्य नहीं है। क्योंकि उसे स्पर्श करने वाले को वह मारता नहीं है। यदि उसे मंत्र व औषध के प्रयोग से उपयोग किया जाये तो उससे कोई हानि नहीं है अर्थात् मरण नहीं हो सकता है। इसी प्रकार विषोदर चिकित्सा में प्रतिपादन किया गया है कि कठिन भयंकर विषों का सेवन करना भी कभी-कभी औषध होता है। जैसे काकोदनी, अश्वमारक, गुंजामूल कल्क को देने का विधान मिलता है। ईख के टुकड़ों को कृष्णसर्प से दंश कराकर भक्षण करना चाहिए। मूलज वा कंदज विष को सेवन करना चाहिए, जिससे वह निरोगी होता है, इस प्रकार विषोदरी विष का

भी सेवन करें तो वह अविषात्मक होकर वह अत्यन्त सुख के लिए कारण होता है। शास्त्रों में भी विष का विष ही औषध के रूप में प्रतिपादित है। चरक संहिता के विषचिकित्साप्रकरण में कहा भी है। जंगम विष की गति नीचे की ओर होती है। और मूलज विष की गति ऊपर की ओर होती है। इसलिए दंष्ट्रिविष मूलविष का नाश करता है।

इसी प्रकार अग्नि भी अग्निविष के लिए औषधि के रूप में उपयुक्त होती है। जहाँ पर घाव हो गई हो एवं बंधनक्रिया अशक्य हो, वहाँ पर कृश अग्नि से जलाना एवं उष्ण औषधि का उपयोग करना एवं च घाव को उकेर कर पुनः जलाना आदि प्रयोग करना चाहिए। घाव के विष को चूसकर निकालना, छेदन करना, जलाना ये क्रियायें विष चिकित्सा में सर्वत्र उपयोगी है। इसी प्रकार अत्यन्त तीक्ष्ण शस्त्रों का भी प्रयोग विष(रक्त)स्रावण विधान में अत्यन्त सुखकर हो सकता है। कहा भी है- शरीर में हल्केपने का अनुभव होना, रोग का वेग कम होना, मन की प्रसन्नता ये अच्छी तरह रक्त विस्रावण होने के लक्षण हैं। इस प्रकार अग्नि, विष, क्षार आदि को जो सर्वथा हितकारक या सर्वथा अहितकारक ही बतलाता है उसे स्ववचनविरोधदोष का भी प्रसंग आसकता है। उसी प्रकार यदि माना जाये तो चिकित्सा विधि में सर्व प्राणियों को संपूर्ण रोगों को प्रशमन करने के लिए विष, क्षार, अस्त्र और अग्नि कर्म का जो प्रयोग बतलाया गया है उसका विरोध होगा। कहा भी है कि कोई रोग एक कर्म से चिकित्सित होता है, कोई दो कर्मों से और कोई तीन कर्मों से एवं कोई-कोई विकार चारों ही कर्मों (विष, क्षार, अग्नि, अस्त्र) से साध्य होते हैं। इसलिए एकान्त रूप से किसी एक का आश्रय करना उचित नहीं है।

इसी प्रकार संयोग से अन्य पदार्थ भी विष सदृश ही होते हैं, ऐसा जो कहा है यह असिद्ध विरुद्ध और अनैकांतिक दोष से दूषित है। कोई-कोई मनुष्य सब कुछ खाने वाले, बार-बार खाने वाले, पित्तकर (मांसरहित)गुड़, मूंग का कषाय, दूध, दही, मधु , घृत, ठंडा, गरम, ताजे बासे, रूक्ष-स्निग्ध आदि अनेक प्रकार के विरुद्ध बहुत से आहारों को ग्रहण कने वाले संन्यासियों को वह संयोगजन्य आहार होने पर भी तुष्टि-पुष्टि आयु बल की वृद्धि हेतुक देखा जाता है एवं विरुद्ध होने पर भी अविरुद्ध देखे जाते हैं। अर्थात् ऐसे संयुक्त आहारों को ग्रहण करने पर भी वे भिक्षुक साधु हृष्ट-पुष्ट देखे जाते हैं। इसलिए द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के बल से सर्व पदार्थ विरुद्ध होने पर भी अविरुद्ध होते हैं। अतएव स्याद्वादवादी वैद्य सुश्रुताचार्य भी इस प्रकार कहते हैं कि यद्यपि विरुद्ध पदार्थों का भक्षण करना अपायकारक है। तथापि उन पदार्थों को खाने का अभ्यास नित्य करने से, अल्प प्रमाण में खाने से, जठराग्नि अत्यधिक प्रदीप्त रहने पर खाने वाला तरुण व स्वस्थ रहने पर स्निग्ध पदार्थों के भक्षण के साथ कसरत करने वाले होने पर, विरुद्ध पदार्थों के खाने पर भी अविरुद्ध ही होते हैं अर्थात् उन पदार्थों से कोई हानि नहीं होती। इसलिए पदार्थों में अनेकान्तात्मक धर्म रहते हैं। अतएव जैनशासन में प्रतिपादित आयुर्वेद ही सर्वप्राणियों के लिए श्रेयस्कर है, इस प्रकार निश्चय किया जाता है।

इसी प्रकार कोई एकान्तवादी द्रव्य रस वीर्य विपाक को पृथक्त्व रूप से स्वादु, अम्ल व कटुक रूप से स्वीकार करते हैं, यह अत्यन्त दूषणास्पद है। ऐसी हालत में द्रव्यरस एवं वीर्यरूप स्निग्ध तीक्ष्ण,

पिछिल, मृदुत्व, रूक्ष, उष्ण, शीत, निर्मलता ये वीर्य विपाक से भिन्न हैं या अभिन्न ? यदि भिन्न हो तो गोविषाण के समान पृथक् देखने में आवेंगे। यदि अभिन्न हो तो ये सब इंद्र, शक्र, पुरंदरादि शब्दों के समान एक ही पदार्थ के पर्यायवाची शब्द ठहर जायेंगे। इसलिए द्रव्य रस वीर्य विपाकात्मक ही वस्तु तत्त्व होने से एवं उनके द्रव्य से कथंचित् भेदाभेद स्वरूप होने से, उनका निरूपण अत्यन्त विस्तृत है। अतएव उसे यहाँ पर उपसंहार कर इतना ही कहा जा सकता है कि प्रत्यक्षानुमान प्रमाण से अविरुद्ध रूप से रहने वाले, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के सान्निध्य से पदार्थों में अस्तित्त्व, नास्तित्त्व, नित्यत्व, अनित्यत्व, एकत्वानेकत्व, वक्ताव्यावक्तव्यादि परस्परविरुद्ध अपितु सापेक्ष स्वरूप के अनंत धर्म रहते हैं, उसी प्रकार द्रव्यरस वीर्य विपाकादि भी अविरोध रूप से रहते हैं। इसी स्याद्वादवाद को अवलंबन कर वैद्यशास्त्राचार्य सुश्रुत कहते हैं।

ऊपर प्रतिपादित द्रव्य रस वीर्य विपाक का पृथक् इनमें भिन्नता मानने वाले एकान्तवादियों का मत है। परंतु जो वस्तुत्व के रहस्यज्ञ विद्वान् हैं, वे किसी एक को प्राधान्य नहीं देकर चारों के समुदाय को ही प्राधान्य देते हैं। क्योंकि वह उपयुक्त द्रव्य कहीं-कहीं अपने स्वभाव से दोषों को हरण करता है या उत्पन्न करता है। कहीं-कहीं विपाक से युक्त होकर दोषों को दूर करता है या उत्पन्न करता है। इसके अलावा द्रव्य में वीर्य के बिना विपाक नहीं हुआ करता है एवं रस के आश्रय के बिना वीर्य भी नहीं हुआ करता है। रस (गुण) द्रव्य के आश्रय को छोड़कर नहीं रह सकता। इसलिए उसी प्रकार द्रव्य ही सबसे श्रेष्ठ है। जिस प्रकार देह व आत्मा की उत्पत्ति परस्पर सापेक्षिक है, उसी प्रकार द्रव्य की गुण की उत्पत्ति भी परस्पर सापेक्षिक है। वीर्य के रूप में प्रतिपादित स्निग्धत्व आदि जो आठ गुण हैं, वे भी द्रव्य के ही आश्रित हैं। क्योंकि ये गुण रसों में अर्थात् गुणों में नहीं हुआ करते। उदाहरणार्थ-शक्कर का गुण मधुरत्व है। उस मधुरत्व गुण में कोई और गुण नहीं हुआ करता है। क्योंकि वह स्वतः एक गुण है। अतएव आगम में गुणों को निर्गुण के रूप में प्रतिपादन किया है। गुणवीर्य आदिक छह रस वगैरह सभी द्रव्य में ही रहते हैं। इसलिए द्रव्य ही सब में श्रेष्ठ है, बाकी के सभी धर्म उसी के आश्रय में रहते हैं, इत्यादि अनेक श्लोकों के कथन से संपूर्ण पदार्थ द्रव्यगुणात्मक सिद्ध होते हैं, यह कथन स्याद्वाद का आश्रय करके ही श्री सुश्रुताचार्य ने अपने ग्रंथ में किया है। इसलिए स्याद्वाद की स्थिति ही उनको भी मान्य है यह निश्चित हुआ।

इसलिए जिनेन्द्र शासन में प्रतिपादित तत्त्वों को स्वीकार कर अन्यों के द्वारा प्रतिपादित एकान्त तत्त्व को त्याग कर विवक्षित-अविवक्षित (मुख्य गौण) स्वरूप अनेक धर्मों के धारक ऐसे अनेक वस्तुओं के प्रतिपादक प्राणावाय महागम रूपी समुद्र से निकली हुई लक्ष्मी के समान, संपूर्ण लोक के लिए हितकारक ऐसे लोक बंधु निर्दोषी वैद्य की ओर से यह अनवद्य विद्या निकली है। अतएव आज भी वैद्यगुण बहुत प्रसन्नता के साथ इसे अत्यादर से ग्रहण करते हैं।

इसलिए यह जिनेन्द्र के मुखकमल से निकला हुआ परमागम होने से, अतिकरुणा स्वरूपक होने से सर्व जीवों के प्रति दयापरक होने से कोई-कोई वैद्य जलौंक वगैरह लगाकर जो चिकित्सा करते हैं, उसकी अपेक्षा जहाँ तक हो कदंब त्रिवर्ण दशांगुलशारिका प्रयोग से अजलूक चिकित्सा तिर्यंच व मनुष्यों

की करने का प्रयत्न करें। क्योंकि वैद्य का धर्म है कि वह कोमल मन वाला हो, दूसरों के लिए हित का व्यवहार करें, सबके साथ बंधुत्व का व्यवहार करें, प्राणियों का सहायक बनें और सर्व प्राणियों को हितकामना से वैद्याचार को निरूपण करते हुए सत्यधर्मनिष्ठ, मैत्री, प्रमोद, कारुण्य, माध्यस्थ एवं क्षमा स्वरूप प्रज्ञा ज्ञान-विज्ञान आदि अनेक गुणों से युक्त होकर पुरुष विशेष की अपेक्षा से आगमानुसार चिकित्सा करें। वह क्यों? इसके उत्तर में कहा जाता है कि - सर्व प्राणियों में दया करना, व्रतधारियों में संतोषवृत्ति को धारण करना, दीन व दुःखी प्राणियों में करुणा बुद्धि को धारण करना एवं दुर्जनों में उपेक्षा या माध्यस्थ वृत्ति को रखना सज्जन मनुष्यों का धर्म है। इस प्रकार आगम का कथन होने से इस आयुर्वेद शास्त्र में भी बहुत से जीवों के नाश के लिए कारणीभूत ऐसे मधुमद्यमांसादि कश्मल आहारों का ग्रहण करना अनेक दोषों के प्रकोप के लिए कारण है एवं समस्त व्याधियों की वृद्धि के लिए निमित्त है। अतएव पशुपति, बृहस्पति, गौतम, अग्निवेश्य, हस्तचारि, वाब्दलि, राजपुत्र, गार्ग्य, भार्गव, भारध्वज, पालकाप्य, विशाल, कौशिकपुत्र, वैदर्भ्य, नर, नारद, कुंभदत्त, विभांडक, हिरण्याक्षक, पाराशर, कौडिन्य, काथायिन, तित्तिर, तैतिल्य, माण्डव्य, शिवि, शिवा, बहुपुत्र, अरिमेद, काश्यप, यज्ञवल्क, मृगशर्म, शाबायन ब्रह्म, प्रजापति, अश्विनि, सुरेन्द्र, धन्वंतरि, आदि ऋषियों ने एवं अन्य मुनियों ने अतिनिंद्य, अभक्ष्य, दुस्सह एवं दुर्गति हेतुक मद्यमांसमधु को दूर से ही निराकरण किया है। इस समय भी हमेशा सर्व शास्त्रकार व सज्जनों के द्वारा एवं अतिकुशल वैद्यों के द्वारा वह त्यक्त होता है, फिर ऐसे निंद्य पदार्थों का ग्रहण किस प्रकार किया जाता है ? अथवा इन ब्रह्मादिक आप्त व मुनिगणों के द्वारा वे मद्यमांसमधु आदि भक्षण किए जाते हैं तो वे आप्त व मुनि किस प्रकार हो सकते हैं ? यदि वे भक्षण नहीं करते हों तो स्वयं भक्षण न करते हुए दूसरों को नरक पतन के निमित्तभूत, निष्करुण ऐसे मांस-भक्षण का उपदेश कैसे देते हैं ? यह परमाश्चर्य की बात है। फिर भी वे मांस भक्षण के लिए उपदेश देते हैं, ऐसा कहें तो वे आप्त कभी नहीं बन सकते हैं। कहा भी है - आगम तो आप्त का वचन है। दोषों का जिन्होंने सर्वथा नाश किया है, उसे आप्त कहते हैं। जिनके दोषों का अंत हुआ है, वे कभी दोषपूर्ण असत्यवचन को नहीं बोल सकते हैं।

इसी प्रकार आप्त के गुण निम्नलिखित प्रकार कहे गए हैं।

उस जगत्पति परमात्मा का अक्षय ज्ञान, वैराग्य, स्थिर ऐश्वर्य एवं धर्म ये चार गुण उसके साथ ही उत्पन्न होने वाले हैं।

इसी प्रकार सनातन धर्म का स्वरूप भी कहा गया है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य व अपरिग्रह ये अत्यन्त कठिनता से प्राप्त करने योग्य हैं एवं सनातन धर्म के मूल हैं।

धर्माचार्य ईश्वर के मत में इस प्रकार कहा है। रज व तम से निर्मुक्त हैं, जो अपने तप व ज्ञान के बल से संयुक्त हैं, जिनका ज्ञान त्रिकाल सम्बन्धी विषयों को ग्रहण करता है, जो निर्मल व अक्षय हैं, वे आप्त कहलाते हैं।

कपिल मुनि का वचन इस प्रकार है। आप्त शिष्ट व ज्ञानी होते हैं। उनका वचन संशय रहित हुआ करता है। वे सदा सत्य वचन ही बोलते हैं। क्योंकि निरोगी व अज्ञानरहित होने से वे असत्य नहीं बोल

सकते हैं।

इस प्रकार यह वैद्यशास्त्र तो आप्तोपदिष्ट है। अतएव आगम है एवं उसे अतींद्रिय पदार्थों के विषय होने के कारण अदृष्ट प्रमाण के नाम से कहा गया है। इसलिए यह शास्त्र प्रमाण है,(हेतु) उसके कथन करने वाले पुरुष (आप्त) प्रमाण होने से। वे भी इसे प्रमाण के रूप से कहते हैं। दूसरी बात यह वैद्यशास्त्र द्वितीय धर्मशास्त्र ही है। अतएव प्रमाणभूत है। इसलिए यह आयुर्वेदशास्त्र अपने पूर्वोपात्तकर्मों से उत्पन्न महाव्याधियों को निर्मूलन करने के लिए प्रायश्चित के रूप में आचरित धर्मशास्त्र है। कहा भी है– बाह्याभ्यंतर क्रिया विशेषों से अपनी आत्मा को शुद्ध करना, मंद कषाय प्रधानी होकर उपवास करना, मैथुन विरति, रसपरित्याग, खल, यूष, यवागू, उष्णोदक, कटु, तिक्त, कषाय, आम्ल, मधुरकाक आक्षमात्र सेवन, मन–वचन–काय का निरोध, स्नेह, छेदनादि क्रिया, महाकायक्लेश कर व्रतचर्यादि के आचरण करने का उपदेश इस शास्त्र में दिया गया है। यही धर्मोपदेश है। ऐसा भी कहा है कि जिनके शरीर पर स्निग्धक्रिया, विरेचन, अनुबासन, आस्थापन, शिरोविरेचन, शिराविद्धन आदि क्रियाओं का प्रयोग किया गया हो, उनको चाहिए कि वे क्रोध, श्रम, मैथुन, दिवस शयन, अधिक बोलना, वाहनारोहण, बहुत देर तक एक स्थान में बैठे रहना, अधिक चलना, शीत का सेवन, अधिक धूप का सेवन, विरुद्ध भोजन, बार–बार भोजन, शरीर के लिए अननुकूल भोजन, अजीर्ण आदि का वे परित्याग करें एवं एक ही स्थान में रहना भी आवश्यक है इत्यादि विस्तार से आगे जाकर कहेंगे इस प्रकार (अन्यत्र) कहा है।

इसी प्रकार कृत्या, विषोद्रिक, वराक्षसोत्थ क्रोध को प्रजाजन धर्म से नाश करते हैं एवं ऐसे क्रोध से लोक में महोपसर्ग उत्पन्न होते हैं। उनके निवारण के लिए शांति, प्रायश्चित, मंगल जप, उपहार, दयादान आदि शुभ प्रवृत्तियाँ करनी चाहिए। इसी प्रकार चरक में भी कहा गया है कि प्राणियों के प्राण के संवर्द्धन करने से यथार्थ अहिंसा होती है। पैतामह में भी कहा है। यथाकाल व्यायाम करना घृतपान..... सर्व प्राणियों के प्रति अद्रोह, से सब आगे के आयुष्य को संरक्षण करने के लिए कारण होते हैं। इसी प्रकार प्राणियों की सर्व क्रिया रूप प्रवृत्ति सुख के लिए हुआ करती है। सुख तो धर्म के बिना कभी प्राप्त नहीं हो सकता है। अतएव सुख चाहने वाले बुद्धिमानों को सबसे पहले धर्म का अनुष्ठान करना चाहिए। इस प्रकार विद्वानों ने कहा है एवं आगमों में भी उसी प्रकार का कथन है।

उज्जयिनी में पृषदान् नाम का राजा था, जिसने कि विनय को उल्लंघन कर व्यर्थ ही गोवध किया। तदनंतर वह अविनय दुर्भूत होकर वह जब यहाँ से च्युत हो गया तो स्वर्ग में सूर्य होकर उत्पन्न हुआ। वहाँ अनेक सुखों में मग्न हुआ। उसके बाद उस क्रूर ने नीचक्रियाप्रिय मनुष्यों में प्रत्यक्ष रूप से हिंसा का प्रचार किया। उसके बाद इस भूमंडल पर लोग इंद्रिय सुखों की इच्छा से यज्ञ में पशु वगैरह की आहुति देते हैं। इस क्रूर कर्म को जो मनुष्य छोड़ते नहीं हैं, उनको अनेक दोष प्राप्त होते हैं। दोषों से आत्मा का नाश होता है। आत्मा के गुणों के या पुण्य कर्म के अभाव में अनेक रोग जो कि अनेक प्रकार की पीड़ा से युक्त होते है, प्राप्त होते हैं, ये रोग प्राणियों के पूर्व जन्मकृत दोषों से या पाप कर्मों से उत्पन्न होते हैं एवं अनेक प्रकार की पीड़ा से युक्त उपसर्ग भी बढ़ते हैं। तब महायश के धारक ब्रह्मदेव ने प्राणियों में शांति स्थापन के लिए

जीवों को उत्तम शास्त्र का उपदेश दिया है।

इसी प्रकार कोई-कोई इस पाप के लिए शांतकर्म करने की इच्छा रखने वाले भूत, वेताल पिशाच आदि दुष्ट देवों को उठाकर प्राणियों का वध करते हैं। परंतु समझ में नहीं आता कि हिंसा के निमित्त से उत्पन्न रोगों को हिंसा जनित मांस किस प्रकार शमन का सकता है? क्योंकि वह समानकोटि में है। (रक्त से दूषित वस्त्र रक्त से ही धोया नहीं जाता है।) इसी प्रकार प्राणियों के कर्म से उत्पन्न रोगों के उपशमन के लिए स्वयं अत्यन्त पापजन्य, निष्ठुर, वधहेतुक मांस का प्रयोग क्यों किया जाता है? इसी प्रकार चरक में भी कहा है।

यह प्राणिमात्र ही कर्मजन्य है। प्राणियों के रोग भी कर्मजन्य है। जिस प्रकार कर्म के बिना रोगों की उत्पत्ति नहीं हो सकती है, उसी प्रकार कर्म के बिना पुरुष की भी उत्पत्ति नहीं हो सकती है। वह मांस पापजन्य व्याधियों का प्रतीकारक नहीं हो सकता है, इस प्रकार निमित्तशास्त्र में (निदानशास्त्र) भी कहा है।

पाप से उत्पन्न होने से, त्रिदोषों के उद्रेक के लिए कारणीभूत होने से, मल(दोषपूर्ण)धातुओं के कारण होने से, रोगों के कारणों की समानता होने से, रोगों के लिए मांस कभी प्रतीकारक नहीं हो सकता।

इसी प्रकार चरक ने भी कहा है।

किसी भी समय प्रत्येक पदार्थ का सामान्य धर्म उसकी वृद्धि के लिए कारण पड़ता है और विशेष धर्म उसके क्षय के लिए कारण पड़ता है एवं सामान्य व विशेष दोनों की प्रवृत्ति वृद्धि-हानि दोनों के लिए कारण हो जाती है। अर्थात् सामान्य विशेष की प्रवृत्ति का सम्बन्ध शरीर के साथ रहा करता है।

इस प्रकार सामान्य विशेषात्मक विधि-निषेध से युक्त सर्व पदार्थ है। अतएव वैद्य शास्त्र आरोग्य निमित्त ग्रहण किया जाता है। वह आरोग्य धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के लिए साधक होता है। क्योंकि रोगी धर्मादिकों को साधन नहीं कर सकते। कहा भी है - अनारोग्ययुक्त मनुष्य धीर वीर होने पर भी वह धर्म का आचरण नहीं कर सकता, वह अर्थ का उपार्जन नहीं कर सकता, भोगों को भोग नहीं सकता, मोक्ष में जा नहीं सकता, उसमें चतुर्वर्ग की सिद्धि ही नहीं हो सकती और न आरोग्य शास्त्र का अध्ययन ही उससे हो सकता है।

इस प्रकार चतुर्वर्ग के नाश होने पर मनुष्य का अस्तित्त्व का ही नाश होता है। अर्थात् वह किसी काम का नहीं है। इसलिए समधातु आदि आरोग्य, कांति, शक्ति, बल ही जिस स्वास्थ्य का लक्षण है और जो चतुर्वर्ग की प्राप्ति के लिए साधनभूत है, उनका कथन धर्मार्थ मोक्ष को साधन करने वाले, सर्वज्ञ भाषित, अनेक लोक के लिए हितकारक अतएव धर्मशास्त्र रूपी इस वैद्यशास्त्र प्राणावाय में होने पर भी उसे छोड़कर उससे विपरीत वृत्ति को धारण करने वाले अविरति कठिनता से कठोर व निष्ठुर हृदय को धारण करने वाले, वानर उरगादि (बंदर,सर्प) को भक्षण करने वाले विश्वामित्र, काश्यपपुत्र आदि संन्यासियों द्वारा एवं सर्व भक्षक आजकल के अन्य दुष्ट शास्त्रकार पांड्य, चरक, भिक्षु, तापस आदि मांसलोलुपों द्वारा अत्येक शत्रु अन्नपान विधि व विविध धान्य, द्विदल, कंदमूल, फल, पत्र व शाक

वर्गाधिकार में एवं द्रवद्रव्य विधान में जिस प्रकार विगतमलकलंक (निर्मल) जल से भरे हुए सरोवर के तट में चांडाल, मातंग आदि दुष्टजन, सज्जनों के प्रवेश को रोकने के लिए गोशृंगादि को डाल देते हैं, उसी प्रकार जघन्य निष्ठुर हृदय दुष्टजन एवं सर्वज्ञप्रणीत प्राणावाय महागम से निकले हुए वैद्यक रूपी धर्मशास्त्र के चोर, पूर्वापर विरुद्ध दोषों से दुष्ट, अतिकुटिल मति युक्त, मांसभोजनलंपट ऐसे दुर्जनों के द्वारा उस सद्धर्म के चिह्न को छिपाने के लिए इस वैद्यशास्त्र में नीचजनोचित अत्यन्त कष्टमय मधु, मांस, मद्य सेवन का विधान बाद में मिल गया है, इस प्रकार निश्चय किया जाता है। वह पूर्वापर विरोध दोष से दुष्ट क्यों है, इसका उत्तर आचार्य देते हैं।

वैद्यशास्त्र के आदि में ही मूल तंत्रकार परमर्षि, पात्रापात्रविवेकज्ञ, पूर्वाचार्यों ने कर्तव्याकर्तव्य धर्म से युक्त इस चिकित्सा को योग्यों के प्रति ही करनी चाहिए, अयोग्यों के प्रति नहीं, इस प्रकार विधि-निषेधात्मक शास्त्र को कहा है।

द्विज साधु व बांधवों के समान रहने वाले मित्र आदि सज्जनों की चिकित्सा को अपने आत्मीय बांधवों के समान समझकर अपने औषधों से करनी चाहिए। वह कर्तव्य प्रशस्तहै। परंतु भिल्ल, शिकारी, पतित आदि पापकर्मों को करने वालों के प्रति उपकार नहीं करना चाहिए अर्थात् चिकित्सा नहीं करनी चाहिए। कारण कि वे उस उपकार का उपयोग पापकर्म के प्रति करते हैं। इस प्रकार इस वैद्य विद्या की उन्नति होती है एवं मित्र, यश धर्म, अर्थ कामादि की प्राप्ति होती है, इस प्रकार पहले कहकर बाद में मांसादि सेवन का विधान आचार्य स्वयं कैसे कर सकते है ? यही पूर्वापर विरोध है। इसलिए अन्य दुरात्माओं ने ही पीछे से उन ग्रंथों में उसे मिलाया इस प्रकार निश्चय करना चाहिए।

अथवा वैद्यशास्त्रों में मांस का उपयोग ही नहीं बन सकता है। क्योंकि वह मांस, अन्न, औषध व रसायनों से अत्यन्त भिन्न है, क्यों ? क्योंकि आपके आगमों में कहा है कि ब्रह्मादि देव भी लोक के आहार की स्थिति व उत्पत्ति के लिए कारण हैं। ब्रह्मादियों के मत से आहार के कार्य में मांस का उपयोग अन्न के रूप में कभी नहीं हो सकता है और न वह उचित ही है। क्योंकि आहारक्रम की वृद्धि में क्षीर क्षीरान्न, अन्न, परमान्न इत्यादि के क्रम से वृद्धि बतलाई गई है। मांस का उल्लेख उसमें नहीं है। इसी प्रकार महापाठ में बालकों को अन्नदान आहार विधान के प्रकरण में पहले छह महिने लघु (हल्का)अन्न व दूध का भोजन कराना चाहिए, इस प्रकार कहा है। मांस तो अन्न कभी नहीं हो सकता है। क्योंकि दूध के साथ उसका अत्यन्त विरोध है। उसी प्रकार कहा भी है - मांस, मछली, गुड़, उड़द से बनी हुई मिठाई के साथ दूध का सेवन करें तो वह कुष्ठ रोग को उत्पन्न करता है। शाक जंबू फल से बने हुए मदिरा के साथ दूध का उपयोग करें तो उस मूर्ख को वह शीघ्र ही मार डालता है।

अथवा लोकबाह्य, अविशिष्ट, वीभत्स, शास्त्र वर्जित ऐसे मांस को दूध के साथ नहीं खाना चाहिए। उससे मनुष्य सुखी कभी नहीं हो सकता है। इस प्रकार ब्रह्म ऋषि द्वारा कथित लोक के आहार का विधान कहा गया। सर्व प्राणियों का आहार विधान इस प्रकार कहा गया है।

कुयोनिज (नीच जात्युत्पन्न) जीवों को मधु, मांस व खराब अन्न भोजन है। अन्य प्राणियों को अन्न

भोजन है। चक्रवर्ती को कल्याणकान्न भोजन है एवं स्वर्ग व भोगभूमि स्थित जीवों को अमृताहार है।

पितृसंतर्पण के लिए भी मांस का उपयोग नहीं हो सकता है। क्या कारण है? इसके उत्तर में ग्रंथकार कहते हैं।

वे योगस्थित ज्ञानी पुरुष उत्तम स्थान में जाकर समता को प्राप्त कर लेते हैं। उनमें कोई स्वर्ग में जाकर जन्म लेते हैं। और कोई पवित्र मानवीय देह को प्राप्त कर लेते हैं। वहां पर मांसादि कदन्नों को भक्षण करने का विधान नहीं है।

इसी प्रकार मांस औषध भी नहीं हो सकता है। क्योंकि औषधि के लिए उपयुक्त द्रव्यसंग्रह विज्ञायक अध्याय में मांस का ग्रहण नहीं किया गया है। अथवा प्रकीर्णक औषधों में भी मांस को औषधि के रूप में ग्रहण नहीं किया है। प्रकीर्णक औषध संशमन व संशोधन के भेद से दो प्रकार कहे गए हैं। वह मांस संशोधन औषध तो नहीं हो सकता है। क्योंकि ऊर्ध्वभाग, अधोभाग व उभय भाग से संशोधन करने का सामर्थ्य उस मांस में नहीं है। संशमन भी मांस नहीं हो सकता है। उसमें कोई भी खास विशिष्ट रस न होने से। जिस पदार्थ में खास विशिष्ट रस रहता है वही संशमन के लिए उपयोगी है। जैसे मधुर, आम्ल व लवणरस वातहर है। मधुर, तिक्त व कषायरस पित्तहर है। कटु, तिक्त व कषायरस कफहर है। अथवा मांस लवण रस भी नहीं है। क्योंकि उसे लवण संयोग कर ही भक्षण करना पड़ता है। आम्ल रस भी वह नहीं है क्योंकि शरीरस्थ आम्ल का वह पाचन कर देता है अर्थात् अम्ल विरोधी है। इसी प्रकार विशिष्ट संस्कार योग्य होने से कटु तिक्त कषायरस ही उसमें नहीं होते एवं मांस मधुर भी नहीं हैं। क्योंकि मधुर का तो लवण के साथ अत्यन्त विरोध है। मांस का उपयोग तो लवण के साथ किया जाता है। अथवा महापाठ में मांसपाक भी कहा गया है। तेल, गोरस, धान्याम्ल, फलाम्ल व कटुक रस के साथ संस्कृत एवं घृतसहित मांस बलकर है, रुचिकर एवं शरीरपोषक है।

इस प्रकार अन्य द्रव्यों के संयोग से ही मांस में बलकर व पोषक शक्ति है, ऐसा कहेंगे तो हम (अन्य)भी कह सकते हैं कि अन्य द्रव्यों में भी संस्कार विशेष से ही बलकरत्व, रुचिकरत्व व पोषकत्व आदि गुण देखे गए हैं। इसलिए मांस ही उन पदार्थों से अच्छा है, ऐसा कहना ठीक नहीं है। लवण, घृत व संभार संस्कार से रहित मांस का दूषण भी आपके यहाँ सुना जाता है। जैसे-शुद्धमास, वृद्धस्त्रियों का सेवन, बालार्ककिरण, तरुणदधी, प्रत्यूषकाल का मैथुन व प्रत्यूषकाल की निद्रा ये छह बातें शीघ्र ही मनुष्य के प्राणों को नाश करने वाली हैं।

अथवा सर्व औषध दूध के साथ उपयोग करने पर ही वीर्यवान् (रोगप्रतिबन्धक) हो सकते हैं। मधु, घृत, पिप्पल व वायबिडंग को छोड़कर, अर्थात् इनके साथ दूध का संयोग होना चाहिए ऐसा कोई नियम नहीं है। इसलिए औषधियों के साथ क्षीर के उपयोग के लिए जो कहा है वह मांस के निराकरण के लिए ही कहा है। इसीलिए कहा है कि-प्रशस्त देश में उत्पन्न, प्रशस्त काल में उद्धृत, अल्पमात्र में ग्रहण किया हुआ, मनोहर, गंधवर्ण व रस से संयुक्त, दोषनाशक, अधिक बीमारी में भी अम्लानिकर एवं योग्यकाल व प्रमाण को देखकर दिया हुआ औषध ही फलकारी होता है। इत्यादि लक्षण मास में न होने

से, उसमें कालमात्रादिक का नियम नहीं बन सकता है। अर्थात् यदि मांस ग्राह्य होता तो उसकी मात्रा का भी कथन आचार्य करते या उसको ग्रहण करने का काल इत्यादि का भी कथन करते। परन्तु उस प्रकार उसका कथन नहीं किया है। परन्तु अन्य पदार्थों की मात्रा व काल आदि के सम्बन्ध में कथन मिलता है। जैसे - द्रव को एक कुडुब प्रमाण (32 तोले)ग्रहण करना चाहिए। तेल आदि स्निग्ध पदार्थ षोडशिका (पल, 8 तोले) प्रमाण से ग्रहण करना चाहिए और चूर्ण को बिडालपदक (प्रमाण विशेष)प्रमाण से ग्रहण करना चाहिए एवं कल्क को अक्षप्रमाण (2 तोले) ग्रहण करना चाहिए।

इस प्रकार कहा है, परन्तु इस में मांस का पाठ नहीं है। अतएव मांस औषध नहीं हो सकता है। सभी औषधों को ग्रहण करने का काल भी बतलाया गया है। जैसे कि प्रातःकाल में ग्रहण करना। भोजन से पहले, भोजन के बाद, भोजन के बीच में, भोजनांतर में, भोजन के साथ, मुद्ग के साथ, बार-बार, ग्रास के साथ, ग्रासांतर में, इस प्रकार औषध ग्रहण करने के दस काल बतलाये गए हैं। परन्तु इनमें खासकर उत्तर काल में मांस का सेवन करना चाहिए, इस प्रकार नहीं कहा है, क्योंकि उसके लिए कोई काल नियत नहीं है। अतएव वह औषध नहीं हो सकता है। इस प्रकार कहा भी है - लोक में जितने भर भी औषध विशेष है उनका ग्रहण द्रव्यसंग्रह के प्रकरण में, द्रव्यसंग्रहोचित क्षेत्रकालादिक में एवं द्रव्योपार्जन के लिए कारणीभूत संद्गधिका प्रकरण में किया गया है। परन्तु उन प्रकरणों में मांस का ग्रहण नहीं है। जहाँ शब्द से भी उसका उल्लेख नहीं है वह औषध किस प्रकार हो सकता है ?

इसी प्रकार मांस रसायन भी नहीं हो सकता है। क्योंकि रसायनाधिकार में उसका पाठ नहीं है। क्षीर का विरोधी होने से, मांस के जीर्ण होने पर दूध, घृत व अन्न का सेवन करना चाहिए, ऐसा आहार विधान में किया गया है।

अथवा बहुत से मांसभक्षियों को देखकर कालदोष से वैद्य भी मांस-भक्षक बन गए। अतएव स्वार्थ से उन्होंने अन्नपान विधि व शाकवर्गाधिकार में मूलतंत्र बाह्य मांस को घुसेड़ दिया है। कहा भी है- इस प्रकार आयुर्वेद शास्त्र में शरीर में अभयोत्पन्न क्रियाओं के प्रयोग में, चतुष्कर्म के प्रयोग में, दोषों के संचय होने पर, भैषज्यकर्म में, रोगोत्पादक साठ प्रकार के भेदों में और औषध वीर्य के भेदों में मांस को प्रतिकार के रूप में कहीं कथन नहीं है अर्थात् यह किसी भी दोष का प्रतिकारक नहीं हो सकता है। फि र इसका कथन शाक पदार्थों में क्यों कर हो सकता है?

इस प्रकार समस्त अंगशास्त्रों से बहिर्भूत मांस अन्न औषध व रसायन भी नहीं हो सकता है, इत्यादि प्रकार से सदा शास्त्रों में निषिद्ध होने पर भी अतिलोलुपी व स्वयं अज्ञानी, स्वयं मांस खाने की अभिलाषा से कहते हैं कि ''मांस, मांस से बढ़ा करता है''। अथवा ठीक ही कहा है कि मांस के खाने पर मांस बढ़ता है, इस प्रकार सम्बन्ध से अर्थ ग्रहण करना चाहिए। अब उसी अर्थ के वक्तव्य पर विचार करेंगे।

क्या उस मांस भक्षण के अनन्तर शरीर में मांस के स्वरूप में ही मांस की वृद्धि होती है अथवा रसादिक्रम से वृद्धि होती है, इस प्रकार दो विकल्प उठाये जाते हैं। मांस, मांस के स्वरूप में वृद्धि को नहीं

करता है, क्योंकि भीत व भृत्पिंड के समान मांस व शरीर में परस्पर अभिवर्धन सम्बन्ध नहीं है। ऐसा होने पर अपसिद्धान्त दोष का भी प्रसंग आवेगा। अर्थात् सिद्धान्त विरुद्ध विषय होगा। इसलिए रसादिक्रम से ही शरीराभि वृद्धि होती है। मांस स्वरूप से नहीं। इसी प्रकार औषध साधन भी कहा गया है। पंचभौतिक, चतुर्विधाहार, षड्स, द्विविध अथवा अष्टविध वीर्य युक्त, अनेक गुण युक्त, पदार्थ अच्छी तरह शरीर में परिणत होकर जो उसका परम सूक्ष्मतर सार है, उसे रस कहते हैं। क्षारपाणि ने भी कहा है- रस होकर उसका द्वैधीभाव स्तप्यक्षीर व रक्त के रूप में होता है। रक्त होकर उसका द्वैधीभाव रज व मांस के रूप में होता है। मांस होकर उसका द्वैधीभाव स्नायु व हड्डी के रूप में होता है। हड्डी होकर उसका द्वैधीभाव वसा व मज्जा के रूप में होता है। मज्जा होकर उसका द्वैधीभाव मज्जा के ही रूप में व शुक्र के रूप में होता है। शुक्र से गर्भ की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार कहा भी है - रस से रक्त की उत्पत्ति होती है। उससे मांस बनता है। मांस से भेद बनता है। मेद से हड्डी से मज्जा बनता है। मज्जा से शुक्र व उससे संतान की उत्पत्ति होती है।

इस प्रकार धातु उपधातुओं की निष्पत्ति विशिष्ट तत्त्वदर्शी वैद्य व अन्य अतिकुशल रस वेदी आप्तों के द्वारा कही गई है। अथवा मांस भक्षकों के शरीर में ही मांस मांसाभिवृद्धि के लिए कारण है, अन्य जीवों के शरीर में नहीं, ऐसा कहें तो यह घटता नहीं। कारण कि मांस को भक्षण नहीं करने वाले ऋषिजन व अन्य चारित्रशील पुरुष विशेषों के स्निग्ध व स्थूल शरीर देखे जाते हैं। साथ ही वे अत्यन्त बलशाली व पुत्रवान् देखे जाते हैं। विपरीत में कोई मांस भक्षक भी अत्यन्त कृश, नपुंसक, दुर्बल जठराग्नि वाले, रोगग्रस्त शरीर वाले, क्षीण शरीर वाले, क्षयपीड़ित व संतान रहित भी देखे जाते हैं। अतः यह अनैकांतिकदोष से दूषित है। इसी प्रकार अन्य तिर्यंच प्राणी जंगल में रहने वाले, मधु, मद्य, मांसादिक आहारों को ग्रहण नहीं करने वाले गज, गवय, बैल, चित्तीदार हिरन, बकरा, हिरन, रुरु (मृग विशेष) चमरमृग एवं वराहादि, स्थलचर, जलचर, कुलगिरिचर, तरुचर व वनचर प्राणी तृण गुल्म लता व वृक्षों के पत्ते वगैरह को खाने वाले स्थिर व मजबूत शरीर को धारण करते हुए बल वीर्य पुष्टि आदि से युक्त, बहुपुत्र व कलत्र से युक्त अत्यधिक कामी व मैथुन सेवन करने वाले देखे जाते है। विपरीत में कोई अत्याधिक- केवल मांस खाने वाले सिंह, व्याघ्र, तरक्षु (काँटे से युक्त शरीर वाले प्राणि विशेष) द्विपि, मार्जर आदि धातुरहित, संतानरहित होकर वर्ष में एकाध बार मैथुन सेवन करने वाले होते हैं। इस प्रकार निमि ने भी कहा है।

अभक्ष्य मांस को भक्षण करने वाले सर्व जंगली प्राणी एक वर्ष में एक बार मैथुन सेवन करने वाले होते हैं। क्योंकि उनके शरीर में धातु पुष्ट नहीं रहता है। इस प्रकार मांसभक्षी मृगादिकों के शरीर में वृष्यत्व (पुष्टि) नहीं रहता है, यह सिद्ध हुआ।

यहाँ पर कोई-कोई इस विचार से कि बकरे, हरिण, वराहादि प्राणियों में अत्यधिक मैथुन सेवन देखा जाता है, अतएव उनके मांस को खाने से भी उनके समान ही अत्यधिक धातु युक्त शरीर बनता है, संतोष के साथ मांस को खाते हुए उपहास्यता को प्राप्त होते हैं, क्योंकि बकरों ने बकरों को नहीं खाया

है, हरिण ने हरिण को नहीं खाया है एवं वराहों ने वराह को खाकर पौष्टिकता को प्राप्त नहीं की है। यही अपहास्य कारण है। छागादिक प्राणी छागादिकों को खाकर ही पुष्ट होते हुए न देखे गए हैं और न वह इष्ट ही है। परन्तु वे छागादिक प्राणी अनेक प्रकार के वृक्ष, घास,गुल्म, पौधे, लता रूपी औषधों को सेवन करके ही अपने रोगों को उपशांत कर लेते हैं एवं संतुष्ट होकर, शुद्ध धातु युक्त होकर, पुष्ट रहते हुए, बहु संतान वाले देखे जाते हैं। इसलिए तृणभक्षक प्राणियों के मल, मूत्र, दूध आदिक औषधि के उपयोग में ग्रहण किए जाते हैं। परन्तु मांसभक्षक प्राणियों के ग्रहण नहीं किए जाते हैं। इसी प्रकार कहा भी है–बकरी, मेंढी, गाय, भैंस, घोड़ी, हथिनी, गधैया, ऊंठनी इस प्रकार आठ जाति के प्राणियों का दूध औषधि के कार्य में कार्यकारी होते हैं। इसीलिए कहा भी है कि दूध आज (बकरी का)औंष्ठ(ऊंठनी का) गव्य, माहिष, आविक, आश्वीय, गज संबंधी, मृग्य इस प्रकार आठ प्रकार से विभक्त है। इसी प्रकार कहा भी है।

मांस अभक्ष्य ही है, क्योंकि वह मांसभक्षक प्राणियों के शरीर में दूषित होता है। अतएव उन मांसभक्षक प्राणियों के शरीर का मांस, दूध, मल, मूत्र आदि को छोड़कर तृणभक्षक प्राणियों का मल, मूत्र, दूध आदि जो आठ प्रकार की संख्या से जो कहे गए हैं, उन्हीं का ग्रहण औषधों में करने के लिए समस्त शास्त्रों का कथन है।

इस प्रकार अनेक हेतु व दृष्टान्तों की परम्परा से मांस का कथन पूर्वापर विरोध दोष से दूषित है, अत्यन्त कष्टदायक, अत्यन्त नीचतम, घृणा के योग्य व कृमि जनन के लिए उत्पत्ति स्थान व मूलतंत्र के व्याघातक है। अतएव उसका निराकरण किया गया है। परन्तु आजकल के वैद्य ऐसे पूर्वापर विरोध दोष से दुष्ट मांस को छोड़ने में असमर्थ हैं। पूर्वाचार्यों के ग्रंथों में न रहने पर भी बीच के ही क्षुद्र हृदयों के द्वारा यह बाद में मनुष्य, शिष्टों के द्वारा त्याज्य मधु, मद्य, मांस को सदा भक्षण करने की अभिलाषा करते हैं। साथ ही दोष को आच्छादन करने के लिए एवं अन्य सज्जनों के चित्त को संतुष्ट करने के लिए हमेशा इस प्रकार कहते हैं कि बहुसम्मत वैद्यशास्त्र में मांसभक्षण करने के लिए मांसाधिकार का निर्माण नहीं किया है। अपितु स्थावर जंगम पार्थिवादि द्रव्यों के रसवीर्य विपाक की शक्ति इस प्रकार की है, यह सूचित करने के लिए मांस का गुण–दोष विस्तार के साथ विचार किया गया है। अतएव दोष नहीं है। इसके उत्तर में आचार्य कहते हैं कि यह सब मांसभक्षण के दोष को ढकने के लिए प्रयुक्त वचन समूह मिथ्यात्व जाल से कलंकित होकर देखा जाता है। क्यों ? स्ववचन से ही विरोध होने से। कारण कि आप लोगों ने मुक्त कंठ से स्पष्ट प्रतिपादन किया है कि ''वैद्य को उचित है कि वह पहले स्वयं मांस को खाकर बाद में दूसरों को उसके गुणदोष का प्रतिपादन करें''। इसी प्रकार कहा भी है – धान्य, मांस, फल, कंद व शाक आदि पदार्थों के गुण–दोष को कहने के पहले स्वतः वैद्य उनका स्वाद ले लेवें। बाद में उनका गुण दोष विचार करें।

मांस भक्षक प्राणियों के मांस को मनुष्य विधि प्रकार खावें। विशुद्ध हृदय वाले उस मनुष्य का मांस, मांस से ही बढ़ता है। इसी प्रकार चरक में कहा है। शरीर के लिए पोषक ऐसे आनूपजल व मांस को उपयोग करना चाहिए जलाशय प्राणियों के मांस को विशेषकर खाना चाहिए। तथा मदिरा, सीधु (मद्य

विशेष) व मधु को भी पीना चाहिए। इसी प्रकार चरक में शोष चिकित्सा प्रकरण में भी कहा है – शोषरोग गृहीत, प्राण के विषय में संदेहवर्ति और संन्यास के योग्य, अधोगत नेतृक रोगी होने पर भी अनंत संसार के प्रतिपक्ष के अवलंबन करने की इच्छा से साक्षात् ऋषियों को भी मांसभक्षण का समर्थन किया है।

शोष रोगियों के लिए मांसभक्षक प्राणियों के मांसवर्धक मांस को विधि प्रकार सेवन करावें। उन्हें मोर के मांस को खिलावें। बर्हि(मयूर) शब्द से और भी गृद्ध, उल्लू, नीलकंठ आदि के मांस का भी ग्रहण कर उनको विधि पूर्वक तैयार कराकर देवें। इसी प्रकार तीतर के मांस को भी खिलावें। तित्तिर शब्द से कौवे के मांस को भी ग्रहण करना चाहिए। वर्मि मत्स्य (मछली) के मांस को भी देवें। वर्मि (मत्स्य भेद) शब्द से सर्पों का भी ग्रहण करना चाहिए। मत्स्य के अंत्रको भी खिलाना चाहिए। इसी प्रकार गंडूपद (कीट विशेष) को भी खाने देना चाहिए। इसी प्रकार खरगोश के मांस को भी देना चाहिए। शश (खरगोश)शब्द से सियार, स्थूल नौले , बिल्ली, सियार के बच्चे आदि के मांस का ग्रहण करना चाहिए। इसी प्रकार मांसभक्षक प्राणियों के मांस को भी उस रोगी को खिलाना चाहिए। इससे सिंह, रीछ, तरक्षू, (कांटेदार शरीर वाला जंगली प्राणि विशेष) व्याघ्र आदि के मांस का एवं हाथी गेंडा आदि प्राणियों के मांस का भी प्रयोग करना चाहिए। जिससे उस रोगी के शरीर में मांस की वृद्धि होती है। यदि किसी को मांस खाने का अभ्यास न हो एवं उससे घृणा करता हो तो उसके सामने मांस की प्रशंसा कर उसे मांस के प्रति प्रेम उत्पन्न करना चाहिए, जिससे वह रोगी उस मांस को सुख पूर्वक खा सकेगा। कदाचित् उसे मालूम हो जाये कि यह कौवा, बिल्ली, गीदड़ आदि का मांस है, पहले तो वह घृणा से खायेगा ही नहीं या किसी तरह जबरदस्ती खावे तो खाते ही वमन करेगा। उसके हृदय में घृणा उत्पन्न न हो इसके लिए अन्य प्राणियों के मांस का नाम कहकर देना चाहिए। इत्यादि प्रकार से मांस भक्षण का पोषण किया गया है। 1. इस प्रकार अनेक विधि से शास्त्रोतरों में मधु, मद्य व मांससदृश निंद्य पदार्थों के सेवन का समर्थन किया गया है, तब उसे किस प्रकार आच्छादन कर सकते हैं ?।

अब कोई यहाँ पर ऐसी शंका करते हैं कि वृक्ष, गुल्म, लता, कंदमूल, फल, पत्र आदि औषध भी जीव शरीर होने से मांस ही हैं। फिर उनका भक्षण क्यों किया जाता है ? इसके उत्तर में आचार्य कहते हैं कि – मांस तो जीव शरीर ही है। परंतु जीव शरीर सबके सब मांस ही होना चाहिए ऐसा कोई नियम नहीं है। वह मांस हो भी सकता है। जिस प्रकार निंब तो वृक्ष है, परंतु वृक्ष सभी निंब हों ऐसा हो नहीं सकता। इसी प्रकार मांस जीव शरीर होने पर भी जीव शरीर मांस ही होना चाहिए, ऐसा नियम नहीं हो सकता है।

इस प्रकार पदार्थों का धर्म व्याप्य–व्यापक रूप से मौजूद है। व्याप्य की सत्ता जहाँ पर रहेगी वहाँ व्यापक की सत्ता अवश्य होगा। परंतु व्यापक के सद्भाव में व्याप्य होना ही चाहिए ऐसा कोई नियम नहीं है। जैसे शिंशपा व वृक्ष का सम्बन्ध है। जहाँ–जहाँ शिंशपात्व है वहाँ–वहाँ पर वृक्षत्व है। परंतु जहाँ–जहाँ वृक्षत्व है वहाँ–वहाँ पर शिंशपात्व होना चाहिए ऐसा कोई नियम नहीं है। इस कारण से मांस जीव शरीर होने पर भी जीव शरीर मांस नहीं हो सकेगा, इत्यादि प्रकार से लोक में शुद्धाशुद्ध, योग्यायोग्य, भोग्याभोग्य,

भक्ष्याभक्ष्य, पेयापेय, गम्यागम्य आदि लोकव्यवहार होते हैं।

नाम से नारी (स्त्री) इस प्रकार की सामान्य संज्ञा से युक्त होने पर भी भगिनी और भार्या में एक सेव्या है। दूसरी सेव्या नहीं है। इसी प्रकार अन्न व मांस दोनों जीव शरीर सामान्य होने पर भी एक सेव्य है और एक सेव्य नहीं है।

इसी प्रकार लौकिक और पारमार्थिक विषयों को जानने वाले विशेषज्ञ पूर्वाचार्यों ने लोक में हिताहित प्राप्ति परिहार रूपी कर्तव्य सिद्धि का प्रतिपादन किया है। यदि यह बात न हो तो जिस प्रकार धान्य, वैदल, मूल, फल, पुष्प पत्रादिक स्थावर द्रव्यों को देवता पूजन के योग्य, ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्यादिक विशिष्ट पुरुषों के उपभोग के लिए योग्य, विधि रूप अस्पृश्य रज व शुक्र से उत्पन्न धातुमल मूत्रादि शरीर दोष से रहित, विशुद्ध, अविरुद्ध,पापरहित, निर्दोष, निर्मल, निरूपम, सुगंधी, सुरूप, सुक्षेत्रज आदि रूप से कहा है मांस को भी उसी प्रकार कहना चाहिए। सत्यधर्मनिष्ठ वैद्य उस प्रकार कह नहीं सकता है। इस प्रकार स्थावर द्रव्यों को मांस के नाम से कहने वाले वैद्य के लिए प्रत्यक्ष विरोध दोष आ जावेगा। साथ ही स्ववचन विरोध, आगम विरोध, लोकविरोधादि समस्त विरोध दोष रूपी अनिष्ट पाषाण वृष्टि प्रलय वृष्टि के समान उसके मस्तक पर तीक्ष्ण शस्त्रधारा के समान पड़ते हैं। उस भय से मांस को इस प्रकार नहीं है, ऐसा कथन किया जाता है।

परंतु जीव शरीर व्याघात निमित्त होने से स्थावरात्मक पाप निमित्त औषधि का उपयोग आप किस प्रकार करते हैं ? इस प्रकार पूछने पर आचार्य उत्तर देते हैं कि ठीक ही कहा है कि जीवों के घात के लिए किए जाने वाला कार्य पापहेतु है, इसमें कौन संदेह के साथ बोल सकता है, क्योंकि धर्म तो अहिंसा लक्षण है, वह प्राणियों को न मारने से होता है। यहाँ पर धर्माधर्म विकल्प चार प्रकार से होता है। पाप का निमित्त पाप, धर्म निमित्त पाप, पाप निमित्त धर्म, धर्म निमित्त धर्म, इस प्रकार परस्पर अन्योन्य सम्बन्ध से चार प्रकार से विभक्त होते हैं एवं सकाम भावना व निष्काम भावना से एवं लौकिक व लोकोत्तर रूप से किए हुए धर्म का भी दो प्रकार है। लौकिक व्यापार रूपी देवायतन, देवपूजा, गुरुपूजा, ब्राह्मणपूजा आदि के लिए निष्काम भावना से कृत पाप धर्माभिवृद्धि के लिए ही कारण होता है। कहा भी है –पूज्य जिनेन्द्र की पूजा करने के लिए मंदिर बांधने, सामग्री धोने आदि आरम्भ में लगने वाले पाप का लेश पुण्य समुद्र के सामने दोष को उत्पन्न करने के लिए समर्थ नहीं है। जिस प्रकार शीतामृत समुद्र में विष का एक कण उसको दूषित करने के लिए समर्थ नहीं हो सकता है, उसी प्रकार पुण्य कार्य के लिए किए हुए अल्प पाप से विशेष हानि नहीं हो सकती है। इसी प्रकार द्विज, साधु व मुनिगण आदि महापुरुषों की चिकित्सा के लिए करुणा के साथ अर्चना कर लिया हुआ स्थावर औषध पुण्य के लिए ही कारण होता है। पैतामह में भी कहा है – उत्तर दिशा की ओर गए हुए वृक्ष के मूल को अर्चन कर उसे लाना चाहिए एवं पूर्व, दक्षिण व पश्चिम दिशा की ओर झुके हुए पत्र, फल व पुष्पों को ग्रहण करना चाहिए।

इस प्रकार करुणा के साथ औषधि को ग्रहण करने का विधान जो किया गया है, वह प्राणियों के प्रति अनुग्रह के लिए है। अतएव उन वृक्षादिकों को मूल से नाश नहीं करना चाहिए। अथवा तृण, गुल्म,

लता, वृक्ष आदि समस्त प्राणी, पशु, ब्राह्मण आदि का शिरोच्छेदन से उत्पन्न पाप, सभी समान नहीं हो सकते। अतएव उसके लिए प्रायश्चित भी भिन्न-भिन्न प्रकार के कहे गए हैं। प्रायश्चित्त का अर्थ आचार्यों ने इस प्रकार बताया है कि -प्रायः नाम लोक का है अर्थात् संसार के मनुष्यों को प्रायः के नाम से कहते हैं। चित्त नाम उनके मन का है। उस लोक (प्राय) के चित्त से ग्रहण होने वाला जो धर्म है, उसे प्रायश्चित कहते हैं। कहा भी है - प्रायश्चित्त के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के आत्म परिणामों की मृदुता से किए हुए पापों में क्रमशः पाद, अर्ध, त्रयांश और पूर्ण रूप में नाश होते हैं। इसी प्रकार पादकृच्छ् प्रायश्चित्त में एक भुक्तादिक के अनुष्ठान का उपदेश है।

इसी प्रकार वह सभी दुष्कृत मेरे मिथ्या हों, इत्यादि आलोचना, प्रतिक्रमणात्मक शब्दों से भी पापों का शमन होता है, इस प्रकार सिद्धान्त का कथन है। अथवा साधुजनों की चिकित्सा प्रकरण में कहा गया हैकि सुगंध द्रव्य की दुकानों में मिलने वाले सुगंध द्रव्य विशेष, नाना द्वीपान्तरों में उत्पन्न, अनेक प्रकार के रसवीर्य विपाक-प्रधान, सुप्रासुक, सुरूप, सुस्वाद्य, सुगंध युक्त, समस्त गुणों से युक्त, ताजे व निर्मल, संतर्पण गुण से युक्त औषधों से साधुजनों की चिकित्सा करनी चाहिए। यदि उस प्रकार के औषध न मिले कृष्ण प्रदेशों में उत्पन्न, हलमुख से उत्पाटित अत्यधिक शुष्क नहीं, सर्व ऋतुओं में सर्व योग्य औषधियों को यथालाभ संग्रह करना चाहिए। उसका भी लाभ न होने पर जिस की सचित्तता दूर की जा चुकी है, ऐसे प्रत्येक साधारणादि भेद कर्मों के अनुसार शरीर विभाग पर विचार कर शुद्ध प्रासुक औषधियों को ग्रहण कर साधुओं की चिकित्सा साधुजन ही करें। इस प्रकार कल्प व्यवहार में कहा गया है। साधुजनों की चिकित्सा प्रासुक शुद्ध द्रव्यों के द्वारा योगनिष्ठ साधुजन ही ठीक तरह से कर सकते हैं। यदि चिकित्सक साधु न मिले तो श्रावक से चिकित्सा करावें। यदि वह भी न मिले तो मिथ्यादृष्टि वैद्य को सन्मान, दान, आदरातिशय, मंत्र, औषध विद्यादिक प्रदान कर संतोषित करें और उससे चिकित्सा करावें। क्योंकि साधुजन सर्वथा संरक्षण करने योग्य हैं। अतएव उनके सुख के लिए अर्थात् रोगादिक के निवारण के लिए सदा चिंता करनी चाहिए, क्योंकि वे कर्मक्षय करने के लिए उद्यत हैं। अतएव उनके मार्ग में निर्विघ्नता को उपस्थित करना आवश्यक है। वे साधुगण शरीर के निरोग होने पर ही अपने कर्मक्षयरूपी संयम मार्ग में प्रवृत्त कर सकते हैं।

इसी प्रकार चरक ने भी अपने रोग और वैद्य सम्बन्धी अध्याय में प्रतिपादन किया है।

जो मनुष्य वैद्य होकर कर्मसिद्धि (चिकित्सा में सफलता)अर्थसिद्धि (द्रव्य-लाभ) इहलोक में कीर्ति और परलोक में स्वर्ग की अपेक्षा करता हो, उसे उचित है कि वह गुरूपदेश के अनुसार चलने के लिए प्रयत्न करे एवं गौ, ब्राह्मण आदि को लेकर सर्व प्राणियों का आरोग्य वैद्य पर ही आश्रित है, इस बात को ध्यान में रक्खें और उन्हें सदा आरोग्य का आश्वासन देवें।

वह द्रव्य वर्ग दो प्रकार का है। एक स्थावर द्रव्यवर्ग, दूसरा जंगम द्रव्यवर्ग। (स्थावर द्रव्यवर्ग पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, वनस्पत्यात्मक है)। जंगम द्रव्यवर्ग तो प्राणिवर्ग है। द्रव्यवर्ग तो प्राणिवर्ग है। द्रव्यवर्गों में आहार्य - आहारक, उपकार्य-उपकारक, साध्य-साधन, रक्ष्य-रक्षण, भक्ष्य-भक्षण, इस

प्रकार के विकल्प होते हैं। उन में स्थावर द्रव्य तो भक्ष्य वर्ग में हैं। भक्षणकाल में कौन-सा पदार्थ भक्ष्यवर्ग में है और कौन-सा भक्षणवर्ग में है इस प्रकार के तत्त्व विकल्प ज्ञान से शून्य मूढ़ मिथ्यादृष्टि वैद्यगण सर्व (भक्ष्याभक्ष्य) भक्षक बन गए। कहा भी है-गुणादि युक्त द्रव्यों में, (उन स्थावर) शरीरों में भी स्थिति, वृद्धि व क्षय करने का सामर्थ्य है। अतएव देह के लिए द्रव्य (स्थावर) भी पोषक है।

इस प्रकार सर्वथा प्राणियों के संरक्षण के लिए ही स्थावर द्रव्यों को औषधि के रूप में ग्रहण किया जाता है। इसी प्रकार जंगम प्राणियों के भी क्षीर, घृत, दही, तक्र आदि को उन प्राणियों के पोषण, स्पर्शन, वत्स स्तनपान आदि सुख निमित्त से उत्पन्न होने से औषधियों के उपयोग में ग्रहण किया जाता है। इसलिए देहिवर्ग (प्राणिवर्ग) अभक्ष्य है। इस प्रकार का हमारा सिद्धान्त सिद्ध हुआ। इसलिए कहा है कि - यह मांस आहार के काम में नहीं आ सकता है और प्रख्यात औषधि में भी इसकी गण्ना नहीं है और न यह उत्तम रसायन ही हो सकता है। फिर ऐसे निंद्य अभक्ष्य, निरुपयोगी, हिंसाजनित पदार्थ को सेवन करने के लिए सर्वज्ञ, दयालु, ब्रह्मऋषि किस प्रकार कह सकते हैं ? अतः निश्चित है कि इस आयुर्वेद शास्त्र में जिह्वा लंपटों के द्वारा मधु, मद्य और मांस बाद में मिलाये गए हैं।

इस प्रकार युक्ति व शास्त्र प्रमाण से विस्तार के साथ समझाने पर भी दुष्ट दृष्टिकोण से गृहीदुर्विद्या के अहंकार से मदोन्मत्त, आजकल के वैद्य किसी तरह उसे मानने के लिए तैयार नहीं होते। इसमें आश्चर्य क्या है? कहा भी है - बिल्कुल न समझने वाले मूर्ख को सुधारना कठिन नहीं है। इसी प्रकार विशेष जानने वाले बुद्धिमान् व्यक्ति को भी किसी विषय को समझाना फिर भी सरल है। परंतु थोड़े ज्ञान को पाकर अधिक गर्व करने वाले मानी पंडित को ब्रह्मा भी नहीं समझा सकता है। सामान्यजनों की बात ही क्या है?

इस प्रकार इस जिनेन्द्रभाषित कल्याणकारक को, जो अनेक उत्तमोत्तम प्रकरणों से संयुक्त व संपत्कर है, जानता है, वह इहलोक में धर्मार्थ काम पुरुषार्थी को पाकर एवं सर्वजन वंद्य होकर, संपूर्ण राजाओं से पूजित पद कमलों को प्राप्त करते हुए का (त्रिलोकाधिपति) साक्षात् मोक्ष का अधिपति बनता है।

प्रसिद्ध नृपतुंगवल्लभ महाराजाधिराज की सभा में, जहाँ अनेक प्रकार के उद्भट विद्वान् उपस्थित थे, एवं मांसाशन की प्रधानता को पोषण करने वाले बहुत से आयुर्वेद के विद्वान् थे, उनके सामने मांस की निष्फलता को सिद्ध करके इस जैनेन्द्र वैद्य ने विजय पाई है।

इस प्रकार अनेक विशिष्टदुष्टमांसभक्षणपोषक वैद्य शास्त्रों में मांसनिराकरण करने के लिए श्री उग्रादित्यचार्य द्वारा नृपतुंगवल्लभराजेन्द्र की सभा में उद्घोषित यह प्रकरण है।

आयुर्वेदाध्ययनफल

जो बुद्धिमान् मुनि इस आरोग्य शास्त्र का अध्ययन कर उसके रहस्य को समझता है, वह मोक्षसुख के लिए कारणीभूत स्वास्थ्य को साध्य कर लेता है। जो इसे अध्ययन नहीं करता है, वह अपने दोषों के द्वारा उत्पन्न रोगों से पीड़ित शरीर वाला होने से, चित्त में उत्पन्न होने वाले अनेक दुष्ट परिणामों के विकल्प

से कर्म से बद्ध होता है। अतएव मुनियों को भी आयुर्वेद का अध्ययन आवश्यक है।

इस प्रकार गुणों से उदार उग्रादित्यचार्य के द्वारा यह कल्याणकारक महाशास्त्र कहा गया है। जो इसे अध्ययन करता है, नमन व स्तुति करता है, वह उग्रादित्य (सूर्य) के समान तेज को प्राप्त करता है।

इस प्रकार श्री उग्रादित्यचार्य कृत कल्याणकारक की भावार्थदीपिका टीका में हिताहिताध्याय समाप्त हुआ।

॥ इति कल्याणकारकं समाप्तम्॥

वनौषधिशब्दादर्श

	संस्कृत	हिंदी	मराठी	ಕನ್ನಡ
1.	अंकोल (पु)	ढेरावृक्ष	अंकोली	ಅಂಕೋಲ.
2.	अंघ्रिक (पु)	वृक्ष की जड़	मूळ	ಬೇರು.
3.	अंघ्रिप (पु)	पेड़	वृक्ष, झाड़	ಮರ, ವೃಕ್ಷ.
4.	अंजन (न)	सौवीरांजंन, रसांजन, सुर्मा, रसोंत	काळा सुरमा, काळाशेगना स्त्रोतोंजन, सौवीरांजन, कृष्णांजन, रक्तांजन, पीतांजन, डोळ्यांत औषध घालणें	ಕಣ್ಣು ಕಪ್ಪು ಸೌವೀರಾಂಜನ
5.	अंडक (पु)	अंडकोष	अंडकोष	ಅಂಡಕೋಶ.
6.	अंबुज (न)	कमल, हिज्जलवृक्ष, समुद्रफल	परेळ, कमल, जलवेत	ಕಣಿಗಲ ಗಿಡ, ಉಪ್ಪು, ಶಂಖ.
7.	अंबुद (पु)	मुस्तक, मोथा.	मोथ, मेघ	ತುಂಗಮುಸ್ತೆ.
8.	अंबुरुहा (स्त्री)	स्थलपद्मिनी, गेंदावृक्ष.	स्थलकमलिनी, कमळ	ತಾವರೆ.
9.	अंम्बष्टिका (स्त्री)	पाठा, यूथिका, पाढ़ा, जुही	पहाडमूळ	ಅಗರು ಬೀಟ.
10.	अंशुमती (स्त्री)	शालपर्णी, शालवन, शाखिन	सालवण पूर्णिमा	ಮೂರೆಲೆ ಹೊನ್ನೆ.
11.	अगरु (न) (पु)	अगुरु, अगर	अगर	ಅಶೋಕ ವೃಕ್ಷ.
12.	अगस्ति (पु)	मुनिद्रुम, हथियावृक्ष	अगस्ता	ಅಗಚ್ಚೆ
13.	अग्नि (पु)	चित्रकवृक्ष, रक्तचित्रकवृक्ष, भल्लातक, निंबूक, रवर्ण, पित्त, चीतावृक्ष, लाल चीता, भिलावे का वृक्ष, नींबू का वृक्ष सोना, पित्त	विस्तव, चित्रक, केशर, पीतवाला, बिबवा, रक्तचित्रक, झाड़, पित्त,ज्वाला, भात, जार, सोने, निंबू, काकडाचें	ಚಿತ್ರಮೂಲ.
14.	अग्निक (पु)	अगेथू	अग्निक वृक्ष	ಗೇರು.
15.	अग्निद्रुम (न)	देखो अग्नि	पहा अग्नि	ಚಿತ್ರಮೂಲ.
16.	अग्निमन्थ (पु)	गणिकारिका वृक्ष, अरणी, अगेथुवृक्ष	थोर एरण, नरवेल, जीमूत, तर्कारी	ನೆಲ್ಲಿಗಿಡ.

	संस्कृत	हिंदी	मराठी	ಕನ್ನಡ
17.	अजाजी (स्त्री)	कृष्णजीरक, श्वेतजरिक, काको दुंबरिका, काला जीरा, सफेदजीरा, कठूंबर.	श्वेतजिरे, कृष्णजिरे, काळाउंबर	ಬಿಳಿ ಜೀರಿಗೆ. ಕರಿ ಜೀರಿಗೆ . ಕಾಡು ಅತ್ತಿ,
18.	अजकर्ण (पु)	असनवृक्ष, विजयसार	हेदाचा वृक्ष, थोरराळेचा वृक्ष, असनाचेझाड़	ಹಿರಿ ಹೊನ್ನೆಮರ.
19.	अजगन्धा (स्त्री)	वनयवानी, अजमोद	रानतुळस, तिळवण	ಊರಾಳ, ನೀರುತುಳಸಿ
20.	अजमोदा (स्त्री)	वनयवानी, पारसकियवानी, यवानी, अजमोद, खुरासानी अजमायन, अजमायन	अजमोद, ओवा, मुरदारसिंग.	ಅಜಮೋದ, ವೋಮ
21.	अजशृंग(गी) (पु)	मेढासिंगी.	मेडशिंगी, काकडसिंगी	ಕುರುಟಗೆ ಗಿಡ.
22.	अटरूष (पु)	वासकवृक्ष, अडूसावृक्ष, बसौंटा.	अडूळसा.	ಆಡುಸಾಲ, ಆಡುಸೊಗೆ
23	अनसी (स्त्री)	अलसीमसीना	जवस.	ಅಗಸೇ.
24.	अतिबळा (स्त्री)	पीतवर्णबला,नागबला,सहदेई कंघई,गुलसकरी, कंघी.	बिंककती,वाघांटी, नाट्यपुष्पी, लेंचा,कांसौली, पेटारी, खिरहटी.	ಸಹದೇವಿ, (ಸೆಲ್ಲಿಲುದುರುವೆ) ಗಾಯದೊಪ್ಪಲು.
25.	अतिविषा (स्त्री)	अतीस [शुक्ल कृष्ण अरुणवर्ण कंदविशेष]	अतिविष	ಅತಿಬಜೆ.
26.	अद्रक (न)	निंब विशेष.	बकाण निंब	ಮಹಾಬೇವು, ಅರಬೇವು
27.	अद्रिकर्णी (स्त्री)	अपराजिता, कोईल, कृष्णकांता,	श्वेतकर्णी.	ಗಿರಿಕರ್ಣಿಕೆ.
28.	अधोमानिनी (स्त्री)	गोभी [अधोमुखा]	पाथरी	ಹಕ್ಕರಿಕೆ ಗಿಡ.
29.	अनिलघ्नी (स्त्री)	बहेड़ा	बहेड़ा	ತಾರೀಕಾಯಿ.
30.	अपवर्ग बीज (न)	स्वनामख्यात वृक्षबीज	स्वनामख्यात वृक्षबीज	ಅಪವರ್ಗಬೀಜ.
31.	अपामार्ग (पु)	क्षुपविशेष,चिराचिरा.	आघाडा.	ಉತ್ತರಾಣಿ.
32.	अभय (न)	उशीर, खस	बाला	ಲಾಮಂಚಾ, ಅಳಲೇಗಿಡ
33.	अभया (स्त्री)	हरीतकी, हरडा	हर्तकी, श्वेतनिर्गुंडी, मंजिष्ठा, वेखंड, मृणाल, जजा, जयंती कांजिका,	ಅಳಲೇಕಾಯಿ.

क्र.	संस्कृत	हिंदी	मराठी	ಕನ್ನಡ
34.	अभ्रक (न)	अभ्रक	अभ्रक.	ಅಭ್ರಕ.
35.	अमरतरू (पु)	हडसंकरी	शुंडी, नदीवड.	ಗಾಳಿ ಆಲ.
36.	अमरदारू(पु)	देवदारू	देवदार.	ದೇವದಾರು.
37.	अमृत (पु)	वनमुद्ग, गुडची, गेंठी, वनमूंग, गिलोय	डुकरकंद, बचनाग, वनमूग	ಅಮೃತಬಳ್ಳಿ, ನೆಳ್ಳಿ, ಅರಳೆ.
38.	अम्लिका (स्त्री)	तिंतिडी, इमली.	चिंच, आंबाडी, चिंचोडी.	ಹುಣಸೇ.
39.	अरुष्कर (न)	भिलावे का फल	बिबवा.	ಗೇರಿನ ಮರ.
40.	अरिष्ट (पु)	छाछ, नीम, लहसन, रीठा	ताक, कडुनिंब, रिंठा, लसूण	ಬೇವು, ಬೆಳ್ಳುಳ್ಳಿ, ಮಜ್ಜಿಗೆ, ಅಂಟ್ವಾಳ.
41.	अरिमंद	दुर्गंधयुक्त खैर	गंधी हिंयर	ಹುಚ್ಚುಕಗ್ಗಲಿ ಗಿಡ.
42.	अर्क (पु)	आक का वृक्ष	श्वेतरुई.	ಅರ್ಕ, ಎಕ್ಕೆಮಾಲೆ.
43.	अर्जुन (पु)	कोह	दर्भभेद.	ಕೆಂಪು ಮತ್ತೇಗಿಡ.
44.	अलर्क (पु)	सफेद आक	श्वेतरुई.	ಬಿಳೀಯಕ್ಕಮಾಲೆ.
45.	अशोक (पु)	अशोक वृक्ष	अशोक वृक्ष.	ಕೆಂಪುಚಿನ್ನದೆಲೆಗಿಡ.
46.	अश्मन्तक (पु)	तृण विशेष	आपटा,कोरळ, घोळ,चुका	ಕೆಂಪು ಕಂಚಾಳದ ಬೇರು
47.	अश्माभित् (पु)	पाषाणभेदी, पाखानभेद.	पाषाणभेदी.	ಹಿಟ್ಟಲೀಕ, ಹಿಟ್ಟಲಿಗಿಡ ಪಾಷಾಣ
48.	अश्वत्थ (पु)	पीपल	पिंपळ.	ಅರಳಿ ಗಿಡ.
49.	अश्वगन्धा (स्त्री)	असगंध	आसगंध.	ಹಿರಿಮದ್ದಿನ ಬೇರು, ಅಂಗರಬೇರು
50.	अश्वमारक	कनेर वृक्ष	श्वेतकणेर	ಕಣಗಿಲೆ.
51.	असण (पु)	विजयसार	असणा.	ಹಿರಿ ಹೊನ್ನೇಮರ.
52.	असन (पु)	विजयसार	असणा.	ಹೊನ್ನೇಮರ.
53.	असित तिल (न)	कालेतिल	काळे तिळ.	ಕರಿ ಎಳ್ಳು
54.	अस्थि (स्त्री)	हडसंकरी	हाडसंकरी.	ಏಲಕ್ಕಿ ಹಡಸಂಕರೀ.
55.	अहिंस्रा (स्त्री)	काकादनी वृक्ष	फडीचे निवडुंग.	ಡಬ್ಬುಗಳ್ಳಿ, ಪಾಪಸಕಳ್ಳಿ
56.	अक्ष (पु)	विभातक वृक्ष, रूद्राक्ष, कर्षपरिमाण, बहेडावृक्ष, रुद्राक्ष, 2 तोले का प्रमाण	बेहेडा, रुद्राक्ष, कर्षप्रमाण.	ತಾರೇಗಿಡ, ಸೌವರ್ಚಲವಣ ಎರಡು ತೊಲೆ ಪ್ರಮಾಣ
57.	अक्षिफल (न)	पानीलोध	श्वेतलोध्र.	ಲೋದ್ರ,ಶಬರಾ, ಅಳಿಲೋದ್ರ

क्र.	संस्कृत	हिंदी	मराठी	ಕನ್ನಡ
		- आ -		
1.	आखुकर्णी (स्त्री)	लताविशेष, मूसाकर्णी	1 लघुउन्दीरकानी, 2 उन्दीरमारी	ಕರ್ಣಿಬಳ್ಳಿ, ಹರುಹೆ.
2.	आज्य (न)	घृत, श्रीवास, घी, सरलका गोन्द.	तूप.	ತುಪ್ಪ. ಸರಲವೃಕ್ಷದ ಅಂಟು.
3.	आजिगन्धि (स्त्री)	देखो अजगंधा	पहा अजगंधा.	ಅಜಗಂಧಾ ನೋಡಿ.
4.	आटरूष (पु)	अडूसा	अडूलसा.	ಆಡುಸೋಗೆ.
5.	आढकी (स्त्री)	शमी धान्यविशेष, अडहर	तरी, सोरटीमाती, गोपीचन्दन, तुरटी.	ತೊಗರೀ ಗಿಡ, ಫಟಕರಿ
6.	आर्द्रक (न)	अदरख	आला.	ಶುಂಠಿ.
7.	आदित्यपर्णि (न)	अकौवा	सूर्यफूलवल्ली.	ಎಕ್ಕೆಮಾಲೆ.
8.	आमलक (पु)	बांसा, अडूसा, बसौंटा [न] कर्करा	आंवळी, अडूळसा.	ನೆಲ್ಲಿಮರ, ಅಡುಸೊಗೆ
9.	आम्र (पु)	आम	आंबा.	ಮಾವಿನ ಮರ.
10.	आम्रक (पु)	आम	आंबा.	ಮಾವು.
11.	आम्रदल (न)	आम का पत्ता	आंबेचा पाला.	ಮಾವಿನ ಎಲೆ
12.	आम्रातक (पु)	आंबाडा	अंबाडा.	ಆಂಬಾಟಿ.
13.	आम्ला (स्त्री)	तिंतडी, इसली	चिंच.	ಹುಣಸೆ.
14.	आरग्वध (पु)	अमलतास	थोर बाहावा.	ಕಕ್ಕೆಗಿಡ.
15.	आरण्यालु (पु)	जंगली आलु, कंदविशेष	कंदविशेष.	ಬಲ ರಾಕ್ಷಸಿಗಡ್ಡೆ.
16.	आरुष्कर (पु)	भिलावे का फल	काजू, बिबवा.	ಗೇರುಕಾಯಿ.
17.	आरेवती (स्त्री)	पारेवत वृक्ष फल	थोर बाहावा, लघुपालेवत.	ಹೆಗ್ಗಕೆ (ಅರೇವತ) ಕಕ್ಕೆಕಾಯಿ
18.	आलर्क (पु)	देखो अलर्क	पहा अलर्क.	ನೋಡಿ ಆಲರ್ಕ.
19.	आलाबु (स्त्री)	कड्डु, तुंबी	भोपळा.	ಕುಂಬಳಕಾಯಿ.
20.	आलुक (न)	आलु, एलुवा	कांसाळु, अळुं, एलुवालुक.	ಬಟಾಟೆಕಾಯಿ.
21.	आश्वान्तक (पु)	देखो अश्मंतक	पहा अश्मंतक.	ನೋಡಿ ಅಶ್ಮಂತಕ.

क्र.	संस्कृत	हिंदी	मराठी	ಕನ್ನಡ
22.	आसनतरु (पु)	जीवक अष्टवर्ग औषधि, विजयसार.	बिबळा.	ಜೀವಕ. ಅಷ್ಟವರ್ಗೌವಷಧಿ.
23.	आस्फोत (पु)	आक, कचनार, विशालीवृक्ष	श्वेतउपलसरी, श्वेतगोकर्णी.	ಅರ್ಕ, ವಿಶಾಲೀವೃಕ್ಷ.
24.	आषपत्र [आस्यपत्र](न)	कमल	कमल.	ತಾವರೆ.
25.	आक्ष (पु)	देखो अक्ष	पहा अक्ष.	ನೋಡಿ ಅಕ್ಷ.
		- इ -		
1.	इंगुदी (स्त्री)	हिंगोट, इंगुल, मालकांगुनी	हिंगणबेट	ಇಂಗಳದ ಗಿಡ, ಗಾರೆಗಿಡ
2.	इन्द्रदारू (पु)	देवदारु	तेल्यादेवादार.	ದೇವದಾರು, ಇಂದ್ರವೃಕ್ಷ
3.	इन्द्रपुष्पी [ष्पा] (स्त्री)	कलिहारी.	कळसावी.	ಕೋಳಿಕುಟುಮ.
4.	इन्द्रवल्लिका(स्त्री)	इंद्रायन.	लघुकांवडळ	ಕಕ್ಕವಡೇಕಾಯಿ.
5.	इन्द्रवारूणी (स्त्री)	लताविशेष, इंद्रायन.	लघुकांवडळ, थोर कांवडळ.	ಪಾಪಟಗಿಡ.
6.	इक्षु (पु)	ईख, तालमखाना.	ऊस, तालिमखान.	ಕಬ್ಬು, ತಾಲಮಖಾನಿ.
7.	इक्षुर (पु)	तालमखाना, ईख, कांस, गोखरू	तिरकांडे,बोरू,काळा ऊंस, विखग, लघुमुंजतृण, थोर मुंजतृण, कोळसुंदा, थोर तिरकांडे, रामबाण.	ಕೊಳವಂಕೀ ಗಿಡ, ತಾಲಮಖಾನಿ. ಕಬ್ಬು, ತೃಣವಿಶೇಷ, ಗೋಖರೂ.
8.	इक्षुरक (पु)	तालमखाना, ईख, कांस, गोखरू	तिरकांडे, बोरू, काळा ऊंस, विखग, लघुमुंजतृण, थोर मुंजतृण,कोळसुंदा, थोर तिरकांडे, रामबाण.	ಕೊಳವಂಕೀ ಗಿಡ, ತಾಲಮಖಾನಿ. ಕಬ್ಬು, ತೃಣವಿಶೇಷ, ಗೋಖರೂ.
		- उ -		
1.	उग्र (न)	बछनाभ विष	बचनाग.	ನೇಪಾಳದ ಬೇರು.

क्र.	संस्कृत	हिंदी	मराठी	ಕನ್ನಡ
2.	उग्रगन्ध (न)	हींग	कायफळ, हिंग.	ಇಂಗು.
3.	उच्चट (टा)(न) (स्त्री)	घुंघची चोटली, भुई आमला, नागरमोथा, लहसनभेद, निर्विषी घास.	कथील, भुयआंवळी, रक्तगुंजा, मुस्ता, श्वेतगुंजा, लहसणभेद.	ಬೆಳ್ಳಿಭೇದ, ನಿರ್ವಿಷತೃಣ ಗುಲಗುಂಜಿ ಭೇದ. ತುಂಗಮುಸ್ತೆ.
4.	उत्क	कंद विशेष	कंद विशेष	ಜಕ್ಕಿನಗಡ್ಡೆ
5.	उत्कट (पु)	दालचीनी, तेजपात.	दालचिनी, तिरकांडे, ऊंस.	ಲವಂಗ ಚಕ್ಕೆ, ದಾಲಚೀನಿ
6.	उत्पल (न)	कुमुद, कूठ, फूल.	कोष्ट, नीलकमळ.	ನೀಲಕಮಲ.
7.	उदुंबर (पु)	गूलर [न] ताम्र	उंबर [न] तांबे.	ಅತ್ತಿಹಣ್ಣು, ಅತ್ತಿಗಿಡ.
8.	उशीर (न)	वरिणमूल, खस.	काळावाळा, पीतवाळा, गाडरखस.	ಲಾಮಂಚ, ಕಸುವು, ಮುಡಿವಾಳ.
9.	उषण (न)	मिरिच, पिप्पलामूल, गोल-काली, मिरिच, पीपरामूल.	मिरे, पिंपळमूल.	ಮೆಣಸು, ಹಿಪ್ಪಲೀಮೂಲ.
10.	उष्णी (स्त्री)	लपसी आदि, कन्हेरी.	पेज, कण्हेरी.	ಗಂಜಿ, ಕಣಗಲೆ.
		-ऊ-		
1.	ऊषक	खारीमट्टी	खारीमाती.	ಉಪ್ಪು ಮಣ್ಣು
		- ए -		
1.	एला (स्त्री)	फलवृक्षविशेष, एलायची, इलायची.	एलाची, नीळी, वेलदोडा.	ಯೇಲಕ್ಕಿ.
2.	एरंडक (पु)	स्वनामख्यातवृक्ष, अण्डकापेड.	साधारण-एरण्ड, सूर्तीएरण्ड, श्वेत, एरण्ड, कडुकांकडी, मोंगळीएरण्ड जेपाळ.	ಔಡಲು, ಜಾಯಫಳ
		- ऐ -		
1.	ऐरावती (स्त्री)	वटपत्रीवृक्ष, वडपत्री	वटपत्री, पाषाणभेद, आरी लकड्या पाषाणभेद,	ಮೈಂದಾಲಕಡ ಬೇರು (ಐರಾವತ) = ಹೇರಳೆಗಿಡ

क्र.	संस्कृत	हिंदी	मराठी	ಕನ್ನಡ
		- क-		
1.	कक्कोल (क)	सुगंधिद्रव्यविशेष, शीतलचीनी	कंकोळ.	ಕಪ್ಪುರಚೆನ್ನಿ.
2.	कटुक (न)	त्रिकटु, सोंठ, मिरच, पीपल	कडुपडवळ, कंकोळ, पिंडीतगर, त्रिकटु, मीठ, कडु कांकडी, रूई, मन्दार, वाळाभेद, मोहरी, कुटकी.	ಶುಂಠಿ, ಮೆಣಸು, ಹಿಪ್ಪಲಿ.
3.	कटुत्रिक (त्रय) (न)	त्रिकटु, 1 सोंठ, 2 मिरच, 3 पीपल	त्रिकटु, सोंठ, मिरी, पिंपळ	ಶುಂಠಿ, ಮೆಣಸು, ಹಿಪ್ಪಲಿ.
4.	कटुरोहिणी (स्त्री)	कटुकी, कुटकी	कटुकी	ಕತ್ತಿ ಕರಬು.
5.	कट्फल (यु)	कंकोलक, शीतलचीनी	कायफळ, वांग्यांचे झाड़.	ತ್ಯಾಗದ ಮರ.
6.	कण (पु)	वनजीरक, वनजीरा, कालाजीरा	जलबिन्दू, सूक्ष्म, काळेजिरे	ಕರಿ ಜೀರಿಗೆ.
7.	कणिका (स्त्री)	अग्निमंथवृक्ष, अरणी	ऐरण, कणीक	ನೆಲ್ಲಿಯ ಮರ.
8.	कतकफल (पु)	कतकवृक्ष, निर्मली	निवळीच्या बिया	ಚಲ್ಲೀಬೀಜ.
9.	कदली (स्त्री)	स्वनामप्रसिध्द वृक्षविशेष, केलावृक्ष.	केळ, लोखंडी केळ.	ಬಾಳೀ ಮರ,
10.	कदम्ब	कदंबवृक्ष, देवताडकतृण, सर्षप, कदमका वृक्ष, सर्सो.	शिरस, कळंब, हळदिवा वृक्ष.	ಸಾಸಿವೆ, ಕದಂಬ.
11.	कदल (पु)	कदलीवृक्ष, पृश्निपर्णी, केलावृक्ष, पिठवन.	केळ, पृश्नपर्णी.	ಬಾಳೀ ಮರ.
12.	कनक (न)	ढाकवृक्ष, नागकेशरवृक्ष, धतूरे का वृक्ष, लालकचनार वृक्ष, कलंबक, पीलाचन्दन, चंपावृक्ष, कसौंदीवृक्ष, कणगूगल, पलासमेद.	राळ, सोनकमळ, नागकेशर श्वेतधोत्रा, पीतकोरंटा, काळाधोत्रा, कणगुगुळ, थोरराळेचावृक्ष, वीडलोण, टांकणखार, सोनें, पलाश, चंपक.	ನಾಗಕೇಸರ, ಧತ್ತೂರಿ, ಬಂಗಾರ.

क्र.	संस्कृत	हिंदी	मराठी	ಕನ್ನಡ
13.	कन्या (स्त्री)	घृतकुमारी, स्थूलैला, वाराहीकन्द, वंध्याकर्कोटकी, घीकुंवार, बड़ी इलायची, गेंठीवृक्ष, वांझककसा.	वांझकर्टोली, कोरफड, थोरएलची, बादांगुळ, डुकरकन्द, पतंग, कन्द - गुळवेल.	ಅಮರದವಳ್ಳಿ.
14.	कपि (पु)	करंज-विशेष, सिल्हक, एक प्रकार की करंज, शिलारस.	शिलारस, आंबाडा, कुहिली, ऊद, आंवळी, विष्ण.	ಹೊಂಗೇ.
15.	कपित्य (क)(पु)	वृक्षविशेष, कैथ	कविंठ, एलव लुक.	ಬೇಲದ ಮರ.
16.	कपिफल	देखो कपि	पाहा कपि	ನೋಡಿ ಕಪಿ.
17.	कपिचूत (क)(पु)	अंबाढा वृक्ष	पारोसा पिंपळ, आंबाडा.	ಪುಂಡಿ ಸೊಪ್ಪು.
18.	कपोतक (न)	सौबीरांजन, सफेद सुर्मा.	[कपोत] निळासुरमा, लालसुरमा, श्वेतसुरमा, सजीखार	ಬ್ರಾಹ್ಮಿ, ಅಂಜನ.
19.	कपोतवंक (का) (स्त्री)	ब्राह्मी घास.	ब्राह्मी, सूर्यफूलवल्ली	ಒಂದೆಲಗ ಸೊಪ್ಪು.
20.	करवी (स्त्री)	हिंगपत्री	हिंगाच्या झाडाचे पान, कारववृक्ष.	ಹಿಂಗುಪತ್ರೆ.
21.	करवीर (क)(पु)	कनेर-कनेर की जड़	श्वेतकणेर, अर्जुनवृक्ष.	ಕಣಗಿಲ ಗಿಡ.
22.	करवन्दी (स्त्री)	करोंदा.	करवंदी.	ಕವಳೆಹಣ್ಣು.
23.	करीर (पु)	बांसका छडका, करील.	वंशांकुर, कारवीचे झाड.	ಮುಳ್ಳುಹಬ್ಬೆ, ಬಿದಿರುಮೊಳಕೆ
24.	करीष (पु न)	सूखा गोंवर	गोंवरी,	ಬೆರಣಿ.
25.	करूटिक	शिरकी खोपड़ी	कंवठी, मस्तकाचे हाड़.	ತಲೆ ಬುರುಡೆ.
26.	कर्कन्दु (न्धु. धू) (पु.स्त्री)	बेरी का वृक्ष, छोटा बेरी का वृक्ष	बोरीचा वृक्ष	ಬೊಂಡಿ, ಬೋರೆ, ಎಳಬೆ
27.	कर्कारू(पु)	कोहडा.	तांबडा भोंपळा, कांकडी, लघुकोहोळा.	ಕುಂಬಳಗಿಡ, ಚೀನಿಕಾಯಿ

क्र.	संस्कृत	हिंदी	मराठी	ಕನ್ನಡ
28.	कर्कोटी (स्त्री)	ककोडा	देवडंगरी, कडूदोडकी, कर्टोली.	ಕಾರ್ಚಿ, ಕಂಗೊಂಗೆ, ಕಹಿ ಹೀರೆ.
29.	कर्कोल (न)	देखो कक्कोल	पाहा कक्कोल.	ನೋಡಿ ಕಕ್ಕೋಲ.
30.	कर्चूर (न)(पु)	सोना, कचूर.	सोनें, कचोरा, आंबेहळद.	ಬಂಗಾರ, ಕಚ್ಚೂರ(ಗೌಲ)
31.	कर्पूर (पु. न)	कपूर	कापुर	ಕರ್ಪೂರ.
32.	कर्मरंग (पु. न)	कमरख	नीव, कर्मर.	ಬೇವು, ಕಮರಿಕೆಹಣ್ಣು
33.	करंज [क](पु)	कंजा वृक्ष, भंगरा वृक्ष	करंज, वानरपिंपळी, थोरकरंज, करंजवल्ली, काबीचा वेल [कंटकयुक्त असतो] काचका, पांगारा, वाघनख.	ಕರಂಜ, ಕಾನಗು, ಹುಲುಗಲಿ, ಹೊಗೆಸೊಪ್ಪು.
34.	कलाय (पु)	मटर.	वाटाणे, कवला.	ಬಟ್ಟಕಡಲೆ,
35.	कल्हार	श्वेतोत्पल, कमोदिनी.	श्वेतोत्पल, किंचित् श्वेत रक्तवर्णकमळ, साधारण कमळ, रक्तोत्पल.	ಬಿಳಿ ಕಮಲ, ಕನ್ನೈದಿಲೆ.
36.	कशेरूक [क] (स्त्री)	पीठ की हड्डी का डण्डा, कसेरु.	कांसोट्याची जागा, कशेरुकंद.	ಕಚ್ಚೆಯಸ್ಥಾನ, ಕಂದವಿಶೇಷ.
37.	काकनास [का] (पु)	गर्जाफल.	थोरश्वेतकावळी	ಕಾಗೇತೊಂಡೆ.
38.	काकमाची (स्त्री)	मकोय+केवैया.	काकजंघा, लघुकावळी, भाभोलणी.	ಕಾಚಿಗಿಡ.
39.	काकवल्लीका [बल्लरी](पु)	स्वर्णवल्ली	मीतकंचनी, सोनटका.	ಸ್ವರ್ಣಬಳ್ಳಿ
40.	काकविट्	कौवे का मल.	कावळ्याची वीठ.	ಕಾಗೆಯ ಮಲ.
41.	काकादनी (स्त्री)	कौआठोडी, घुंघुची, सफेद घुंघुची, काकादनी वृक्ष.	रक्तगुंजा, थोरमालकांगोणी लघु-रक्त कावळी, श्वेतगुंजा, लघुमांलकांगी, लघुफडीचे निवंडुग	ಗುಲಗಂಜ, ಕಳ್ಳಿಗಿಡ.

क्र.	संस्कृत	हिंदी	मराठी	ಕನ್ನಡ
42.	काकोलिका [ली] (स्त्री)	काकोली.	कांकोली.	ಕಟ್ಟವತ್ತಿಗೆ.
43.	काकोल्यादिगण–	काकोली, क्षीरकाकोली, जीवकर्षभकस्तथा ऋद्धि वृद्धिस्तथा मेदा, महामेदा गुडूचिका ।। मुद्गपर्णी माषपर्णी पद्मकं वंशलोचना । श्रृंगी प्रपौंडरीकं च जीवंती मधुयष्टिका ।। द्राक्षा चेति गणो नाम्ना काकोल्यादिरूदीरितः ।		ಕಾಕೋಲ್ಯಾದಿಗಣದಲ್ಲಿ ಹೇಳಿದ ಔಷಧಿಗಳು
44.	काणकाली (स्त्री)	काकोली.	कांकोली.	ಕಟ್ಟವತ್ತಿಗೆ.
45.	कारवेल्ली (स्त्री)	करेली.	लघुकारली.	ಹಾಗಲಕಾಯಿ.
46.	कार्पासबीज (न)	कपूस का बीज.	सरकी.	ನೂಲಿನಬಟ್ಟೆ, ಹತ್ತಿಬೀಜ
47.	कालागरू(पु)	काली अगर.	कृष्णागर.	ಕೃಷ್ಣಾಗರು.
48.	कालेयक (न)	दारूहलकी.	दारूहळद, काष्ठागरू, हरिचन्दन, केशर, शिलाजित्.	ದುರದ ಅರಿಶಿನ, ಕೇಶರ.
49.	काश	कांस	लघुकसई.	ಜಂಬು ಹುಲ್ಲು.
50.	काश्मरि [री] (स्त्री)	गम्भारी, कम्भारी.	लघुशिवण, पुष्करमूळ.	ಪೋಷ್ಕರಮೂಲ್.
51.	काश्मीर (स्त्री)	कोशिंबवृक्ष, कुंभेरका पेड़	पुहकरमूल, केशर.	ಕುಂಕುಮ, ಕೇಶರ.
52.	काष्ठा	दारुहलदी.	दारुहळद.	
53.	कास (पु)	कांसी, खांसी, कांश, सैजिने का वृक्ष.	खोकला, बोरु, शेवगा, मोळ.	ಮರ ಅರಿಶಿನ.
54.	कासघ्नी (स्त्री)	कंठकारी, कटेरी.	भारंग, मोतरिंगणी, लघुडोरली.	ಕಾಂಜಲು, ಗಲಗಿನಹುಲ್ಲು.
55.	कासीस (न)	काशीस, कसीस.	हिराकस, माक्षिकमद्य विशेष, मोरचुत	ಭಾರಂಗೀ.
56.	किणिही (स्त्री)	चिरचिरा.	श्वेत आघाडा, थोरश्वेत-किन्ही, काळीकिन्ही, चिरचटा.	ಅನ್ನಭೇದಿ.

1 महासंहितायां इत्यधिक पाठमुलभ्यते, क. पुस्तके।

क्र.	संस्कृत	हिंदी	मराठी	ಕನ್ನಡ
57.	किरात [क](पु)	चिरायता	किराईत.	ಕಿರಾತ.
58.	कुकुट्टी (स्त्री)	सेमर का वृक्ष.	देवडंगरी, सांवरी, पाल, कुक्कुटांडसदृश कंद, चुंच,	ಶ್ರೀಗಂಧ, ಹುಲಿಗಿಲು, ದೇವದಾರಿ
59.	कुची [चि]	अष्टमुष्टिप्रमाण	अष्टमुष्टि परिमितमाप.	ಅಷ್ಟಮುಷ್ಟಿ ಪ್ರಮಾಣ
60.	कुचन्दन (न)	लालचंदन, पतंग की लकड़ी, केशर.	रक्तचन्दन, केशर, द्विदल-धान्य पतंग	ಕೆಂಪುಗಂಧ, ಚಂದನ
61.	कुट [ज](पु)	कुडा.	चित्रक, वृक्ष.	ವೃಕ್ಷ, ತಂಬಿಗೆ, ಚಿತ್ರಮೂಲಿ
62.	कुटज (पु)	कुडा.	श्वेतकुडा, इन्द्रजव, कमळ	ಬೆಟ್ಟದ ಮಲ್ಲಿಗೆ.
63.	कुटन्नट	केवटी मोथा, कशेरु	टेंटु, क्षुद्रमोथ, केवटी मोथ.	ತುಂಗೆಗಡ್ಡೆ.
64.	कुतूणक	नेत्ररोग विशेष	नेत्ररोगविशेष	ನೇತ್ರರೋಗ ವಿಶೇಷ
65.	कुनटी (स्त्री)	मनशिल, धनियां.	कोथंबीर, मनशीळ.	ಮಣಿಶಿಲೆ, ಕೊತ್ತಂಬರಿ
66.	कुबेरनयन [नेत्र] (न)[कुबेराक्षी]	पाडरवृक्ष, लताकरंज, सफेद [कठ], पाडरवृक्ष.	सागरगोटी, पाटला.	ಹಸರುಪೊಂಗಡ, ಗಜ್ಜಿಗದ ಕಾಯಿ.
67.	कुमुद (न)	सफेदकमळ, कमोदिनी, कपूर	कमोदकन्द, गुगुळ, कमोदपुष्प, नीलोत्पल, श्वेतोत्पल, कायफळ, कापूर, निळें कमळ, कमळ रुपें.	ಬಿಳೀತಾವರೆ, ಕಾಯಫಲ, ಕರ್ಪೂರ.
68.	कुमारी (स्त्री)	मोदिनीपुष्प, तरुणीपुष्प, नेवारी, घीकुआर, कोयल-लता, बांझखखसा, बांझककोडा, बड़ी इलायची मल्लिकाभेद, सेवंती.	कांटेशेवंती, दृष्टि, काळीचिमणी, लघुरानशेवंती, कोरफड, वांझकर्टोली,मल्लिकाभेद, थोरएलची.	ಚಿಕ್ಕಗೋರಂಟಿ, ಶೇವಂತಿಗೆ, ದೊಡ್ಡ ಏಲಕ್ಕಿ
69.	कुरवक (पु)	[कुरबक] लाल कटसरैया.	रक्तकोरंटा, थोरश्वेतरुई, मन्दार, लालफुलाचें भात.	ಮುಳ್ಳುಗೋರಂಟಿ.
70.	कुरंट [क](पु)	पीली कटसरैया.	श्वेतकोरांटा, कुरडु.	ಹಸಿರುಗೊರಂಟಿ, ಮಲ್ಲುಗೋರಂಟಿ

क्र.	संस्कृत	हिंदी	मराठी	ಕನ್ನಡ
71.	कुलहला	गोरखमुण्डी	मुण्डी, गोरखमुण्डी.	ಮುಂಡೀ.
72.	कुलुत्थ [कुलत्थ] (पु)	कुलधी.	रक्त कुळिथ.	ಹುರುಳಿ.
73.	कुवलय (न)	कमोदिनी, नीलकमल, नीलकुमुद.	निळेंकमळ, श्वेतकमळ, नीलोत्पल, कमोदपुष्प.	ನೀಲಕಮಲ.
74.	कुश (न.पु.)	कुशा.	दर्भ, श्वेतदर्भ.	ದರ್ಭೆ.
75.	कुशा (स्त्री)	चकोतरा नींबू	निंबफल विशेष, चकोतरा.	ಚಕೋತಫಲ.
76.	कुसंभ (न)	कुसूम के फूल [जिस के रंग से वस्त्र रंगा जाता है]	कुर्डईचें फूल,	ಕುಸುಮೇ ಹುವ್ವು.
77.	कुस्तुम्बुरु (न)	धनियां	धणे.	ಕೊತ್ತುಂಬರಿ.
78.	कूष्माण्ड (क)	पेठा, कम्हडा, कोहडा.	कोहोळा.	ಬೂದು ಕುಂಬಳ.
79.	कृष्ण (न)	कालीमिरच, लोहा, काली-अगर, कालानोन, कालाजीरा सुरमा (पु) करौंदा, पीपल.	कालीमिरे, लोहा, कृष्णागर काळीमीठ, काळाजिरा, सुरमा, (पु) करवंदी, पिंपळ.	ಕರಿಮೆಣಸು, ಕಬ್ಬಿಣ, ಕೃಷ್ಣಾಗರು, ಕರಿ ಉಪ್ಪು, ಕರಿ ಜೀರಿಗೆ, ಅಂಜನ, ಕರವಂದಿ, ಹಿಪ್ಪಲಿ.
80.	कृष्णा (स्त्री)	नीलकावृक्ष, पीपल, वायची, कालाजीरा, पद्मावती, दाख, नीली सोंठ, कंभारी, कुटकी, श्यामलता, कालीसर, राई, काकोली, जौंक.	जटामांसी, पापडी, कटुकी, शाहजिरें, लघुनीली, काळी तुळस, नीलांजन, दुर्बा, काळें द्राक्ष, पिंपळी, वांवचा, काळेशिरस, काळीनिर्गुडी, कलौंजीजिरें कस्तूरी, रानकुळिथ, जलूका.	ನೀಲವೃಕ್ಷ, ಕರಿಜೀರಿಗೆ, ದ್ರಾಕ್ಷೆ, ಹಿಪ್ಪಲೀ, ಶುಂಠಿ, ಕಾಕೋಲಿ, ರಾಗಿ ಕಳ್ಳಿ.
81.	कृष्णतिल	काली तिल.	काळे तीळ.	ಕರೀ ಎಳ್ಳು.
82.	केतकी (स्त्री)	केतकी वृक्ष, खर्जूर.	श्वेत केवड्याचें झांड.	ಕೇದಿಗೆ ಹುವ್ವು.

क्र.	संस्कृत	हिंदी	मराठी	ಕನ್ನಡ
83.	केसर (न)	हिंग, नागकेशर, सोना, कसीस, मौलसिरीवृक्ष, फूलका जीरा, पुन्नाग वृक्ष, फूल की केशर वा जीरा.	हेम, सिसें, नागकेशर, कमळ केशर, बकुळ, सुर-पुन्नाग, पुन्नाग, वृक्षाचा मोहोरा, हिंग, हिराकस, केशर, पुष्परेणू.	ಸುರಹೊನ್ನೆ, ಹವಳದಗಿಡ.
84.	कोद्दालक	धान्य विशेष.	धान्य विशेष.	ಧಾನ್ಯ ಭೇದ.
85.	कोरंट	कोरंट.	कोरंटा.	ಗೋರಂಟೆ.
86.	कोल (पु. न.)	बेर, एक तोला, मिरच, शीतल चीनी, चव्या.	रानडुकर, कंकोळ, बोर, मिरी, चवक, अंकोल गंजपिंपळी, रायबोर, कोरक, कळी, नख.	ಬೋರೆ, ಕಪ್ಪುರಚೆನ್ನ, ಮೆಣಸು, ಒಂದು ತೊಲೆ ಶೀತಲಚೀನಿ.
87.	कोश [फल](न)	ककोल, शीतलचीनी.	कळी, जायफळ.	ಕಕ್ಕೋಲೆಗೀಡ.
88.	कोशातकी (स्त्री)	झिमनीलता, गलकातोरई, तोरई.	घोंसाळी, गोडीदोडकी, पडवळ, देवडंगरी, कडुदोडकी, आघाडा, रात्र	ಕಹಿ ಹೀರೆ, ಪಡವಲಕಾಯಿ.
89.	कौलुत्थ	कुलथी.	कुलथि.	ಹುರುಳಿ.
90.	कंगु [का](स्त्री)	फूलप्रियंगु, कांगुनीधान.	कांगधान्य, रांळे, गव्हाला.	ನವಣೇ.
91.	कंगुतैल	कांगुनीधान का तेल.	कांगधान्याचें तेल.	ನವಣೇ ಎಣ್ಣೆ.
92.	कंटकारि[री] (स्त्री)	कटेरी, शाल्मलीवृक्ष, सेमर का वृक्ष, कंटाईविकंकत वृक्ष	रिंगणी, कारी, श्वेतरिंगणी, फणस.	ಹಲಸು, ರಾಮಗುಳ್ಳ, ಶಾಲ್ಮಲೀ.
93.	कंदक [कन्द](पु)	योनिरोग, योनिकन्द, जमीकंद, भसीडा, कमलकन्द.	कडवासुरण, योनिरोग, हस्तिकन्द, लालमुळा, कांसाळुं, कमळकन्द.	ಮಲ್ಲಿರಕ್ಕಸಿಯಗಡ್ಡೆ, ಕಮಲಕಂದ, ಯೋನಿರೋಗ ವಿಶೇಷ
94.	कदल [ली](स्त्री)	केला, कमलगट्टा.	कमलबीज, आले, केळ-फूल, सुवर्ण.	ತಾವರೇ ಬೀಜ, ಹಸಿ ಶುಂಠಿ.
95.	कांजीरक	स्वनामख्यात औषधविशेष.	स्वनामख्यात औषधविशेष.	ಕಾಂಜೀರಕ.

क्र.	संस्कृत	हिंदी	मराठी	ಕನ್ನಡ
96.	कर्णिका	अगेथुवृक्ष, मेढासिंगी.	थोरएरण, स्थलकमलिनी, लघुश्वेतजुई, कमल-कर्णिका, कांटेशेवती, रानशेवंती, [लघु] नरवेल, कमलकोश.	ಅರಣೀ, ಕಮಲಿನೀ, ಶೇವಂತಿಗೆ, ಕಾಡು ಶೇವಂತಿಗೆ, ಕಮಲಕೋಶ.
97.	कांता (स्त्री)	फूलप्रियंग, बड़ी इलायची, रेणुका, नागरमोथा.	त्रिसंधी, श्वेतदुर्वा, एलदोडे रेणुकबीज, नेवाळी, डुकर-कन्द, आकाशवेल, लघु-उन्दीरकानी, गंह्वला, वाघांटी.	ನೆಪ್ಪಿಲಗು, ದೊಡ್ಡಯಾಲಕ್ಕಿ, ಜಕ್ಕಿನ ಗೆಡ್ಡೆ, ತುಂಗೆಗೆಡ್ಡೆ.
98.	कांबु [का](स्त्री)	असगंध	अश्वगंधा.	ಅಂಗರಬೇರು, ಹಿರೇಮದ್ದಿನಗಿಡ.
99.	कांस्य [क]	कांसा, कांस्यपात्र.	कांसे, उत्तमकांसे, कांस्य पात्र.	ಕಂಚು, ಕಂಚಿನಪಾತ್ರೆ.
100.	किंदुक	पुष्पविशेष.	पुष्प भेद.	ಪುಷ್ಪಭೇದ.
101.	किंशुक (पु)	पलाश-वृक्ष, नन्दी-वृक्ष, ढाक-वृक्ष, तुन-वृक्ष.	पळस.	ನಂದಿಮರ, ಮುತ್ತುಗದ ಮರ.
102.	कुंकुम (न)	केशर.	केशर, पिंजर, राळई डीक, कागडा कवड्या ऊद.	ಕುಂಕುಮ ಕೇಶರಿ.
103.	कुडव	32 तोला प्रमाण.	32 तोळें प्रमाण.	32 ತೊಲೆ ಪ್ರಮಾಣ.
104.	कुंडली (स्त्री)	जलेबी-मिठाई, गिलोय, कचनारपुष्पवृक्ष, किंवाच, सर्पिणीवृक्ष.	गुळवेल, कोरळ, नाग, बाहावा, जलेबी, कुहिली.	ಅಮೃತಬಳ್ಳಿ, ಉಗಸಿ, ಕೆಂಪುಕಂಚಾಳದ ಬೇರು, ಕೊಚ್ಚಾಲೇ, ಜಿಲೇಬೀ.
105.	कुंड [लता]	लताविशेष	लताविशेष, कोरफड.	ಲತಾ ಭೇದ, ಕಳ್ಳಿ.
106.	कुंद	मल्लिका पुष्प	कुंद पुष्प.	ಮಲ್ಲಿಗೆ.
107.	कुंदक (पु)	कुन्दुरुलोबान-पार्सी.	कुन्दपुष्प, श्वेतकणेर.	ಮಲ್ಲಿಗೆಹೂವು, ಕಣಗಿಲೆ
108.	केंबुक (न)	केउँआ-वृक्ष, सुपारी.	सुपारी, कोबी करमला.	ಅಡಿಕೆ.

क्र.	संस्कृत	हिंदी	मराठी	ಕನ್ನಡ
		-ख-		
1.	खदिर (पु)(रा)	खैर+कत्था.	लाजाळु, कात.	ಮುಟ್ಟುಮುಗುಡು, ಕಾಚ, ಚೌಚು
2.	खरकर्णिका	काटेदारवृक्ष विशेष	काटेदारवृक्ष विशेष.	ಮುಳ್ಳುಯುಕ್ತ ವೃಕ್ಷಭೇದ
3.	खरभूष	स्वनामख्यातवृक्ष विशेष.	स्वनामख्यातवृक्ष विशेष.	ಖರಭೂಷ.
4.	खरमंजरी (स्त्री)	चिरचिरा.	श्वेत आघाडा.	ಉತ್ತರಾಣಿ.
5.	खर्जूर (न)	खजूर, रूपा, हरताल.	रूपें, श्रेष्ठमद्यद्रव्य, हरताळ खजूर.	ಖರ್ಜೂರದ ಗಿಡ, ಹರದಾಳ ಬೆಳ್ಳಿ,ಈಚಲ ಗಿಡ
6.	खर्परी [र](स्त्री)	एक प्रकार की आँख की औषधि.	कलखापरी, कपाळांचे हाड नेत्रांजन.	ಕಣ್ಣಿನ ಅಂಜನ.
7.	खल (पु.न.)	श्यामतमाल, धत्तूरावृक्ष, केशर.	श्वेतधोत्रा, मुळें व फळें यांचे, कढण काढितात तो पेंड.	ಮದ್ದಗುಣಿಕೆ ಕೇಶರ.
8.	खंड (पु.न.)	बिडियासंचरनोन, खाण्ड.	बिडलोण, खडीसाखर, कचोरा, नाबदसाखर, तुकडा.	ಖರೋಚ. ಕಲ್ಲುಸಕ್ಕರೆ, ಲವಣಭೇದ.
		- ग -		
1.	गजकण (पु)	गजपीपल	गजपिंपळ.	ಗಜಹಿಪ್ಪಲಿ, ಅರಿಸಿನ.
2.	गजबळा (स्त्री)	नागबाला	लघु चिकणा.	ನಾಗಬಲಾ.
3.	गर्दभ (पु)	श्वेतकुमुद, विडंग, सफेद कमोदनी, बायुभृङ्ग	गाढव, सुवास, श्वेत कमल	ಬಿಳೀಕಮಲ.
4.	गवादनी (स्त्री)	नीलापराजिता, इन्द्रायण, नीलीकोयलता, कृष्णकान्ता.	दुधी, चारोळी, श्वेत गोकर्णी, काळी किन्ही, थोर इन्द्रावण, काळी गोकर्णी, वारुणी, आक्षोठ, गुवाक्षी, शेन्दणी, लघुकांवडळ.	ನೀಲ ಪಾರಿಜಾತ, ಕಕ್ಕವಡೆಕಾಯಿ.

क्र.	संस्कृत	हिंदी	मराठी	ಕನ್ನಡ
5.	गायत्रिका [त्री] (न स्त्री)	खैर का वृक्ष, खैर, दुर्गंध खैर	खैर.	ಕಗ್ಗಲೀಮರ.
6.	गिरिकर्णिक [का] (स्त्री)	सफेद किणही वृक्ष, कोयललता विष्णुक्रान्ता.	शीतला, श्वेतगोकर्णी, विष्णुक्रान्ता, थोरश्वेत-किन्ही, कटमी.	ವಿಷ್ಣುಕ್ರಾಂತಿ.
7.	गिरीन्द्रकर्णिक	सफेद किणही वृक्ष, कोयललता विष्णुक्रान्ता.	शीतला, श्वेतगोकर्णी, विष्णुक्रान्ता, थोरश्वेत-किन्ही, कटमी.	ವಿಷ್ಣುಕ್ರಾಂತಿ.
8.	गुग्गुळ (पु)	शिलाजित, लाल सैजिनेका पेड़, गुग्गुल का पेड़, इसका गोन्द गूगल है	महिषाक्ष, आरक्तवर्ण, महानील, कुमुद.	ಧೂಪದ ಮರ.
9.	गुप्तफलू [ला] (गूढफल)(पु)	बेर.	लघुकावळी.	ಸಣ್ಣಕಾಗೆ ಸೊಪ್ಪು.
10.	गुप्तबीज गुह्यबीज (पु)	शरबाण, तृण विशेष.	गवत.	ಹುಲ್ಲು.
11.	गुलू [ची][ली] (स्त्री)	सेहुंडुकापेड, गोली, बसन्तरोग	गुळवेल.	ಅಮೃತಬಳ್ಳಿ, ಉಗನಿ
12.	गुह्याक्षी	पीपल भेद	पिंपळ भेद	ಹಿಪ್ಪಲೀ ಭೇದ.
13.	गैरिक	गेरूमाटी.	गेरू.	ಜಾಜು.
14.	गोजी [गोजिह्वा] (स्त्री)	गोभी, वनस्पति, गरहेडुआ.	पाथरी, गोजिह्वा.	ಹಕ್ಕರಿಕೆ ಗಿಡ, ಗೋಜಿಕ್ವಾ=ಬೆಂಡೆಗಿಡ
15.	गोधूम [क](पु)	गेंहू, गेहूं का वृक्ष, नारंगी का वृक्ष.	थोरगहूं, बारीकगहूं.	ಗೋಧಿ, ನಾರಂಗೀ.
16.	गोपा (स्त्री)	कालांसर.	श्वेत व काळी उपलसरी.	ಬಾಣಂತಿ ಬೀಳ.
17.	गोरट (पु)	दुर्गंधखैर	शेण्यखैर	ಕರೀ ಗೈರ್.
18.	गोशीर [र्ष](न)	हरिचंदन	चन्दन	ಪರಿಮಳ, ಗಂಧವು.

क्र.	संस्कृत	हिंदी	मराठी	ಕನ್ನಡ
19.	गोश्रृंग (पु)	बबूरका पेड़	बाभूळ	ಜಾಲಿ.
20.	गोक्षुर (पु)	गोखरू	नारिंग,गोखरू,सरांटे, लघु गोखारू.	ದೊಡ್ಡ ನೆಗ್ಗಿಲು.
21.	गौर (पु)	सफेद सरसों, घनवृक्ष	कमळकेसर, करंज, सिरस, श्वेतसाठेसळी, धावडा, केशर, चोपडा, करंज, पांढरा पिवळा, तांबडा खदिर, हरताळ, श्वेतसिरस सोने.	ಬಿಳೀ ಸಾಸಿವೆ, ಕೇಶರ, ಹರದಾಳೆ, ಖದೀರ.
22.	ग्रन्थि	भद्रमुस्त, पिंडालु, ग्रंथिपर्ण-वृक्ष.	पांयांचे घोटे, भद्रमोथ, पिंपळमूल, वेळची घांड, हितावली, आर्तवदोष, ग्रंथिपर्णी.	ಕೋರೆನಾರು, ಭದ್ರಮುಷ್ಟಿ, ಬಿಳೀಗೆಣಸು.
23.	ग्रन्थिका [क] (पु.न.)	करोलवृक्ष, पीपरामूल, गठिवन, गूगल	गठोनाझाड, बेखण्ड.	ಹಿಪ್ಪಲಿ ಮೂಲ, ಗುಗ್ಗುಲ.
24.	गंडीरा	शुण्डिग्नाशक-केचित् भाषा.	कडवा सुरण, निवडुंग, शूर	ಏರುವಂಗದ ಮರ.
25.	गंध (न)	कालीअगर.	चन्दन, सुवास, गंवक, रक्तबोळ, क्षुद्ररोग, घ्राण-विषय, शेंवगा.	ಗಂಧಕ, ಕರೀ ಅಗರು.
26.	गंधक (पु)	सैजिनेकावृक्ष, गंधक.	गंधक, गोगिर्द, किब्रिन, सल्फर	ಗಂಧಕ.
27.	गंधर्वहस्त [क] (पु)	अण्डका.	श्वेतएरण्ड	ಆರೀಗಿಡ.
28.	गांगेरुक [की] (स्त्री)	गुलसकरी.	कांकडांचे झाड.	ವಾಟಿಗೆ, ಕಾರೆ, ಹೀರೇ ಗಿಡ, ಬಟ್ಟಗೊರಿಕೆ.
29.	गुंजा(स्त्री)	घुँघुची, चोटली, चिरमिटी, गुंज इत्यादि 1 रत्तिप्रमाण	श्वेतरक्त गुंजा, प्रमाण विशेष.	ಗುಲಗಂಜಿ.

क्र.	संस्कृत	हिंदी	मराठी	ಕನ್ನಡ
		-घ-		
1.	घना (स्त्री)	मषवन, शंकरजटा.	रानउडीद, ईश्वरी, रुद्रजटा	ಕಾಡುಉದ್ದು, ಇಸರೇ ಬೇರು, ನಂಜಿನ ಬೇರು.
2.	घोटा [टिका] (स्त्री)	घोटिकावृक्ष	[घोंटा]गेळ, लघुबोर, नागबला, सुपारी, मदन-सांग.	ಯಳಚಿ (ಬೋರೆ), ಅಡಿಕೆ.
		- च -		
1.	चकमर्द [क](पु)	चकवड, पमार.	टांकळा.	ತಗಚೀಗಿಡ.
2.	चणका (स्त्री)	(चणिका) चणिकावास.	जवस.	ಅಗಸೆ.
3.	चन्दन (न)	चन्दनका पेड़.	साधारणचन्दन, सुकड.	ಚಂದನಮರ.
4.	चन्द्र (पु)	चूक, कबीला औषधी, जल, रूपा.	सोनें, कापूर, श्वेतमिरीं, चक्र, शुण्डारोचनी कपिला गेरू, श्वेतनिशोत्तर.	ಹುಳಚುಕ್ಕ, ಬಂಗಾರ.
5.	चम्पक (न)	चंपावृक्ष, चंपा के फूल, सुवर्ण केला.	सोनचांपा, मोठानागचांपा, धाकटा नागचांपा सोनकेळ फणसभेद [पिवळे फूलाचा]	ಸಂಪಿಗೆ ಮರ, ಸಂಪಿಗೆ ಹೂವ್ವು, ಬಾಳೆ ಹಣ್ಣು.
6.	चव्य (क)(न)	चव्य, कार्पासी, चविका, वच.	चवक, गजपिंपळी, गज-पिंपळीचे मूळ, कापूस, गुंजा.	ಕಾಡುಮೆಣಸು ಬೇರು.
7.	चालिनी फल (न)	एक प्रकार का फल.	फलविशेष.	ಫಲವಿಶೇಷ.
8.	चित्र (न)	एक प्रकार का कोढ.	श्वेतएरण्ड, कलिंगड, अशोक, चितळ, गांजिणी, चिता चित्रक.	ಕಲ್ಲಂಗಡಿ ಹಣ್ಣು, ಕಾಲೆಂಗ.
9.	चित्रक (पु)	चीतावृक्ष, अण्डकामेड, एरंडवृक्ष	चित्रक-छाल, श्वेतएरण्ड, चिता, मुचकुन्दवृक्ष, चन्दनतिलक.	ಹರಳು ಮರ.

क्र.	संस्कृत	हिंदी	मराठी	ಕನ್ನಡ
10.	चित्रमूल (न)	चीत चित्रक.	चित्रक.	ಚಿತ್ರಮೂಲ.
11.	चित्रलता	मंजीट्	मंजिष्ठ.	ಚಿತ್ರಮೂಲ.
12.	चिरि [बिल्व](पु)	कंजाका पेड.	घार, पोपट, वृक्ष.	ಹೊಗೆಸೊಪ್ಪು, ಕಾನಗು, (ಹೊಂಗೆ)
13.	चिर्भट [टी](स्त्री)	ककडी.	गोपाळ काकड़ी, काकडी.	ಮಿಡೀ, ಸವತೆ, ಮುಳ್ಳುಸವತೆ, ಸೌತ
14.	चिल्ली (स्त्री)	लोघ, चिल्ली, शाक, बथुवा	लोध्र, रक्तचील, चाकवत.	ಚಕ್ಕೋತಪಲ್ಯ, ಪತ್ರಶಾಕ.
15.	चुंचुः	इमली, अंबली.	कुरुडू, चिचोंन्द्री.	ಗೊರಟಿ, ಹುಣಸೆಮರ.
16.	चोच(न)	दालचीनी, तेजपात, ताडका-फल, केले की फली, नारियल.	दालचीनी, नारळ, द्वीपान्तर खजुरी, साल, लवंग केळ.	ದಾಲಚೀನಿ, ಲವಂಗಚಕ್ಕೆ, ಬಾಳೆ, ತಾಡಫಲ, ತೆಂಗಿನಕಾಯಿ.
17.	चोर (स्त्री)	शटी भेद, खुरासानि अजवान्	किरमाणी, ओंवा.	ಖುರಾಸಾನಿ, ಅಜವಾನ, ವೋಮ
		- छ -		
1.	छग [लिका][ला] (स्त्री)	विधारवृक्ष	वरधारा.	ಪರಂಗಿ, ಪರಂಗಿಚಕ್ಕೆ.
2.	छन्नोद्भव (स्त्री) [छिन्नोद्भवा]	गिलोय.	गुळवेल.	ಅಮೃತಬಳ್ಳಿ, ಉಗಸಿ
		- ज -		
1.	जट [टा](स्त्री)	जटामासी, बालछड, शंकर-जटा, शतावर, कौछवृक्षकी जड.	सुगंधजटामांसी, जटामांसी, पारंब्या ईश्वरी शेंडी, वृक्षमूळ.	ಜಟಾಮಾಂಸಿ.
2.	जम्बू [म्बु] (स्त्री न)	जामन, जामनकावृक्ष.	जांबूळ.	ನೇರಳೆಹಣ್ಣು.
3.	जल (न)	सुगंधवाला, नेत्रवाला, जल.	पाणी, वाळा, परेळाचा भेद जलवेत, गाईचा गर्भाशय, मंदपणा.	ನೀರು, ಕಾವಂಚ, ಮುಡಿವಾಳ.
4.	जलज (न)(पु)	कमल, शंख, समुद्रफल, शिवार, जलवैंत, मकरतैंदुआ.	लवंग, लोणारखार, कमळ, शंख, शेवाळ, मोती, परेळ, जलमुस्ता, जलमोहोवृक्ष, काकटेंभुरणी, कुचला, देवभात, जलवेत.	ಕಮಲ, ಸಮುದ್ರಫಲ, ನೀರುಹಚ್ಚಿ, ನೀರಂಟಿ ಮತ್ತು ಶಂಖ, ಜಲತುಂಗೆ.

क्र.	संस्कृत	हिंदी	मराठी	ಕನ್ನಡ
5.	जाति (स्त्री)	आमला, जायफल, मालती-पुष्पलता, कपीला, चमैली-वृक्ष.	जाई, आंवळी, शुण्डा-रोचिनी, चूल, जायफल.	ಜಾಜಿ ಹೂವು, ಜಾಯಫಲ.
6.	जातिफल (न)	जायफल	जायफळ.	ಜಾಜಿ ಕಾಯಿ.
7.	जीर (पु)	जीरा	पीतवर्ण, जिरें, क्षुद्रधान्य.	ಜೀರಿಗೆ.
8.	जीरक (पु)	जीरा	पीतवर्णजिरें, शाहजिरें, श्वेतजिरें.	ಹೊನ್ನೆಮರ, ಜೀರಿಗೆ.
9.	जीव (पु)	बकायनवृक्ष.	प्राण, जीवकादिगण, बृहस्पति.	ಹಾಲೇ ಸೊಪ್ಪು.
10.	जीवन्ती (स्त्री)	सोरठदेश में उत्पन्न होनेवाली हर्ड, गिलोय, बान्दा, छौकरा वृक्ष, हरड, डोहीवृक्ष, जीवन्ती.	गुलवेल, मोहाचावृक्ष, जीवक, हर्त्तकी, जीवन्ती, कांकोली, मेदा, लघुहरण-दोडी, बादांगुळ, शमीवृक्ष.	ಬೆಳಿಗಾರ. ಅಳಿಲೆ, ಕಾಕೋಲೀ, ಅಮೃತಬಳ್ಳಿ.
11.	जंघारूहा	झरसी.	झरस.	ಖಂಡಶರ್ಕರೆದರಸಿ.
		- ट -		
1.	टंकण (पु)	सुहागा	क्षार, टांकणखार, स्वागी.	ಬೆಳಿಗಾರ, ಕ್ಷಾರ.
2.	टुंटूकः (पु)	टैंटुकवृक्ष.	दिण्डा.	ತಿಗಡು ಮರ.
		-त-		
1.	तगर (न)	तगरकावृक्ष	गेळ, तगर, पिंडीतगर, गोडेंतगर.	ಬನಗಾರೆ, ಗೋಡೆತಗರ.
2.	तन्वी (स्त्री)	शालवन, सरिवन.	सालवण, बाफळी.	ನೆಲ್ಲು.
3.	तमाल (पु न)	एकवृक्ष, बांसकी छाल	वायवारण, स्थलकमल, काळाताड, तमालपत्र, दालचिनी, बांबूची त्वचा.	ಹೊಂಗೆಮರ.
4.	तरली [ला](स्त्री)	यवागू [जौ के आटे का बनता है] मदिरा, मधुमक्खी.	कांजी, मद्य.	ಜೋಳದ ಹಿಟ್ಟಿನಿಂದ ಮಾಡುವ ಯಾವಾಗೂ, ಜೇಣುನೋಣ, ಪರಾಯಿ

क्र.	संस्कृत	हिंदी	मराठी	ಕನ್ನಡ
5.	तरुणी (स्त्री)	घीकुवार, दन्तीकापेड.	कोरफल, कांदणीगवत, चिडादेवदार, लघुदन्ती, शेवंती, कांटेशेवंती,	ಅನೇಕತ್ತಾಳಿ, ಕನ್ಯಾಕುಮಾರಿ, ಲೋಳಸೂರ.
6.	तरुमूल	पेडका जाड	झाड़ का मूल.	ಮರದ ಬುಡ.
7.	तर्कारि [री](स्त्री)	अगेथुवृक्ष, जयन्ती, जैन्थवृक्ष	थोर ऐरण, देवडंगरी, वनकांकडी, शिसवा.	ತಕ್ಕಲೀಗಿಡ.
8.	तलपोटक	वृक्षविशेष.	वृक्षविशेष.	ವೃಕ್ಷ ವಿಶೇಷ.
9.	ताल (पु)	ताड का पेड.	बंताड, ताडवृक्ष	ತಾಳೇಮರ.
10.	तालक (न)	हरताल, गोचन्दन	हरताळ.	ಹರಿದಾಳ, ಗೋಪಿಚಂದನ
11.	तालि (स्त्री)	भुईं आमला, मुषली.	डोंगरीताड.	ಕಿರಿನೆಲ್ಲಿ.
12.	तालीस [श](न)	तालिशपत्र	लघुतालीसपत्र	ತಾಳೀಶಪತ್ರೆ.
13.	तिक्तक (न)	कुटजवृक्ष, वरुणवृक्ष, तित्तरसा, कुडेका पेड, चिरतित्त, कृष्णखदिर	पडवळ, किराईत, काळाखदिर.	ಕಹಿ ಪಡುವಲ, ವಸುಳೆಯ ಗಿಡ.
14.	तिल (पु)	तिल	तीळ	ಎಳ್ಳು.
15.	तिलक (न पु)	पेट में जल रहने का स्थान, चोहारकोडा कालानोन, तिलक पुष्पवृक्ष, मरुआवृक्ष, कालतिलरोग.	कृष्णलोह, गूळ, क्षुद्ररोग, काळे, तीळ, काचलवण, पिपासास्थान, संचळ, तिलकपुष्प, टिळा, अश्वविमूत्राशय, लासें.	ತಿಲಕದ ಗಿಡ, ಹೊಟ್ಟೆಯಲ್ಲಿ ಜಲಸ್ಥಾನ, ಕರಿಲವಣ, ಬೆಲ್ಲ, ಮೂತ್ರಾಶಯ, ಕ್ಷುದ್ರರೋಗ ವಿಶೇಷ.
16.	तिलज (न)	तिल का तेल	तिळाचें तेल	ಎಳ್ಳಿನ ಎಣ್ಣೆ.
17.	तिल्वक (पु)	लोध	हिंगणबेट, लोध्र	ಇಂಗಳ ಗಿಡ.
18.	तुगा (स्त्री)	वंशलोचन	वंशलोचन	ಸುರಹೊನ್ನೆ.
19.	तुटि (न)	छोटी इलायची	एलची, वेलदोडा	ಸಣ್ಣ ಯಾಲಕ್ಕಿ.
20.	तुटित्रय (न)	तुटित्रय	तुटित्रय	ತುಟಿತ್ರಯ.
21.	तुम्बी (स्त्री)	तोंबी, काकदनीवृक्ष, कडवी.	दुधभोंपळा, कडू दुध-भोंपळा.	ಸೋರೆ ಗಿಡ, ಸೋರೆಕಾಯಿ.

क्र.	संस्कृत	हिंदी	मराठी	ಕನ್ನಡ
22.	तुरग [गी](स्त्री)	असंगधकापेड़	अश्वगंध	ಅಂಗರಬೇರು, ಹರೀ ಮದ್ದಿನ ಬೇರು
23.	तुरगरन्ध [धा] (स्त्री)	असंगध का पेड़	अश्वगंधा	ಅಂಗರಬೇರು, ಹಿರೀ ಮದ್ದಿನ ಬೇರು.
24.	तुलसी (स्त्री)	तुलसी	तुळस	ತುಳಸೀ.
25.	तुवर [क](पु)	कसेलारस	श्वेतशिरस, नीलवर्ण, हिराकस, तुरट, रानमूग, तूत.	ಕಾಡು ಹೆಸರು, ಪಟಕ.
26.	तुष (पु)	धानोंकी भूसी, बहेड़ाका पेड़	बेहेड़ा, कोंडा.	ತಾರೇ ಗಿಡ, ಧಾನ್ಯದ ಹೊಟ್ಟು
27.	तोरण (न)	कंठरोग विशेष.	ग्रीवा, कंठरोगविशेष.	ಮುಡಿವಾಳ, ಕಂಠರೋಗ
28.	तंडुल [मूल](पु)	वायविडंग, चौलाईकाशाक, चावल	वावडिंग, तांदूळ	ವಾಯುವಂಗಳ, ಅಕ್ಕಿ ಚೌಳಿಕಾಯಿ.
29.	तंडुलीय [क](पु)	चौलाई, अल्पमरसा	तांदूळजा.	ಕಾಳೇ ಹರುವೆ, ಚೆಲ್ಕರುವೆ
30.	तिंत्रिणी (स्त्री)	इमली का पेड़	[तिंतिणी] चिंच	ಹುಣಸೇ ಮರ.
31.	तिन्दुक (न)	तेंदवावृक्ष	कुचना, टेंभूर्णि, घेडशीं.	ತೊಬರೆ ಗಿಡ.
32.	त्रपुष [बीज](न)	रांग, खीरा	[त्रपुषी] कांकडी,	ನೆಲಸೌತೆ.
33.	त्रापुषबीज (न)	खीरेका बीज.	वाळकाचें बीज.	ಸೌತೇಬೀಜ.
34.	त्रिकटु (न)	सोंठ, मिरच, पीपल	सूंठ, मिरी, पिंपळी	ಶುಂಠಿ, ಹಿಪ್ಪಲಿ, ಮೆಣಸು
35.	त्रिकंटक (पु)	गोखुरूका पेड.	सूंठ, गुळवेल, रिगणी, गोखरूं	ದೊಡ್ಡ ನೇಗಿಲು ಮರ,
36.	त्रिजातक (न)	दालचीनी, इलायची, तेजपात	दालचिनी, तमालपत्र, एलची.	ದಾಲಚೀನಿ, ಲವಂಗ ಚಕ್ಕೆ, ಏಲಕ್ಕಿ.
37.	त्रिफल [ला] (स्त्री)	हरड़, बहेडा, आमला.	हरडे, बेहेडे, आंबळकटी, सुगंधत्रिफळा, जायफळ, सुपारी, लवंग, मधुर-त्रिफला, द्राक्ष, दाडीम, खजूर.	ಅಳಲೇಕಾಯಿ, ತಾರೀಕಾಯಿ, ನೆಲ್ಲಿಕಾಯಿ.

क्र.	संस्कृत	हिंदी	मराठी	ಕನ್ನಡ
38.	त्रिवृत् (स्त्री)	पनिलर, निसोथ.	श्वेतनिशोत्तर, काळें निशोत्तर, पहाडमूळ, रक्तनिशोत्तर.	ಬಿಳಿ ತಿಗಡೇಗಿಡ.
39.	त्रुटि (स्त्री)	छोटी इलायची.	एलची.	ಸಣ್ಣ ಯಾಲಕ್ಕಿ.
40.	त्र्यूषण (न)	सोंठ, मिरच, पीपल.	सुठ, मिरी, पिंपळी–त्रिकटु.	ಶುಂಠಿ, ಹಿಪ್ಪಲಿ,
41.	त्वक् (न)	दालचीनी, बल्कल, छाल, तज.	कलमीदालचिनी, साल, लघुतालीस पत्र, शरीराची त्वचा.	ಮೆಣಸು. ದಾಲಚೀನಿ, ಸಿಪ್ಪೆ.
		– द –		
1.	दर्भ (पु)	कुशा, कांस, दाम, डाम	श्वेतदर्भ, लघुश्वेतदर्भ, काशतृण.	ದರ್ಭೆ.
2.	दर्वी (स्त्री)	दारूहलदी, गोभी देवदारू, हलदी.	पळि, सर्पफणा.	ಮರ ಅರಿಶಿನ, ಹಕ್ಕರಿಕೆ ಗಿಡ.
3.	दलिता [त] (स्त्री)	शंखिनी.	टवटवीतपुष्प.	ಕಾಡುಪಾಪಡಿ.
4.	दवा (स्त्री)	हाथी का मद.	रान.	ಆನೇಯ ಮದ.
5.	दहन (पु)	चीता, भिलावा.	बिबवा, चित्रक, वृश्चि–काली, अगर, गुगुळ, कांजीचा भेद.	ಚಿತ್ರ ಮೂಲಿ, ಗುಗ್ಗುಳ, ಕಾಂಜಿರಾ, ಭೇದ, ಅಗರು.
6.	दाडिम (पु)	दाडिम का पेड़, अनार, इलायची.	डाळिंब, लघुएलची.	ದಾಳಿಂಬೇ ಗಿಡ. ಏಲಕ್ಕಿ.
7.	दारुक (न)	देवदार.	तेल्यादेवदार, सोनपितळ.	ದೇವದಾರು ಮರ.
8.	दिनकरतरु (पु)	आक का पेड़,	रक्तरुई, श्वेतरुई.	ಎಕ್ಕೆಮಾಲೆ.
9.	दीर्घवृंत [क] (पु)	शोनापाठा.	पीतलोध्र, दिण्डा.	ಹಾಲು ಗುಂಬಳ, ಹೆಮ್ಮರಾ, ಹಿಂತಾಳೆ.
10.	दीपक तैळ (पु)	अजमायन, मोरशिखा.	ओवा, आजमोदा, जिरें,	ಅಜಮೋದ, (ವೋಮ) ಕೇಶರ

क्र.	संस्कृत	हिंदी	मराठी	ಕನ್ನಡ
11.	दीप्पक (पु)	अजमायन, रुद्रजटा, अजमोदा.	ओंवा, रक्तचिवक, कलौंजी जीरे, पीतवर्णजीरें, ईडनिंबू, निंबू, अजमोद, तमर, मोरशेंडी, केशर ससाणा	ಅಜಮೋದ, ಕಾಡುನಿಂಬೆ, ತಗರು, ಜೀರಿಗೆ, ಕುಂಕುಮ, ಕೇಸರಿ.
12.	दुग्धाघ्रिप (पु)	दूधियावृक्ष	दूधयुक्तवृक्ष	ಹಾಲು ಬರುವ ವೃಕ್ಷ
13.	दूर्वा (स्त्री)	दूबघास	नीलदूर्वा, कापूरकाचरी	ಗರಿಕೇ ಹುಲ್ಲು.
14.	देवदारु (न)	देवदारु, देवदारवृक्ष	तेल्या देवदार.	ದೇವದಾರು ವೃಕ್ಷ.
15.	दंती (स्त्री)	दन्तीवृक्ष	लघुदन्ती, जेवाळ	ದಂತಿ ವೃಕ್ಷ.
16.	दंतिक [का](स्त्री)	दन्तीवृक्ष	दन्ती.	ದಂತಿ ವೃಕ್ಷ.
17.	द्रवणिका (स्त्री)	वृक्षविशेष.	वृक्षविशेष	ವೃಕ್ಷ ವಿಶೇಷ.
18.	द्रवन्ती (स्त्री)	मूसाकानी	बृहद्वन्ती, लघुउन्दीरकानी, उन्दीरमारी	ಇಲಿಕಿವಿ ಗಿಡ.
19.	द्राक्षा (स्त्री)	दाख	काळेद्राक्ष, श्रेष्ठमद्यद्रव्य	ಕೆಳಗಿನದ್ರಾಕ್ಷಿ, ಕರಿದ್ರಾಕ್ಷಿ.
20.	द्विरज (पु)	हलदी, दारुहलदी.	हळद.	ಅರಿಷಿನ, ಮರ ಅರಿಷಿನ
		- ध -		
1.	धत्तूर (पु)	धत्तूरा	श्वेतधोत्रा, धोत्रा.	ಮತ್ತೂರ್ತಿ.
2.	धमन (पु)	नरसल,	देवनळ.	ನಳದ್ವಯಿ =ದೇವನಾಳ
3.	धातकी (स्त्री)	धाय के फूल.	लघु धायटी.	ಆಚದ ಮರ, ಕರಿಕೆ.
4.	धान्य (न)	धनिया, केवटीमोथा, धान, चार तिलपरिणाम.	धनें, साळी, भूधात्री, चारतीळभार वजन.	ಕೋತಂಬರಿ, ಬಲಿಯಗುಡುವು. ನಾಲ್ಕು ಯಳ್ಳ ಪ್ರಮಾಣ ಭಾರ
5.	धावनी [नि](स्त्री)	पिठवन.	पिठवण, थोरताग, रिंगणी	ನರಿಬಾಲದ ಹುಲ್ಲು,
6.	धात्री (स्त्री)	आमला.	आंबळी, आंबळकटी, उपमाता, भूमि	ನೆಲ್ಲಿಕಾಯಿ, ಭೂಮಿ, ದಾಸಿ.
7.	ध्यामक (न)	रोहिससोधिया.	रोहिसगवत, लघुरोहि-सगवत.	ಕಾಚಿಹುಲ್ಲು, ಕಿಗಂಜಣಿ.

क्र.	संस्कृत	हिंदी	मराठी	ಕನ್ನಡ
		- न -		
1.	नक्त [फल](स्त्री)	कलिहारी.	गुलबास, कळलाबी	ಕೋಳಿಕುಟುಮ, ಕೋಳಿಕುಕ್ಕಿನ ಗಿಡ
2.	नक्तमार [ल](पु)	कंजावृक्ष	करंज	ಹೊಂಗೆ ಮರ.
3.	नक्तमाल (पु)	कंजावृक्ष	करंज	ಹೊಂಗೆ ವೃಕ್ಷ.
4.	नक्ताह्व [ह](पु)	कंजावृक्ष	करंज, घृतकरंज, थोरकरंज	ಹೊಂಗೆ.
5.	नमलिका (स्त्री)	कन्दविशेष	कन्दविशेष	ಕಂದವಿಶೇಷ.
6.	नलिका (स्त्री)	नली	गुलछब्बु, उतरणी, नाडीशाक, नलुका घेवडा, पवारी.	ಶಾಖ ವಿಶೇಷ.
7.	नाग (पु)	रांग, सीसा, नागकेशर, पुन्नाग का वृक्ष, मोथा, पान.	सिसें, विष, बीजद्रम, बच-नाग, ऊर्ध्ववायु, पानवेल, कथील, नागकेशर रक्तवर्ण अभ्रक, नागर, नागबला, मेदा, हस्तिदन्त नागवल्ली सुरपुन्नाग, नागरमोथा.	ಸೀಸ, ನಾಗಕೇಸರಿ, ಆಭ್ರಕ, ತುಂಗೆ, ಕಾಚು, ಹಸ್ತಿದಂತ.
8.	नागबला (स्त्री)	गुलसकरी, गंगेरन.	नागबला, गांघेटी गाडे-वामण, लेंचा तुबकडी, गांरुकी.	ಹೀರೇ ಗಿಡ, ನಾಗಬಲಾ.
9.	नागपुष्प (पु)	पुन्नागका पेड़, नागकेशर, चंपावृक्ष.	नागकेशर, नागचांपा.	ಊಮ, ಕಹಿಸುರಿಗೆ, ನಾಗಕೇಸರ ಹೂವು.
10.	नागर (न.पु.)	सोंठ, मोथा, नारगी.	पडवळ, सुंठ, नागरमोथ.	ಶುಂಠಿ, ನಾಗರಮೋಥಿ, ಜಕ್ಕಿನಗಡ್ಡಿ
11.	नागी (स्त्री)	वंध्याकर्कोटी.	वंध्याकर्कोटी.	ವಂದ್ಯಾ ಕರ್ಕೋಟೀ.
12.	नागीदल (न)	देखो नागी.	पहा नागी.	ನೋಡಿ ನಾಗೀ.
13.	नादेय (न.पु.)	सैन्धानोन, श्वैतशुर्मा, कांस, जलवैंत.	समुद्रमीठ, काळासुरमा, सैंधव, बोरु, जलवेत, नागरमोथ, वेत, लघुकसई, थोरजलवेत.	ಸೈಂಧವ ಲವಣ, ಕಿರೀಕಾಗಚ್ಚು, ಗೊರಸೆ ಹುಲ್ಲು, ಜಂಬು ಹುವ್ವು, ನೀರು ಬೆತ್ತ, ಕರಿ ಅಂಜನ

क्र.	संस्कृत	हिंदी	मराठी	ಕನ್ನಡ
14.	नारंग (न.पु.)	गाजर, पीपलका रस, नारंगी का पेड़.	मिरवेलीचा रस, नारिंग, ऐरावत, नारिंगक, गाजर.	ಗಜ್ಜರಿ, ಗಾಜರ ಗಡ್ಡೆ, ನಾರಂಗೆ ಹಣ್ಣು.
15.	नालिकेर (न)	नारियल.	नारळ.	ತೆಂಗಿನಕಾಯಿ.
16.	नाली [नालिका] (स्त्री)	कमल नाडी का शाक, सातला.	मनशीळ, नलिका, बाजरी.	ಕಮಲ ನಾಳೀ.
17.	निचुल (पु)	समुद्रफल, वैंत.	वेत, परेळ, निंब, जलवेत.	ಕಣಗಿಲ ತೋರ, ಸಮುದ್ರಫಲ.
18.	निदिग्धिक [का] (स्त्री)	कटेरी, इलायची.	रिंगणी, लघु एलची	ಗೋರಟಗೆ.
19.	निंब (पु)	नीम का पेड़.	लिंबाचे मूळ, लिंबाचे झाड	ಬೇವಿನ ಮರ.
20.	निर्गुंडि (डी) (स्त्री)	निर्गुण्डी, मेउडी, सम्हालू, सेदुआरि.	श्वेतनिर्गुण्डी, राननिर्गुण्डी, कात्रीनिगुण्डी काळा निर्गुण्डी.	ಲಕ್ಕಿಗಿಡ, ನಿರ್ಗುಂಡೀ.
21.	निर्मल (न)	अभ्रक	रौप्यमाक्षी, अभ्रक.	ಅಬ್ರಕ, ಕಾಗೆ ಬಂಗಾರ
22.	निर्मोक (पु)	सांप की कैचली, विष.	सर्पाची मेग.	ಹಾವಿನ ಪರೆ.
23.	निशा (स्त्री)	हलदी, दारुहलदी.	हळद, दारुहळद.	ಹಳದ, ಅರಸಿನ.
24.	नीलमणिका (पु)	नीलम्	नीलरत्न.	ನೀಲರತ್ನ.
25.	नीलांजन (न)	शुक्लशुर्मा, तूतिया.	निळासुरमा, मोरचूद.	ಅಂಜನ.
26.	नीळी (स्त्री)	नीलका पेड़.	शरपुखाकृतीच्या झाडा-पासून गुळी उत्पन्न होत्यें ती लघुनीळी, निळी निर्गुण्डी, सिंहपिंपळी नीललोह, कथील, क्षुद्ररोग, लासें.	ಗೋರಂಟ ಗಿಡ, ನೇಲಿಗಿಡ.
27.	नीलोत्पल (न)	नीलकमल.	नीलोत्पल कमळ.	ನೀಲಕಮಲ.
28.	नृत्यकांडक (न)	वृक्ष विशेष.	वृक्ष विशेष	ವೃಕ್ಷ ವಿಶೇಷ.
29.	नृप (पु)	अमलतास	थोरबाहवा.	ಹೆಗ್ಗೆಕ್ಕೆ.
30.	नृपतरु (पु)	अमलतास, खिरनीवृक्ष	थोर बाहवा, रांजणी, खिरणी.	ಹೆಗ್ಗೆಕ್ಕೆ, ಬರಣೇಮರ.

क्र.	संस्कृत	हिंदी	मराठी	ಕನ್ನಡ
31.	नृपद्रुम (पु)	देखो नृपतरु,	पहा नृपतरु.	ಹೆಗ್ಗೆಕ್ಕೆ, ಬರಣೇಮರ.
32.	नृपवृक्ष (पु)	देखो नृपतरु.	पहा नृपतरु.	ಹೆಗ್ಗೆಕ್ಕೆ, ಬರಣೇಮರ.
33.	नृपांघ्रिप (पु)	देखो नृपेतरु.	पहा नृपतरु.	ಹೆಗ್ಗೆಕ್ಕೆ, ಬರಣೇಮರ.
34.	नेत्र (न)	पिसाब बाहर करने की सलाई	डोळें, मूळ, मंथनरज्जु.	ಮೂತ್ರ ನಿರ್ಗಮನ ಪಿಚಕಾರಿ.
35.	न्यग्रोध (न.पु.)	वड का फल, बड़ का पेड़, छोंकर वृक्ष, मोहनाख्य औषधी.	वड, उंदिरकानी, बांब, कडुनिंब, बकाणनिंब, बाळन्तनिंब, हीबरे, लिमडो.	ಆಲದ ಮರ, ಬೇವು.
		-प-		
1.	पटोल (पु)	परवल.	कडु पडुवल, गोडपडुवल, वस्त्र, छीट	ಕಹಿ ಪಡುವಲ, ಪಡವಲ.
2.	पटलिक (न)	कासमर्दवृक्ष, कार्पासवृक्ष	कडु पडबळ, कापूसचे झाड़.	ಕಹಿ ಪಡವಲ, ಹತ್ತಿಯ ಮರ.
3.	पटु (न)	कडवे पडवल.	सोन पडवळ.	ಕಹಿ ಪಡುವಲ.
4.	पत्र (न)	कचनार का पेड़, दालचीनी का पत्र.	तमालपत्र, लघुतालीसपत्र, नागवेल.	ಎಲೆ, ಲವಂಗ, ತಮೂಲ ಪತ್ರ,
5.	पथ्या (स्त्री)	हरड़, सैंधिनी, गुरुभीहु, वनककोडा.	हर्तकी, वांझकर्टोली, गोड शेंदाड, कडु शेंदाड, मृगादनी.	ಅಳಲೇ ಗಿಡ.
6.	पद्मक (न)	पद्माख, कूठ, औषधि.	पद्मकाष्ट, कोष्ठ, कमळा-वृक्ष, सरळदेवदार.	ಪದ್ಮಕಾಷ್ಟ.
7.	पद्ममध्ये (न)	कमल केशर.	कमळकेशर.	ಕಮಲ ಕೇಶರ.
8.	पनस (पु)	कटैल, कटहर.	फणस, क्षुद्रफणस, कंटकवृक्ष	ಹಲಸಿನ ಗಿಡ.
9.	पयष्टंकणचूर्ण (न)	सुहागे का चूर्ण	टाकण खार.	ಟಂಕನಖಾರ, ಬೆಳಿಗಾರ.

क्र.	संस्कृत	हिंदी	मराठी	ಕನ್ನಡ
10.	पयोद (पु)	मुस्तक, मोथा.	मेघ, मोथ.	ತುಂಗಮುಸ್ತೆ.
11.	पयोरुह (न)	कमल, समुद्रलवण, जलवेत.	कमळ समुद्रलवण, जलवेत	ತಾವರೆ, ಸಮುದ್ರ ಲವಣ, ನೀರುಬೆತ್ತ.
12.	परूष [क](न)	पालसा, परुषा.	फालसा, भुयधामण.	ಪಾಲಸೆಯ ಕಾಯಿ.
13.	पलाश (पु)	ढाक–पलासवृक्ष	फळस, कापुरकाचरी, तमालपत्र, पानें, भुयकोहळा, हिरवा.	ಮುತ್ತುಗದ ಗಿಡ, ಗಂಟುಕ ಚೋರ.
14.	पलाण्डु (पु)	प्याज.	कांदा.	ಈರುಳ್ಳಿ.
15.	पाटल (न.पु.)	पाडल के फूल, गुलाब के फूल, आशुधान	व्रीहिधान्य, पुन्नाग, लघु–रोहिस, पाटलापुष्प.	ಹಸಿರುಪಾದ್ರಿ, ಮೆಕ್ಕೆಮರ, ಗುಲಾಬಿ ಹೂವು.
16.	पाटली (स्त्री)	कटभी, मोखा, पाडळ.	काळीकिन्ही, भुयचांपा, रक्तपाडल, काळा मोर–वाक्षवृ, रक्तलोघ्र, सागर–गोटी.	ಕರಿ ಕಿಲಗೆ, ಉತ್ಪಲ, ಮೆಕ್ಕೆಮೂ, ಗಜ್ಜಗದಕಾಯಿ.
17.	पाठा (स्त्री)	पाठ.	पाहाड मूळ.	ಅಗರು ಶುಂಠಿ.
18.	पानिकचरी (स्त्री)	जलकाचरी.	पाणिकाचरी.	ಜಲಕಾಚರೀ.
19.	पारावत (पु)	पालसा, दरुषा	पारवा, फालसा, लोखण्ड, सारग्ल, निळासुरमा, अश्वक्षुरा, एवनीवृक्ष.	ಪಾಲಸೆಕಾಯಿ, ಕಬ್ಬಿಣ.
20.	पारी (स्त्री)	जायपत्री	जायपत्री, पराग, कर्पूरिका.	ಜಾಯಪತ್ರಿ, ಪತ್ರೆ, ಪರಾಗ
21.	पारिभद्र (पु)	फरहद, नीम का पेड़, देवदार धूपसरल.	कडुनिंब, देवदार, पांगारा, कोष्ठ, प्राजक, सरल–देवदार, निंब.	ದೇವದಾರು, ಬಾಳಂತಿ ಬೇವು, ಬೇವು, ವಿಷಬೇವು.
22.	पालक (पु)	चीतावृक्ष.	चित्रक, हिंगूळ.	ಚಿತ್ರಮೂಲ.
23.	पिचु (पु)	कार्पास दो तांले परिमाण, कुष्ठरोग.	कापूस, कापसाचें सूत, आरक कापशी, कुष्ठरोग.	ಹತ್ತಿ, ಹತ್ತಿಯ ನೂಲು, 2 ತೊಲೆ ಪರಿಮಾಣ, ಕುಷ್ಠ ಭೇದ.
24.	पिचुमन्द (पु)	नीम का पेड़.	कडुनिंब, वाढ्यानिंब,	ಬೇವಿನ ಮರ.

क्र.	संस्कृत	हिंदी	मराठी	ಕನ್ನಡ
25.	पिण्याक (पु. न.)	तिल की खल, सर्सों की खल, हींग, शिलाजित, शिलारस, केशर.	पेण्ड, शिलारस, हिंग, ऊद तिलकल्क, केशर.	ಒಂದು ದಯೆ ಮಾಡುವ ಮರ, ಶಿಲಾರಸ, ಇಂಗು, ಎಳ್ಳಿನಖಲ.
26.	पिप्पली (स्त्री)	पीपल.	पिंपळी, कानाचा पाळीचा रोग.	ಹಿಪ್ಪಲೀ ಗಿಡ.
27.	पिप्पलीत्रिक	पीपल, वनपीपल, गजपील.	पिंपळी, वनपिंपळी, गज-पिंपळी.	ಹಿಪ್ಪಲಿ, ಕಾಡು ಹಿಪ್ಪಲಿ, ಗಜಹಿಪ್ಪಲಿ.
28.	पिष्टका [क](पु)	एक प्रकार की पूरी, नेत्ररोग-भेद, वड.	डोळयांचे श्वेबुबुळावरचा रोग, वडा, तिलकूट, पेंड.	ಆಲಮರ, ಒಂದು ದಯೆ ಮಾಡುವ ಮರ, ನೇತ್ರರೋಗ ವಿಶೇಷ.
29.	पीलुक (पु)	पीलुवृक्ष, आखरोट,	अक्रोट, पीलुडा, किंकणे-लाचा वृक्ष, कंचुकशाक, तळहात, परमाणु, अस्थि-खंडविशेष, लघुपीपलवृक्ष.	ಆಮಟ ಗಿಡ, ಅಕ್ರೋಟ, ಗೋಣುಹಣ್ಣು, ಬೆಟ್ಟದಗೋಣು.
30.	पुट (न)	जायफल, गजपुट इत्यादि.	क्षुद्रमोथा, औषधास पुट देतात तें, जायफळ, केवटीमोथा.	ಜಾಜೀಕಾಯಿ, ಪುಟಸಂಕ್ಕಾರ, ಮುಸ್ತೆ.
31.	पुत्रिणी (स्त्री)	वनस्पति विशेष.	प्रमेय पीटिका रोग, बादांगूळ, वनस्पति विशेष.	ವನಸ್ಪತಿ ವಿಶೇಷ.
32.	पुनर्नवा (स्त्री)	विष, खपरा, रक्तपुनर्नवा.	श्वेत, रक्त, नील पुनर्नवा [खापन्या]	ವಿಷ, ಕೆಂಪು ಪುನರ್ನವ.
33.	पुनर्भू (पु)	श्वेतपुनर्नवा.	श्वेतपुनर्नवा, घोळ.	ಗೋಳಿ, ಶ್ವೇತ ಪುನರ್ನವ
34.	पुन्नाग (पु)	पुन्नागवृक्ष	श्वेतकमळ, जायफळ, कडवेडण्डीचा वृक्ष, सुर-पुन्नाग, सुरंगी, गोडी उण्डी	ಸುರಹೊನ್ನೆ, ಬಿಳಿ ಕಮಲ, ಜಾಯಫಲ.
35.	पुष्पफलिनी (स्त्री)	तुरई, लौकी	दोडकी भोपळा.	ಹೀರೆಕಾಯಿ, ಚೀನಿಕಾಯಿ.
36.	पूतिक (पु)	पूतिकरंज, दुर्गंधकरंज, कांटाकरंज	घाणेराकरंज, विष्टा, करंज जवादी मांजर.	ತಪಸೀ ಗಿಡ,

क्र.	संस्कृत	हिंदी	मराठी	ಕನ್ನಡ
37.	पूतिकरंज (पु)	देखो पूतिक.	घाणेरा करंज.	ತಪಿಸೀ ಗಿಡ,
38.	पेचु [क] (पु)	मुचुकुन्दवृक्ष	भक्षणीयकन्द	ವೃಕ್ಷವಿಶೇಷ, ಗಂಧಭೇದ.
39.	पंचलवण (न)	कचियानोन, सैंधानोन, समुद्रनोन, बिरियासंचरनोन, कालानोन.	लवण, टंकण, सैंधव, औद्भिद, संचळ.	ಉಪ್ಪು, ಸೈಂಧವಉಪ್ಪು, ಸಮುದ್ರಕ್ಷಾರ, ಸಂಚರ ಉಪ್ಪು, ಕರಿ ಉಪ್ಪು.
40.	पिंड (पु)	बोल, शिलारस, ओड्रहुल, मैनफल का वृक्ष.	लोखण्ड, रक्तबोळ, जास्वन्द, ऊद पोलाद, शरीर, कांखेत वा आड-संधीत व मानेखाली गोळया आहेत त्या.	ಶಿಲಾರಸ, ಬಟ್ಟಲೋಹೆ, ಮೈನಫಲ, ಶರೀರದ ಅವಯವ ವಿಶೇಷ, ರಕ್ತಬೋಳ.
41.	पिंडीत (क) (पु)	मैनफलवृक्ष, तगर, तुलसीभेद पिण्डीतकवृक्ष.	गेळ, मरवा, तगरभेद.	ಬಣಗಾರೆ, ಮರುಗ.
42.	पुंडरीक (न.पु.)	सफेदकमल, कमल, एक प्रकार के आम, दवना-वृक्ष, एक प्रकारका कोढ.	ऊंस, रेश्माचा किडा, श्वेत कमळ, दवणा, श्वेतकुष्ठ-रोग, कमळ, पुण्डरीकवृक्ष, साळीभात.	ಬಿಳಿ ಕಮಲ, ಕರ್ಮ, ಒಂದು ವಿಧದ ಮಾವಿನ ಹಣ್ಣು, ದವಣ, ಕುಷ್ಠ ಭೇದ, ಕಬ್ಬು.
43.	प्रग्रह (पु)	अमलतास भेद.	लघुबहावा हरिपादप, सुवर्ण, रज्जु.	ಕಿರಕಕ್ಕೆ.
44.	प्रभु (पु)	पारा.	पारा, जीव, धनी.	ಪಾರದ, ಪಾದರಸ.
45.	प्रवाल (पु)	मूंगा.	पोंबळें, कोवळीपानें.	ಹವಳ.
46.	प्रियंगु (स्त्री)	फूलप्रियंगु, राई, पीपल, कंगुनीधान, कुटकी.	कटुकी, काळी मोहरी, पिंवळी, गहुला, कांग, वाघांटी.	ನವಣಿ, ತೊಟ್ಟಲಕಾಯಿ, ಚಿಲಚ.
47.	प्रियाल (पु)	चिरोंजी का पेड़.	चारोळी वृक्ष.	ಕರಟ ಗಿಡ, ಮೂರಲೇ ಲೂಂಟೆ.
48.	प्लक्ष (पु)	पाखर का पेड़, पारिसपीपल, पीपल का पेड़	पिंपरी, पिंपळ.	ಜುವ್ವಿ, ಬಸರಿಗಿಡ, ಹಿಪ್ಪಲಿ ಮರ.

क्र.	संस्कृत	हिंदी	मराठी	ಕನ್ನಡ
		- फ-		
1.	फणी (पु)	मरुवक वृक्ष	श्वेतमरुआ, कांगळा.	ನೀರಾವರಿ ಪೈರು, ಮರುಗ
2.	फल (न.पु.)	जायफल, हरड़, बहेड़ा, आमला, शीतलचीनी, मैनफल, फल, अंडकोष, कुडावृक्ष, मैनफलवृक्ष.	त्रिफळा, कांकोली, स्त्रीरज कुडा, जायफल, इन्द्रजब, गेळ, दान,सुपारी, खरबूज, वृषणग्रंथि.	ಜಾಜಿಕಾಯಿ, ತ್ರಿಫಲಾ, ಅಡಿಕೆ, ಕೋಚ, ಮುರುಕ ಬೀಜ, ಇಂದ್ರಜವ, ಖರಬೂಜ
3.	फलाश (पु)	फलाश वृक्ष, करंज वृक्ष.	फलाश वृक्ष, करंज वृक्ष.	ಅಶ್ವತ್ಥ, ಕರಂಜ.
4.	फेन (पु)	समुद्रफेन, रीठा.	समुद्रफेन, अफू, फेंस, बाष्प.	ಸಮುದ್ರದ ನೊರೆ, ಸೋರೇಕಾಯಿ.
		- ब -		
1.	बकुल (पु)	बौलसरी.	थोर बकुळ.	ಒಗಟು ಹೂ.
2.	बदर (न.पु.)	बेरी का पेड़, निर्जरससौं, कपास के बीज अर्थात् बिनोलें, सेव, कपासका फल 2 तोले-एक प्रकार का बेर, बेर.	बोर, देवशिरीवृक्ष, चिरपोटाणी, रायबोर, कापसाची बी.	ಬೋರೆಹಣ್ಣು, ಹತ್ತಿಯ ಬೀಜ, ಸೇಬಿನ ಹಣ್ಣು, 2 ತೊಲೆ ಪ್ರಮಾಣ.
3.	बदरी (स्त्री)	बेरी का पेड, कपास कौंछ.	बोर, कुहिली, रक्तकापशी, घोंटीबोर.	ಬೋರೆ ಹಣ್ಣು, ಹತ್ತಿ.
4.	बला (स्त्री)	खिरैंटी.	नागवेल, मद्य, रानताग, मोदिनी, महासमंगा, बिडंग जयन्ती.	ಚಿಟ್ಟ, ಹರಳು ಗಿಡ, ನೀಲ ಕಮಲ, ಮುಡಿನಾಳ, ಜಯಂತಿ.
5.	बहुल (न)	सफेद मिरच.	श्वेतमिरीं.	ದೊಡ್ಡಯಾಲಕ್ಕಿ, ಬಿಳಿ ಮೆಣಸು.
6.	बालक (पु)	खैर का पेड	खैर का झाड.	ಕಗ್ಗಲಿಗಿಡ, ತರೋಗ್ಗಲಿ ಗಿಡ.
7.	बिड (न)	बिरिया सौंचरनोन.	बिडलोण.	ಪಾಕದ ಉಪ್ಪು,
8.	बिभीतक (पु.न.स्त्री.)	बहेडा वृक्ष	बेहेडे.	ತಾರೀಕಾಯಿ.

क्र.	संस्कृत	हिंदी	मराठी	ಕನ್ನಡ
9.	बिल्वा (बिल्वा) (स्त्री)	हींगपत्री.	[बिल्व] बेल.	ಬಿಲಪತ್ರೇ.
10.	बीजक (बीजक) (पु)	विजयसार, बिजोरा नींबु.	श्वेतशेगवा, बिबळा, महाळुंगा.	ಮಹಾಫಲ, ಮಾದವಾಳ.
11.	बीजपूर (बीजपूर) (पु)	बिजोग नींबू.	महाळुंगा	ಮಾದಾಳದ ಗಿಡ.
12.	बुजफल (न)	जायफल.	जायफळ.	ಜಾಜಿಕಾಯಿ.
13.	बृहच्छगलिका (स्त्री)	विधारा.	वरणार, चोपचेन्नी.	ಪರಂಗಿ.
14.	बृहत्तीद्वय (न)	छोटी कटेली, बडी कटेली.	थोर डोरली, लहान डोरली	ಸಣ್ಣ ಕಟೀಲೀ, ದೊಡ್ಡ ಕಟೀಲೀ, ಹೆಗ್ಗಲು
15.	बंधूक (पु)	विजयसार, दुपहरिया का वृक्ष, गेजूनिया का वृक्ष.	दुपारी, आसणा, बिबळा.	ಹೊನ್ನೆ ಮರ, ವಿಜಯಸಾರ ಮಧ್ಯಾಹ್ನ ವೃಕ್ಷ.
16.	बिंबळता (स्त्री)	कडुआ कुंदुरीका वेल	तोंडली वेल	ತೊಂಡೆ ಬಳ್ಳಿ.
17.	बिंबी (बिंबी) (स्त्री)	कन्दूरी	बिंबी गोड व कडुतोंडली.	ಕಹಿ ತೊಂಡೆ,
18.	बिंबिका (स्त्री)	देखो बिंबी.	पहा बिंबी.	ತೊಂಡೆ ಹಣ್ಣು.
19.	ब्राम्ही (स्त्री)	सोमवल्ली, महाज्योतिष्मती, मत्स्याक्षी,वाराही, हिल-मोचिका, ब्राह्मी, भारंगी, सोमलता, बड़ी मालकांगनी, मछेली, वाराहीकन्द, हुलहुलशाक.	चान्दवेल, भारंग, कारि-वणेकोशीं, बिरीचा कांदा, मच्छाक्षी, ब्राह्मी, तिळवण, बांब, थोर मालकांगोणी सोम.	ಸೋಮಲತೆ, ಭಾರಂಗಿ, ಹಣಗೊನೆ. ಸೊಪ್ಪು, ವಾರಾಹಿಕಂದ, ಬ್ರಾಹ್ಮಿ, ಶಾಕ ವಿಶೇಷ.
		- भ -		
1.	भद्रक (न.पु.)	नागरमोथा भेद, देवदार	नागरमोथा, इन्द्रजब, कमळ, सरल देवदार.	ಜಕ್ಕಿನ ಗೆಡ್ಡೆ, ತುಂಗೆ ಗೆಡ್ಡೆ, ಕೊರಸಿಗ.
2.	भल्लातक (पु)	भिलावेका पेड	बिबवा.	ಗೇರುಮರ.

क्र.	संस्कृत	हिंदी	मराठी	ಕನ್ನಡ
3.	भार्ङ्गी (स्त्री)	भारंगी, ब्रह्मनेटि.	भारंग.	ಭಾರಂಗಿ.
4.	भूकर्णी (स्त्री)	कन्दविशेष	कन्दविशेष	ಕಂದ ವಿಶೇಷ.
5.	भूकूष्मांड (डी) (स्त्री)	विदारीकन्द.	भुयकोहोळा.	ಪಾಡಂಗಿ ಗೆಡ್ಡೆ.
6.	भूधरकर्णिका (स्त्री)	भूधर, कर्णिका, गिरि-कर्णिका.	गिरिकर्णिका, कंदविशेष.	ಗಿರಿಕರ್ಣಿಕಾ, ಕಂದ ವಿಶೇಷ.
7.	भूनिम्ब (पु)	चिरायता.	किराईत.	ನೆಲಬೇವು.
8.	भूर्ज [पादप] (पु)	भोजपत्रवृक्ष	भोजपत्रवृक्ष.	ಭುಜಪತ್ರಿ ವೃಕ್ಷ.
9.	भूशर्करा (स्त्री)	सकरकन्द	कड, माकडकन्द	ಗೆಣಸು ಗೆಡ್ಡೆ.
10.	भूशिरीष (पु)	वृक्षविशेष, भूशिरस.	वृक्षविशेष, भूशिरीष.	ವೃಕ್ಷವಿಶೇಷ, ಬಚಾರಿ.
11.	भूषा (स्त्री)	लता विशेष	लता विशेष.	ಲತಾ ವಿಶೇಷ.
12.	भृगु (पु)	भृगुवृक्ष	भृगुवृक्ष	ಬೆಟ್ಟದಜರಿ, ಭೃಗುವೃಕ್ಷ
13.	भृंग (न)	अभ्रक दालचीनी.	अभ्रक, दालची, दाडी दालचीनी व माका, वाघनख.	ಅಭ್ರಕ, ಕಾಗೆ ಬಂಗಾರ, ಲವಂಗಚಕ್ಕೆ, ದಾಲಚೀನ, ಕಾದಂಬಿ.
14.	भृंगी (पु.स्त्री.)	अतीस, बड का पेड़	भांग.	ಅತಿ ಬಜೆ.
15.	भृंगराज (पु)	भांगरा	माका, निष्ठामाका, दालचिनी.	ಗರಗದ ಸೊಪ್ಪು, ಕಾಡಿ ಗರಗು.
16.	भ्रमर (पु)	देखो भृंग	पहा भृंग	ಭೃಂಗ ನೋಡಿ.
		- म -		
1.	मगधोद्भवा (स्त्री)	पीपल.	पिंपळी.	ಅರಸೆ, ಹಿಪ್ಪಲಿ.
2.	मणिशिला (स्त्री)	मैनशिल	मनशीळ.	ಮಣಿಶಿಲೆ.
3.	मत्तमूल (न)	धतूरे की जड़	धतूरेची मूळ.	ಮತ್ತೂರ್ತಿಯ ಬೇರು.
4.	मत्स्याक्षी (स्त्री)	मछेछी औषधी, सोमलता, ब्रह्मीघास, गांडरदूब, हुलहुलशाक	गंडरदूर्वा, ब्राह्मी, कांगोणी, लघुकावळी, महाराष्ट्री काकमाचा मासा, सोमलता	ಹೊಸ ಗೊನ್ನೆ, ಸೋಮಲತೆ, ತೃಣ ವಿಶೇಷ.

क्र.	संस्कृत	हिंदी	मराठी	ಕನ್ನಡ
5.	मदन (पु)	धतूरा, खैर का वृक्ष, ढेरावृक्ष, मौलसिरीका पेड़, मोम मैनफलवृक्ष	गेळ, मेण, खैर, श्वेतधोत्रा, कुन्द, बकूळ, मधुमक्षिका, अंकोल, दवणा, कावळा-शल्य, कोशाम्र, कालिंग, सरलदेवदार, पिंडीतक, कोशातकी, उडीद.	ಮತ್ತೂರ್ತಿ, ಅಂಕಲಿಗ.
6.	मदनफल	देखो मदन	पहा मदन	ಮಗ್ಗಾರೆ, ನೋಡಿ ಮದನ
7.	मदयन्तिका (स्त्री)	मल्लिका	मोगरी,	ಇರುವಂತ ಮಲ್ಲಿಗೆ, ಮಲ್ಲಿಗೆ
8.	मधुक (पु)	मुलहटी, रांग.	मोहाचा वृक्ष, गोडें कोष्ठ कर्थाल, मध, ज्येष्ठीमध, मेण.	ಇಪ್ಪೇಮರ.
9.	मधुगंगा (स्त्री)	ताल वृक्ष	ताड वृक्ष	ತಾಡದ ಮರ.
10.	मधुशिग्रु	मधुसेंजन	गोडश्वेत शेगवा, रक्तशेगवा.	ಕೆಂಪು ನುಗ್ಗೆ.
11.	मधुस्रवा (स्त्री)	मुलहटी, जीवन्ती, चुरनहार, लाल रंग का लज्जालू,	लघुहरणदोडी, ज्येष्ठीमध, रक्तलाजाळुं, क्षारमोरवेल, पिंडखर्जूरी, मोरवेल.	ಇಪ್ಪೆಕಾಯಿ ಕಾಡುಬಜೆ, ಕಿರಹಾಲೇ ಸೊಪ್ಪು, ಗೋರಕ್ಲು.
12.	मधूक (न.पु.)	मुलहटी, महुआवृक्ष.	ज्येष्ठीमध, मोहाचावृक्ष.	ಇಪ್ಪೇಮರ.
13.	मनश्शिला (पु.स्त्री)	मनशिल, मैनशिल.	मनशीळ.	ಮಣಿ ಶಿಲೆ.
14.	मयूर (पु)	मोरशिखा, चिरचिरा, अजमोद, अपामार्ग वृक्ष.	श्वेत आघाडा, अजमोद, नीलकंठ, कोळिस्ता, गंधा, कांगळा, मोरचुक, मोर-शेंडा, औषधी.	ನವಿಲು, ಓಮ, ಅಪಾಮಾರ್ಗ.
16.	मरिच (पु.न)	गोलमिरच, कालीमिरच, शीतलचीनी, मरुआवृक्ष.	मेरीं, कंकोळ, वीरशाक.	ಒಳ್ಳೆಯಮೇಸು, ಕಪ್ಪುರಚೆನ್ನಿ.
17.	मरुंगि (स्त्री)	काले सेंजन.	काळा शेवगा.	ಕರಿ ನುಗ್ಗಿ.

क्र.	संस्कृत	हिंदी	मराठी	ಕನ್ನಡ
18.	मलय (पु)	शाल्मलीकन्द.	शाल्मलीकन्द बाग.	ಶಾಲ್ಮಲೀಕಂದ.
19.	मल्लिका (स्त्री)	मोतिया भेद.	वटमोगरा, मोगरी, लक्ष्मणाकन्द, इन्द्रगोप, काळाकुडा, नेवाळी, वेखंड, मोठी श्वेतजाई.	ಮಲ್ಲಿಗೆ, ದುಂಡು ಮಲ್ಲಿಗೆ.
20.	मषी (स्त्री)	श्रीतालवृक्ष, जटामांसी	देंठ, श्रीताडवृक्ष जटामांसी	ಶ್ರೀ ತಾಳವೃಕ್ಷ, ಜಟಾಮಾಂಸಿ.
21.	मसूर (पु)	मसूर अन्न	मसुरा, विशोत्तर	ಚನ್ನಂಗಿ, ಕರಿಚುಳ್ಳಿ, ಆಲ್ತಿಗಡು, ತಿಗಡಿ.
22.	महातरु (पु)	थूहरका पेड़.	निवडुंग	ಕಳ್ಳಿಗಿಡ.
23.	महानीळी (स्त्री)	नीलीकोयल, बडा नीलका पेड.	थोर नीली.	ನೀಲಿ ಗಿಡ.
24.	महानिंब (पु)	बकायन नीम.	बकाणनिंब, कवड्या निंब.	ಮಹಾ ಬೇವು, ನಿಂಬಭೇದ.
25.	महाबला (स्त्री)	सहदेई	तानीचा बेल, पेटारी, पिंपळी, सहदेवी, गवादनी, वत्सादनी, लघुनीली, गवाक्षी, धामणी, गिरिकर्णी.	ಸಹದೇವಿ (ಪೆಲ್ಲಲು ದುರುವೆ) ಹಿಪ್ಪಲೀ, ನೀಲಿಯ ಗಿಡ.
26.	महावृक्ष (पु)	थूहरका पेड़, बडापीलु वृक्ष, पाखरका पेड़, बडापेड.	निवडुंग, थोरपीलु, ताड.	ಕಳ್ಳಿಗಿಡ, ಆಮಟ ಗಿಡ, ತಾಡವೃಕ್ಷ.
27.	महौषध (न)	भुंजितखड, सोंठ, लहशन, गेंठी, वच्छनाभविष, पीपला, अतीस.	श्वेतलसुण, सुंठ भुईतरवड, बचनाग, विष, पिंपळी, अतिविष.	ಶುಂಠಿ, ಅವರೆ, ನೇಲಾವರೆ, ಹಿಪ್ಪಲಿ, ಬೆಳ್ಳುಳ್ಳಿ, ಅತಿವಿಷ, ಬಚ್ಚನಾಭ ವಿಷ
28.	मागधिका (पु)	सफेद जीरा, पीपल.	लघुश्वेतजुई, पिंपळी, जिरे, बाळन्तशोप, एलची, शुद्ध केलेली साकर.	ಕಾಡು ಮಲ್ಲಿಗೆ, ಹಿಪ್ಪಲಿ ಮರ, ಬಿಳಿ ಜೀರಿಗೆ, ಏಲಕ್ಕಿ
29.	माची (पत्र)(न)	माचीपत्री.	लघुकावळी.	ಸಣ್ಣಕಾಗೆಸೊಪ್ಪು,
30.	माणकी (स्त्री)	[माणिका]-64 तोले, [माणक] मानकन्द	माणक-मानकन्द.	ಕೆಂಪು, ಮಾಣಿಕ್ಯ ಕಂದ ವಿಶೇಷ.

क्र.	संस्कृत	हिंदी	मराठी	ಕನ್ನಡ
31.	मातुलुंग (पु)	विजोरा निंबू.	मातुलुंगिका–रानमहाळुंग	ಮಾದವಾಳ.
32.	मार्कव (पु)	कुकुर भांगरा.	माका.	ಗರಗ (ಕಾಡಿಗರಗು)
33.	मार्जारपाती (स्त्री)	लताविशेष, बेल.	लताविशेष.	ಬಳ್ಳಿ ವಿಶೇಷ.
34.	मार्द्वंकुर (न)	मारिषशाक.	शाकविशेष.	ಶಾಕ ವಿಶೇಷ.
35.	माष [षा](पु)	उड़द मागध और सुश्रुतके मत से 5 रत्ती का प्रमाण. चरक के मत से 6/8 रत्तीका, कालिंग प्रमाण से 5।7।8 रत्तीका है। वैद्यक के मतसे 10 रत्तीका है। ज्योतिषरमृति के मत से 12 रत्तीका है। मशक रोग।	उडीद, रोग, पंचगुजात्मक मापमान	ಉದ್ದು. ಐದು ರತ್ತಿಯ ಪ್ರಮಾಣ.
36.	मुद्ग (पु)	मूंग	हिरवे मूंग, आच्छादन.	ಹೆಸರು.
37.	मुद्गयूष (पु)	मूंग के दाल का यूष	मूंगचे डाळीचा यूष.	ಹೆಸರು ಬೇಳೆಯ ತೋವೆ
38.	मुरटिका (स्त्री)	कन्दविशेष	कन्दविशेष	ಕಂದ ವಿಶೇಷ.
39.	मुरुंगी (स्त्री)	कालासेंजन	काळा शेगुवा, रक्तशेगुवा.	ಕರೀ ನುಗ್ಗಿ. ಕೆಂಪು ನುಗ್ಗೆ
40.	मुष्कक (पु)	कठपाडर, मोखावृक्ष	घंटापाटलिवृक्ष	ಮೊಕ್ಕಾಮಿನ ಗಿಡ.
41.	मुसली (स्त्री)	मुसलीकन्द	पाल मुसळी	ನೇತಾಳದ ಗಿಡ, ಕಂದ ವಿಶೇಷ.
42.	मुस्ता (स्त्री)	मोथा	मोथ, भद्रमोथ.	ತುಂಗೆಮುಸ್ತೆ.
43.	मूर्वा (स्त्री)	चुरनहार, मरोरफली.	मोरवेल.	ಹೆಗ್ಗುರುಟಿಗೆ.
44.	मूल (न)	जमीकन्द, शूरणजड, पीपरामूल, पोहकरमूल,	पुष्कर मूळ, पिंपळमूळ, मूळ, वृक्षादिकाचें मूळ, पाषाण.	ಸೂರಣ ಗಡ್ಡೆ, ಹಿಪ್ಪಲೀಮೂಲ ಬೇರು. ಪುಷ್ಕರ ಮೂಲ.
45.	मूलक (न)	मूली.	मूळा, शेण्डीमुळा, शिग्रु–मूळ, कोनफळ विषविशेष.	ಮೂಲಂಗಿ.
46.	मूषक (न)	तरुमूषक, वृक्ष जाति की मूषाकानी.	वृक्षपर्णीदुर.	ವೃಕ್ಷವಿಶೇಷ, ತರುಮಾಷಕ.

क्र.	संस्कृत	हिंदी	मराठी	ಕನ್ನಡ
47.	मृणाला [ली] (स्त्री)	कमळकी नाल.	कमळनाल.	ಕಮಲನಾಲಿ.
48.	मृदीक[का](स्त्री)	दाख, किसमिस, अंगूरी दाख	काळें द्रांक्ष.	ದ್ರಾಕ್ಷೆ.
49.	मृष्टा [ष्ट](न)	काली मिरच.	काळी मिरि	ಒಳ್ಳೆ ಮೆಣಸು, ಮೆಣಸು.
50.	मेघ (पु)	मोथा.	नागरमोथा, तांदुळजा, मद्रमोथ.	ಜಕ್ಕಿನ ಗಡ್ಡೆ, ಭದ್ರಮುಷ್ಕಿ.
51.	मेधनिनाद [मेघनाद](पु)	ढाकका पेड़, चौलाई का पाक.	तांदुळजा, पळस.	ಕಿರಿಕಸಾಲಿ, ಚಿಲ್ಕವ್ವೆ.
52.	मोच (न.पु)	केले की फली, सैजिने का पेड़, मोचरस	मोखावृक्ष, शेगवा, काळा-शेगवा, मोचारस, केळे.	ಬುರುಗದ ಮರ.
53.	मोरट(न)	ईख की जड़, ढेरा के फूल.	शेण्याखैर, उसाचें मूळ, सात दिवसांचे व्यालेलें गायीचे दूध, नासलेले दूध, जैज्जट.	ಕುರುಟಿಗೆ.
54.	मंजरी [क](स्त्री)	मोती, तिलकवृक्ष, तुलसी.	मंजरीक-फांपळा.	ಹೂವುಗಳ ಗೊಂಚಲು, ತಿಲಕದ ಗಿಡ.
55.	मंजिष्ठा (स्त्री)	मंजीठ.	मंजिष्ट.	ಮಂಜಿಷ್ಠ.
56.	मंडूकपर्णी (स्त्री)	मंजीठ, हुरहुर, हुलहुल, मंडूकपानी, ब्रह्ममंडूकी.	मंजिष्ट, सूर्यफूलवल्ली, आदित्यकान्ता ब्राह्मी, शालिपर्णी, अळूं, कंडुरूल टेंटू.	ಆನೆಮುಂಗು, ದಿಂಡಲ, ಹೆಗ್ಗುಗ್ಗಲಿ. ಮಂಜಿಷ್ಠ.
57.	मंडूकी (स्त्री)	मंडूकपानी, ब्रह्मबंडूकी, हुलहुलवृक्ष ब्रह्मीघास.	ब्राह्मी, सूर्यफूलवल्ली, भेकपर्णी,	ಒಂದೆಲೆಗ, ಬ್ರಹ್ಮೀತೃಣ.
58.	मंथा (स्त्री)	मेथी	मेथी.	ಮದರಂಗಿ ಗಿಡ, ಮೆತ್ತೆಯ ಗಿಡ.
59.	मांसी (स्त्री)	जटामांसी, काकोली-मांसच्छदा.	जटामांसी, मांसरोणी, रुदन्ती, वांकोली.	ಗಣಿಗಲ ಮುಸ್ತೆ. ಜಟಾಮಾಂಸಿ.

क्र.	संस्कृत	हिंदी	मराठी	ಕನ್ನಡ
		-य-		
1.	यव (पु)	इन्द्रजौ, जौ, जवाखार, 6 सर्सोपरिमाण	इन्दजव, जब.	ಎಳ್ಳು, ಗೋಧಿ, ಆರು ಸಾಸಿವೆ ಪ್ರಮಾಣ.
2.	यवक्षार (पु)	जवाखार, सोरा [वंगभाषा]	जवखार.	ಸರ್ವಕ್ಷಾರ.
3.	यवागु [गू](स्त्री)	यवागू.	धनसिकथा, पातळमात, तांदुळांचे साहापट पाणी घालून करावा तो	ಯವಾಗು, ಅಂಬಲಿ, ಅನ್ನದಗಂಜಿ.
4.	यवोद्भव (न)	जौकी कांजी.	कांजी, यवसौवीर.	ಗಂಜಿ, ಯವದ ಕಾಂಜೀ
5.	यष्टी (स्त्री)	मुलहटी.	ज्येष्ठीमध.	ಜೇಷ್ಟಮಧುಕ.
6.	यावशूक (पु)	जवाखार	जवखार	ಯವಕ್ಷಾರ.
7.	युग्मर्मणी (स्त्री)	दाडिम का वृक्ष	डाळिंबचें झाड.	ದಾಳಿಂಬದ ವೃಕ್ಷ.
8.	यूष (पु)	मूंग इत्यादि के काढे का रस.	मुग्दरस.	ಹೆಸರುಬೇಳೆಯಿಂದ ತೆಗೆದ ರಸ.
		- र -		
1.	रक्तचन्दन (न)	लालन्दन.	रक्तचन्दन, सण्डले सुर्ख, फार सण्डले अस्मर, ष्टीरोकार्पीलिग्रम, रतांजलि	ಕೆಂಪು ಚಂದನ.
2.	रक्ताश्वत्य (न)	लाळअश्वत्थ.	तांमडाश्वत्थ.	ಕೆಂಪು ಅಶ್ವತ್ಥ.
3.	रजनी (स्त्री)	हलदी, नील का पेड़,जतुका.	पापडी, हळद, नीलिनी, दारूदळद.	ಅರಿಸಿನ, ಹಳದ, ನೀಲವೃಕ್ಷ.
4.	रजनीद्वय (न)	हलदी, दारूदलदी.	हळद, दारोहळद,	ಅರಿಸಿನ, ಮರ ಅರಿಸಿನ.
5.	रसताल (न)	रसगंधतालादिकृतयंत्रपक्कौ-षधविशेष.	रसगंधतालादिकृतयंत्र-पक्कौषधविशेष	ರಸಗಂಧ ತಾಲಾದಿಕೃತ ಯಂತ್ರಪಕ್ವ ಔಷಧಿವಿಶೇಷ
6.	रसना (स्त्री)	जीव, रासना.	कलखापनी, जीभ, स्वदन.	ರಾಸ್ನೆ, ನಾಲಿಗೆ.
7.	रसादन (न)	रसशोषण.	रसशोषण.	ರಸಶೋಷಣ.
8.	राजमाषा (पु)	लोबिया, बोरा, वखटा,रमास	चवळया, नीळे उडीद.	ಅಸಲಂದೆ ತೊಗರಿ.
9.	राजवृक्ष (पु)	अमलतासवृक्ष, चिरोंजीका पेड़, भद्रचूडवृक्ष.	थोर बाहवा, भूताकशी, मुरेंगवत्, पापढी.	ಹೆಗ್ಗಕ್ಕೆ.

क्र.	संस्कृत	हिंदी	मराठी	ಕನ್ನಡ
10.	राजादन (न)	खिरनीभेद, चिरोंजीकापेड, ढाककावृक्ष, अमलतास.	चारोळी, रांजणी, खिरणी.	ಮರಟ ಗಿಡ.
11.	राजी (स्त्री)	राई	मोहरी, बावची, कडुपडुवळी,	ಸಾಸಿವೆ.
12.	रामठ (न.पु)	हींग, ढेरावृक्ष	पाणआघाडा, हिंग.	ಹಿಂಗು.
13.	राष्ट्रि [का](स्त्री)	बृहती, कटेहरी, कटाई.	डोरली, गुल्थोटि	ನೀಲಿಗಿಡ, ಹಲಪಾಚಿಕ
14.	रास्ना (स्त्री)	रासना, रायसन, रास्ना, रहसनी, नागदानै, कटेहरी.	नागदवणी, लघुमुंगुसवेल, श्वेतरिंगणी, नावळीच्या मुळ्या.	ನಾಗದಮಣಿ, ರಾಸ್ನಾ.
15.	रुचक (न)	सज्जीखार, चोहारकोडा, गोरोचन, गौलोचन, विजोरा निंबू,बायविडंग, नोन, सफेद अण्ड.	सचळ, महाळुंग, श्वेत-एरण्ड, शिखाचन्दन घर्षण, श्रीमदामरण, मोहरी,मुळा.	ಅರುಳು ಗಿಡ, ಮಾದವಾಳ ಗಿಡ, ಸೌವರ್ಚಲವಣ, ಸರ್ವಕ್ಷಾರ.
16.	रेणु (स्त्री)	पित्तपापडा, रेणुका.	वेणु, वित्तपापडा, रेणुक-बीज, धूळ.	ಧೂಳು, ಕಲ್ಲುಸಬ್ಬಸಿಗೆ.
17.	रोहिणी (स्त्री)	कुटकी, कायफर, वराह-कान्ता, कुम्भेर, हरड, मजीठ एक प्रकार की हरड, मांस-रोहिणी, गले का रोग.	हर्तकी, मंजिष्ठ, थोर-शिवण, कटुकी, मांस-रोहिणी, बादांगुळ, काय-फळ, गंडमाळा रोग, रक्त-रोहिडा, लोहितवर्ण जल-पक्षि, गाय, चन्द्रवल्लभ.	ಕಟುಕರೋಹಿಣಿ, ಕಾಯಫಲ, ಅಳಲೇಗಿಡ, ಮಂಜಿಷ್ಠ, ಗಲರೋಗ, ಗಂಡಮಾಲೆ.
18.	रंभा (स्त्री)	केला.	केळ.	ಬಾಳೆ.
		-ल-		
1.	लकुच (पु)	बडहर.	थोरचुका, क्षुद्रफणस, ओंटीचे झाड.	ಗಜ, ನಿಂಬೆ, ಆಂಜಣು.

क्र.	संस्कृत	हिंदी	मराठी	ಕನ್ನಡ
2.	लता (स्त्री)	फूलप्रियंगु, असवरग, पटशन मालकांगुनी, मुश्कदाना, लताकस्तूरी,माधवीलता, दूब कैवर्त्तिकालता, श्यामालता.	गव्हला, लघुमालकांगोणी, पिंडिकालता, रपृक्का वाघेंटी, कुसरी,लघुश्वेतजुई वननेवाळी, श्वेतउपळसरी, लहान खांद्या, थोरश्वेतजाई नेवाळी, शिरोंजी, रक्त-पाडल वेल.	ರೆಂಬೆ, ಗುಲಗಂಜಿ ಬಳ್ಳಿ, ರಂಕಣಗಿಡ, ಮಿಂಚುಬಳ್ಳಿಗಿಡ.
3.	लवण (नं.पु.)	सैंधानोन, सौंचरनोन, समुद्र-नोन, खारीनोन, बिडनोन अर्थात् कचलोन-नमक, नीन	मीठ, लोणारखार, टंकण, लवण, सैंधव, औद्भिद, संचळ.	ಉಪ್ಪು, ಸೈಂಧವ ಉಪ್ಪು ಸಮುದ್ರ ಕ್ಷಾರ, ಸಂಚರ ಉಪ್ಪು ಕರಿ ಉಪ್ಪು
4.	लवणी (स्त्री)	सीताफल, आतृप्यफल, जातीय फलवृक्ष.	सीताफळ, जातीयफलवृक्ष	ಕಂಗುಂಗೆ.
5.	लवळी (स्त्री)	हरपारेबडी.	हरपरेवडी.	ಹರಪಾರ ರೇವಡೀ.
6.	लवंग (न)	लौंग + लौङ्ग	देवकुसुम, सीखक करन फूल.	ಲವಂಗ.
7.	लशुन (न)	लहशन	श्वेतलसूण, लसन,काजुआ	ಬೆಳ್ಳುಳ್ಳಿ.
8.	लाज [जा](न.पु.)	वीरनमूल, खश, खीलें.	साळीच्या लाह्या, ओले तांदुळ, काळया बाळयाचे मूळ.	ಅರಳು.
9.	लाक्षा (स्त्री)	लाख	लाख.	ಅರಗು.
10.	लोध्र (पु)	लोध	लोध्रवृक्ष	ಕೊಡಸಿ ಗಿಡ.
11.	लोहित (पु.न.)	लालगोशीर्ष चन्दन, केशर, लालचन्दन, पतंगकाठ, हरि-चन्दन, तृणकेशर, मसूरअन्न, रतालु, लालधान, रोहेडावृक्ष, लालईख.	तुरे जोंधळे, रक्ततृण, केसर, रुधिर, सोनपितळ, माणीक रक्तचन्दन, तांबडेरताळु, पतंग, कुंकुमागरचन्दन, कृष्णागरु, तांबडा ऊंस, तांबडी लसूण, रक्तवर्ण कपिला, सोनगेरु, रक्त-रोहिडा, पापण्यांचा रोग.	ರಕ್ತ ಚಂದನ, ಮುಳ್ಳು, ಮುತ್ತುಗ, ಕೇಸರಿ, ತೃಣ, ಕೇಸರಿ, ಕೆಂಪು ಕಬ್ಬು, ಕೆಂಪು ಧಾನ್ಯ. ಮಸೂರ ಅನ್ನ.

क्र.	संस्कृत	हिंदी	मराठी	ಕನ್ನಡ
12.	लोहितद्रुम (पु)	रोहडावृक्ष	रक्तरोहिडा.	ಮುಳ್ಳು, ಮುತ್ತುಗದ ಮರ.
13.	लांगली (स्त्री)	जलपीपर, गंगातिरिया, पिठबन, कलिहारी, कौंछ, किवांच.	कषमक, कुहिली, जल-पिंपली, नारळी गजपिंपळी, मंजिष्ट, कळलावी,पिठवण	ನೀರು ಹಿಪ್ಪಲಿ, ಕೋಲು ಕಟುಕನ ಗಿಡ,ಗಜಹಿಪ್ಪಲಿ, ಮಂಜಿಷ್ಠ, ಕೋಳಿ ಕುಟುಮ.
14.	लुंग	तुरंज, खजोर.	महाळुंग.	ಮಹಾಫಲ, ಮಾದವಾಳ.
		- व -		
1.	वकुला (स्त्री)	कुटकी.	केदरे कुटकी.	ಕತ್ತಿಕರಬು.
2.	वक्र (पु)	पित्तपापडा.	तगर.	ಕಲ್ಲುಸಬ್ಬಸಿಗೆ.
3.	वचा (स्त्री)	वच	वेखण्ड, कळलावी, कोळिंजन.	ನಾರು ಬೇರು, (ಮಕ್ಕಳ ಬೇರು).
4.	वज्रवृक्ष (पु)	थूहडका वृक्ष, स्नुहीवृक्ष.	निवडुंग, स्नुहीवृक्ष.	ಎಲ್ಲನ ಗಿಡ, ಮುಂಡುಗಳ್ಳಿ, ಕಲ್ಲತ್ತಿ, ಜಡಿರಳ್ಳಿಗಿಡ.
5.	वज्र (पु)	तालमखाना, सफेदकुश, सेहुंडवृक्ष	हाडसंधी, वाळा, हिरा, श्वेतदर्भ, श्वेताभ्रक, लघु-राळेचा वृक्ष, नवसागर, वैकान्तरत्न, बावडिंग, विष्ठा, निवडुंग, इंद्रायुध.	ತಾಲಮಖಾನಿ, ಬಿಳೀದರ್ಭೆ, ಮುಂಡಿಗಳ್ಳಿ, ಕಾವಂಚ, ವಜ್ರ, ದಮರನ, ಧೂಪಭೇದವು.
6.	वज्री (स्त्री)	थूहरकाभेद, हडशंकरी, गिलोय.	निवडुंग, गुळवेळ,	ಕಳ್ಳಿಗಿಡ, ಅಮೃತಬಳ್ಳಿ.
7.	वज्रीळता (स्त्री)	हडजुडी	हडजुडी.	ಹಡಸಂಕರೀ.
8.	वटपत्र (पु)	सफेद वनतुलसी.	श्वेतआजवला.	ಬಿಳೀ ವನತುಳಸೀ.
9.	वधू (स्त्री)	गौरीसर, कचूर, असवरग.	कापूरकाचरी, स्पृक्का [स्त्री, स्नुषा नववधू]	ಕಂಟಕಚೋರ, ಕರಡಿಹುಲ್ಲು.
10.	वध्वापीत (न)	कचोर,	कचोर, कचरा.	ಕಚು, ಗಂಧಕಚೋರ, ಗಂಟಕಚೋರ.
11.	वरक (पु)	वनमूंग, मोंठ, पित्तपापडा, चीनाधान	पित्तपापडा, वव्या, रानमूग, शरपर्णिका.	ಕಲ್ಲುಸಬ್ಬಸಿಗೆ.
12.	वर [णा]ण (पु)	वरनावृक्ष	तुरी,वायवरणा, उंट, कुंपण वांद.	ವಸಲೆಯ ಗಿಡ.

क्र.	संस्कृत	हिंदी	मराठी	ಕನ್ನಡ
13.	वरुण (पु)	वरनावृक्ष	वायवरणा,	ವಸಲೇ ಗಿಡ.
14.	वराटिका (स्त्री)	कौडी, कमलकंद.	कवडी, गुलबास, कमल-कर्णिका.	ಕವಡೆ, ಕಮಲಕಂದ.
15.	वराह (पु)	मोथा, गेंठी, कन्दविशेष.	हिरा, भद्रमोथ, रानडुकर, शिशुमार, डुकरकन्द,डुकर	ಕೊರೆನಾರು, ಭದ್ರಮುಷ್ಪ, ಕಂದವಿಶೇಷ.
16.	वर्षाभू (स्त्री)	विषखपरा, सोंठ,	गदपूर्णा, रक्तपुनर्नवा,बेडूक इंद्रगोपकटिक, वीरबाहुटी, श्वेतपुनर्नवा.	ಬಿಳೀ ಬೆಲ್ಲಡಕಿಲು.
17.	वरांग (न)	दालचीनी, तेजपात.	मस्तक, जाडी दालचीनी, उपस्थ, कंकुष्ठ.	ಲವಂಗಚಕ್ಕೆ, ದಾಲ್‌ಚೀನ್ನಿ.
18.	वळा (स्त्री)	खरैटी.	चिकणा, लघुचिकण.	ಕಲ್ಲಂಗಡೆ, ಬೆಣ್ಣೆಗರುಗ.
19.	वल्गुज (न)	वाकुची.	बावंचा.	ಬಾವಂಚ, ಬಾವಚಿಗೆ.
20.	वाकुचि [बीज] (स्त्री)	वायची.	सोमवल्ली.	ಸೋಮವಲ್ಲಿ.
21.	वाजिगन्धा (स्त्री)	असगंध.	आसंध.	ಅಂಗಬೇರು, ಹಿರಿಮದ್ದಿನ ಬೇರು.
22.	वारिद	मोथा.	भद्रमोथ.	ಭದ್ರಮುಷ್ಯ, ಕೊರೆನಾರು.
23.	वार्ताक (पु)	बैगन.	बांगे.	ಬದನೇಕಾಯಿ.
24.	वास (न)	तेजपात.	तमालपत्र.	ತವಾಲುಪತ್ರ.
25.	वास्तु [कां] क (न)	बथुआशाक	चाकवत,जीवशाक,राजार्क वसु, कृष्णागरु, पुनर्नवा.	ಚಕ್ರವರ್ತಿ ಸೊಪ್ಪು.
26.	विचित्रा (स्त्री)	सैंविनी.	तिलक, भूर्जपत्र, अशोक.	ಅಸುಗೆ, ತಿಲಕದ ಗಿಡ, ಭುರಜಿ ವಕ್ಷ.
27.	विड (न)	बिरिया सैंचरनोन.	बिडलोण.	ಪಾಕದ ಉಪ್ಪು.
28.	विडंग (न)	वायविडंग.	बाविडंग	ವಾಯು ವಿಳಂಗ.
29.	विड [सैंधक] [लवण](न)	देखो विड.	पहा विड.	ನೋಡಿ ವಿಡ.
30.	विदारक (न)	वज्रखार.	नदीमध्ये पाण्यासाठी खणलेला खळगा,वज्रक्षार.	ಬಳ್ಳಿ, ಸುಂಡೆ, ವಜ್ರಕ್ಷಾರ.

क्र.	संस्कृत	हिंदी	मराठी	ಕನ್ನಡ
31.	विदारी (स्त्री)	विदारीकन्द, शालवन, एक प्रकार का कंठरोग.	भुयकोहोळा, गलरोग, कर्ण पालीरोग, सुवर्चला,वाराही क्षीरकंकोळी, कंकोली, अर्जुन, भद्रवि.	ನೆಲಗುಂಬಳ, ಪಾಡಂಗಿ, ಕಂಠರೋಗ ವಿಶೇಷ.
32.	विभीतक (पु.न.)	बहेडा वृक्ष.	बेहेडा.	ಕಾರೇಗಿಡ.
33.	विलंग (न)	वायबिडंग.	वायबिडंग.	ವಾಯುವಿಳಂಗ.
34.	विशाली (स्त्री)	अजमोद.	अजमोद, ओवा.	ವೋಮ.
35.	विश्वदे [वी] वा (स्त्री)	गंगेरन, लालफूलका दण्डोत्पल.	नागबला.	ನಾಗಬಲಾ.
36.	विषतरु (पु)	कुचिलावृक्ष	विषवृक्ष, कुचला, काजरा.	ಕಾರಸಕಾಯಿ, ಕುಸರ್ಕ.
37.	विष्णु [कान्त] (स्त्री)[कान्ता]	कोयल, विष्णुक्रान्ता.	काळीगोकर्णी,विष्णुक्रान्ता, वाराही नीलशंखपुष्पी.	ವಿಷ್ಣುಕ್ರಾಂತಿ.
38.	वीरांघ्रिपु [वीरद्रुम] (पु)	कोहवृक्ष, तालमखाना, भिलावेक पेड़	बिबवा,वल्कतरु, अर्जुन-सादडा, वेलतूर, रामबाण, काळावाळा, विवळा.	ತಾಲಿಮಖಾನ, ಕೆಂಪುಮತ್ತಿ, ತೋರೆಮತ್ತಿ, ರಾಮಸಪು (ಗರಗಲ).
39.	वृद्धदारुक (पु)	विधारावृक्ष	वरधारा.	ಅನಂತಗೋಡೆ.
40.	वृश्चिकाली (स्त्री)	वृश्चिकाली.	थोर आग्या, लघुमेडसिंगी.	ಹಲಿಗಲು.
41.	वृष (पु)	अडूमा, ऋषभकौषवी.	अडुळसा, ऋषमकवृषम-रास, वृषण.	ಅಡುಸೋಗೆ.
42.	वृक्षक (पु)	वांडाकापेड.	श्वेतकुडा, नान्दरुखी.	ಜೋಯರಳೆ, ಪಿನವಾಲ.
43.	वृक्षादनी (स्त्री)	कुदा, विदारी कन्द.	बादांगुळ.	ವಿದಾರೀ ಕಂದ.
44.	वेणी (स्त्री)	देवताडवृक्ष, सोनैया वंदाल,	देवडंगरी,	ದೇವದಾರು.
45.	वे्रु [त्रा] त्र (पु)	वैतवृक्ष	थोरवेत.	ದೊಡ್ಡ ಬೆತ್ತ.
46.	वैडंग (पु)	देखो विंडग.	पहा विडंग.	ವಾಯುವಿಳಂಗ.
47.	वैजयन्ती (स्त्री)	अगेथु, जयन्तीवृक्ष	थोर ऐरण, लघुऐरण, ठहांकळ,	ಕಗ್ಗಲೀಗಿಡ, ತಕ್ಕಲಿಕೆ.

क्र.	संस्कृत	हिंदी	मराठी	ಕನ್ನಡ
48.	वंक (पु)	वृक्षविशेष	वृक्षविशेष	ವೃಕ್ಷ ವಿಶೇಷ.
49.	वंश (पु)	ईख, सालवृक्ष, पीठकादण्डा, वांस	भरीव वेळू, थोर राळेचा-वृक्ष, सूक पाटाचा कणी.	ಬಿದಿರು.
50.	वंशाग्र (न)	वांस.	बेत.	ಬಿದಿರು.
51.	व्याघातक (पु)	करंज.	करंज.	ಕರಂಜ. (ಹೊಂಗೆ)
52.	व्याघ्री (स्त्री)	कठेहरी	वाघांटी, रिंगणी, धूम्रवर्ण सुरेखकवडी	ತೊಟ್ಟಿಲಕಾಯಿ.
53.	व्योष (न)	सोंठ, मिरच, पीपल.	त्रिकटु.	ಶುಂಠಿ, ಹಿಪ್ಪಲಿ, ಮೆಣಸು.
		-श-		
1.	शक्रमर्द (न)	वृक्षविशेष.	वृक्षविशेष.	ವೃಕ್ಷ ವಿಶೇಷ.
2.	शटी (स्त्री)	कचूर, आमियाहलदी, गंधपलाशी, छोटाकचूर.	कापुर काचरी, कचोरा.	ಕಚು, ಗಂಟುಕಚೋರ.
3.	शतपुष्प [ष्पा] (स्त्री)	सौंफ, सोआ.	साठेसाळी, बाळंतसोप, बडीसोप.	ಸಬ್ಬಸಿಗೆ, ಬಡೆಸೊಪ್ಪೆ.
4.	शतमू [ल] ली (स्त्री)	दूब बज, शतावर.	महाशतावरी.	ಮುಡಿವಾಳ, ಶತಾವರೀ.
5.	शतावरी (स्त्री)	शतावर, कचूर.	महाशतावरी, सहस्त्रमुळी, लघुशतावरी, शतमुळी.	ಆಷಾಢೀ ಬೇರು.
6.	शताह्वा (स्त्री)	सौंफ, सतावर.	बडीशोप, लघुशतावरी.	ಸೊಂಪು, ಸೋಮುಬಳ್ಳಿ
7.	शबर (न)	लोध.	श्वेतलोध्र, लोध्र.	ಕೊಡಸಿಗಿಡ, ಲೋದ್ರಗಿಡ.
8.	शमी (स्त्री)	छौंकरावृक्ष	लघुशमी, जीवक, पोरशमी समडी शेंग.	ಕಾಡುಬನ್ನಿ.
9.	शरवारिणी (स्त्री)	लताविशेष.	लताविशेष.	ಬಳ್ಳಿ ಭೇದ.
10.	शशशिरा (स्त्री)	गुर्च.	गुळवेल.	ಅಮೃತಬಳ್ಳಿ.
11.	शाक (पु.न.)	शेगुनवृक्ष, पत्ते, फूल, नाल इत्यादि सागभाजी.	शाकभाजी, साग, आलें.	ಸೊಪ್ಪು, ಎಲೆ, ಹೂವು, ಪಲ್ಯ, ತರ್ಕಾರಿ, ನುಗ್ಗೆಯ ಗಿಡ.

क्र.	संस्कृत	हिंदी	मराठी	ಕನ್ನಡ
12.	शाकज (न)	शेगुन बीज.	शेवग्याचे बी.	ನುಗ್ಗೆಯ ಗಿಡದ ಬೀಜ.
13.	शाकजफल (न)	शेगुन फल.	शेवग्याचे शेंगा.	ನುಗ್ಗೆಕಾಯಿ.
14.	शामाक (पु)	तृणविशेष.	तृणविशेष.	ಗಂಜಳಗರಿಕೆಯ ಹುಲ್ಲು, ಸಾವೆ.
15.	शारि [वा] वा (स्त्री)	कालीसर, गौरीसर.	शारिबा, उपलसरी.	ಕೃಷ್ಣಶಾರಿಬ.
16.	शार्ङिष्टा (स्त्री)	बडी करंज.	शार्ङिष्टा-करंजवल्ली, थोरकरंज,लघुरक्तकांवडल.	ಕಡಶಿಗ.
17.	शाल (पु)	छोटाशाल	सागसादडी, हेद, अर्जुन-सादडा, लघुराळेचा वृक्ष, क्षुद्रफणस, बढारफल, थोर राळेचा वृक्ष चारोळी.	ದಮರನಭೇದ ಧೂಪ.
18.	शाळी (स्त्री)	कालाजीरा.	मेथी, शालिपर्णी, यवास.	ಕರೀಜೀರಿಗೆ.
19.	शालूक (पु)	कमलकन्द, भसीडा इत्यादि.	जायफळ, पद्मकन्द.	ಕಮಲದ ಗಡ್ಡೆ, ಜಾಜಿಕಾಯಿ.
20.	शाल्मली (स्त्री)	सेमलका पेड.	सांबरी.	ಬೂರುಗ ಗಡ್ಡಿ.
21.	शिखा (स्त्री)	कलिहारी.	पांख्या मयूरशिखा, थोर उंदीरकानी,तुळस,कळलबी जटामांसी, वेखण्ड, पायांचा चवडा.	ಕೋಳಿಕುಟುಮ, ಕೋಳಿಕುಕ್ಕನ ಗಿಡ.
22.	शिखी (पु)	चीतावृक्ष, मेथी, शिंरिआरी, चौवतियाशाक, शुयाशिंबी वंगभाषा	पित्त, करडु, चित्रक, मेथिका,	ಚಿತ್ರಮೂಲ.
23.	शिग्रु (पु)	सौंजिनेका पेड़	श्वेतशेगवा, काळाशेकवा, हरितशाक.	ನುಗ್ಗಿ ಗಿಡ.
24.	शिफा (स्त्री)	वृक्षकी जड, जटाकेसी,सौंफ हलदी कमलकन्द जटामांसी, बालछड.	बडीशोप, थोर उंदीरकानी, हळद, कमळकन्द, पारंब्या वृक्षमूल, जटामांसी.	ಕಮಲದ ಗಡ್ಡೆ, ಜಟಾಮಾಂಸಿ, ಸಬ್ಬಸಿಗೆ, ಹಲದಿ.

क्र.	संस्कृत	हिंदी	मराठी	ಕನ್ನಡ
25.	शिरीष (पु)	सिरसका पेड.	शिरीष वृक्ष.	ದರ್ಭ, ಬಿಳಿಯ ದರ್ಭೆ, ಶಿರೀಷ.
26.	शिला (स्त्री)	मनशिल, कपूर.	नीलिका, गेरू, शिलाजित, कापूर मनशील,लघुपाषाण, शैलेय, बहुपुष्पी, हरीतकी, रोचना, मल्लूर.	ಮನಶೀಲ್, ಕರ್ಪೂರ, ಶಿಲಾಜಿತ, ಹರೀತಕೀ.
27.	शिलाल (न)	मैनसिल.	मनशीळ.	ಮನಶಿಲಾ.
28.	शिलाजतु (न)	शिलाजीत.	शिलाजित.	ಶಿಲಾಜಿತ್ತು.
29.	शिशिर (पु)	चंदन, कालावाला, अभायू.	चन्दन, भोरड्या, काळा-वाळा,थंडी.	ಚಂದನ, ಕರಿಲಾವಂಚ, ಬಾಳದಬೇರು.
30.	शीतल (न)	पुष्पकसीस, पत्थरका फूल, सफेदचंदन, पद्मारव, मोती, खस.	पद्मकाष्ट, मोती, चंदन, राळ, पीतवाळा,सोनचांफा, मसेनीकापुर.	ಬಿಳಿಚಂದನ, ಪದ್ಮಕಾಷ್ಠ ರಾಳ, ಮುಡಿವಾಳ, ಸಂಪಿಗೆ, ಕರ್ಪೂರ.
31.	शीर (न)	नागरंग.	नागरंग.	ನಾಗರಂಗ
32.	शुकमुख (पु)	फलविशेष	फलविशेष.	ಫಲವಿಶೇಷ.
33.	शुक्लमरिच (न)	सफेद मिरच	श्वेत मिरी	ಬಿಳಿ ಮೆಣಸು.
34.	शेवाली (स्त्री)	सूक्ष्मजटामांसी.	शेवाल- जलमांडवी, शेवाळ, जलमंडली.	ಅಂತರಗಂಗೆ, ನೀರಂಟಿ. ಹೂಸಿಹುಲ್ಲು.
35.	शेलु (पु)	लिसोडावृक्ष	भोंकर, रानमेथी.	ಚೆಳ್ಳೆಮರ.
36.	शैळज (न)	पत्थरकाफूल, भूरिछरीला.	दगडफूल, गजपिंपळी.	ಹಲ್ಲುಹೂವು, ಗಜಹಿಪ್ಪಲಿ.
37.	शैलबिल्व (न)	पहाडी बेळ.	पहाडी बेल.	ಬೇಲದ ಹಣ್ಣು.
38.	शैलेय (न)	भूरिछरीला, मुसली, सैन्धा-नोन, शिलाजीत.	शिलाजित्, दगडफूल	ಕಲ್ಲುಹೂವು, ಶಿಲಾಜಿತ್ತು.
39.	शैवल (पु)	शिवार.	शेवाळ, कुब्जक.	ನೀರಂಟಿ.
40.	शालि (पु)	वनहल्दी	वन हळदी.	ವನಹಳದಿ.
41.	शोभांजन (पु)	सैंजिनेका पेड़.	शेवगा.	ನುಗ್ಗಿಮರ.
42.	शंखनाभि (पु)	नाभिशंक.	शंखनाभि.	ಶಂಖನಾಭಿ.

क्र.	संस्कृत	हिंदी	मराठी	ಕನ್ನಡ
43.	शंखिनी (स्त्री)	थोरहुली पुन्नागवृक्ष, यवेची, चोरपुष्पी.	यवतिका, यवोचि, टिटवी, सांखवेल	ಹಕ್ಕರಿಗೆ ಸೊಪ್ಪು.
44.	शिंशुपा (स्त्री)	सीसम.	काळा शिसव.	ಬೀಟಿಯ ಮರ.
45.	शुंठी (स्त्री)	सोंठ.	गलशुंठीरोग, सुंठ.	ಶುಂಠೀ.
46.	श्रृंगि (पु)	अतीस.	अति विष.	ಅತಿಬಜೆ.
47.	श्रृगवेर (न)	अदरक, सोंठ	सुंठ, आले.	ಖಾರ ಗೆಣಸು, ಹಸಿಶುಂಠಿ
48.	श्रृंगाटक (नं.पु)	सिंगाडे.	शिंगाडे	ಶಿಂಗಾಣಿ.
49.	श्रवणा (स्त्री)	गोरखमुण्डी, दधियूवृक्ष	मुंडी.	ಮುಂಡೀ.
50.	श्यामा (स्त्री)	शारिबा, फूलप्रियंगु, बावची, श्यामपनिलर, नीलक वृक्ष, गूगलां, सोमलता, भद्रमोथा, मोतीतृण, गिलोय, वान्दा, कस्तूरी, वडपत्री, पीपला-हलदी, मोली, दूब, तुलसी, कमल गठ्ठा, विधारा, काली-सार.	लघुनीली, गहुला, पिंपळी, मेदा, लकडया, पाषाणभेद, कस्तूरी, गुळवेल, हळदं, गारोचन, तुळस, नीलदूर्वा, काळा पुनर्नवा, वादांगुळ, काळे निशोत्तर, काळी उप-लसरी, श्वेत उपलसरी, वाघांटी, काळा-शिव, वत्रारा.	ಬಾವಂಚ, ನೀಲಿವೃಕ್ಷ, ಸೋಮಲತಾ, ಭದ್ರಮುಷ್ಟ, ವಡಪತ್ರ, ಕಸ್ತೂರಿ, ಅಮೃತಬಳ್ಳಿ, ಪುನರ್ನವಾ.
51.	श्लेष्मांतक (पु)	लिसोडावृक्ष	श्लेष्मातक, भोंकर.	ಚಳ್ಳೆ, ಚಾಕುಸು, ಬೊಂಬೆಗಿಡ
52.	श्वेता (स्त्री)	कौडी, कठपाडर, शंगिनी, अतीस कोयल, सफेदकटाई, सफेद कटेहरी, सफेद दूब, पाखानभेद, वंशलोचन सोंठ, सफेदकोयल, शिलावाक्, फटकिरी, चीनी, केनावृक्ष.	साकर, बगळी, श्वेतदूर्वा, वंशलोचन, श्वेतरिंगणी, हाताजोडीपाषाणभेद, श्वेत तुळस, थोर श्वेत किन्ही श्वेत डोरली, फटकी पांढन्यापुन्या, श्वेतनिर्गुंडी, श्वेतगोकर्णी, लोखंडीवेळ, थोर श्वेतजाई, श्वेतउपल सरी, श्वेतगुंजा, श्वेत-निशोत्तर, श्वेतवेखंड.	ಬೆಳ್ಳಿ, ಕವಡೆ, ಅತಿಬಜೆ, ಬಿಳೀ ಹಲಪಾಟಿಕ, ಬಿಳೀ ನೆಲಗುಳ್ಳ, ಹಿಟ್ಟಲೀಕ ಶುಂಠಿ, ಕನ್ನೇವೃಕ್ಷ, ಸಕ್ಕರೆ, ವಂಶಲೋಚನ, ಬಿಳೀ ತುಲಸೀ, ಬಿಳೀ ಜಾಜಿ.

क्र.	संस्कृत	हिंदी	मराठी	ಕನ್ನಡ
53.	श्वेतापुनर्नवा (स्त्री)	श्वेतपुनर्नवा.	श्वेतपुनर्नवा.	ಶ್ವೇತ ಪುನರ್ನವಾ.
54.	श्वेताभ्र (न)	सफेद अभ्रक.	पांढरा अभ्रक.	ಬಿಳೀ ಅಬ್ರಕ.
55.	श्वेताम्ली (स्त्री)	अम्लिका	श्वेतपिठोण्डी.	ಗಂಜೀ.
		- ष -		
1.	षट्फल (न)	फल विशेष	फल विशेष	ಫಲವಿಶೇಷ.
2.	षष्टिक (पु)	षाटी, साठीधान्य	साठे साळी.	ಧಾನ್ಯವಿಶೇಷ.
		-स-		
1.	सद्धातकीकुसुम (न)	धाई के फूल.	लघुधापटी.	ಧಾತಕ ಕುಸುಮ.
2.	सप्तला (स्त्री)	नेवारी, सातला, पाढर, घुंघुची.	शेर, नेवाळी, शिकेकाई,	ಕಾಡಮಲ್ಲಿಗೆ, ಕನಬಿ, ಗುಲಗಂಜಿ.
3.	समंगा (स्त्री)	मजीठ, लज्जावन्ती छुईमई, खिरैटी, वराहक्रान्ता.	लघुचिकणा, मंजिष्ट, लाजाळु.	ಬೆಣ್ಣಿಗರುಗೆ, ಮಂಜಿಷ್ಠ ನಾಚಿಕೆ ಗಿಡ.
4.	सरल (पु)	धूपसरल	सरलदेवदार, हिरा, सुरूचें झाड.	ಕೇಸರಿಕೆ, ಸರಲದೇವದಾರು.
5.	सरसा (स्त्री)	सफेत पनिलर, निसेत.	मांस, काष्टागर.	ಬಿಳೀ ತಿಗಡಿ.
6.	सर्ज [र्जा](पु)	सालवृक्ष, राल, पियासाल.	लोहोबंदी ऊद, राळेच वृक्ष, थोरराळेचा वृक्ष,अश्वकर्ण, सायलीवृक्ष.	ಆರಿಕೆ, ನವಣಿ, ರಾಳ್.
7.	सर्प (पु)	नागकेशर.	नागकेसर.	ನಾಗಕೇಸರಿ.
8.	सर्पनिर्मोका (स्त्री)	सर्प की कचैली.	सापांची कातन.	ಹಾವಿನ ಪರೆ.
9.	सर्पाक्षी (स्त्री)	नाकुलीकन्द, कंकालिका [बेगभाषा],सरहटी, गंडनी.	थोर मुंगुसवेल, थोरसुगंध, मुंगुस कान्दा, तानवडीचें झाड, श्वेत विष्णुक्रान्ता, रक्तशंखपुष्पी.	ವಿಷಮುಂಗಲಿ ಬಳ್ಳಿ, ಬಿಳಿ ವಿಷ್ಣುಕ್ರಾಂತ, ಹುನಗುಂದಾ.
10.	सर्षप (पु)	सरसों.	शिरस, श्वेतशिरस, देव-शिरसीवृक्ष, मोहोरी.	ಸಾಸುವೆ, ಬಿಳಿ ಸಾಸುವೆ, ದೇವಶಿರಸಿ ವೃಕ್ಷ.

क्र.	संस्कृत	हिंदी	मराठी	ಕನ್ನಡ
11.	सल (न)	वृक्ष विशेष	साळपीस	ವೃಕ್ಷ ವಿಶೇಷ.
12.	सह (पु)	रहेगमानोन	नखला	ಚಿರು ಗೋರಂಟಿ.
13.	सहकार (पु)	अतिसुगंधयुक्त आम	आंबा	ಕಸಿಮಾವು.
14.	सहचरी (स्त्री)	पीली कटसरैया	पीतकोरंटा	ಹಳದಿ ಗೋರಂಟಿ.
15.	सहदेवी (स्त्री)	सरहटी, गण्डनी, पीले फूलका दण्डोत्पला, सहदेई.	महाबला, थोरनिली, सहदेवी, चित्रडी	ಸಹದೇವಿ, ಮಹಾಬಲಾ.
16.	सारतरु (पु)	केलावृक्ष.	केळे	ಬಾಳೆಮರ.
17.	सारद्रुम (पु)	खैर का पेड़.	खैर.	ಕಗ್ಗಲಿಮರ, ತರೊಗ್ಗಲಿ ಮರ.
18.	सारिवा [व] (स्त्री)	गौरी आसाऊ, सरिबन, कालीसर, सालसा, करिया वासाऊं.	श्वेतउपलसरी, साळी भात.	ಅಮಕೀರೆ, ಸೊಗದೆ.
19.	सारांघ्रिप	खैर का पेड़	खैराचें झाड	ಕಗ್ಗಲಿಮರ, ತರೊಗ್ಗಲಿ ಮರ.
20.	साल (पु)	सखुआवृक्ष, सालवृक्ष, राल.	मत्स्यविशेष, सागवृक्ष, कुंपण, वृक्ष.	ಕೆಂಟವೃಕ್ಷ, ಮತ್ತೀಗಿಡ.
21.	सितसर्षप (पु)	सफेद सरसों	श्वेतशिरड, पांढरी मोहोरी.	ಬಿಳೀ ಸಾಸಿವೆ.
22.	सिद्धार्थ [क] (पु)	सफेदसरसों, नदीवड.	श्वेतशिरस, नदीवड, मोहोरी.	ಬಿಳೀಸಾಸುವೆ, ಗಾಳಿಆಲ.
23.	सिंधुक (पु)	सिम्हालावृक्ष	निर्गुंडी	ಲಕ್ಕಿಗಿಡ.
24.	सिंधुवारक (पु)	सिम्हालु, सेदु आरी,निर्गुण्डी.	निर्गुंडी.	ಬಿಳೀ ಲಕ್ಕೀಗಿಡ, ಲಕ್ಕೆ.
25.	सिंधूत्थचूर्ण (न)	सैन्धानमकका चूर्ण	सैधालोणाचें चूर्ण	ಸೈಂಧಲವಣ ಚೂರ್ಣ.
26.	सुखाह्वा (स्त्री)	वृद्धि औषधि	वृद्धि औषधि	ವೃದ್ಧಿ ಔಷಧಿ.
27.	सुगंधि (स्त्री.पु.)	एलआ, मोथा, कशेरू, गंधेजवास धनिया पीपला-मूल, सुगंधयुक्तआम, तुंबुरु का पेड़, वनवर्बरी तुलसी.	वाळूक कांकडी, सुवासिक	ಕಿರಿಗಂಜಣಿ, ಕೊತ್ತುಂಬರೆ, ಹಿಪ್ಪಲೀ ಮೂಲ.

क्र.	संस्कृत	हिंदी	मराठी	ಕನ್ನಡ
28.	सुदन्ती (स्त्री)	जमालगोटे की जड़	जेपाळ, जमलगोंट.	ಜಮಾಲಗೋಟ, ನೇರುವಾಳ.
29.	सुधा (स्त्री)	चुरनहार, सेहुण्डवृक्ष, हरड, आमला सहत, शालवन, गिलोंय.	निवडूंग, सालवण, अमृत, चुना नारिंग, बीज, आंवळी, अहिमभोजन.	ಅಮೃತ, ಮಂಡಿಗಳ್ಳಿ, ಅಳಲೆಕಾಯಿ, ಅಂಟು ನೆಲ್ಲಿ, ಶಾಲಿವನ.
30.	सुरदारु (न)	देवदारु	तेल्यादेवदार, देवदार, सरलदेवदार.	ದೇವದಾರು.
31.	सुरस (न.पु.)	बोलगंवद्रव्य दालचीनी, सुगंधघास, तुलसी, सम्हालु-वृक्ष, मोचरस.	रक्त्याबोळ, कलमीदाल-चिनी, सुगंधभूतृण,पुदनीग-वत, कणगुगुळ, मोचरस.	ದಾಲಚೀನಿ, ಲವಂಗಚಕ್ಕೆ, ತುಲಸೀ, ಶ್ವೇತುಲಸೀ, ದಾಲಚೀನಿ.
32.	सुरेन्द्रकाष्ठ (न)	देखो सुरदारु	पहा सुरदारु	ನೋಡಿ ದೇವದಾರು.
33.	सुवर्च [ल]ला (स्त्री)	अलसी सूरजमुखी के फूल, हुलहुलवृक्ष, सज्जीखार, अश्वगंध.	सूर्यफूलवल्ली, ब्राह्मी, जवस	ಅಗಸೆ, ಸೂರ್ಯಕಾಂತಿ ಬಳ್ಳಿ, ಅಶ್ವಗಂಧ.
34.	सुवर्चिक (पु)	सज्जीखार	सुवर्चिका, सजीखार.	ಸಾಜೀಖಾರ.
35.	सुषवी (स्त्री)	करेला, कालाजीरा, छोटा-करेला, करेली, जीरा.	उपकुंचिका, शौंडी,पिंपळी, क्षुद्रकारली, कलौंजी जिरें, कुळई, कटुहुंची, लघु-कारली.	ಕರೀಜೀರಿಗೆ, ಹಾಗಲಕಾಯಿ, ಜೀರಿಗೆ, ಸಣ್ಣ ಹಾಗಲಕಾಯಿ.
36.	सूत (पु)	पारद	पारा.	ಪಾದರಸ.
38.	सूरण (पु)	जमीकन्द	श्वेतसुरण, खारासुरण	ಕಂದಗಡ್ಡೆ.
39.	सृगालविन्ना (स्त्री)	पृस्नपर्णी, पिठवन.	पृश्नपर्णी, पिठवण	ಉರಿಹೊನ್ನೆ.
40.	सैरीय (पु)	कटसरैया	श्वेतकोरण्टा	ಗೋರಂಟಿ.
41.	सैरेयक (पु)	देखो-सैरीय	पाहा सैरेय	ಮುಳ್ಳು ಗೋರಂಟಿ.
42.	सोम (न.पु.)	कांजी, कपूर, सोमलता.	रक्तचंदन, कांजी, सोम-वल्ली, धान्यम्ल, आरनाल	ಕೆಂಪು ಚಂದನ, ಸೋಮಲತೆ.
43.	सोमवल्लिका (स्त्री)	वावची, मिलोय	वावंचा	ಬಾಹುಜಿ.

क्र.	संस्कृत	हिंदी	मराठी	ಕನ್ನಡ
44.	सैविरि (न)	बेर, कांजी, कालाशुर्मा, सफेदशुर्मा, सौवीरकांजी.	बोर, जवाची पेज करून आंबवितात् ते कांजी, काळासुरमा, स्त्रोतोंजन, संधान, गह्वाचें कांजीराय-बोर.	ಸೌವೀರಾಂಜನವು. ಕಣ್ಣುಕಪ್ಪು.
45.	सैंधव (न.पु.)	सेंधानोन.	सेंधेलोण	ಸೈಂಧಲವಣ.
46.	स्थौणेय (न)	गठिवन गठिवनभेद, अर्थात् थुनेर थुनियार.	गाजर, ग्रंथिपर्णीचा भेद, थुणेर, गांठिवन.	ಗಾಜರಗಡ್ಡೆ, ಸ್ಥವಣಜೆ.
47.	स्थूणीक (न)	कंदविशेष	कंदविशेष	ಕಂದವಿಶೇಷ.
48.	स्नुहि (स्त्री)	सेहुण्डवृक्ष	निवडुंग	ಕಳ್ಳಿ.
		-ह-		
1.	हट (न)	अंतरंगग.	शेवाळ.	ಅಂತರಗಂಗೆ.
2.	हयमार (पु)	कनेरका पेड़.	श्वेतकणेर.	ಕಣಿಗಲು, ಬಿಳೀಕಣಿಗಲು.
3.	हरिताल (न)	हरताल.	हरताळ दूर्वा.	ಹರಿದಾಳ.
4.	हरिद्रा (स्त्री)	हलदी.	हळद, दारूहळद.	ಅರಿಸಿನ.
5.	हरिद्राद्वय (न)	हलदी, दारुहलदी.	दारूहळदी, हळद.	ಅರಶಿನ ಮತ್ತು ಮರಅರಿಶಿನ.
6.	हरीतक (न)	हरड़	हरितक शाक,हिरडा.	ಅಳಲೇಗಿಡ.
7.	हरीतकी (स्त्री)	हरड, हर्र, हड.	हिरडा, हिरडा सात प्रकाराची आहे.	ಅಳಲೇಕಾಯಿ.
8.	हरेणु (स्त्री,पु)	रेणुका मटर.	वटाणे, स्वल्पकलाय भेद, रेणुक बीज.	ಬಟ್ಟಕಡಲೆ, ರೇಣುಕಬೀಜ.
9.	हस्तिक [र्णी] र्ण (पु.स्त्री)	अण्डकापेड हस्तिकर्ण-पलाशभेद, हस्तिकन्द लाल-अण्ड.	हस्तिकर्णी-कांसाळु, एरण्ड, रक्तएरण्ड, हस्ति-कन्द.	ಮಲ್ಲಿರಕ್ಕಸಿಯಗಡ್ಡೆ, ಮುತ್ತಗ ಭೇದ.
10.	हस्तिपिप्पली(स्त्री)	गजपींपल.	गजपीपळ.	ಗಜಹಿಪ್ಪಲೀ.
11.	हिमकर (पु)	कपूर.	कापूर.	ಕರ್ಪೂರ.

क्र.	संस्कृत	हिंदी	मराठी	ಕನ್ನಡ
12.	हिमांशु (पु)	कपूर.	कापूर.	ಕರ್ಪೂರ.
13.	हिंगु (न)	हींग, वंशपत्री.	हिंग.	ಇಂಗು.
14.	हिंगुदी (स्त्री)	वृक्षविशेष.	वृक्षविशेष.	ವೃಕ್ಷವಿಶೇಷ.
15.	हिंताल (पु)	ताडवृक्ष.	थीरताड.	ಕಿರುತಾಳಿ.
		-क्ष-		
1.	क्षणदा (स्त्री)	हलदी.	हळद.	ಅರಿಸಿನ.
2.	क्षवक [का](पु)	चिरचिरा, राई.	राळ,तीस कलारूप जोकाल तो.	ಕರೀಸಾಸುವೆ, ಹುಚ್ಚು ಸಾಸುವೆ.
3.	क्षारवृक्ष (पु)	मोखावृक्ष.	काळा मोखावृक्ष, चाकवत.	ಮಕಾರ್ತಿ, ಮಕ್ಕೆಮಾ, ಚಕ್ಕೊತಪಲ್ಯ.
4.	क्षितिपवृक्ष (पु)	अमलतास.	थोर बहवा.	ಹೆಗ್ಗೆಕ್ಕೆ.
5.	क्षीर (न)	दूध, सरलका गोन्द.	पाणी दूध, बकाणनिंब, सद्यः व्योलेले, गायीचें दूध, खीर, धूप विशेष.	ನೀರು, ಹಾಲು, ಅರಬೇವು, ಮಹಾಬೇವು ಸರಲವೃಕ್ಷದ ಅಂಟು.
6.	क्षीरद्रुम (पु)	पीपल का पेड, [गूलर आदि दूधवाले वृक्ष.]	पिंपळ.	ಆರಸೆ, ಹಿಪ್ಪಲಿ, ಹಾಲು ಬರುವ ವೃಕ್ಷ.
7.	क्षीरकंचु [क] की (स्त्री)	क्षीर कचुंकी.	क्षीर कंचुकी.	ಕ್ಷೀರ ಕಂಚುಕೀ.
8.	क्षीरी (पु.स्त्री)	खिरनीवृक्ष, सेहुडंवृक्ष, दुद्धि वृक्ष, आककावृक्ष, गजादनी-वृक्ष, शिरगोला, सोमलता, बडवृक्ष, पाखरवृक्ष, वेलिया पीपल, बड़, गूलर, पीपल, पारखर, पारिसपीपल.	नान्दरूखी, श्वेतभुई, कोहोळा, उंबर वंशलोचन, निबडुंग, रक्तरुई, रांजणी, पिंपरी, बड, कांकोळी, शिरगोळा, थोर गहूं, शिरदोडी, क्षीरकांकोळी, थोर सोमवल्ली	ಜೊಯರಳೆ, ಪಿನವಾಲ, ಕ್ಷೀರನೆಳಗುಂಬಳ, ವಂಶಲೋಚನ, ಖರಣೀಮರ, ಬಸರಿಗಿಡ, ಆಲದ ಮರ.
9.	क्षीरिका (स्त्री)	पिण्डखजूर.	रांजणीवृक्ष, वंशलोचन, दुधी, तवखीर, पिसोळा भेद, खीर, खिरणी	ಹಾಲೇಗಿಡ, ವಂಶಲೋಚನ, ಖರಣೀ ಮರ.

क्र.	संस्कृत	हिंदी	मराठी	ಕನ್ನಡ
10.	क्षीरिणी (स्त्री)	ऊंटकटीला.	दूध भोपळा, थोरशिवणी, पिसोळा, पहारकुटुंबी, श्वेत उपलसरी, शंखपुष्पी, रांजणी, शिरदोडी, दुधी, क्षीरकांकोळी.	ಸೋರೆಕಾಯಿ, ಹಾಲುಗುಂಬಳ, ಕ್ಷೀರ ಕಾಕೋಲೀ, ಖರಣೀ ಮರ, ಶಂಖಪುಷ್ಪೀ.
11.	क्षुद्रा (स्त्री)	कटेरी, अंबिलोना,गरहेडुआ, छोटा चंचुशाक.	लघुपिंपळ, जोंधळीसाखर, रिंगणी, लघुचुंच, गांधीण-माशी लघुकरवंदी,उचकी, क्षुद्रमधुमक्षिका, चागेरी, कांही अवयवांनी न्यून ती.	ಚಿರುಗುಳ್ಳಿ, ಹೆಣರಲಿ, ಶಾಕ ವಿಶೇಷ.
12.	क्षुरक (पु.)	तिलकपुष्पवृक्ष, तालमखाना, गोखरु, भूतराज .	कोळिस्ता, तिलकपुष्प, बोरू,गोखरू, नाकसिंकणी.	ತಿಲಕದ ಗಿಡ, ತಾಲಮಖಾನಿ, ಗೋಖರು.

इति भद्रं भूयात्।